शान्तिपथ-दर्शन

जिनेन्द्र वर्णी

शान्ति निकेतन-उदासीन आश्रम
ईसरी बाज़ार (डि० गिरिडीह)
१ ९ ७ ६

दातार :

श्रीमान बाबू मानमलजी सरावगी
कन्हैयालाल विरधीचन्द, कलकत्ता

•

संस्करण : तृतीय—२०००

•

मूल्य : १२)

•

प्रकाशकीय

वीतरागी ऋषियोंके मुखारविन्दसे उद्गत जैन-वाङ्मयका उद्देश्य है दृष्टि-विहीनोंको दृष्टि प्रदान करना अर्थात् अज्ञान-अन्धकारसे ऊपर उठाकर उनके समक्ष कल्याण-मार्गका प्रदर्शन करना, जिसपर चलकर कि वे अपने अन्तस्तलमें स्थित शान्तिसागरमें मग्न हो सकें। इतने गहन तथा गम्भीर विषयका पूर्वापर विरोध-रहित प्रतिपादन करना कोई आसान काम नहीं है, तथापि सर्वजन-हितार्थ यथासम्भव सुबोध बनाकर पूर्वाचार्य विभिन्न दृष्टि-कोणोंसे उसे समझानेका सदा प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु सर्वभक्षी कालके समक्ष कौन टिक सकता है? मानवकी आवश्यकतायें, अभिलाषायें तथा अभि-रुचियें नित्य बदलती रही हैं, बदलती रहेंगी और तदनुसार संस्कृतियें तथा शिक्षायें भी। फलस्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्रमें भौतिकवादने प्रवेश पाया और उसकी चकाचौंधमें अन्धा होकर मानव हिताहितका विवेक खो बैठा, अतथ्यको तथ्य समझने लगा, अन्तर्स्पर्शी निज शान्तिको छोड़कर भोग-सामग्रीमें सुख-शान्तिकी खोज करने लगा और उसका अधिकाधिक संग्रह करनेमें व्यस्त रहने लगा। इस प्रकार दुर्लभ मनुष्य-पर्यायको इस भाँति गंवा बैठा, जैसेकि कोई मूर्ख काग उड़ानेके-लिये हस्त-स्थित चिन्तामणिको उस ओर फेंक दे।

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' तथा 'समण-सुत्तं' जैसी अमर कृतियोंके रचयिता श्रद्धेय श्री जिनेन्द्रजी वर्णीसे आज कौन परिचित नहीं है। अत्यन्त क्षीण-कायमें स्थित उनकी अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी तथा दृढ़-संकल्पी आत्मा स्व-पर हितार्थ अध्यात्म मार्गपर बराबर आगे बढ़ती रही है और बढ़ती रहेगी, जब-तक कि वह अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर लेती। आप जैन, वैदिक, बौद्ध तथा अन्य जैनेतर वाङ्मयके सुप्रसिद्ध विद्वान पानीपत-निवासी स्वर्गीय श्री जयभगवानजी जैन एडवोकेटके ज्येष्ठ सुपुत्र हैं। पैतृक धनके रूपमें यही सम्पत्ति आपको अपने पितासे प्राप्त हुई है। अध्यात्म क्षेत्रमें आपका प्रवेश बिना किसी बाह्य प्रेरणाके स्वाभाविक रूपसे हो गया। 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात', बाल्यकालमें ही शान्ति-प्राप्तिकी एक टीस हृदयमें लिये कुछ विरक्तसे रहा करते थे। फलतः वैवाहिक बन्धनोंसे मुक्त रहे। अलैक्ट्रिक तथा रेडियो-विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त कर लेनेके बाद आपने व्यापारिक क्षेत्रमें प्रवेश किया और 'इण्डियन-ट्रेडर्ज' नामक एक छोटीसी फर्मकी स्थापना

की और इनकी प्रतिभाके फलस्वरूप दो-तीन वर्षोंमें ही वृद्धिको प्राप्त होकर कलकत्ता एम. ई. ऐस. की एक बड़ी ठेकेदारी संस्थाके रूपमें परिवर्तित हो गई। इतना होनेपर भी आपके चित्तमें धन तथा व्यापारके प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं हुआ। आप सब कुछ करते थे परन्तु अपने लिये नहीं अपने छोटे भाईयोंके-लिये। 'मेरे छोटे भाई जल्दीसे जल्दी अपने पाँवपर खड़े हो जायें' बस एक यह भावना थी और उसे ही अपना कर्त्तव्य समझकर ये सब कुछ कर रहे थे। फर्ममें हिस्सा देनेके-लिये भाईयोंने बहुत आग्रह किया, परन्तु इतना मात्र उत्तर देकर वे पानीपत लौट आये कि "प्रभु कृपासे मेरा कर्त्तव्य पूरा हुआ, इसीमें मुझे सन्तोष है"।

इस व्यापारको छोड़ अब ये शान्तिकी खोजका व्यापार करने लगे। प्रारम्भमें ही इस रहस्यका कुछ-कुछ स्पर्श करने लगे और आठ वर्षके अल्प-कालमें ही उसे हस्तगत करनेमें सफल हो गये। सन् १९५० में आपने स्वतन्त्र स्वाध्याय प्रारम्भकी, १९५४-५५ में उसका मन्जन करनेके-लिये सोनगढ़ गये, ज्ञानके साथ-साथ अनुभव तथा वैराग्यकी तीव्र वृद्धि होती गई, यहाँतक कि १९५७ में अनुव्रत धारण करके गृहत्यागी हो गये। धर्मके प्रति अटूट श्रद्धा तथा अपने भीतर डूबकर प्रत्येक विषयका साक्षात्कार करनेका दृढ़-संकल्प इत्यादि कुछ दैवी गुणोंके कारण इस मार्गपर आपकी प्रगति बराबर बढ़ती गई। पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णीके हृदयस्पर्शी अनुभवोंसे लाभान्वित होनेके-लिये सन् १९५८ में आपने कुछ समय ईशरी आश्रममें भी बिताया।

पादपूज्य श्री १०५ क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी इस युगके उन महापुरुषोंमें से थे जो आत्मोद्धारके साथ-साथ समाजोद्धारके कार्योंमें भी सतत प्रयत रहे। अनपढ़ जैन-जनताका अज्ञान सदा उनके हृदयमें चुटकियाँ भरता रहा, इसीलिये स्थान-स्थानपर घूमकर पाठशालायें तथा विद्यालय खुलवाना उनका मुख्य उद्देश्य बना रहा। बनारसके स्याद्वाद्-महाविद्यालयको आदि लेकर सागर व ललितपुर आदि स्थानोंपर संस्थापित अनेकानेक छोटे-बड़े विद्यालय उनके व्यक्तित्वको सदा जीवन प्रदान करते रहेंगे। अज्ञान-ग्रस्त जैन-जनतामें प्रसारित तत्कालीन निष्ठुर रूढ़िवादका बहिष्करण उनके हृदयकी उदारताका जीता जागता उदाहरण है। बाह्य-उद्धारके साथ-साथ अन्तरंग-उद्धार भी होता रहा और वि० सं० २४६१ के फाल्गुन मासमें अपनी वृद्धा धर्म-माता पूज्या चिरौंजाबाईको साथ लेकर आप तीर्थराज सम्मेदशिखरकी यात्रार्थ पधारे। यहाँ आनेपर आपने अपना शेष जीवन भगवान पार्श्वके चरणोंमें बितानेका निश्चय किया। स्थानीय समाजके हर्षका पारावार न रहा और उनके सानिध्यमें अन्य मुमुक्षु भी अपना कल्याण

कर सकें, इस उद्देश्यसे ईसरीमें एक उदासीन-आश्रमकी स्थापना करदी, जिसने श्री जिनेन्द्रजी वर्णीकी भावनाओंके फलस्वरूप आगे चलकर 'शान्ति निकेतन' नामक अन्वर्थक संज्ञा प्राप्त करली।

वर्णीजी चले गये परन्तु उनके नामपर आरोपित आश्रमका यह अंकुर बराबर बढ़ता रहा। आज यहाँ ८-१० त्यागी स्थायी रूपसे रहकर अपनी साधना करते हैं और ८-१० बराबर बाहरसे आते-जाते रहते हैं। अनेकों सद्गृहस्थ भी अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार कुछ-कुछ समय यहाँ रह कर शान्ति-पथकी साधना किया करते हैं। आश्रम सभी प्रेमियोंका सप्रेम स्वागत करता है, और यथासम्भव सभी प्रकारकी सुविधायें प्रदान करता है।



शान्ति निकेतन, उदासीन आश्रम—ईसरी

पूज्य-श्रीके अनुभवपूर्ण तथा आडम्बर-हीन सरल-ज्ञानमे लाभान्वित होनेके-लिये जब आदरणीय श्री जिनेन्द्रजी सन् १९५८ में यहाँ पधारे, उसी समय मेरी उनसे प्रथम भेंट हुई। खद्दरकी सफेद धोती कुर्तेमें लिपटी हुई उनकी आडम्बर-शून्य सीधी-सादी मूर्तिने चित्तको बलात् अपनी ओर आकृषित कर लिया। परन्तु अस्वस्थ हो जानेके कारण आप अधिक समय यहाँ न टिक सके। यहाँसे वापस लौटनेपर मुज़फ़्फ़रनगरकी जैनसमाजने आपका सप्रेम आह्वानन

किया । सन् १६५६ में वहाँ तीन महीने तक आपके धारावाही प्रवचन चलते रहे जिनके माध्यमसे आपने अति सरल भाषामें अपने गहनतम आध्यात्मिक अनुभवोंका रहस्योद्घाटन किया । आगे चलकर इन प्रवचनोंके संग्रहने 'शान्ति-पथ प्रदर्शन' नामक एक साङ्गोपांग ग्रन्थका रूप धारण कर लिया । शान्ति-प्रदायक, हृदयस्पर्शी, अनुभवपूर्ण, सम्प्रदायातीत, सरल-बालभाषामें प्रति-पादित होनेके कारण शीघ्र ही यह ग्रन्थ जैन तथा जैनेतर जनताके प्रेमका पात्र बन गया ।

सभी बड़े प्रेमसे इसका स्वाध्याय करने लगे और शास्त्र-सभाओंमें भी इसका वाञ्चन होने लगा । मांग बढ़नी स्वाभाविक थी । एक वर्षमें ही एक हज़ार प्रतियोंका प्रथम संस्करण समाप्त हो गया । बढ़ती हुई मांगको देखते हुए तुरत दो हज़ार प्रतियोंका द्वितीय सस्करण प्रकाशमें आया । परन्तु वह भी अधिक देर टिक न सका । मांग बराबर बढ़ती जा रही है, प्रकाशक थककर मौन हो गये परन्तु जिज्ञासुओंकी मांग मौन न हुई । तीन वर्षसे बराबर पत्र प्राप्त हो रहे हैं, हज़ारों पत्रोंका ढेर एकत्रित हो चुका है, इतना होते हुये भी दुर्भाग्यवश तृतीय संस्करणका प्रकाशन आजतक सम्भव नहीं हो सका ।

इसका कारण है एक महान व्यक्तिका हमारे मध्यसे लुप्त हो जाना । पानीपतके पण्डिय रूपचन्दजी गार्गीयका प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व उल्लेखनीय है । 'गृहवासी भी गृहत्यागी' के आदर्शकी उस जीती-जागती मूर्तिका निर्माण विधाताने मानो प्रेमाणुओंके द्वारा ही किया था । यद्यपि ग्रन्थ-प्रवक्ताको उनसे कोई विशेष मौखिक उपदेश प्राप्त नहीं हुआ, तदपि वे उनको अपना अध्यात्म-गुरु तथा परमोपकारी आश्रय स्वीकार करते हैं । इसका हेतु यह है कि जो बातें उनकी प्रतिभापूर्ण सत्यान्वेषी बुद्धिने पण्डितजीकी आंखोंमें तथा उनके रोम-रोममें पढ़ीं उनसे उनके जीवनको एक दैवी प्रेरणा मिली और उसीके सम्बलपर उन्होंने अपने जीवनको विशेष दिशाकी ओर मोड़नेका संकल्प किया अथवा यह कह लीजिये कि जो बातें उनको शास्त्रमें पढने तथा सुननेको मिलीं उनका साक्षात् दर्शन उन्होंने पण्डितजीके जीवनमें किया । पण्डितजी विश्व-जैन-मिशन अलीगञ्जके प्रधान डा० कामताप्रसाद जी के दायें हाथ थे । उन्हींके परिश्रमसे पानीपतमें विश्व-जैन-मिशनके एक केन्द्रकी स्थापना हुई, जिसने अपने क्षेत्रमें बहुत कुछ कार्य किया । साहित्य-प्रकाशन द्वारा जैनधर्मका प्रचार करना इसका प्रधान उद्देश्य था । प्रस्तुत ग्रन्थ 'शान्तिपथ-प्रदर्शन' के प्रथम तथा द्वितीय संस्करणोंका प्रकाशन भी इसी संस्था द्वारा हुआ था । डा० कामताप्रसाद जी तथा पण्डितजी दोनोंके

दिवंगत हो जानेपर संस्थाकी प्रगतिमें शिथिलता आनी स्वाभाविक थी। परन्तु उनके एक मात्र पुत्र श्री सुरेश चन्दजी गार्गीयने अल्प-व्यसक होते हुए भी सत्य-निष्ठा, प्रभु-प्रेम, निःस्वार्थ-सेवा तथा अपनी हंसमुख प्रिय-वृत्तिके कारण शीघ्र ही उनका स्थान सम्भाल लिया। इन गुणोंने शीघ्र ही उन्हें सुप्रतिष्ठित व्यक्तियोंके प्रेमका पात्र बना दिया। जिनेन्द्रजी वर्णीको वे सदा अपना गुरु तथा धर्म-पिता समझते रहे। प्रस्तुत ग्रन्थके तृतीय संस्करणका प्रकाशन शीघ्र हो सके इस बातके-लिये वे सदा प्रयत्न करते रहे परन्तु अभी इसका समय नहीं आया था।

मैंने ईसरीमें स्वयं प्रवक्ताके मुखसे इस ग्रन्थको सुना था और इसका अध्ययन भी किया था, परन्तु तब इसका महत्त्व इतना अधिक नहीं समझ पाया था जितना कि अबकी बार समझा हूं। 'समय आनेपर मार्ग स्वयं निकल आता है' इस उक्तिके अनुसार गत सर्दियोंमें अकस्मात् ही यह ग्रन्थ मेरे हाथमें आया और मैंने पुनः इसका स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया। कुछ ही पृष्ठ पढ़ने पर मुझे कुछ अनोखा-अनोखासा लगा। मुझे लगा कि यह ग्रन्थ कोई साधारण पुस्तक नहीं है, प्रतिभा-सम्पन्न श्री जिनेन्द्रजी वर्णीके गहनतम अनुभवोंका पिटरा है। अध्यात्मके जटिलसे जटिल-विषयका रहस्योद्घाटन जिस सरलतासे किया गया है उससे हृदय प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। आचार-विचार तथा धर्म-कर्मसे विमुख होनेवाली आधुनिक सन्ततिके-लिये इस ग्रन्थकी कितनी उपयोगिता है, इस बातको देखते हुए इसका तृतीय संस्करण 'शान्ति-निकेतन' आश्रमसे प्रकाशित हो, ऐसी मेरी भावना हुई।

अपनी इस भावनाको मैंने श्रीमान बाबु मानमलजी कलकत्ता निवासीके सामने रखा, जिनका परिचय आगे दिया गया है। ग्रन्थके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही आप इससे-अत्यन्त प्रभावित हुए और इसे 'जैन बाइबिल' उपाधि प्रदान की। ग्रन्थ प्रकाशनका सकल भार वहन करनेकी-स्वीकृति तो तुरत दे ही दी, इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थका अंग्रेज़ी अनुवाद हो ऐसी भावना भी व्यक्त की। आश्रम श्री मानमलजी का अत्यन्त आभारी है जिनका उदार सहयोग इसे सदा प्राप्त होता रहता है। दो वर्ष पूर्व ८०००) प्रदान करके आपने 'वर्णी-दर्शन' नामक ग्रन्थके प्रकाशनका सकल भार वहन किया था और इसी प्रकार इस वर्ष पुनः 'शान्तिपथ-प्रदर्शन' के प्रकाशनका सकल भार वहन कर रहे हैं। आश्रम आपकी बाह्याभ्यन्तर उन्नतिकी भावना करता है। आप चिरजीवी हों, आपकी अभिवृद्धि हो और इस ग्रन्थके द्वारा आपकी सद्भावना का प्रसार हो।

आर्थिक समस्याका सहज सुलझाव हो जानेपर भी इसे छपवाने का कार्य कुछ सरल नहीं था। यदि बाबू नानकचन्द जी जैन सैण्ट्रल आफिस हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसीकी दैवी सहायता प्राप्त न होती तो सम्भवतः अपनी भावनाको मनमें संजोकर न जाने कितने काल प्रतीक्षा करनी पड़ती। यद्यपि पिछले दिनों किसी दुर्घटनासे आपकी टांग टूट गई थी जो अभी पूरी तरह अच्छी नहीं हो पाई थी, तदपि बैसाखीके सहारे प्रैसोंमें भाग-दौड़ करनेका जो अति-साहस आपने किया है, उसके-लिये आश्रम सदा आपका आभारी रहेगा। इसके अतिरिक्त प्रूफ-शोधनके कार्यमें भी बराबर आप अपना सहयोग देते रहे हैं। भगवान् आपको शीघ्र स्वास्थ्य तथा वृद्धि प्रदान करे।

द्वितीय संस्करणमें जिस-प्रकार ग्रन्थ-प्रवक्ताने नियतिवाद तथा भोजन-शुद्धिके दो विस्तृत अधिकार जोड़कर इसकी उपयोगिता बढ़ाई थी, उसी प्रकार इस तृतीय संस्करणमें भी कुछ आवश्यक शोधन करके इसे और अधिक सुन्दर तथा उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है। यथा—१. ग्रन्थका आकार तथा छपाई वर्तमान युगके अनुसार नहीं थी, उसमें परिवर्तन किया गया है। २. ग्रन्थका रूप प्रवचनोंके क्रमपर आधारित था परन्तु अब इसे विषय-क्रमकी अपेक्षा नये रूपमें संजोया गया है। पूरे ग्रन्थको 'दर्शन' तथा 'साधना' नामक दो खण्डोंमें विभाजित किया गया है। 'दर्शन-खण्ड' में रत्नत्रय तथा सप्त तत्त्वोंका क्रमिक विवेचन है, और 'साधना-खण्ड' में क्रमशः गृहस्थधर्म, श्रावक-धर्म और साधुधर्मका दिग्दर्शन कराया गया है। ३. नियतिवाद तथा भोजन-शुद्धिके अधिकार आवश्यकतासे अधिक विस्तृत थे, अनेकों स्थलोंपर पुनरुक्तियां भी थीं, इस अनावश्यक विस्तारका संकोच करके उसके स्थानपर 'साधना' तथा 'ध्यान' नामक दो अधिकार जोड़े गए हैं और देवपूजा, गुरु-उपासना आदि अन्य अधिकारोंमें भी कुछ आध्यात्मिक भावोंकी अभिवृद्धि की गई है। ४. ग्रन्थमें इतने कुछ परिवर्तन हो जानेके कारण इसके नाममें भी कुछ परि-वर्तन करना अनिवार्य हो गया है। 'शान्ति-पथ प्रदर्शन' की बजाय अब इसका नाम 'शान्तिपथ-दर्शन' कर दिया गया है।

इसप्रकार ग्रन्थ पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक सुन्दर, सरल परन्तु प्रभावशाली तथा उपयोगी बन गया है। छपाईकी लागत पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ गई है, तदपि ग्राहकोंपर भार न पड़े इस उद्देश्यसे दातारके आदेशानुसार लागतसे कमपर देना तय किया गया है। धर्म-प्रसारके मार्गमें इसका अधिकसे अधिक उपयोग हो ऐसी मेरी भावना है।

ब्र० सुरेन्द्र नाथ

कुछ सम्मतियाँ

(१) सम्प्रदायतीत आध्यात्मिक ग्रन्थ :

१—'शान्तिपथ-प्रदर्शन' जीवनको धर्म तत्त्वके नामपर किसी एकान्तिक व्याख्याकी ओर नहीं खींचता है, अपितु उस तत्त्वका जीवनके साथ मेल साधनेमें योग देता है। पारिभाषिक भाषाका जीवनानुभवसे मेल बैठाकर रचनाकारने ग्रन्थको पन्थगतसे अधिक जीवनगत बना दिया है। अन्यान्य मत-वादोंके साथ जैनमतके सङ्गमको यह ग्रन्थ सुगम कर देता है। ब्रह्मवादीके परब्रह्म और 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' को भी ग्रन्थकारने परमानन्दके भावके साथ अपना लिया है और अपनी भाषामें समा लिया है। सर्वधर्म-समभावकी यही भूमिका है। अहिंसाको परमधर्म मानना होता है परन्तु हिंसाकी अपरिहार्यताको लेकर उस सम्बन्धमें भ्रम उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थमें उस सावधानताके लक्षण दिखाई देते हैं। सत्यका तत्त्व उससे भी जटिल है और नाना प्रश्नोंको जन्म देता है। उस सम्बन्धमें ग्रन्थकारका यह वचन मार्मिक है कि 'स्वपर हितका अभिप्राय रखकर की जानेवाली क्रिया सत्य है'।

साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार, देहली

२—वाष्कलि मुनिने बाध्वसे आत्माका स्वरूप पूछा। बाध्वने कहा, 'ब्रह्म का स्वरूप सुनो'। यह कहकर बाध्व मौन हो गए। वाष्कलिने कहा, "भग-वन्! आप मौन क्यों हैं? आत्माका स्वरूप बतलाइये न?" बाध्व फिर भी मौन रहे। वाष्कलिने कहा, "भगवन्! आप ब्रह्मका स्वरूप क्यों नहीं बतलाते?" बाध्व बोले, 'मैं तो ब्रह्मका स्वरूप बतला रहा हूं, किन्तु तू नहीं समझता। यह आत्मा उपशान्त है।' ऐसी शब्दातीत उपशान्त आत्माका वर्णन इस शान्तिपथ-प्रदर्शनमें है। क्या कभी मानव-जाति यह भी समझेगी कि धर्म हिन्दू या मुस्लिम, जैन या बौद्ध अथवा ईसाई और यहूदी नहीं होता, वह तो वस्तुके स्वभावका नाम है। यदि कभी ऐसे सहज मानव धर्मकी नींव पड़ी, तो प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न उस नींवमें सुदृढ़ पाषाणका स्थान ग्रहण करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

डा० दयानन्द भार्गव एम० ए०

३—थोड़े से अध्ययन मात्रसे ही मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि लेखकने किसी मत-मतान्तरका पक्ष न लेते हुए वैज्ञानिक ढंगसे सरल हिन्दी भाषामें जो अपने अनुभवपूर्ण भाव प्रगट किये हैं, वे निःसन्देह प्रशंसनीय हैं।

स्वामी गीतानन्दजी, स्वर्गाश्रम ऋषिकेश

४—प्रत्येक प्रकरणको सुगमतासे समझाते हुए अत्यन्त नम्र तथा अहंकार रहित अपनेको तुच्छातितुच्छ मानकर अत्युज्ज्वल, निर्मल व उच्चतम आत्म-तत्त्वका दर्शन कराया है। ११-१२ तक आस्रव बन्धका प्रकरण तो इतना हृदयग्राही है जिसे मैं बार-बार पढ़ता नहीं थकता। शुभ क्रियओंसे भी हमारा जीवन अपराधमय है, यह एक अद्‌भुत आत्म-शोधनका मन्त्र बताया है।

पं० विद्यानिधि शास्त्री, व्याकरणाचार्य, साहित्यचार्य
साधु-आश्रम, होशियारपुर

५—तात्त्विक विवेचना इतनी वैज्ञानिक तथा सरल भाषामें अनुपम उदाहरणोंके साथ हो सकी है कि पाठकोंके-लिये हृदयस्पर्शी होकर नित्य स्वाध्यायकी वस्तु बन गई है। ग्रन्थ किसी एक समुदाय-विशेषका न रहकर जाति-पाँति और वर्ण-भेदकी संकीर्णताको छोड़कर इस युग-विशेषका जन-मानस ग्रन्थ है, जो इस जैन समाजका गौरव है।

श्री टीकमचन्द जैन बैंकर्स, नसीराबाद

(२) <u>सुगम भाषाबद्ध अनुभवपूर्ण ग्रन्थ :</u>

१— प्रस्तुत ग्रन्थके लेखक बीसवीं शतीके एक वैज्ञानिक साधक हैं। भारतमें अध्यात्म-विज्ञान जाननेवाले पहले बहुतसे साधक हुए, परन्तु उनकी परिभाषावली और लेखनशैली हम बीसवीं शतीके लोगोंके-लिये न उतनी सुगम है और न उतनी आकर्षक। वर्तमान समयमें अध्यात्म-विज्ञानके प्रति अरुचिका यह भी एक कारण है। प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही इस अभावकी पूर्ति करेगा।

डा० दयानन्द भार्गव एम० ए०

२—क्षुल्लकजी बहिर-स्थितियोंका खरा-खोटा मूल्यांकन करते हुए अन्तर की ओर बढ़ते हैं। इसीलिये उन्होंने सैद्धान्तिक परिभाषाओंको नये रंग-ढंगमें ला रक्खा है, जो बिल्कुल स्वाभाविक है।

डा० कामता प्रसाद जैन
संचालक विश्व-जैनमिशन, अलीगञ्ज

३—कोई ज़माना था कि तत्त्वज्ञोंके अनुभूत व सन्धानित तथ्योंको समझनेके-लिये उनके द्वारा आविष्कृत गूढ़ विशिष्ट परिभाषाओंको जान लेना आवश्यक होता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि तात्त्विक विद्यायें कुछ इने गिने विद्वानोंकी ही सम्पत्ति बन कर रह गईं और जन-साधारण उनके रसास्वादनसे वञ्चित रह गया, जो कभी भी तत्त्वज्ञोंको अभिप्रेत न था। अतः प्रवक्ताका कर्त्तव्य है कि जिस देश और युगकी जनताको सन्देश देना अभीष्ट हो, उन्हींकी भाषा और मुहावरोंको वह अपनावे। इन प्रवचनोंके प्रवक्ताने इस दिशामें जो क़दम उठाया है वह अत्यन्त सराहनीय और अभिनन्दनीय है।

बा० जय भगवान्‌जी जैन ऐडवोकेट, पानीपत

४—यद्यपि इस ग्रन्थमें संकलित विषयोंको परम्परागत आचार्यों द्वारा रचित आगमसे प्रेरणा लेकर लिखा गया है, तो भी श्री... ... ... ने अपने अध्यात्म-बल व सम्यक् आचार विचारकी दृढ़तासे प्राप्त अनुभवोंके आधारपर आधुनिकतम वैज्ञानिक ढंगसे अत्यन्त सरल भाषामें इसका सम्पादन किया है। ग्रन्थमें ज्ञानके अनुकूल आचरण धारण करनेकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया गया है।

पं० रूप चन्दजी गार्गीय जैन, पानीपत

५—जो भाव व्यक्त किंवा अव्यक्त रूपसे मेरे अन्तस्तम्‌में जोश मार रहे थे, लेकिन शास्त्र-ज्ञानसे अपरिचित होनेके कारण जिन्हें प्रगट करनेका साहस नहीं होता था, उन्हें डंकेकी चोट इस पुस्तकमें देखकर आत्माको बहुत सन्तोष हुआ।

श्री उगमराव मोहनोत—मैजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी
नसीराबाद (राज०)

६—श्री पूज्य......ने बड़े सरल तथा वैज्ञानिक ढंगसे आर्ष सिद्धान्तोंका अनुभवपूर्ण भाषामें प्रतिपादन कर समाजका महान उपकार किया है।

श्री प्रकाश भारिल्ल 'हितैषी' शास्त्री
सम्पादक—सन्मति-सन्देश

७—श्री... ... ...शान्ति पथके सफल पथिक हैं, अतः उनकी इस रचनामें सर्वत्र अनुभूतिके दर्शन होते हैं।

कवि धन्य कुमार जैन 'सुधेश'

८—ब्रह्मचारी... ... ...ने अध्यात्म सागरमें बहुत गहरी डुबकी लगाकर बहुमूल्य रत्न निकाले हैं।

श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय, डालमियानगर

(३) शान्तिदायक आकर्षणपूर्ण ग्रन्थ :

१—ब्रह्मचारीजी ने अपने हृदयके उद्‌गारोंको पाठकांके समक्ष उपस्थित किया है, जिससे आत्मिक शान्तिका अनुभव होता है।

डा० कस्तूरचन्द जैन एम० ए०
रिसर्च स्कालर, जयपुर

२—यह ग्रन्थ वास्तवमें यथा-नाम तथा-गुण है। भाषा सरल, मधुर एवं आकर्षक है। अशान्तसे अशान्त मानव भी कहींसे कोई भी प्रकरण पढ़ना प्रारम्भ करते ही शान्तिका अनुभव करने लगता है। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिकता से परे मानव-धर्मका ही सम्यक् रूपसे निरूपण करनेवाला है।

श्रीमान् दानवीर, जैनरत्न, सेठ हीरालालजी जैन, इन्दौर

३—प्राचीन शैलीवाले ग्रन्थोंको पढ़नेमें अभिरुचि न रखनेवाले युवकोंके लिये इस प्रकारकी शैली जहाँ आकर्षणका कार्य करती है वहां धार्मिकताके अंकुर उत्पन्न करनेमें भी सहायक बनती है।

श्री मनोहर लाल जैन एम० ए०, श्री महावीर जी

४—इस ग्रन्थका एक बार अक्षरशः स्वाध्याय कर चुका हूं, फिर भी यही बलवती भावना हो रही है कि पुनः एक बार पढ़ूं। जिस साहित्यके पढ़नेमें मन भीगा रहे, दोबारा पढ़नेकी इच्छा हो और नवीनता मिले, वही सत्य-साहित्य है।

पं० ज्ञान चन्द जैन स्वतंत्र
सम्पादक—'जैन मित्र' सूरत

५—शान्तिपथ-प्रदर्शन ग्रन्थको घरमें सभी रुचि पूर्वक पढ़ रहे हैं। हमें यह बहुत ही उपयोगी व शिक्षाप्रद प्रतीत हुआ है। अन्य ग्रन्थोंके पढ़नेमें कभी इतनी रुचि और आनन्द नहीं आया। लेखन शैली बहुत ही आधुनिक है।

श्री आदीश्वर प्रसाद जैन एम० ए०
सेक्रटरी जैन मित्र मण्डल, देहली

६—एक बार पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़नेको जी नहीं चाहता। जिसके पढ़ने मात्रसे शान्तिकी प्राप्ति होती है उसे जीवनमें उतारनेसे क्यों नहीं होगी?

श्री ब्र० बाबू लाल (वर्तमान स्वरूपानन्द)
अधिष्ठाता दि० जैन उदासीन आश्रम, इन्दौर

७—जिस सरल शान्तिके उपायकी खोजमें मैं था, वह विवरण शान्तिपथ ग्रन्थमें पाया ।

श्री० गोकल चन्द गंगवाल, उदासीन आश्रम, बूंदी

(४) सुगम प्रशंसनीय ग्रन्थ :

१—इस पुस्तकको सराहनाके पत्र मेरे पास अजमेरके कई मित्रोंसे आये हैं ।

श्री० हीरा चन्द वोहरा—बी०ए०,एल०एल०बी
कलकत्ता

२—आधुनिक ढंगपर सरल भाषामें लिखा हुआ ग्रन्थ बहुत अच्छा है ।

ध्यानाभ्यासी ६१ वर्षीय क्षु० विमल सागरजी, शोलापुर

३—ब्र०... ... ने अपने उद्‌गार बहुत अच्छी तरह प्रगट किये हैं । मुझे तो स्वाध्याय करनेसे अति अल्हाद प्रगट हुआ है ।

क्षु० पद्म सागर, दक्षिण प्रान्त

४—आश्रमकी बाइयां इसे बहुत रुचि-पूर्वक पढ़ रही हैं । मैं इसका मराठीमें अनुवाद करना चाहती हूं ।

कु० विद्युल्लता शाह बी०ए०, बी० टी०
प्रमुख, दि० जैन श्राविकाश्राम विद्यालय, शोलपुर

५—यह ग्रन्थ बहुत अनुभवपूर्ण आधुनिक सरल भाषामें लिखा है । गृहस्थ धर्मका पूर्ण रीतिसे दिग्दर्शन कराया है ।

क्षु० चिदानन्दजी, द्रोणगिरि

६—पुस्तकी लेखन शैली व भाषा बिल्कुल समयोपयोगी है ।

श्री छोटे लाल जी वर्णी
अधिष्ठाता श्री शान्ति निकेतन-बावनगजा, बड़वानी



मुख्य द्वार

‘शान्ति निकेतन’ उदासीन आश्रम, ईसरी

दातार परिचय

कलकत्ता दि० जैन समाजके कर्णधारोंका स्मरण होनेपर सर्वप्रथम जिनके प्रति चित्त आकर्षित होता है, वे हैं 'कन्हैयालाल विरधी चन्द' नामक प्रसिद्ध फर्मके मालिक स्वर्गीय सेठ विरधीचन्दजी साहब, जिनका विशिष्ट व्यक्तित्व श्रीमन्त होनेके साथ-साथ अनेकों स्मरणीय गुणोंका आकर था। भले ही वे आज हमारे मध्य विद्यमान न हों परन्तु उनके गुणोंकी स्मृति उन्हें जीवित बनाये रखनेके-लिये पर्याप्त है। श्रीमान होनेके नाते समाजके प्रत्येक कार्यमें सहयोगी होना तो उनके-लिये स्वाभाविक था ही, मेरा हृदय तो उनकी उस जन्मजात कला-प्रियताका तथा उनकी उस उदार मनस्विताका उल्लेख करना चाहता है जिसकी साक्षी चितपुरका नया जैन मन्दिर मुंह बोलकर दे रहा है। पुरानी बाड़ीवाले जिनालयके जीर्णोद्धारमें और जैन-भवन तथा बेलगछिया वाले उपवन-मन्दिरके निर्माण कार्यमें भी अपना बहुमूल्य समय देकर आपने जैन समाजके गौरवको बढ़ाया है। शुक्ल वर्णवाली देहपर धारण किये गए शुक्ल वस्त्रोंसे जिस प्रकार उनकी बाह्य शुक्लताका परिचय प्राप्त होता है, उसी प्रकार अतिथि सत्कार, सर्वजन सम्मान, दान-वृत्ति तथा सरल व सरस हृदयता आदि असाधारण गुण उनकी उस आन्तरिक शुक्लताके परिचायक हैं, जिसके समक्ष समाजका जन-गण-मन उनका सम्मान करनेमें अपना गौरव समझता था।

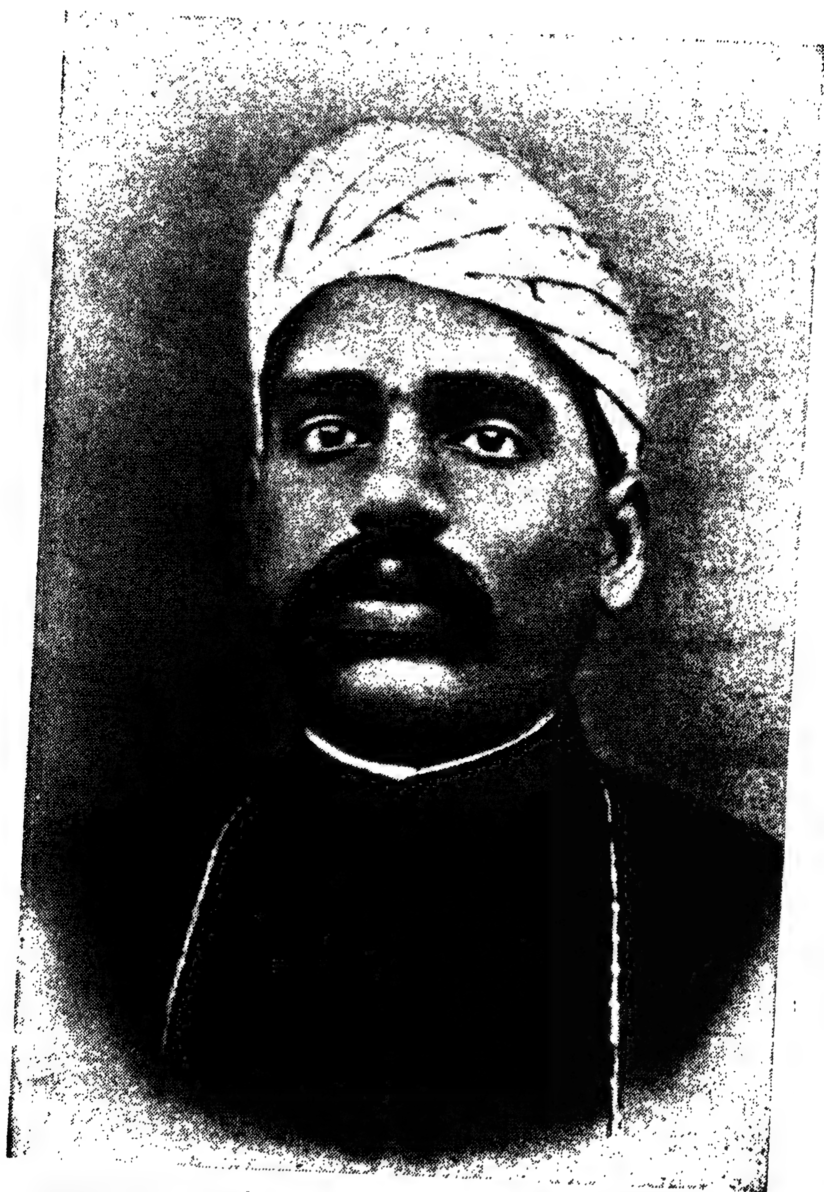
पैतृक सम्पत्तिके रूपमें ये ही सब गुण उनके सुपुत्र स्वर्गीय बाबू लादूरामजी को और उनके पश्चात् उनके ज्येष्ठ सुपुत्र बाबू मानमल जीको प्राप्त हुए। इन सर्व गुणोंके अतिरिक्त ज्ञान-प्रसारकी अभिरुचि इनके व्यक्तित्वकी विशिष्टता है, जिसके कारण इनका सुशिक्षित होना अन्वर्थक है। पूज्य गणेश प्रसादजी वर्णीके प्रति आपको सदासे भक्ति रही है। उनके जीवनकालमें अपने पिताजीके साथ आप बराबर उनके दर्शनार्थ आते रहते थे, फल-स्वरूप उनके अर्थ निर्मित 'शान्ति निकेतन' नामक इस आश्रमको आपका प्रेम प्राप्त होना स्वाभाविक है। दो वर्ष पूर्व वर्णी-जन्म-शताब्दीके अवसरपर, पूज्य श्रीकी पावन स्मृतिमें 'वर्णी-दर्शन' नामके जिस ग्रन्थका प्रकाशन आश्रमकी ओरसे हुआ था, वह आपकी इस अभिरुचिका चिन्ह है। इस ग्रन्थके प्रकाशनका

सकल आर्थिक भार वहन करके आपने वर्णीजीके चरणोंमें उस समय अपनी जो श्रृद्धाञ्जली अर्पित की थी, वह आदर्श है ।

इस वर्ष पुनः आप अपनी इस अभिरुचि-युक्त दान-वृत्तिका परिचय दे रहे हैं । 'शान्तिपथ-प्रदर्शन' नामक इस ग्रन्थको प्रकाशित करानेकी अपनी भावना जब मैंने आपके सामने रखी तो आपको अत्यन्त सन्तोष हुआ मानो कि पहले से ही आपका हृदय इस प्रकारके कार्योंमें अपने धनका सदुपयोग करना अपना सौभाग्य समझता है । इस ग्रन्थके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही आपकी विचारणापूर्ण बुद्धि इससे अति प्रभावित हुई । 'इस ग्रन्थका प्रकाशन शीघ्रसे शीघ्र होना चाहिये' इस भावनासे प्रेरित होकर आप सपरिवार आश्रम पधारे और इस विषयमें श्री जिनेन्द्रजी वर्णीसे बात-चीत की । उनकी सद्‌भावनाको देखते हुए उन्होंने तुरत अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी । चान्दनपुरवाले भगवान् महावीरके अतिशयोंका आपके चित्तपर गहरा प्रभाव है, इसलिये इस कार्यके प्रति दिये गए अपने दानको आप उन्हींके चरणोंमें समर्पित करते हैं । यह दान आप किसी बाह्य प्रेरणासे अथवा प्रतिष्ठा आदिकी भावनासे कर रहे हों ऐसा नहीं है, प्रत्युत इन बातोंसे सर्वथा निरपेक्ष केवल ज्ञान-प्रसारकी पावन भावनासे कर रहे हैं, यह हमारा सौभाग्य है ।

कलकत्ताके सुप्रसिद्ध प्रेजिडेन्सी कालेजमें अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेनेपर भी तथा आधुनिक सोसाइटीके साथ सम्पर्क रहनेपर भी, श्री मानमलजी की धर्मके प्रति अटूट श्रद्धा तथा उनका यौवनोचित उद्रेकसे दूर रहना वास्तवमें इनके पिता श्री लादूरामजीके द्वारा आरोपित सुसंस्कारोंका फल है । धार्मिक वृत्तिके साथ-साथ हेयोपादेयका विवेक ही इनका यथार्थ पितृ-यश है । 'जिस प्रकार पूर्व-सञ्चित पुण्योदयवश आपको यह धार्मिक वृत्ति सहज प्राप्त हुई है, उसी प्रकार वर्तमान सञ्चित पुण्यके फलस्वरूप भावि जीवनमें भी आपको दया, दान, पूजा आदि शुभ कार्योंकी रुचि बनी रहे तथा उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती रहे', ऐसी मेरी भावना है । आप चिरजीवी हों और ज्ञान-प्रसारके पुण्य कार्यमें हमें इसी प्रकार आपका सहयोग प्राप्त होता रहे ।

ब्र० सुरेन्द्र नाथ



बाबू मानमलजी के पिता श्री लादूरामजी जैन कलकत्तावाले

चान्दनपुरवाले बाबा महावीर

१. ग्रामीणोंके बाबा :—

आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट-शाल्मली-वृक्ष। आत्मा ही कामदुहा-धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन। आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और वही अपना मित्र अथवा शत्रु। कामी, क्रोधी, लोभी, अभिमानी तथा वक्र-चित्त वालेकी तो बात नहीं, मनकी दुनियासे दूर, तन तथा धनके असत्य-लोकका वासी वह बेचारा तो है ही स्वयं अपना शत्रु, आत्म-घातक; यहाँ तो उस श्रीमन्त, धीमन्त तथा चारित्रवन्तकी भी बात नहीं जिसकी सकल श्रीको, जिसके सकल ज्ञानको और जिसके सकल चारित्रको—ख्याति लाभ पूजाकी, वाह्य चर्चाओंकी, लोक दिखावेकी, मिथ्या पाण्डित्यकी और बाह्याचार अथवा क्रियाकाण्डकी सीमाओंके उसपार, हृदय-लोकके दर्शन करनेका सौभाग्य अभी प्राप्त नहीं हुआ है; उस हृदय लोकके दर्शनका, जहां है धराकी क्षमा और लताकी नम्रता, जहां है शिशुकी सरलता और हंसकी शुचिता, जहां है चन्द्रकी शान्ति और गौका वात्सल्य, मांका प्यार और मधु-मक्षिकाओंकी मैत्री। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, ऊंच-नीच सबको आत्मजवत् आत्मसात कर लेनेवाले हृदयवन्तकी बात है यह। धन तथा वचनकी तो बात नहीं, मन तथा बुद्धि भी प्राप्त न करके जिसे, लौट आते हैं दूरसे ही खाली हाथ, उस हृदय-राज्यकी बात है यह, प्रभुके आवासकी बात है यह, किसी भी तर्क तथा प्रमाण का अथवा किसी भी विधि-विधानका प्रवेश नहीं है जहाँ। धन्य है वह जिसे इस देशकी नागरिकता प्राप्त हुई है और वही है अपना मित्र, जगत्का मित्र तथा महा-मित्र। नत रहे मस्तक उसके चरणोंमें।

भरतपुर राज्यके चान्दनपुर नामक छोटेसे ग्राममें रहनेवाले किसी एक ऐसे ही निर्धन ग्रामीणको सौभाग्य प्राप्त हुआ था बाबाका पिता तथा पुत्र बननेका, चान्दनपुरके अतिशयपूर्ण बाबा महावीरका, उसका जिसका चित्र कि अङ्कित है इस ग्रन्थके पृष्ठ २३९ पर। उत्पादक, संस्थापक तथा प्रतिष्ठापक होनेके कारण पिता था वह उसका और उपासक होनेके कारण पुत्र। स्मृत्यातीत कालमें विलीन उस व्यक्तिका परिचय देनेके-लिये न है मेरे पास कोई प्रत्यक्ष-साक्ष्य और न कोई आगम-प्रमाण, है केवल अनुमान।

भूरे रंगके सादे पत्थरकी मनुष्य-देह-प्रमाण बाबाकी प्रतिमापर किसी सम्वत्का उल्लेख न होना उसकी प्राचीनताका द्योतक है और उसकी स्मित-मुद्रा, अभयदायक सौम्यता तथा सर्वाकर्षक मनोज्ञता उसके निर्माता कलाकार की भक्तिपूर्ण हृदयमत्ताका । पाषाण-निर्मित जड़ प्रतिमामें सजीव अतिशयोंकी उपलब्धि भले ही साधारण-जनके-लिये आश्चर्यका विषय हो, परन्तु साइकालाजी या मनोविज्ञानके विद्यार्थीके-लिये इसमें कुछ भी विस्मय की बात नहीं । मनकी अचिन्त्य शक्तिसे परिचित है वह । तन तथा धन-लोकके वासी साधारण-जनोंकी वह शक्ति संकल्प-विकल्पोंमें नित्य भ्रमण करते रहनेके कारण व्यर्थ नष्ट होती रहती है, जबकि मनो-साधककी अथवा हृदयकी शीतल छायामें विश्राम करनेवाले किसी महामित्रकी वही शक्ति, चित्तकी एकाग्रताके कारण महानसे महान कार्य करनेके-लिये भी समर्थ हो जाती है । चेतन पदार्थोंमें ही नहीं जड़ पदार्थोंमें भी शक्तिपात कर सकती है वह, उस शक्तिका जो कि कहीं बाहरसे नहीं, प्रत्युत आती है स्वयं उसके भीतरसे, उसके मन तथा हृदयसे । इस शक्तिपातकी तरतमता अथवा स्थायित्व भी निर्भर है उसी की अपनी शक्तिपर तथा इस बातपर कि कितने कालतक उण्डेली जाती रही है वह । आगमगत प्रतिष्ठा-विधान भी आधारित है इसी विज्ञानपर ।

अपने अनेकानेक विस्मयकारी अतिशयोंके द्वारा बाबा स्वयं इस बातकी घोषणा कर रहे हैं कि मेरा पिता तन तथा धन-लोकका वासी कोई साधारण व्यक्ति नहीं था और न था संकल्प-विकल्पात्मक मनो-लोकका, अथवा तर्क-वितर्कात्मक बुद्धि-लोकका, अथवा बाह्यके त्याग-ग्रहणरूप प्राण-शून्य आचार-लोकका । वह था इन सबसे परे उस हृदय-लोकका वासी जहां है केवल प्रेम, सहज श्रद्धा, भावपूर्ण भक्ति और सबको आत्मसात कर लेनेवाली परमा-मैत्री । जहां न है विधि-विधानोंका कृत्रिम भार और न है धन तथा उपकरण आदि का व्यर्थ आडम्बर, है केवल किसी अनपढ़ गँवारकी हृदयवाही गङ्गा, शिशुचित्त-वत् सरल तथा तरल । सभी प्राणियोंमें भ्रातृत्वका तथा देहातीत भगवत्ताका दर्शन करनेवाले जिस महामित्रका तन, मन, जीवन सब कुछ अर्पित हो एक मात्र भगवान्के चरणोंमें; प्रतिमाके संकल्पसे देखे गए पाषाण-खण्डमें, उसे घड़कर संस्कृत करनेवाली लोहेकी टांकीमें, कलामें और कलाकारमें जिसे दर्शन होते हों सर्वत्र एक मात्र अपने मनोमीतके; वह व्यक्ति पाषाणको भग-वान् बना दे, उसमें जीवन डाल दे तो कौन आश्चर्य है ? हृदयके माध्यमसे उसने अपना जीवन उण्डेला है इस प्रतिमामें और अपने जीवनकाल पर्यन्त उण्डेलता रहा है निरन्तर उसमें, पूजा तथा उपासनाके द्वारा । ऐसी प्रतिमाके लिये अतिशयोंका आवास हो जाना कौन आश्चर्यकी बात है ?

कालकृत उथल-पुथलके कारण न जाने कितने काल पर्यन्त रहना पड़ा चान्दनपुरके इस बाबाको धराके गर्भ-गृहमें । मुझे तो पता चला सं० १७०० (सन् १६४३) के आस-पास उस समय जबकि उसने स्वयं परिचय दिया अपने अस्तित्वका, एक विस्मयकारी ढंगसे, और प्रगट होकर भू-गर्भसे बन गया अधिनायक जन-गण-मनका । जीती-जागती एक अतिशयपूर्ण घटना है यह, जिसका उल्लेख आगे किया जानेवाला है । यहां तो इतना ही बताना इष्ट है कि जिस भू-खण्डसे उनका आविर्भाव हुआ था, उसके बाहर अथवा भीतर कहीं भी ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिसपर-से कि यह कहा जा सके कि उस स्थानपर कभी कोई चैत्य-गृह अथवा मन्दिर विद्यमान रहा होगा । प्रतिमाका अंग भंग न होना इस बातका प्रमाण है कि किन्हीं आततताइयोंके द्वारा वह कहीं अन्यत्रसे लाकर यहां डाल दी गई हो, ऐसा भी नहीं है । अत: विश्वस्त रूपसे कहा जा सकता है कि ये ग्रामीण देवता इस निर्जन वनमें ही किसी एक वृक्षके नीचे मिट्टीके चबूतरेपर विराजमान थे, और वहांके ग्रामीणोंने ही कभी उपसनार्थ वहां उनकी स्थापनाकी थी । इस प्रकारके चैत्य-वृक्ष आगममें प्रसिद्ध हैं ।

इस प्रकार खुले आकाशके नीचे उनका विराजित होना इस बातका प्रमाण है कि उसके निर्माणमें अथवा स्थापनामें कभी भी किसी एक या अधिक श्रीमन्तोंका हाथ नहीं रहा है । उनकी उत्पत्तिका हेतु सम्पत्ति नहीं भक्ति है, सहज भक्ति । किसी निर्धन कलाकारने ही अपनी हृदय-निष्ठा भक्तिको इस देवताके रूपमें साकार किया है । भरतपुर तथा जयपुर जैसे कला-केन्द्रों में किसी ग्रामीणका मूर्तिकला-विशारद होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है और न ही इस प्रकारके सादे भूरे पत्थरका बिना मुल्य प्राप्त होना ।

माता तथा शिशुके पारस्परिक प्यारकी भांति इस सहज हृदय-राज्यमें आडम्बरको प्रवेश कहां ? चान्दनपुरके इस बाबाको भी प्यारे हैं अपने वे ही सरल तथा सीधे ग्रामीण न कि श्रीमन्त तथा धीमन्त, उसे प्रिय है वही चैत्य-वृक्ष और उसके नीचे बनाया गया कच्ची मिट्टीका चबूतरा न कि रत्न जड़ित विशाल भवन, उसे स्वाद लगता है इन भोले ग्रामीणोंकी गइयोंका मीठा-मीठा दूध, मोटी-मोटी जवारकी रोटियां, खिचड़ी, दाल, भात तथा गुड़की डली । कितने स्वादिष्ट हैं ग्रामीणोंके ये प्रेमभरे पकवान । कृत्रिम जल, चन्दन, अक्षत आदिमें कहां है वह स्वाद, प्रेमके अभावमें स्वाद कहां ?

२. बाबाके चमत्कार :—

क्या गए हो कभी चान्दनपुर ? आओ चलें बाबाकी प्रेमपूर्ण लीलायें

देखने। भरतपुरसे ५० मील दक्षिणमें स्थित पटौंदा नामक रेलवे स्टेशनसे दो मील दूर ग्रामीण मीनोंकी छोटीसी बस्ती, जहां है पीनेके-लिये गरम-गरम लू और फांकनेके-लिये धूल। राजस्थान जैसी मरुस्थलीमें और मिलना ही क्या है। एक नदी अवश्य है पर केवल बरसाती, अन्य ऋतुओंमें सूख जाती है जो। डरो नहीं, आओ, भले ही न हो यहां नागरिक सज-धज, परन्तु है एक ग्रामीण सौन्दर्य, अति सरल, अति स्वच्छ, हृदय-ग्राही। देख रहे हो सामने नदी किनारे वह मिट्टीका लम्बा चौड़ा टीला? हैं यह क्या? देखो, देखो, तनिक ध्यानसे देखो। एक छोटीसी गइया, कोई दूहनेवाला नहीं, परन्तु दुही जा रही है वह स्वयं, झरे जा रहा है दूध उसके थनोंमे स्वयं, उस टीलेपर। ओह! प्रेम महाप्रेम। इसके मनोमीत बैठे हैं न यहां मिट्टीके नीचे, चान्दनपुरके बाबा महावीर। न जाने कबसे पड़े हैं भूखे प्यासे। कितने प्यारसे पिला रही है दूध यह अपने वत्सको।

और गइयाका स्वामी बेचारा गरीब कृपालदास गवाला? देखो कितना चिन्तित बैठा है आज वह अपनी झोंपड़ीके द्वारपर। कौन दूह लेता है मेरी गइयाको रोज-रोज। आज पकड़कर रहूंगा चोरको। और लठ हाथमें सम्भाल कर चल पड़ा वह गइयाके पीछे-पीछे, वृक्षोंकी ओटसे होता हुआ। हैं! यह क्या? अच्छा कोई हर्ज नहीं, पता चल गया, अब कहां जायेगा बच्चू मुझसे बचकर? ठन, ठन, ठन, फावड़ा चलता रहा दो दिन तक निरन्तर। 'ठहरो···' कहांसे आई यह आवाज? कौन पुकार रहा है इस निर्जन वनमें? 'ठहरो···' अरे! फिर वही आवाज? कितनी मधुर लगती है यह और आ रही है इस टीलमें-से ही? 'तनिक धीरे, कहीं चोट न लग जाये मुझको·······'। अरे यह तो कोई देवता प्रतीत होता है? और तीसरे दिन सवेरे ही दिखाई पड़ा उस देवताका सर। बड़ी सावधानीके साथ मिट्टी हटाई चारों तरफ़से और प्रगट हो गया कृपाल दासका देवता, ग्रामीणोंका मनोमीत, चान्दनपुरका बाबा महावीर; भूरे रंगके सादे पाषाणकी पुरुषदेह-प्रमाण पद्मासन मनोज्ञ दिगम्बर आकृति, मुस्कुराती हुई। झुक गया सारा गाँव, नर-नारी, बालक-वृद्ध सभी। जो आया, बनकर रह गया उसका। सबके चित्त चुरा लिये इस दूध-चोरने। कोई ला रहा है रोटी, कोई खिचड़ी, कोई दाल-भात और कोई गुड़की डली। लग गया ढेर। कहां तक खाये अकेला बाबा? खोल दिया बाबाने भी अपना अक्षय भण्डार। जो चाहे ले जाओ भर-भर कर झोलियां। 'मेरी गइया दूध नहीं देती बाबा', 'मेरा पुत्र बहुत दिनोंसे बीमार पड़ा है बाबा', 'मेरा खेत सूख गया है बाबा! कैसे निकालूंगा यह वर्ष' और न जाने क्या क्या। जो मागा जिसने, मिल गया उसको। गाँवके भीतर ले जानेके-लिये सब उठाने

लगे बाबाको मिलकर, ज़ोर लगाया सबने, पर बाबा थे कि टससे मस न हुए। कैसे छोड़ते अपनी इस प्रिय स्थलीको जिसने आश्रय दिया है उनको इतने वर्षों तक ? छप्पर छा दिया ग्रमीणोंने वहां ही बाबाके सरपर और इस प्रकार आनकी आनमें बन गया ग्रामीणोंके इस देवताका मन्दिर।

कैसे रह सकती थी बाबाके चमत्करोंकी यह अमर कहानी, छोटेसे गाँवकी सीमामें बन्द ? वायु देवताने पहुंचा दिया उसे यत्र-तत्र और कुछ ही वर्ष पश्चात् जोड़ दिया छकड़ा बसवा-निवासी सेठ अमरचन्द बिलालने, चान्दनपुर चलनेके-लिये। अरे ! यह तो कोई जैन प्रतिमा है, कितनी मनोहर, कितनी सुन्दर, मुँहसे बोल रही है मानो ? मन्दिर बनवायेंगे इसके-लिये। विराजित कर दिया बाबाको रथमें उसके नागरिक भक्तोंने, नव-निर्मित मन्दिरमें ले जानेके-लिये। वज्र टूट पड़ा गवालेके हृदयपर। श्रीमन्तोंके सामने बिसात ही क्या थी उस बेचारे ग़रीबकी ? पृथ्वीपर गिर पड़ा बेहोश होकर। शोक छा गया सारे गाँवपर। आंसू बहानेके अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे वे। आंखों ही आंखोंमें कह गए वे अपने बाबासे सब कुछ और बाबाने भी सुन ली सबकी। हज़ार प्रयत्न किये, बैलपर बैल जोड़े, सभी नागरिक जुट गए, परन्तु बाबाको न हिलना था और न हिला। कैसे जा सकता था वह सरल प्रेमके इस कच्चे धागेको तोड़कर ? 'गवालेकी अनुमतिके बिना रथ नहीं चल सकता' आकाश वाणीने कहा और समझ गया सेठ सब कुछ। "भैया मत घबराओ, तुम्हारे देवताको गाँवसे बाहर नहीं ले जा रहे हैं, पासमें मन्दिर बनाया है, केवल वहां ले जाना है, आज्ञा दे दो ? बाबा तुम्हारे ही रहेंगे, मन्दिरमें जानेसे तुम्हें कोई नहीं रोकेगा, आज्ञा दे दो ? इस स्थानपर बाबाके चरण चिन्ह-स्थापित कर दिये जायेंगे। जो बाबाके दर्शन करने आयेगा वह उन चरण-चिन्होंके भी दर्शन अवश्य करेगा। उसका सब चढ़ावा सदा तुम्हारे कुटम्बको मिलता रहेगा, आज्ञा दे दो ?" तरस आ गया कृपाल दासको सेठकी इस दयनीय दशापर। सरल-हृदय ग्रामीण जो ठहरा। हाथ लगा दिया रथके पिछले पहियेपर और चल पड़ा रथ तुरत। 'प्रतिवर्ष जब भी रथमें बाबाकी सवारी निकलेगी, तेरे वंशजोंका हाथ लगे बिना रथ नहीं हांका जायगा', सेठने वचन दे दिया कृपालदास गवालेको और कृतार्थ हो गया वह। सम्मान रख लिया बाबाने अपने ग्रामीण भक्तका।

कोई सौ वर्ष पश्चात्—हाथमें हथकड़ी और पाँवमें बेड़ी ? किसे लिये आ रहे हैं राज-सैनिक बन्दी बनाकर इस वनकी ओर ? अरे ! ये तो दीवान हैं, भरतपुर राज्यके प्रसिद्ध दीवान जोधराज, राज्यके सच्चे हितैषी ? किस चुग़ल-

खोरकी द्वेषाग्निमें दी जा रही है इनकी आहुति ? कितने अन्धे होते हैं राजा लोग, बिना सोचे समझे दे दी *आज्ञा—'उड़ा दो तोपसे इसकी धाज्जियाँ, प्रजाके प्राणकी'* । *'यदि कुछ देर रुको तो दर्शन करलूं भगवानके इस मन्दिरमें'* कोतवालसे आज्ञा मांगी वन्दी दीवानने, और लेट गया वह बाबाके चरणोंमें। एक संकल्प था उसके हृदयमें और दो आंसू आखोंमें। इन्हींसे करके अर्चना अपने प्रभुकी चल पड़ा वह कोतवालके साथ, निर्भय। धौं-धौं-धौं, विस्मय महा-विस्मय ? तोप देने लगी सलामी राज्यकी इस लाजको, तीनों गोले ठण्डे हो गए दीवानके चरणोंमें जाकर, खुल गई हथकड़ी और टूट गई बेड़ी। खुल गईं राजाकी आंखें और लज्जित हो गया वह अपनी भूलपर। गलेसे लगा लिया दीवानको, आंखोंमें पश्चातापका सन्ताप लिये। 'अपने पुण्य संकलपमें सम्मिलित करके मुझे भी अवसर दे दो दीवान्! अपने इस पापको धोनेका?' 'आपका कोई दोष नहीं है राजन्, *यह तो सब कर्मोंका खेल है*।' दीवान और राजा दोनों ने मिलकर बनवा दिय। सेठ अमरचन्द विलालके उस छोटेसे मन्दिरको दुमञ्जिला विशाल भवन, और उसके चारों ओर यात्रियोंके ठहरनेके-लिये एक धर्मशाला। वैसाख बदी २ सम्बत १८२६ (सन् १७६१) का वह शुभ दिन भी स्मरण रहेगा सदा जिस दिन कि प्रतिष्ठा हुई थी इस मन्दिरकी और भरतपुर नरेश ने स्वयं सारथित्व किया था बाबाकी सवारीका।

१५० वर्षका दीर्घ काल, नागरिकता का बढ़ता हुआ वेग और उसके साथ कलाके स्तरका भी। अपनी वेदीका पुराना ढांचा खटकने लगा बाबाकी दृष्टिमें, क्या श्रीमन्तोंके बाबाको शोभा देता है ऐसे पुराने ढांचे में बैठना ? पहुंच गए सन् १६१६ की एक रातको बाबा स्वयं अपने दिल्लीवाले एक भक्त सेठ महावीर प्रसाद बिजली वालेके घर। पवित्र हो गई भक्तकी कुटिया और तर गईं उसकी अनेकों पीढ़ियां। वेदीका तो मात्र बहाना था, बाबाको तो कृतार्थ करना था अपने इस अनन्य भक्तको और साथ-साथ रक्षा करनी थी अपने एक भक्तकी, जयपुरके एक निर्धन कलाकारकी। संगेमरमरकी तीन दरवाली एक सुन्दर वेदी तैयार की थी उसने, बड़े चावसे, अपने बाबाके-लिये, परन्तु कोई ग्राहक ही नहीं था उसका। साहूकारके ऋणसे दवा जा रहा था बेचारा। एक ओर मांग कर रहे थे बाबा अपने दिल्लीवाले भक्तसे, ४० दिनके भीतर-भीतर संगेमरमरकी तीन दरवाली नवीन वेदीमें अपनी स्थापना करानेकी; दूसरी ओर प्रेरणा दे रहे थे वे मन्दिरके भट्टारक पूज्यवर श्री महेन्द्र-कीर्तिजी को, उसे जयपुर ले जानेकी;और तीसरी ओर सूचना दे रहे थे वे अपने जयपुर वाले भक्तको, ग्राहक भेज देनेकी। एक ही रात्रिमें देख रहे थे स्वप्न तीनों भक्त युगपत्। भट्टारकजी पहुंच गए दिल्ली और उनके साथ हो लिये सेठ तुरत

जयपुरके-लिये । मार्गमें अलवरके स्टेशनपर गाड़ीमें ही भेंट हो गई उनकी उस कारीगरसे और निश्चित अवधिमें ही स्थापित कर दिये गए बाबा नवीन वेदी में । यह है चान्दनपुरवाले बाबाकी अपूर्व भक्त-वत्सलता ।

प्रसिद्धि फैल गई बाबा की दूर-दूर, और ढुकने लगे हजारों मीलसे यात्री इनके चरणोंमें, अपने मनमें विविध एषणाओंका भार लिये—पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा और न जाने क्या क्या । एषणा-सागर ठाठें मारने लगा बाबा के आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, सब ओर । पर वाह रे बाबा ! तेरा अक्षय भण्डार, कोई निराश नहीं लौटता तेरे दरबारसे । जीवन चाहने वालेको जीवन देता है तू और अभय चाहनेवाले को अभय, पुत्र चाहनेवाले को पुत्र देता है तू और धन चाहनेवाले को धन । क्या नहीं देता तू ? चिरन्तन शान्ति भी दे सकता है तू यदि कोई मांगे तो । परन्तु क्या करे, कोई लेकर ही नहीं आता ऐसी मांग । घर-बारको आग लगाकर श्मशानवासी बननेवाले मेरे जैसे पागल है ही कितने इस लोकमें ?

२. नागरिकताका प्रभाव :—

श्रद्धाञ्जलियें अर्पित करने लगे भक्तजन बाबाके चरणोंमें—कोई मन्दिर तथा वेदीके रूपमें, कोई मानस्तम्भ तथा आश्रमके रूपमें, कोई धर्मशाला तथा पाठशालाके रूपमें, कोइ कमरों तथा दुकानोंके रूपमें, कोई सड़क, नल तथा बिजलीके रूपमें, कोई धन तथा रजत-छत्रके रूपमें, कोई सामग्री तथा घृत-ज्योतके रूपमें । सैंकड़ों छत्र चढ़ते हैं प्रतिदिन, मनों सामग्री और मनों घी । भर गया भण्डार मन्दिर जीका और हो गया कृपालदास गवालेका कुटुम्ब भी निर्धन से सधन, ले-लेकर अपने बाबाके चरणोंमें चढ़ाया गया घी, दूध, मेवा तथा अन्न ।

बढ़ता गया बाबाका प्रताप और सरल ग्रामीणोंका छोटासा चान्दनपुर गाँव बन गया अच्छा खासा नगर । रेलवे स्टेशनका नाम हो गया 'पटौंदा' से 'श्री महावीर जी' । क्या नहीं है आज वहां ? यात्रियोकी सुविधाके-लिये स्टेशन पर धर्मशाला, वहांसे मन्दिर तक २-३ मीलकी पक्की सड़क, यात्रियोंको लाने तथा ले जानेके-लिये मोटर बस, नदीपर सरकारी पक्का पुल, टीलेपर बाबाके चरण-चिन्ह, दसियों नये मन्दिर, बीसियों विशाल धर्मशालायें, दो महिलाश्रम, डाकखाना, पाठशाला, अच्छा खासा बाजार, नल, बिजली, रेडियो, लाउडस्पीकर, टैलीफोन, सब ही कुछ तो है आज वहां । नदीके उस पार शान्तिनाथ भगवान्की ३० फुटी विशालकाय प्रतिमाने नींव डाल दी है शान्ति-नगरकी,

चौबीसों तीर्थंकरोंकी यथावर्ण पुरुषदेह-प्रमाण मुंह बोलती प्रतिमायें विराजित की गई हैं जहां। काया-पलट हो गई है आज दीवानजी वाले मूल मन्दिरकी तथा उस धर्मशालाकी। संगेमरमर तथा सोने-चान्दीसे मण्ढ दिया गया गया है मन्दिर और धर्मशालाको कर दिया गया है दुमञ्जिला। आज एक उत्तंग मान स्तम्भ खडा है मन्दिरके सामने।

हजारों यात्रियोंका तांता लगा रहता है आज वहां, नित्य। सभी तो करना चाहते हैं अपने बाबाकी अर्चना, पर एक वेदीपर सबको अवकाश कहाँ? इसलिये बन गई मन्दिरके उसी एक सभा-मण्डपमें अनेकों नई वेदियां, एक सभा मण्डपके मध्य, तथा अनेकों पहलेवाली मूल वेदीके तथा इस मध्यवर्ती वेदीके दाईं-बाईं ओर। हर समय लगी रहती है वहां भक्तोंकी भारी भीड़, कोई माथा रगड़ता है बाबाके चरणोंमें और कोई करता है प्यारसे उसके शरीर की चप्पी, कोई घीसे नहलाता है उसे और कोई दूधसे, कोई जल-चन्दनसे और कोई सर्वोषध-रससे। किसे परवाह पड़ी भक्तिके इस अन्धे आवेशमें यह देखनेकी कि किस प्रकार इस नाटकसे बूढ़े बाबाका जर्जर शरीर जा रहा है घिसता हुआ, दिनों-दिन। प्रबन्धक वर्गकी दृष्टि गई इस क्षतिपर और विराजित कर दिये गए एक नये बाबा बाहरवाली मध्यवर्ती वेदीमें, बिल्कुल मूल बाबा की प्रतिकृति, वही मुद्रा, वही पाषाण तथा उतनी ही बड़ी।

तन, मन, धन तीनों अर्पण कर दिये हैं भक्तोंने बाबाके चरणोंमें। परन्तु सिक्केके दो पड़खे हैं—एक ओर प्रकाश तो दूसरी ओर अन्धकार। दिन-रात, जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि, अच्छाई-बुराई बस इन द्वन्द्वोंका संघात ही तो है यह और क्या? दोनों प्रकृति मांके युगल पुत्र, एकका प्रभव हुआ नहीं कि दूसरा स्वतः टपका नहीं। सब कुछ है आज वहां परन्तु पहलेवाला वह ग्रामीण जीवन कहां? यही है ऋषि-प्रणीत वह तात्विक रहस्य जिसे समझाकर तार दिया इस बाबाने अपने अनेकों भक्तोंको, सागरके उस पार, जहां न है सुख न दुःख, न जन्म न मरण, न हानि न लाभ। है केवल एक अनिर्वचनीय चिरन्तन-शान्ति। नत रहे मस्तक उनके चरणोंमें, जिन्होंने समझा है उसे।

४. सरल भक्ति :—

प्रतिवर्ष चैत्र-पूणिमाको निकलती है बाबाकी सवारी, बड़ी सजधजके साथ; परन्तु असली बाबाकी नहीं, उसकी प्रतिकृतिकी, इसलिये कि कहीं ठेस न लग जाय बाबाके जर्जर शरीरको। प्रतिकृति विराजित होनेके कारण यद्यपि

रथमें अब वह अतिशय नहीं है कि वह गवालेका हाथ लगे बिना न चले, परन्तु कृपालदास गवालेको दिये गए सेठ अमरचन्द बिलालके वचनको निभानेके लिये आज भी वह प्रथा चालू है। गवालेके किसी प्रधान कुटुम्बीका हाथ लगे बिना रथ हांका नहीं जाता।

भारी मेला लगता है इस अवसरपर और दीपावलीके निर्वाण दिवसपर भी। केवल इन अवसरोंपर ही दर्शन होते हैं अब वहां ग्रामीणोंके उस पावन प्यारके। आहा हा! कितना मनहर होता है वह दृश्य, पहले मीने और उनके चले जानेके पश्चात् गूजर, नर-नारी, बच्चे-बूढ़े आते हैं वहां, हजारोंकी संख्या में, दूर-दूरसे पैदल चलकर, और पुत्रादिकी कामनावाले कुछ भक्त पेटके बल गरम वालूमें, नङ्गे-बदन लेट-लेटकर भी। न उन्हें कुछ पता है मन्दिर-प्रवेशकी शास्त्रोक्त विधिका, न ॐ ह्रीं तथा स्वाहाका, न जल, चन्दन, अक्षतका। उनके पास है केवल प्यार, वही पुराना प्यार और उसके रसमें सनी हुई मोटी-मोटी सूखी रोटियां, खिचड़ी, दाल-भात तथा गुड़की डली। जते पहने ही घुस जाते हैं वे श्रीमन्तोंके इस मन्दिरमें। उनके हृदयमें है केवल अपने जीते जागते बूढ़े बाबाके दर्शनोंकी चाह और होठोंपर एक अप्रतिकार्य उलाहना। दूरसे ही फेंककर मारते हैं वे अपने उपर्युक्त ग्रामीण पकवान बाबाके मुखपर। क्या करें बेचारे, पहलेकी भाँति मुखमें दे-देकर खिलानेका अधिकार ही कहां है अब उनको?

सुनाते हैं ये गंवार-भक्त मन भरकर खूब खरी-खरी अपने बूढ़े बाबाको—"नंगा जो ठहरा। तभी तो लाज नहीं आई, हम गरीबोंको छोड़कर इन सेठोंके साथ आते हुए। अब क्यों देखने लगा हमारी ओर, महलोंमें रहने लग गया है न। क्यों भाने लगीं हमारी ये सुखी रोटियां, मलाई पेड़े खानेको जो मिल गए हैं। परन्तु याद रख जीभका स्वाद ही मिलेगा, प्रेमका नहीं। देख किस प्रकार बन्दी बनाकर बैठा दिया है इन नागरिकोंने अब तुझे इस अन्धेरी काल-कोठरी में। दम घुटकर मर जायेगा यहीं।" और न जाने क्या-क्या। गलियां हैं ये या सुहालियां, यह जाने बाबा या कोई हृदयवन्त; न श्रीमन्त और न धीमन्त। सुनते रहते हैं बाबा सब कुछ चुपके-चुपके, भीतर ही भीतर मुस्कुराते हुए। जगद्-व्यापी विधानका उल्लंघन कौन कर सकता है? यह भी जा रहा है धीरे धीरे वहीं, जहां जाना है सबको। न रह गई है अब इन सरल भक्तोंकी उतनी संख्या और न उतनी उमंग।

परन्तु इससे क्या? क्या इसी प्रकार मुझे भी विसार देगा तू? इसमें मेरा क्या दोष? यह तो है सब कालका विलास, तेरा ही अपना वैभव, तेरा ही

चौबीसों तीर्थंकरोंकी यथावर्ण पुरुषदेह-प्रमाण मुंह बोलती प्रतिमायें विराजित की गई हैं जहां। काया-पलट हो गई है आज दीवानजी वाले मूल मन्दिरकी तथा उस धर्मशालाकी। संगेमरमर तथा सोने-चान्दीसे मण्ढ दिया गया गया है मन्दिर और धर्मशालाको कर दिया गया है दुमञ्जिला। आज एक उत्तंग मान स्तम्भ खड़ा है मन्दिरके सामने।

हजारों यात्रियोंका तांता लगा रहता है आज वहां, नित्य। सभी तो करना चाहते हैं अपने बाबाकी अर्चना, पर एक वेदीपर सबको अवकाश कहाँ? इसलिये बन गई मन्दिरके उसी एक सभा-मण्डपमें अनेकों नई वेदियां, एक सभा मण्डपके मध्य, तथा अनेकों पहलेवाली मूल वेदीके तथा इस मध्यवर्ती वेदीके दाईं-बाईं ओर। हर समय लगी रहती है वहां भक्तोंकी भारी भीड़, कोई माथा रगड़ता है बाबाके चरणोंमें और कोई करता है प्यारसे उसके शरीर की चप्पी, कोई घीसे नहलाता है उसे और कोई दूधसे, कोई जल-चन्दनसे और कोई सर्वोषध-रससे। किसे परवाह पड़ी भक्तिके इस अन्धे आवेशमें यह देखनेकी कि किस प्रकार इस नाटकसे बूढ़े बाबाका जर्जर शरीर जा रहा है घिसता हुआ, दिनों-दिन। प्रबन्धक वर्गकी दृष्टि गई इस क्षतिपर और विराजित कर दिये गए एक नये बाबा बाहरवाली मध्यवर्ती वेदीमें, बिल्कुल मूल बाबा की प्रतिकृति, वही मुद्रा, वही पाषाण तथा उतनी ही बड़ी।

तन, मन, धन तीनों अर्पण कर दिये हैं भक्तोंने बाबाके चरणोंमें। परन्तु सिक्केके दो पड़खे हैं—एक ओर प्रकाश तो दूसरी ओर अन्धकार। दिन-रात, जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि, अच्छाई-बुराई बस इन द्वन्द्वोंका संघात ही तो है यह और क्या? दोनों प्रकृति मांके युगल पुत्र, एकका प्रसव हुआ नहीं कि दूसरा स्वतः टपका नहीं। सब कुछ है आज वहां परन्तु पहलेवाला वह ग्रामीण जीवन कहां? यही है ऋषि-प्रणीत वह तात्त्विक रहस्य जिसे समझाकर तार दिया इस बाबाने अपने अनेकों भक्तोंको, सागरके उस पार, जहां न है सुख न दुःख, न जन्म न मरण, न हानि न लाभ। है केवल एक अनिर्वचनीय चिरन्तन-शान्ति। नत रहे मस्तक उनके चरणोंमें, जिन्होंने समझा है उसे।

४. सरल भक्ति :—

प्रतिवर्ष चैत्र-पूर्णिमाको निकलती है बाबाकी सवारी, बड़ी सजधजके साथ; परन्तु असली बाबाकी नहीं, उसकी प्रतिकृतिकी, इसलिये कि कहीं ठेस न लग जाय बाबाके जर्जर शरीरको। प्रतिकृति विराजित होनेके कारण यद्यपि

रथमें अब वह अतिशय नहीं है कि वह गवालेका हाथ लगे बिना न चले, परन्तु कृपालदास गवालेको दिये गए सेठ अमरचन्द विलालके वचनको निभानेके लिये आज भी वह प्रथा चालू है। गवालेके किसी प्रधान कुटुम्बीका हाथ लगे बिना रथ हांका नहीं जाता।

भारी मेला लगता है इस अवसरपर और दीपावलीके निर्वाण दिवसपर भी। केवल इन अवसरोंपर ही दर्शन होते हैं अब वहां ग्रामीणोंके उस पावन प्यारके। आहा हा! कितना मनहर होता है वह दृश्य, पहले मीने और उनके चले जानेके पश्चात् गूजर, नर-नारी, बच्चे-बूढ़े आते हैं वहां, हजारोंकी संख्या में, दूर-दूरसे पैदल चलकर, और पुत्रादिकी कामनावाले कुछ भक्त पेटके बल गरम वालूमें, नङ्ग-बदन लेट-लेटकर भी। न उन्हें कुछ पता है मन्दिर-प्रवेशकी शास्त्रोक्त विधिका, न ॐ ह्रीं तथा स्वाहाका, न जल, चन्दन, अक्षतका। उनके पास है केवल प्यार, वही पुराना प्यार और उसके रसमें सनी हुई मोटी-मोटी सूखी रोटियां, खिचड़ी, दाल-भात तथा गुड़की डली। जते पहने ही घुस जाते हैं वे श्रीमन्तोंके इस मन्दिरमें। उनके हृदयमें है केवल अपने जीते जागते बूढ़े बाबाके दर्शनोंकी चाह और होठोंपर एक अप्रतिकार्य उलाहना। दूरसे ही फेंककर मारते हैं वे अपने उपर्युक्त ग्रामीण पकवान बाबाके मुखपर। क्या करें बेचारे, पहलेकी भांति मुखमें दे-देकर खिलानेका अधिकार ही कहां है अब उनको?

सुनाते हैं ये गंवार-भक्त मन भरकर खूब खरी-खरी अपने बूढ़े बाबाको— "नंगा जो ठहरा। तभी तो लाज नहीं आई, हम गरीबोंको छोड़कर इन सेठोंके साथ आते हुए। अब क्यों देखने लगा हमारी ओर, महलोंमें रहने लग गया है न। क्यों भाने लगीं हमारी ये सूखी रोटियां, मलाई पेड़े खानेको जो मिल गए हैं। परन्तु याद रख जीभका स्वाद ही मिलेगा, प्रेमका नहीं। देख किस प्रकार बन्दी बनाकर बैठा दिया है इन नागरिकोंने अब तुझे इस अन्धेरी काल-कोठरी में। दम घुटकर मर जायेगा यहीं।" और न जाने क्या-क्या। गलियां हैं ये या सुहालियां, यह जाने बाबा या कोई हृदयवन्त; न श्रीमन्त और न धीमन्त। सुनते रहते हैं बाबा सब कुछ चुपके-चुपके, भीतर ही भीतर मुस्कुराते हुए। जगद्-व्यापी विधानका उल्लंघन कौन कर सकता है? यह भी जा रहा है धीरे धीरे वहीं, जहां जाना है सबको। न रह गई है अब इन सरल भक्तोंकी उतनी संख्या और न उतनी उमंग।

परन्तु इससे क्या? क्या इसी प्रकार मुझे भी विसार देगा तू? इसमें मेरा क्या दोष? यह तो है सब कालका विलास, तेरा ही अपना वैभव, तेरा ही

अपना चमत्कार । 'उत्पत्तिका विनाश तथा वृद्धिका ह्रास' कौन रोक सकता है इस तेरे अकाट्य विधानको ? क्या मुझको भी लुभाता रहेगा, भुलाता रहेगा, यों ही, माया जालकी इस भूल-भुलैयामें, स्वप्न-राज्यके इस मिथ्या प्रपञ्चमें ? देख बाबा देख ! मैं भी आया हूं तेरी शरणमें, तेरा एक शिशु, सर्वथा अबोध । न जानता हूं कुछ व्यवहार न परमार्थ, न लोकका अनुभव और न शास्त्रका ज्ञान । सकल शास्त्रीय चर्चाओंसे तथा धार्मिक विधि-विधानों से दूर, अति दूर, विवेकहीन तेरा शिशु, हृदयके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता जो, नेत्र-द्वारा नेत्रको पढ़नेके अतिरिक्त कुछ नहीं पढ़ता जो । हृदय ही है जिसका सब कुछ—तन, मन, धन, जीवन । एषणा अवश्य है, परन्तु न है यह पुत्रेषणा, और न लोकेषणा । कुछ अन्य ही है वह, इन सबसे विलक्षण ।

तेरे अतिरिक्त और दिखता ही क्या है इसे ? आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहर, बस एक तू ही तो है, और क्या ? तुझसे तथा तुझमें ही पैदा हुआ है यह, तुझसे तथा तुझमें ही पलता रहा है यह और तुझमें ही विलीन हो जाना चाहता है यह । तेरा ही प्यार चाहता है यह, आत्मसात कर लेनेवाला प्यार, मांका प्यार । देख कितनी भयंकर हैं विभीषिकायें इस असत्य लोककी, दावानलकी सर्वभक्षी ज्वालायें । बचा, बचा, माँ ! बचा, अपने इस सुकोमल शिशुको इसकी लपटोंसे बचा । छिपा ले अपने अञ्चलमें, जहांतक पहुँच नहीं है इनकी । उठा ले माँ ! मुझे अपनी गोदमें, जहां न है मैं न तू, न यह न वह, न उत्पत्ति न विनाश, न वृद्धि न ह्रास, न इष्ट न अनिष्ट, न धर्म न अधर्म, न संसार न मोक्ष, एकरस होकर रह गए हैं ये सर्व द्वन्द्व जहां । बस है एक मात्र तू, और कुछ नहीं ।

माँ माँ माँ । मेरी माँ ! मेरी अच्छी माँ, मेरी प्यारी माँ, चान्दनपुरवाली माँ !

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

विषय-सूची

१. दर्शन-खण्ड १

१. अध्ययन पद्धति ३

१. कार्यकी प्रयोजकता, २. अध्ययनके विघ्न, ३. वक्ताकी प्रमाणिकता, ४. विवेचनके दोष, ५. श्रोताके दोष, ६. महाविघ्न पक्षपात्, ७. वैज्ञानिक बन, ८. पक्षपात् निरसन ।

२. धर्मका प्रयोजन १९

१. अन्तरकी माँग, २. विज्ञान-विधि, ३. असत्य पुरुषार्थ, ४. इच्छा-गर्त, ५. संसार-वृक्ष, ६. षटलेश्या-वृक्ष ।

३. शान्ति ३४

१. भोग महारोग, २. चतुर्विध शान्ति, ३. सच्ची शान्ति ।

४. धर्मका स्वरूप ३९

१. सच्चा धर्म, २. धर्मका लक्षण, ३. अन्तर्ध्वनि तथा संस्कार ।

५. शान्तिका मार्ग ४७

१. त्रयात्मक पथ, २. लक्ष्य-बिन्दु, ३. श्रद्धा, ४. चारित्र ।

६. तत्त्वार्थ ५८

१. सात तथ्य, २. तत्त्व, ३. तत्त्वार्थ ।

७. जीव-तत्त्व ६२

१. 'मैं' की खोज, २. जीव-राशि, ३. स्थावर कायमें जीवन सिद्धि, ४. अन्तस्तत्त्व, ५. शान्ति मेरा स्वभाव, ६. शान्तिकी खोज, ७. जलमें मीन प्यासी ।

८. अजीव-तत्त्व ७७

१. द्विविध जगत, २. अजीव-तत्त्व, ३. शरीर ।

९. विवेक-ज्ञान ८३

१. विवेक, २. सदसत् विवेक, ३. स्वपर विवेक, ४. षट्कारकी स्वतंत्रता, ५. जन्म-मृत्यु-रहस्य, ६. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, ७. भेद-विज्ञान, ८. ज्ञानधारा, ९. सत्य पुरुषार्थ ।

१०. कार्य-कारण-व्यवस्था १०६

१. 'कार्य' शब्द, २. पंच समवाय, ३. स्वभाव, ४. निमित्त, ५. निमित्तोपादान मैत्री, ६. पुरुषार्थ, नियति तथा भवितव्य, ८. नियतिकी सिद्धि, ९. नियति-पुरुषार्थ मैत्री, १०. नियति-निमित्त मैत्री, ११. नियति व अकाल-मृत्यु मैत्री, १२. नियति व आगमाज्ञा मैत्री, १३. सर्वाङ्गीण मैत्री ।

११. आस्रव-तत्त्व १२९

१. पारमार्थिक अपराध, २. कार्मण शरीर, ३. द्विविध

अपराध, ४. राग-द्वेष, ५. क्रियाओंकी अनिष्टता, ६. पुण्य भी अपराध, ७. पुण्य भी पाप- ८. इच्छा दर्शन, ९. पुण्यमें पाप १०. ज्ञानीका पुण्य, ११. अभिप्रायका फेर, १२. पुण्य-समन्वय, १३. मनोविज्ञान, १४. चतुर्विध क्रिया ।

१२. बन्ध-तत्त्व १५४

१. बड़ी भूल, २. संस्कार-निर्मिति ।

१३. संवर--तत्त्व १६०

१. जीवन-शोधन ।

१४. निर्जरा--तत्त्व १६४

१. निर्जरा, २. संस्कार-क्षति, ३. प्रतिकूल वातावरण, ४. संवरमें निर्जरा ।

१५. मोक्ष--तत्त्व १७१

१. मोक्ष-तत्त्व, २. काल्पनिक मोक्ष, ३. भाव मोक्ष ।

१६. सम्यग्दर्शन १७६

१. पंच-लक्षण-समन्वय, २. सम्याग्दर्शनके अंग ।

१७. समन्वय १९४

१. सप्ततत्त्व-समन्वय, २. रत्नत्रय समन्वय, ३. स्याद्वाद्, ४. उपसंहार ।

२. साधना खण्ड २०५

१८. साधना २०७

१. महाविघ्न, २. अभ्यन्तर साधना, ३. बाह्य साधना, ४. समन्वय ।

१९. गृहस्थ-धर्म २१५

१. सामान्य परिचय ।

२०. देव-पूजा २१८

१. आदर्श भिखारी, २. आदर्श-दाता, ३. आदर्श-देव, ४. आदर्श-पूजा, ५. अष्ट-द्रव्य पूजा, ६. शंका समाधान (i देव विषयक, ii पूजा विषयक, iii प्रतिमा विषयक, iv मन्दिर विषयक) ।

२१. गुरु-उपासना २५५

१. पुनरावृत्ति, २. गुरु कौन, ३. आदर्श-शिक्षा, ४. आदर्श उपासना, ५. पराश्रयमें स्वाश्रय, ६. सच्चे गुरु ।

२२. स्वाध्याय २६८

१. स्वाध्यायका महत्त्व, २. शास्त्र विनय, ३. शास्त्र क्या, ४. प्रयोजनीय विवेक ।

२३. संयम २७९

१. संयम सामान्य, २. प्रेरणा, ३. इन्द्रियविषय-विभाजन, ४. अन्तरंग व बाह्य संयम, ५. इन्द्रिय-संयम, ६. प्राण-संयम, ७. पञ्च पाप, ८. हिंसा, ९. संयमका प्रयोजन, १०. विश्व-प्रेम, ११. तात्त्विक समन्वय ।

२४. अहिंसा ३०२

१. कर्त्तव्य-विवेक, २. यत्नाचारी अहिंसा, ३. विरोधी हिंसा में अहिंसा, ४. शत्रु कौन, ५. क्रूर जन्तु शत्रु नहीं ।

२५. भोजन-शुद्धि ३१२

१. तामस-राजस-विवेक

२. भक्ष्याभक्ष्य विवेक, ३. बैक्टेरिया विज्ञान, ४. मर्यादाकाल, ५. छूआछूत, ६. मन, वचन, कायशुद्धि, ७. आहार-शुद्धि, ८. मांस-निषेध, ६. मछली अण्डा-निषेध, १०. चर्म-निषेध, ११. दूध दही समर्थन, १२. समन्वय।

२६. तप ३३८

१. सामान्य परिचय, २. भय निवृत्ति, ३. शक्ति-वर्द्धन, ४. शरीरका सार्थक्य, ५. मानस तप, ६. नव संस्कार।

२७. दान ३५४

१. सहज दान, २. दान धर्म, ३. पात्रापात्र विचार, ४. पात्र दान, ५. सामाजिक दान।

२८. श्रावक धर्म ३६१

१. शान्तिका संस्कार, २. स्वाभाविक वैराग्य, ३. अभ्यासकी महत्ता, ४. शल्य, ५. अणुव्रती, ६. सामायिक, ७. दोषोंकी सम्भावना, ८. अतिचार और अनाचार, ६. आगे बढ़।

२६. साधु धर्म ३७४

१. सामान्य परिचय, २. इन्द्रिय-जय, ३. महाव्रत, ४. समिति ५. षट् आवश्यक, ६. गुप्ति, ७. धर्म, ८. अनुप्रेक्षा, ६. परीषह-जय, १० चारित्र, ११. तप १२. महिमा।

३०. अपरिग्रह ३८७

१. दिगम्बरत्व, २. लंगोटी भी भार, ३. लक्ष्य-पूर्ति, ४. अपरिग्रहता साम्यवाद, ५. आंशिक अपरिग्रहता, ६. परिग्रह स्वयं दुःख, ७. अपरिग्रहता स्वयं सुख।

३१. उत्तम-क्षमा ४०१

१. सामान्य परिचय, २. गृहस्थ की क्षमा, ३. साधुकी क्षमा, ४. अध्यात्म-सम्बोधन, ५. गृहस्थको प्रेरणा।

३२. उत्तम-मार्दव ४११

१. अभिमान, २. आत्म-सम्बोधन, ३. लोकेषणा-दमन।

३३. उत्तम-आर्जव ४१८

१. सामान्य परिचय, २. गृहस्थकी कुटिलता, ३. साधुकी कुटिलता, ४. आत्मा-सम्बोधन।

३४. उत्तम-शौच ४२३

१. सच्चा शौच, २. गंगा तीर्थ, ३. लोभ पापका बाप।

३५. उत्तम-सत्य ४२६

१. सत्यासत्य विवेक, २. दशविध सत्य, ३. परम सत्य।

३६. उत्तम-संयम ४३५

१. यम व नियम, २. इन्द्रिय-संयम, ३. प्राण-संयम, ४. परम संयम।

३७. उत्तम-तप ४४१

१. परिचय, २. षड्विध बाह्यतप, ३. षड्विध अभ्यन्तर तप।

३८. ध्यान ४५७

१. ध्यान सामान्य, २. ध्यान विधि, ३. आर्त्तरौद्र ध्यान, ४. धर्म्म ध्यान, ५. मन्त्र-जाप्य, ६. स्तोत्र-पाठ, ७. भावना-भावन, ८. तत्त्व-चिन्तन, ९. निरीह वृत्ति, १०. पद-स्थादि ध्यान, ११. शुक्ल-ध्यान।

३९. उत्तम-त्याग ४७६

१. त्याग व ग्रहण, २. आदर्श त्याग।

४०. उत्तम-आकिञ्चन्य ४८१

१. साध्यासाध्य विवेक, २. दृढ़ संकल्प, ३. आकिञ्चन्य, ४. सच्चा त्याग।

४१. उत्तम-ब्रह्मचर्य ४८७

१. ब्रह्मचर्य, २. ब्रह्मचारी, ३. क्रमोन्नत विकास।

४२. परीषहजय व अनुप्रेक्षा ४९३

१. परीषहजय, २. अनुप्रेक्षा, ३. कल्पनाओंका माहात्म्य, ४. बारह भावनायें।

४३. चारित्र ५०६

१. सामान्य परिचय, २. पंच-विध चारित्र, ३. समन्वय।

४४. सल्लेखना ५१२

१. उपासककी गर्जना, २. देह-सम्बोधन, ३. समता, ४. समाधि-मरण, ५. यह आत्म-हत्या नहीं।

४५. उपसंहार ५१८

१. निश्चय-व्यवहार-मैत्री।

समर्पण

अन्तस्तलकी गहराईमें, छिपी हुई कुछ धुन्धली सी ।
कैसे जानूं कैसी प्रतीति, पर कसक सरीखी चुभती सी ।।
चुपके-चुपके कहती मानो, इस ओर नहीं, उस पार है वह ।
पर कौन ? जान नहीं पाया, कर-धार ग्रन्थ शरण आया ।।
तेरी वाणी तुझको अर्पण, स्वीकार करो मेरा अर्चन ।
आशीष प्रदान करो भगवन्, मैं करता रहूं सदा चिन्तन ।।

तेरे चरणोंका हे गिरेश !
चान्दनपुरके ग्रामीण जगेश !

मानमल जैन, कलकत्ता

लेखककी महत्त्वपूर्ण रचनायें

नं०	नाम	विषय	साइज	पृ०सं०	मूल्य	उपलब्धि स्थान
१.	शान्तिपथ-दर्शन	अध्यात्म	डिमाई	५१०	१२.०	शान्ति निकेतन आश्रम, पो० ईसरी बाजार, (डि० गिरिडीह-बिहार)
२.	नय दर्पण	जैन-न्याय	,,	७७२	१०.०	,,
३.	वर्णी दर्शन	अध्यात्म	,,	४२०	५.०	,,
४.	समणसुत्तं	जैन-धर्म सार	,,	२७६	१२.०	सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट, वाराणसी
५.	जैनेन्द्र सिद्धांत कोष-४ खण्ड	सकल दि०जैन वाङ्मय	डबल	२३२५	१५०)	भारतीय ज्ञानपीठ, ४५-४७ कन्नॉट प्लेस, नई देहली १
६.	पदार्थ-विज्ञान	जैन मान्य षट्-द्रव्य	डिमाई	२४०	छप रही है	,,
७.	जैन सिद्धान्त शिक्षण	यथानाम	,,	२६०	,,	,,
८.	कर्म-सिद्धान्त	यथानाम	क्राउन	१३८	१.५०	विश्व जैन मिशन, पानीपत (केन्द्र)
९.	कुन्दकुन्द दर्शन	अध्यात्म	,,	५०	नहीं	,,
१०.	श्रद्धाबिन्दु	सामाज-शास्त्र	,,	४००		अप्रकाशित
११.	महायात्रा	सर्वदर्शन-समन्वय	,,	१५०		,,
१२.	सत्य-दर्शन	समष्टि तत्त्व	,,	१५०		,,
१३.	Science towards Monism	यथानाम	,,	१००		,,
१४.	जैनतीर्थ मानचित्र	यथानाम	दीवारी	१	५.०	पन्नालाल जैन आर्चिटेक्ट, ४६८३, शिवनगर, करौलबाग, देहली-५

नोट :—डाक खर्च बचानेके-लिये एक साथ सारे प्रकाशन रेलवे पार्सल द्वारा हमारे यहांसे मंगाए जा सकते हैं। २५ प्रतियें एक साथ मंगाने वालेको शान्तिपथ-दर्शनपर २५% छूट दी जायेगी।

१

दर्शन खण्ड



सर्व-समभावी-धर्म, स्वानुभूति-रस-मर्म
निर्द्वन्द्व - मनो - विश्रान्ति
चन्द्रासम शीतल शान्ति

1
अध्ययन पद्धति

चिदानन्दैक रूपाय शिवाय परमात्मने ।
परमलोकप्रकाशाय नित्यं शुद्धात्मने नमः ॥

"नित्य शुद्ध उस परमात्म तत्वको नमस्कार हो, जो परम-लोकका प्रकाशक है, कल्याणस्वरूप है और एक मात्र चिदानन्द ही जिसका लक्षण है ।"

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः,
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव - क्लेश - भयोपशान्त्यैः,
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

जिन्होंने अपने दोषोंको अर्थात् अज्ञान तथा काम क्रोधादिको शान्त करके अपनी आत्मामें शान्ति स्थापित की है, और जो शरणागतोंके-लिये शान्तिके विधाता हैं, वे शान्तिनाथ भगवान् मेरेलिये शरणभूत हों ।

१. कार्यकी प्रयोजकता—अहो ! शांतिके आदर्श वीतरागी गुरुओंकी महिमा, जिसके कारण आज इस निकृष्ट कालमें भी, जबकि चहुं ओर हाय पैसा हाय धनके सिवाय कुछ सुनाई नहीं देता, कहीं-कहीं इस कचरेमें दबी यह धर्मकी इच्छा दिखाई दे ही जाती है । आप सब धर्म-प्रेमी बन्धुओंमें उसका साक्षात्कार हो रहा है । यह सब गुरुओंका ही प्रभाव है । सौभाग्य है हम सभीका, कि हमें वह आज प्राप्त हो रहा है । लोकपर दृष्टि डालकर जब यह अनुमान लगाने जाते हैं, कि ऐसे व्यक्ति जिनको कि गुरुओंका यह प्रसाद प्राप्त हुआ है कितने हैं, तो इस सौभाग्यके प्रति कितना बहुमान उत्पन्न होता है अपने अन्दर ? सर्व-लोक ही तो इस धर्मकी भावनासे, या इसके सम्बन्धमें सुनने मात्रकी भावनासे शून्य है । आजके लोकको तो यह धर्म शब्द भी कुछ कड़ुआसा लगता है । ऐसी अवस्थामें हमारे अन्दर धर्मके प्रति उल्लास ? सौभाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है इसे ?

परन्तु कुछ निराशासी होती है यह देखकर, कि धर्मके प्रतिकी भावनाका यह भग्नावशेष क्या काम आ रहा है मेरे ? पड़ा है अन्दरमें यूं ही बेकारसा ।

कुछ दिनके पश्चात विलीन हो जायेगा धीरे-धीरे, और मैं भी जा मिलूंगा उन्हीं की श्रेणीमें, जिनको कि इसके नामसे चिढ़ है। बेकार वस्तुका पड़ा रहना कुछ अच्छा भी तो नहीं लगता। फिर उसके पड़े रहनेसे लाभ भी क्या है ? समय बरबाद करनेके सिवाय निकलता ही क्या है उसमेंसे ? उस भावनाके दबावके कारण कुछ न चाहते हुए भी, रुचि न होते हुए भी, जाना पड़ता है मन्दिरमें, या पढ़ता हूँ शास्त्र, या कभी कभी चला जाता हूँ किसी ज्ञानीके उपदेशमें। मैं स्वयं नहीं जानता कि क्यों ? क्या मिलता है वहां ? कभी कभी उपवास भी करता हूँ देखादेखी। पर क्षुधाकी पीड़ाके अतिरिक्त और रखा ही क्या है उसमें ?

चलो फिर भी यह सोचकर कि लाभ न सही हानि भी तो कुछ नहीं है। अपनी एक मान्यता ही पूरी हो जायेगी। वह मान्यता जोकि मेरे बाप दादा से चली आ रही है। उनकी मान्यताकी रक्षा करना भी तो मेरा कर्तव्य है ही। भले मूर्तिके दर्शनसे कुछ मिल न सकता हो, वह मेरी रक्षा न कर सकती हो मुझपर प्रसन्न होकर, परन्तु कुछ न कुछ पुण्य तो होगा ही। भले समझ न पाऊँ, क्या लिखा है शास्त्रमें, पर इसे पढ़नेका कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही आगे जाकर, अगले भवमें मुझे। इन पण्डितजीने या इन क्षुल्लक महाराजने या इन ब्रह्मचारीजीने क्या कहा है, भले कुछ न जान पाऊँ, पर कानमें कुछ पड़ा ही तो है ? कुछ तो लाभ हुआ ही होगा उसका, और इस प्रकारकी अनेक धारणाएँ धर्मके सम्बन्धमें होती है।

निष्प्रयोजन उपर्युक्त क्रियायें करके संतुष्ट हो जानेवाले भो चेतन ! क्या कभी विचार किया है इस बातपर, कि तू क्या कर रहा है ? क्यों कर रहा है ? और इसका परिणाम क्या निकलेगा ? लोकमें कोई भी कार्य बिना प्रयोजन तू करनेको तैयार नहीं होता, यहां क्यों हो रहा है ? अनेक जातिके व्यापार हैं लोकमें, अनेक जातिके उद्योग धन्धे हैं लोकमें, परन्तु क्या तू सबकी ओर ध्यान देता है कभी ? उसीके प्रति तो ध्यान देता है कि जिससे तेरा प्रयोजन है ? अन्य धन्धोंमें भले अधिक लाभ हो पर वह तेरे किस काम का ? किसी भी कार्यको निष्प्रयोजन करनेमें अपने पुरुषार्थको खोना मूर्खता है।

आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी उस भावनाके इस भग्नावशेषको कहा जा रहा है तेरा सौभाग्य। ठीक है प्रभु ! वह फिर भी तेरा सौभाग्य है। क्योंकि उन व्यक्तियोंको तो, जिन्हें कि इसका नाम सुनना भी नहीं रुचता इसके प्रयोजन व इसकी महिमाका भान होना ही असम्भव है; इसको अपना-कर लाभ उठानेका तो प्रश्न ही क्या ? परन्तु इस तुच्छमात्र निष्प्रयोजन

भावके कारण तुझे वह अवसर मिलनेका तो अवकाश है ही कि जिसे पाकर तू समझ सकेगा इसके प्रयोजनको व इसकी महिमाको। और यदि कदाचित् समझ गया तो, कृतकृत्य हो जायेगा तू, स्वयं प्रभु बन जायेगा तू। क्या यह कोई छोटी बात है? महान है यह। क्योंकि तुझे अवसर प्राप्त हो जाते हैं कभी-कभी ज्ञानी जनोंके सम्पर्कमें आनेके जो बराबर प्रयत्न करते रहते हैं तुझे यह समझाने का कि धर्मका प्रयोजन क्या है और इसकी महिमा कैसी अद्भुत है। यह अवसर उनको तो प्राप्त ही नहीं होता, समझेंगे क्या बेचारे?

अनेक बार आज तक तुझे ऐसे अवसर प्राप्त हो चुके हैं, पूर्व भवोंमें, और प्राप्त हो रहे हैं आज। बस यही तो तेरा सौभाग्य है, इससे अधिक कुछ नहीं। "अनेक बार सुना है मैंने धर्मका स्वरुप व उसका प्रयोजन व उसकी महिमा। परन्तु सुनकर भी क्या समझ पाया हूँ कुछ? अतः यह सौभाग्य भी हुआ न हुआ बराबर ही हुआ"। ऐसा न विचार। क्योंकि अबतक भले न समझ पाया हो, अबकी बार अवश्य समझ जायेगा, ऐसा निश्चय है। विश्वास कर, आज वही सौभाग्य जागृत हो गया है जो पहले सुप्त था।

२. अध्ययनके विघ्न—न समझनेके कारण कई हैं। वे सब कारण टल जायें तो क्यों न समझेगा? पहला कारण है तेरा अपना प्रमाद, जिसके कारण कि तू स्वयं करता हुआ भी, अन्दरमें उसे कुछ फोकटकी व बेकारकी वस्तु समझे हुए है, जिसके कारण कि तू इसके समझनेमें उपयोग नहीं लगाता; केवल कानोंमें शब्द पड़ने मात्रको सुनना समझता है, वचनोंके द्वारा बोलने मात्रको पढ़ना समझता है और आँखके द्वारा देखने मात्रको दर्शन समझता है। दूसरा कारण है वक्ताकी अप्रमाणिकता। तीसरा कारण है विवेचनकी अक्रमिकता। चौथा कारण है विवेचन-क्रमका लम्बा विस्तार जो कि एक दो दिनमें नहीं बल्कि महीनों तक बराबर कहते रहनेपर ही पूरा होना सम्भव है। और पाँचवां कारण है श्रोताका पक्षपात।

पहिला कारण तो तू स्वयं ही है। जिसके सम्बन्धमें कि ऊपर बता दिया गया है। यदि इस बातको फोकटकी न समझकर वास्तवमें कुछ हितकी समझने लगे, कानोंमें शब्द पड़ने मात्रसे सन्तुष्ट न होकर वक्ताके या उपदेष्टाके या शास्त्रोंके उल्लेखके अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न करने लगे, तो धर्मकी महिमा अवश्य समझमें आ जावे। शब्द सुने जा सकते हैं पर अभिप्राय नहीं। वह वास्तवमें रहस्यात्मक होता है, परोक्ष होनेके कारण और इसीलिये उन-उन वाचक शब्दोंका ठीक वाच्य नहीं बन रहा है। क्योंकि किसी भी शब्दको सुन-कर, उसका अभिप्राय आप तभी तो समझ सकते हैं, जबकि उस पदार्थको,

जिसकी ओर कि वह शब्द संकेत कर रहा है, आपने कभी छूकर देखा हो, सूंघ कर देखा हो, आंखसे देखा हो, अथवा चखकर देखा हो। आज मैं आपके सामने अमरीकामें पैदा होनेवाले किसी फलका नाम लेने लगूं, तो आप क्या समझेंगे उसके सम्बन्धमें? शब्द कानोंमें पड़ जायेगा और कुछ नहीं। इसी प्रकार धर्मका रहस्य बतानेवाले शब्दोंको सुनकर, क्या समझेंगे आप? जब तक कि पहले उन विषयोंको, जिनके प्रति कि वे शब्द संकेतकर रहे हैं, कभी छूकर, सूंघकर, देखकर व चखकर न जाना हो आपने। इसीलिये उपदेशमें कहे जानेवाले अथवा शास्त्रमें लिखे शब्द ठीक-ठीक अपने अर्थका प्रतिपादन करनेको वास्तवमें असमर्थ हैं। वे केवल संकेतकर सकते हैं किसी विशेष दिशाकी ओर। यह बता सकते हैं कि अमुक स्थानपर पड़ा है आपका अभीष्ट। यह भी बता सकते हैं, कि वह आपके-लिये उपयोगी है कि अनुपयोगी। परन्तु वह पदार्थ आपको किसी भी प्रकार दिखा नहीं सकते। हां, यदि शब्दके उन संकेतोंको धारण करके, आप स्वयं चलकर, उस दिशामें जायें, और उस स्थानपर पहुँचकर, स्वयं उसे उपयोगी समझकर चखें, उसका स्वाद लें, किसी भी प्रकारसे, तो उस शब्दके रहस्यार्थको पकड़ अवश्य सकते हैं।

३. वक्ता की प्रमाणिकता—"धर्मका प्रयोजन व उसकी महिमा क्या है?" यह समस्या है, उसको सुलझानेके पांच कारण बतलाये गये थे कल। पहिला कारण था इस विषयको फोकटका समझना तथा उसको रुचिपूर्वक न सुनना। उसका कथन हो चुका। अब दूसरे कारणका कथन चलता है।

दूसरा कारण है वक्ताकी अपनी अप्रमाणिकता। आजतक धर्मकी बात कहनेवाले अनेक मिले, पर उनमेंसे अधिकतर वास्तवमें ऐसे थे, कि जिन बेचारों को स्वयं उसके सम्बन्धमें कुछ खबर न थी। और यदि कुछ जानकार भी मिले तो उनमेंसे अधिकतर ऐसे थे जिन्होंने शब्दोंमें तो यथार्थ धर्मके सम्बन्धमें कुछ पढ़ा था, शब्दोंमें कुछ जाना भी था, पर स्वयं उसका स्वाद नहीं चखा था। अव्वल तो कदापि ऐसा मिला ही नहीं, जिसने उसकी महिमाको चखा हो, और यदि सौभाग्यवश मिला भी तो उसकी कथनपद्धति आगमके आधारपर रही। उन शब्दोंके द्वारा व्याख्यान करने लगा, जिनके रहस्यार्थको आप जानते न थे। सुनकर समझते तो क्या समझते?

ज्ञानकी अनेक धारायें हैं। सर्व धाराओंका ज्ञान किसी एक साधारण व्यक्तिको होना असम्भव है। आज लोकमें कोई भी व्यक्ति अनधिकृत विषयके सम्बन्धमें कुछ बतानेको तैयार नहीं होता। यदि किसी सुनारसे पूछें कि यह मेरी नब्ज तो देख दीजिये, क्या रोग है, और क्या औषध लूं? तो कहेगा कि वैद्यके

पास जाइये, मैं वैद्य नहीं हूँ, इत्यादि। यदि किसी वैद्यके पास जाकर कहूं कि देखिये तो यह जेवर खोटा है कि खरा? खोटा है तो कितना खोट है? तो अवश्य यही कहेगा कि सुनारके पास जाओ, मैं सुनार नहीं हूँ, इत्यादि। परन्तु एक विषय इस लोकमें ऐसा भी है, जो आज किसीके-लिए भी अनधिकृत नहीं। सब ही मानों जानते हैं उसे। और वह है धर्म। घरमें बैठा, राह चलता, मोटर में बैठा, दुकानपर काम करता, मन्दिरमें बैठा या चौपालमें झाड़ू लगाता कोई भी व्यक्ति आज भले कुछ और न जानता हो पर धर्मके सम्बन्धमें अवश्य जानता है वह। किसीसे पूछिये, अथवा वैसे ही कदापि चर्चा चल जाये, तो कोई भी ऐसा नहीं है, कि इस फोकटकी वस्तु 'धर्म' के सम्बन्धमें कुछ अपनी कल्पनाके आधार पर बतानेका प्रयत्न न करे। भले स्वयं उसे यह भी पता न हो कि धर्म किस चिड़ियाका नाम है। भले इस शब्दसे भी चिड़ हो उसे। पर आपको बतानेके-लिये वह कभी भी टांग अड़ाये बिना न रहेगा। स्वयं उसे अच्छा न समझता हो अथवा स्वयं उसे अपने जीवनमें अपनाया न हो, पर आपको उपदेश देनेसे न चूकेगा कभी। सोचिये तो, कि क्या धर्म ऐसी ही फोकटकी वस्तु है? यदि ऐसा ही होता तो सबके सब धर्मी ही दिखाई देते। पाप, अत्याचार, अनर्थ आदि शब्द व्यर्थ हो जाते।

परन्तु सौभाग्यवश ऐसा नहीं है। धर्म फोकटकी वस्तु नहीं है। यह अत्यन्त गुप्त व रहस्यात्मक वस्तु है, अत्यन्त महिमावन्त है। सब कोई इसको नहीं जानते। शास्त्रोंके पाठी बड़े-बड़े विद्वान भी सभी इसके रहस्यको नहीं पा सकते। कोई बिरला अनुभवी ही इसके पारको पाता है। बस वही हो सकता है प्रमाणिक वक्ता। इसके अतिरिक्त अन्य किसीके मुखसे धर्मका स्वरूप सुनना ही, इस प्राथमिक स्थितिमें, आपके-लिये योग्य नहीं। क्योंकि अनेक अभिप्रायों-को सुननेसे, भ्रममें उलझकर झुंझलाये बिना न रह सकोगे। जितने मुख उतनी ही बातें। जितने उपदेश उतने ही आलाप। जितने व्यक्ति उतने ही अभिप्राय। सब अपने-अपने अभिप्रायका ही पोषण करते हुए वर्णन कर रहे हैं धर्मके स्वरूपका। किसकी बातको सच्ची समझोगे? क्योंकि सब बातें होंगी एक दूसरेको झूठा ठहराती, परस्पर विरोधी।

वक्ताकी किञ्चित प्रमाणिकताका निर्णय किये बिना जिस किसीसे धर्म-चर्चा करना या उपदेश सुनना योग्य नहीं। परन्तु इस अज्ञान-दशामें वक्ताकी प्रमाणिकताका निर्णय कैसे करें? ठीक है तुम्हारा प्रश्न। है तो कुछ कठिन काम, पर फिर भी सम्भव है। कुछ बुद्धिका प्रयोग अवश्य मांगता है, और वह तुम्हारे पास है। धेलेकी वस्तुकी परीक्षा करनेके-लिए तो आपमें काफी चतुराई है। क्या जीवनकी रक्षक अत्यन्त मूल्यवान इस वस्तुकी परीक्षा न कर

सकोगे ? अवश्य कर सकोगे । पहिचान भी कठिन नहीं। स्थूलतः देखनेपर जिसके जीवनमें उन बातोंकी झांकी दिखाई देती हो जोकि वह मुखसे कह रहा हो, अर्थात् जिसका जीवन सरल, शान्त व दयापूर्ण हो, जिसके शब्दोंमें माधुर्य हो, करुणा हो और सर्व सत्वका हित हो, साम्यता हो, जिसके वचनोंमें पक्षपातकी बू न आती हो, जो हट्टी न हो, सम्प्रदायके आधार पर सत्यताको सिद्ध करनेका प्रयत्न न करता हो, वाद-विवाद रूप चर्चा करनेसे डरता हो, आपके प्रश्नोंको शान्तिपूर्वक सुननेकी जिसमें क्षमता हो, तथा धैर्यसे व कोमलतासे उसे समझानेका प्रयत्न करता हो, आपकी बात सुनकर जिसे क्षोभ न आ जाता हो, जिसके मुखपर मुस्कान खेलती हो, विषय भोगोंके प्रति जिसे अन्दरसे कुछ उदासी हो, प्राप्त-विषयोंके भोगनेसे भी जो घबराता हो तथा उनका त्याग करनेसे जिसे सन्तोष होता हो, अपनी प्रशंसा सुनकर कुछ प्रसन्नसा और अपनी निन्दा सुनकर कुछ रुष्टसा हुआ प्रतीत न होता हो, तथा अन्य भी अनेक इसी प्रकारके चिन्ह हैं जिनके-द्वारा स्थूल-रूपसे आप वक्ताकी परीक्षा कर सकते है ।

४. विवेचनके दोष—तीसरा कारण है विवेचनकी अक्रमिकता । अर्थात् यदि कोई अनुभवी ज्ञानी भी मिला और सरल भाषामें समझाना भी चाहा तो भी अभ्यास न होनेके कारण या पढ़ानेका ठीक ठीक ढंग न आनेके कारण, या पर्याप्त समय न होनेके कारण, क्रम पूर्वक विवेचन कर न पाया, क्योंकि उस धर्मका स्वरूप बहुत विस्तृत है, जो थोड़े समयमें या थोड़े दिनोंमें ठीक-ठीक हृदयंगत कराया जाना शक्य नहीं है। भले ही वह स्वयं उसे ठीक-ठीक समझता हो, पर समझने और समझानेमें अन्तर है । समझा एक समयमें जा सकता है, और समझाया जा सकता है क्रमपूर्वक काफी लम्बे समयमें । समझानेके लिये 'क' से प्रारम्भ करके 'ह' तक क्रमपूर्वक धीरे-धीरे चलना होता है, समझने वालेकी पकड़के अनुसार । यदि जल्दी करेगा तो उसका प्रयास विफल हो जायगा । क्योंकि अनभ्यस्त श्रोता वेचारा इतनी जल्दी पकड़नेमें समर्थ न हो सकेगा । इसलिये इतने झंझटसे बचनेके-लिये, तथा श्रोता समझता है या नहीं इस बातकी परवाह किये बिना अधिकतर वक्ता, अपनी रुचिके अनुसार पूरे विस्तारमें-से बीच-बीचके कुछ विषयोंका विवेचनकर जाते हैं, और श्रोताओं के मुखसे निकली वाह-वाहसे तृप्त होकर चले जाते हैं । श्रोताके कल्याणकी भावना नहीं है उन्हें, है केवल इस 'वाह-वाह' की । क्योंकि इस प्रकार सब कुछ सुन लेनेपर भी, वह तो रह जाता है कोराका कोरा । उस बेचारेका दोष भी क्या है ? कहीं कहींके टूटे हुए वाक्यों या प्रकरणोंसे अभिप्रायका ग्रहण हो भी कैसे सकता है ?

और यदि बुद्धि तीव्र है श्रोताकी, तो इस अक्रमिक विवेचनको पकड़ तो लेगा पर वह खण्डित पकड़ उसके किसी काम न आ सकेगी। उल्टा उसमें कुछ पक्षपात उत्पन्न कर देगी, उन प्रकरणोंका, जिन्हें कि वह पकड़ पाया है। और वह द्वेषवश काट करने लगेगा उन प्रकरणोंकी, जिन्हेंकि वह या तो सुनने नहीं पाया, और यदि सुना भी हो तो पूर्वोत्तर मेल न बैटनेके कारण, एक दूसरेके सहवर्तीपनको जान नहीं पाया। दोनोंको पृथक-पृथक अवसरोंपर लागू करने लगा और प्रत्येक अवसरपर दूसरेका मेल न बैठनेके कारण काट करने लगा उसकी। इस प्रकार कल्याणकी बजाय कर बैठा अकल्याण; हितकी बजाय कर बैठा अहित; प्रेमकी बजाय कर बैठा द्वेष।

अथवा यदि सौभाग्यवश कोई अनुभवी वक्ता भी मिला और क्रमपूर्वक विवेचन भी करने लगा, तो श्रोताको बाधा हो गई। अधिक समय तक सुनने की क्षमता न होनेके कारण, या परिस्थितिवश प्रतिदिन न सुननेके कारण, या अपने किसी पक्षपातके कारण, किसी श्रोताने सुन लिया उस सम्पूर्ण विवेचन-का एक भाग, और किसीने सुन लिया उसका दूसरा भाग। फल क्या हुआ ? वही जो कि अक्रमिक विवेचनमें बताया गया। अन्तर केवल इतना ही है, कि वहां वक्तामें अक्रमिकता थी,और यहां है श्रोतामें। वहाँ वक्ताका दोष था,और यहाँ है श्रोताका। परन्तु फल वही निकला पक्षपात, वाद-विवाद व अहित।

५. श्रोताके दोष—ऊपर बताये गये दोषके अतिरिक्त श्रोतामें और भी कई दोष हैं। जिनके कारण प्रमाणिक व योग्य वक्ता मिलनेपर भी वह उसके समझनेमें असमर्थ रहता है। उन दोषोंमें-से मुख्य है उसका अपना पक्षपात, जो किसी अप्रमाणिक अथवा अयोग्य वक्ताका विवेचन सुननेके कारण उसमें उत्पन्न हो गया है, अथवा प्रमाणिक और योग्य वक्ताके विवेचनको अधूरा सुननेके कारण उसमें उत्पन्न हो गया है, अथवा पहलेसे ही बिना किसीका सिखाया कोई अभिप्राय उसमें पड़ा है। यह पक्षपात वस्तु-स्वरूप जाननेके मार्गका सबसे बड़ा शत्रु है।

क्योंकि इस पक्षपातके कारण अव्वल तो अपनी रुचि या अभिप्रायसे अन्य कोई बात उसे रुचती ही नहीं और इसलिए ज्ञानीकी बात सुननेका प्रयत्न ही नहीं करता वह। और यदि किसीकी प्रेरणासे सुनने भी चला जाये, तो समझनेकी दृष्टिकी बजाय सुनता है वाद-विवादकी दृष्टिसे, शास्त्रार्थकी दृष्टि-से; दोष चुननेकी दृष्टिसे। जहां अपनी रुचिके विपरीत कोई बात आई, कि पड़ गया उस बेचारेके पीछे, हाथ धोकर। तथा अपने अभिप्रायके पोषक कुछ प्रमाण उस ही के वक्तव्यमें-से छांटकर, पूर्वापर मेल बैठानेका स्वयं प्रयत्न न

करता हुआ, बजाय स्वयं समझनेके समझाने लगे वक्ताको। "वहां देखो तुमने या तुम्हारे गुरुने ऐसी बात कही है या लिखी है। और यहां उससे उल्टी बात कह रहे हो"? और प्रचार करने लगता है लोकमें इस अपने पक्षका, तथा विरोधका। फल निकलता है तीव्र द्वेष।

श्रोताका दूसरा दोष है धैर्य-हीनता। चाहता है तुरन्त ही कोई सब कुछ बता दे। एक राजाको एकबार कुछ हठ उपजी। कुछ जौहरियोंको दरबारमें बुलाकर उनसे बोला कि मुझे रत्नकी परीक्षा करना सिखा दीजिये, नहीं तो मृत्युका दण्ड भोगिये। जौहरियोंके पांव तलेकी धरती खिसक गई। असमंजस-में पड़े सोचते थे, कि एक वृद्ध जौहरी आगे बढ़ा। बोला कि "मैं सिखाऊंगा, पर एक शर्तपर, बचन दो तो कहूं"। राजा बोला, "स्वीकार है, जो भी शर्त होगी पूरी करूंगा"। वृद्ध बोला, "गुरु-दक्षिणा पहले लूंगा"। हां, हां, तैयार हूं। मांगो क्या मांगते हो? जाओ कोषाध्यक्ष! दे दो सेठ साहबको लाख करोड़ जो भी चाहिये।" वृद्ध बोला, "कि राजन्! लाख करोड़ नहीं चाहिये बल्कि जिज्ञासा है राजनीति सीखनेकी और वह भी अभी, इसी समय। शर्त पूरी कर दीजिये और रत्न-परीक्षाकी विद्या ले लीजिये"। "परन्तु यह कैसे सम्भव है?" राजा बोला, "राजनीति इतनीसी देरमें थोड़े ही सिखाई जा सकती है? वर्षों हमारे मंत्रीके पास रहना पड़ेगा"। "बस तो रत्न-परीक्षा भी इतनी जल्दी थोड़े ही बताई जा सकती है? वर्षों रहना पड़ेगा दुकानपर"। और राजाको अक्ल आ गई।

इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी बात भी कोई थोड़ी देरमें सुनना या सीखना चाहे तो यह बात असम्भव है। वर्षों रहना पड़ेगा ज्ञानीके संगमें, अथवा वर्षों सुनना पड़ेगा उसके विवेचनको। जब स्थूल, प्रत्यक्ष, इन्द्रिय गोचर, लौकिक बातोंमें भी यह नियम लागू होता है, तो सूक्ष्म, परोक्ष, इन्द्रिय अगोचर, अलौकिक बातमें क्यों लागू न होगा? इसका सीखना तो और भी कठिन है। अतः भो जिज्ञासु! यदि धर्मका प्रयोजन व उसकी महिमाका ज्ञान करना है तो धैर्यपूर्वक वर्षोंतक सुनना होगा, शान्त भावसे सुनना होगा, और पक्षपात व अपनी पूर्वकी धारणाको दबाकर सुनना होगा।

६. महाविघ्न पक्षपात—धर्मके प्रयोजन व महिमाको जानने या सीखने सम्बन्धी बात चलती है, अर्थात् धर्म सम्बन्धी शिक्षणकी बात है। वास्तवमें यह जो चलता है, इसे प्रवचन न कहकर शिक्षण-क्रम नाम देना अधिक उप-युक्त है। किसी भी बातको सीखने या पढ़नेमें क्या क्या बाधक कारण होते हैं, उनकी बात है। पांच कारण बताये गये थे। उनमेंसे चारकी व्याख्या हो चुकी,

जिस परसे यह निर्णय कराया गया कि यदि धर्मका स्वरूप जानना है और उससे कुछ काम लेना है तो, १-उसके प्रति बहुमान व उत्साह उत्पन्न कर, २-निर्णय करके यथार्थ वक्तासे उसे सुन, ३-अक्रमरूप न सुनकर 'क' से 'ह' तक क्रम पूर्वक सुन, ४ धैर्य धारकर बिना चूक प्रतिदिन महीनों तक सुन।

अब पांचवें बाधक कारणकी बात चलती है। वह है वक्ता व श्रोताका पक्षपात। वास्तवमें यह पक्षपात बहुत घातक है। इस मार्गमें साधारणतः यह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। कारण पहले बताया जा चुका है। पूरा वक्तव्य क्रमपूर्वक न सुनना ही उस पक्षपातका मुख्य कारण है। थोड़ा जानकर "मैं बहुत कुछ जान गया हूँ" ऐसा अभिमान अल्पज्ञ जीवोंमें स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है, जो आगे जाननेकी उसे आज्ञा नहीं देता। वह "जो मैंने जाना सो ठीक है, तथा जो दूसरेने जाना सो झूठ है"। और दूसरा भी "जो मैंने जाना सो ठीक तथा जो आपने जाना सो झूठ" एक इसी अभिप्रायको धार परस्पर लड़ने लगते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं, वाद-विवाद करते हैं। उस वाद-विवादको सुनकर कुछ उसकी रुचिके अनुकूल व्यक्ति उसके पक्षका पोषण करने लगते हैं, तथा दूसरेकी रुचिके अनुकूल व्यक्ति दूसरेके पक्षका। उसके अतिरिक्त कुछ साधारण व भोले व्यक्ति भी, जो उसकी बातको सुनते हैं उसके अनुयायी बन जाते हैं, और जो दूसरेकी बातको सुनते हैं वे दूसरेके, बिना इस बातको जाने कि इन दोनोंमें-से कौन क्या कह रहा है? और इस प्रकार निर्माण हो जाता है सम्प्रदायोंका, जो वक्ताकी मृत्युके पश्चात भी परस्पर लड़नेमें ही अपना गौरव समझते रहते हैं। और हितका मार्ग न स्वयं खोज सकते हैं और न दूसरेको दर्शा सकते हैं। मजेकी बात यह है कि यह सब लड़ाई होती है धर्मके नाम पर।

यह दुष्ट पक्षपात कई जातिका होता है। उनमेंसे मुख्य दो जाति हैं—एक अभिप्रायका पक्षपात तथा दूसरा शब्दका पक्षपात। अभिप्रायका पक्षपात तो स्वयं वक्ता तथा उसके श्रोताओं दोनोंके-लिए घातक है और शब्दका पक्षपात केवल श्रोताओंके-लिये। क्योंकि इस पक्षपातमें वक्ताका अपना अभिप्राय तो ठीक रहता है, पर बिना शब्दोंमें प्रगट हुए श्रोता बेचारा कैसे जान सकेगा उसके अभिप्रायको? अतः वह अभिप्रायमें भी पक्षपात धारण करके, स्वयं वक्ताके अन्दरमें पड़े हुए अनुक्त अभिप्रायका भी विरोध करने लगता है। यदि विषयको पूर्ण सुन व समझ लिया जाये तो कोई भी विरोधी अभिप्राय शेष न रह जानेके कारण पक्षपातको अवकाश नहीं मिल सकता। इस पक्षपातका दूसरा कारण है श्रोताकी अयोग्यता, उसकी स्मरण शक्तिकी हीनता, जिसके कारण कि सारी बात सुन लेनेपर भी बीच-बीचमें कुछ-कुछ बात तो याद रह जाती

है उसे और कुछ-कुछ भूल जाता है वह । और इस प्रकार एक अखण्डित धारा-प्रवाही अभिप्राय खण्डित हो जाता है, उसके ज्ञानमें । फल वही होता है जो अक्रम रूपसे सुननेका है । पक्षपातका तीसरा कारण है व्यक्ति-विशेषके कुलमें परम्परासे चली आई कोई मान्यता या अभिप्राय । इस कारणका तो कोई प्रतिकार ही नहीं है, भाग्य ही कदाचित् प्रतिकार बन जाये । तथा अन्य भी अनेकों कारण हैं, जिनका विशेष विस्तार करना यहाँ ठीकसा नहीं लगता ।

हमें तो यह जानना है, कि निज-कल्याणार्थ धर्मका स्वरूप कैसे समझें ? धर्मका स्वरूप जाननेसे पहले इस पक्षपातको तिलाञ्जली देकर यह निश्चय करना चाहिये, कि धर्म सम्प्रदायकी चारदिवारीसे दूर किसी स्वतन्त्र दृष्टि में उत्पन्न होता है, स्वतन्त्र वातावरणमें पलता है और स्वतन्त्र वातावरणमें ही फल देता है । यद्यपि सम्प्रदायोंको आज धर्मके नामसे पुकारा जाता है, परन्तु वास्तवमें यह भ्रम है, पक्षपातका विषैला फल है । सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो धर्म नहीं हो सकता । सम्प्रदाय पक्षपातको कहते हैं, और धर्म स्वतन्त्र अभिप्रायको कहते हैं जिसे कोई भी मनुष्य, किसी भी सम्प्रदायमें उत्पन्न हुआ, छोटा या बड़ा, गरीव या अमीर, यहां तककि तिर्यञ्च भी, सब धारण कर सकते हैं; जबकि सम्प्रदाय इसमें अपनी टांग अड़ाकर, किसीको धर्म पालन का अधिकार देता है और किसीको नहीं देता । आजके जैन-सम्प्रदायका धर्म भी वास्तवमें धर्म नहीं है, सम्प्रदायवाद है, एक पक्षपात है । इसके आधीन क्रियाओं में ही कूपमण्डूक वनकर वर्तनेमें कोई हित नजर नहीं आता ।

पहले कभी नहीं सुनी होगी ऐसी बात, और इसलिये कुछ क्षोभ भी सम्भवतः आ गया हो । धारणापर ऐसी सीधी व कड़ी चोट कैसे सहन की जा सकती है ? यह धर्म तो सर्वोच्च धर्म है न जगतका ? परन्तु क्षोभकी बात नहीं है भाई ! शान्त हो । तेरा यह क्षोभ ही तो वह पक्षपात है, साम्प्रदायिक पक्षपात जिसका निषेध कराया जा रहा है । इस क्षोभसे ही तो परीक्षा हो रही है तेरे अभिप्रायकी । क्षोभको दवा, आगे चलकर स्वयं समझ जायेगा, कि कितना सार था तेरे इस क्षोभमें । अब जरा विचार कर, कि क्या धर्म भी कहीं ऊंचा या नीचा होता है ? बड़ा और छोटा होता है ? अच्छा या बुरा होता है ? धर्म तो धर्म होता है, उसका क्या ऊँचा नीचा ? उसका क्या जैन-पना व अजैनपना ? क्या वैदिकपना व मुसलमानपना ? धर्म तो धर्म है, जिसने जीवनमें उतारा उसे हितकारक ही है, जैसाकि आगेके प्रकरणोंसे स्पष्ट हो जायेगा । उस हितको जाननेके-लिये कुछ शान्तचित्त होकर सुन । पक्षपातको भूल जा थोड़ी देरके-लिये ।

तेरे क्षोभके निवारणार्थ यहां इस विषयपर थोड़ा और प्रकाश डाल देना उचित समझता हूँ। किसी मार्ग-विशेषपर श्रद्धा न करनेका नाम सम्प्रदाय नहीं है सम्प्रदाय तो अन्तरंगके किसी विशेष अभिप्रायका नाम है, जिसके कारण कि दूसरोंकी धारणाओंके प्रति कुछ अदेखसकासा भाव प्रगट होने लगता है। इस अभिप्रायको परीक्षा करके पकड़ा जा सकता है। शब्दोंमें बताया नहीं जा सकता। कल्पना कीजिये कि आज मैं यहां इस गद्दीपर कोई ब्रह्माद्वैतवादका शास्त्र ले बैठूं और उसके आधारपर आपको कुछ सुनाना चाहूं, तो बताइये आपकी अन्तरवृत्ति क्या होगी? क्या आप उसे भी इसी प्रकार शान्ति व रुचि पूर्वक सुनना चाहोगे, जिस प्रकार कि इसे सुन रहे हैं? सम्भवतः नहीं। यदि मुझसे लड़ने न लगे तो, या तो यहांसे उठकर चले जाओगे और या बैठकर चुपचाप चर्चा करने लगोगे, या ऊंघने लगोगे और या अन्दर ही अन्दर कुछ कुढ़ने लगोगे, "सुनने आये थे जिनवाणी, और सुनाने बैठ गये अन्य मतकी कथनी।" बस इसी भावका नाम है साम्प्रदायिकता।

इस भावका आधार है गुरुका पक्षपात। अर्थात् जिनवाणीकी बात ठीक है, क्योंकि मेरे गुरुने कही है, और यह बात झूठ है क्योंकि अन्यके गुरु ने कही है। यदि जिनवाणीकी बातको भी युक्ति व तर्कद्वारा स्वीकार करनेका अभ्यास किया होता, तो यहां भी उसी अभ्यासका प्रयोग करते। यदि कुछ बात ठीक बैठ जाती तो स्वीकार कर लेते, नहीं तो नहीं। इसमें क्षोभकी क्या बात थी? बाजार में जायें, अनेक दुकानदार आपको अपनी ओर बुलायें, आप सबकी ही तो सुन लेते हैं। किसीसे क्षोभ करनेका तो प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। किसी से सौदा पटा तो ले लिया, नहीं पटा तो आगे चल दिये। इसी प्रकार यहाँ क्यों नहीं होता?

बस इस अदेखसके भावको टालनेकी बात कही जा रही है। मार्गके प्रति जो तेरी श्रद्धा है, उसका निषेध नहीं किया जा रहा है। युक्ति व तर्कपूर्वक समझनेका अभ्यास हो तो सब बातोंमें-से तथ्य निकाला जा सकता है। भूल भी कदापि नहीं हो सकती। यदि श्रद्धान सच्चा है तो उसमें बाधा भी नहीं आ सकती, सुननेसे डर क्यों लगता है? परन्तु "क्योंकि मेरे गुरुने कहा है इसलिये सत्य है" तेरे अपने कल्याणार्थ इस बुद्धिका निषेध किया जा रहा है। वैज्ञानिकोंका यह मार्ग नहीं है। वे अपने गुरुकी बातको भी बिना युक्तिके स्वीकार नहीं करते। यदि अनुसन्धान या अनुभवमें कोई अन्तर पड़ता प्रतीत होता है, तो युक्तिद्वारा ग्रहणकी हुई को भी नहीं मानता है। बस तत्त्वकी यथार्थताको पकड़ना है तो इसी प्रकार करना होगा। गुरुके पक्षपातसे सत्यका निर्णय ही न

हो सकेगा, अनुभव तो दूरकी बात है। अपनी दहीको मीठा बतानेका नाम सच्ची श्रद्धा नहीं है। वास्तवमें मीठी हो तथा उसके मिठासको चखा हो, तब उसे मीठी कहना सच्ची श्रद्धा है।

देख एक दृष्टान्त देता हूँ। एक जौहरी था, उसकी आयु पूर्ण हो गई। पुत्र था तो, पर निखट्टू। पिताकी मृत्युके पश्चात अलमारी खोली, और कुछ जेवर निकालकर ले गया अपने चचाके पास। "चचाजी, इन्हें बिकवा दीजिये!" चचा भी जौहरी था, सब कुछ समझ गया। कहने लगा बेटा! आज न बेचो इन्हें, बाजारमें ग्राहक नहीं है, बहुत कम दाम उठेंगे। जाओ जहांसे लाये हो वहीं रख आओ इन्हें, और मेरी दुकानपर आकर बैठा करो, घरका खर्चा दुकान से उठा लिया करो। वैसा ही किया, और कुछ महीनोंके पश्चात् पूरा जौहरी बन गया वह। अब चचाने कहा, "कि बेटा! जाओ आज ले आओ वह जेवर।" आज ग्राहक है बाजारमें। बेटा तुरन्त गया, आलमारी खोली, जेवरके डब्बे उठाने लगा। पर हैं! यह क्या? एक डब्बा उठाया, रख दिया वापिस, दूसरा उठाया, रख दिया वापिस, और इसी तरह तीसरा, चौथा आदि सब डब्बे जूं के तूं आलमारीमें रख दिये, आलमारी बन्द की और चला आया खाली हाथ दुकानपर, निराशामें गर्दन लटकाये, विकल्प सागरमें डूबा, वह युवक। "जेवर नहीं लाये बेटा?" चचाने प्रश्न किया। और एक धीमीसी, लज्जितसी आवाज निकली युवकके कण्ठसे "क्षमा करो चचा, भूला था, भ्रम था। वह सब तो कांच है, मैं हीरे समझ बैठा था उन्हें अज्ञानवश। आज आपसे ज्ञान पाकर आँखे खुल गई हैं मेरी।"

बस इसीप्रकार तेरे भ्रमकी, पक्षपातकी सत्ता उसी समय तक है, जबतक कि धैर्यपूर्वक कुछ महीनों-तक बराबर उस विशाल तत्त्वको सुन व समझ नहीं लेता। उसे सम्पूर्णको यथार्थ रीत्या समझ लेनेके पश्चात् तू स्वयं लज्जित हो जायेगा, हंसेगा अपने ऊपर।

७. <u>वैज्ञानिक बन</u>—जैसाकि आगे स्पष्ट हो जायेगा, धर्मका स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक है। अन्तर केवल इतना है, कि लोकमें प्रचलित विज्ञान भौतिक विज्ञान है और यह आध्यात्मिक विज्ञान। धर्मकी खोज तुझे एक वैज्ञानिक बनकर करनी होगी, साम्प्रदायिक बनकर नहीं। स्वानुभवके आधारपर करनी होगी, गुरुओंके आश्रयपर नहीं। अपने ही अन्दरसे तत्सम्बन्धी 'क्या' और 'क्यों' उत्पन्न करके तथा अपने ही अन्दरसे उसका उत्तर लेकर करनी होगी, किसीसे पूछकर नहीं। गुरु जो संकेत दे रहे हैं, उनको जीवनपर लागू करके करनी होगी, केवल शब्दोंमें नहीं। तुझे एक फिलास्फर बनकर चलना

होगा, कूपमण्डूक बनकर नहीं। स्वतंत्र वातावरणमें आकर विचारना होगा, साम्प्रदायिक बन्धनोंमें नहीं।

देख एक वैज्ञानिकका ढंग, और सीख कुछ उससे। अपने पूर्वके अनेकों वैज्ञानिकों व फ़िलास्फ़रों द्वारा स्वीकार किये गये सर्व ही सिद्धान्तोंको स्वीकार करके, उसका प्रयोग करता है वह अपनी प्रयोग-शालामें, और एक आविष्कार निकाल देता है। कुछ अपने अनुभव भी सिद्धान्तके रूपमें लिख जाता है, पीछे आनेवाले वैज्ञानिकोंके-लिये। और वह पीछेवाले भी इसीप्रकार करते हैं। सिद्धान्तमें बराबर वृद्धि होती चली जा रही है। परन्तु कोई भी अपनेसे पूर्व सिद्धान्तको झूठा मानकर उसको "मैं नहीं पढ़ूंगा" ऐसा अभिप्राय नहीं बनाता। सब ही पीछे-पीछेवाले अपनेसे पूर्व-पूर्व-वालोंके सिद्धान्तोंका आश्रय लेकर चलते हैं। उन पूर्वमें किये गये अनुसन्धानोंको पुनः नहीं दोहराते। इसीप्रकार तुझे भी अपने पूर्वमें हुए प्रत्येक ज्ञानीके, चाहे वह किसी नाम व ग्राम व सम्प्रदाय का क्यों न हो अनुभव और सिद्धान्तोंसे कुछ न कुछ सीखना चाहिये, कुछ न कुछ शिक्षा लेनी चाहिये। बाहरसे ही, केवल इस आधारपर, कि 'तेरे गुरुने तुझे अमुक बात, अमुक ही शब्दोंमें नहीं बताई है' उनके सिद्धान्तोंको झूठा मानकर, उनसे लाभ लेनेकी बजाय उनसे द्वेष करना योग्य नहीं है। वैज्ञानिकों का यह कार्य नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक वैज्ञानिक जो जो सिद्धान्त बनाता है, उसका आधार कोई कपोल कल्पना मात्र नहीं होता, बल्कि होता है उसका अपना अनुभव, जो वह अपनी प्रयोगशालामें प्रयोग-विशेषके द्वारा प्राप्त करता है। पहले स्वयं प्रयोग करके उसका अनुभव करता है, और फिर दूसरोंके-लिये लिख जाता है, अपने अनुभवको। कोई चाहे तो उससे लाभ उठा ले, न चाहे तो न उठाये। परन्तु वह सिद्धान्त स्वयं एक सत्य ही रहता है, एक ध्रुव सत्य।

इसी प्रकार अनेक ज्ञानियोंने अपने जीवनकी प्रयोगशालाओंमें प्रयोग किये, उस धर्म सम्बन्धी अभिप्रायकी पूर्तिके मार्गमें। कुछ उसे पूर्णकर पाये और कुछ न कर पाये, बीचमें ही मृत्युकी गोदमें जाना पड़ा। परन्तु जो कुछ भी उन सबने अनुभव किया, या जो जो प्रक्रियायें उन्होंने उन उन प्रयोगोंमें स्वयं अपनाई, वे लिख गये हमारे हितके-लिये, कि हम भी इनमेंसे कुछ तथ्य समझकर अपने प्रयोगोंमें कुछ सहायता ले सकें। सहायता लेना चाहें तो लें, और न लेना चाहें तो न लें परन्तु वे सिद्धान्त सत्य हैं, परम सत्य।

इस मार्गमें इतनी कमी दुर्भाग्यवश अवश्य रहती है, जोकि वैज्ञानिक मार्ग में देखनेमें नहीं आती। और वह यह है कि यहां कुछ स्वार्थी अनुभव-विहीन

ज्ञानाभिमानी जन विकृत कर देते हैं उन सिद्धान्तोंको, पीछेसे कुछ अपनी धारणायें उसमें मिश्रण करके। और वैज्ञानिक मार्गमें ऐसा होने नहीं पाता। पर फिर भी वे विकृतियें दूर की जा सकती हैं, कुछ अपनी बुद्धिसे, अपने अनुभवके आधार पर।

भो जिज्ञासु! तनिक बिचार तो सही, कि कितना बड़ा सौभाग्य है तेरा कि उन उन ज्ञानियोंने जो बातें बड़े वलिदानोंके पश्चात् बड़े परिश्रमसे जानीं, बिना किसी मूल्यके दे गये तुझे। अर्थात बड़े परिश्रमसे बनाया हुआ अपना भोजन परोस गये तुझे। और आज भूखा होते हुए भी, तथा उनके द्वारा परोसा यह भोजन सामने रखा होते हुए भी, तू खा नहीं रहा है इसे, कुछ संशयके कारण या साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण, जिसका आधार है केवल पक्षपात। तुझसा मूर्ख कौन होगा? तुझसा अभागा कौन होगा? भो जिज्ञासु! अब इस विषको उगल दे और सुन कुछ नई बात, जो आजतक सम्भवतः नहीं सुनी है और सुनी भी हो तो समझी नहीं है। सर्व दर्शनकारोंके अनुभवका सार, और स्वयं मेरे अनुभवका सार, जिसमें न कहीं है किसीका खण्डन, और न है निजकी बातका पक्ष। वैसा वैसा स्वयं अपने जीवनमें उतारकर उसकी परीक्षा कर। बताये अनुसार ही फल हो तो ग्रहण करले, और वैसा फल न हो तो छोड़ दे। पर वाद-विवाद किसके-लिये और क्यों? बाज़ारका सौदा है, मर्जीमें आये ले, मर्जीमें आये न ले। यह एक निःस्वार्थ भावना है, तेरे कल्याणकी भावना और कुछ नहीं। कुछ लेना देना नहीं है तुझसे। तेरे अपने कल्याणकी बात है। निज हितके-लिये एक बार सुन तो सही, तुझे अच्छी लगे बिना न रहेगी। क्यों अच्छी न लगे, तेरी अपनी बात है, घर बैठे बिना परिश्रमके मिल रही है तुझे, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है? निज हितके-लिए अब पक्षपातकी दाह में इसकी अवहेलना मत कर।

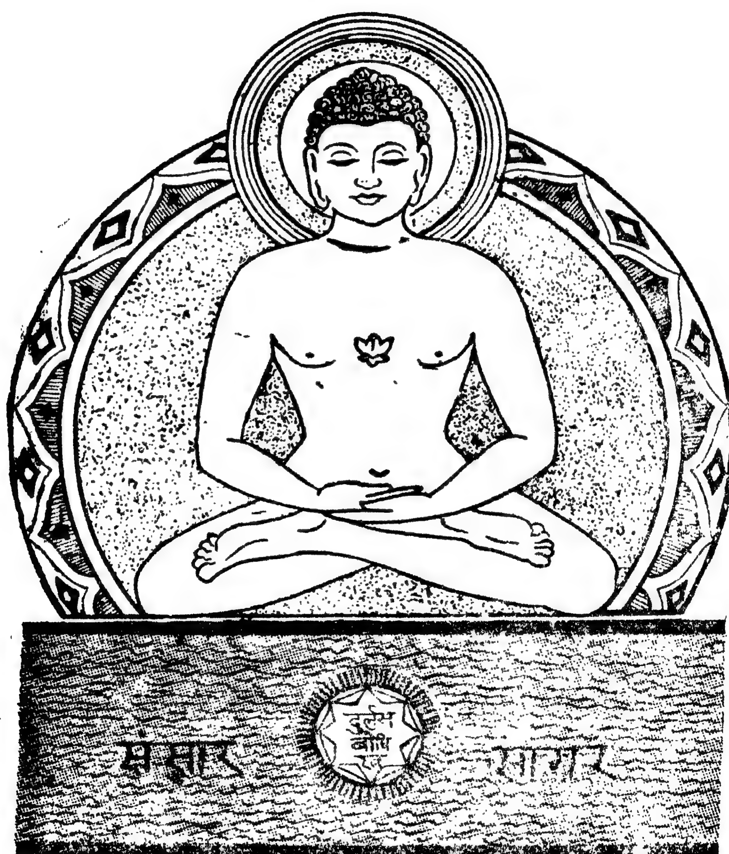
८. पक्षपात निरसन—परन्तु पक्षपातको छोड़कर सुनना। नहीं तो पक्षपात का ही स्वाद आता रहेगा, इस बातका स्वाद न चख सकेगा। देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक चींटी थी। नमककी खानमें रहती थी। कोई उसकी एक सहेली उससे मिलने गई। बोली "बहन तू कैसे रहती है यहां? इस नमकके खारे स्वादमें। चल मेरे स्थानपर चल, वहां बहुत अच्छा स्वाद मिलेगा तुझे, तू बड़ी प्रसन्न होगी वहां जाकर"। कहने सुननेसे चली आई वह, उसके साथ उसके स्थानपर, हलवाईकी दुकानमें। परन्तु मिठाईपर घूमते हुए भी उसको विशेष प्रसन्नता न हुई। उसकी सहेली ताड़ गई उसके हृदयकी बात, और पूछ बैठी उससे "क्यों बहिन आया कुछ स्वाद?" "नहीं कुछ विशेष स्वाद नहीं, वैसा

ही सा लगता है मुझे तो, जैसा वहां नमकपर घूमते हुए लगता था।" सोचमें पड़ गई उसकी सहेली। यह कैसे सम्भव है? मीठेमें नमकका ही स्वाद कैसे आ सकता है? कुछ न कुछ गड़बड़ अवश्य है। झुककर देखा उसके मुखकी ओर। "परन्तु बहन! यह तेरे मुखमें क्या है?" कुछ नहीं, चलते समय सोचा कि वहां यह पकवान मिले कि न मिले, थोड़ा साथ ले चल। और मुंहमें धर लाई छोटीसी नमककी डली। वही है यह"। "अरे! तो यहांका स्वाद कैसे आवे तुझे? मुंहमें रखी है नमककी डली, मीठेका स्वाद कैसे आयेगा? निकाल इसे"। डरती हुईने कुछ-कुछ झिझक व आशंकाके साथ निकाला उसे। एक ओर रख दिया इसलिये कि थोड़ी देर पश्चात् पुनः उठा लेना होगा इसे, अब तो सहेली कहती है, खैर निकाल दो इसके कहनेसे। और उसके निकलते ही पहुंच गई दूसरे लोकमें वह। "उठाले बहन! अब इस अपनी डलीको" सहेली बोली। लज्जित हो गई वह यह सुनकर, क्योंकि अब उसे कोई आकर्षण नहीं था, उस नमककी डलीमें।

बस तुम भी जबतक पक्षपातकी यह डली मुखमें रखे बैठे हो, नहीं चख सकोगे इस मधुर आध्यात्मिक स्वादको। आता रहेगा केवल द्वेषका कड़वा स्वाद। एकबार मुंहमें-से निकालकर चखो इसे। भले फिर उठा लेना इसी अपने पहले खाजेको। परन्तु इतना विश्वास दिलाता हूं, कि एक-बारके ही इस नई बातके आस्वादनसे, तुम भूल जाओगे उसके स्वादको। लज्जित हो जाओगे उस भूलपर। उसी समय पता चलेगा कि यह डली स्वादिष्ट थी कि कड़वी। दूसरा स्वाद चखे बिना कैसे जान पाओगे इसके स्वादको?

अतः कोई भी नई बात जाननेके-लिये प्रारम्भमें ही पक्षपातका विष अवश्य उगलने योग्य है। किसी बातको सुनकर या किसी भी शास्त्रमें पढ़कर, वक्ता या लेखकके अभिप्रायको ही समझने का प्रयत्न करना। जबरदस्ती उसके अर्थ को घुमानेका प्रयत्न न करना। वक्ता या लेखकके अभिप्रायका गला घोंटकर अपनी मान्यता व पक्षके अनुकूल बनानेका प्रयत्न न करना। तत्त्वको अनेकों दृष्टियोंसे समझाया जायेगा। सब दृष्टियोंको पृथक-पृथक जानकर ज्ञानमें उनका सम्मिश्रण कर लेना। किसी दृष्टिका भी निषेध करनेका प्रयत्न न करना अथवा किसी एक ही दृष्टिका आवश्यकतासे अधिक पोषण करनेके-लिये शब्दोंमें खेंचतान न करना। ऐसा करनेसे भी अन्य दृष्टियोंका निषेधवत् ही हो जायगा। तथा अन्य भी अनेकों बातें हैं जो पक्षपातके आधीन पड़ी हैं। उन सबको उगल डालना। समन्वयात्मक दृष्टि बनाना, साम्यता धारण करना। इसीमें निहित है तुम्हारा हित और तभी समझा या समझाया जा सकता है तत्त्व।

उपरोक्त इन सर्व पाँचों कारणोंका अभाव हो जाय तो ऐसा नहीं हो सकता कि तुम धर्मके उस प्रयोजनको व उसकी महिमाको ठीक-ठीक जान न पाओ। और जानकर उससे इस जीवनमें कुछ नवीन परिवर्तन लाकर, किञ्चित इसके मिष्ट फलकी प्राप्ति न करलो, और अपनी प्रथमकी ही निष्प्रयोजन धार्मिक क्रियाओंके रहस्यको समझकर उन्हें सार्थक न बनालो।



२

धर्मका प्रयोजन

●

१. अन्तरंगकी माँग—धर्म सम्बन्धी वास्तविकताको जाननेके-लिये, वक्ता व श्रोताकी आवश्यकताओंको तथा शिक्षण पद्धति-क्रमको जानकर, धर्म सम्बन्धी बातको जाननेके-लिए उत्साह प्रगट हो जानेके पश्चात्; अब यह बात जानना आवश्यक है, कि धर्म कर्मकी जीवनमें आवश्यता ही क्या है? जीवनके-लिये यह कुछ उपयोगी तो भासता नहीं। यदि बिना किसी धार्मिक प्रवृत्तिके ही जीवन बिताया जाय तो क्या हर्ज है? फ़िलास्फ़र बननेके-लिये कहा गया है न मुझे।

प्रश्न बहुत सुन्दर है, और करना भी चाहिए था। अन्दरमें उत्पन्न हुए प्रश्नको कहते हुए शर्माना नहीं चाहिए,नहीं तो यह विषय स्पष्ट न होने पायेगा। प्रश्न बेधड़क कर दिया करो, डरना नहीं। वास्तवमें ही धर्मकी कोई आवश्यकता न होती यदि मेरे अन्तरकी सभी अभिलाषाओंकी पूर्ति साधारणतः हो जाती। कोई भी पुरुषार्थ किसी प्रयोजनवश ही करनेमें आता है। किसी अभिलाषा-विशेषकी पूर्तिके-लिये ही कोई कार्य किया जाता है। ऐसा कोई कार्य नहीं, जो बिना किसी अभिलाषाके किया जा रहा हो।

अतः उपरोक्त बातका उत्तर पानेके-लिए मुझे विश्लेषण करना होगा अपनी अभिलाषाओंका। ऐसा करनेसे स्पष्टतः कुछ ध्वनि अन्तरंगसे आती प्रतीत होगी। इस रूपमें कि "मुझे शान्ति चाहिये, मुझे सुख चाहिए, मुझे निराकुलता चाहियं"। यह ध्वनि छोटे बड़े सर्व ही प्राणियोंकी चिरपरिचित है। क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं है जो इस ध्वनिको बराबर उठते न सुन रहा हो। और यह ध्वनि कृत्रिम भी नहीं है। किसी अन्यसे प्रेरित होकर यह सीख उत्पन्न हुई हो ऐसा भी नहीं है, स्वाभाविक है। कृत्रिम बातका आधार वैज्ञानिक नहीं लिया करते परन्तु इस स्वाभाविक ध्वनिका कारण तो अवश्य जानना पड़ेगा।

अपने अन्दरकी इस ध्वनिसे प्रेरित होकर, इस अभिलाषाकी पूर्तिके-लिए, मैं कोई प्रयत्न न कर रहा हूं ऐसा भी नहीं है। मैं बराबर कुछ न कुछ उद्यम कर रहा हूँ। जहां भी जाता हूँ कभी खाली नहीं बैठता, और कबसे करता आ रहा हूँ यह भी नहीं जानता। परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि सब कुछ करते हुए भी, बड़ेसे बड़ा धनवान या राजा आदि बन जानेपर भी, यह ध्वनि आजतक शान्त होने नहीं पाई है। यदि शान्त हो गई होती, या उसके-लिये किया जानेवाला पुरुषार्थ जितनी देरतक चलता रहता है, उतने अन्तराल मात्रके-लिये भी कदाचित शान्त होती हुई प्रतीत होती, तो अवश्य ही धर्म आदिकी कोई आवश्यकता न होती। उसी पुरुषार्थके प्रति और अधिक उद्यम करता और कदाचित् सफलता प्राप्त कर लेता। वह शान्तिकी अभिलाषा ही मुझे बाध्य कर रही है कोई नया आविष्कार करनेके-लिये, जिसके द्वारा मैं इसकी पूर्ति कर पाऊँ। आवश्यकता आविष्कारकी जननी होती है। इसीकारण धर्मका आविष्कार ज्ञानीजनों-ने अपने जीवनमें किया और उसीका उपदेश सर्व जगतको भी दिया तथा दे रहे हैं, किसी स्वार्थके कारण नहीं, बल्कि प्रेम व करुणाके कारण कि किसी प्रकार आप भी सफल हो सकें उस अभिलाषाको शान्त करनेमें।

२. विज्ञान विधि—किसप्रकार किया उन्होंने यह आविष्कार? कहांसे सीखा इसका उपाय? कहीं बाहरसे नहीं, अपने अन्दरसे। उपाय ढूंढनेका जो वैज्ञानिक ढंग है, उसके द्वारा। उपाय ढूंढ़नेका वैज्ञानिक व स्वाभाविक ढंग यद्यपि सबके अनुभवमें प्रतिदिन आ रहा है। पर विश्लेषण न करनेके कारण सैद्धान्तिक रूपसे उसकी धारणा किसीको नहीं है। देखिए उस कबूतरको जिसकी अभिलाषा है कि आपके कमरेमें किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर पाये, अपना घोंसला बनानेके लिये। कमरेमें प्रवेश करनेका उपाय किससे पूछे? स्वयं अपने अन्दरसे ही उपाय निकालता है, अतः प्रयत्न करता है। कभी उस द्वारपर जाता है और बन्द पाकर वापस लौट आता है। कुछ देर पश्चात् उस खिड़कीके निकट जाता है, वहां सरिए लगे पाता है। सरियोंके बीचमें गर्दन घुसाकर प्रयत्न करता है घुसनेका परन्तु सरियोंमें अन्तराल कम होनेके कारण उसका शरीर निकल नहीं पाता, उनके बीचमें से। फिर लौट आता है, दूसरी दिशामें जाता है, वहां भी वैसा ही प्रयत्न। फिर तीसरीमें और फिर चौथी दिशामें, कहींसे मार्ग न मिला। सामनेवाले मुंडेरपर बैठकर सोच रहा है वह, अब भी उसीका उपाय। निराश नहीं हुआ है वह। हैं! यह क्या है, ऊपर छतके निकट? चलकर देखूं तो सही? एक रोशनदान। झुककर देखता है, अन्दरकी ओर। कुछ भयके कारण तो नहीं हैं वहां? नहीं, नहीं कुछ नहीं है। रोशनदानमें घुस जाता है, कमरेकी

कार्नसपर बैठकर प्रतीक्षा करता है,कुछ देर कमरेके स्वामीके आनेकी । स्वामी आता है, तो देखता है गौरसे उसकी मुखाकृतिको । क्रूर तो नहीं है ? नहीं,भला आदमी है । और फिर जाता है और आता है, बे रोकटोक, मानो उसके-लिए ही बनाया था यह द्वार । इसीप्रकार एक चींटी भी पहुँच जाती है अपने खाद्य पदार्थपर, और थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर मार्ग निकाल ही लेती है, डब्बेमें प्रवेश पानेका ।

विश्लेषण कीजिये इन छोटेसे जन्तुओंकी इस प्रक्रियाका । धैर्य और साहस के साथ बार-बार प्रयन्न करना । असफल रहनेपर भी एकदम निराश न हो जाना । एक द्वार उपयुक्त न दीखे तो दूसरी दिशामें जाकर ढूंढ़ना या दूसरे द्वार पर प्रयत्न करना और अन्तमें सफल हो जाना । यह है, क्रम किसी अभीष्ट विषयके उपाय ढूंढ़नेका । इसे वैज्ञानिक जन कहते हैं 'Trial & Error Theory' "सफल न होनेपर प्रयत्नकी दिशा घुमा देनेका सिद्धान्त" । आप स्वयं भी तो इस सिद्धान्तका प्रयोगकर रहे हैं, अपने जीवनमें । कोई रोग हो जानेपर, आते हो वैद्यराजके पास, औषधि लेते हो । तीन चार दिन खाकर देखनेके पश्चात् कोई लाभ होता प्रतीत नहीं होता, तो वैद्यजीसे कहते हो, औषधि बदल देनेके-लिये । उससे भी यदि काम न चले तो पुनः वही क्रम । और अन्तमें तीन बार औषधि बदली जानेपर, मिल ही जाती है, कोई अनुकूल औषधि । इस प्रक्रियाका विश्लेषण करनेपर भी उपरोक्त ही फल निकलेगा ।

बस यही है वह सिद्धान्त, जो यहां शान्ति-प्राप्तिके उपायके सम्बन्धमें भी लागू करना है । किसी अनुभूत व दृष्ट विषयका विश्लेषण करके एक सिद्धांत बनाना, तथा उसी जातिके किसी अनुभूत व अदृष्ट विषयपर लागू करके अभीष्टकी सिद्धि कर लेना ही तो वैज्ञानिक मार्ग है,कोई नवीन खोज करनेका । शान्तिकी नवीन खोज करनी है तो उपरोक्त सिद्धान्तको लागू कीजियें । एक प्रयत्न कीजिये, यदि सफल न हो तो उस प्रयत्नकी दिशा घुमाकर देखिये, फिर भी सफलता न मिले तो पुनः कोई और प्रयोग कीजिये, और प्रयोगोंको बराबर बदलते जाइये, जब-तककि सफल न हो जायें ।

३. <u>असत्य पुरुषार्थ</u>— अब प्रश्न होता है यह कि क्या आज तक प्रयत्न नहीं किया ? नहीं ऐसी तो बात नहीं है । प्रयत्न तो किया और बराबर करता आ रहा है । प्रयत्न करनेमें कमी नहीं है । धन उपार्जन करनेमें, जीवनकी आवश्यक वस्तुएं जुटानेमें, उनकी रक्षा करनेमें तथा उनको भोगनेमें अवश्य तू पुरुषार्थ कर रहा है, और खूबकर रहा है । फिर कमी कहां है जो आजतक असफल रहा है, उसकी प्राप्तिमें ? कमी है प्रयोगको बदलकर न देखनेकी । प्रयत्न

तो अवश्य करता आ रहा है, पर अव्वल तो आजतक कभी तुझे यह विचारनेका अवसर ही न मिला, कि तुझे सफलता नहीं मिल रही है, और यदि कुछ प्रतीति भी हुई, तो प्रयोग बदलकर न देखा। वही पुराना प्रयोग चल रहा है, जो पहले चलता था— धन कमानेका, भोगोंकी उपलब्धि व रक्षाका तथा उन्हें भोगनेका। कभी विचारा है यह कि अधिकसे अधिक भोगोंको प्राप्त करके भी यह ध्वनि शान्त नहीं हो रही है, तो अवश्यमेव मेरी धारणामें, मेरे विश्वासमें कहीं भूल है ? धन या भोग-शान्तिकी प्राप्तिके उपाय ही नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही मैं शान्त हो गया होता। आवाज़का न दबना ही यह बता रहा है कि मेरा उपाय झूठा है। वास्तवमें उपाय कुछ और है, जिसे मैं नहीं जानता। अतः या तो किसी जानकारसे पूछकर, या स्वयं पुरुषार्थकी दिशा घुमाकर देखूं तो सही। इस उपरोक्त प्रयोगको यदि अपनाता, तो अवश्य आज तक वह मार्ग पा लिया होता।

अब सुननेपर तथा अपनी धारणा बदल जानेके कारण, कुछ इच्छा भी प्रगट हुई हो यदि प्रयत्न बदलनेकी, तो उससे पहले तुझको यह बात जान लेनी आवश्यक है; कि किस चीजका आविष्कार करने जा रहा है तू ? क्योंकि बिना किसी लक्ष्यके किस ओर लगायेगा अपने पुरुषार्थको ? केवल शान्ति व सुख कह देनेसे काम नहीं चलता। उस शान्ति या सुखकी पहिचान भी होनी चाहिये; ताकि आगे जाकर भूलवश पहलेकी भांति उस दुःख या अशान्तिको सुख या शान्ति न मान बैठे, और तृप्तवत् हुआ चलता चला जाये उसी दिशामें, बिल्कुल असफल व असन्तुष्ट।

४. इच्छा-गर्त—शान्तिकी पहिचान भी अनुभवके आधारपर करनी है, किसीकी गवाही लेकर नहीं और बड़ी सरल है वह। केवल अन्तरंगके परिणामोंका या उस अन्तर्ध्वनिका विश्लेषण करके देखना है। असन्तोषमें डूबी आज की ध्वनि प्रतिक्षण मांग रही है, तुझसे, 'कुछ और'। "कुछ और चाहिये अभी तृप्त नहीं हुआ, अभी कुछ और भी चाहिये", बराबर ऐसी ध्वनि सुननेमें आ रही है। वास्तवमें इस ध्वनिका नाम ही तो है अभिलाषा, इच्छा या व्याकुलता। क्योंकि इच्छाकी पूर्तिका न होना ही व्याकुलता है। क्या कुछ सन्देह है इसमें भी ? यदि है तो देख, आज तुझे इच्छा है अपनी युवती कन्याका जल्दीसे जल्दी विवाह करनेकी, पर योग्य वर न मिलनेके कारण कर नहीं पा रहा है। तेरी इच्छा पूरी नहीं हो रही है। बस यही तो है तेरे अन्दरकी व्याकुलता, व्यग्रता, अशान्ति या दुःख।

पुरुषार्थ करके अधिकाधिक कमा डाला, पर उस ध्वनिकी ओर उपयोग

गया तो आश्चर्य हुआ यह देखकर कि ज्यों-ज्यों धन बढ़ा वह 'कुछ और' की ध्वनि और भी बलवान होती गई। ज्यों-ज्यों भोग भोगे, भोगोंके प्रतिकी अभिलाषा और अधिक बढ़ती गई। क्या कारण है इसका? जितनी कुछ भी धन-राशिकी प्राप्ति हुई थी, उतना तो इसको कम होना चाहिए था या बढ़ना? बस सिद्धान्त निकल गया कि इच्छाओंका स्वभाव ही ऐसा है, कि ज्यों-ज्यों मांग पूरी करे त्यों-त्यों दबने की बजाय और अधिक बढ़े। इच्छाके बढ़नेमें भी सम्भवतः हर्ज न होता, यदि यह सम्भव होता कि एकदिन जाकर इसका अन्त आ जायेगा। क्योंकि इच्छाका अन्त आ-जानेपर भी मैं पुरुषार्थ करता रहूंगा और अधिक धन कमानेका। और एकदिन इतना संचय कर लूंगा कि उसकी पूर्ति हो जाये। परन्तु विचारनेपर यह स्पष्ट प्रतीतिमें आता है कि इच्छा का कभी अन्त न होगा। इच्छा असीम है और इसके सामने पड़ी हुई तीन-लोक की सम्पत्ति सीमित। सम्भवतः इतनी मात्र कि इच्छाके खड्डेमें पड़ी हुई इतनी भी दिखाई न दे, जैसा कि कोई परमाणु। इसपर भी इसको बटवाने वाली इतनी बड़ी जीवराशि? क्योंकि सब ही को तो इच्छा है उसकी, तेरी भांति। बता क्या सम्भव है ऐसी दशामें इस इच्छाकी पूर्ति? इसका अनन्तवां अंश भी तो सम्भवतः पूर्ण न हो सके? फिर कैसे मिलेगी तुझे शान्ति, धन प्राप्तिके पुरुषार्थसे? बस बन गया सिद्धान्त। धन व भोगोंकी प्राप्तिका नाम सुख व शान्ति नहीं, बल्कि उनका अभाव शान्ति है, और इसलिए धनोपार्जन या भोगों सम्बन्धी पुरुषार्थ, इस दिशाका सच्चा पुरुषार्थ नहीं है।

५. संसार-वृक्ष— देख तेरी वर्तमान दशाका एक सुन्दर चित्रण दर्शाता हूं। एक व्यापारी जहाजमें माल भरकर विदेशको चला। अनेकों आशायें थीं उसके हृदयमें। पर उसे क्या खबर थी कि अदृष्ट उसके-लिये क्या लिये बैठा है। दूर क्षितिजमें-से सांय-सांयकी भयंकर ध्वनि प्रगट हुई, जो बराबर बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगी। घबरा गया वह। हैं! यह क्या? तूफान सरपर आ गया। आन्धीका वेग मानों सागरको अपने स्थानसे उठाकर अन्यत्र लेजानेकी होड़ लगाकर आया है। सागरने अपने अभिमानपर इतना बड़ा आघात कभी न देखा था। वह एकदम गर्ज उठा, फुंकारे मारने लगा और उछल-उछलकर वायुमण्डलको ताड़ने लगा।

वायु व सागरका यह युद्ध कितना भयंकर था। दिशायें भयंकर गर्जनाओंसे भर गईं। दोनों नये-नये हथियार लेकर सामने आ रहे थे। सागरके भयंकर थपेड़ोंसे आकाशका साहस टूट गया। वह एक भयंकर चीत्कारके साथ सागर के पैरोंमें गिर पड़ा। घड़ड़ड़ड़। ओह! यह क्या आफत आई? आकाश फट

गया और उसके भीतरसे क्षण भरको एक महान प्रकाशकी रेखा प्रगट हुई। रात्रिके इस गहन अन्धकारमें भी इस वज्रपातके अद्वितीय प्रकाशमें सागरका क्षोभ तथा इस युद्धका प्रकोप स्पष्ट दिखाई दे रहा था। व्यापारीकी नब्ज़ ऊपर चढ़ गई, मानो वह निष्प्राण हो चुका है।

इतने ही पर बस क्यों हो? आकाशकी इस पराजयको मेघराज सहन न कर सका। महा-कालकी भांति काली राक्षस सेना गर्जकर आगे बढ़ी, और एक बार पुनः घोर अन्धकारमें सब कुछ विलीन हो गया। व्यापारी अचेत होकर गिर पड़ा। सागर उछला, गड़गड़ाया, मेघराजने जलबाणोंकी घोर वर्षा की। मूसलाधार पानी पड़ने लगा। जहाजमें जल भर गया। व्यापारी अब भी अचेत था। दो भयंकर राक्षसोंके युद्धमें बेचारे व्यापारीकी कौन सुने? सागरकी एक विकराल तरंग—ओह! यह क्या? पुनः वज्रपात हुआ और उसके प्रकाशमें......? जहाज जोरसे ऊपरको उछला और नीचे गिरकर जलमें विलुप्त हो गया। सागरकी गोदमें समा गया। उसके अंगोपांग इधर उधर बिखर गये। हाय, बेचारा व्यापारी, कौन जाने उसकी क्या दशा हुई?

प्रभात हुआ। एक तख़तेपर पड़ा सागरमें बहता हुआ कोई अचेत व्यक्ति भाग्यवश किनारेपर आ लगा। सूर्यकी किरणोंने उसके शरीरमें कुछ स्फूर्ति उत्पन्न की। उसने आँखें खोलीं। मैं कौन हूं? मैं कहाँ हूं? यह कौन देश है? किसने मुझे यहाँ पहुँचाया है, मैं कहांसे आ रहा हूं? क्या काम करनेके लिए घरसे निकला था? मेरे पास क्या है? कैसे निर्वाह करूँ? सब कुछ भूल चुका है, अब वह।

उसे नवजीवन मिला है, यह भी उसको पता नहीं है। किससे सहायता पाऊं, कोई दिखाई देता नहीं। गर्दन लटकाये चल दिया जिस ओर मुंह उठा एक भयंकर चीत्कार। अरे! यह क्या? उसकी मानसिक स्तब्धता भंग हो गई। पीछे मुड़कर देखा। मेघोंसे भी काला, जंगम-पर्वततुल्य, विकराल गजराज सूंड़ ऊपर उठाये, चीख़ मारता हुआ, उसकी ओर दौड़ा। प्रभू! बचाओ। अरे पथिक! कितना अच्छा होता यदि इसी प्रभुको अपने अच्छे दिनोंमें भी याद कर लिया होता। अब क्या बनता है, यहाँ कोई भी तेरा सहारा नहीं।

दौड़नेके अतिरिक्त शरण नहीं थी। पथिक दौड़ा, जितनी जोरसे उससे दौड़ा गया। हाथी सरपर आगया और धैर्य जाता रहा उसका। अब जीवन असम्भव है। "नहीं पथिक! तूने एकबार जिह्वासे प्रभुका पवित्र नाम लिया है, वह निरर्थक न जायेगा, तेरी रक्षा अवश्य होगी", आकाशवाणी हुई। आश्चर्यसे आंख उठाकर देखा, कुछ सन्तोष हुआ, सामने एक बड़ा वटवृक्ष खड़ा था।

एकबार पुनः साहस बटोरकर पथिक दौड़ा और वृक्षके नीचेकी ओर लटकती दो उपशाखाओंको पकड़कर वह ऊपर चढ़ गया।

हाथीका प्रकोप और भी बढ़ गया, यह उसकी मानहानि है। इस वृक्षने उसके शिकारको शरण दी है, अतः वह भी अब रह न पायेगा। अपनी लम्बी सूंड़से वृक्षको वह जोरसे हिलाने लगा। पथिकका रक्त सूख गया। अब मुझे बचानेवाला कोई नहीं। नाथ ! क्या मुझे जाना ही होगा, विना कुछ देखे, बिना कुछ चखे ? "नहीं, प्रभुका नाम बेकार नहीं जाता। ऊपर दृष्टि उठाकर देख", आकाशवाणीने पुनः आशाका संचार किया। ऊपरकी ओर देखा। मधुका एक बड़ा छत्ता, जिसमें-से बून्द-बून्द करके झर रहा था उसका मद।

आश्चर्यसे मुंह खुलाका खुला रह गया। यह क्या ? और अकस्मात् ही— आ हा हा, कितना मधुर है यह ? एक मधुबिन्दु उसके खुले मुंहमें गिर पड़ा। वह चाट रहा था उसे और कृतकृत्य मान रहा था अपनेको। एक बूंद और। मुंह खोला, और पुनः वही स्वाद। एक बूंद और......। और इसी प्रकार मधु-बिन्दुके इस मधुर-स्वादमें खो गया वह, मानो उसका जीवन बहुत सुखी बन गया है। अब उसे और कुछ नहीं चाहिये, एक मधुबिन्दु। भूल गया वह अब प्रभुके नामको। उसे याद करनेसे अब लाभ भी क्या है ? देख कोई भी मधुबिन्दु व्यर्थ पृथ्वीपर न पड़ने पावे। उसके सामने मधुबिन्दुके अतिरिक्त और कुछ न था। भूल चुका था वह यह कि नीचे खड़ा वह विकराल हाथी अब भी वृक्षकी जड़में सूंड़से पानी दे–देकर उसे जोर-जोरसे हिला रहा है। क्या करता उसे याद करके, मधुबिन्दु जो मिल गया है उसे, मानों उसके सारे भय टल चुके हैं। वह मग्न है मधुबिन्दुकी मस्तीमें।

वह भले न देखे, पर प्रभु तो देख रहे हैं। अरेरे ! कितनी दयनीय है इस पथिककी दशा। नीचे हाथी वृक्षको समूल उखाड़नेपर तत्पर है और ऊपर वह देखो दो चूहे बैठे उस डालको धीरे-धीरे कुतर रहे हैं, जिसपर कि वह लटका हुआ है। उसके नीचे उस बड़े अन्धकूपमें, मुंह फाड़ विकराल दाढ़ोंके बीच लम्बी लम्बी भयंकर जिह्वा लपलपा रही हैं जिनकी लाल लाल नेत्रोंसे, ऊपरकी ओर देखते हुए वे चार भयंकर अजगर मानो इसी बातकी प्रतीक्षामें हैं कि कब डाल कटे और उनको एक ग्रास खानेको मिले। उन बेचारोंका भी क्या दोष, उनके पास पेट भरनेका एक यही तो साधन है। पथभ्रष्ट अनेकों भूले भटके पथिक आते हैं, और इस मधुबिन्दुके स्वादमें खोकर अन्तमें उन अजगरोंके ग्रास बन जाते हैं। सदासे ऐसा होता आ रहा है, तब आज भी ऐसा ही क्यों न होगा ?

गड़ गड़ गड़, वृक्ष हिला। मधु-मक्षिकाओंका संतुलन भंग हो गया। भिन-

भिनाती हुई, झन्नाती हुई वे उड़ीं। इस नवागन्तुकने ही हमारी शान्तिमें भंग डाला है। चिपट गई वे सब उसको, कुछ सरपर, कुछ कमरपर, कुछ हाथोंमें, कुछ पांवोंमें। सहसा घबरा उठा वह;.........यह क्या? उनके तीखे डंकोंकी पीड़ासे व्याकुल होकर एक चीख निकल पड़ी उसके मुंहसे, 'प्रभु! बचाओ मुझे'। पुनः वही मधुबिन्दु। जिसप्रकार रोते हुए शिशुके मुखमें मधुभरा रबरका निपल देकर माता उसे सुला देती है, और वह शिशु भी इस भ्रमसे कि मुझे स्वाद आ रहा है, सन्तुष्ट होकर सो जाता है; उसीप्रकार पुनः खो गया वह उस मधुबिन्दुमें, और भूल गया उन डंकोंकी पीड़ाको।

पथिक प्रसन्न था, पर सामने बैठे परम करुणाधारी, शान्तमूर्ति, जगतहित-कारी, प्रकृति माताकी गोदमें रहनेवाले, निर्भय गुरुदेव मन ही मन उसकी इस दयनीय दशापर आंसू बहा रहे थे। आखिर उनसे रहा न गया। उठकर निकल आये। "भो पथिक! एकबार नीचे देख, यह हाथी जिससे डरकर तू यहां आया है, अब भी यहां ही खड़ा इस वृक्षको उखाड़ रहा है। ऊपर वह देख, सफेद व काले दो चूहे तेरी इस डालको काट रहे हैं। नीचे देख वे अजगर मुंह बाये तुझे ललचाई-ललचाई दृष्टिसे ताक रहे हैं। इस शरीरको देख जिसपर चिपटी हुई मधु-मक्षिकायें तुझे चूंट-चूंटकर खा रही हैं। इतना होनेपर भी तू प्रसन्न है, यह बड़ा आश्चर्य है। आंख खोल, तेरी दशा बड़ी दयनीय है। एक क्षण भी विलम्ब करनेको अवकाश नहीं। डाली कटनेवाली है। तू नीचे गिरकर निःस-न्देह उन अजगरोंका ग्रास बन जायेगा। उस समय कोई भी तेरी रक्षा करनेको समर्थ न होगा। अभी भी अवसर है। आ मेरा हाथ पकड़ और धीरेसे नीचे उतर जा। यह हाथी मेरे सामने तुझे कुछ नहीं कहेगा। इस समय मैं तेरी रक्षा कर सकता हूं। सावधान हो, जल्दी कर।"

परन्तु पथिकको कैसे स्पर्श करें वे मधुर-वचन। मधुबिन्दुके मधुराभासमें उसे अवकाश ही कहां है यह सब कुछ विचारनेका? "बस गुरुदेव, एक बिन्दु और, वह आ रहा है, उसे लेकर चलता हूं अभी आपके साथ।" बिन्दु गिर चुका। "चलो भय्या चलो," पुनः गुरुजीकी शांत ध्वनि आकाशमें गूंजी, दिशाओं से टक-राई और खाली ही गुरुजीके पास लौट आई। "बस एक बूंद और, अभी चलता हूं," इस उत्तरके अतिरिक्त और कुछ न था पथिकके पास। तीसरी बार पुनः गुरुदेवका करुणापूर्ण हाथ बढ़ा। अबकी बार वे चाहते थे कि इच्छा न होनेपर भी उस पथिकको कौली भरकर वहांसे उतार लें। परन्तु पथिकको यह सब स्वी-कार ही कब था? यहां तो मिलता है मधुबिन्दु और नंगधड़ंग इन गुरुदेवके पास है भूख व प्यास, गर्मी व सर्दी, तथा अन्य अनेकों संकट। कौन मूर्ख जाये

इनके साथ ? लात मारकर गुरुदेवका हाथ झटक दिया उसने, और क्रुद्ध होकर बोला, "जाओ अपना काम करो, मेरे आनन्दमें भंग न डालो।"

गुरुदेव चले गये, डाली कटी और मधुबिन्दुकी मस्तीको हृदयमें लिये, अजगरके मुंहमें जाकर अपनी जीवनलीला समाप्त करदी उसने।

कथा कुछ रोचक लगी है आपको, पर जानते हो किसकी कहानी है ? आपकी और मेरी सबकी आत्मकथा है यह। आप हँसते हैं उस पथिककी मूर्खतापर, काश एक बार हँस लेते अपनी मूर्खतापर भी।

इस अपार व गहन संसार-सागरमें जीवनके जर्जरित पोतको खेता हुआ मैं चला आ रहा हूं। नित्य ही अनुभवमें आनेवाले जीवनके थपेड़ोंके कड़े आघातों को सहन करता हुआ, यह मेरा पोत कितनी बार टूटा और कितनी बार मिला, यह कौन जाने ? जीवनके उतार चढ़ावके भयंकर तूफानमें चेतनाको खोकर मैं बहता चला आ रहा हूं, अनादि कालसे।

माताके गर्भसे बाहर निकलकर आश्चर्यभरी दृष्टिसे इस सम्पूर्ण वातावरणको देखकर खोया-खोयासा मैं रोने लगा, क्योंकि मैं यह न जान सका कि मैं कौन हूं, मैं कहां हूं, कौन मुझे यहां लाया है, मैं कहांसे आया हूं, क्या करनेके लिए आया हूं, और मेरे पास क्या है जीवन निर्वाहके-लिये। सम्भवतः माताके गर्भसे निकलकर बालक इसीलिए रोता है। 'मानो मैं कोई अपूर्व व्यक्ति हूं', ऐसा सोचकर मैं इस वातावरणमें कोई सार देखने लगा। दिखाई दिया मृत्युरूपी विकराल हाथीका भय। डरकर भागने लगा, कि कहीं शरण मिले।

बचपन बीता, जवानी आई और भूल गया मैं सब कुछ। विवाह हो गया, सुन्दर स्त्री घरमें आ गई, धन कमाने व भोगनेमें जीवन घुलमिल गया, मानो यही है मेरी शरण, अर्थात् गृहस्थ-जीवन, जिसमें हैं अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प, आशायें व निराशायें। यही हैं वे शाखायें व उपशाखायें जिनसे समवेत यह गृहस्थ-जीवन है, वह शरणभूत वृक्ष। आयुरूपी शाखासे संलग्न आशाकी दो उपशाखाओंपर लटका हुआ मैं मधुबिन्दुकी भान्ति इन भोगोंमें-से आनेवाले क्षणिक स्वादमें खोकर भूल बैठा हूं सब कुछ।

कालरूप विकराल हाथी अब भी जीवनतरुको समूल उखाड़नेमें तत्पर बराबर इसे हिला रहा है। अत्यन्त वेगसे बीतते हुए दिनरात ठहरे सफेद और काले दो चूहे, जो बराबर आयुकी इस शाखाको काट रहे हैं। नीचे मुंह बाये हुए चार अजगर हैं चार गतियां—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव, जिनका ग्रास बनता, जिनमें परिभ्रमण करता मैं सदासे चला आ रहा हूं और अब भी निश्चित रूपसे ग्रास बन जानेवाला हूं, यदि गुरुदेवका उपदेश प्राप्त करके इस विला-

सताका आश्रय न छोड़ा तो। मधुमक्षिकायें हैं स्त्री, पुत्र व कुटुम्ब जो नित्य चूंट-चूंटकर मुझे खाये जा रहे हैं, तथा जिनके संतापसे व्याकुल हो मैं कभी कभी पुकार उठता हूं "प्रभु ! मेरी रक्षा करें"। मधुबिन्दु है वह क्षणिक इन्द्रिय सुख, जिसमें मग्न हुआ मैं न बीतती हुई आयुको देखता हूं, न मृत्युसे भय खाता हूं, न कौटुम्बिक चिन्ताओंकी परवाह करता हूं, और न चारों गतियोंके परिभ्रमणको गिनता हूँ। कभी-कभी लिया हुआ प्रभुका नाम है वह पुण्य, जिसके कारण कि यह तुच्छ इन्द्रियसुख कदाचित् प्राप्त हो जाता है।

यह मधुबिन्दुरूपी इन्द्रियसुख भी वास्तवमें सुख नहीं, सुखाभास है। जिस प्रकार कि बालकके मुखमें दिया जानेवाला वह निपल, जिसमें-से कुछ भी स्वाद बालकको वास्तवमें नहीं आता, क्योंकि रबरके बन्द उस निपलमेंसे किञ्चित मात्र भी मधु बाहर निकलकर उसके मुंहमें नहीं आता। जिसप्रकार वह केवल मिठासकी कल्पना मात्र करके सो जाता है, उसीप्रकार इन इन्द्रिय-सुखोंमें मिठास की कल्पना करके मेरा विवेक सो गया है, जिसके कारण गुरुदेवकी करुणा-भरी पुकार भी मुझे स्पर्श नहीं करती तथा जिसके कारण उनके करुणाभरे हाथकी अवहेलना करते हुए भी मुझे लाज नहीं आती। गुरुदेवके स्थानपर है यह गुरुवाणी, जो नित्य ही पुकार-पुकारकर मुझे सावधान करनेका निष्फल प्रयास कर रही है।

यह है संसार-वृक्षका मुंह बोलता चित्रण, व मेरी आत्मगाथा। भो चेतन ! कबतक इस सागरके थपेड़े सहता रहेगा ? कबतक गतियोंका ग्रास बनता रहेगा ? कबतक कालद्वारा भग्न होता रहेगा ? प्रभो ! ये इन्द्रियसुख मधुबिन्दुकी भांति निःसार हैं, सुख नहीं सुखाभास हैं, 'एक बिन्दुसम'। ये तृष्णाको भड़काने वाले हैं, तेरे विवेकको नष्ट करनेवाले हैं। इनके कारण ही तुझे हितकारी गुरु-वाणी भी सुहाती नहीं। आ ! बहुत हो चुका, अनादिकालसे इसी सुखके झूठे आभासमें तूने आजतक अपना हित न किया। अब अवसर है, बहती गंगामें मुंह धोले। बिना प्रयासके ही गुरुदेवका यह पवित्र संसर्ग प्राप्त हो गया है। छोड़दे अब इस शाखाको, शरण ले इन गुरुओंकी और देख अदृष्टमें तेरे लिये वह परम सुख, वह परम आनन्द पड़ा है, जिसे पाकर तृप्त हो जायेगा तू सदा के-लिये प्रभु बन जायेगा तू।

<u>६. षटलेश्या-वृक्ष—</u> उपरोक्त संसार-वृक्षके चित्रण द्वारा यह दर्शाया गया है कि वास्तवमें संसारका या दुःखोंका मूल कारण इच्छायें हैं। ये इच्छायें एक प्रकारकी नहीं हैं, बल्कि अनेकों प्रकारके चित्र-विचित्र स्वांग भरकर रंगमंचपर आती हैं—कभी क्रोधके रूपमें, कभी अभिमानके रूपमें, कभी मायाचारीके रूप

में और कभी लोभके रूपमें। इन्हींको आगमभाषामें कषायके नामसे पुकारा जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार तो प्रमुख कषाय हैं, पर इनके फल-स्वरूप जीवनमें जितने भी आसक्ति व अनासक्तिके अथवा रागद्वेषात्मक भाव जागृत होते हैं, वे सब ही कषाय शब्दके वाच्य हैं—जैसे हास्यभाव, रति या आसक्तिभाव, अरति या द्वेषभाव, शोकभाव, भय, ग्लानि या घृणाभाव तथा मैथुन या स्त्री सेवन आदिके भाव, ये कषाय या इच्छाके भिन्न भिन्न रूप हैं। इतना ही नहीं ये सब भाव तीव्रता व मन्दताकी अपेक्षा अनेकों भेदोंमें विभाजित किये जा सकते हैं।

विश्लेषण करनेके-लिये प्रमुखतः छः भेदोंमें विभाजित करके दर्शाया जाता है— तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर व मन्दतम। इन छः भेदोंको कला-पूर्ण बनानेके-लिये आगममें इनको छः रंगोंके रूपमें दर्शाया गया है। क्योंकि जीवके प्रतिक्षणके परिणाम इन कषायोंसे रंगे हुए होनेके कारण ही चित्रविचित्र दिखाई देते हैं। तीव्रतम भावकी उपमा कृष्ण या काले रंगसे दी जाती है, तीव्र-तर भावकी उपमा नीले रंगसे, तीव्रभावकी उपमा कापोत या कबूतर जैसे सलेटी रंगसे, मन्द भावकी उपमा पीत या पीले रंगसे, मन्दतरकी उपमा पद्म या कमल सरीखे हलके गुलाबी रंगसे, तथा मन्दतम भावकी उपमा शुक्ल या सफेद रंगसे दी जाती है। यद्यपि जीवके शरीर भी इन छःमेंसे किसी न किसी रंगके होते हैं, परन्तु यहां शरीरके रंगसे प्रयोजन नहीं है, जीवके भावोंके उपमागत रंगोंसे प्रयो-जन है। इसप्रकार कषायों या इच्छाओंमें रंगे हुए चेतनके परिणाम छः प्रकार के होते हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल। इन्हींको विशेष स्पष्ट करनेके-लिये एक उदाहरण देता हूं।

एकबार छः मित्र मिलकर पिकनिक मनाने निकले। सुहावना-सुहावना समय, मन्द-मन्द शीतल वायु, आकाशपर नृत्य करनेवाली बादलोंकी छोटी-छोटी टोलियां, मानो प्रकृतिके यौवनका प्रदर्शन कर रही थीं। छहों मित्रोंके हृदय भी अरमानोंसे भरपूर थे। सब ही अपने-अपने विचारोंमें निमग्न चले जाते थे। नदीके मधुर गानने उनके हृदयमें और भी उमंग भर दी। वे भूल गये सब कुछ और खो गये इस सुन्दरतामें।

आ हा हा! कितना सुन्दर लगता है, और यह देखो मित्र इस ओर! वाह-वाह काम बन गया, अब तो खूब आनन्द रहेगा, जी भरकर आम खायेंगे। सामने ही मद झरते पीले-पीले आमोंसे लदा एक वृक्ष खड़ा था। एकबार ललचाईसी दृष्टिसे देखा और स्वतः ही उनके पाँव उस ओर चलने लगे। छहोंके हृदयोंमें भिन्न-भिन्न विचार थे।

वृक्षके पास पहुंचते ही अपने-अपने विचारोंके अनुसार सब ही शीघ्रतासे काममें जुट गये। एक व्यक्ति कहींसे एक कुल्हाड़ी उठा लाया, जिसे लेकर वह वृक्षपर चढ़ गया और आमोंसे लदफद एक टहनीको काटने लगा। यह देखकर दूसरा मित्र उसकी मूर्खतापर हँसने लगा। बोला, "अरे मूर्ख! क्यों परिश्रम व्यर्थ खोता है? जितनी देरमें इस टहनीको ऊपर जाकर काटेगा उतनी देरमें तो नीचे वाला यह टहना ही सरलतासे कट जायेगा। टहनीमें तो दस पांच ही आम लगे हैं, छहोंका पेट न भरेगा। इस टहनेमें सैकड़ों लगे हैं, एकबार नीचे गिरा लो, फिर जी भरकर खाओ और साथमें घर भी बान्ध कर ले जाओ"। यह सुनकर नीचे खड़ा वह तीसरा मित्र अपनी हंसी रोक न सका और बोला, "अरे भोले! यदि घर ही ले जाने हैं तो नीचे आओ मैं तुम्हें और भी सरल उपाय बताता हूं। वृक्षपर चढ़नेसे तो चोट लगनेका भय है, तथा अधिक लाभ भी नहीं है। नीचे ही खड़े रहकर इसे मूलसे काट डालो। वृक्ष थोड़ी ही देरमें नीचे गिर जायेगा, फिर बेखटके खाते रहना और जितने चाहो भरकर घर लेजाना। भैय्या! मैं तो एक छकड़ा लाकर सारा ही वृक्ष लादकर घर ले जाऊँगा। कई दिन आम खायेंगे और सालभर ईन्धनमें रोटी पकायेंगे। छकड़ेवाला अधिकसे अधिक पाँच रुपया लेगा।" और ऐसा कहकर लगा मूलमें कुठार चलाने।

शेष तीन मित्र अन्दर ही अन्दर पछताने लगे कि व्यर्थ ही इन दुष्टोंके साथ आये। जिसका फल खायेंगे उसको ही जड़से काट डालेंगे। धिक्कार है ऐसी कृतघ्नताको। कौन समझाये अब इनको। प्रभु इन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। साहस बटोरकर उनमें-से एक बोला कि भो मित्र! तनिक ठहरो, मैं एक कथा सुनाता हूं; पहिले वह सुनलो, फिर वृक्ष काटना। तीनों चुप हो गये और कथा प्रारम्भ हुई।

एकबार एक सिंह कीचड़में फंस गया। बड़ी दयनीय थी उसकी अवस्था। बेचारा लाचार हो गया। क्या तो उसकी एक दहाड़से सारा जंगल थरथरा जाता था और क्या आज वह ही सहायताके-लिये प्रभुसे प्रार्थना कर रहा है, कि नाथ! अबकी बार बचा तो हिंसा न करूंगा, पत्ते खाकर ही निर्वाह कर लूंगा। प्रभुका नाम व्यर्थ नहीं जा सकता। एक पथिक उधरसे आ निकला, सिंहकी करुण-पुकारने उसके हृदयको पिघला दिया। यद्यपि भय था परन्तु करुणाके सामने उसने न गिना, और बेधड़क कीचड़में घुसकर उस सिंहको बाहर निकाल दिया।

वह समझता था कि यह सिंह अपने उपकारीका घात करना कभी स्वीकार न करेगा, परन्तु उसकी आशाके विपरीत सिंहने बन्धन-मुक्त होते ही एक भया-

नक गर्जना करके उस व्यक्तिको तत्काल ललकारा, "किधर जाता है, मैं तीन दिनका भूखा हूं, तूने मुझे बन्धनसे मुक्त किया है और तूही मुझे भूखसे मुक्त करेगा।" अबतो पथिकके पांव तलेकी मिट्टी खिसकने लगी, वह घबरा गया, प्रभुके अतिरिक्त अब उसके-लिये कोई शरण नहीं थी। उसने उसे याद किया, फल-स्वरूप उसे एक विचार आया। वह सिंहसे बोला कि भाई! ऐसी कृतघ्नता उचित नहीं है। सिंह कब इस बातको स्वीकार कर सकता था, गर्जकर बोला, "लोकका ऐसा ही व्यवहार है, तू अब मुझसे बचकर नहीं जा सकता।" पथिकको जब कोई उपाय न सूझा तो बोला, कि अच्छा भाई! किसीसे इसका न्याय करालो।

व्यवहारकुशल सिंहने यह बात सहर्ष स्वीकार करली, मानो उसे पूर्ण विश्वास था कि न्याय उसके विरुद्ध न जा सकेगा, क्योंकि वह जानता था कि मनुष्यसे अधिक कृतघ्नी संसारमें दूसरा नहीं है। दोनों मिलकर एक वृक्षके पास पहुंचे और अपनी कथा कह सुनाई। वृक्ष बोला कि सिंह ठीक कहता है। कारण कि मनुष्य गर्मीसे संतप्त होकर मेरे सायेमें सुखसे विश्राम करता है, मेरे फलोंके रससे अपनी प्यास बुझाता है, परन्तु फिर भी जाते हुए मेरी टहनी तोड़कर ले जाता है, अथवा मुझे उखाड़कर अपने चूल्हे का ईन्धन बना लेता है। अतः इस कृतघ्नीके साथ कृतघ्नताका ही व्यवहार करना योग्य है।

निराश होकर वह आगे चला तो एक गाय मिली। उसको अपनी कथा सुनाई, पर वह भी पथिकके विरुद्ध ही बोली। कहने लगी कि अपनी जवानीमें मैंने अपने बच्चोंका पेट काटकर इस मनुष्यकी सन्तानका पोषण किया, परन्तु बूढ़ी हो जानेपर यह निर्दयी मेरा सारा उपकार भूल गया, और इसने मुझे कसाईके हवाले कर दिया। इसने मेरी खाल खिचवाली और उसका जूता बनवाकर पांव में पहिन लिया। अतः इस कृतघ्नीके साथ ऐसा ही व्यवहार करना योग्य है।

जहां भी वे गये न्याय सिंहके पक्षमें ही गया, और सिंहने उसे खा लिया। इसलिये भो मित्रों! तुम्हें भी कुछ विवेकसे काम करना चाहिये। दूसरेकी कृतघ्नताको तो तुम कृतघ्नता देखते हो परन्तु अपनी इस बड़ी कृतघ्नताको नहीं देखते। जिस वृक्षके आम आप खायेंगे उसपर ही कुठराघात करते हुए आपका हृदय नहीं कांपता? नीचे उतर आओ भैया, नीचे उतर आओ, मैं तुम्हारे पांव पड़ता हूं। मैं स्वयं वृक्षपर चढ़कर तुम्हें भरपेट आम खिला दूंगा।

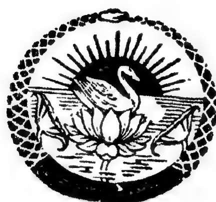
वह वृक्षपर चढ़ गया और आमोंके बड़े-बड़े गुच्छे तोड़कर नीचे डालने लगा। यह देखकर दूसरे मित्रसे बोले बिना न रहा गया। बोला कि, "मित्र! तुम्हें

भी विवेक नहीं है। क्या नहीं देख रहे हो कि इस गुच्छेमें पके हुए आमोंके साथ-साथ कच्चे भी टूटे गये हैं, जो चार दिनके पश्चात् पककर किसी और व्यक्ति की सन्तुष्टि कर सकते थे। परन्तु अबतो ये व्यर्थ ही चले गये, न हमारे काम आये और न किसी अन्यके। अतः आप नीचे आ जाइये, मैं स्वयं ऊपर चढ़कर तुम्हें पके-पके मीठे आम खिला दूंगा। यह कहकर वह वृक्षपर चढ़ गया और चुन-चुनकर एक-एक आम तोड़कर नीचे गिराने लगा।

छटा व्यक्ति यह सब कुछ देख रहा था, परन्तु चुप था। क्या बोले, किसे समझाये? उसकी सन्तोषपूर्ण बातको स्वीकार करनेवाला यहां था ही कौन? विद्वान लोग, मूर्खोंको उपदेश नहीं देते। एक दिनकी बात है कि वर्षा ज़ोरसे हो रही थी। एक वृक्षके नीचे कुछ बन्दर ठिठुरे बैठे थे। वृक्षपर कुछ बयोंके घोंसले थे। वे बये सुखपूर्वक उन घोंसलोंमें बैठे प्रकृतिकी सुन्दरता का आनन्द ले रहे थे। बन्दरोंकी हालत देखकर वे हंसने लगे और बोले कि रे मूर्ख बन्दर! तुझको ईश्वरने दो हाथ दिये हैं, फिर भी तू अपना घर नहीं बना सकता। देख, हम छोटे-छोटे पक्षी भी कितने सुन्दर घोंसले बनाकर इनमें सुखपूर्वक रहते हैं। क्या तुझे देखकर लज्जा नहीं आती? बस इतना सुनना था कि बन्दरका पारा चढ़ गया और उसने वृक्षपर चढ़कर सब बयोंके घोंसले तोड़ दिये और उनके अण्डे फोड़ दिये। इसीसे ज्ञानी जनोंने कहा है, "सीख ताको दीजिये जाको सीख सुहाय, सीख न दीजिये बान्दरा, बैयेका घर जाय।" ऐसा सोचकर वह सन्तोषी व्यक्ति कुछ न बोला और पृथ्वीपर पहिलेसे इधर-उधर पड़े हुए कुछ आमोंको उठाकर पृथक बैठ सुखपूर्वक खाने लगा।

इस उदाहरणपरसे व्यक्तिकी इच्छाओं व तृष्णाओंकी तीव्रता व मन्दता का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। पहिला व्यक्ति जो वृक्षकी जड़पर कुल्हाड़ा चलाने लगा था अत्यन्त निकृष्ट तीव्रतम इच्छावाला था। उसकी कषाय कृष्ण वर्णकी थी, अर्थात् वह कृष्ण-लेश्यावाला था। टहनेको काटनेवाला दूसरा व्यक्ति तीव्रतर इच्छावाला होनेके कारण नील-लेश्यावाला था। टहनीको काटनेवाला तीसरा व्यक्ति तीव्र इच्छावाला होनेके कारण कापोत-लेश्यावाला था। इसीप्रकार आमोंका गुच्छा तोड़नेवाला चौथा व्यक्ति मन्द इच्छावाला होनेके कारण पीत-लेश्यावाला था। केवल पके हुए आम तोड़नेवाला पाँचवाँ व्यक्ति मन्दतर इच्छावाला होनेके कारण पद्म-लेश्यावाला था। और वह अत्यन्त सन्तोषी छटा व्यक्ति मन्दतम इच्छावाला होनेके कारण शुक्ल-लेश्या-वाला था। इसी प्रकार व्यक्तिकी सर्व ही कषायोंकी तीव्रता व मन्दताका अनुमान कर लेना।

संसारवृक्ष और लेश्यावृक्षके ये दो कलापूर्ण चित्र जैन दर्शनमें बहुत प्रसिद्ध हैं। यत्रतत्र पुस्तकों व मन्दिरोंमें वे लगे हुए मिलते हैं। उन्हें केवल सजावट करनेके-लिये नहीं बनाया गया है। वे आध्यात्मिक भावनाओंसे ओतप्रोत हैं। उन्हें देखकर अपने आन्तरिक भावोंका सन्तुलन करना तथा तीव्र भावोंसे पीछे हटना। इसमें ही कल्याण है। विषय-भोग इच्छाओंके मूल हैं और इच्छायें संतापकारी हैं। इच्छाओंको दबानेसे ही सुख व शान्ति प्राप्त होती है।



३
शान्ति



1. भोग महारोग—शान्तिकी पहिचानकी बात चलती है। धनोपार्जन या विषय - भोगोंमें शान्ति नहीं है, यह बात कल बताई गई। परन्तु सन्तोष न हुआ उसे सुनकर। अभी भी अन्तरंगमें बैठा कोई अभिप्राय यह कह रहा है कि भले इच्छाका अन्त न आये, पर भोग आदिके क्षणोंमें तो उस मधु-बिन्दुवत् कुछ सुख प्रतीत होता ही है। फिर सर्वथा उसे दुःख किसप्रकार कह सकते हैं? ठीक है भाई! प्रश्न सुन्दर है। यह बात ही आज बताई जायेगी कि वह क्षणिक सुख जो भोग भोगते समय प्रतीत होता है, झूठा है। मेरे कहने मात्रपर विश्वास न कर लेना, और किसीके कहनेसे विश्वास आता भी तो नहीं। हृदय कब मानता है? ले तो इस बातकी प्रमाणिकता स्वयं तेरी अन्तर्ध्वनिसे ही सिद्ध करता हूं।

एक बात तो आ चुकी कि ज्यों-ज्यों भोगोंकी प्राप्ति होती है त्यों-त्यों इच्छा बढ़ती है, हितकारी बात भी नहीं सुहाती। इसलिये भोगोंकी प्राप्तिमें शान्ति नहीं। दूसरी बात यह है कि भोग भोगते समय भी तो उसे शान्ति नहीं कह सकते। ज़रा यह तो विचार कि वह क्षणिक सुखाभास सुख है या क्षणिक तीव्र-वेदनाका प्रतिकार? देख भोग भोगनेसे पहले उस भोगके प्रति अकस्मात ही कोई तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा तेरी पूर्ववाली इच्छाओंके अतिरिक्त कोई नवीन ही होती है, किसी तीव्र-रोगवत्। भोगद्वारा इस नवीन इच्छाका प्रतिकार मात्र किया गया, जिसके कारण कुछ क्षणोंके लिये वह इच्छा दबसी गई। पर यह न विचारा तूने कि इसके इसप्रकार दबानेका 'आफ्टर इफैक्ट' उत्तरफल क्या हुआ? पूर्वकी इच्छामें और वृद्धि। भोगसे पहले नवीन तीव्र-इच्छा और भोगके पश्चात पूर्व-इच्छामें वृद्धि होते हुए भी, क्या इस भोगको सुख कहा जा सकता है? किसी प्रकार भी इसे सुख कह लिया जा सकता यदि भोगते समय भी पुरानी इच्छामें कोई क्षणिक कमी

आ जाती। उसमें तो उस समय भी कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई प्रतीत होती है। भोग भोगते समय जो वह इच्छा प्रतीतिमें नहीं आती, वह भ्रम है।

देख, कल्पना कर कि तेरे दांतोंमें दर्द है, बड़ा तीव्र। तड़फ रहा है तू उसकी पीड़ासे। इसी हालतमें बैठा दिया जाय तुझे कुछ खड़ी सुइयोंपर। तो बता दांतकी पीड़ा भासेगी या सुइयोंके चुभनेकी? स्पष्ट है कि उस समय दांतकी पीड़ा तेरे उपयोगमें ही न आ सकेगी। क्या पीड़ा चली गई? नहीं, ज्योंकी त्यों है। अब उठा लिया गया उन सुइयोंपर-से। तब कुछ सुखसा लगा, या दुःख? स्पष्ट है कि कुछ सुखसा महसूस होगा। क्योंकि सुइयोंकी तीव्र पीड़ा जिसने दांतकी पीड़ाको ढक दिया था, अब दूर हो गई है। बता तो सही कि क्या दांत-की पीड़ामें कुछ कमी पड़ी? नहीं ज्योंकी त्यों है। बल्कि सुइयोंपरसे उठनेके पश्चात् अवशेष रही सुइयां चुभनेकी कुछ पीड़ा बढ़ गई है इसमें। और कुछ देर पश्चात् वही दान्तकी पीड़ा, वही तड़पन, साथ साथ सुइयोंकी थोड़ीसी पीड़ा भी।

बस इसीप्रकार भोग भोगते हुए समझना। भोगकी तीव्र अभिलाषा कुछ देरके-लिये, पहलेकी इच्छापर हावी होकर उसे उपयोगमें आनेसे अवश्य रोक लेती है, पर उसका अभाव नहीं कर देती। भोग भोगते समय इस नवीन-तीव्र-इच्छाका कुछ प्रतिकार हो जानेके कारण, उपयोगमें आई वह इच्छा दबीसी अवश्य प्रतीत होती है। पर पूर्व इच्छामें अब भी कोई कमी नहीं आती बल्कि इस नवीन इच्छाके प्रतिकारके उत्तरफल रूपसे उसमें वृद्धि अवश्य हो जाती है, जैसे कि मियादी बुखारको औषधिके द्वारा दबा देनेपर, दिलकी कमजोरी आदि कई नवीन रोग उत्पन्न हो जानेपर भी रोगी अपनेको अच्छा हुआ मान लेता है। यह उसका भ्रम नहीं तो और क्या है?

२. चतुर्विध शान्ति—लोकमें अनुभव की जानेवाली शान्ति कई प्रकारकी होती हैं। उसके कुछ भेदोंको दर्शा देना यहां आवश्यक है। क्योंकि उनको जाने बिना सच्ची व झूठी शान्तिमें विवेक नहीं किया जा सकेगा और उसके अभावमें अपने पुरुषार्थकी दिशाकी भी ठीक प्रकारसे परीक्षा नहीं की जा सकेगी। क्योंकि वास्तवमें मार्गकी परीक्षाका आधार आगम नहीं बल्कि शान्तिका अनुभव है।

शान्तिको मुख्यतः चार कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है, जो उत्त-रोत्तर कुछ अधिक अधिक निर्मलता व सन्तोष लिए हुए हैं। एक शान्ति तो वही है जो ऊपर दर्शा दी गई अर्थात् भोगकी नवीन-तीव्र-इच्छाके किञ्चित् प्रतिकारसे, क्षण भरके-लिये प्रतीतिमें आनेवाली, इन्द्रियभोगों सम्बन्धी। दूसरी

शान्ति, जो इससे कुछ ऊंची है वह प्रायः अपने कर्तव्यकी पूर्ति हो जानेपर कदाचित् अनुभव करनेमें आती है। भोगोंसे निरपेक्ष होनेके कारण वह कुछ पहलीकी अपेक्षा अधिक निर्मल है।

दृष्टान्तद्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि आपकी कन्याकी शादी है। नाता करनेके दिनसे ही आपकी चिन्तायें सामान जुटानेके सम्बन्धमें बराबर बढ़ रही हैं, यहांतक कि उस दिन जिस दिन कि बारात घरपर आई हुई है आप पागलसे बन गये हैं। न आपको चिन्ता नहानेकी है न खानेकी। आपको यह भी याद नहीं कि आज कमीज ही नहीं है बदनमें। बौखलाये हुएसे, सबकी कुछ कुछ बातें सुननेपर भी, किसीको कुछ उत्तर नहीं दे सकते। "मैं कुछ नहीं जानता भाई, तुम करलो जो चाहो" बस होता था एक वाक्य, जो कभी कभी निकल जाता था मुंहसे। बारात विदा हुई, डोला आंखोंसे ओझल हुआ, घरको लौटे और बैठ गये चबूतरेपर दो मिनिटको कुछ सन्तोषकी ठण्डी साँस लेने। आ हा हा ! अब कुछ बोझ हल्का हुआ, मानो किसीने मनोंकी गठड़ी सरसे उतारली हो। भले ही अगले मिनटमें अन्य अनेकों चिन्तायें आकर घेरलें, पर उस क्षणमें तो कुछ हल्कापनसा, कुछ शान्तिसी अवश्य प्रतीतिमें आई ही; जिसका सम्बन्ध न खानेसे था, न धनकी उपजसे, न अन्य किसी भोग विलाससे। फिर भी यह शान्ति क्यों ? केवल इसलिये कि गृहस्थके कर्त्तव्यका एक भार था जो आज हल्का हो गया।

तीसरी शान्तिका दृष्टान्त सुनिये। कल्पना कीजिये कि आप बसमें चले जा रहे हैं, बस रुकी, कुछ व्यक्ति चढ़ गये और कुछ रह गये। एक व्यक्ति चलती गाड़ीमें चढ़ने लगा, डण्डा हाथमें न आया, गिर पड़ा, सर फूट गया, सारा शरीर छिल गया, लहूलुहान हो गया और बस रुकी। सारे यात्री उतर गये और घायल व्यक्तिको घेरकर खड़े हो गये। कोई कण्डक्टरको धमकाने लगा और कोई ड्राइवरको गालियाँ देने लगा। परन्तु आपका ध्यान केवल उस व्यक्तिकी ओर था। करुणाके मारे आप अपना काम भी भूल गये। एक टैक्सी रोकी और उसे उसमें डालकर आप हस्पताल ले गये। डाक्टरसे कहा कि जो खर्चा लगेगा, दूंगा, इसे अच्छा कर दीजिये। तीन दिनतक लगातार सवेरे शाम आप हस्पताल जाते और उस व्यक्तिसे प्रेमपूर्वक संभाषण करते हुए आपको एक अपूर्व प्रकारकी शान्तिका अनुभव होता। तीन दिन पश्चात् यह निर्णय हो जानेपर कि उसकी हालत अब बहुत अच्छी है और वह खतरेसे निकल चुका है, आपने सन्तोषकी सांस ली। इसप्रकार प्राणियोंकी निःस्वार्थ-सेवासे उत्पन्न होनेवाली यह तीसरी शान्ति, दूसरीकी अपेक्षा बहुत स्वच्छ है। यह उसकी

अपेक्षा अधिक स्थायी भी है। यहां भी निःस्वार्थता है और भोगाभिलाषका अभाव है। दूसरीकी भांति यह भी कर्तव्य-परायणतासे उत्पन्न हुई है। पर यहां आपका कर्त्तव्य पांच व्यक्तियोंके कुटुम्बमें सीमित न रहकर सारे विश्वमें व्याप गया है। आपकी यह व्यापक-दृष्टि ही इस शान्तिकी उज्जवलताका कारण है।

अब चौथी शान्तिकी बात सुनिये। वास्तवमें उसका दृष्टान्त सम्भव नहीं है क्योंकि दृष्टान्त उसी वस्तुका दिया जा सकता है जोकि जानी-देखी हो। परन्तु इस जातिकी शांतिका दर्शन आपको अबतक नहीं हुआ है। अतः इसके प्रति संकेतमात्र दिया जा सकता है। वह अकथनीय है, केवल अनुभवनीय है। इतना मात्र इसके सम्बन्धमें अवश्य अनुमान कराया जा सकता है कि तीसरी कोटिसे भी अनन्त गुणी है इसकी निर्मलता। और उसका कारण भी है उसकी अपेक्षा अनन्तगुणी साम्यता, निरभिलाषिता व दृष्टिकी व्यापकता।

यद्यपि व्याख्या करते समय इस शान्तिका वर्णन निषेधके आश्रयपर ही किया जाना सम्भव है, जैसेकि "जहां चिन्ताओं व अभिलाषाओंका अथवा विकल्पों व बुद्धियोंका अभाव होता है, वहां ही वह शान्ति है"। परन्तु इसके साथमें रहनेवाले साम्यता व व्यापकताके विशेषण इसमें कुछ विचित्रता बता रहे हैं। यह शान्ति वास्तवमें सुषुप्तिवत् केवल अभावात्मक नहीं है बल्कि कुछ सम्भावात्मक है। निःस्वप्न दशामें भी निर्विकल्पता होती अवश्य है पर उसका कारण तो है वह अन्धकार जिसमें अन्तःकरण शून्यवत् हो जाता है, क्योंकि उस समय वहां कुछ दिखाई देता ही नहीं। पदार्थोंका ही नहीं बल्कि ज्ञानके भासका या चित्प्रकाशका भी अभाव हो जाता है वहां परन्तु जिस शांति की तरफ मेरा संकेत है वह प्रकाशस्वरूप है, ऐसा प्रकाश जिसमें अखिल विश्व युगपत् अपने कार्यमें व्यस्त दिखाई दे, जिसमें यह विश्व एक महान नाट्यशालाके रूपमें दिखाइ दे, जिसे मैं दर्शक बनकर केवल देखता मात्र हूं पर उसमें 'क्या' और 'क्यों' करनेको मेरेलिये कोई अवकाश नहीं है। जिसको मैं देखता हूं पर बता नहीं सकता। अर्थात् देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता और न देखता हुआ भी सबकुछ देखता हूं। जहां एक विशाल व तरंगित सागर मेरे सामने है, परन्तु इसमें कितनी तरंगें हैं और कहां कहां हैं यह जाननेका विकल्प नहीं। जहां मैं या मेरे ज्ञानने ही विश्वका रूप धारण किया है, जहां खटपट करते एक बड़े भारी मिल या कारखानेवत् दिखाई देता है पर इसमें कितने पुर्जे हैं और कहां कहां हैं, यह जाननेका विकल्प नहीं। ऐसी शांति कांतिरूप है और सुषुप्तिकी शांति अन्धयारी है।

३. सच्ची शान्ति—तीन प्रकारकी शान्तियों परसे विश्लेषण कर लेनेपर, हम शान्तिकी यथार्थता व निर्मलता सम्बन्धी एक सिद्धान्त बना सकते हैं। शांति वहां है जहां अभिलाषा न रहे, शान्ति वहां है जहां सर्वके प्रति साम्यता हो, शान्ति वहां है जहां दृष्टिमें व्यापकता हो, शान्ति वहां है जहां कोई लौकिक स्वार्थ न हो। इसके अतिरिक्त एक पांचवीं बात और भी हैं, जो इन तीनमें तो नहीं पर उस चौथी शान्तिमें पाई जाती है। वही चिन्ह वास्तवमें उसमें और इस तीसरीमें भेद दर्शाता है। और वह है सर्व लोकाभिलाषाका सर्वथा प्रशमन, एक मात्र उसी शान्तिके प्रतिका बहुमान। जहां अन्तरमें उठनेवाली, 'कुछ और' की ध्वनि सिमटकर, रूप धरले-'बस यही' का। "बस यही चाहिए मुझे, कुछ और नहीं। तीन लोककी सम्पत्ति भी धूल है, इसके सामने।" ऐसा भाव जहां उत्पन्न हो जाय, वह है चौथी शान्ति। इस चिन्हका न पाया जाना इस बातका द्योतक है कि इसमें कहीं न कहीं छिपी पड़ी है कोई अभिलाषा, और जहां अभिलाषाका कण मात्र भी शेष है, वहां निरभिलाषिताका लक्षण घटा नहीं कहा जा सकता।

इन चारोंमें-से प्रथम ता बिल्कुल झूठी है क्योंकि वह तो शान्तिका भ्रमरूप ही है, जैसा कि दर्शाया जा चुका है। दूसरी भी झूठी है क्योंकि निरभिलाषताका लक्षण तो यहां घटित होता है परन्तु साम्यता, दृष्टिकी व्यापकता, निःस्वार्थता व 'बस यही' की ध्वनिवाले लक्षण यहां घटित नहीं होते। तीसरी शान्ति भी यद्यपि बहुत निर्मल है, परन्तु झूठी है, क्योंकि सर्व लक्षण घटित होते हुए भी 'बस यही' का लक्षण यहां घटित नहीं होता। चौथी शान्तिसे अनभिज्ञ व्यक्ति, यदि बहुत ऊँचे भी बढ़ेगा, तो इस तीसरी शान्तिपर आकर अटक जायेगा, और इसीको सच्ची मानकर, इसके प्रति अपने पुरुषार्थकी सार्थकता समझने लगेगा। चौथी शान्तिका वह न प्रयत्न करेगा ओर न उसे मिलेगी। बस तेरे मार्गमें यह बाधा न उत्पन्न होने पावे, इसलिये सावधान कराया जा रहा है, पहले ही पगपर। तीसरी शान्तिमें यद्यपि स्थूलतः कोई अभिलाषा देखनेमें नहीं आ रही है, परन्तु 'बस यही' के लक्षणका अभाव, उसमें सूक्ष्म रूपसे छिपी अपनी शान्तिके अतिरिक्त किसी अन्य इच्छाको भी दर्शा रहा है।

बस जिस उपायसे यह चौथी शान्ति प्रगट हो सके, उसे ही धर्म समझो, क्योंकि वही मेरा अभिप्रेत व लक्ष्य है, वही मेरी अन्तर्ध्वनिकी मांग है, जिसकी परीक्षा 'बस यही' वाले लक्षणसे की जा सकती है। 'बस यही' के बिना मांगकी पूर्ति नहीं कही जा सकती और इसी कारण तीसरी शान्ति इस मांगको पूरा करनेमें असमर्थ है।

४
धर्मका स्वरूप

१. सच्चा धर्म—अहो ! शान्तमूर्ति वीतरागी जनोंकी निःस्वार्थता, कि इतने बड़े उद्यमसे, बड़ेसे बड़े कष्ट सहकर, अपने जीवनकी प्रयोगशालामें अनुभव प्राप्त करके, महान वस्तु शान्ति आज बांट रहें हैं वे निःशुल्क, मुफ्त । जो चाहे वह ले । मनुष्योंको ही दें, यह बात नहीं, तिर्यञ्चोंको भी । राजा हो कि रंक, सत्ताधारी हो कि फकीर, स्त्री हो कि पुरुष, बाल हो कि वृद्ध, पतित समझे जानेवाले वे व्यक्ति हों जिनको कि आज शूद्र कहा जा रहा है या हो कोई तिलकधारी ब्राह्मण, सब उनकी दृष्टिमें एक हैं । सबको अधिकार है उसे लेनेका । उदारता, महान उदारता । परन्तु खेद है कि फिर भी मैं हाथ खैंच लूं उससे, कुछ बेकारकी वस्तु समझकर । ऐसा न कर प्रभु ! हाथ बढ़ा, तू भी इन गुरुओंके प्रसादसे वञ्चित न रह, तेरे ही हितकी बात है, बहुत स्वाद लगेगी तुझे । विश्वास कर कि एक बार चखनेके पश्चात् पूरीकी पूरी खाकर पेट भरे बिना छोड़ेगा नहीं । कृतकृत्य हो जायेगा तू, भव भवकी इच्छा छोड़कर भाग जायेंगी तुझे, और निरभिलाष स्वयं बन जायेगा तू पूर्ण शान्त व सन्तुष्ट, पूर्ण प्रभु । एक वार थोड़ीसी अवश्य चखले, मेरे कहनेसे चखले । बहुत स्वाद है यह, मैंने स्वयं इसे चखा है, विश्वास कर । और फिर तुझसे कुछ ले तो नहीं रहे हैं, कुछ न कुछ दे ही रहे हैं । अच्छा न लगेगा तो छोड़ देना, पर एक बार लेकर देख तो सही ।

धर्म बेकारकी वस्तु नहीं बल्कि वह महान वस्तु है, जो मुझे मेरा सबसे बड़ा अभीष्ट, जिसके लिये कि मैं न मालूम कबसे असफल पुरुषार्थ करता आ रहा हूं, अर्थात् शान्ति प्रदान करता है, इच्छाओंको परास्त करता है । वैसे तो पूर्वमें कहे अनुसार कौनसा ऐसा व्यक्ति है जो धर्मके सम्बन्धमें कुछ न कुछ अपनी टांग न अड़ाता हो, अपनी रुचि व कल्पनाओंके आधारपर कुछ न कुछ मनघड़न्त व कपोल-कल्पित धर्मका स्वरूप न बता रहा हो, बिना इस बातका

निश्चय किये कि मैं क्या कहे जा रहा हूं। परन्तु यहां जो बात इसके सम्बन्धमें बताई जायेगी, वह कपोल-कल्पित नहीं होगी। वह वही होगी, जिसका कि आविष्कार योगीजनोंने किया है, अनुभवके द्वारा, स्वयं अपने जीवनमें उतारकर। यह बात वही है जिसकी एक धीमीसी रेखाका, आज इस निकृष्ट युगमें भी, मैं स्वयं साक्षात्कार कर रहा हूं। यह बात वह है जिसका आधार कल्पना नहीं, युक्ति है, कल्याण है, जिसका मूल शान्ति है, जिसकी कसौटी शांति है, जिसकी परीक्षाका आधार अनुभव है, साम्प्रदायिकता या पक्षपात् नहीं।

माना कि आज लोकके कोने-कोनेसे धर्मका बाना पहनकर, बरसाती मैंडकों-की भांति निकल पड़नेवाले वक्ताओंकी अनेकों परस्पर विरोधी बातें सुन-सुनकर एक झुंझलाहटसी उत्पन्न हो चुकी है, तेरे अन्दर। एक अविश्वाससा उत्पन्न हो चुका है तेरे अन्दर, धर्मके प्रति। परन्तु एक बार और सही, यह बात अवश्य सुन, सब झुंझलाहट, सब अविश्वास दूर हो जायेगा। समझमें न आये, ऐसी भी बात नहीं है, बड़ी सरल बात है, तेरे अपने जीवनपर-से गुजरी हुई, तेरी आप बीती, क्यों समझमें न आयेगी? डर मत! इधर आ एकबार, केवल एकबार।

२. धर्मका लक्षण—धर्मके अनेकों लक्षण सुननेमें आ रहे हैं, पर किसी न किसी प्रकार प्रत्येकमें कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा पड़ा है, उन वक्ताओंका। अतः परीक्षा करके तू स्वयं पहिचान सकता है उनकी असत्यार्थता। कोई, जिसे रोटी खानेको नहीं मिलती, कहता है कि भूखोंको भोजन बांटना धर्म है। कोई, जिसे ख्यातिकी भावना है, कह रहा है कि ब्राह्मणोंकी सेवा करना धर्म है। कोई, जिसे पैसेकी भूख लगी है, कह रहा है कि दिवालीपर जूआ खेलना धर्म है। कोई, जिसे मांसकी चाट पड़ी है, कह रहा है कि देवतापर बकरेकी बलि चढ़ाना धर्म है। कोई, जिसे स्वयं धनिकजनोंसे द्वेष है, कह रहा है कि इनका धन छीन लिया जाना धर्म है। कोई, जिसे भोगोंकी अभिलाषा है, कह रहा है कि धर्म-कर्म कुछ नहीं, 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' यही धर्म है। कोई, जो उपायहीन है, कह रहा है कि भगवानको भोग लगाना धर्म है। कोई, जिसमें द्वेषकी अग्नि अधिक है, कह रहा है कि शास्त्रार्थ करना धर्म है। कोई, जिसे धनकी हाय लगी है, कहता है कि भगवान्को रिश्वत देना, अर्थात् बोलत-कबूलत करना धर्म है। यहांतक कि सन ४७ के हत्याकांडमें हिन्दुओंके द्वारा मुसलमानोंका और मुसलमानोंके द्वारा हिन्दुओंका क्रूरतासे रक्त बहाया जाना भी धर्म था। चोरों तकका कोई न कोई धर्म है। फलितार्थ, जितने मुंह उतनी बातें, जितनी जातिकी रुचि उतनी जातिके धर्म। इस जातिके लक्षणोंकी असत्यार्थता तो

स्पष्ट ही है, कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि इसमें स्वार्थका ही नग्न नृत्य दिखाई दे रहा है। सब लक्षणोंमें है प्रथम कोटिकी शान्तिकी अभिलाषा।

इनके अतिरिक्त भी धर्मके अनेकों लक्षण हैं। जो ज्ञानी-जनोंने भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंको दृष्टिमें रखते हुए किए हैं। उदाहरणके रूपमें, दया धर्मका मूल है; अहिंसा परम धर्म है; निःस्वार्थ सेवा धर्म है; परोपकर धर्म है; दान या त्याग धर्म है; श्रद्धा ज्ञान व चारित्र धर्म है; तथा अन्य अनेकों। इन सब तथा अन्य अनेकों लक्षणोंपर विशेष दृष्टि डालनेसे, बहुतसे लक्षण एकार्थ-वाचकसे दिखाई देते हैं। जैसे दया, अहिंसा, सेवा व परोपकार एकार्थ वाचकसे हैं। इन सब लक्षणों को यदि संकुचित करके देखें तो मुख्यतः तीन रूपमें देख पाते हैं—दया (अहिंसा), दान (त्याग), दमन (संयम)। ये तीनों गर्भित किये जा सकते हैं एक चारित्रमें, अर्थात् जीवन-चर्यामें। और इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान चारित्रवाला लक्षण कुछ व्यापकसा दिखाई देने लगता है। इन सब ही लक्षणों का विशेष विस्तार तो आगेके प्रकरणोंमें आयेगा। यहां तो केवल इनकी सत्यार्थता व असत्यार्थताका विचार करना है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, धर्मका फल चौथी कोटिकी शान्ति होना चाहिये। यही कसौटी है, धर्मके किसी भी लक्षणकी सत्यार्थता व असत्यार्थताका निर्णय करनेकी। अतः उपरोक्त तथा अन्य भी, जिन क्रियाओंके करनेसे, मुझे आंशिक रूपसे 'बस यही' वाली शान्तिका कुछ वेदन अन्तरमें होता हुआ प्रतीत होता हो, वे सब क्रियायें सत्यार्थ-धर्म कहला सकती हैं। उसके अभाव में सब वही क्रियायें असत्यार्थ हैं। क्योंकि सभी क्रियायें दो ढंगकी होती हैं। एक उस शान्तिके साथ साथ चलनेवाली और एक उस शान्तिसे निरपेक्ष, किसी भावुकता या साम्प्रदायिकतावश चलनेवाली। इसीलिए तुझे अभीसे इन दोनों सम्बन्धी विवेक जागृति करके, अपनेको सावधान कर लेना चाहिये। ताकि आगे आगेके कथन-क्रममें आनेवाली, अथवा लोकमें यत्र-तत्र दीखनेवाली, उन्हीं या उस ही जातिकी किन्हीं क्रियाओंमें तुझे धर्म सम्बन्धी भ्रम न हो जाये और तेरा पुरुषार्थ फिर निष्फलताकी दिशामें प्रवाहित न होने लग जाये।

इतने ही नहीं, कुछ और भी लक्षण ज्ञानी-जनोंने किये हैं, जो बहुत अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनमें-से दो मुख्य हैं। १—'वस्तुका स्वभाव धर्म कहलाता है'। २—'जो जीवको संसारके दुःखोंसे उठाकर उत्तम सुखमें धरदे सो धर्म है'।

ये दोनों ही लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट हैं। क्योंकि दोनो शान्तिकी ओर संकेत कर रहे हैं। पहले लक्षणको यद्यपि जीवके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंपर

भी लागू किया जा सकता है, जैसेकि जलका स्वभाव शीतल होनेसे शीतलता जलका धर्म है, और अग्निका स्वभाव उष्ण होनेसे उष्णता अग्निका धर्म है, इत्यादि । परन्तु यहां जीवके धर्मका प्रकरण है, अतः लक्षणमें कहे गए 'वस्तु' शब्दका अर्थ प्रकरणवश यहां जीव ग्रहण करना चाहिये । जीवका स्वभाव स्पष्टतः चिदानन्द अर्थात् ज्ञान व शान्ति होनेसे, शांतिपना जीवका धर्म है । दूसरा लक्षण स्पष्टतः ही उत्तम सुख अर्थात शान्ति प्राप्तिके उपायको धर्म बता रहा है । अल्पज्ञोंके-लिए धर्मके ये दो लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट और आकर्षक हैं ।

ऊपर बताये गये दया आदिसे इस सुख पर्यन्तके अनेकों लक्षणोंको सुनकर, उलझनेकी आवश्यकता नहीं । इनमें-से कौनसे लक्षणको सत्य मानूं, इस संशयको अवकाश नहीं । क्योंकि जैसाकि दया आदिक लक्षणोंकी सत्यार्थता व असत्यार्थता बताते हुए समझा दिया गया है, यदि वे दया आदिक लक्षण अन्तरंग शान्ति-सापेक्ष हैं, तो ये सर्व ही इस एक शान्तिवाले जीव-स्वभावमें गर्भित हो जाते हैं । किस प्रकार ? सो देखिये—

श्रद्धा ज्ञान व आचरणका अर्थ है, शान्तिके प्रति अत्यन्त रुचि, प्रतीति व बहुमान, शान्तिके सच्चे स्वरूपका भान तथा जीवनमें कुछ इस प्रकारके कार्य करना जिससे कि आंशिक रूपसे आपको शांतिका वेदन होता रहे । इसका विस्तार अगले अधिकारोंमें किया जानेवाला है । अहिंसा या इसमें गर्भित होनेवाले अन्य दया आदिक लक्षणोंका अर्थ है अपनी शांतिके वेदनसे प्रगटे, उसके बहुमानवश, दूसरे जीवोंको भी शान्त देखनेकी इच्छा । फलस्वरूप उनको स्वयं दुखी करने या पीड़ा देनेसे दूर रहना अथवा किसी दूसरेसे पीड़ित हुआ देखकर, उनके कष्टको जिसकिस प्रकार भी दूर करके उन्हें पुनः शान्ति प्रदान करना । तथा त्याग या दमनका अर्थ है, सभी उन वस्तुओं तथा कार्योंका त्याग करना, जिनके द्वारा विकल्पोत्पादक अशांति, व्याकुलताकी जननी अभिलाषामें वृद्धि होनेकी सम्भावना हो । अतः वे सर्व ही लक्षण एक शांतिकी सिद्धिके लिये हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि पहलेवाले दया आदिक लक्षण चारित्र या पुरुषार्थको आश्रय करके लिखे गये हैं, स्वभाव लक्षण श्रद्धा व ज्ञानको आश्रय करके लिखा गया है, तथा सुखमें घरनेवाला लक्षण उपरोक्त क्रियाओंके फलको दृष्टिमें रखकर किया गया है ।

इस प्रकार धर्मकी आवश्यकता तथा सत्यार्थ-शांति व धर्मकी पहिचान जान लेनेके पश्चात् अब उस धर्मकी सिद्धिके उपाय या क्रमकी बात चलती है जो कलसे प्रारम्भ होगी ।

३. अन्तर्ध्वनि तथा संस्कार—अनादि कालसे आज तकके इतने लम्बे

जीवनमें पहिला अवसर है जबकि मैं धर्म प्रारम्भ करने चला हूं। नवजात-शिशु चलना प्रारम्भ करनेका प्रयास करता है। आज अत्यन्त सौभाग्यका दिन है। प्रभुकी शरणमें आना ही शुभ चिह्न है। इससे उत्तम शुभ मुहूर्त और कौनसा हो सकता है? मुझे आशीर्वाद दीजिये गुरुवर! वह कौनसा आधार है, जिसको पकड़कर मुझे अपने डगमगाते हुए पग इस धर्म मार्गपर रखने होंगे? बच्चेको गडीलना दिया जाता है, मुझे किसका सहारा लेना होगा गुरुवर! क्या आपका सहारा पर्याप्त है? नहीं, मेरा सहारा तुझे अधिक लाभ नहीं पहुँचा सकता। मेरा सहारा तो केवल इतना ही है, कि मैं किन्हीं दिशा-विशेषों की ओर संकेत करके आगे आनेवाली ठोकरोंसे तुझे सावधान कर दूं। पर चलना तो तुझे ही होगा अपना सहारा लेकर, अर्थात् अन्तर्ध्वनिका सहारा लेकर। मैं तो केवल उस अन्तर्ध्वनिको पढ़नेका उपाय तुझे दर्शा सकता हूं पर उसे तेरे अन्दर उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः उस अन्तर्ध्वनिकी मेरे कहे अनुसार पहिचान कर, वही तेरे मार्गका सबसे बड़ा साथी होगा, पद-पदपर वही तेरी रक्षा करेगा।

देख! क्या कोई भी बुरा काम करके तेरा अन्तष्करण स्वयं तुझे धिक्कारता हुआ प्रतीत नहीं होता? विचार कि कौन शक्ति है जो उस बालकको अपने साथीकी पुस्तक चुराते हुए कंपा देती है? किसकी प्रेरणासे वह इधर उधर ताकने लगता है? पुस्तक उठाता और सीधे चल देता घर। वहां कौन था उसे रोकनेवाला? किसी व्यक्तिकी चुगली कर देनेके पश्चात् तू क्यों उस व्यक्तिसे आंख नहीं मिला सकता? कौन शक्ति है जो तुझे उस व्यक्तिसे आंख चुरानेके-लिये मजबूर करती है? नदीमें डूबते हुए किसी अपरचित बालकको नदीसे निकालकर तू क्यों पुलकित-सा हो जाता है? उसको साथ लेकर उसके घरतक जाते हुए क्यों तुझे गर्वसा प्रतीत होता है? भूखा होते हुए भी, किसी दूसरेके हाथपर-से रोटी क्यों नहीं उठा लेता है तू? कौन है वह शक्ति जिसकी प्रेरणासे तू शुभ कार्योंको करते हुए हर्षित होता है, और अशुभ कार्योंको करते हुए डरता है? बाहरमें तो कोई भी तुझे रोकता नहीं, या करनेके-लिए कहता नहीं।

बस इसी तेरे अन्तष्करणकी शक्ति-विशेषको यहां 'अन्तर्ध्वनि' शब्दका वाच्य बनाया जा रहा है। सर्व जीवोंकी यह कोई स्वाभाविक ध्वनि है, जो अन्तरमें छिपी, स्वतः बिना पूछे, अशुभ कार्य करनेका निषेध व शुभ कार्य करनेकी प्रेरणा देती रहती है। इसके सम्बन्धमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सर्व-परिचित है। इतनी बात अवश्य है कि किन्हीं व्यक्तियोंमें, किन्हीं कार्य-विशेषोंके लिए यह बड़ी ज़ोरसे पुकारा करती है, और किन्हीं

व्यक्तियोंमें, किन्हीं कार्य-विशेषोंके-लिए इसकी आवाज बहुत धीमी होती है। सम्भवतः इतनी धीमी कि वह स्वयं भी उसे सुनने न पाये। आजका एक डाकू चोरी करनेका निषेध करती हुई उस अन्तर्वध्वनिको सुन नहीं पाता, परन्तु वही उस कामको करनेके प्रारम्भिक दिवसमें बहुत ज़ोरसे सुन रहा था उसे। इतने परसे यह नहीं कहा जा सकता कि आज उसकी अन्तर्ध्वनि सर्वथा मर चुकी है। 'अचेत हो गई है' यह भले कहो। क्योंकि आज भी अपने सहायक डाकुओंकी सम्पत्तिपर हाथ डालनेका साहस उसे नहीं है? आजके युगका एक विशेष आविष्कार उसके हृदयमें दबी हुई उस अन्तर्ध्वनिकी उस तेजहीन कणिकाके अस्तित्वको दर्शा रहा है? भारतमें न सही पर इङ्गलैण्डकी न्याय-शालाओंमें यह यन्त्र काममें आ रहा है। कितना भी बड़ेसे बड़ा तथा सिद्धहस्त दोषी भी इस यन्त्रपर हाथ रखकर अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्न करे तो इस यंत्रको धोखा नहीं दे सकता। उसकी कांपती हुई सूई यह बता ही देती है कि अब तक भी इसके हृदयमें अपने दोषके प्रति कुछ कम्पन पड़ा हुआ है जो इसको बराबर धिक्कार रहा है। यह भले ही उसको सुनने न पावे, पर इस यत्रको वह स्पष्ट सुनाई दे रहा है।

इस वक्तव्य व दृष्टान्तमें-से एक बहुत बड़ा सिद्धान्त निकल रहा है। प्रत्येक प्राणीके अन्तष्करणमें एक स्वाभाविक अन्तर्ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है। यह ध्वनि सदा उसे दोषोंसे हटनेका उपदेश देती है, दोष हो जानेपर उसे धिक्कारती है, कुछ भले कार्य करनेके लिए उसे उत्साहित करती है, और ऐसा कोई कार्य हो जानेपर उसकी प्रशंसा करती है, कमर थपथपाती है। किसी भी कार्यके प्रारम्भम इसकी आवाज़ ऊंची होती है, पर ज्यों-ज्यों उस कार्य-विशेषमें अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह आवाज़ धीमी पड़ती जाती है, और एक दिन कुछ अचेतसी होकर पड़ रहती है। आवाज़के दबनेका कारण है, उसकी अवहेलना। पुनः पुनः सचेत करती हुई उस आवाज़को सुनते हुए भी, जब मैं उसकी परवाह किये बिना, कुछ अपनी मनमानी करता हूँ तो एक प्रकारसे उसकी अवहेलना करता हूं, उसका अपमान करता हूं, उसको ठुकरा देता हूं। और यदि मैं बराबर ही उसका अपमान करता चला जाऊँ तो कहांतक और कबतक दे सकेगी वह मेरा साथ? आखिर धीमी पड़ते-पड़ते अचेत हो जायगी। इतना सौभाग्य अवश्य है कि वह अमर है, अवसर पानेपर पुनः सचेत होकर मुझे झंझोड़ डालती है और मैं सावधान होकर अपने पहले कृत्यपर पश्चाताप करने लगता हूं। इस अन्तर्ध्वनिको अंग्रेजीमें 'कौन्शेंस' कहते हैं। यह सदा प्राणीको हितकी ओर ले जाने तथा अहितसे हटानेका ही प्रयत्न किया करती है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी शक्ति भी है, जिसे मैं 'संस्कार' शब्दसे पुकारता हूं। यह उस उपरोक्त अन्तर्ध्वनिका शत्रु है। इसकी आवाज़ सदा उसके विरोधमें उठा करती है ? वह जिधर ले जाना चाहे, ये संस्कार उससे विपरीत दिशामें ही खेंचनेका प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक प्राणीके ये संस्कार, उसके द्वारा ही. स्वयं आगे पीछे बनाये जाते हैं, जिसप्रकार बचपनसे धीरे-धीरे चोरीका अभ्यास करते हुये आज वह डाकू बन गया है। जिस चोरीको करते हुये पहले वह डरता था, वही आज उसके-लिये खेल है। कम्पनके साथ प्रारम्भ किया जानेवाला वह कार्य आज उसकी आदत बन चुका है, एक संस्कार बन चुका है। अंग्रेजीमें इसका नाम 'इन्स्टिंक्ट' है। क्योंकि इसका प्रारम्भ अन्तर्ध्वनिकी अवहेलना-पूर्वक होता है इसलिये यह उसका शत्रु बनकर ही रहता है। उसकी अवहेलना करनेके-लिये मुझे उकसाता रहता है। इसकी शक्ति यहांतक बढ़ जाती है कि फिर मैं अन्तर्ध्वनिको सुनना भी पसन्द नहीं करता। वैदिक कवियों अथवा ऋषियोंने इसी भावको देवासुर-संग्रामके अति सुन्दर अलंकारिक रूपमें चित्रित किया है।

ये दो शक्तियां प्रत्येक प्राणीमें पाई जा रही हैं, इनमेंसे एक शान्तिपथ-प्रदर्शक है और एक इच्छा व चिन्तापथ-प्रदर्शक, एक स्वाभाविक है और दूसरी कृत्रिम, एक अमर है और एक विनाशीक। क्योंकि प्राणियोंके ये संस्कार तो बदलते हुए देखे जाते हैं पर अन्तर्ध्वनि नहीं, इसलिये यही वह सहायक साथी है जो सदा तेरा साथ देगा, इसका आश्रय लेकर चलना। आजतक संस्कारको साथ लेता और अन्तर्ध्वनिकी अवहेलना करता चला आया है, इसी कारण दुःखी व अशान्त बना हुआ है। अब औषधि बदल देनी होगी, क्रमको उल्टा कर देना होगा, अन्तर्ध्वनिका आश्रय लेकर संस्कारकी अवहेलना करके चलना होगा। इसके विरुद्ध सत्याग्रह करना होगा, जो यह कहे उसे स्वीकार न करना होगा, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पड़ें। और इसप्रकार अवहेलनाको सहन करनेमें असमर्थ, ये संस्कार तेरा देश छोड़कर सदाके-लिये विदा हो जायेंगे। रह जायेगी वह अमर अन्तर्ध्वनि अकेली, जिसके साथ शांतिपथ-पर ही चलता रहेगा तू, विचलित न होने पायेगा।

परन्तु उस अन्तर्ध्वनिको सुनकर उसका ठीक ठीक अर्थ लगाना प्रत्येकका काम नहीं। उसके-लिये कुछ विवेक चाहिये जिसके बिना कि अन्तर्ध्वनि व संस्कार इन दोनोंकी आवाजों व प्रेरणाओंमें ठीक-ठीक भेद नहीं हो पाता। कभी कभी उनका अर्थ ठीक भी लगा लेता है और कभी गलती भी खा जाता है। अर्थात् अन्तर्ध्वनिकी आवाज़को मान बैठता है संस्कारकी, और संस्कारकी आवज़को मान बैठता है अन्तर्ध्वनिकी। कभी कभी ठीक ठीक जान लेनेपर भी संस्कार

के प्राबल्यके कारण अन्तर्ध्वनिका अर्थ जबरदस्ती घुमा डालता है, और इस-प्रकार सर्वदा हितसे वञ्चित ही रहा है। इस विवेकको उत्पन्न करनेके-लिये कुछ विशेष सामग्री चाहिये, वह ही बड़े विस्तारके साथ अगले प्रकरणोंमें चलेगी। ज़रा धीरज धरकर ध्यान-पूर्वक सुनना, सम्भवतः कई महीनोंतक बराबर सुनना पड़े नहीं तो इधरके रहोगे न उधरके।



५

शान्ति मार्ग



१. त्रयात्मक पथ—स्वतन्त्र रीतिसे शान्तिकी खोज करनेकी बात है। सहायता लेनी है अन्तर्ध्वनिकी, बचना है संस्कारसे। इन दोनों विरोधी बातोंमें विवेक उत्पन्न करनेके-लिये, कुछ विशेष बातें चलनी हैं अब, अर्थात मूल विषय, शान्ति-पथ, धर्म-मार्ग अथवा मोक्ष-मार्ग।

किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति करनेके क्रमका यदि विश्लेषण करने बैठते हैं तो उसे त्रयात्मक पाते हैं। अर्थात् तीन मुख्य बातोंका एक पिंडरूप ही वह प्रवृत्ति होती है। वे तीन अंश हैं श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र। देखिये डाक्टरीके कार्यमें प्रवृत्तिका विष्लेषण करके। 'मुझे डाक्टर बनना है,' ऐसा लक्ष्यबिन्दु अर्थात् 'मेरे लिये यही हितकर है और कुछ नहीं', ऐसी दृढ़ श्रद्धा व रुचि; रोग-निदान, रोगके कारण, और रोगकी औषधि सम्बन्धी ज्ञान; तथा दुकानपर बैठकर रोगियोंपर उस ज्ञानका प्रयोगरूप चारित्र। यही तो है डाक्टरकी प्रवृत्ति। यदि एक अंगकी भी कमी हो, तो विचारिये कि क्या उसका डाक्टरी कर सकना सम्भव है? लक्ष्यविन्दु यदि फोटोग्राफर बननेका हो, या फ़ोटोग्राफरीको ही अपने लिये हितकर समझता हो, और उसीकी रुचि रखता हो, तो क्या सम्भव है कि वह डाक्टरी करे, भले ही डाक्टरीका ज्ञान भी क्यों न हो? और यदि लक्ष्यमें तो डाक्टरी करना हो, तथा उसको हितकर मानकर उसमें रुचि रखता हो, पर तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो, तो क्या चित्त मसोसकर ही न रह जायेगा? और यदि लक्ष्य व रुचि भी हो, और डाक्टरीका ज्ञान भी हो, पर दुकानपर बैठे नहीं, या बैठकर रोगियोंको देखे नहीं, और पढ़ा करे नाविल तो क्या डाक्टरी कर सकेगा? इसी प्रकार जौहरीकी, बजाजकी या किसी औरकी प्रवृत्तिका भी विश्लेषण करके यही फलितार्थ निकलेगा। प्रत्येक प्रवृत्ति त्रयात्मक ही होगी।

बस इसीप्रकार शान्ति-पथपर चलनेकी प्रवृत्ति भी त्रयात्मक ही है। शान्ति का लक्ष्यबिन्दु अर्थात् इस ही को हितकर मानकर, अन्तरंगसे इसकी रुचि व श्रद्धा, शान्ति सम्बन्धी ज्ञान तथा उन क्रिया-विशेषोंमें प्रवृत्ति जिनके करनेपर कि उस शान्तिका अनुभव हो, अर्थात् चारित्र, जिसका उल्लेख आगे किया जाने वाला है।

२. लक्ष्य बिन्दु—इन श्रद्धा, ज्ञान व चारित्रके सच्चे झूठेपनेकी परीक्षा लक्ष्यबिंदुसे होती है। डाक्टरीका लक्ष्यबिन्दु रखने-वालेके लिये शान्ति-पथ सम्बन्धी श्रद्धा झूठी है। उस लक्ष्यबिन्दुकी पूर्तिके-लिये शान्ति या शान्तिपथ सम्बन्धी ज्ञान या चारित्र झूठा है। और इसीप्रकार शान्तिका लक्ष्य रखनेवाले के लिये डाक्टरी सम्बन्धी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र झूठा है। लक्ष्यबिंदुके अनुकूल ही यह त्रयात्मकता कार्यकारी है। इसलिए शान्ति-पथकी जिज्ञासा रखनेवाले भो भव्य! तनिक अपने अन्दरमें उतरकर इस जिज्ञासा व रुचिकी परीक्षा तो कर। कहीं ऐसा न हो कि लक्ष्यबिंदु तो पड़ा रहे धन कमाने या भोग भोगने का और सीखने या सुनने लगे शांतिपथ सम्बन्धी बातें। यदि ऐसा है तो सुना सुनाया बेकार हो जायगा। क्योंकि जो बात बताई जायगी उससे तेरे लक्ष्यबिंदु की सिद्धि न हो सकेगी। यह मार्ग जोकि बताया जानेवाला है, धन कमानेका नहीं। इससे कदाचित् धनहानि तो होना सम्भव है पर धनलाभ नहीं। अतः देखले, दिल कड़ा करना होगा, और उसके-लिये बदलना होगा अपना लक्ष्यबिंदु।

बिना लक्ष्यबिंदु बनाये चला किस ओर, और चला जायेगा किस ओर, यह कौन जाने? लक्ष्य-रहित व्यक्ति वनोंमें भटकनेके अतिरिक्त और करेगा ही क्या? यद्यपि पहले भी बता दिया गया है, परन्तु एक विस्तृत विषय चालू करनेसे पहले उसको पुनः याद दिला देना आवश्यक है कि वह विस्तृत कथन केवल लक्ष्य-बिंदुको आधार बनाकर चलेगा। पद-पदपर, वाक्य-वाक्यमें उस ही की ओर संकेत कराया जायगा। एक क्षणको भी उसे भूलना न होगा, क्योंकि उसे भूल जानेपर कथनका रहस्य समझमें न आ सकेगा। वह सब विस्तार कुछ मनघड़ंतसा, कुछ साम्प्रदायिकसा दिखाई देने लगेगा। वह लक्ष्यबिंदु है 'शांति'। वह शांति जिसके प्रगट हो जानेपर अंतरसे उठनेवाली 'और चाहिये' की ध्वनि बदल जायेगी 'बस यही चाहिये' इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तीन लोककी सम्पत्ति हीरे, मोती आदि सब धूल-समान हैं, ठुकरा दिये जाने योग्य हैं, इसके सामने', इस रूपमें। यह लक्ष्यबिंदु दृढ़तासे हृदयंगम कर लेना योग्य है। यह तुझे शक्ति प्रदान करेगा, उस विस्तृत कथनको समझने

की, तथा उससे कुछ हित उत्पन्न करनेकी। इस लक्ष्यबिंदुका बड़ा महत्व है, प्रत्येक कार्यमें। क्योंकि किसी भी दिशामें जानेकी, या कोई भी कार्य करनेकी, उस कार्यमें सफलता व असफलताका निर्णय करनेकी, कार्यक्रमकी सत्यार्थता व असत्यार्थता बतानेकी शक्ति इसीसे मिला करती है। उत्तर दिशामें चलता चलता दूर निकल जानेवाला कोई व्यक्ति, यदि उस दिशामें चलना बन्द करके, दक्षिणकी ओर मुखकरके खड़ा हो जाय, उस ओर चलनेका लक्ष्य रखकर, तो क्या उसे दक्षिण देशके निकट हुआ न कहेंगे? भले अभी वहीं खड़ा हो, एक पग भी आगे रखे बिना। इसीप्रकार शांतिके उपायको जीवनमें घटित किये बिना भी, अशांतिकी ओर जानेवाले भो चेतन! यदि केवल अशांतिके अभिप्रायके कार्योंको छोड़कर, शांतिके अभिप्राय मात्रको धारण करके, तू शांतिका लक्ष्यबिंदु बनाले तो अपनेको शांतिके निकट ही समझ। परन्तु सच्चा लक्ष्यबिंदु उसे कहते हैं जो अन्तरंगसे रुचिपूर्वक उस दिशामें ही चलनेके-लिये व्यक्तिको उकसाये और अन्य दिशामें चलनेसे रोके। अतः यहां लक्ष्यबिंदुका तात्पर्य केवल शाब्दिक शांति या मोक्षकी अभिलाषासे नहीं है।

ऐसी अभिलाषा या मोक्षके प्रतिका झूठा लक्ष्यबिंदु तो आज भी बना हुआ है, सबको। सब ही तो कहते हैं कि प्रभु! किसीप्रकार मुझे शांति प्रदान करें। आजके इस लक्ष्य-बिंदुकी असत्यार्थताका पता चलता है इस दृष्टान्तसे :—

एक सेठजी थे। भगवान्के बड़े भक्त, प्रभुके सामने अपने उदगार प्रगट करते, स्तुति करते तथा अपने दोषोंके-लिये रोते हुए, कई कई घण्टे मन्दिरमें व्यतीत करते। यही थी उनकी एक पुकार, कि भगवन्! किसीप्रकार मोक्ष प्रदान कीजिये। उनकी भक्तिकी परीक्षाका अवसर आया। एक देव आकर कहने लगा, "सेठजी! आपकी भक्तिसे बड़े प्रसन्न हुए हैं भगवान्, मुझे भेजा है आपकी इच्छा-पूर्तिके-लिये।" सेठजीकी बांछें खिल गईं। आज उन्हें मोक्ष मिलनेवाली थी। पर वे स्वयं नहीं जानते थे कि मोक्ष किसे कहते हैं? देव बोला कि "सेठजी! आपके दस पुत्र हैं तथा दस कारखाने। एक पुत्र प्रति दिन मरेगा और एक कारखाना रोज फेल होगा। दस दिन पीछे तुम पुत्र-हीन हो जाओगे और कंगाल भी। बस ग्यारहवें दिन मैं ले जाऊँगा तुम्हें आकर।" परन्तु सेठजी सहम गये, यह बात सुनकर। पुत्रोंकी मृत्यु भी सम्भवतः ली पड़ती, पर कंगाल होना? नहीं नहीं, यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है, गलेसे नीचे न उतर सकेगी। देवसे बोले "कि भाई! बड़ा कष्ट किया है तुमने मेरेलिये, एक कष्ट और देता हूँ, क्षमा करना। प्रभुसे जाकर मेरी ओरसे यह प्रार्थना करना कि यदि किसी और क्वालिटीकी, किसी और प्रकारकी मोक्ष हो तो प्रदान करनेकी कृपा करें, परन्तु इस क्वालिटीकी मोक्ष तो सम्भवतः मुझे पच न सकेगी।"

बस ऐसा है हमारा भी लक्ष्यबिंदु। धन न छूटे, कुटुम्ब न छूटे, खूब भोग भोगता रहूं, और शान्ति भी चखता रहूं। अर्थात् विष भी पीता रहूं और अमृतका स्वाद भी लेता रहूं। ऐसा लक्ष्य वास्तवमें लक्ष्यबिंदु कहलाता नहीं। सुनी-सुनाईसी कोई बात है जो रटसी गई है। चौथी जातिकी सच्ची शांतिके प्रति सच्चा लक्ष्यबिंदु बनानेके-लिये कहा जा रहा है; वह लक्ष्यबिंदु जिसके कारण लौकिक सर्व बाधायें आ पड़नेपर भी उसके मार्गपर-से तेरी प्रगति मन्द न पड़ने पावे।

३. श्रद्धा—मार्गकी त्रयात्मकता कल बताई गई, उसमें-से पहला अंग है श्रद्धा, उसकी बात चलेगी। श्रद्धाका अर्थ है लक्ष्यबिंदु, रुचि, प्रतीति व अभिप्राय। किसी बातको बिना परीक्षा किये मुझे स्वीकार नहीं करना है। मैं वैज्ञानिक बनकर चला हूं साम्प्रदायिक नहीं। 'श्रद्धा' इस मार्गका सर्वप्रथम व सर्वप्रमुख अंग है, क्योंकि बिना ठीक-ठीक लक्ष्यबिंदु व रुचिके उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान व चारित्र अकार्यकारी है। इन अगले दो अंशोंकी सत्यार्थताका आधार यह श्रद्धा ही है। यद्यपि श्रद्धा व लक्ष्यबिंदु दोनों एक ही बात हैं, परन्तु फिर भी श्रद्धाके सम्बन्धमें साधारणतः बहुत भ्रम चलता है। लक्ष्यबिंदु-रहित केवल साम्प्रदायिक श्रद्धाको सच्ची माना जा रहा है और उसीपर सन्तोष धरकर कुछ क्रियायें केवल अन्धविश्वासके आधारपर की जा रही हैं, जिनका कोई फल नहीं। निष्फल उस पुरुषार्थसे ऊबकर आजका जगत धर्मकी जिज्ञासा ही छोड़ बैठा है और भोग विलासके तीव्र वेगमें बहा चला जा रहा है, वेसुध। अतः श्रद्धाकी सत्यार्थता व सुन्दरता बता देना आवश्यक है, जिससे कि भ्रमात्मक उस झूठे सन्तोषसे पग-पगपर सावधान रहा जा सके; उस अभिप्रायके अनुकूल श्रद्धाकी, जिस अभिप्रायको रखकर कि उसका स्वरूप दिखाया जा रहा है। जैसाकि आगेके प्रकरणोंमें दिखलानेमें आयेगा अभिप्राय या श्रद्धापर ही किसी क्रिया-विशेषकी सत्यार्थता व असत्यार्थता निर्भर है।

श्रद्धाके सम्बन्धमें कुछ ऐसी धारणा बन रही है, कि मैं तो ठीक ही स्वीकार करता हूं। अमुक ही प्रकारके देव गुरु व धर्मादिको स्वीकार करता हूं, अन्य प्रकार वालेको नहीं और यही गुरुदेवकी आज्ञा है। गुरु-वचनोंमें कभी संशय नहीं करता, भले समझमें आवें या न आवें, हृदय उसे स्वीकार करे या न करे, क्योंकि भय है इस बातका कि कहीं मेरी श्रद्धा झूठी न पड़ जाय, संशय उत्पन्न करनेसे। परन्तु भाई! कभी विचारा है यह कि वह श्रद्धा सच्ची है ही कब, जो झूठी पड़ जायेगी? पहले ही से जो झूठी है उसका क्या झूठा पड़ना? भले बाहरसे शब्दोंमें शंका न कर, पर अन्तरंगकी शंकाको कैसे दबायेगा? और यदि

अन्तरंगमें शंका नहीं है तो तत्त्व समझते समय 'यह तो बिल्कुल ठीक है परन्तु ······?' यह 'परन्तु' कहांसे आ रही है ?

इसके अतिरिक्त शास्त्रके आधारपर तत्त्वों सम्बन्धी कुछ जानकारीसी करके "यह बिल्कुल ठीक है, ऐसा ही है, अन्य मतोंके द्वारा प्ररूपित तत्त्व ठीक नहीं हैं", इस प्रकारके साम्प्रदायिक अन्ध-श्रद्धानको श्रद्धाकी सच्ची कोटिमें गिना जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता तो ऐसी श्रद्धा तो सबको ही है। मुसलमानों द्वारा प्ररूपित तत्त्वको माने सो मोमिन और न माने तो काफ़िर। वेदको माने तो आस्तिक और न माने तो नास्तिक। उनके इस कथनमें तथा तेरे उपरोक्त कथनमें अन्तर ही क्या रहा ? यदि अपनी-अपनी दहीको मीठा बतानेका नाम ही सच्ची श्रद्धा है तो लोकमें कोई भी झूठी श्रद्धा नहीं रहेगी, सब शांति-पथ-गामी होंगे। अतः साम्प्रदायिक श्रद्धाका नाम सच्ची श्रद्धा नहीं। यह साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक मार्ग है। अन्ध-श्रद्धाको यहां अवकाश नहीं। बिना 'क्या' और 'क्यों' स्वीकार की गई बात स्वीकृत नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'ऐसा ही है' इस श्रद्धाका विषय केवल उस तत्त्व सम्बन्धी शब्द हैं, उस तत्त्वका रहस्यार्थ नहीं। अर्थात् ऐसी श्रद्धा केवल शाब्दिक है तात्त्विक नहीं। जीव अजीव आदिके भेद-प्रभेदोंको शब्दोंमें जानते हुए भी वास्तवमें वह नहीं जानता कि 'जीव' किस चिड़ियाका नाम है और 'अजीव' आदिके साथ इसका क्या सम्बन्ध है। इस प्रकारके शाब्दिक ज्ञानसे विद्वान् बन सकता है, तार्किक बन सकता है, वक्ता बन सकता है, पर श्रद्धालु नहीं। कुल-परम्पराके आधारपर अन्ध-विश्वास करने-वालेकी तो बात ही नहीं, वह तो है ही कोरा अन्धश्रद्धालु, परन्तु 'तत्त्वों आदिको जाननेवाला भी सच्चा श्रद्धालु नहीं,' यहां तो यह बताया जा रहा है।

किसी भी विषय सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा तो वास्तवमें उस समयतक सम्भव नहीं जब तककि उस विषयका अनुभव न हो जाय। अनुभवसे पहले की जाने-वाली श्रद्धाकी पोचताकी परीक्षा भी की जा सकती है। दृष्टान्त सुनिये। कल्पना करो किसी ऐसी परिस्थितिकी, जिसमें कि आप स्वयं घिर गये हैं। किसी गांव को लक्ष्यमें रखकर चलते-चलते पहुंच गये किसी भयानक वनमें, जहांसे बहुत-सी पगडण्डियां फट जाती हैं। असमञ्जसमें पड़े विचारने लगे कि कौनसी पग-डण्डी पर चलूं ? किसी राहगीरकी प्रतीक्षा करते हो। सौभाग्यसे एक व्यक्ति दिखाई दिया जिसका शरीर नंगा, केवल घुटनोंसे ऊंची मैली कुचैली एक धोती थी उसकी टांगोंमें कुछ अस्त व्यस्तसी उलझी हुई, कन्धेपर एक लट्ठ, हट्टा कट्टा काला कलूटासा एक मानव, जिसे रातको देखें तो भयके मारे सम्भवतः प्राण ही निकल जायें। खैर, साहस करके पूछा भी तो उत्तर मिला इतना कर्कश

मानों खानेको ही दौड़ता है। "चला जा अपनी दाईं ओर। मार्ग जानता नहीं, आ गया पथिक बनकर।" आप ही बताइये कि क्या उसके द्वारा बताई गई दिशामें आप एक भी पग रखनेको समर्थ हो सकोगे? भले ही रात वनमें बितानी पड़े, पर उसके कहेपर आपको कदापि विश्वास नहीं आयेगा।

परन्तु कुछ ही देर पश्चात् दिखाई दिया एक और भला परन्तु अपरिचित कोई अन्य व्यक्ति, सफेद सादे वस्त्र पहने, मस्तकपर तिलक लगाये, और हाथमें डोरी लोटा लिए। उससे भी पूछा अपना इष्ट मार्ग। बड़े मधुर व सहानुभूतिपूर्ण शब्दोंमें उत्तर मिला। करुणा ही टपक रही थी उन शब्दोंसे। "ठीक मार्गपर नहीं आये हो पथिक, वन बड़ा भयानक है, भयानक जन्तुओंका वास, यदि रात्रि पड़ गई तो जीवित न बचोगे। खैर अब भी समय है, इस दाहिनी ओरवाली पगडण्डीपर चलो। लगभग डेढ़ मील जानेपर एक नाला मिलेगा, जिसपर पड़ा होगा खजूरका एक तना, पुलके रूपमें। नालेको पार कर जाओ, एक मील और आगे दिखाई देगा वृक्षोंका एक बहुत बड़ा झुण्ड। बड़ा साया रहता है वहां। वहां पहुँचकर बाईं ओर मुड़ जाना, आध मील ही रह जायेगा वहांसे आपका स्थान। विचारिये, क्या अब भी उस दिशामें आपका पग न उठेगा? आपको अवश्य उसके कहनेपर विश्वास आ जायेगा और आप प्रसन्न-चित्त चल पड़ोगे उस दिशामें।

भला क्या अन्तर था पहिले तथा इस व्यक्तिके संकेतमें? मार्ग तो उसने भी वही बताया था जोकि इसने। परन्तु पहलेमें अविश्वास और अब विश्वास? क्या कारण है? कारण है वक्ताकी प्रमाणिकता। इसीप्रकार यहां धर्मके सम्बन्धमें वीतरागी गुरुओं ही की बात आपको स्वीकार है, रागीजनोंकी नहीं। कारण कि आपको दिखती है वहां निःस्वार्थता व करुणा। जो बात वे मुखसे कहते हैं उसकी झांकी उनके जीवनमें स्पष्ट दिखाई देती है। और इन्हीं गुणोंके कारण वे आपकी दृष्टिमें प्रमाणिक हैं। अन्य वक्ताओंमें यह गुण दिखाई नहीं देते, इसलिये वे आपको अप्रमाणिक हैं। श्रद्धाके पथपर आपका यह पहला पग है, जिसमें क्या कमी है सो आगे दर्शाता हूँ।

चले अवश्य जा रहे हो उसी मार्गपर परन्तु हृदयमें है कुछ कम्पनसा-"यदि यह भी मार्ग ठीक न निकला तो? या आगे जाकर फिर भटक गया तो? बीहड़ वन है कौन जाने पहुंच भी पाऊंगा या नहीं? खैर चलो भगवान् सहायी है", और इस प्रकारके अनेकों विकल्प। तनिक विचारो, पक्षको छोड़कर, क्या यही अवस्था न होगी आपके हृदयकी इस श्रद्धाकी प्रथम श्रेणीमें? बस स्पष्ट हो गया इस श्रद्धाका झूठापना या अन्धविश्वासपना। अन्तर्ध्वनिसे आनेवाली यह

'तो' इस बातकी साक्षी है कि स्वीकार करते हुए भी आपका संशय दूर नहीं हुआ है अभी। इसीप्रकार यहां धर्म-मार्गमें भी, यद्यपि स्वीकार हैं गुरुओंकी बातें परन्तु "निश्चयसे न सही, व्यवहारसे तो ठीक है न यह हमारी पहलेकी धारणा ?" इसप्रकार जो पोषण करनेका प्रयत्न किया जा रहा है, अपने ही अभिप्रायका, यह कहांसे निकल रहा है ? बस यही है साक्षी इस बातकी कि वास्तविक तत्त्व आपको स्वीकार ही नहीं है, अन्यथा आपकी धारणा बदल जानी चाहिये थी।

आगे चलिये, नाला दिखाई दिया और साथमें वह खजूरका पुल भी। विचारिये तो कि कुछ कमी पड़ेगी उस कम्पनमें या नहीं ? अवश्य पड़ेगी। "नहीं नहीं, यह मार्ग ठीक ही होगा, वही पहिला चिन्ह जैसे बताया था आ गया, अब कुछ संशय नहीं रहा इसमें, अब तो आ ही जायेगा गांव।" कुछ ऐसीसी बात प्रकट हो जायेगी। यद्यपि संशय बहुत मन्द पड़ चुका है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसकी साक्षी ऊपरके 'ठीक ही होगा', 'आ ही जायेगा' यह कुछ शब्द दे रहे हैं। दृढ़ श्रद्धानमें सन्देह-सूचक शब्दोंका प्रयोग नहीं हुआ करता। और इसीप्रकार इस धर्म-क्षेत्रमें भी गुरुवाणीसे तत्त्वोंको सीखकर यद्यपि कुछ व्रतादि धारण कर लिए हैं, परन्तु फिर भी उन तत्त्वोंकी श्रद्धामें सन्देह पड़ा हुआ है। जिसकी साक्षी इस अभिप्रायसे मिलती है कि भले आज न सही पर व्रतादि करते-करते आगे कभी तो 'होगी ही' मोक्ष। यह श्रद्धाकी दूसरी कोटि है, यद्यपि पहलीसे कुछ दृढ़, पर सच्ची नहीं।

आगे चलिये, वृक्षोंका झुण्ड आया, हृदयमें एक आह्लाद उत्पन्न हुआ, मानो टांगोंमें शक्ति आ गई हो, और तेज़ीसे क़दम उठने लगे। "बस अब तो गांव आ ही गया समझो, बस इस मार्गमें किञ्चित् भी संशय नहीं, यह ठीक ही है" इस प्रकारकी दृढ़ता, यद्यपि इस श्रद्धाकी दृढ़ताको सूचित कर रही है, तदपि श्रद्धा अब भी दृढ़ नहीं है। यह बात गले उतारनी कुछ कठिन पड़ती है, परन्तु विचार करनेसे अवश्य इसकी सत्यता ध्यानमें आ जायेगी। कल्पना कीजिये कि कुछ ही दूर झुण्डसे आगे निकल जानेपर, आपका कोई चिरपरिचित मित्र मिल जाता है, और कुछ आश्चर्यमें पड़कर आपसे पूछ बैठता है, "कहां जा रहे हो मित्र इस मार्गसे ? बाल बच्चोंका प्रबन्ध कर आये हो या नहीं ?" स्वभावतः ही आप घबरा जायेंगे उसकी इस बातपर कि क्या कारण है उसके इस आश्चर्यका ? और यदि वह बताये कि तुम्हें ग़लत मार्गपर डाला गया है, आगे उसी ठगका गांव पड़ेगा जिसने कि तुम्हें मार्ग बताया है, तो क्या आप कांप न उठोगे ? बताइये कहां चली जायेगी आपकी इस समय तककी दृढ़ श्रद्धा ?

बस यही बात साक्षी है कि यह तीसरी कोटिकी अत्यन्त दृढ़ दीखनेवाली श्रद्धा भी वास्तवमें सच्ची नहीं है। इसीप्रकार इस धर्म-क्षेत्रमें भी व्रतों आदि या विद्वत्ता आदिके कारण, सम्मानसे मिली प्रतिष्ठासे भ्रमित होकर, भले आप यह मान बैठें कि मेरी श्रद्धा बिल्कुल सच्ची है, यही गुरुओंके द्वारा प्रतिपादित मार्ग है, इतने बड़े-बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति तथा विद्वान इस मेरी श्रद्धाका समर्थन कर रहे हैं; परन्तु वास्तवमें यह श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। क्योंकि भले बाहरमें आपके मुखसे कोई शब्द ऐसा न निकले जिसपर-से तार्किक आपके अभिप्रायमें भूल निकाल सके, भले ही बाहरमें यह कहते सुने जायें कि मुझको बड़ा आनन्द आ रहा है इस जीवनमें, परन्तु आप स्वयं यह जान नहीं पाते कि यह आनन्द जीवनमें-से आ रहा है कि प्रतिष्ठाके कारण लोकेषणामें-से? आपके अन्तरंगमें तो यह मार्ग कुछ कठिनसा भास रहा है, असिधाराके समान। बस जीवनमें इस कठिनाईका वेदन ही इस बातका साक्षी है कि आपकी यह तीसरी कोटिकी श्रद्धा भी सच्ची नहीं है, भले दूसरोंकी अपेक्षा अधिक दृढ़ हो यह।

और आगे चलिये, वह देखो कलशे सरपर रखे गांवकी स्त्रियां कुएं पर-से पानी लाती दिखाई दे रही हैं। सामने मन्दिरके शिखरपर लहराती ध्वजा मानो हाथकी झोली दे-देकर आपको बुला रही है, और कह रही है कि चले आइये, यही है वह गांव जहां आप जाना चाहते थे। अब विचारिये कि स्वयं वीरप्रभु भी आकर यह कहने लगें कि "किधर जाते हो? यह मार्ग ठीक नहीं है।" तो क्या उनकी बात स्वीकार करेंगे आप? कदापि नहीं। आपकी आंखोंके सामने गांव है। इस चाक्षुष प्रत्यक्षके सामने आप भगवान्‌की बातकोभी स्वीकार करके कोई संशय उत्पन्न करनेको तैयार नहीं। बस इसीप्रकार धर्म-क्षेत्रमें भी साक्षात् चौथी कोटिकी शान्तिकी रूप-रेखाओंका जीवनमें संवेदन हो जानेपर, लोककी कोई शक्ति आपको आपके शान्ति-पथसे विचलित करनेमें समर्थ न हो सकेगी। स्वसंवेदन- प्रत्यक्षके सामने आपको गुरुजनोंके आश्रयकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। अनुभवात्मक चौथी कोटिकी श्रद्धा ही वास्तवमें सच्ची श्रद्धा कही जा सकती है।

यहां शान्तिके इस वैज्ञानिक मार्गकी त्रयात्मकतामें अभिप्रेत श्रद्धासे तात्पर्य इस उपरोक्त चौथी कोटिकी श्रद्धासे है। कुल परम्पराके आधारपर हुई, या साम्प्रदायिक पक्षपात्‌के आधारपर हुई, या गुरुओंपर भक्ति आदिकी भावुकता-वश हुई, या विद्वत्तावश हुई, या लोक-प्रतिष्ठावश हुई श्रद्धाओंका नाम यहां श्रद्धा नहीं कहा जा रहा है। श्रद्धा वास्तवमें वह होती है जो बिना किसी अन्य के उकसाये स्वयं रुचिपूर्वक उस व्यापार-विशेषके प्रति अन्तरंगमें झुकाव उत्पन्न करा देती है। जिसके कारण शीघ्रातिशीघ्र वह अपने जीवनको उस श्रद्धाके

अनुरूप ढालनेका प्रयत्न करने लग जाता है, शक्तिको नहीं छिपाता, न ही कोई बहाने तलाश करता है, अपनी श्रद्धाको दूसरोंपर जतानेके-लिये। जैसे—"क्या करूं, करना तो बहुत चाहता हूँ पर कर्म करने नहीं देते। अजी गृहस्थीके जञ्जालमें फंसा हूं बुरी तरह," इत्यादि।

उपरोक्त कथनपर-से यह भी ग्रहण न कर लेना कि उत्तरोत्तर वृद्धिको पाती वे तीन कोटिकी श्रद्धायें सर्वथा बेकार हैं। नहीं, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो आप उस मार्गपर पग ही न रखते। इसलिये पहलेपहल मार्गपर अग्रसर करानेके-लिये, तथा उस ओरका उत्तरोत्तर अधिकाधिक उल्लास उत्पन्न कराने-के-लिये वे श्रद्धायें अवश्य अपना महत्त्व रखती हैं। परन्तु उनमें सन्तोष पा लिया है जिसने, उसका निषेध करनेके-लिये, तथा वास्तविक सच्ची श्रद्धाका सुन्दर रूप दर्शानेके-लिये अथवा भ्रम मिटानेके-लिये ही इतना कथन किया गया है। अन्धविश्वास भी जिसको नहीं है, ऐसे विलासी जीवोंकी अपेक्षा तो वह कुछ अच्छा ही है। क्योंकि भले अन्धविश्वासके आधारपर ही सही, शान्तिकी खोज करने तो लगा है वह। शान्तिका अनुभव करलेने-पर खुल जायेगा इस अन्ध-श्रद्धानका रहस्य, और प्रसन्न होगा वह यह जानकर कि उसके द्वारा किया गया वह झूठा श्रद्धान भी सच्चेके अनुरूप ही निकला।

परन्तु अन्धश्रद्धान आंख मीचकर ही नहीं कर लेना चाहिये। बात-बातमें परीक्षा करते हुए चलना है अतः केवल उन्हींकी बातपर श्रद्धा करनी योग्य है, जिनका जीवन स्थूल दृष्टिसे शान्त दिखाई दे, जिनके उपदेशका लक्ष्य शान्ति हो, तथा जिनकी कथन-पद्धति भी शान्त हो। स्वार्थी जनोंका भोगोंके प्रति आकर्षण करानेवाला उपदेश, इस मार्गका बाधक व अभिलाषा-वर्धक होनेके कारण स्वीकार करने योग्य नहीं है।

४. चारित्र – त्रयात्मक मार्गके प्रथम अंगका कथन पूरा हुआ। ज्ञान नामक द्वितीय अंगका कथन आगे यथास्थान किया जायेगा। अब उसके तृतीय अंग 'चारित्र' का कथन चलता है।

"चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥"

चारित्रका अर्थ है धर्म अर्थात् जीवका स्वभाव और वह होता है समता स्व-रूप। आत्मा या जीवकी वह स्वाभाविक परिणति ही समताका लक्षण है जिसमें न है मोह और न है क्षोभ, अर्थात् जिसमें न है स्थान तत्त्विक अविवेकको और न है अवकाश इन्द्रिय मन तथा चित्तकी चञ्चलताको। तात्त्विक अविवेककी निवृत्ति हो जाती है विवेक-ज्ञानसे, जिसका उल्लेख आगे किया जानेवाला है।

चञ्चलता क्या और उसका अभाव क्या इस विषयमें थोड़ीसी जानकारी यहां दे देना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें आप कुछ न जानते हों ऐसा भी नहीं है। नित्यके अनुभवकी बात है।

कौन नहीं जानता कि उसकी पांचों इन्द्रियां एक क्षणको भी विश्रान्त होकर नहीं बैठतीं। एक विषयको छोड़कर दूसरेपर और दूसरेको छोड़कर तीसरेपर सदा भागती रहती हैं। अभी चलो होटलमें और अभी सिनेमामें। अब रेडियो सुनो और अब करो शरीरका शृङ्गार। इन्द्रियां बेचारी क्या करें? ये तो ठहरी सेविकायें मनकी। जो आज्ञा मिलती है वही करती हैं। इन सबका स्वामी तो मन है। विविध प्रकारके संकल्प-विकल्प करना ही उसका स्वरूप है। यह वस्तु मुझे इष्ट है यह अनिष्ट, यह शत्रु है यह मित्र, यह सज्जन है यह दुर्जन, यह सुख है यह दुःख, यह जन्म है यह मरण, यह पुण्य है यह पाप, यह धर्म है यह अधर्म इत्यादि न जाने कितने परस्पर विरोधी द्वन्द्वोंकी वासनायें पड़ी हैं इसके गर्भमें। अनन्त है उसका विस्तार। इन्हीं वासनाओंसे प्रेरित होकर सदा आज्ञा देता रहता है यह इन्द्रियों को, सदा दौड़ाता रहता है यह इन्द्रियोंको, इस वस्तुको प्राप्त करो, इसका त्याग करो, इसका संरक्षण करो इसका नाश करो और न जाने क्या क्या। यही कारण है कि एक क्षणको भी विश्राम नहीं मिलता जीवनमें।

चिन्ताओंका भार लिये प्रातः बिस्तरसे उठना, दो चार लोटे पानीके जल्दीसे शरीरपर डाल, उल्टे-सीधे कपड़े पहन, मोटरकारपर सवार हो किसी एक दिशाको चल देना, घरमें बीवी-बच्चोंको तथा माता-पिताको एक निराशा की उलझनमें छोड़कर। कुछ घण्टोंमें जल्दी-जल्दी कभी इधर दौड़ और कभी उधर, आगे-आगे दौड़ और पीछे-पीछे छोड़ करता लगभग ३० मीलका चक्कर लगा लिया। दस दफ्तरोंमें स्वयं जाकर हो आये, ३० से टेलीफोनपर बात करली, और दोपहरको खाना खानेके समय लौट आये घरपर, कुटुम्बियोंके चेहरेपर संतोषकी धीमीसी रेखा खेंचते। खाना खाने बैठे, दो चार टुकड़े खाये, टेलीफोनकी घण्टी बजी और खाना बीचमें ही छोड़ भागे। पुनः वही मोटरकार, वही सड़क, वही दफ्तर, घरमें बीवी-बच्चे व माता-पिता पुनः उदास। बिना खाये चले जो गये हैं आप। दिन भरकी दौड़ धूपसे थके-मांदे लौटे घरपर रात्रिको ६ बजे बिल्कुल सोनेके समय। न बीवीसे बात, न बच्चोंसे हसी, न माता-पिताको सांत्वनाके दो शब्द, सो गये। सो क्या गए, रात बिता दी चिन्ताओंमें कि कलको यह करना है और वह करना है। प्रातः हो गई, पुनः वही चक्र।

यह है बाह्य जीवनका स्थूलक्षोभ, जिसका कारण है मनोगत उपर्युक्त सूक्ष्म-क्षोभ। दोनों ही प्रकारके क्षोभका अभाव चारित्र या धर्म है और वह है वास्तवमें वही विश्रान्ति या शान्ति जिसका कथन चल रहा है। इसे आप समता कहो, साम्यता कहो, माध्यस्थता कहो, शुद्धभाव कहो, या कहो वीत-रागता। सभी शब्दोंका अवसान होता है उसी प्रधान अर्थमें अर्थात् शान्तिमें।

समताका अर्थ है सबमें समानभाव—मैं तूमें, यह वहमें, स्त्री पुरुषमें, बालक वृद्धमें, निर्धन सधनमें, मूर्ख विद्वानमें, ऊंच नीचमें, ब्राह्मरण चाण्डालमें, मनुष्य तिर्यञ्चमें, गाय कुत्तेमें, हाथी चींटीमें, स्वर्ण पाषाणमें, लाभ अलाभमें। मोहका अभाव तथा तात्त्विक विवेक जागृत हो जानेके कारण, सभी पदार्थोंमें तत्त्वका दर्शन करनेवाले उस महाभागके चित्तमें इन विषमताओंको अवकाश कहां? और इन विषमताओंके अभावमें इष्टानिष्ट आदि उपर्युक्त द्वन्द्वोंको प्रवेश कहां? न है उसके-लिये कुछ इष्ट न अनिष्ट, न शत्रु न मित्र, न सज्जन न दुर्जन, न सुख न दुःख, न जन्म न मरण, न पुण्य न पाप, न धर्म न अधर्म, न ग्राह्य न त्याज्य। और यही है क्षोभका अभाव, पूर्ण वीतरागता, पूर्णकामता, कृतकृत्यता। इसे ही कहते हैं चारित्र और यही है धर्म। पूजा आदि क्रियाओंको धर्म कहना तो उपचार है। वास्तवमें वस्तुका स्वभाव ही धर्मका लक्षण है। क्योंकि शान्ति अर्थात् निर्विकल्पतारूप होनेके कारण यह समता मेरा स्वभाव है, इसलिये यही मेरा धर्म है।

विचित्र बात सुन रहे हैं। हम तो सुनते थे कि "यह छोड़ यह कर, यह खा, यहां रह", इत्यादि क्रियाओंका नाम चारित्र है, और देव पूजा आदिका नाम धर्म, परन्तु आप तो कुछ और ही कह रहे हैं? शान्त हो प्रभु! शान्त हो, तेरा सुना हुआ भी गलत नहीं है। वह वास्तवमें चारित्र नहीं चारित्रकी साधना है। वैसा-वैसा करते हुए धीरे-धीरे जीवनकी भाग-दौड़ समाप्त होती जाती है, पहिले बाह्य जीवनकी और फिर भीतरी जीवनकी। और इसप्रकार एक लम्बे कालतक अभ्यास करते रहनेपर वह दिन भी आ जाता है जबकि साधकका द्विविध क्षोभ शान्त हो जाता है और निज स्वभाव-स्वरूप साक्षात चारित्रकी उपलब्धि करके, खो जाता है वह उसमें सदाके-लिये। जिसप्रकार 'अन्न' प्राण नहीं, परन्तु प्राणोंको टिकाये रखनेका कारण है, और इसीलिये लोक-व्यवहारमें 'अन्न ही प्राण है' ऐसी उक्ति प्रचलित है, उसीप्रकार ग्रहण-त्याग आदिकी उक्त क्रियायें चारित्र नहीं परन्तु उसकी प्राप्तिका कारण या उपाय हैं, और इसीलिये लोक-व्यवहारमें 'ग्रहण-त्याग, शुद्ध-भोजन, देवदर्शन, सामायिक ध्यान आदि चारित्र अथवा धर्म हैं', ऐसी उक्ति प्रचलित है।

६

तत्त्वार्थ



१. सात तथ्य—किसी भी कार्यको प्रारम्भ करनेसे पहले श्रद्धाका महत्त्व दर्शाया जा चुका है, परन्तु श्रद्धा किस बातकी की जाय यह नहीं बताया गया। कोई पदार्थ तैयार करनेके-लिये एक कारखाना लगानेसे पहले स्वाभाविक रीतिसे हमारे मनमें तथा एक वैज्ञानिकके मनमें सात प्रश्न उठते हैं। वे सात बातें ही किसी कार्यकी सफलताके-लिये यथार्थतः जानने व श्रद्धा करने योग्य हैं। क्योंकि उनके जाने व श्रद्धा किये बिना वह कार्य प्रारम्भ ही नहीं किया जा सकेगा। यदि उन सात बातोंमें-से किसी एक दो बातों मात्रका ज्ञान व श्रद्धान रखकर अन्य बातोंकी परवाह न करके कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय, तो अन्धवत् ही इधर-उधर हाथ पांव मारने पड़ेंगे, और फल निकलेगा निष्फल पुरुषार्थ या पूंजीका विनाश। दृष्टान्तपर-से यह बात स्पष्ट हो सकेगी।

वे सात बातें निम्न प्रकार हैं :—१. मूल पदार्थ (रा मैटीरियल) क्या है? २. उसके सम्पर्कमें आनेवाले अन्य पदार्थ (इम्प्योरिटीज) क्या हैं? ३. मिश्रण-का कारण क्या है? ४. पदार्थका मिश्रित स्वरूप क्या है? ५. मिश्रणके प्रति सावधानीका उपाय। ६. मिश्रित अन्य पदार्थोंके शोधनका उपाय। ७. शुद्ध पदार्थका स्वरूप क्या है? देखिये एक डेयरीफार्म लगाना इष्ट है, तो ये सात बातें जाननी पड़ेंगी। १. मूल पदार्थ (दूध) क्या है? २. इसके साथ रहनेवाले 'पानी' 'बैक्टेरिया' आदि (सूक्ष्म जन्तु) क्या हैं? ३. बैक्टेरियाकी उत्पत्तिके कारण क्या हैं? ४. जल व बैक्टेरियासे मिश्रित दूधका स्वरूप क्या है? ५. बैक्टेरियाकी नवीन उत्पत्ति रोकनेका उपाय। ६. पूर्व बैक्टेरियाके विनाशका तथा दुग्ध शोधनका उपाय। ७. शुद्धदूध (प्योर मिल्क) का स्वरूप क्या है? इसीप्रकार किसी रोगका प्रतीकार इष्ट है तो ये सात बातें जाननी व श्रद्धा करनी पड़ेंगी। १. मैं नीरोग हूं, २. वर्तमानमें रोगी हू, ३. रोगका कारण

अपथ्य-सेवन, ४. रोगका निदान ५. अपथ्य-सेवनका निषेध, ६. योग्य औषधि, ७. नीरोगी अवस्थाका स्वरूप।

अब आप ही विचारिये कि क्या इन सात बातोंके ज्ञान व श्रद्धान बिना कारखाना या डेयरीफ़ार्म लगाना या रोगका दूर किया जाना सम्भव है? और यदि इन सात बातोंमें-से किसी एक दो मात्र बातोंके ज्ञान व श्रद्धानके आधार-पर कार्य प्रारम्भ करनेका दुःसाहस भी कर लिया तो क्या फल होगा? लाभ-की बजाय हानि। बैक्टेरियाकी उत्पत्ति व उसके दूर करनेका उपाय न जाननेके कारण उसके प्रति सावधानी न रह सकेंगी, फलतः दूध सड़ जायेगा। रोगके कारणों अर्थात् अपथ्यका या ठीक औषधिका ज्ञान न होनेके कारण अपथ्य-सेवन न छोड़ सकूंगा, तथा ग़लत औषधि ले लूंगा, फलतः रोग घटनेकी बजाय बढ़ जायेगा इत्यादि। अतः श्रद्धाकी विषयभूत सात बातें जाननी आवश्यक हैं।

यहां जीवका शान्तिरूप कार्य अभीष्ट है। अतः सात बातें जाननी व श्रद्धा करनी योग्य हैं। १. 'मैं,' जिसे शान्ति चाहिये, वह क्या है? २. सम्पर्कमें आने-वाले अन्य पदार्थ क्या हैं? ३. अशान्ति क्यों? ४. अशान्ति क्या? ५. नवीन अशान्तिको रोकनेका उपाय। ६. पूर्व-अशान्तिके कारणोंका विनाश कैसे? ७. शान्ति क्या? इन सब बातोंका आगममें सात तत्त्व कहकर निर्देष किया गया है। इन सातों तत्त्वोंके नाम हैं जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। इन सबका विस्तृत स्वरूप आगे चलेगा, क्योंकि उनके विस्तारका ज्ञान हुए बिना श्रद्धा किसपर करेंगे? नाममात्र जाननेसे तो काम चलता नहीं। नाम तो भले कुछ और रख लीजिये, पर शान्ति-पथमें उपयोगी इन उपरोक्त बातोंका स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। ज्ञानी जनोंने कहीं भी अन्धविश्वास करनेको नहीं कहा है। आगम, युक्ति व अनुभव इन तीनोंसे परीक्षा करके ही स्वीकार करनेका निर्देश किया है। इन तीनोंमें भी अनुभव प्रधान है, जैसाकि कलवाले श्रद्धानके प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया गया है?

२. तत्त्व—इसीलिए यहां तथ्य शब्दका प्रयोग न करके 'तत्त्व' शब्दका प्रयोग किया गया हैं। तत्त्व अर्थात् तत्+त्व। 'तत्'का अर्थ है 'वह' और 'त्व' का अर्थ 'पना' या स्वभाव; जैसे अग्निका स्वभाव ऊष्णत्व, जलका स्वभाव शीतलत्व, जीवका स्वभाव चेतनत्व। इसप्रकार 'तत्त्व' शब्दका अर्थ हुआ वह का वहपना, अर्थात् जिस किसी भी पदार्थका, द्रव्यका अथवा भावका कथन करना अभिप्रेत है, उसका स्वभाव। इसप्रकार दृष्टिको विशालता प्रदान करता है यह शब्द, द्वैतसे-अद्वैतकी ओर ले जाता है यह शब्द। वह कैसे, सो देखिये। स्वभाव कहते हैं किसी पदार्थकी उस जातीयताको जोकि उस ही

प्रकारके अनेक पदार्थोंमें अनुगत हो। जैसे अनेक अग्नियोंमें अनुगत एक अग्नित्व अर्थात् एक अग्नि-जातीयता, अनेक जीवोंमें अनुगत एक चेतनत्व अर्थात् एक चेतन-जातीयता, अनेक जड़ परमाणुओंमें अनुगत एक जड़त्व अर्थात् एक जड़-जातीयता।

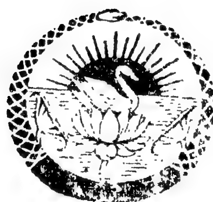
इस दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि भले जीवद्रव्य अनेक हों परन्तु उन सबमें अनुगत चेतनत्त्व या चेतनतत्त्व एक है। भले परमाणु अनेक हों परन्तु उन सबमें अनुगत जड़त्व या जड़तत्त्व एक है। इसप्रकार यह शब्द द्वैतमें अद्वैत उत्पन्न करता है और बताता है कि जीवतत्त्व एक है, भले ही जीव-द्रव्य अनेक हुआ करें। इसीप्रकार अजीवतत्त्व एक है, भले ही अजीव-द्रव्य अनेक हुआ करें। इसीप्रकार आस्रव-बन्ध तथा संवर-निर्जरा ये चारों तत्त्व भी एक-एक हैं, भले आस्रव तथा बन्धके अन्तर्गत आनेवाले रागद्वेषादि भाव अनेक हों अथवा संवर निर्जराके अन्तर्गत गिनी जानेवाली व्रत समिति गुप्ति आदि क्रियायें तथा वैराग्य आदि भाव अनेक हों। इसीप्रकार मोक्षतत्त्व भी एक है भले ही मुक्तजीव अनेक हुआ करें। तत्त्व शब्दके द्वारा निर्दिष्ट यह अद्वैत-दृष्टि शान्तिपथका प्राण है क्योंकि इस दृष्टिसे देखनेपर न रहता है मैं-तूका तथा यह-वहका भेद, न रहते हैं अच्छे-बुरेके तथा हेय-उपादेय आदिके द्वन्द्व, और न रहता है करने-धरनेका विकल्प। प्रगट हो जाती है व्यापक समता, शान्ति, आनन्द।

३. तत्त्वार्थ—तत्त्व मात्र न कहकर तत्त्वार्थ कहना और भी अधिक रहस्यात्मक है। वह कैसे? देखिये—किसी भी शब्दका अर्थ बताते या समझते समय कोषकारका अथवा विद्यार्थीका लक्ष्य किधर होता है—उनशब्दोंकी ओर जिनके द्वारा कि उस अर्थका प्रतिपादन किया जा रहा है, अथवा उस पदार्थकी ओर जिसके प्रति कि वे शब्द संकेत कर रहे हैं? 'गाय' शब्दका अर्थ पुस्तकमें लिखा 'गाय' अथवा बोला या सुना गया 'गाय' शब्द है या कि है उस शब्दका वाच्य, जीता जागता वह पशु-विशेष जिसके दूधका हम नित्य पान करते हैं? अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थ पदमें प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द इस बातकी चेतावनी देता है कि इस प्रकरणमें 'जीव' आदि शब्दों द्वारा जिन सात बातों या तत्त्वोंका उल्लेख किया जाना है, यहां उन शब्दोंका अथवा उनकी लम्बी-चौड़ी व्याख्याओंका श्रद्धान कराना इष्ट नहीं है, प्रत्युत उन भावोंका या स्वभावोंका श्रद्धान कराना इष्ट है जिनके प्रति कि ये शब्द अथवा व्याख्यायें संकेत कर रहे हैं। वे भाव भी कहीं बाहर नहीं हैं, प्रत्युत स्वयं आपके मनोलोकमें, बुद्धि-लोकमें अथवा हृदय-लोकमें निहित हैं। इसलिये न वे इन्द्रिय-प्रत्यक्षके विषय

हैं और न आगम अथवा अनुमान के । केवल स्वानुभव-प्रत्यक्ष ही एकमात्र शरण है उनको जाननेके-लिये ।

सम्प्रदायको अवकाश नहीं इस वैज्ञानिक मार्गमें । इसका साया भी यहां पड़ने न पायें, ऐसी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है । अतः इन जीवादि सात बातोंका स्वरूप कुछ इस प्रकारसे सुनना या विचारना इष्ट है, जिसपर विचार करके तथा अपने जीवनमें उस-उस उपायसे उस-उस विषयको पढ़नेका प्रयत्न करके, उसका किञ्चित् अनुभव हो सके । उसका अनुभव हो जानेके पश्चात् ही शान्ति-मार्ग प्रारम्भ होगा । परन्तु उसको अनुभव करनेसे पहले भी यह आवश्यक है कि एकबार शब्दोंमें उसे अवश्य ग्रहण कर लिया जाय. और तर्क व युक्तिसे उसकी सत्यार्थताका निर्णय कर लिया जाय । उस अपने निर्णयको वीतराग-प्रणीत आगमसे भी मिलान करके देख लिया जाय । क्योंकि बिना ऐसा किये अव्वल तो मैं अनुभव करनेका प्रयत्न ही किस विषयके प्रति करूंगा और यदि अन्धोंकी भांति शब्दोंका स्पष्ट रहस्यार्थ समझे बिना करने लगा तो लाभ क्या होगा?

अतः अब आगेके प्रकरणोंमें इन सात बातोंका ही क्रमशः विस्तृत विवेचन चलेगा । लम्बा कथन है । सुनते-सुनते ऊब न जाना, साराका सारा सुनना । बीचमें एक भी प्रकरणके छूट जानेपर आगेके प्रकरणोंका रहस्य पकड़में न आ सकेगा । बिना क्रमसे और बिना पूरा सुने अभीष्टकी सिद्धि होना असम्भव है ।



७

जीव - तत्त्व

१. 'मैं' की खोज—अहो ! चैतन्यधनका अतुल प्रकाश, जिसने पुनः-पुनः प्रेरित करते हुए तथा अन्तरंगमें चुटकियां भरते हुए, इस गहन भोग विलासके अन्धकारमें भी, मुझे आज यह सौभाग्य प्रदान किया कि किञ्चित् मात्र अपनी महिमाके दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो सकूं। धर्मकी जिज्ञासाके सार-स्वरूप शान्ति तथा उसकी प्राप्तिके-लिए कुछ प्राथमिक आवश्यक सामान्य बातें जान लेनेके पश्चात्, आज मेरे अन्दर यह जाननेकी जिज्ञासा जागृत हो उठी है कि मैं कौन हूं, जिसमें यह शान्तिकी पुकार उठ रही है, अर्थात् जीव तत्त्व क्या है?

बहुत प्रयत्न किया है, गुरुजनोंने मुझे मेरी महिमा दर्शानेका, मुझे मेरा स्वरूप बतानेका, पर देखिये कितने आश्चर्यकी बात है कि नित्य ही 'मैं हूं', 'मैं हूं' की पुकार करता मैं आज तक 'मैं' को जान न सका। क्या-क्या कल्पनायें बनाता रहा अपने सम्बन्धमें। कभी विचार करता कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकी जो आकृतियां दीख रही हैं, वे ही 'मैं' हूँ। कभी विचार करता कि ये जो पुत्र, स्त्री आदि परिवार दिखाई दे रहा है, अपने चारों ओर, वही 'मैं' हूं। कभी विचार करता कि ये जो गृह, स्वर्णादि कुछ आकर्षक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वही 'मैं' हूं। अर्थात् इन सबमें 'मैं', और मुझमें 'ये सब' ओत-प्रोत हो रहे हैं, मानो।

देखो कितना बड़ा आश्चर्य है कि अपनेको देखनेकी इच्छा करते हुए मैं स्वयं कहां कहां खोजता फिरता हूं इस 'मैं' को। इस महत्के अर्थात् इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त आकाशके एक-एक प्रदेशपर इधरसे उधर, और उधरसे इधर टक्करें मार-मारकर मैंने खोज की इसकी। कैसी दशा बनी हुई थी उस समय मेरी कि बिना सुधबुध उस प्रदेशसे इसपर और इससे उसपर फिर रहा था मारा-मारा, तृषातुर मृगवत्। इस प्रदेशपर दिखाई देती है कुछ मेरी चमकसी, भागा उधर। अरे ! यहां तो कुछ नहीं। नहीं-नहीं, यहां नहीं थी,

वह देख कुछ दूरीपर दिखाई दे रही है, कितनी तेज़ चमक, आँखें चुन्धिया रही हैं जिसे देखकर। भागा वहां, पर यह क्या? यहां भी कुछ नहीं। और इसीप्रकार बेचैन बेहोश घूमता था, मारा-मारा।

कितनी तीव्र गति थी उस समय मेरी, अभी पातालके उस छोरपर और अगले ही क्षण लोकके शिखरपर, बिल्कुल अपने पिता सिद्ध- प्रभुके निकट। अभी ऊर्ध्व-लोकमें देवोंके निकट और अगले ही क्षण अधो-लोकमें नारकियोंके निकट। अभी मध्य लोककी एक पृथ्वीपर और अभी असंख्यात योजन दूर उस अन्तिम पृथ्वीपर। अभी समुद्रमें और अभी वायुमण्डलमें। अभी इन चलते-फिरते दिखनेवाले मनुष्य पशु व पक्षियोंके शरीरोंमें और अगले ही क्षण वनस्पतियोंमें। कहां तक गिनाऊं? एक प्रदेश भी तो इस आकाशका ख़ाली नहीं छोड़ा, जहां जाकर मैंने 'मैं' को न खोजा हो। कितना व्यग्र था उससमय इसकी खोजके पीछे, कि आने और जाने, जीने और मरनेके सिवाय, मुझे और कुछ चिन्ता ही नहीं थी। एक-एक श्वासमें अठारह-अठारह बार बदल डाला मैंने अपना चोला। पर मृगतृष्णा थी, कोरा बालूका ढेर, कुछ भी न था वहां। जाता, दौड़ता,जन्म लेता और निराश हो जाता। तुरन्त ही आगे कुछ प्रतीत होता, बस मर जाता, वहां जाकर जन्म लेता, और फिर निराश हो जाता। किसी कारणवश रोता-रोता शिशु जिसप्रकार स्वयं भूल जाता है कि क्यों रोना प्रारम्भ किया था उसने, केवल याद रह जाता है रोना उसे, उसीप्रकार दौड़ते-दौड़ते,एक श्वासमें अठारह-अठारह बार मरते, मैं स्वयं भूल गया कि क्यों यह दौड़-धूप या जीना-मरना प्रारम्भ किया था मैंने? केवल याद रह गया जल्दी-जल्दी जीना और मरना मात्र।

खानेकी सुध थी न पीनेकी, न किसीसे बोलनेकी न पूछनेकी, न कुछ सूंघनेकी न देखनेकी, न सुननेकी न विचारनेकी, बेहोश हो गया था, थककर चूर-चूर। छूकर जान तो सकता था उससमय, पर कहां थी होश मुझे छूनेकी भी? इधरसे उधर दौड़ने अथवा जीने-मरनेके सिवा फ़ुर्सत ही कहां थी, कुछ और करनेकी? कई बार तो पूरी तरह जन्मने भी नहीं पाया कि मर गया। और यदि पूरा जन्मा भी तो कितना छोटा था मेरा शरीर जो किसीको दिखाई भी न पड़ सके। माइक्रोस्कोपके भी तो गम्य नहीं था वह? पहाड़ व लोहखण्डमें भी घुसकर आर-पार हो सकता था वह। 'निगोद' कहा करते थे ज्ञानी लोग उस समय मुझे। सर्व-साधारणजन तो मेरी सत्तासे भी अपरिचत थे। न देख सकनेके कारण, वे यह भी नहीं जान पाते थे कि मैं कोई हूं भी या नहीं।

वहां जब कुछ पता न चला, तो पृथ्वी बनकर जल बनकर, अग्नि बनकर

वायु बनकर पड़ा रहा सदियों, लोगोंकी ठोकरें खाता, इधर-उधर बिखरता या उबाला जाता आगपर, पवनके द्वारा ताड़ित किया जाता,पंखोंकी मार सहता पड़ा रहा सदियों, कि कभी तो कहीं तो स्पर्श कर ही जाऊंगा मैं, 'मुझ' को। पर निराश, कुछ न दीखा। वहांसे भी भागा, वनस्पति बन गया, कभी जल पर-की काई बना और कभी अचारपर-की फूई, कभी घास बना और कभी झाड़ी, कभी बेल तो कभी वृक्ष, कभी पत्ता तो कभी फल, कभी खट्टा बना तो कभी कीठा, कभी सुगन्धित तो कभी दुर्गन्धित। क्या-क्या रूप धारे थे उस समय मैंने ? याद कर-करके कलेजा कांप उठता है। चीरा जाकर और अग्नि में जल-जलकर अनेकों कष्ट सहे, इस 'मैं' को स्पर्श करनेके-लिये पर निराश, कुछ न देखा वहां भी। स्पर्श ही न कर पाया, फिर चखने, सूंघने, देखने, सुनने व विचारनेका तो प्रश्न ही क्या ? निराश लौट पड़ा। सर्व- साधारणजन मुझे सोचते रहे जड़, केवल अपने भोगकी कोई वस्तु, परन्तु मैं भले यह न जानता हूं कि में क्या हूं, पर उससमय भी इतना अवश्य जानता था कि मैं वह नहीं हूं जो वे समझते थे मुझे। चित्त मसोसकर रह जाता था, क्योंकि शक्ति ही नहीं थी बतानेकी।

छूने मात्रसे तो पता न चला, चलो अब चखकर भी देखो, सम्भवतः कुछ पता चल जावे और इस अभिप्रायको रखकर, धारण किये लट व केंचुआ आदिके अनेकों रूप, कभी कुछ और कभी कुछ। सूंघने, देखने, सुनने व विचारनेकी चिन्ता किए बिना, केवल छूकर व चखकर खोज करनी चाही मैंने अपनी, पर निरर्थक।

निराश दौड़ा, चींटी, कनखजूरा आदि अनेकों रूपोंमें, जहां छूने व चखनेके अतिरिक्त सूंघनेकी शक्तिका भी प्रयोग किया मैंने। इतना ही नहीं, मक्खी, भंवरा आदि बनकर देखनेके यन्त्रको भी प्रयोगमें लाया और चिड़िया, गाय, मछली, व मनुष्यादि बन-बनकर सुननेके, यहां तककि विचारने तकके यन्त्रोंका निर्माण कर डाला, पर किसीप्रकार भी तो उस रहस्यात्मक 'मैं' का पता न चला। क्या आकाशमें, क्या पृथ्वीपर और क्या जलमें, कहां नहीं खोजा मैंने इसे ?

अत्यन्त दुःख व पीड़ाकी भी परवाह न करते हुए, मैं इसकी खोजके-लिए नारकी तक बना, पर इसका पता न चला। तात्पर्य यह कि नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवोंकी चौरासी लाख योनियोंमें; पृथ्वी, अप, तेज, वायु व वनस्पति भूतोंमें, भ्रमण करते-करते आजतक न मालूम कहां-कहां घूमा, कितना समय बीत गया, तथा इस कालमें क्या-क्या दुःख सहे इसकी खोजके-

लिए, पर इस 'मैं' का पता न चला। छोटेसे छोटा माइक्रोस्कोपसे भी न दीखने वाला तथा बड़ेसे बड़ा पर्वत सरीखा शरीर बनाया, पर उसका पता न चला।

२. जीव राशि—यह बतानेकी आवश्यता नहीं कि इस प्रकरणमें जीव-तत्त्वकी लोकप्रसिद्ध ८४ लाख योनियोंका अर्थात् उनकी अनेकविध जातियोंका परिचय देनेका प्रयत्न किया गया है। आगे साधना खण्डमें प्राणसंयमका विवेचन करनेके-लिये तथा उसे ठीक प्रकारसे समझनेके-लिये जीवकी इन विविध जातियोंका अवधारण अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये इन सभीका स्पष्ट उल्लेख यहां कर देना उचित प्रतीत होता है।

जीव जातियोंका यह विभाजन प्रधानतः ४ अपेक्षाओंसे किया जा सकता है—गतियोंकी अपेक्षा, इन्द्रियोंकी अपेक्षा, प्राणोंकी अपेक्षा और कायकी अपेक्षा। इन चारों अपेक्षाओंका पृथक् पृथक् कथन करता हूं।

(१) गतियोंकी अपेक्षा कथन करनेपर जीव चार प्रकारके हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव। इनमें-से नारक मनुष्य तथा देव तो एक एक ही प्रकारके हैं, परन्तु तिर्यञ्च गतिका विस्तार बहुत अधिक है। पृथिवी, अप्, तेज वायु, वनस्पति, कीट पतंग, पशु पक्षी सब तिर्यञ्च हैं। माइक्रोस्कोपसे न दीखने वाली उपर्युक्त सूक्ष्म जीव-राशि भी इसीमें अन्तर्भूत है।

(२) जाननेके द्वार इन्द्रिय कहलाते हैं। वे पाञ्च हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र व श्रोत्र। इन सबको आप अच्छी तरह जानते हैं। इन पाञ्चों इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीव भी पाँच प्रकारके हो जाते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। केवल एक स्पर्शन इन्द्रियके धारी होनेके कारण पृथिवी आदि हैं एकेन्द्रिय जीव, जिनमें केवल छूकर जाननेकी शक्ति है। इनकी सिद्धि आगे की जायेगी। स्पर्शन तथा रसना (जिह्वा) इन दो इन्द्रियोंके धारी होनेके कारण पेटके बल रींगकर चलनेवाले जोंख, केंचुआ, कीड़ा आदि हैं द्वीन्द्रिय जीव। स्पर्शन रसना और घ्राण (नासिका) इन तीन इन्द्रियोंके धारी होनेके कारण छोटे-छोटे अनेक पाँवपर चलनेवाले चींटी, कनखजूरा आदि हैं त्रीन्द्रिय जीव। इन तीनके साथ नेत्रेन्द्रियको भी धारण करनेके कारण उड़नेवाले समस्त क्षुद्रप्राणी, मक्खी, मच्छर, भँवरा आदि हैं चतुरेन्द्रिय जीव। और पांचों इन्द्रियों को धारण करनेवाले मनुष्य पशु-पक्षी आदि हैं पंचेन्द्रिय जीव। इनमें भी मनुष्य तो मन नामकी छटी इन्द्रियसे युक्त होनेके कारण समनस्क या संज्ञी ही होते हैं, परन्तु पशु-पक्षियोंमें समनस्क तथा अमनस्क दोनों विकल्पोंवाले पाये जाते हैं। जितने कुछ भी परिचयमें आते हैं वे सब प्रायः समनस्क हैं। अमनस्कके दृष्टान्त अतिविरल हैं।

(३) प्राण १० होते हैं—पांच तो उपर्युक्त इन्द्रियें तथा इनके अतिरिक्त मन, वचन, काय, श्वासोच्छवास और आयु। इनको धारण करनेके कारण जीव प्राणी कहलाते हैं। इस अपेक्षासे वे ६ प्रकारके हैं। एक दो तीन प्राणों वाला कोई जीव नहीं होता। कमसे कम चार प्राणोंवाले होते हैं। आयु, श्वासोच्छवास और काय ये तीन सभीमें पाये जाते हैं। इनके साथ एक स्पर्शनेन्द्रिय मिल जानेके कारण सकल एकेन्द्रिय जीव चार प्राण-धारी हैं। पांच प्राण-धारी कोई जीव नहीं होता, क्योंकि रसना इन्द्रिय युक्त हो जानेपर द्वीन्द्रिय जीवमें युगपत् दो प्राणोंकी वृद्धि हो जाती है—चखकर जाननेकी शक्ति तथा बोलनेकी शक्ति। इसलिये सकल द्वीन्द्रिय जीव छः प्राणवाले हैं। घ्राणेन्द्रिय युक्त होनेसे त्रीन्द्रिय जीव सात प्राणधारी, नेत्रेन्द्रिय युक्त होनेसे चतुन्द्रिय जीव आठ प्राणधारी और श्रोत्रेन्द्रिय युक्त होनेसे पञ्चेन्द्रिय जीव नौ प्राणोंके धारी हैं। इनमें अमनस्क तो नौ ही प्राणोंवाले हैं परन्तु एक मन और मिल जानेसे समनस्क जीव दस प्राणवाले होते हैं। इनमें चार प्राणधारी एकेन्द्रिय जीवके अनेकों भेद-प्रभेद हैं, जो आगे 'काय' वाले विकल्पमें बताये जाने वाले हैं।

(४) काय कहते हैं शरीररूप परमाणु-पिण्डको। इसकी अपेक्षा देखनेपर जीव दो प्रकारके होते हैं—स्थावर तथा त्रस। भयका कारण उपस्थित हो जानेपर भी जो स्वयं अपनी रक्षार्थ भागने दौड़नेके-लिये समर्थ नहीं हैं, वे स्थावर कहलाते हैं और इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त जीव त्रस कहे जाते हैं। स्थावर जीवोंका शरीर पांच जातियोंका होता है—प्रथम है पार्थिव जाति जिसमें मिट्टी, पाषाण, कोयला, धातु आदि सभी खनिज पदार्थ सम्मिलित हैं। द्वितीय है जलीय जाति जिसमें जल, हिम, ओस आदि सम्मिलित हैं। तृतीय है तेजो जाति जिसमें अग्नि, ज्वाला, चिङ्गारी, अङ्गार आदि सम्मिलित हैं। चतुर्थ है वायु जाति जिसमें धनञ्जय आदि अनेक प्रकारकी वायु सम्मिलित हैं। और स्थावर कायकी पञ्चम जाति है वनस्पति जिसका बड़ा लम्बा चौड़ा विस्तार है। माइक्रोस्कोपके भी अगम्य जिस सूक्ष्म निगोद-राशिका पहले वर्णन किया जा चुका है वह इसीमें सम्मिलित है। आगे भोजन-शुद्धिवाले प्रकरणमें माइक्रोस्कोप गम्य जिस बैक्टेरियाका कथन किया जानेवाला है, वह भी वनस्पति-कायमें ही गर्भित है। इनको आदि लेकर फूई, काई, घास, झाड़ी, बेल, पौधा, वृक्ष, पत्ता, प्रवाल, फल, फूल, जड़ी-बूटियें, अन्न, काष्ठ, कपास आदि सब वनस्पति की ही सन्तान हैं। त्रसजीव यद्यपि द्वीन्द्रियसे लेकर समनस्क तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पर्यन्त अनेक प्रकारके हैं, परन्तु उन सबकी काय एक मांसास्थि पञ्जर वाली जातिकी ही होती है। देव नारकीका शरीर यद्यपि मांसजातीय नहीं माना

गया है तदपि उसका संग्रह इसी भेदमें कर लिया जाता है। इसप्रकार कायकी अपेक्षा जीवराशि कुल छः प्रकारकी हो जाती है—पांच प्रकारकी स्थावरकाय और एक प्रकारकी त्रसकाय।

आजका मानव जीवोंके इन सर्व भेद प्रभेदोंमें-से एक मनुष्यको ही जीव मानता है, अन्यको नहीं। आज बकरी आदि तकको भी वह अपनी भोगकी वस्तु समझता है तथा 'उनके भी प्राण हैं, उनको भी पीड़ा होती होगी', इस बात-का उसे भान नहीं है। इससे आगे भी यदि बढ़ा तो मनुष्य व गाय दोको ही जीव मानने लगा, अन्यको नहीं। यदि बकरी आदिको जीव स्वीकार भी किया तो गायकी अपेक्षा उसमें प्राणोंकी कमी देखते हुए। और यही कारण है कि आज जहां मानवकी रक्षाके-लिये प्रत्येक देशमें शक्तिशाली राज्य स्थापित हैं, वहां अन्य जीवोंकी रक्षाके-लिये कोई शासक या समाज नहीं है। अधिकसे अधिक कहीं दिखाई भी दी तो गोरक्षक समाज मिलती है। इससे भी आगे कोई बढ़ा तो पशु-पक्षीको जीवकी कोटिमें गिन लिया। इन बेचारे मक्खी, मच्छर, चींटी, भिरं, सर्प, बिच्छू, मेंढक, मछली आदिकी बात पूछनेवाला यहां कोई नहीं है। फिर भी यदि समझाने बुझानेपर कोई और कुछ आगे बढ़े भी तो प्रत्यक्षमें चलते फिरते दीखनेवाले इन स्थूल दो इन्द्रिय तकके जीवोंको भले ही स्वीकार करले परन्तु माइक्रोस्कोपसे दीखनेवाले छोटे शरीरके धारी उस ही जातिके जीवोंको, तथा पांच भेदरूप पृथ्वीसे वनस्पति पर्यन्त तकके एकेन्द्रिय जीवोंको कौन जीव स्वीकार करता है? इनको जीव कहना उनकी दृष्टिमें मानो कुछ कपोल-कल्पनासी लगती है परन्तु ऐसा नहीं है, अपनी स्थूल दृष्टिके कारण ही वह ऐसा कहता है। भाई! तू आया है शान्तिकी खोजमें। तू उन लोगोंकी अपेक्षा भिन्न रुचि लेकर आया है। अतः प्रत्यक्षज्ञानियों-द्वारा जानी गई इस सम्पूर्ण जीव-राशिको स्वीकार कर, क्योंकि ऐसा स्वीकार किए बिना तू अपने जीवनको संयमित न बना सकेगा। यदि केवल स्थूल चलते-फिरते जीवोंके सम्बन्धमें संयमित बना भी, तो आगे जाकर पूर्ण-संयमित न हो सकेगा। इन सूक्ष्म व एकेन्द्रिय प्राणियोंको बाधा न पहुँचानेका विवेक तुझमें जागृत न हो सकेगा। अविवेकके रहते शान्तिकी पूर्णता न कर सकेगा। और इनको स्वीकार कर लेनेपर तू इस व्योममण्डलके एक-एक प्रदेशपर जीवतत्त्वके दर्शन करेगा, तथा उसके आधारपर निजतत्त्वके और उसके स्वभावके अर्थात् शान्तिके।

३. <u>स्थावर कायमें जीवत्व सिद्धि</u>—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति, इन पांचोंमें स्थूल दृष्टिसे देखनेपर चेतन-तत्त्वका ग्रहण यद्यपि नहीं होता, जड़-वत्‌से भासते हैं, परन्तु इन पांचोंमें-से वनस्पति शरीरधारी प्राणियोंके सम्बन्ध

कुछ सूक्ष्म विचार करनेसे उनके प्राणधारी होनेका विश्वास इस अल्प-परोक्ष ज्ञानसे भी हो सकना सम्भव है। आजके विज्ञानने भी उनमें प्राणोंको स्वीकार किया है। तू भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा वनस्पतिमें प्राणोंके चिन्ह देख सकता है। देख, योग्य आहार जल आदिके न मिलनेपर वे बेचारे कुम्हला जाते हैं, पीड़ाको न सह सकनेके कारण बेहोश हो जाते हैं, और आहर मिल जानेपर पुनः सचेत हो जाते हैं, प्रसन्न होकर नाच उठते हैं। कुछ विशेष जातिकी मांसभक्षक वनस्पति झाड़ियां व घास भी देखनेमें आती हैं। अफ्रीकाके जङ्गलों में झाड़ियोंके रूपमें और भारतके वनोंमें घासके रूपमें पाई जानेवाली यह वनस्पति कितने भयानक रूपसे पशु पक्षी या मनुष्यको पकड़कर उसका खून चूस लेती है, यह बात सुनी होगी। नहीं सुनी हो तो सुन। इस जातिकी झाड़ियां खूब लम्बी-लम्बी बड़ी मजबूत कांटेदार टहनियोंवाली पाई जाती हैं, ऊपरकी ओर मुंह किये खड़ी रहती हैं, और इसी-प्रकारसे इस जातिका घास भी। अपने शिकारको निकट आया जान वे एकदम सबकी सब टहनियां झुककर उसके ऊपर गिर पड़ती हैं और लिपटकर इतनी फुर्तीसे उसके शरीरको बांध लेती हैं कि वह बेचारा स्वयं यह नहीं जान पाता कि अकस्मात् ही यह क्या आफ़त आ गई, यहां तो कुछ भी नहीं दिखाई देता? पर वनस्पतिमें प्राण न स्वीकार करनेवाला वह मानव यह न जानता था कि वनस्पतिका रूप धारण किये हुए उसका भक्षक यहां विद्यमान है। उन टहनियोंके अग्रभागकी नोकें उसके शरीरमें प्रवेश करके कुछ ही देरमें उसका रक्त चूस लेती हैं और ढांचा मात्र शेष रह जानेपर उस कलेवरको छोड़कर पुनः पूर्ववत् ऊपरकी ओर मुंह करके खड़ी हो जाती हैं। आहार या जलमें विष मिलाकर सिञ्चन किये जानेपर पेड़ पौधोंकी मृत्यु होती देखी जाती है। इसप्रकार वनस्पतियोंमें मनुष्योंवत् ही आहार ग्रहण करनेकी क्रियायें व भावनायें स्पष्ट देखनेमें आती हैं।

यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु कायके जीवोंमें इसप्रकार स्पष्ट रीतिसे प्राणोंकी सिद्धि नहीं होती जैसीकि वनस्पतिमें, परन्तु फिर भी खानोंमें पड़े सर्व ही खनिज पदार्थोंके शरीरोंकी वृद्धिका होना वहां उनके अन्दर जीवनको दर्शा रहा है, तथा खानमें-से निकल जानेपर उनकी वृद्धिका रुक जाना उनकी मृत्युको या प्राणोंके निकल जानेको दर्शा रहा है, क्योंकि खानमें पड़े पत्थरकी भांति ये अब बढ़ते दिखाई नहीं देते। बाढ़के समय जलका, तूफानके समय वायुका और पवनसे ताड़ित होकर अग्निका प्रत्यक्ष दीखनेवाला प्रकोप जिसके सामने मनुष्यकी शक्ति हार मानती है, उन पदार्थोंमें जीवनका द्योतक है, प्राणोंको सिद्ध करता है। प्रत्यक्ष-ज्ञानियोंने तो प्रत्यक्ष ही उनमें प्राणोंको देखा है, इन सबको सुख दुखका वेदन करते हुए जाना है, परन्तु कुछ व्यक्ति वर्तमानमें

भी वृक्षोंके हावभाव परसे तथा उनके हिलने डुलने परसे उनकी अन्तरंग पीड़ा या हर्षके भावोंको पहिचाननेमें समर्थ हैं। अतः विश्वास कर कि इन पांचों जातिके एकेन्द्रिय जीवोंमें प्राण हैं, उन्हें भी सुख-दुखका वेदन होता है, उनमें भी कुछ इच्छायें या आकांक्षायें छिपी हैं। माइक्रोस्कोपसे दीखनेवाले द्वीन्द्रिय आदि जीव प्रत्यक्ष ही चलते फिरते दिखाई देते हैं, और एकेन्द्रिय जीव बैक्टेरिया आदि बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। विशेष प्रक्रियाओंके प्रयोग द्वारा प्रयोगशालाओंमें ४ या ५ दिनोंमें ही उनका वृद्धिगत रूप कदाचित् कुछ झाड़ियोंके रूपमें ऊपर भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है, तथा सौभाग्यवश आजके विज्ञानने उनको प्राणधारी स्वीकार किया है।

४. <u>अन्तस्तत्त्व</u>—कहांतक करता फिरूं मैं इनकी सिद्धि और कहांतक करता फिरूं मैं इनकी गिनती? क्या लाभ है व्यर्थकी इन तर्कणाओंसे? अन्धकारमें हाथ मारनेसे क्या कुछ मिलता है किसीको? अनन्त काल बीत गया यही तर्कणायें करते-करते। तर्कणायें ही क्यों, मैंने स्वयं जा-जाकर देखा है चारों गतियोंमें, स्वयं धार-धारकर देखा है पांचों इन्द्रियोंको और दशों प्राणोंको और स्वयं ओढ़-ओढ़कर देखा है छहों कायोंको, पर उस 'मैं' का पता नहीं चला कहीं भी मुझे, जिसे खोजनेका उद्देश्य लेकर कि यह महा-पुरुषार्थ प्रारम्भ किया था मैंने। चलता भी कैसे? घरमें खोई हुई सुईको सड़कपर खोजने जाऊं तो क्या मिलेगी? 'मैं' को 'मैं' में न खोजकर मैंने उसे आकाशमें खोजा तथा खोजा ऊपर संकेत किये गए विभिन्न जातिके चौरासी लाख शरीरोंमें। कैसे पता चलता उसका? 'मैं' को 'मैं' में न खोजकर मैंने खोजा स्त्री व पुरुषमें, काले-गोरेपनेमें, धनवान व निर्धनमें, प्राकृतिक सुन्दरताओं व विकारोंमें, तूफानोंमें व बाढ़ोंमें, झोंपड़ियोंमें व महलोंमें। पर कैसे मिलता वह वहां, जबकि वहां वह था ही नहीं? और आज भी इस उन्नत विज्ञानकी सहायतासे बड़े-बड़े आविष्कारोंके द्वारा अनुसन्धान शालाओंमें, मैं बराबर खोज रहा हूं इसको, पर व्यर्थ।

आज परम-सौभाग्यसे इन वीतराग गुरु देवकी शरणको प्राप्त हो, मानो मैं कृतकृत्य हो गया हूं। इतने कालमें इसकी खोजके पीछे व्याकुल होकर भटकता हुआ मैं आज इनकी कृपासे इस रहस्यको पाकर कितना सन्तुष्ट हुआ हूं, कह नहीं सकता, मानों मेरा भ्रम ही मिट गया है। आज उसे जानकर मुझे स्वयं अपने ऊपर हंसी आ रही है। कितनी सरलसी बात थी और कितना भटका इसके पीछे। यह भ्रमकी ही कोई अचिन्त्य महिमा थी, जो आजतक मुझे इसके दर्शन नहीं होने देती थी। आज गुरुदेवके प्रसादसे यह भ्रम दूर हो

गया और मैं जान पाया कि वह मेरे अत्यन्त निकट है, जिसे मैं इतनी-इतनी दूर खोजने गया।

बिचारिये तो सही कि कोई हीरेकी अंगूठी आप तिजोरीमें रखनेको जाते हो, मार्गमें मैं मिल जाऊं और आपको कोई आवश्यक काम बता दूं। आप अंगूठीको अपनी अगुलीमें पहनकर काममें जुट जायें। सांझ पड़े घर आयें तो अंगूठी याद आये। हैं!कहां गई? तिजोरीमें पुनः-पुनः देखें, सन्दूक खोलें, रसोई घरमें एक बर्तनको उठाकर और कभी दूसरेको, सम्भवतः उन्हें ठोक-ठोककर भी देखने लगें, कि कहीं ये बर्तन निगल ही न गये हों उसे। और व्याकुलतामें न मालूम क्या-क्या करने लगें। पर क्या इसप्रकार वह अंगूठी मिलेगी? यदि मैं आपस पूछुं कि क्यों जी, उस अंगूठीका ढूंढ़ना सरल है कि कठिन, तो क्या कहोगे? न सरल कहते बनता है न कठिन। जबतक नहीं पाली तबतक कठिन और अंगुलीपर दृष्टि जानेके पश्चात्, क्या सरल और क्या कठिन? ढूंढ़नेका प्रश्न ही कहां है? और यह गई ही कहां थी? इसका ढूंढ़ना तो सरल था न कठिन, मेरे भ्रमका दूर होना ही कठिनसा था।

बस तो इसप्रकार भो चेतन! तू व्यर्थ ही इधर-उधर भटक रहा है। जिसे तू खोजना चाह रहा है वह तो यहां ही है, तेरे अत्यन्त निकट। निकट भी क्या, तू स्वयं ही तो है वह। किधर देख रहा है बाहरकी ओर? उधर कुछ नहीं है, उधर तो यह चमड़े हड्डीका कुछ ढेर मात्र ही पड़ा है। वह शरीर है, तू नहीं। इधर देख भाई! इधर देख। अरे! फिर उधर ही? उधर नहीं, इधर देख। मैं जिस ओर संकेत कररहा हूं, उधर देख। अरे! फिर उधर ही? अरे भाई, देख इस अंगुलीकी बिल्कुल सीधमें, उस निशानेपर, जहांसे यह 'मैं' की ध्वनि चली आ रही है, जहांसे शान्तिकी इच्छा प्रगट होती दिखाई दे रही है, जहां सुख-दुखका वेदन हो रहा है, जहां विचारनाओंका काम किया जा रहा है। नेत्र इन्द्रियसे देखनेका प्रयत्न मत कर भाई! इन्हें बन्द करके देख कुछ अपने ही अन्दर डुबकी लगाकर, अपनेसे ही प्रश्न करके उत्तर ले। 'मैं' की ध्वनि-स्वरूप अन्तरंगमें होनेवाली हे विशेष वाणी तू कौन है? दुख-सुखमें हाय व वाह-वाह करनेवाले अन्तरंगमें प्रतीत होनेवाले हे परमतत्त्व तू कौन है? 'मुझे शान्ति चाहिए' 'मुझे शान्ति चाहिये' हर समय इस प्रकारकी टेर लगानेवाले, तू कौन है?

अरे! यह क्या? 'तू' किसे कह रहा है? यह स्वयं मैं ही तो हूँ। अन्तरंगमें प्रकाशमान, स्वानुभव-गोचर, अमूर्तीक, इन्द्रियातीत, चैतन्य-विलासरूप, शाश्वत, परब्रह्म, यह 'तू' मैं ही तो हूँ। क्योंकि, यह देख—प्रश्न करनेवाला

कौन? 'मैं'। प्रश्नका उत्तर देनेवाला कौन? 'मैं'। सर्वत्र 'मैं' ही 'मैं' तो हुआ। 'तू' को कहां अवकाश रहा? कितना बड़ा आश्चर्य, बगलमें छोरा और नगरमें ढंढोरा। 'दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार, जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली'। व्यर्थ ही इधर-उधर दूर-दूर भटकता रहा, ठोकरें खाता रहा, कष्ट सहता रहा, पर जिसे ढूंढता रहा, वह स्वयं 'मैं' ही तो था।

चार ब्राह्मण-पुत्र बनारससे पढ़कर आये। मार्गमें नदी पड़ी। चारों पार हो गए। उस पार पहुँचनेपर गिनने लगे। चारोंने गिना पर संख्या तीन ही थी। एक कौनसा डूबा? क्या मैं डूबा? नहीं मैं तो हूँ। क्या ये डूबे? नहीं ये तो हैं। पर एक, दो, तीन, चौथा कहां गया? बस वही हालत थी मेरी अबतक। निगोदसे लेकर मनुष्यतक सारे शरीरोंको गिन डाला, पर अपनेको गिनना सदा ही भूलता रहा। आश्चर्यकी बात, अपनी मूर्खता न कहूं तो क्या कहूं इसे? चला हूँ शान्ति लेने, पर यह पता नहीं कि शान्ति भोगेगा कौन? चला हूं लड्डू खाने, पर यह पता नहीं कि इसे उठाकर मुंहमें देनेवाला कौन?

समझ चेतन! समझ, तुझे इस 'मैं' का लक्षण दर्शाता हूँ। जिसमें जाननेका कार्य हो रहा है, जिसमें कुछ चिन्तायें उत्पन्न हो रही हैं, जिसमें सुख-दुख महसूस किया जा रहा है, जिसमें विचारनेका काम चल रहा है। वह एक चेतन तत्त्व है, ज्ञानात्मक तत्त्व, इन्द्रियातीत-अमूर्तीक-तत्त्व। निगोद आदिक रूपोंमें एक वही तो प्रकाशमान हो रहा है, वही तो ओतप्रोत हो रहा है। वे सर्व इसीकी तो कोई अवस्थायें हैं, जिनका निर्माण अपनी कल्पनाओंके आधापर स्वयं इसने किया है, जिसके होनेसे ही ये सब चेतन हैं और जिसके न होनेसे ही जड़। इसलिये ईश्वर, परब्रह्म व जगतका सृष्टा यही तो है। परमात्मा व प्रभु इसीका तो नाम है। अचिन्त्य है इसकी महिमा। उसी परम-तत्त्वका नाम 'मैं' है। इसीको आगमकार जीव व आत्मा कहते हैं, कोई इसे 'सोल' कहते है, कोई इसे 'रूह' कहते हैं। पर इन सब नामोंकी अपेक्षा इसका नाम 'मैं' लिया जाना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'मैं' शब्दको सुनकर साक्षात् रूपसे मेरा विकल्प उस परम-चेतन-तत्त्वकी ओर आता है, और जीव या आत्मा सुनकर मैं इसे कहीं अन्यत्र खोजने लगता हूँ। देखिये, क्या अनेकों बार मेरेमें यह विकल्प उत्पन्न होता नहीं देखा जाता कि एक दिन मैं भी मरूंगा, लोग मुझे अर्थीपर लादकर ले जायेंगे और जला देंगे, और यह आत्मा इसमें-से निकलकर कहीं अन्यत्र जाकर जन्म धारण कर लेगा? मानोकि वह आत्मा मुझसे पृथक कोई दूसरा पदार्थ हो। इसलिये इस सब लम्बे वक्तव्यमें मैं जीव शब्दके स्थानपर 'मैं' शब्द-

का प्रयोग करूंगा। बिल्कुल उसीप्रकार जिसप्रकार कि क्राइस्टने 'बाईबल' में, और वेद-व्यासजी ने 'गीता' में किया है।

जितना छोटा शब्द उतना ही महान तत्त्व। एक अक्षरवाले इस छोटेसे शब्दका वाच्य यह महातत्त्व यद्यपि साधारण दृष्टिसे देखनेपर दीखता है केवल देह प्रमाण, वायुकी भांति संकोच-विस्तार द्वारा यथालब्ध छोटे या बड़े शरीरमें समा जानेवाला; तदपि तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर यह है विभु, सर्वव्यापक, सर्वगत।

"आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥"

आत्मतत्त्व वास्तवमें ज्ञानप्रमाण है, अर्थात् वह शरीरादिकी भांति उठाई धरी जानेवाली वस्तु नहीं है, प्रत्युत है ज्ञानमात्र। ज्ञान अर्थात् चिज्ज्योति ही उसका स्वरूप है। इसीलिये ज्ञानीजन उसे 'भा' 'ज्ञ' 'चिन्मात्र' कहते हैं। और यह ज्ञान या चिज्ज्योति है ज्ञेयप्रमाण अर्थात् दर्पणकी भांति जो कुछ भी इसके समक्ष आये उस सबको अपने भीतर प्रतिबिम्बित कर लेनेवाला, उस सबको ग्रस जानेवाला। अब प्रश्न होता है यह कि 'ज्ञेय' क्या? जो जाना जाने योग्य हो वही ज्ञेय। तीन लोकमें कौनसी ऐसी वस्तु है जो जानी जाने योग्य न हो? सभी इस महिमावन्त ज्ञानके प्रति अपना स्वरूप अर्पण कर रही हैं, लोक तथा तद्गत वस्तुयें ही नहीं, उसके बाहर स्थित आकाशका वह अनन्त भाग भी जहां कि आकाशके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं, और इसलिये 'अलोक' कहलाता है जो। लोक तथा अलोक सभी ज्ञेय हैं, सभी इस महिम्नकी उपासना कर रहे हैं, इसके चरणोंमें अपनी श्रद्धाञ्जलियें अर्पण कर रहे हैं। इसलिये सर्वगत है यह। जहां जाना चाहे वहां चला जाये, जिसे जानना चाहे उसे ही जान ले। चला जानेका यह अर्थ नही कि शरीरकी भांति इसे पांवसे चलकर ज्ञेयके पास जाना पड़े, प्रत्युत यह है कि ज्ञेय स्वयं चलकर इसके पास आ जाते हैं, जिसप्रकार कि पदार्थ स्वयं आकर दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। और इसलिये आत्मा या जीव-तत्त्व है वास्तवमें विभु, सर्वव्यापक, सर्वगत।

बात कुछ नई सी लगती है, क्योंकि आजतक यही सुनते चले आये हैं कि आत्मा तो देहप्रमाण होता है, और अपनी संकोच-विस्तार शक्तिके द्वारा यथा-प्राप्त छोटे या बड़े जिसकिस भी शरीरमें समाकर रह जाता है। ठीक है भाई! तूने भी गलत नहीं सुना है। दृष्टिभेद है। वह बात ज्ञानियोंने किसी और दृष्टिसे कही है और यह बात किसी और दृष्टिसे कही जा रही है। वहां है इन्द्रिय आदि दश प्राणोंकी अपेक्षा और यहां है उन दश प्राणोंके भी प्राण किसी

महाप्राणकी अपेक्षा, जिसके प्राणसे अनुप्राणित हैं ये सब, जिसकी दीप्तिसे दीप्तिमन्त है यह लोक और जिसके आलोकसे आलोकित है असीम अलोक। दश प्राणोंसे जो जीता है, जीता था तथा जीवेगा, वह कहलाता है जीव परन्तु इस चेतन प्राणसे, इस लोकालोक व्यापी ज्ञान प्राणसे जो जीता है, जीता था और जीवेगा, उसे क्या कहें? समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म ज्ञेयोंको अपने एक छोटेसे कोनेमें समेट लेनेवाले इस महातत्त्वको क्या कहें? कौन कर सकता है बखान उसका शब्दोंमें? केवल स्वानुभव गोचर है वह, केवल रसास्वादनरूप है वह। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं उसे सच्चिदानन्द भगवान् आत्मा। सत्ताधारी मौलिक पदार्थ होनेके कारण 'सत्', चिन्मात्र होनेके कारण 'चित्', और आनन्दानुभूति-रूपसे परिचयमें आनेके कारण 'आनन्द'। ज्ञान, दर्शन, वैराग्य, समता, सुख, शान्ति, वीर्य आदि अनन्त ऐश्वर्यका नित्य उपभोग करते रहनेके कारण भगवान् है वह, और स्वयं मेरा निजस्वरूप होनेके कारण 'आत्मा'।

"उत्तम गुणाणधामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं।
तच्चाण परं तच्चं, जीवं जाणेह णिच्छयदो॥"

भले ही साधारण-जनोंको समझानेके लिये 'जीव' नामसे कहा गया हो यह, परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो सर्व गुणोंका धाम यह महातत्त्व सर्व द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है और सर्व तत्त्वों में उत्तम तत्त्व है।

<u>५. शान्ति मेरा स्वभाव</u>— गुरुओंके प्रसादसे सच्चिदानन्द भगवान्‌के अथवा निज परम चेतन तत्त्वके दर्शन कर लेनेके पश्चात्, इससे पहले कि मैं शान्तिमें बाधक अन्य पदार्थोंके स्वरूपका वर्णन करूं, यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह शान्ति क्या है और कहां रहती है? क्योंकि शान्तिका निवास जाने बिना, 'मैं इसकी रक्षा कहां जाकर करूं' यह शंका बनी रहेगी। पूर्वकथित सात बातोंमें इस प्रश्नका अन्तर्भाव पहली बातमें अर्थात् 'मैं क्या हूं' वाले प्रश्नमें हो जाता है। क्योंकि 'मैं' का लक्षण करते हुए उस लक्षणके अंग-स्वरूप एक बात यह भी कही गई है कि जिसमें-से शान्तिकी इच्छा उत्पन्न हो रही है, वही 'मैं' हूं। शान्तिकी यह इच्छा ही शान्तिकी ओर मेरे झुकावको सिद्ध करती है। स्वतन्त्र रूपमें जिस ओर वस्तुका झुकाव होता है उसे स्वभाव कहते हैं, जैसेकि अग्निके द्वारा गरम किया गया जल अग्निके सम्पर्कसे जुदा होकर स्वतन्त्र रूपसे शीतलताकी ओर ही झुकता है, और यदि देरतक पुनः अग्निका संयोग प्राप्त न होने पावे तो वह स्वयं शीतल हो जाता है। इसलिये जलका स्वभाव उष्ण न होकर शीतल है। इसीप्रकार अगले प्रकरणोंमें बताये जाने वाले अन्य पदार्थोंसे सम्पर्क दूर होनेपर मैं स्वतन्त्र रूपसे शान्तिकी ओर ही

झुकता हूं। विरोधी दूर हो जानेपर मेरा झुकाव शान्त होनेके प्रति ही होता है। अतः मेरा स्वभाव शान्ति है, भले अन्यके सम्पर्कमें आकर अशांत हो रहा हूं। इसलिये 'शान्ति क्या है'और 'शान्ति कहां है' इन दोनों प्रश्नोंका अन्तर्भाव, 'मैं क्या हूँ' इस पहले प्रश्नमें हो जाता है। अतः इस स्थानपर इसकी व्याख्या कर देना योग्य है। 'शान्ति क्या है?' इसके सम्बन्धमें अधिकार न०३ में साधारणतः चार प्रकारकी शान्तिका प्रदर्शन करते हुए काफी प्रकाश डाला जा चुका है। अब 'शान्ति कहां है' यह बात चलती है।

'मुझे सुख चाहिये' 'मुझे सुख चाहिये' हरदम अन्तरमें उठनेवली इसप्रकार की पुकारसे प्रेरित हुआ मैं आजतक, क्या खाली बैठा रहा? क्या मैंने आज तक उसे नहीं खोजा? नहीं ऐसी बात नहीं है, जिसप्रकार आजतक मैं अपनेको खोजता फिरा, उसीप्रकार इस शान्तिकी खोज भी कुछ कम न की, और आज भी बराबर कर रहा हूं।

६. शान्तिकी खोज—अनादि कालके इस भव-सतापसे संतप्त होकर मैंने विचारा कि मेरा ज्ञान ही सम्भवतः अशान्तिका कारण है। यदि इसका विनाश हो जाय तो अशान्तिका वेदन कौन करेगा? यह विचारकर अपने ज्ञानको मूर्छित कर सदियों पड़ा रहा मैं अचेत निगोद अवस्थामें, इस बातका अनुभव करनेके-लिये कि सम्भवतः मुझे शान्ति मिल जाय, परन्तु वह न मिली। यद्यपि अचेत हो जानेके कारण मुझे कुछ बाह्य बाधाओं सम्बन्धी कष्ट प्रतीत न हो सका, और कुछ अशांति व व्याकुलताका भान भी न हो सका, तदपि मैं शान्तिका भी अनुभव न कर सका। जैसेकि क्लोरोफार्म सुँघाकर अचेत किये गये रोगीको भले उससमय आपरेशनका कष्ट प्रतीत न हो, पर इस परसे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुखी है, बल्कि वेहोशी दूर हो जानेपर अवश्यमेव उसे बड़े कष्ट का वेदन हो जानेवाला है, इस अपेक्षासे उसे दुखी कहा जा सकता है। इसीप्रकार 'निगोद अवस्थासे कभी भी सचेत होनेपर मुझे अशान्ति का वेदन ही होगा' इस अपेक्षा तथा 'अज्ञान स्वयं दुख है' इस अपेक्षा मैं वहां इस ज्ञानहीन दशामें भी शान्तकी बजाय अशान्त ही बना रहा।

'मैं' की खोजके अन्तर्गत बताये गये क्रमसे मैंने पृथ्वीसे मनुष्य व देव पर्यन्त अनेकों विचित्र रूप धरकर इसे खोजा, पर सदा अशांत बना रहा। शान्तिकी खोजमें जहां भी मैं गया, मेरे विश्वासके विरुद्ध वहां ही अनेकों बाधायें सहनी पड़ीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिके रूपोंमें रह-रहकर कुदालियोंकी चोट, ऊपरसे नीचे गिराये जानेका कष्ट, पंखेसे ताड़ित होनेकी पीड़ा, कुल्हाड़ियोंसे काटे जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। दो इन्द्रियोंसे पंचेन्द्रिय तकके

छोटे रूपोंमें रहते हुए कुचले जाना, अग्निमें जलाये जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियोंके रूपमें रहते हुए गाड़ीवानके हंटरों तथा डंडोंके-द्वारा तथा गरमी सर्दीके द्वारा प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखनेमें आनेवाले कष्ट सहे, जिनको सहस्र जिह्वाओंके द्वारा भी कहा जाना शक्य नहीं है। मनुष्योंमें आया तो परस्परकी लड़ाई, मारपीट, द्वेष आदिके अतिरिक्त धनोपार्जन सम्बन्धी वचनातीत चिन्ताओंके द्वारा आज प्रत्यक्ष दुःख सह रहा हूं। नारकियोंके दुखोंका तो ठिकाना ही क्या, देवोंमें जाकर भी मुझे चैन न मिला। अन्य देवोंकी सम्पत्तिको देखकर उठी हुई अन्तर्दाहमें जलता रहा। गया शान्ति खोजने, मिली अशान्ति।

मैंने इसे ठण्डे, गरम व चिकने रूखे पदार्थोंमें खोजा; खट्टे, मीठे व चर्परे पदार्थोंमें खोजा; सुगन्धिमें खोजा, नृत्योंमें खोजा, सिनेमा-थियेटरोंमें खोजा, मधुर गीत वादित्रमें खोजा, सुन्दर वस्त्रोंमें खोजा, बड़े-बड़े महलोंमें खोजा, हीरे पन्ने माणिकमें खोजा, स्वर्ण रतनमें खोजा, बर्तनों व फर्नीचरमें खोजा, स्वादिष्ट पदार्थोंमें खोजा, क्रीम पाउडरमें खोजा, परन्तु फिर भी अशान्त बना हुआ हूं। राजा व चक्रवर्ती बनकर खोजा, दूसरोंको दास बनाकर खोजा, एटमबम बनाकर खोजा, चन्द्र सूर्य तक जा-जाकर खोजा और कहां नहीं खोजा, सर्वत्र खोजा पर आजतक अशान्त बना हुआ हूँ। प्रत्यक्षको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं, मेरा अपना इतिहास है कौन नहीं जानता?

७. जलमें मीन प्यासी —बड़ी विचित्र बात है कि पुरुषार्थ करूँ शान्तिका, और मिले अशान्ति? भोजन खाऊं और पेट न भरे? परन्तु ऐसा वास्तवमें नहीं है। भोजन किया तो सही पर मुंहमें डालकर नहीं, शरीरपर पोतकर। कैसे पेट भरे? पुरुषार्थ किया तो सही, पर जिस दिशामें करना चाहिये था उस दिशामें नहीं। आश्चर्य है इस बातका कि असंतुष्ट रहता हुआ भी आज तक मेरे हृदयमें यह बात उत्पन्न न हुई कि सम्भवतः कहीं न कहीं मेरी भूल रह रही है पुरुषार्थ करनेमें। क्योंकि पुरुषार्थका फल भले अल्प हो, पर उल्टा नहीं हुआ करता। रोग शमन न होते हुए भी औषधि बदलकर आजतक न देखा। एक द्वारसे मार्गका पता न चलनेपर भी दूसरे द्वारकी ओर जाकर न देखा। पूर्वकथित (ट्रायल एण्ड एरर थियोरी) सिद्धान्तपर न चला। फिर क्यों न होती असफलता? सिद्धान्तके निरादरसे और निकलना ही क्या है? खोज की, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिको छोड़कर, केवल पूर्व-अभ्याससे प्रेरित होकर, एक ही दिशामें।

आज महान सौभाग्यवश शान्ति-भण्डार वीतरागी गुरुकी शरणमें आकर

भी क्या इसे न खोज सकूंगा ? नहीं नहीं, अब इसे अवश्य खोज निकालूंगा । गुरुवरने वास्तविक वैज्ञानिक सिद्धान्तके प्रयोग द्वारा उसे खोज निकाला है, अपनी जीवनकी प्रयोगशालामें बैठकर । यही मार्ग मुझको बता रहे हैं कि प्रभु ! इस नई प्रयोगशालामें अर्थात् अपने चेतनघन स्वरूपमें आकर इसे खोज, इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी भोगोंमें नहीं । वहां इसका साया भी नहीं है, न मालूम क्यों तुझे वहां ही अपनी शान्तिके होनेका भ्रम हो गया है ? सम्भवतः इस कारणसे हो कि उनके भोगके समय किंचित् शान्तिसी प्रतीत होती है। परन्तु भाई वह सच्ची शान्ति नहीं है, अशान्तिको और भी भड़का देनेके-लिये दावानल है । चार प्रकारकी शान्तिका स्वरूप दर्शाते हुए पहले ही इस बातको सिद्ध किया जा चुका है ।

'जलमें मीन प्यासी, मुझे सुन-सुन आवे हांसी ।' एकबार कोई जिज्ञासु' गुरुसे जाकर पूछने लगा कि प्रभु ! शान्ति दे दीजिये । कहने लगे कि इतनी छोटीसी वस्तु देते हुए मैं क्या अच्छा लगूं । जाओ, सामने नदीमें एक मगरमच्छ रहता है, उससे जाकर कहना, वह देगा तुम्हें शान्ति । नदीपर गया, मगरको आवाज़ लगाई और गुरुका आदेश कह सुनाया । मगर बोला, शान्ति अवश्य दे दूंगा परन्तु कुछ प्यास लगी है । पहले पानी पिला दो पीछे दूंगा । पथिक यह सुनकर हंस पड़ा और एकाएक निकल पड़ा उसके मुखसे वही उपरोक्त वाक्य 'जलमें मीन प्यासी, मुझे सुन-सुन आवे हांसी' । मच्छ बोला, जा यही उपदेश है शान्तिकी खोजका । शान्तिमें वास करनेवाले भो जिज्ञासु ! शान्ति-सागरमें रहते हुए भी शान्तिकी खोज करता फिरता है, बड़े आश्चर्यकी बात है ।

तू तो स्वयं शान्तिका मन्दिर है, शांति तेरा स्वभाव है । जो पुरुषार्थ तू कर रहा है वह भले ही तू शांतिका समझकर कर रहा है परन्तु वास्तवमें शांतिका नहीं है, अशान्तिका है । भोगोंकी प्राप्तिके प्रति प्रयत्न करना इच्छाओंकी अग्निमें घी डालना है । क्योंकि भोगोंकी अधिकाधिक उपलब्धिके द्वारा इच्छाओं में गुणाकार होता देखा जाता है (देखो ५.४) । अतः इस दिशासे, अर्थात् भोगसामग्री या किसी अन्य पदार्थसे अपने उपयोगको हटाकर वहां लगानेसे शांतिकी प्राप्ति हो सकती है जहां कि उसका वास है अर्थात् निज स्वभावमें एकाग्र होना ही शान्ति प्राप्तिके प्रति स्वाभाविक पुरुषार्थ है । उसीका कारण व उपाय अगले प्रकरणोंमें दर्शाया जायगा ।

८

अजीव-तत्त्व

१. द्विविध-जगत—अहो! वीतरागी गुरुओंकी शरण, उनकी महान करुणा तथा यह महान अवसर कि जिसके प्रसादसे आज मैं अपनी महिमा जान पाया, स्वयं अपने दर्शन करनेको समर्थ हो सका। जिनकी कृपासे आज मेरी भव-भव की इच्छा पूर्ण हुई, संताप मिटा, शान्तिके प्रति सच्चा पुरुषार्थ जागृत हुआ, अतुल प्रकाश मिला, और वह बड़ी भूल भागी जो अनादि कालसे बिना किसी से सीखे बराबर पुष्ट होती चली आ रही थी, अर्थात् 'मैं' को 'मैं' में न खोजकर अन्यमें खोजना जो स्वयं विचार करनेसे 'मैं' रूप भासते नहीं, जिनमें 'मैं'-कार अर्थात् अहं प्रत्ययका नाम नहीं, जो सुख-दुखका स्वयं अनुभव कर सकते नहीं, जिनमें स्वयं विचार करनेकी शक्ति नहीं, जो चैतन्यवत् दीखते हैं अवश्य पर वास्तवमें अचेतन हैं, जिनके पीछे भ्रमता हुआ आजतक अपनी शान्तिको खोजता हुआ मैं अशान्त बना रहा, संतप्त व व्याकुल बना रहा।

देख तो चेतन ! जरा अपनी मूर्खता, स्वयं हंसी आ जायेगी अपने ऊपर। 'मैं' शब्द निकलते ही किस ओर जाना चाहिये था तेरा लक्ष्य, और किस ओर जा रहा है वह? उस विचारशील अन्तरंगमें प्रकाशमान सुख व शान्तिके भण्डार परब्रह्म परमेश्वर-स्वरूप, 'अहं प्रत्यय' के तथा चैतन्य तत्त्वके प्रति न जाकर तू उलझा जाता है शरीरमें, इसके पृथ्वीसे मनुष्य पर्यन्त तकके अनेक आकारों में, इसकी इन्द्रियोंमें, इसके स्त्री पुरुष नपुंसक चिन्होंमें ? तू खोजने लगता है अपनी महिमा इसमें, अपनी शान्ति इसमें, मान बैठता है इसके जन्ममें अपना जन्म, इसकी मृत्युमें अपनी मृत्यु, इसके नाममें अपना नाम, इसके विनाशमें अपना विनाश, इसकी बाधामें अपनी बाधा, इसकी रक्षामें अपनी रक्षा, इसकी भूलमें अपनी भूल, इसकी नग्नतामें अपनी नग्नता, इसके इष्टमें अपना इष्ट;

इसके अनिष्टमें अपना अनिष्ट, इसके नातेदारोंको अपना नातेदार, इसके सेवक को अपना सेवक, इसके घातकको अपना घातक, इसके माता-पिताको अपना माता-पिता, इससे निर्मित धनादि पदार्थोंको अपने पदार्थ, इसके कार्यको अपना कार्य, और न मालूम क्या-क्या ?

परन्तु भो 'मैं' ! क्या विचारा है तू ने कभी यह कि इन्द्रियोंसे दिखने-वाला बाहरका यह स्थूल जगत वास्तवमें क्या है, और इसके अतिरिक्त यहां कुछ अन्य है या नहीं ? तनिक देख अपने भीतर उतरकर और खुल जायेगी इस ढोलकी पोल। स्थूल-शरीरोंके संग्रहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है इस अजायबघरमें। कोई है पृथिवी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति इन पांचमेंसे किसी एक स्थावर-कायिक जीवका शरीर, और कोई है चींटीसे मनुष्य पर्यन्त तकके विविध जीवोंमेंसे किसी एक त्रसकायिक जीवका शरीर; कोई है सजीव, कोई है निर्जीव और कोई है इनमेंसे किन्हीं दो चार आदि शरीरोंका सम्मिश्रण। इनके अतिरिक्त और क्या दिखता है तुझे यहां ?

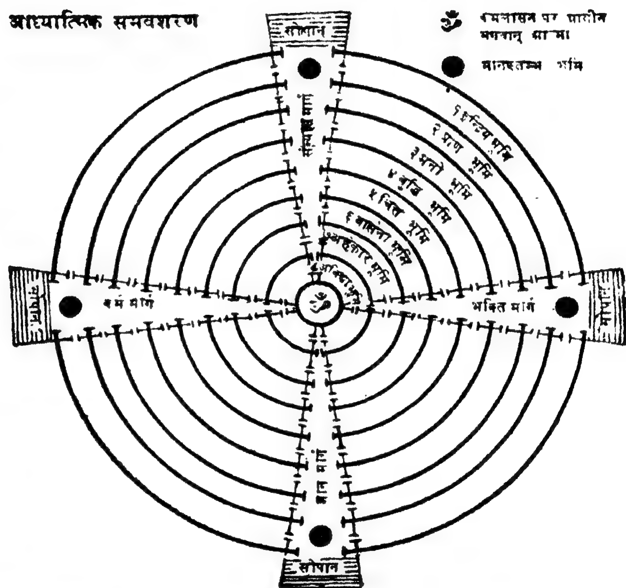
पृथिवी आदिकी तो बात नहीं क्योंकि वे तो नाम-मात्रको ही हैं चेतन तेरे लिये, चींटीसे मनुष्य पर्यन्तके जो प्राणी चेतन दिखते हैं तुझे वे कौन हैं— चेतन तत्त्व या उसके शरीर ? क्या इन्द्रियोंके द्वारा बाहरमें चेतन तत्त्व दृष्ट होता है किसीको ? उनकी बाहरी चेष्टाओंको देखकर भले कहले तू उन्हें जीव या चेतन, परन्तु वास्तवमें जो तुझे दीख रहा है वह तो उसका शरीर है। इसप्रकार चेतन दीखनेवाले सब पदार्थ शरीर हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। और ये जिन्हें कि तू जड़ कहता है, क्या शरीरके अतिरिक्त कुछ और हैं ? निर्जीव शरीर ही तो हैं ये किन्हीं तेरे भाइयोंके अथवा स्वयं तेरे, जिन्हें तू अब पीछे छोड़ आया है। देख ! यह मकान, मशीनें, जेवर, बर्तन आदि क्या हैं ? पृथिवीकायिक किसी जीवके मृतशरीर या कुछ और ? और इसी-प्रकार जल, अग्नि तथा वायु जिनका तू नित्य सेवन कर रहा है अपने प्रत्येक कार्यमें, क्या हैं? अप्, तेज तथा वायु-कायिक जीवोंके मृतशरीर या कुछ और ? अन्न जो तू खाता है, वस्त्र जो तू पहनता है, कुर्सी पलंग आदि जिनपर तू बैठता है अथवा सोता है, कागज जिसपर तू लिखता है इत्यादि इत्यादि सर्व वस्तुयें क्या हैं ? वनस्पति-कायिक जीवके मृतशरीर या कुछ और ? इसप्रकार शरीर-संघातके अतिरिक्त कुछ नहीं है यहां, इस बाह्य जगतमें ! शरीर भी स्थूल न कि सूक्ष्म और इसीलिये अतिस्थूल है यह बाह्यजगत। कर्मों या संस्कारोंका जनक होनेके कारण तथा उनका जन्य होनेके कारण, उनको उत्पन्न करनेमें सहायक होनेके कारण तथा उन्हींके हेतुसे निर्मित होनेके कारण, आगम भाषामें कहा गया है इसे **'नोकर्म'**।

२. अभ्यन्तर-जगत–देख अपने भीतर बसनेवाले इस सूक्ष्म शरीरको, जो भले दिखता हो कुछ चेतनसा, परन्तु जड़ है जो बिल्कुल इस स्थूल शरीरकी भांति, अजीव तत्त्व है जो इस शरीरकी भांति। भले इस छोटेसे शरीरके भीतर स्थित हो वह परन्तु अनन्त है उसका विस्तार, सम्भवतः इस अखिल बाह्य प्रपञ्चसे भी अनन्तगुणा। कौन कर सकता है व्याख्या इसकी शब्दों द्वारा? देखा जा सकता है पर कहा नहीं जा सकता यह, और यदि कुछ कहनेका प्रयत्न भी करूं उसके प्रति तो कितना कुछ कह पाऊंगा मैं? उसके स्वरूपका अनन्तवां भाग भी न हो सके सम्भवतः वह। आगम-भाषामें कर्म नामसे प्रसिद्ध है यह, 'भाव-कर्म', और जैसाकि आगे बताया जाने वाला है, यही है भगवान् आत्माका यथार्थ बन्धन जिससे मुक्त होनेका प्रयास कर रहा है यह। उसके विभिन्न अंगोपांगोंका विवेचन करनेके लिए कोई स्वतन्त्र शब्द नहीं है मेरे पास, इसलिए इस स्थूल-शरीरके बाह्य तथा अभ्यन्तर विविध अंगोंके वाचक शब्दोंकी शरणमें जाना अनिवार्य है मेरे लिये। हाथ-पांव आदि अथवा नेत्रादि अथवा मन-बुद्धि आदि जिन जिन शब्दोंका प्रयोग मैं यहां करनेवाला हूं, मत समझ बैठना उन्हें मांस-पिण्ड-रूप कुछ। उनका वाच्य होगा अभ्यन्तरमें स्थित वह संचेतना शक्ति जिसके कारण कि काम कर रहे हैं स्थूल शरीरके ये सब अंगोपांग।

आओ अब चलो मेरे साथ, मैं सैर कराऊं तुम्हें अभ्यन्तर-जगतकी, चैतन्य महाप्रभुके समवशरणकी। इन नेत्रोंपर पट्टी बान्ध लीजिये थोड़ी देरके लिये। एक दूसरेको घेरकर स्थित आठ भूमियें हैं यहां, इस मेरे स्थूल शरीरके भीतर। प्रत्येक भीतर-भीतरवाली भूमि अपनेसे बाहर-बाहरवाली भूमिकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म परन्तु अधिक रहस्यमयी, जितनी सूक्ष्म उतना ही अधिक विस्तार अपने गर्भमें लिये हुए। और सबके भीतर मध्यमें स्थित हैं मेरे उपास्य चैतन्य-महाप्रभु, कमलासनपर, उससे भी चार अंगुल ऊपर अधर आकाशमें, सर्वथा अस्पृष्ट तथा अलिप्त, वहां जहां कि संगम होता है चार मार्गोंका—श्रद्धा-प्रधान भक्ति-मार्गका, ज्ञान-प्रधान ज्ञान-मार्गका, चारित्र-प्रधान कर्म-मार्गका और तपः प्रधान संन्यास-मार्गका। देख रहे हैं वे स्वयं अपनी यह बाह्याभ्यंतर लीला। चलो करें भगवान्‌के दर्शन। परन्तु सावधान, बच्चोंका खेल नहीं है वहांतक पहुंच जाना। आठों भूमियोंका अतिक्रम करना होगा एक-एक करके। सब कूड़ा-कचरा छन जाता है इस छलनीमें, केवल रह जाता है वह जिसकी दृष्टि इन आठों भूमियोंमें भ्रान्तिको प्राप्त नहीं होती, और जो बराबर आगे

बढ़ता चला जाता है। इन चार मार्गोंके द्वारा अपने लक्ष्यकी ओर। बिरला ही होता है वह कोई महा-भाग्य, और वही कर पाता है प्रवेश अष्टम-भूमि में जहां बैठे हैं उस ही जैसे विशुद्धहृदय अनेकों उपासक और सुन रहे हैं प्रभुका उपदेश। शेष सब अटककर रह जाते हैं, कोई पहली भूमिमें और कोई उससे आगे दूसरी तीसरी आदिमें, मग्न हो जाते हैं देखनेमें वहांके सुन्दर दृश्य तथा आकर्षक नाट्य।

लीजिये पहले सुन लीजिये उन आठों भूमियोंके नाम, फिर करूंगा क्रमशः उनकी व्याख्या—इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, वासना, अहंकार और अविद्या।



(१) प्रथम आती है 'इन्द्रिय'—भूमि। वह संचेतना शक्ति ही है इसका स्वरूप जिसकी चेष्टासे चेष्टाशील है पांचों कर्मेन्द्रियें—वाक् या वचनेन्द्रिय, हाथ, पांव, गुदाद्वार तथा जननेन्द्रिय, और जिसके प्रकाशसे प्रकाशित हैं पांचों ज्ञानेन्द्रियें—त्वचा, जिव्हा, नासिका, नेत्र और श्रोत्र। जिसके अभावमें जड़मात्र बनकर रह जाती हैं ये सब।

(२) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित द्वितीय-भूमि है 'प्राण'। वह प्रधान तेजो-शक्ति ही है इसका स्वरूप जिससे अनुप्राणित होती है हाथ, पांव आदि कर्मेन्द्रियोंको चेष्टाशील करनेवाली उनकी उपर्युक्त संचेतना। वायुका भीतर खिंचना, बाहर निकलना, नस-नसमें फैलकर उन्हें उत्तेजित करना तथा शरीरके रोम-रोममें व्यापकर इसे कान्ति प्रदान करना, ये सब हैं इसकी विविध स्फुरणायें, इसके बाह्य लक्षण।

(३) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित तृतीय-भूमि है 'मन'। कमलाकार मांस-पिण्डकी बात नहीं है यहां, है एक भावात्मक तत्त्वकी बात। संकल्प-विकल्प करना ही है इसका प्रधान स्वरूप। कोई भी कार्य प्रारम्भ करनेसे पहले जो 'मुझे यह काम करना इष्ट है' इत्याकारक एक स्फुरणा भीतरमें उदित होती प्रतीत होती है, उसीका नाम है 'संकल्प'। इसके उदित हो जानेके उपरान्त इसको केन्द्र बनाकर विविध विकल्प इसकी परिक्रमा करने लगते हैं, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी अणुमें एक प्रोटोन को केन्द्र बनाकर विविध अलैक्ट्रोन उसकी परिक्रमा करते हैं। 'इस प्रकार करूंगा, अमुककी सहायता लूंगा, यदि ऐसा न कर पाया तो सब चौपट हो जायेगा।' इत्यादि प्रकारके विचार ही 'विकल्प' कहलाते हैं जो उत्तरोत्तर द्विगुणित-द्विगुणित होते चले जाते हैं, यहांतक कि इतने घनीभूत हो जाते हैं कि ज्ञानेन्द्रियें उसके संकेतपर विषयोंकी ओर दौड़ने लगती है और कर्मेन्द्रियें उस कामको करनेके लिए चेष्टाशील हो उठती हैं। इस प्रकार समस्त इन्द्रियोंको प्रेरणा देना इसका कार्य है। 'यह कर, यह धर, यह ले, यह दे, यह छोड़, यह मांग' इत्यादि प्रकारके विकल्प हैं इसका अटूट कोश। अनन्त है इसका विस्तार, दसों इन्द्रियोंका स्वामी है यह, विस्मयकारी है इसका राज्य, परन्तु शान्तिके पुजारीकी दृष्टिमें क्या मूल्य है इसका? मत अटक यहां, चल आगे।

(४) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित चतुर्थ-भूमि है 'बुद्धि'। वह प्रधान विज्ञान-ज्योति ही है इसका स्वरूप जिसके प्रकाशसे प्रकाशित है यह मन तथा उसकी प्रजा, पांचों ज्ञानेन्द्रियें अर्थात् उनके पीछे बैठी उनको प्रकाशित करनेवाली पूर्वोक्त सचेतना। नेत्रादि इन ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा अपने प्रति फेंके गये पदार्थ-बिम्बको लेकर यह निश्चय करना है इसका काम कि यह प्रतिबिम्ब अमुक नाम-रूपवाले पदार्थका है, उस पदार्थका यह स्वरूप है तथा वह इस-इस प्रयोगमें आता है, इत्यादि। जड़-चेतन, मनुष्य-तिर्यञ्च, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, निर्धन-सधन, मूर्ख-विद्वान, ऊंच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, गाय-कुत्ता, स्वर्ण-पाषाण इत्यादि-रूप विविध द्वैतभाव, तथा इष्ट-अनिष्ट, अच्छा-बुरा, मित्र-शत्रु, सज्जन-दुर्जन, सुख-दुःख, जन्म-मरण, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, ग्राह्य-त्याज्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य इत्यादि-रूप विविध द्वन्द्व हैं इसका अनन्त भण्डार।

(५) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित पञ्चम-भूमि है 'चित्त'। चिन्तवन या ध्यान करना ही है इसका स्वरूप, और बुद्धि द्वारा निश्चय

किए गये उक्त पदार्थोंमें-से किसी एकको लेकर उसकी निरन्तर परिक्रमा करते रहना है इसका कार्य। इस प्रकार तन्मय हो जाता है अपने इस कार्यमें यह कि इस एक विषयके अतिरिक्त अन्य किसी भी बातको प्रवेश पानेके लिये अवकाश नहीं रह जाता वहां। इसकी इस तन्मयताके कारण बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रिय इन चारों ही पूर्वोक्त भूमियोंकी शक्तियें तथा वृत्तियें स्वयं खिचकर चली आती हैं इसके चरणोंमें, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि मुरली-मनोहरकी मुरलीकी मधुर टेर सुनकर खिची चली आईं सर्व गोपिकायें स्वयं अपने उस मनमोहनके चरणोंमें, अर्धरात्रिके समय, छोड़कर अपना सर्व कामधाम, बिना इस बातकी चिन्ता किये कि लोग क्या कहेंगे उन्हें।

(६) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित षष्टम-भूमि है 'वासना'। पुनः पुनः एक ही विषयका चिन्तवन अथवा ध्यान करते रहनेके कारण चित्तके घनीभूत हो जानेपर उसमें जो तद्विषय-विषयक संस्कार उत्पन्न हो जाता है, वही इसका स्वरूप है। और बुद्धि तथा मनकी सचेतनाओंको अपने रंगमें रंगकर उसी दिशाकी ओर उन्मुख कर देना इसका कार्य है। यही कारण है कि जिस रंगमें संस्कार रंगे होते हैं उसी जातिके संकल्प-विकल्प तथा निश्चय वे करते हैं, अन्य जातिके नहीं। इसके दो रूप हैं, अशुद्ध तथा विशुद्ध। बाह्य जगतके रंगवाली वह अशुद्ध है और अन्तस्तत्त्वके रंगवाली विशुद्ध। पहलीकी सन्तान है विविध प्रकारकी इच्छायें, कामनायें, एषणायें, स्वार्थ, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, मैथुनभाव इत्यादि। दूसरीकी सन्तान है विवेक, वैराग्य, निःशंकिता निराकांक्षता, अग्लानि, वात्सल्य, श्रद्धा, प्रेम, मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थता, समता इत्यादि। पहली है संसार-वर्द्धिनी तथा चिन्ता-दायिनी और दूसरी है संसार-नाशिनी तथा शान्ति-प्रदायिनी।

(७) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित सप्तम-भूमि है 'अहंकार'। 'मैं, मेरा, तू, तेरा' की अभ्यन्तर प्रतीति इसका स्वरूप है, तथा पहले चित्तको और फिर उसके माध्यमसे बुद्धि व मनको दिशा प्रदान करना इसका कार्य है। जिस दिशामें इसे मैं व मेरेपनेकी प्रतीति होती है उसी दिशामें चित्तका चिन्तवन या ध्यान प्रवाहित होता है, जैसा चित्त होता है वैसी ही वासना होती है और जैसी वासना होती है वैसा ही मन व बुद्धिमें विकल्प या निश्चय उदित होता है। इसप्रकार अहंकार ही पूर्वोक्त ६ भूमियोंका एकछत्र सम्राट है। यह भी दो प्रकारका होता है अशुद्ध और विशुद्ध। बाह्य जगतकी ओर उन्मुख अशुद्ध है और अन्तस्तत्त्वकी ओर उन्मुख विशुद्ध।

स्थूल-देहमें अथवा सूक्ष्म-देहमें अथवा धन-कुटुम्ब आदिमें 'मैं, मेरे' पनेकी प्रतीति करना अशुद्धका लक्षण है और चेतन महाप्रभुमें 'मैं, मेरे' पनेकी प्रतीति करना विशुद्धका। पहला है संसार-प्रवर्द्धक, देह-प्रदायक, स्वरूप-विनाशक; और दूसरा है शान्ति-प्रवर्द्धक, प्रभुत्व-प्रदायक, संसार-विनाशक।

(८) इसके पश्चात् तथा इसके भीतर स्थित अष्टम-भूमि है 'अविद्या', अखिल बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्चकी मूलकारण, महाप्रभु चैतन्यकी प्रधान-शक्ति। अपने ही भीतरसे निकले हुए तन्तु-जालको स्वयं ही निगल जानेवाले ऊर्ण-नाभीकी भांति यह करती है सूक्ष्म शरीरका और उसके माध्यमसे स्थूल शरीरका विस्तार और यही करती है इनका संहार। तात्त्विक अज्ञान अथवा तात्त्विक विभेद है इसका स्वरूप और जगत्सम्राट-अहंकारको प्रेरणा देना इसका कार्य। इसके दो रूप हैं—अविद्या तथा विद्या अर्थात् मोह तथा तत्त्वज्ञता। पहला रूप है बहिर्मुख और दूसरा अन्तर्मुख। अविद्या या मोह का कार्य है बाह्य जगतके, देह, धन, कुटुम्बादि विषयोंमें 'मैं' तथा मेरेपनेकी प्रतीति कराकर अहंकारको इस ओर आकर्षित कर देना। विद्याका कार्य है अन्तस्तत्त्वमें 'मैं तथा मेरेपनेकी' प्रतीति कराकर अहंकारको इस ओर आकर्षित कर देना। अथवा यह कहिये कि अविद्याका कार्य है देहादि बाह्य प्रपञ्चमें सत्य तथा सार देखनेवाला मिथ्याज्ञान व मिथ्यादर्शन और विद्याका कार्य है अन्तस्तत्त्वमें सत्य तथा सार देखनेवाला सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन।

यह है मात्र इसका अति-स्थूल औपचारिक स्वरूप। वास्तवमें यह है अति रहस्यात्मक। जिस प्रकार देशको जीतकर राजधानीमें प्रविष्ट हो जाने पर भी शत्रु-सेना विनष्ट हो जाती है, यदि कदाचित् अपनी विजयके गर्वमें फूलकर प्रमाद कर बैठे वह यह पता लगानेमें, कि कहीं पृथिवीके नीचे गुप्त माइनें तो नहीं बिछाई गई हैं यहां; इसी प्रकार सातों भूमियोंका अतिक्रम करके अष्टम-भूमिमें प्रविष्ट हो जाने तथा अपने प्रभुके बिल्कुल निकट पहुंच जानेपर भी अत्युग्र पुरुषार्थी धराशायी होते देखे जाते हैं यहां, यदि कदाचित् अपनी इस सफलताके गर्वमें फूलकर प्रमाद कर बैठें वे यह पता लगाने में कि कहीं कोई सूक्ष्म रहस्य तो नहीं छिपा है इसके मूलमें। 'मैं तो चित्पिण्ड भगवान् आत्मा हूं और ज्ञान, आनन्द आदि मेरी विभूतियें हैं' इत्याकारक विवेकपूर्ण प्रतीति उत्पन्न हो जानेपर भी रहा तो द्वैत ही, रहा तो एक बौद्धिक विचार ही, सहज-भाव तो जागृत हुआ नहीं, बिल्कुल ढीलमढाल, जहां न है मैं, न चित्पिण्ड, न ज्ञानानन्द और न कोई प्रतीति। 'जो है सो है' इसके अतिरिक्त और क्या कहें उसे? 'जो है' यह भी कैसे कहें, कहने-

वाला ही कोई नहीं, कौन कहे? जबतक कहने, सुनने, विचारने अथवा प्रतीति करनेका भाव जीवित है तबतक सब अविद्या ही अविद्या है।

बहुत अधिक सचेत रहनेकी आवश्यकता है यहां। ख्याति, लाभ, पूजाकी चाह-वालोंकी, अथवा साम्प्रदायिक पक्षमें निवास करने-वालोंकी अथवा शास्त्रज्ञानके आधारपर लम्बी-चौड़ी बातें बनाने-वालोंकी तो बात नहीं, वे बेचारे तो प्रथम भूमिमें भी प्रवेश पानेको समर्थ नहीं, यहां तो उनकी भी दाल नहीं गलती जो कि शास्त्रीय विद्याके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा उसके दर्शनका सच्चा प्रयत्न करते हैं। 'लोटेकी टोंटीमें-से हाथी निकल गया, परन्तु उसकी पूंछका एक बाल उसमें अटका रह गया', कुछ ऐसी ही अटपटी बात है यह। तात्पर्य यह कि शब्द सर्वथा असमर्थ हैं इस महामाता के स्वरूपका उद्घाटन करनेके-लिये। उसकी अपनी कृपा (सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति) के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है उसे जाननेका, क्योंकि वह चेतन-महाप्रभुकी ही अपनी कोई अचिन्त्य शक्ति है, न कि उससे पृथक् कुछ। शास्त्रीय विद्याको हार माननी पड़ती है यहां।

<u>३. अजीव तत्त्व</u>—बाह्यके स्थूल शरीरकी तो बात नहीं, वह तो है ही अजीव, अचेतन, केवल जड़ परमाणुओंका पिण्ड, यहां तो अष्ट-भूमियोंमें विभक्त अन्तरंगका यह सूक्ष्म या लिंग शरीर तथा कारण-शरीर भी है अजीव, अचेतन, जड़। भले ज्ञानाकार होनेके कारण कुछ चेतनसा प्रतीत होता हो वह परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर तो जड़ ही है, चेतन नहीं। चेतन तत्त्व होता है स्व-पर प्रकाशक और यह अखिल विस्तार न है स्व-प्रकाशक और न परप्रकाशक, क्योंकि न तो स्वतन्त्र रूपसे यह अपनेको जानता है और न अपने बिल्कुल मध्यमें स्थित उस चेतन भगवान्को, जिसके प्रकाशसे प्रकाशवन्त हो रहा है यह। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमका अपना कोई स्वतन्त्र प्रकाश नहीं, जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशको ग्रहण करके आंखोंको चुन्धिया देनेवाले दर्पणका अपना कोई स्वतन्त्र प्रकाश नहीं; इसी प्रकार उस ज्योतिपुञ्ज परम तत्त्वके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले, उसकी चेतनासे चेतनवत् हो जानेवाले इस विस्तारका भी अपना कोई स्वतंत्र प्रकाश नहीं, अपनी कोई स्वतंत्र चेतना नहीं। बुद्धि आदिमें दीखने-वाला चेतनत्व वास्तवमें इस तत्त्वसे प्रतिबिम्ब (Reflection) के रूपमें उधार लिया प्रकाश है अन्य कुछ नहीं।

जिसप्रकार बुद्धि तथा मनके पृथक हो जानेपर इन्द्रियें अचेत हो जाती हैं, उसीप्रकार अहंकारके हट जानेपर मन व बुद्धि अचेत हो जाती हैं, और

उसी प्रकार चेतन-प्रकाशके हट जानेपर अहंकार भी अचेत हो जाता है। 'अचेत हो जाता है' यह कहना भी उपचार मात्र है, वास्तवमें जैसाकि आगे बताया जानेवाला है, इसकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं, तब अचेत क्या तथा कौन होगा। इस प्रकार यह अखिल अभ्यन्तर विस्तार वास्तवमें जड़ है चेतन नहीं। पाषाणवत् जड़ न दीखनेके कारण तथा ज्ञानाकाररूप चेतनसा प्रतीत होनेके कारण यदि जड या अजीव कहनेको जी नहीं चाहता तो चलिये 'चिदाभासी' कह लीजिये इसे, परन्तु चेतन तो नहीं ही है यह।

४. शरीर—जैसाकि पहले बताया जा चुका है बाह्य-जगत तो शरीरोंका संघात है ही, अष्ट-भूमियोंके अनन्त विस्तारवाला यह अभ्यन्तर जगत भी वास्तवमें कुछ शरीरोंका संघात ही है। विशेषता यह कि इन्द्रिय-गोचर होनेके कारण बाह्य-जगतमें पाये जानेवाले पृथ्वीसे मनुष्य पर्यन्तके ये विविध शरीर तो हैं स्थूल और इन्द्रिय-पथमें न आनेके कारण अभ्यन्तर जगतके ये सर्व विभाग हैं सूक्ष्म। स्थूल शरीरोंका निर्माण तो होता है उन भूताणुओंसे जो कि इस लोककाशके एक-एक प्रदेशपर अनन्तानतकी राशिमें बैठे हुए हैं, परन्तु अपने कार्यरूप इन शरीरोंकी भांति रूप, रस, गन्ध, स्पर्शयुक्त होते हुए भी अतिसूक्ष्म होनेके कारण जो हमारे दृष्टि-पथमें नहीं आते हैं। दूसरी ओर इन सूक्ष्म विभागोंका निर्माण होता है उन शक्त्याणुओंके द्वारा अथवा उन ज्ञानात्मक तथा विकल्पात्मक भावाणुओंके द्वारा जिनमें हमें यद्यपि भूताणुओंका कोई योग दृष्ट नहीं होता, तदपि आगममें कुछ इस प्रकारका संकेत उपलब्ध होता है कि ये शक्त्याणु या भावाणु भी वास्तव में उन भूताणुओंकी ही कोई ऐसी सूक्ष्म अवस्था-विशेष है, जिसके राज्यमें इन्द्रियोंका तो प्रश्न नहीं मनका भी प्रवेश होना सम्भव नहीं। प्रत्यक्ष-दृष्टा ऋषि ही प्रमाण हैं इस विषयमें।

जिस प्रकार हाथ-पांव आदि स्थूल अंगोपागोंका पिण्ड होनेके कारण बाह्य जगत कहलाता है स्थूल-शरीर, उसी प्रकार मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म विभागोंका पिण्ड होनेके कारण अभ्यन्तर जगत कहलाता है सूक्ष्म-शरीर। इस सूक्ष्म-शरीरके हेतुरूप शक्त्याणुओंकी उपर्युक्त सूक्ष्म अवस्थायें होती हैं दो प्रकारकी—तैजस तथा कार्मण। 'तैजस' अणुओंका कार्य है स्थूल शरीरके हाथ-पांव आदि अंगोपागोंमें अथवा इसकी एक-एक नसमें स्फुर्ति तथा चेष्टा उत्पन्न करना और साथ-साथ गर्मी तथा कान्ति भी। दूसरी ओर 'कार्मण' अणुओंका कार्य है अन्तरंग जगतमें बौद्धिक ज्ञानरूप प्रकाश तथा मानसिक संकल्प-विकल्परूप चेष्टा उत्पन्न करना। इसलिए सूक्ष्म शरीरको

दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—तैजस-शरीर तथा कार्मण-शरीर। कर्मेन्द्रिय तथा प्राण ये दो विभाग तो सम्मिलित हो जाते हैं तैजस-शरीरमें और ज्ञानेन्द्रियोंको आदि लेकर अहंकार पर्यन्त तकके सर्व विभाग सम्मिलित हो जाते हैं कार्मण-शरीरमें। जीर्ण-शीर्ण होते रहनेके कारण ये सब कहलाते हैं शरीर, क्योंकि शरीरका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है शीर्ण होनेवाला। स्थूल-शरीरको तो हम नित्य जर्जरित तथा शीर्ण होता हुआ देखते ही हैं, अन्तरंगका यह सूक्ष्म-शरीर भी वास्तवमें शीर्ण-स्वभावी ही है।

इस प्रकार दोनों ही शीर्ण स्वभावी हैं, विशेषता है केवल इतनी कि पहला तो शीर्ण हो जाता है केवल एक भवमें और यह शीर्ण होता है अनन्तों भवोंमें। मृत्युके समय स्थूल-शरीर तो अपना त्यागपत्र देकर महाप्रभु जीव तत्त्वसे विलग हो जाता है, परन्तु यह सूक्ष्म शरीर एक सच्चे मित्रकी भांति भव-भवान्तरोंमें भी अपनी सेवासे निवृत्त नहीं होता। जब-जब, जहां-जहां जिस-जिस भवमें भी चेतन भगवान् जानेकी इच्छा करते हैं, यह तुरत उनको वहां पहुंचानेका प्रबन्ध कर देता है। इतना ही नहीं स्वयं भी उनके साथ जाकर उनकी वासनाके अनुसार उनके रहनेके-लिये तुरत एक नया भवन बनाकर खड़ा कर देता है, ताकि वहां परदेशमें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे उन्हें, अर्थात् भव-भवमें जीवके साथ जाकर नये-नये शरीरों का निर्माण करते रहना ही इस विश्वकर्माका काम है। उस समयतक जबतक कि इसका स्वामी जीव राजा महामाता अविद्याके उस गुप्त रहस्यका स्पर्श करनेके योग्य नहीं हो जाता, जिसे जान लेनेपर कि यह अखिल बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्च उस जीवन्मुक्तके प्रति उसी प्रकार अपने कारणोंमें लीन होकर निःशेष हो जाता जिस प्रकार कि इन्द्रजाल अथवा स्वप्न-जगत्।

भले ही प्रभुकी शक्ति हो, परन्तु तत्वतः देखनेपर है यह भी एक शरीर ही, अन्य कुछ नहीं, क्योंकि इसे भी आखिर शीर्ण तो होना पड़ता ही है, भले सबके अन्तमें जाकर सही। पूर्वोक्त सभी शरीरों तथा तद्गत विविध प्रपञ्चोंका मूल कारण होनेके हेतु यह कहलाता है 'कारण शरीर'। अविद्या बनकर जगतका विस्तार करता है यह और विद्या बनकर जगत का संहार करता है यह। स्थूल शरीर हो या हो सूक्ष्म-शरीर, तैजस-शरीर हो या हो कार्मण-शरीर सब इसकी महाकलाके छोटे-छोटे प्रदर्शन हैं। इस प्रकार बाह्य और अभ्यन्तरका यह सकल विस्तार अजीव है, जड़ है अथवा चिदाभासी है।

६

विवेक-ज्ञान

१. विवेक—शान्ति-पथके अन्तर्गत श्रद्धाके विषयभूत सात तत्त्वोंमें-से जीव अजीव नामवाले प्रथम दो प्रधान तत्त्वोंकी बात चलती है। दोनों तत्त्वोंका रहस्यात्मक परिचय पा लेनेके उपरान्त कुछ प्रश्न स्वतः समक्ष आकर खड़े हो जाते हैं। (i) पहला प्रश्न तो यह है कि इस बाह्याभ्यन्तर अनन्त विस्तारमें मैं इन दोनों तत्त्वोंके यथार्थ दर्शन कैसे करूं। यह सब कुछ वैसा ही है जैसा कि दिखाई दे रहा है, या कुछ और है? अर्थात् क्या यह सत् है या है उन दोनों महातत्त्वोंका कोई स्वांग जो कि उन दोनोंने परस्परमें मिलकर मुझे ठगनेके लिये धारण किया है? अर्थात् सदसत् विवेक। (ii) दूसरा प्रश्न यह है कि दूध पानीकी भांति एकमेक होकर धारण किये गए इन दोनों तत्त्वोंके इस स्वांगमें मैं तथा मेरा क्या व कितना अंश है और मुझसे भिन्न परका क्या व कितना अंश है? अर्थात् स्व-पर विवेक। (iii) तीसरा प्रश्न यह है कि अति-महिमावन्त तथा स्वतन्त्र चेतन तत्त्व होते हुए भी मैं इस जड़ या अजीव तत्त्व के अधीन कैसे बन बैठा हूं, हजार प्रयत्न करनेपर भी इसके चंगुलसे छुटकारा सम्भव नहीं हो पा रहा है। (iv) चौथा प्रश्न यह है कि वह कौनसी विधि है जिससे कि इस जगतमें रहते हुए भी मैं प्रपञ्चका स्पर्श न करते हुए केवल इसका दृष्टा बना रहूं। (v) पांचवां प्रश्न यह है कि ये दोनों तत्त्व किसप्रकार परस्परमें मिलकर बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्चरूप इस अखिल विश्वकी तर्कातीत कार्य-व्यवस्थाका संचालन कर रहे हैं? अर्थात् कारण-कार्य-व्यवस्था। अब लीजिये क्रमसे एक एक प्रश्नपर विचार करते हैं।

२. सदसत् विवेक—पहला प्रश्न है सत्-असत् विवेक। यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि जो कुछ भी बाहरमें अथवा भीतरमें दिखाई दे रहा है, वह सब असत है, सत् नहीं। बड़ी विचित्र बात सुन रहे हैं। आँखों से प्रत्यक्ष

दिख रहा है और असत्? नित्य प्रयोगमें ला रहा हूं और असत्? कोई स्वप्न थोड़े ही देख रहा हूं कि असत् समझ लूं इसे? केवल आपके कहने-मात्रसे कैसे असत् मान लूं? देखो आपके शरीरपर चुटकी भरता हूं। कुछ पीड़ा होती है कि नहीं? फिर असत् कैसे समझलूं इसे? ठीक है भाई! तेरी शंकायें बिल्कुल उचित हैं। व्यवहारिक दृष्टिसे देखनेपर तो ऐसा ही है। परन्तु मैं जिस पारमार्थिक दृष्टिकी बात कर रहा हूं, जिस तात्त्विक दृष्टिकी बात कर रहां हूं, उससे देखनेपर यह सर्वथा असत् ही है।

देख, 'सत्' किसे कहते हैं? जिसकी अपनी कोई मौलिक या पारमार्थिक स्वतंत्र सत्ता हो। हल्दी तथा चूनेके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले लाल रंगकी क्या अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता है? हल्दी पीली और चूना सफेद। फिर यह लाल रंग कहांसे आ टपका। सत् कहें इसे कि असत्? बस यही है वह दृष्टि जिससे देखनेपर यह अखिल प्रपञ्च असत् होकर रह जाता है। हल्दी और चूनेके संयोगसे उत्पन्न लाल रंगकी भांति बाह्याभ्यन्तर यह सकल विस्तार भी वास्तव में मौलिक सत्ताभूत कुछ न होकर उनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें हैं, कुछ द्रव्य-पर्यायें और कुछ भाव-पर्यायें। बाह्य जगत्के मृतशरीर या जड़द्रव्य हैं केवल परमाणुओंके पिण्ड और जीवित-शरीर हैं जीवात्मा सहित परमाणुओंके पिण्ड। इसी प्रकार अभ्यन्तर जगतके बौद्धिक ज्ञान तथा मानसिक राग-द्वेष हैं ज्ञानके साथ ज्ञेयका संयोग हो जानेके कारण उत्पन्न होनेवाले भावात्मक पिण्ड। पर्यायें होनेके कारण सभी हैं उत्पन्न-ध्वंसी। भले, पर्यायार्थिक दृष्टिसे देखनेपर इनकी व्यवहारिक सत्तायें प्रतीत होती हों, परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे देखनेपर इनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं। जो आज है और कल नहीं, उसका भरोसा ही क्या, और सत् कैसे कहा जा सकता है उसे, सत्ताभूत कैसे समझा जा सकता है उसे?

जिस प्रकार सागरसे भिन्न उसकी तरंगकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं इसी प्रकार जीव अजीव तत्त्वसे भिन्न इस बाह्याभ्यन्तर जगतकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। इसलिए जिसप्रकार स्वतंत्र सत्ताधारी होनेसे सागर ही सत् है तरंग नहीं, इसी प्रकार स्वतंत्र सत्ताधारी होनेसे जीव अजीव तत्त्व ही सत् हैं, यह बाह्याभ्यन्तर जगत नहीं। जिस प्रकार लाल रंग चूने और हल्दीका संयोगी स्वाँग है अन्य कुछ नहीं, इसी प्रकार यह बाह्याभ्यन्तर जगत भी जीव अजीव तत्त्वोंका संयोगी स्वाँग है अन्य कुछ नहीं।

३. स्व-पर विवेक—अब तक दो तत्त्व बताये गए, जीव और अजीव। इनमें-से कौन स्वतत्त्व है और कौन परतत्त्व यह बात खोजनी है। यह स्पष्ट है

कि स्व का अर्थ "मैं" है, और "मैं" चेतन है, इसलिये स्वतत्त्व जीव ही हो सकता है, अजीव कदापि नहीं। अजीव तत्त्व दो कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है—एक वह अजीव जो दूध-पानीवत् मेरे साथ इस प्रकार मिला पड़ा है कि उस मिश्रणमें जीव कौन व अजीव कौन यह विवेक भी स्थूल दृष्टिसे होना असम्भव है, और दूसरा अजीव वह है जो कि मुझसे तथा मेरे इस शरीरसे पृथक् पड़ा हुआ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। पहलेके अन्तर्गत आते हैं बाहर तथा भीतरके मेरे अपने स्थूल व सूक्ष्म शरीर और दूसरेके अन्तर्गत आते हैं अन्य व्यक्तियोंके शरीर तथा स्त्री, कुटुम्ब, धन, मकान आदि। अजीव होनेके कारण ये सब परतत्त्व हैं।

अब लीजिये जीव तत्त्व। जीव तत्त्व यद्यपि स्वपदार्थ कहा गया है, परन्तु सर्व ही जीव स्वपदार्थ कहे जा सकें ऐसा नहीं है। अतः जिस जीव-विशेषमें चैतन्यके अतिरिक्त इस "मैं" पनेका लक्षण भी घटित होता हो वह एक जीव विशेष तो स्वपदार्थ है, और केवल चैतन्य लक्षणवाले शेष सर्व जीव परपदार्थ हैं। इसमें तो किसी संशयको अवकाश नहीं, परन्तु इसका भी एक विशेष अंश ऐसा है जिसे यहां परपदार्थ रूपसे दिखाना अभीष्ट है। साधारण दृष्टिसे तो वह अंश स्वपदार्थ-रूप ही दिखाई देता है क्योंकि वह स्वयं मेरी ही कोई अवस्था-विशेष है, जो भले ही उपरोक्त पर-पदार्थोंका आश्रय लेकर उत्पन्न होता हो, पर है चैतन्यरूप, जड़रूप नहीं। मेरा संकेत अभ्यन्तरके उस चिदाभासी जगतकी ओर है जिसका कि संग्रह अजीव तत्त्वके अन्तर्गत किया गया है।

यहां इतना ही बताना इष्ट है कि स्थूलदृष्टिसे दीखनेवाले, भिन्न क्षेत्रमें स्थित, जड़ पदार्थ अर्थात् धनादिक और चेतन पदार्थ पुत्र आदिक; कुछ सूक्ष्म दृष्टिसे दीखनेवाले एक क्षेत्रमें स्थित जड़पदार्थ अर्थात् शरीर व कर्म आदिक और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे दीखनेवाले अत्यन्त निकट व तन्मयरूपसे प्रकाशमान मन-बुद्धि आदिक; तथा उनमें नित्य-निरन्तर नृत्य करनेवाले रागादिक, इन सबको पर पदार्थ रूपसे ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह कि सकल बाह्याभ्यन्तर विस्तार परतत्त्व है। धन कुटुम्बादिक तथा शरीर इन पदार्थोंको पर कहना तो बहुत स्थूल बात है क्योंकि बिना परिश्रमके ही समझमें आ जाती है। चेतन व इन द्रव्योंकी जातिमें ही भेद है। तीन कालमें भी एक नहीं हो सकते। शरीरादिको जीव कहना स्पष्ट असत्यार्थ है। अध्यात्मवादी कभी भी यह कहना स्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु हम तो तुम्हें इससे भी कहीं आगे ले जाना चाहते हैं, वहां जहां कि अध्यात्मका सूक्ष्म रहस्य छिपा है।

त्रिकाली भिन्न सत्ताधारी द्रव्योंमें पृथकता देखना स्थूल अध्यात्म है और एक ही पदार्थके दो क्षणिक भावोंमें पृथकता देखना सूक्ष्म अध्यात्म है। पहिलेका विषय द्रव्य है और दूसरेका पर्याय अर्थात द्रव्यकी अवस्था। पहिला द्रव्यार्थिक नयका विषय है और दूसरा पर्यायार्थिक नयका। यह दृष्टि पदार्थके अपने अन्दर में पड़ी उस सूक्ष्म सन्धिको देखती है, जो लौकिक स्थूल दृष्टिमें आनी असम्भव है। प्रज्ञा छैनीके द्वारा ही उस सूक्ष्म सन्धिका साक्षात्कार किया जा सकता है।

पदार्थ के शुद्धस्वभाव अर्थात् पारिणामिक--भावको लक्ष्यमें लेकर पदार्थका विचार करनेपर ही यह रहस्य समझा जा सकता है, उसकी पर्यायोंको लक्ष्यमें लेकर नहीं। इन्द्रिय-अग्राह्य चेतन और इन्द्रिय-ग्राह्य जड़ दोनों ही द्रव्योंमें दो प्रकारके क्षणिक भाव या अवस्था-विशेष देखनेको मिलती हैं—स्वभाव-अवस्था तथा उसके विपरीत विभाव-अवस्था। जिसमें किसीका मेल या संयोग न पाया जाय वह स्वभाव-भाव है और जिसमें किसी प्रकारका भी अन्यका मेल या संयोग पाया जाय वह विभाव-भाव है। अकेला परमाणु जो इन्द्रियके द्वारा दृष्ट नहीं हो सकता, उसके स्पर्श, वर्ण व गन्ध आदि गुण जड़-पदार्थका स्वभाव-भाव है और जो ये सम्पूर्ण दृष्ट-स्थूलपदार्थ हैं, उनके स्पर्श, वर्ण व गन्ध आदि गुण उनके विभाव-भाव हैं, क्योंकि अनेकों सूक्ष्म-परमाणुओंका संयोग हुए बिना उनका निर्माण होता नहीं। इसीप्रकार लोक-शिखरपर परम धाममें विराजमान नित्य निरञ्जन व शरीररहित निराकार सिद्ध-भगवान या मुक्त-आत्मा तथा उसके सर्वज्ञत्व आदि गुण जीवके स्वभाव-भाव हैं और ये सब शरीरधारी संसारी जीव व उनके क्रोधादि गुण जीवके विभाव-भाव हैं। 'स्वभाव-भाव' निज-भाव या स्व-भाव कहलाते हैं और 'विभाव-भाव' पर-भाव कहलाते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्यके अपने भावोंमें ही स्व व परका विभाजन करके द्वैत दर्शाना सूक्ष्म दृष्टिका कार्य है।

पर्याय या अवस्था कभी द्रव्यसे जुदी होकर पृथक नहीं रहती। द्रव्य स्वयं प्रति क्षण बदलता हुआ अनेक अवस्थाओंमें-से गुजरता है। अतः इन स्व व पर भाव या अवस्था-विशेषोंसे तन्मय अखण्ड-द्रव्यमें भी किञ्चित् विजातीयताका आभास होने लगता है। यहां जड़-द्रव्यको छोड़कर केवल जीव-द्रव्यमें ही उस विजातीयताकी सिद्धि करते हैं। तहां जड़-द्रव्यमें यथायोग्य रूपसे स्वयं लगा लेना। जीव-द्रव्य एक विचित्र प्रकारका वस्तुभूत या सत्ताधारी अमूर्तीक पदार्थ है, कल्पनामात्र हवा नहीं है। वह अपनेको भी जान सकता है और परको भी। जानना मात्र ही हुआ होता तो कोई हर्ज न होता। यहां जाननेके साथ-साथ कुछ और भाव भी पैदा होता है। अपनेको जानते हुए तो इसको स्व व पर दोनों

ही पदार्थ दिखाई देते हैं, क्योंकि ज्ञान दर्पणके समान है। जिसप्रकार दर्पणको देखते सयय दर्पण तथा अन्य पदार्थोंके प्रतिबिंब सब ही दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ज्ञानके सम्बन्धमें भी समझना। किन्तु परको जानते हुए इसे निजरूप दिखाई नहीं देता। अपनेको जानते समय इसका भाव अपने साथ तन्मय होता है और परको जानते समय परके साथ। तन्मयका अर्थ यहां उस पदार्थरूप बन जाना नहीं क्योंकि चेतनका जड़ बन जाना तीन कालमें भी सम्भव नहीं है। अपनेको भूलकर केवल उस पदार्थको ही देखना, पर पदार्थके साथ तन्मयता कहलाती है। अपने साथ तन्मय होनेके कारण पहला ज्ञान स्व-भाव है और परके साथ तन्मय होनेके कारण दूसरा ज्ञान पर-भाव है। मानसिक संकल्प विकल्प, बौद्धिक तर्कणायें, राग-द्वेषादि कषायें तथा वासनायें ही उसका स्व-रूप है।

इसप्रकार यथायोग्य रूपसे अनेक प्रकार इन रागादिक भावोंरूप अभ्यन्तर-जगतको जीवका नहीं कहा जा सकता। यही विशुद्ध-अध्यात्मका भेद-विज्ञान है, जिसका ग्रहण अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिमें ही होना सम्भव है। एक ज्ञानमें ही विवक्षावश स्व व परका द्वैत उत्पन्न कराया गया है। साधारण दृष्टिमें तो स्व व परकी कल्पना अत्यन्त स्थूल है, पर यहां स्व-परकी व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म है। पहिलेवाली स्थूलदृष्टि द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि है, पर यहां पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नयका विषय है, जिसकी अपेक्षा जो बालक है उसे बूढ़ा नहीं कहा जा सकता और जो बूढ़ा है उसे बालक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिमें बालक व बूढ़ा पृथक-पृथक दो स्वतन्त्र व्यक्ति हैं। ज्ञानके साथ तन्मय रहनेवाला 'ज्ञाता' व्यक्ति कोई और है और बाह्यजगतके साथ तथा तत्सम्बन्धी करने-धरनेरूप विकल्पोंके साथ तन्मय रहनेवाला 'कर्ता' व्यक्ति कोई और है। इसीलिये कहा है कि "जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं और जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं।"

इसप्रकार यहां इस प्रकरणमें भली-भांति स्व-परका सूक्ष्म विवेक जागृत कराया गया। यद्यपि विषय कुछ कठिनसा है, पर भाई! इसके समझे बिना छुटकारा नहीं है। आगे आनेवाले सारे मार्गका मूल आधार यही विवेक-ज्ञान है। अन्तरंग जीवनकी वास्तविकता इसके बिना होनी असम्भव है। अतः जिस किस प्रकार भी इसे तू अवश्य समझ और जीवन के २४ घण्टोंकी प्रवृत्तियोंमें इस सिद्धांतको विचारणाका विषय बनानेका प्रयत्न कर। शान्ति-पथका यह प्राण है। इसके बिना सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं।

४. षटकारकी स्वतंत्रता—शान्ति-पथकी सिद्धिके अर्थ जीव अजीव तत्त्वों की बात चलती है। उनकी मिली-जुली अवस्थामें विवेक उत्पन्न करनेके लिये

कुछ प्रश्नोंपर विचार किया जा रहा है । सत्-असत् विवेक तथा स्व-पर विवेक विषयक प्रश्नोंका समाधान हो जानेके उपरान्त अब तीसरा प्रश्न आता है यह कि अति महिमावन्त तथा स्वतन्त्र चेतनतत्त्व होते हुए भी मैं इस जड़ या अजीव तत्त्वके आधीन कैसे बन बैठा कि हजार प्रयत्न करने पर भी इसके चंगुलसे छुटकारा सम्भव नहीं हो पा रहा है । प्रश्न बड़े महत्त्वका है । इसपर विचार करते हैं । अभी-अभी तीन कोटिके पर पदार्थ बताये गए हैं—एक तो भिन्न क्षेत्रावगाही धन, कुटुम्बादि, दूसरा एक क्षेत्रावगाही स्थूलशरीर और तीसरा मेरे साथ कुछ तन्मयसा दीखनेवाला रागद्वेषात्म सूक्ष्मशरीर । यह तीसरा शरीर ही मेरा वास्तविक बन्धन है, न है धन कुटुम्बादि और न यह स्थूलशरीर । इससे मुक्त होनेके लिये मुझे यह ज्ञान होना चाहिये कि इनकी मेरे अन्दर उत्पत्ति किसप्रकार तथा किस कारणसे होती है । इसीका उत्तर आज चलेगा ।

अपने आजके विकल्पात्मक संसारपर दृष्टिपात करके यदि मैं इसका विश्लेषण करूं तो स्पष्टतः यह बात ध्यानमें आ जाती है कि क्यों और किस प्रकार मैं आज प्रतिक्षण नये-नये विचार व विकल्प उठा-उठाकर उनमें स्वयं फंसा हुआ व्याकुल बना रहता हूं । इन विकल्पोंका मूल वास्तवमें शरीर है, क्योंकि जितने भी विकल्प हो रहे हैं वे सब इसकी इष्टताके-लिये हो रहे हैं । मेरे आजके विकल्पोंमें मुख्य धनोपार्जनका विकल्प है, धनोपार्जनकी इच्छा केवल पंचेन्द्रिय विषयोंकी पूर्तिके-लिये है और पंचेन्द्रियोंका आधार शरीर है । इसीप्रकार धनोपार्जन कुटुम्ब पालनेके अर्थ भी है और कुटुम्ब-पालन भी इसी लिये है कि उसको मैं इस शरीरका रक्षक व वृद्धावस्थामें इसका सहायक मानता हूं । इन विषयोंमें, कुटुम्बमें या धनोपार्जनमें बाधा पड़ जानेपर मुझे चिन्ता होती है । उस चिन्ताकी निवृत्तिके-लिये मैं और-और विकल्प करता हूं और इसप्रकार एक जालमें उलझ जाता हूं । ज्यों-ज्यों इस जालसे निकलनेका प्रयत्न करता हूं, त्यों-त्यों मकड़ीके जालेमें उलझी मक्खीवत् अधिक-अधिक उलझता जाता हूं । इन विकल्पोंसे निवृत्ति पानेकी इच्छा रखते हुए भी मैं इनसे क्यों नहीं निकल पा रहा हूं । इसका कारण ही नीचे बताया जाता है ।

इसका कारण है स्व-पर-पदार्थोंका मिश्रण, मिश्रण भी एक प्रकारसे नहीं, दो प्रकारसे । एक तो फिजीकल अर्थात प्रादेशिक रूपसे, क्षेत्र रूपसे और दूसरा मेंटल अर्थात् मानसिक रूपसे । यहां प्रादेशिक मिश्रणकी तो बात छोड़ दीजिये क्योंकि वह प्रत्यक्ष है । मेंटल या मानसिक मिश्रणकी बात विचारणीय है, क्योंकि प्रादेशिक मिश्रण मेरेलिये विशेष बाधाकारक नहीं है, मानसिक मिश्रण ही मुख्य बाधक है जोकि मेरी शान्तिको घात रहा है ।

इस मानसिक मिश्रणका आधार मेरे अन्दरमें पड़ा एक विश्वास है जिसके आधारपर मैं सर्व-पदार्थोंकी स्वतन्त्रता स्वीकार न करके उन्हें परतंत्र बनानेका प्रयत्न किया करता हूं। उनकी परतन्त्रताको ही मैं भ्रमवश अपनी स्वतन्त्रता समझता हूं। बात केवल इतनी ही नहीं है, मैं अपनी स्वतन्त्रताको भी स्वीकार नहीं करता, इसको परतन्त्र मान बैठता हूं। मैं व्यक्तिगत रूपमें अकेला ही ऐसा कर रहा हूं ऐसा भी नहीं है। आप सब तथा सर्व लोकके अनन्तानन्त प्राणी भी उसी विश्वासके आधीन प्रवृत्ति कर रहे हैं। इसप्रकार कल बताई गई तीन कोटियोंमें-से प्रथम दो कोटिके पर-पदार्थोंको मैं अपने आधीन तथा अपनेको उनके आधीन मान बैठा हूं। इसी प्रकारसे वे पर-पदार्थ भी मुझे अपने आधीन तथा अपनेको मेरे आधीन मान बैठे हैं अर्थात् मेरे किये बिना उन पर-पदार्थोंका कोई भी कार्य नहीं चल सकता और उनकी सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरी प्रेरणा पाकर ही वे चित्र-विचित्र कार्य कर रहे हैं और उनकी प्रेरणा पाकर ही मैं यह विकल्पात्मक राग-द्वेषादि कार्य कर रहा हूं। मेरे पाले बिना कुटुम्बका पोषण नहीं हो सकता और कुटुम्बकी सहायताके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे हिलाये बिना शरीर हिल नहीं सकता और शरीरकी सहायताके बिना मैं जान नहीं सकता। और इसीप्रकार अनेकों चिन्तायें तथा विकल्पात्मक पराश्रित धारणायें हैं। स्वतन्त्रता मिले तो कैसे मिले और परतन्त्रतामें शान्ति कैसे जीवित रहे? मजेकी बात यह कि इस प्रकार अधिकाधिक परतन्त्रताके पुरुषार्थको ही शान्ति का पुरुषार्थ समझता हूं। अधिकाधिक भोगोंकी प्राप्तिसे शान्ति मिलेगी, भोगोंकी प्राप्ति इस शरीरकी क्रियासे होगी, शरीरकी क्रियाको मैं करूंगा, इस प्रकार मैं अपनी शान्तिका वेदन कर लूंगा। अतः मेरा सर्व पुरुषार्थ शान्तिके लिये ही तो है।

हे शान्ति-भण्डार चिदानन्द भगवान्! शान्ति तो स्वतन्त्रतामें बसती है, परतन्त्रतामें नहीं। अब इस परतन्त्रताको छोड़, स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न कर, जिसमें प्रत्येक पदार्थ जड़ हो कि चेतन, स्व हो कि पर, स्वतन्त्र दिखाई देने लगे। सुन-सुनाकर या पढ़-पढ़ाकर यह कह देना मात्र पर्याप्त नहीं कि "हां हां, सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, कोई किसीका नहीं, मैं पृथक हूं, शरीर पृथक है" इत्यादि। इस प्रकार तो सभी कहा करते हैं। दो द्रव्योंकी पृथकताका अर्थ इतनेपर ही समाप्त नहीं हो जाता कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करलें। सत्ता त्रयात्मक होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वरूप अर्थात् बराबर बनी रहते हुए भी बराबर बदलते रहना उसका काम है। यह बात आगे बताई जाने-वाली है। स्वभाव किसी दूसरेकी सहायता नहीं मांगता, जिसप्रकार कि जलको

शीतल बनानेके-लिये किसी दूसरे पदार्थकी आवश्यकता नहीं। सत्ताको उसी समय स्वतन्त्र माना-कहा जा सकता है जबकि इसके तीनों अंशोंको स्वतन्त्र मान लिया जावे। अर्थात् उसका बदलते रहना भी स्वतन्त्र माना जावे। विचारिये तो कि किसी भी पदार्थको बदलनेके-लिये किसी सहायककी प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्या? कि अमुक सहायक आये तो मैं बदलूं, नहीं तो बदलना चाहते हुए भी कैसे बदलूं? और जबतक योग्य सहायक न मिले तो बदले बिना ही पड़ा रहे। नहीं नहीं, ऐसा नहीं है और न ही सिद्धांतिक रूपसे आप ऐसा स्वीकार करते हो। करें भी कैसे? सब घोटमटाला हो जाय, विश्व कूटस्थ हो जाय अर्थात् सत्ताका ही विनाश हो जाय, सब शून्य हो जाय।

और यदि सत्ताको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वीकार करते हो अर्थात् टिके रहते हुए भी स्वाभाविक रूपसे स्वयं बदलती हुई स्वीकार करते हो तो, 'इसे मैंने बदला' इस प्रकारके अहंकारको कहां अवकाश है? चलती गाड़ीके नीचे चलता कुत्ता भले यह विचारे कि गाडीको वह चला रहा है परन्तु उसके भ्रमात्मक विचारके कारण गाड़ी उसके आधीन न हो जायेगी। इसीप्रकार तू भले यह कल्पना करे कि मैं ही इस विश्वका काम कर रहा हूं, मेरे किये बिना बेचारा यह जड़ क्या करेगा? परन्तु तेरे भ्रमात्मक विकल्पके कारण विश्व तेरे आधीन नहीं हो जायेगा। सारा लोक भी यही भ्रम बनाये क्यों न बैठा रहे, पर विश्व अर्थात् सर्व पदार्थसमूह तो स्वतन्त्र ही रहेगा, अपनी सर्व पलटनेकी क्रियाओंमें। अपने स्वभावके अतिरिक्त उसे अन्य किसीका आश्रय नहीं।

उपरोक्त सर्व वक्तव्यपर-से मेरा प्रयोजन केवल यह सिद्ध करना है कि किसी दृष्टि-विशेषसे देखनेपर प्रत्येक पदार्थ जड़ हो कि चेतन, अपना-अपना कार्य करनेको पूर्ण स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ बिना दूसरेकी सहायताके परिवर्तन करनेको स्वयं समर्थ है और कर रहा है। षटकारकी रूपसे स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वयं बदलनेकी शक्ति रखता है। इसलिये वह स्वतन्त्र रूपसे बदलता हुआ ही अपनी किसी विशेष अवस्थाको स्वयं उत्पन्न करता है, स्वयं अपने द्वारा उत्पन्न करता है, स्वयं अपनेलिये उत्पन्न करता है अर्थात् उस अवस्थाको उत्पन्न करके स्वयं ही उसके साथ तन्मय हो जाता है, अपनेमें-से ही निकालकर उत्पन्न करता है, अपने स्वभावमें रहते हुए ही उत्पन्न करता है और इसलिये यह अवस्था-विशेष उस ही की है, किसी अन्यकी नहीं। इसीको षटकारकी स्वतन्त्रता कहते हैं। अवस्था उत्पन्न करना ही पदार्थका काम है। इसलिये कह सकते हैं कि उपरोक्त षटकारकों रूपसे प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करता है, किसी दूसरेकी [सहायताकी उसे

आवश्यकता नहीं। जैसा कि अगले अधिकारमें बताया जानेवाला है, भले ही वस्तुकी कार्य-व्यवस्थामें निमित्तों आदिकी सहायताका कोई स्थान हो परन्तु वस्तु-स्वभावको देखनेवाली इस तात्त्विक दृष्टिमें उसका कोई स्थान नहीं है।

५. जन्म-मृत्यु रहस्य—लीजिये इसी तथ्यको दृष्टान्त देकर समझाता हूं। दृष्टान्त भी तुम्हारा अपना। थोड़ी देरके लिये लौट आइये वहीं जहां कि अजीव तत्त्वका वर्णन करते हुए इस चेतनकी मूर्खताका दिग्दर्शन कराया जा रहा था, उस मूर्खताका जिसके कारण कि वह 'मैं' की खोज निज शान्ति स्वभावमें न करके, करता है विविध शरीरोंमें, इनके नातेदारोंमें तथा इनके जन्म मरणमें। फिर आप ही सोचिये कि कैसे सम्भव हो सकते हैं चेतन भगवान्के दर्शन ? जड़ शरीरोंमें जब वह है ही नहीं तो वहां वह मिलेगा कैसे ? युगों बीत गए, परन्तु आजतक न सम्भला। घरमें पुत्र उत्पन्न हुआ, अहा हा ! कितनी अनोखी बात हुई, कितने हर्षका स्थान हुआ, एक नवीन वस्तु जो बना डाली है मैंने मानो कि उसकी सत्ता ही बना डाली हो, इससे पहले वह लोकमें ही न हो। एक महान काम जो किया है मैंने, अपने ही जैसे एक नवीन व्यक्ति का सृजन करके, परन्तु अपनी ही भांति मूर्ख। मूर्खोंकी टोलीमें एककी वृद्धि जो कर दी है मैंने। और यह क्या ? अरे काल ! हाय हाय ! नहीं तू तो चला जा यहांसे। देख देख ! ज़रा दूर रह, यहां मत आ। यह तो मेरा पुत्र है, मेरी सृष्टि है, इसपर तो मेरा अधिकार है। तू कहां ले जाना चाहता है इसे, मेरे बिना पूछे ? व्यापारमें कुछ लाभ हुआ। अहा हा ! कितना बड़ा काम किया है मैंने, कितना चतुर हूं मैं जो इतना धन ले आया हूं ? मानो कोई नई वस्तु ही बना कर लाया हूं। इससे पहले यह इस जगतमें थी ही नहीं ! अरे हैं ! यह क्या ? हानि ? अरे रे ! तुझे किसने बुलाया ? जा जा, जब बुलावें तब आना, बिना बुलाये आना सेवककी मूर्खता है। मानो मेरी ही तो आज्ञा चल रही है विश्वपर, मेरे ही आधीन रहना चाहिये सबको, मैं स्वामी जो हूं सबका। मूर्खोंको सब ही मूर्ख न दिखाई दें तो क्या दिखाई दें ? और इसीप्रकार कभी हंसता और कभी रोता चला आ रहा हूं न मालूम कबसे ?

मेरे अन्दर यह आत्मा बोल रही है, मेरी मृत्यु एक दिन आ जायेगी, मुझे चितापर रखकर फूंक दिया जायेगा और यह आत्मा उड़ जायेगी इसमें-से, एक फूंकसी निकलकर। और उसके पश्चात् मैं ? मैं तो जला दिया गया न ? एक अन्धकारसा, जिसमें कुछ नहीं भासता कि मैं रहा या विनश गया। नहीं नहीं, मैं तो विनश ही गया। मृत्यु जो आ गई। अब कहां दीखूंगा मैं ? किसे दीखूंगा मैं ? किसे पुकारेंगे लोग अमुक नाम लेकर ? जन्मसे पहले कब था मैं ? किसे

दीखता था मैं ? कौन पुकारता था मुझे अमुक नाम लेकर ? हां हां, ठीक है, जन्मसे पहले मैं था ही नहीं और मृत्युके पश्चात् मैं रहूँगा नहीं। जन्मसे मृत्यु तकके-लिये, बस इतना ही तो हूं मैं, इतना ही तो है मेरा जीवन। जितनी मौज उड़ाई जाये उड़ाले, जितनी सम्पत्ति खाई जाये खाले, फिर कौन जानता है कि रहे या न रहे। सदासे जी-जीकर मरता आ रहा है आजतक इसी प्रकार। सदासे बराबर विनश रहा है तू, सदासे चितामें जलाया जा रहा है तू। पर मजेकी बात यह कि 'मैं हूं' यह कहनेवाला आज भी तू अपने होनेका पोषण कर रहा है। सदासे भोग रहा है तथा खा रहा है इस लोककी सम्पत्तिको, पर आज भी यह ज्योंकी त्यों बनी हुई है, इस धरातलपर।

अरे भाई ! यह विचारा है कभी कि यह जिसे तू फूंकसी उड़ जानेवाला आत्मा कह रहा है, जिसे तू अपने अन्दर बोलता हुआ देख रहा है, वही तो तू है, चेतन-ज्योति परमतत्त्व, अबाध्य व अकाट्य। जिसे तू जलता हुआ देख रहा है, वही तो है 'अजीव तत्त्व' चेतन-शून्य जड़। यदि विश्वास नहीं आता तो अपनेको, उस फूंकसी-को निकालकर देखले इस ढोलकी पोल। कहां चली जाती है इसकी ज्योति व तेज ? आंख होते हुए भी क्यों नहीं देख सकता है यह ? मुँह होते हुए भी क्यों नहीं बोल सकता है यह ? कान होते हुए भी क्यों नहीं सुन सकता है यह ? नाक होते हुए भी क्यों नहीं सूंघ सकता है यह ? अग्निपर रख देनेपर भी क्यों पीड़ा नहीं होती है इसे अब ? क्यों चीख-पुकार नहीं करता है आज यह ? यह तू ही तो था कि जिसके कारण इसमें ज्योति थी, तेज था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह देखता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह बोलता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह सुनता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह सूंघता था, और यह तू ही तो था कि जिसके कारण अग्नि लगनेसे यह चीखता था। परन्तु विचार तो कर अपनी बुद्धिके फेरपर। अपनेको तो फूंकवत् फोकटकी वस्तु मान बैठा और इसे "मैं" मान बैठा है। अपनी महत्ता भूलकर इसकी महत्ता गिनता है। अपनेको जड़ व इसे चेतन मानता है।

भाई ! तू आजतक कभी मरा ही नहीं। मरता तो आज बैठा 'मैं' कहने-वाला तू कहांसे आता ? यदि विश्वास नहीं आता तो पुनर्जन्मके उन प्रत्यक्ष दृष्टान्तोंको देख जो आजके समाचार-पत्रोंके युगमें प्रत्यक्ष पढ़ने, सुनने, देखने व अनुभव करनेमें आ रहे हैं। अपनेको मैं कहनेवाला कोई भी व्यक्ति-विशेष, पुनर्जन्मपर विश्वास न करनेवाले वातावरणमें उत्पन्न होकर भी, अर्थात् मुसलमानों व ईसाइयोंमें जन्म धारण करके भी क्या आज यह कहता सुना

नहीं जाता कि मैं इससे पहले अमुक देशमें, अमुक ग्राममें, अमुक माता-पिता का पुत्र या पुत्री, अमुकका पिता या माता, अमुकका पति या स्त्री था। अमुक व्यापार करता था, अमुक मकान मेरा ही था। यह मेरी ही दुकान थी, अमुक व्यक्तिको इतना पैसा देना था मुझे। अमुक स्थानपर अमुक वस्तु रखी हुई थी मैंने तथा अन्य भी अनेकों ऐसी बातें जिनकी खोजबीन व परीक्षा कर लेनेके पश्चात्, उन सर्व बातोंकी सत्यता प्रकाशित हो जानेके पश्चात्, यह कहे बिना न बनेगा कि निःसन्देह अपनेको आज 'मैं' कहनेवाला यह व्यक्ति वही है जो इस बार जन्मनेसे पहले इससे पूर्वकी अवस्थामें भी अपनेको 'मैं' ही कहता विद्यमान था। भले ही पहले अन्धविश्वासपर आधारित रहा हो यह तथ्य, पर आजके युगमें तो सौभाग्यवश अन्धविश्वासका विषय नहीं रह गया है यह। हस्तामलकवत् आज प्रत्यक्ष हो रहा है, इस परम-सत्यका।

६. <u>उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य</u>—इसप्रकार देखनेपर आज जो जन्मा है वह वही है जो पहले कहींसे मरा है, कोई नया नहीं। और यदि ऐसा ही है तो जन्म लेते समय कौन नई वस्तु जन्मी और मरण पाते समय कौन पहली वस्तु विनशी? बिल्कुल इसीप्रकार जिसप्रकार कि विचार करनेपर यह बात ध्यानमें आ जाती है कि धन-लाभ होते कौन नई वस्तु आ गई और धन-हानि होते कौन पूर्व वस्तु विनश गई? यहां ही थी यहां ही रही, न कुछ आई न कुछ गई। इसीप्रकार तू भी यहीं था यहीं रहा, न कुछ जन्मा न कुछ मरा। तेरे इस जन्मसे या धन-लाभसे लोकमें न कुछ लाभ हुआ न वृद्धि हुई और तेरी इस मृत्युसे या धन-हानिसे लोकमें न कुछ घटोतरी आई न कुछ हानि हुई। 'मैं' कहनेवाले जितने व्यक्ति थे अब भी उतने ही रहे। जितनी सम्पत्ति थी अब भी उतनी ही रही। केवल 'मैं' के शरीरोंकी कुछ आकृति या स्थान मात्र बदले गये और इसी प्रकार सम्पत्तिके भी रूप व स्थान मात्र बदले।

पहले कलकत्तेके एक ब्राह्मण कुलमें था और आज इस मुजफ्फरनगरके एक वैश्य कुलमें। पहले कभी पशुके शरीरमें था अब मनुष्यके शरीरमें, पहले कभी चींटीके रूपमें था अब मनुष्यके रूपमें और इसी प्रकार सर्व रूपोंमें, सर्व शरीरोंमें, बराबर क्रमसे परिवर्तन करता, एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाता रहता, आज भी अपने अस्तित्वको तेरा यह 'मैं' प्रत्यक्ष प्रकाशित कर रहा है। और इसीप्रकार यह सम्पत्ति भी, पहले विष्टारूप थी और आज अन्नरूप, पहले पृथ्वीरूप थी और आज स्वर्णरूप, पहले पत्थररूप थी और आज आपकी सुन्दर अंगूठीरूप, पहले किसीके पास थी और अब आपके पास। पहले पशुओंकी भोज्य थी और आज आपकी। इसीप्रकार अनेकों रूपोंमें परिवर्तन करती, एक

स्थानसे अन्य स्थानपर जा-जा कर भ्रमण करती, आज भी यह किसी रूपमें अपने अस्तित्वको सिद्ध कर रही है।

इसी प्रकार यह शरीर भी ता पहले विष्टारूप था, फिर मिट्टी हो गया, अन्न बन बैठा, किसीके द्वारा भक्षण किये जानेपर उस ही शरीरके अंगोपांग रूपसे परिवर्तित हो चमड़ा हड्डी बन गया, जलकर राख हो गया, और राख फिर पृथ्वी बन गई। या उस भोज्यका ही कुछ भाग विष्टा बनकर फिर पीछे मिट्टी बन गया अथवा माता-पिताके द्वारा ग्रहण किया गया वह भोजन किसी अन्य बालकके शरीररूप बन गया और एक दिन अकस्मात् प्रगट होकर आश्चर्यमें डाल दिया उसने सबको। बताइये तो क्या जन्मा क्या मरा? शरीरका पदार्थ भी तो कोई नया उत्पन्न हुआ नहीं और न ही विनशा, रूपसे रूपान्तरमें परिवर्तित होता तथा स्थानसे स्थानान्तर होता यह वही तो है जो पहले था। न कुछ विनशा न कुछ उपजा।

यदि कहीं इतनी योग्यता हुई होती कि इस चेतनके तथा इस शरीरके अंगस्वरूप इन पृथ्वी-जल आदि तत्त्वोंके, प्रत्येक क्षणमें होनेवाले परिवर्तनका बराबर निरीक्षण कर सकता तो यह स्पष्ट प्रतिभास हो जाता कि इस पृथ्वीका एक कण कोंपलमें आगया, और देखो वही अब अन्नमें बैठा हुआ है, और देखो अब इस शरीरमें बैठा हुआ अपने अस्तित्वको बराबर दर्शा रहा है। अथवा यह 'मैं' कहनेवाला व्यक्ति जो आज कुत्तेके शरीरमें बोलता दीख रहा है, देखो वह उड़ा जा रहा है आकाशमें पूर्वकी दिशाको, यह देखो इस कोंपलमें आ बैठा और ओह! कितना बड़ा रूप धारणकर, यह देखो इस वृक्षमें बैठा है। अथवा इस माताके गर्भमें प्रवेश पा गया और देखो आज यह इस तेरे शरीरमें बैठा अपनेको उसी 'मैं' शब्दके द्वारा पुकारता हुआ अपने लम्बे अस्तित्वका परिचय दे रहा है। तब यह भ्रम न रह पाता मुझे, जो आज है।

भले प्रत्यक्षरूपसे न सही पर सौभाग्यवश आज भी परोक्षरूपसे, तर्क व अनुमानके आधारपर ये सब उपरोक्त बातें प्रत्यक्षवत् ही हो रही हैं और अपनी सत्यताको सिद्ध कर रही हैं। प्रभो! तुझे बुद्धि मिली है। विचार व अनुभवके आधारपर किसी छिपे हुए रहस्यका पता लगानेका प्रयत्न कर। यह सर्व तथ्य परोक्ष हों, ऐसा भी नहीं है। मेरे गुरुवर तथा योगीजनोंको इसका प्रत्यक्ष भी हुआ है, जिसके आधारपर कि मुझे सम्बोधनेके-लिये तथा मेरी भूल दूर हो जाय इस अभिप्रायसे परम करुणा-पूर्वक लिख गये हैं वे, इन शास्त्रों में। और इसीलिये मेरे अनुमान व तर्ककी साक्षी देनेवाला यह आगम भी उस तथ्यकी सत्यताको सिद्ध कर रहा है।

उपरोक्त सर्व कथनपर-से सिद्धान्त निकला यह कि:—

१ लोकमें दो जातिके पदार्थ हैं। एक चेतन तथा दूसरा अचेतन (जड़)। एक विचारने व सुख-दुःखका वेदन करनेकी शक्ति रखनेवाला और दूसरा इन शक्तियोंसे रहित। एक अमूर्तिक तथा दूसरा मूर्तीक। एक इन्द्रियोंसे देखा जाने तथा जाना जाने योग्य और दूसरा इन्द्रियोंसे अगोचर। चेतन व अमूर्तिक तत्त्वका नाम जीव या (सोल) है और दूसरे जड़ व मूर्तीक तत्त्वका नाम पुद्गल या (मैटर) है।

२ दोनों ही सदासे हैं और सदा ही रहेंगे, न नये पैदा होते हैं और न कभी विनशते या अपनी सत्ता खोते हैं। दोनों ही अपनी-अपनी अवस्थायें अपने अपनेमें बराबर बदल रहे हैं अर्थात् उनमें सदा नई अवस्थायें उत्पन्न होती रहती हैं तथा पुरानी अवस्थायें विनशती रहती हैं। अर्थात् वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इन तीनों अंशोंका अखण्ड पिण्ड है। वे दोनों ही एक स्थानसे अन्य स्थानको प्राप्त होते रहते हैं। अवस्था बदलते रहते भी जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल।

३ जीव-तत्त्वरूप 'अहं प्रत्यय' के द्वारा सदा सुख-दुःखका वेदन होता रहता है और पुद्गलके द्वारा शरीरका निर्माण। शरीर और शरीरधारीके सम्बन्धमें जकड़े हुए ये दोनों दूध और पानीवत् एकमेक होकर रहते हैं। एकमेक होकर रहते हुए भी जीव कभी पुद्गल और पुद्गल कभी जीव नहीं बन सकता।

यह सिद्धांत शान्ति-पथका प्राण है। बिना इसे जाने शान्ति पा लेना असम्भव है। अतः भो चेतन! अपनी भूल सुधारनेके लिये इस रहस्यको सुन। तर्क, अनुमान, अनुभव व आगमके आधारपर उसका निर्णयकर और अपने क्षण-क्षणकी विचारणाओंमें उसे अवकाश दे। ऐसा करनेसे तुझे अपने जीवनके सकल व्यवहारमें सर्वत्र एकमात्र वस्तु-स्वभाव देखनेका अभ्यास हो जायेगा, जिसके कारण तू अपने या किसी अन्यके कार्योंमें एक दूसरेकी सहायता न देखकर उन्हें स्वतन्त्र्य रीतिसे होता हुआ ही देखेगा, किया जाता हुआ नहीं।

७. भेद विज्ञान—इसीका नाम है स्वपर-पदार्थोंकी पृथकता, ज्ञानका अचिन्त्य माहात्म्य। मिले-जुले रहते हुए भी, मिश्रित पदार्थोंमें ज्ञानसे भेद देखा जा सकता है, पृथकता देखी जा सकती है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पड़े रहते हुए भी षटकारकी स्वतन्त्रता देखी जा सकती है। यदि मिले-जुलेमें भेद न देखे तो ज्ञानी काहेका? पृथक पदार्थोंको पृथक तो अन्धा भी कह देगा। उसमें कौन चतुराई है? जौहरी तो तभी कहला सकता है कि जब खोटे जेवर

में स्वर्ण व खोटका सही सही अनुमान करके, उसी अवस्थामें उन दोनोंको पृथक पृथक देखे और खोटको जानते हुए भी केवल स्वर्णका मूल्य आँके, खोटका नहीं, यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ मूल्य तो खोटका भी है ही। इसीप्रकार निमित्त नैमित्तिक-रूपसे षटकारकी सम्बन्ध रहते हुए भी षटकारकी भेद देखना ही ज्ञानका माहात्म्य है। इन दोनोंका प्रत्यक्ष भेद हो जानेपर तो अन्धा भी इनमें कर्ता-कर्म आदि भाव न घटायेगा। उस समय उनमें स्वतन्त्रता देखना कहांकी चतुराई है? ज्ञानी तो तभी कहला सकता है कि जब बद्ध-अवस्थामें दोनोंके कार्यकी सीमाओंका पृथक-पृथक निर्णय करके, केवल उपादान अर्थात स्वपदार्थका ही मूल्य आँके, निमित्त या परपदार्थका नहीं, यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ काम तो निमित्तका है ही।

तू ज्ञानियोंकी सन्तान है, अन्धोंकी नहीं। अतः यही योग्य है कि परतंत्र दृष्टिको छोड़कर स्वतन्त्र दृष्टिको अपना। निमित्तको जानते हुए भी उसका मूल्य न गिन। स्व व पर दोनोंको पूर्ण स्वतन्त्र देख, षटकारकी रूपसे स्वतन्त्र अर्थात् स्वयं अपने द्वारा, अपनेलिये, अपनेमें ही अपना काम करते हुए देख। 'सुनारने जेवर बनाया' ऐसा न विचारकर, 'स्वर्णसे जेवर बना' ऐसा विचार। 'मैंने कुटुम्ब पाला या शरीरके अर्थ धन कमाया' ऐसा न विचारकर, 'मैंने केवल विकल्प उत्पन्न करके अपना अहित किया' ऐसा विचार। इसका नाम है दो द्रव्योंकी पृथकता, शरीर आदिका मुझसे जुदापना, या स्वपर-भेदविज्ञान। केवल 'शरीर जुदा और मैं जुदा' या 'शरीर मेरा नहीं, कुटुम्बसे मेरा कोई नाता नहीं' इतना कहनेसे काम न चलेगा। 'मेरा नहीं' का अर्थ, 'षटकारकी रूपसे मेरा नहीं', ऐसा है। अर्थात् न मैं इसका कोई काम कर सकता हूं और न यह मेरा। न मैं इसके द्वारा कोई काम कर सकता हूं, न यह मेरे द्वारा। न मैं इसके-लिये कोई काम करता हूं, न यह मेरेलिये। न मैं इसके स्वभावमें जाकर कोई काम करता हूं न यह मेरे स्वभावमें आकर। अपने-अपने स्वभाव तथा अपनी-अपनी सत्तासे दोनों पृथक हैं। अपने-अपने प्रदेशोंसे भी दोनों पृथक हैं। अपने-अपने काल या अवस्थाओंसे भी दोनों पृथक हैं। अर्थात् पृथक-पृथक रह कर अपनी-अपनी अवस्थायें स्वतन्त्र रूपसे उत्पन्न कर रहे हैं। अपने भावके भी स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार है स्वपर-पदार्थोंकी पृथकता।

इस प्रकारकी स्वपर-पृथकताकी दृष्टि कितनी कार्यकारी है इस मार्गमें। देखिये, आप अजायबघरमें जाकर अनेकों हीरे, जवाहरात आदि मूल्यवान आकर्षक वस्तुओंको खूब रुचिपूर्वक देखते हो और प्रसन्नचित बाहर चले आते हो, परन्तु वैसी ही वस्तुओंको बाजारमें रखा देखते हो तो कुछ चिंतितसे हो

जाते हो। क्या कारण है ? केवल यही कि अजायबघरकी वस्तुओंमें आपको यह विश्वास है कि यह मेरेद्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती, इनके ग्रहण करने का मुझको अधिकार नहीं है। और इसीकारण उनको ग्रहण करनेका विकल्प नहीं आता, भले उनको गौरसे देखो। परन्तु बाज़ारकी वस्तुओंके प्रति आपको विश्वास है कि इनको ग्रहण करने या बनाने-बिगाड़नेका आपको अधिकार है। इसलिये विकल्प उठ जाते हैं, उनको ग्रहण करने या बनाने-बिगाड़नेके। उपरोक्त स्वतन्त्र दृष्टिसे इस बनाने-बिगाड़ने सम्बन्धी कर्तापनेके विश्वासको ही तोड़नेका प्रयत्न किया गया है। जिसके दूर हो जानेपर अजायबघरकी वस्तुओंवत्, आप इस विश्वके समस्त पदार्थोंको देखोगे ही, बनाने बिगाड़ने आदिके भाव न करोगे। इसीका नाम है ज्ञाता-दृष्टा भाव। बस यही प्रयोजन है स्वपर भेद-विज्ञानका, या षटकारकी-भेदका, क्योंकि ज्ञाता-दृष्टापना ही वह साम्यता व शान्ति है, जिसकी खोजमें कि मैं निकला हूँ।

८. ज्ञानधारा कर्मधारा—जीव अजीव तत्त्व-विषयक विवेक-ज्ञान जागृत करनेके-लिये अनेकों प्रश्न उत्पन्न हुए थे। उनमेंसे तीन प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देकर वस्तु-स्वातन्त्र्यका दिग्दर्शन करा दिया गया। अब चतुर्थ प्रश्न है यह कि किस विधिसे इस जगतमें विचरण करूं जिससे कि यह प्रपञ्च मुझे स्पर्श न कर सके, और मैं केवल दृष्टा बना इसका तमाशा देखता रहूं। मेरी शान्ति अक्षुण्ण बनी रहे, विविध विकल्पोंके नीचे दबकर अचेत न हो जाय। उत्तर तो सरल है पर किया जाना कठिन। उत्तरमें तो इतना मात्र कह देना पर्याप्त है कि "स्वको भज और परको तज"। परन्तु इसका तात्पर्य क्या ? मैं तो स्वयं 'मैं' हूं ही, इसका भजना क्या ? और पर-पदार्थ मुझमें हैं ही नहीं, उनका तजना क्या ? घर-बार धन-कुटुम्ब हैं, लो इन्हें छोड़कर वनमें चला जाता हूं। "भैया! इतना मात्र ही नहीं है, तेरा भण्डार अनन्त है, उस सबको छोड़नेकी बात है।" अच्छा लो यह वस्त्र भी उतार देता हूं। "भैया ! इससे क्या होगा ? केवल बाहरका गिलाफ उतरेगा। तेरा भण्डार भराका भरा ही रह जायेगा।" तब कैसे करूं ? और कुछ तो यहां दीखता नहीं। यह शरीर अवश्य है। लो इसे भी गङ्गा माँके चरणोंमें समर्पित कर देता हूं। "परन्तु ऐसा करनेसे भी क्या होगा ? तुरत दूसरा मिल जायेगा।" तब क्या करूं ? बड़ी विचित्र समस्या है। इनके अतिरिक्त और है ही क्या, जिनका कि मैं त्याग करूं ?

भैया ! तेरी दृष्टि बाह्य जगतमें ही घूम रही है, इसीलिये तुझे अपना अक्षय भण्डार दिखाई नहीं देता है। देख अपने भीतर उस अभ्यन्तर-जगकी ओर जिसका विवेचन अजीव-तत्त्वके अन्तर्गत किया गया है, और जिसे विवेक-ज्ञानने

परपदार्थ स्वीकार कर लिया है। यही है तेरा वह अक्षय कोष जिसका त्याग करना है। धन, कुटुम्ब, वस्त्र तथा देहके त्यागकी बात नहीं है,मन, बुद्धि, अहंकार आदिके त्यागकी बात है। परन्तु इनका त्याग कैसे करूं ? क्या शरीरको काटकर इसमेंसे मन-बुद्धि आदिको निकालकर बाहर फेंक दूं?"परन्तु इससे क्या होगा ? तुरत दूसरे मिल जायेंगे। इसलिये मांस-पिण्डरूप द्रव्य-मन आदिके त्यागकी बात नहीं है, भाव-मन आदिके त्यागकी बात है, संकल्प-विकल्पोंके तथा उनमें नित्य उदित हो-होकर लीन होनेवाले इष्टानिष्टादि विविध द्वन्द्वोंके त्यागकी बात है, तर्क-वितर्कोंके त्यागकी बात है, इच्छाओं कामनाओं तथा वासनाओंके त्यागको बात है।"

परन्तु इनका त्याग कैसे करूं ? ये तो ज्ञानके साथ एकमेक हुए पड़े हैं। क्या ज्ञानका त्याग कर दूं ? ज्ञानका त्याग कर दिया तो फिर रह ही क्या गया? ज्ञान ही तो मेरा स्वरूप है। उसके त्याग का अर्थ है अपना त्याग, अपना नाश। और फिर ऐसा करना सम्भव भी तो नहीं है। क्या अग्नि कभी उष्णता का त्याग कर सकती है ? "बात ठीक है भैया ! सूक्ष्म होनेके कारण कुछ अटपटी सी अवश्य लगती है, परन्तु वास्तवमें ऐसी नहीं है। ले समझाता हूं। तनिक सूक्ष्म-दृष्टिसे समझनेका प्रयत्न कीजियो।"

जीव-पदार्थमें ज्ञान गुण ही प्रमुख है, अन्य सब उसका विस्तार है। चेतनके सब गुण चेतन हैं अर्थात् ज्ञानात्मक व अनुभवात्मक हैं। ज्ञान तो ज्ञान है ही, श्रद्धा भी ज्ञानात्मक है और चारित्र या प्रवृत्ति भी, क्योंकि ज्ञानके संशय-रहित रूपको श्रद्धा कहते हैं और उसीके समताभावी रूपको चारित्र कहते हैं। शान्ति भी ज्ञानात्मक है क्योंकि अनुभव करना ज्ञानका ही नाम है। इसी कारण आत्मा चित्पिंड कहा जाता है। या यों कहिये कि ज्ञानमात्र ही 'जीव' है। अतः ज्ञानके कार्योंको ही ज्ञानका विषय बनाना इष्ट है। यह बात न भूलना कि यह सूक्ष्म-दृष्टि पर्यायकी क्षणिक सत्ताको लक्ष्यमें लेकर चली है, द्रव्यकी ध्रुव सत्ताको नहीं।

यद्यपि ज्ञानका कार्य जानना है, पर उसके साथ कुछ और भाव भी संलग्न हैं। जानना दो प्रकारका होता है—एक केवल जानना और दूसरा कल्पना विशेषके साथ जानना। अजायबघरमें रखी वस्तुओंको जानना केवल जाननेका उदाहरण है। अथवा राह चलते किसी भी साधारण व्यक्तिको जानना केवल जाननेका उदाहरण है और घरमें पड़ी वस्तुओंको अथवा अपने पुत्रको जानना कल्पना-सहित जाननेका उदाहरण है। अजायब घरमें कोई वस्तु इष्ट-अनिष्ट या तेरी-मेरी नहीं; पर घरकी वस्तुओंमें कोई इष्ट हैं और कोई अनिष्ट, कोई

मेरी है और कोई तेरी। इसीप्रकार राहमें चलता हुआ साधारण व्यक्ति मेरे लिये अच्छा है न बुरा, शत्रु है न मित्र; परन्तु अपना पुत्र मेरेलिये अच्छा है, मेरा अपना है, मेरी सेवा करनेवाला है। अजायबघरकी वस्तुयें न ग्राह्य है, न त्याज्य, न बनाने योग्य हैं और न बिगाड़ने योग्य; परन्तु घरकी वस्तुओंमें कोई ग्राह्य है और कोई त्याज्य, कोई बनाने योग्य है और कोई बिगाड़ने योग्य। इसी प्रकार राह चलता व्यक्ति न प्रेम किया जाने योग्य है और न द्वेष, न बाधा पहुंचाया जाने योग्य है और न सहायता किया जाने योग्य; परन्तु अपना पुत्र प्रेम किया जाने योग्य है और द्वेष किया जानेके अयोग्य, बाधा पहुंचाये जाने योग्य नहीं है, सहायता किया जाने योग्य है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना।

यहां अजायबघरकी वस्तुओंका जानना अथवा राह चलते व्यक्तिको जानना तो कर्तापने या भोक्तापनेकी कल्पनाओंसे अतीत केवल जानना है, और घरकी वस्तुओंका जानना अथवा अपने पुत्रको जानना कर्ताभोक्ताकी कल्पनाओंसहित होनेके कारण जाननेके साथ कुछ और भी है। ज्ञानकी पहली जातिके कार्यको 'ज्ञानधारा' कहते हैं और दूसरी जातिके कार्यको 'कर्मधारा' कहा गया है। इन पारिभाषिक शब्दोंको याद रखना, क्योंकि अगले प्रकरणोंमें इनका अधिक विस्तार आनेवाला है। ज्ञानधारा ज्ञातादृष्टा-भावरूप है और कर्मधारा क्रोधादि विकारोंरूप। ज्ञानधारा ज्ञानके पारिणामिकभाव या स्वभावके साथ तन्मय है अर्थात् उसके बिल्कुल अनुरूप है, इसलिये यह चेतनभाव है। और कर्मधारा पर-पदार्थोंके करने धरनेके विकल्पों-सहित होनेके कारण ज्ञानके पारिणामिक भाव या स्वभावके साथ तन्मय नहीं है अर्थात् उसके बिल्कुल अनुरूप नहीं है, अतः परभाव है, चेतन-भावसे अन्य है, और इसीलिये वह अचेतन या जड़ भाव है।

इन दोनों जातिकी क्रियाओंमें ज्ञान एक समय एक ही कार्य कर सकता है, क्योंकि उपयोग-विशेष अर्थात् जानना-विशेष ज्ञानकी एक क्षणिक अवस्था है। पहिले कुछ और जानता है पीछे कुछ और, पहले कुछ और तरहसे जानता है पीछे कुछ और तरहसे। एक ही क्षण एक ही ज्ञानकी दोनों अवस्थायें नहीं हो सकतीं। इस लिये 'ज्ञानधारा' के सद्भावमें 'कर्मधारा' और 'कर्मधारा' के सद्भावमें 'ज्ञानधारा' होनी असम्भव है। अर्थात् क्रोध व रागादि विभाव-भावों के समय ज्ञातादृष्टापनेकी साम्यता और साम्यताके समय क्रोध व रागादि विभाव-भाव होने असम्भव हैं।

ज्ञानधारासे तन्मय चेतन 'ज्ञाता' कहलाता है और कर्मधारासे तन्मय चेतन

'कर्ता'। इसका कारण भी यही है कि ज्ञानका अपने जानन-स्वभावके अनुरूप कार्य अथवा पर्याय ही ज्ञानकी जातिका कार्य या पर्याय कहा जा सकता है। कर्ता-भोक्तापनेकी कल्पनायें ज्ञानके पारिणामिक भाव या स्वभावकी जातिकी नहीं होनेके कारण, उन्हें ज्ञानकी जातिका कार्य या पर्याय नहीं कहा जा सकता। ज्ञान-भावसे तन्मय ज्ञानका कार्य 'ज्ञान' कहलाता है और कल्पनाओं या विकल्पोंसे तन्मय ज्ञानका कार्य विकल्प या 'राग' कहलाता है।

इसप्रकार ज्ञानके रूपोंका विश्लेषण करनेसे पता चलता है कि वह दो जातिका है—एक तो केवल वस्तुके वर्तमान स्वरूपको अथवा उसके भूतभावी स्वरूपको या त्रिकाली स्वरूपको जानने-मात्ररूप और दूसरा उस वस्तुके साथ अपना षट्कारकी नाता उत्पन्न करके उसमे अच्छे बुरेकी कल्पना करनेरूप। ज्ञानके पहिले रूपका नाम ज्ञानधारा है और दूसरेका कर्मधारा। ज्ञानधारा व ज्ञाता-दृष्टापना एकार्थवाची हैं, और कर्मधारा व कर्तावुद्धि एकार्थवाची हैं। यह ज्ञान किसी भी पदार्थके सम्बन्धमें क्यों न हो, दोनों जातिका हो सकता है। ऐसा नहीं है कि निज-आत्मा या भगवान् सम्बन्धी ज्ञान तो ज्ञानाधारारूप हो और अन्य पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारारूप हो। निज-स्वरूप व भगवान् सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारारूप होना सम्भव है और लौकिक पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान ज्ञानधारारूप होना सम्भव है। सो कैसे वही दर्शाता हूं।

"मैं हूं, ज्ञान-स्वभावी हूं, शान्ति मेरा स्वभाव है, पहिले भवमें मैं कुत्तेके रूपमें था, अगले भवमें मैं देवके रूपमें हो जानेवाला हूं', आत्मा सम्बन्धी यह सब विचारणायें ज्ञानधारारूप हैं। अर्थात् जहाँ भूत वर्तमान व भविष्यत् काल सम्बन्धी अनेकों अवस्थाओंमें गुंथे हुए मेरे एक अखण्ड रूपकी सत्तामात्र दिखाई देती है, वहां ज्ञान ज्ञानधारारूप है। क्योंकि यहांपर 'था, हूं और हूंगा'के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थके या अपनी ही किसी अवस्थाविशेषके साथ षट्कारकी सम्बन्ध जोड़कर उनमें इष्टता-अनिष्टता उत्पन्न नहीं की गई है, केवल होने मात्रकी स्वीकारता है। परन्तु "मैं पहिले भवमें बहुत निकृष्ट दशामें पड़ा था, बहुत दुखी था, अब मैं कुछ धर्म करूंगा, या भोग भोगूंगा, देव बन जाऊं तो बहुत अच्छा लगेगा", इसप्रकारका सर्व-ज्ञान कर्मधारारूप है, क्योंकि यहां अन्य पदार्थों तथा अपनी ही किन्हीं विशेष अवस्थाओंके साथ षट्कारकी सम्बन्ध जोड़कर उनमें इष्टता-अनिष्टताकी कल्पना की जा रही है। इसी प्रकार "भगवान् पूर्ण शान्तिमें स्थित हैं, वे तीन लोकको देख रहे हैं, पहिले निगोदमें रहते थे, आगे सदा आनन्दमें मग्न रहेंगे", भगवान् सम्बन्धी ये सब विचारणायें ज्ञानधारारूप हैं। और "भगवान् अधमोद्धारक हैं, उनकी

पूजा व भक्ति मेरेलिये बड़ी हितकारी है। वे अपने आश्रितोंको अपने समान कर लेते हैं", इत्यादि प्रकारका ज्ञान कर्मधारा-रूप है।

इसी प्रकार "यह विष्टा नामका एक पदार्थ है, इसका रंग पीला है, इसमें एक विशेष प्रकारकी गन्ध है, उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है, यह पहिले अन्नरूप थी, अब खेतोंमें खादके रूपमें डाली जाती है," इत्यादि विष्टा-सम्बन्धी सर्व ज्ञान ज्ञानधारारूप है। परन्तु "यह बहुत घिनावनी है, दुर्गन्धित है, इसे मेरे पाससे हटाओ", इत्यादी प्रकारका उसी विष्टा सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारारूप है। "यह युद्धस्थल है। यहां अनेकों योद्धा परस्परमें लड़कर मृत्युकी गोदमें सो जाया करते हैं। यह युद्ध सिकन्दर व पोरसके मध्य हुआ था," इत्यादि प्रकारका सर्व-ज्ञान ज्ञानधारारूप है। परन्तु यह "युद्ध मेरे देशके-लिये बड़ा हानिकारक सिद्ध हुआ। भविष्यतमें हमें ऐसे युद्धोंके प्रति रोक-थाम करनी चाहिये" इस प्रकारका सर्व ज्ञान कर्मधारारूप है। "आजका दिन बहुत गरम रहा है" यह ज्ञानधारा है। और "इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई है, गरमी कुछ कम हो जाती तो अच्छा होता" यह कर्मधारा है। इसी प्रकार अन्य भी।

वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानधारा बुद्धिके प्रयास द्वारा विचारणायें उत्पन्न करनेरूप नहीं होती, क्योंकि ऐसा करनेसे तो वह सब ही ज्ञान कर्मधारारूप बन जायेगा। वह तो केवल सहज प्रतिभास रूप है। जैसा-कैसा भी, जिस-किस भी वस्तुका प्रतिभास हो जानेपर मनकी सर्व विचारणायें शान्त हो जाती हैं। तथा वह व्यक्ति कुछ उस प्रतिभासके साथ तन्मयसा होकर खोया-खोयासा महसूस करने लगता है। वह दशा कुछ अद्वैत-सी होती है। और इसलिये शान्तिरूप है। जितनी देर भी ऐसी स्थिति रहती है मनको थकान नहीं होती बल्कि आनन्दमें कुछ झूमता-सा रहता है। परन्तु वहांसे हटकर यदि कर्मधारामें आ जाता है तो बुद्धिपूर्वकका प्रयास प्रारम्भ हो जानेके कारण, तब उसे उन्हीं विचारणाओंमें कुछ थकान महसूस होने लगती है।

६. सत्य पुरुषार्थ—इस कथनपर - से मानवीय पुरुषार्थके ही दो रूप दर्शा दिये गये। उनमेंसे कर्मधारारूप पुरुषार्थ तो सर्व-लोक सदासे करता आ रहा है। शान्तिका उपासक इसे छोड़कर ज्ञानधारारूप पुरुषार्थका आश्रय लेता है और जीवनको तदनुरूप ढालनेका धीरे-धीरे अभ्यास करता है। लौकिक और अलौकिक पुरुषार्थमें यही अन्तर है। यद्यपि उसका बाह्य जीवन तो एकदम वैसा होने नहीं पाता, परन्तु उसका दार्शनिक जीवन, जिसका आधार कि केवल श्रद्धा है, अवश्य पलटा खाता है, और करने-धरनेकी या कारण-कार्य-भाव खोजनेकी टेव विराम पाती है। इस अभ्यास या प्रयत्नका नाम ही मोक्षमार्ग

या शान्तिपथ है । यद्यपि व्यवहारिक जीवनमें उसकी कर्मधारा चलती रहती है पर दार्शनिक अन्तरंग जीवनमें सर्वत्र ज्ञानधारा व्याप जाती है । जिसके फलस्वरूप वह सदा ही अपने सर्व बाह्य रागात्मक कर्मधारावाले कृत्योंके लिये अपनेको धिक्कारता हुआ बराबर अन्दर ही अन्दर उनसे पीछे हटनेका, तथा ज्ञानधारामें टिकनेका प्रयास करता रहता है । ऐसी मिश्रित दशा उसकी उस समयतक चलती रहती है जबतक कि कर्मधाराका अभ्यास पूर्णतः शमन न हो जाये । यही व्यवहार व निश्चय मार्गकी मैत्री है । इसका यह अर्थ नहीं कि वह दोनोंको उपादेय मानता है । कर्मधारारूप व्यवहार करते हुए भी वह उसे सर्वथा अपराध ही समझता रहता है और ज्ञानधाराको सत्य समझता रहता है ।

यह बात उस श्रद्धा या अभिप्रायकी है जो बाहरमें दृष्ट नहीं हो पाती, साधकके अन्दर ही अन्दर चुटकियें लिया करती है, जिसे वह स्वयं जान सकता है, दूसरा नहीं । अन्य लौकिक प्राणी तो उसे पूर्ववत् ही कर्मधारामें उलझा हुआ देखते हैं, पर वह अन्दर ही अन्दर ज्ञानधाराकी ओर झुकता जाता है, कर्मधाराके अपने सर्व-विकल्पोंको निःसार व मिथ्या प्रपञ्चरूप अङ्गीकार करता जाता है । फिर भला वह कब अभिप्राय-पूर्वक यह कह सकता है कि अमुक कार्य अमुकने किया या अमुक कारणसे हुआ । किसने किया ? स्वभावने । निमित्तका कोई स्थान ? हुआ करे, पर वह भी स्वभाविक ही है । उसके देखनेका ढंग बदल जाता है । लौकिक जीवोंको भले उसकी बात अटपटी लगे पर उसके लिये वह सत्य है, परम सत्य । विश्वकी स्वतन्त्र व स्वभाविक कार्य–व्यवस्था वह प्रत्यक्षवत् देखता है, और इसीलिये विरोध करनेवाले साधारण अनभिज्ञ व अज्ञानी जनोंके आक्षेपोंपर वह केवल मुस्करा देता है ।

वह जानता है कि सर्व साधारणजन इस रहस्यको समझ न सकेंगे । इस लिये वाद-विवाद करना व्यर्थ समझता है और केवल वीतराग गुरुओंके आदर्शको ही एकमात्र शरण समझता हुआ निर्भीक अपने मार्गपर बढ़ता चला जाता है । ज्ञानधाराको पुष्ट करनेवाले चर्चाग्रस्त प्राणी उस चर्चामें उलझे हुए पीछे पड़े रह जाते हैं । उनके प्रति उसे केवल माध्यस्थता ही रहती है, द्वेष या विरोध नहीं; क्योंकि वह जानता है कि ये बेचारे वस्तुस्वरूप या निमित्त-उपादानकी बातें ही करना सीखे हैं, पर ज्ञानधारामें बैठकर वस्तु व्यवस्थाको देखना नहीं सीखे हैं । इसी कारण निश्चय या स्वभावकी बात कहते तो अवश्य सुने जाते हैं, पर कर्मधाराकी पकड़ छोड़ते नहीं देखे जाते । कर्मधाराका कांटा गलेमें अटका हुआ है; इसीलिये, 'व्यवहारसे तो मेरे अहंकारकी या कर्तापनेकी

अथवा निमित्त-कारणोंकी सार्थकता खरी' इस प्रकारकी बात सामने आये बिना नहीं रहती। ये लक्षण ही कर्मधाराकी ओर उनके अन्तरंग अभिप्राय या झुकावके साक्षी हैं। यही कर्मधाराकी अतीव वेदना है जिसमें पड़ा समस्त जगत तड़प रहा है। क्या किया जाये, यह भी स्वतन्त्र रीतिसे हो ही रहा है। सर्व जगत तो न कभी समझा है और न कभी समझ सकेगा। समझनेवाले ही समझते हैं और वे बिरले ही होते हैं। इसलिये उसे जगतकी इस अहंकारपूर्ण बुद्धिपर केवल हंसी आती है और कुछ करुणा भी।

साधकके दार्शनिक विचार सदा ज्ञानधारारूप ही रहते हैं। यदि विचारोंमें भी यह परिवर्तन न हुआ तो साधक काहेका? यदि लौकिक जीवोंकी भांति निमित्तोंमें ही कर्त्ता या कारणपना देखता रहा या उस ही की बात करता रहा, तो लौकिक जीवोंमें व उसमें क्या अन्तर रहा? दोनोंका झुकाव ही कर्म-धाराकी ओर रहा। भले ही बाह्य क्रियाओंमें अभी कर्मधाराके दर्शन होते हों, पर साधकके अन्तरंग अभिप्रायमें ज्ञानधारा व्याप चुकी है। वह जो भी बात या चर्चा या उपदेश दार्शनिक अथवा सैद्धांतिक दृष्टिसे करता है, वह सब ज्ञान-धाराकी ओर झुककर ही करता है। इसलिये निमित्तोंके कर्तापने या उसके अहंकारका, वस्तुकी स्वतन्त्र कार्यव्यवस्थाके प्रतिपादनमें, उसके द्वारा कोई स्थान स्वीकार नहीं किया जाता। भले ही कर्मधारामें जानेपर उनका भी कोई स्थान वहां दिखाई देता हो, पर ज्ञानधारामें तो सब कार्य स्वतः होते हुए ही दिखाई देते हैं, किसीके द्वारा किये जाते हुए नहीं। इस होनेपनेमें निमित्त अपना योग्य स्थान लेते हुए अवश्य दिखाई देते हैं, पर इस कल्पनाको कहीं अवकाश मिलने नहीं पाता कि, 'यदि यह न होता तो यह हो जाता।'

ज्ञानधाराका ऐसा ही कोई अचिंत्य माहात्म्य है। भले ही इसे एकान्त कहो पर साधकको यही सुन्दर लगता है। यह उसकी आन्तरिक साधना है। इसी साधनाके आधारपर, जलमें कमलवत् वह संसारमें रहता हुआ भी इससे भिन्न रहता है। जिसप्रकार कि पुत्रकी मृत्युके एक महीने पश्चात् ही अपनी कन्याका विवाह करनेवाला कोई व्यक्ति, बाहरमें सब कुछ रावरंग करता हुआ भी अन्दरमें रोनेके सिवाये कुछ नहीं कर पाता। वह हंसता बोलता अवश्य है, बाजा आदि भी बजवाता अवश्य है, मिठाई भी बनवाता अवश्य है, हंस-हंसकर अतिथियोंका सत्कार भी करता अवश्य है, पर अन्दरसे नहीं बाहरसे। उसका अन्तष्करण तो यह सब कुछ करता हुआ भी अपने पुत्रके शोकसे विव्हल, केवल रो ही रहा है। यह सब कुछ खेल-तमाशा मानो उसका गला घोंट रहा हो, ऐसा उसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार शांति-पथका साधक भी व्यापार आदि

करता अवश्य है, भोग आदि भी भोगता अवश्य है, पर अन्दरसे नहीं केवल बाहरसे। अन्दरसे तो इन सब कार्योंको करता हुआ वह रोता मात्र है, मानों वह सब कुछ आडम्बर उसके आन्तरिक जीवनका गला घोंट रहा हो। लोकको वह अवश्य सब कुछ करता हुआ दिखता है, पर वास्तवमें वह स्वयं कुछ भी नहीं कर पाता—इसीको अरुचि-पूर्वक करना कहते हैं। यही 'गीता' का अनासक्ति योग है। यही जलमें कमलवत् भिन्न रहनेका अभिप्राय है। घरमें रहते हुए भी विरागी इसीका नाम है। लौकिकजन इस स्थितिको साधनाका अन्त मानते हैं, पर वास्तवमें अध्यात्म-मार्गकी साधना यहांसे प्रारम्भ होती है।

यह तो लौकिक दिशाकी बात कही। धार्मिक दिशामें भी वह पूजा, उपवास, व्रत, उपदेश आदिक सब कुछ करता है, पर अन्दरसे नहीं केवल बाहरसे। इन कार्योंको वह इसलिये नहीं करता कि यह सब कार्य उसे अच्छे या हितरूप लगते हैं, बल्कि इसलिये करता है कि ऐसा करते हुए उसे क्षण भरके-लिये अधिक पुष्ट कर्मधारासे हटकर हीनाधिक रूपसे ज्ञानधारामें प्रवेश पानेका अवसर मिल जाता है। वह ही वास्तवमें उसकेलिये अमृत है, हित है। जिसप्रकार अन्न खानेसे प्राणोंकी रक्षा होती है और इसलिये अन्नको ही प्राण कह देते हैं; उसीप्रकार इन बाह्य धार्मिक क्रियाओंका आश्रय लेनेसे उसे उपरोक्त अमृत या हितकी प्राप्ति होती है, इसलिये इन धार्मिक क्रियाओंको भी हित कहा जाता है। परन्तु वास्तवमें यह सब धार्मिक कार्य करना उसे अन्दरमें सद अखरता रहता है। 'उन कार्योंको करनेके सर्व विकल्प तो कर्मधारारूप ही है' यह समझना हुआ उन विकल्पोंको सदा त्याज्य मानकर उनसे भी पीछे हटनेका प्रयत्न करता रहता है।

पर इसका यह अर्थ न समझ जाना कि इन धार्मिक क्रियाओंको सर्वथा अनिष्ट मानकर, वह भले ही अन्य लौकिक कार्य तो करे, परन्तु इनको न करे। अभिप्राय ठीक-ठीक समझना। आगे भी 'आस्रव' के प्रकरणमें इन धार्मिक क्रियाओंके निषेधका कथन आयेगा, अतः यहां ही अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न करें अन्यथा अनर्थ हो जायेगा। ज्ञानधारामें उतरनेकी अतीव उत्कण्ठाके कारण वह उनको छोड़कर ध्यान निमग्न हो जाना चाहता है, यही उपरोक्त वक्तव्यका प्रयोजन है। उन क्रियाओंको छोड़कर लौकिक कर्मधारामें उलझना जीवनको ऐसे अन्धकूपमें गिरा देगा जहांसे निकलना अनन्त-कालमें भी सम्भव न हो सकेगा। देव, गुरु, शास्त्र व उपरोक्त धार्मिक अनुष्ठान उस समयतक अत्यन्त आवश्यक हैं, जबतक कि साक्षात ज्ञानधाराकी उपलब्धि हो नहीं जाती, बिल्कुल उसीप्रकार जिसप्रकार कि अन्न खानेकी उस समयतक अत्यन्त आवश्यकता रहती है जबतक कि इस शरीरके प्रतिका किञ्चित भी राग हृदयमें वास

करता है। प्रत्येक बात पुनः दोहराई जानी सम्भव नहीं है, अतः इसको यहां ही दृढ़तया हृदयंगम कर लेनी योग्य है, नहीं तो आगेके प्रकरणोंमें उलटा अर्थ ग्रहण हुए बिना न रह सकेगा। और यदि ऐसा हो गया तो प्रभु ही जानें कि क्या होगा : नाथ ! ऐसी कुबुद्धिसे सबकी रक्षा करें।

करना और बात है और विचारना और। करने और विचारनेमें महान अन्तर है। साधकका सर्व ही शुभ व अशुभ क्रियाओंका करना तो कर्मधारारूप होता है पर विचारना ज्ञानधारारूप। उसकी चर्चाका विषय भी ज्ञानधाराकी ओर ही झुका रहता है, क्योंकि अन्दरसे उसे वही भाती है। बाहर और अन्दर में इस महान अन्तरको देखनेमें असमर्थ जगत उसकी चर्चामें आगम-विरोध व एकान्तके दर्शन करता है, पर उसे स्वयंको ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसे ही कहते हैं व्यवहार व निश्चय-मार्गकी सन्धि। अन्दर व बाहरकी क्रियाओंमें यह अन्तर कैसे सम्भव है, इस बातका उत्तर आगे आस्रव प्रकरणमें दिया जायेगा।

यदि अन्दर व बाहरमें यह अन्तर न हो तो केवल एक शुभाशुभ कर्मधारा में ही रहे या केवल एक शुद्ध ज्ञानधारामें ही रहे। परन्तु ये दोनों ही 'मोक्ष-मार्गी' नहीं कहलाये जा सकते। केवल कर्मधारावाला तो निःसन्देह संसारमार्गी है ही; परन्तु केवल ज्ञानधारावाला भी मोक्षमार्गी नहीं है। वह या तो स्वयं भगवान् है और या स्वच्छन्दाचारी-ज्ञानवादी-एकान्तदृष्टि, अर्थात् या तो मोक्ष-रूप है और या घोर-संसारी। जो स्वयं मोक्षरूप हो जाता है वह 'मोक्षमार्गी' नहीं होता। मोक्षमार्गीके अन्दरके अभिप्रायमें तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञानधाराका ही वास है, परन्तु बाह्य प्रवृत्तिमें दो बातें दिखाई देती हैं—प्रत्यक्ष रूपसे तो निषिद्ध - बुद्धिपूर्वक शुभ व अशुभ कर्मधारा और परोक्ष या अदृष्ट रूपसे आंशिक ज्ञान व कर्मधाराका मिश्रण। यही मोक्षमार्ग है। चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक अर्थात् नीचेसे ऊपरतक-की साधना विषयक श्रेणियोंमें वह उत्तरोत्तर ज्ञानधाराकी ओर झुकता चला जाता है, यहां तककि उसके अन्तमें जाकर पूर्णतया ज्ञानधारामें निश्चल स्थिति पा जाता है। इस रहस्यको समझे बिना अध्यात्म-चर्चा लाभकी बजाये हानि पहुंचाती है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें वह वादविवाद-रूप विजिगीषु कथा बन जाती है, वीतराग-कथा रहने नहीं पाती।

१०

कार्य कारण व्यवस्था

अहो दृष्टिकी व्यापकता ! जिसके प्रगट हो जानेपर सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था का स्वातन्त्र्य हस्तामलकवत् स्पष्ट दीखने लगता है। जिसके प्रगट हो जानेपर कर्ताबुद्धि स्वतः किनारा कर जाती है और एक ज्ञायकमात्र-भाव, साक्षी रहने मात्रका भाव जागृत हो जाता है, साम्यता अवतार लेती है और जीवन शान्त हो जाता है। सुन प्रभो सुन ! आज स्वातन्त्र्यकी जयघोषणा हो रही है, विश्व का कण-कण आज हर्षके हिंडोलेमें झूल रहा है। क्यों न खुशी मनाये आज वह? जीव अजीव तत्त्व विषयक विवेक-ज्ञानके अन्तर्गत उठनेवाले विविध प्रश्नों मेंसे चार प्रश्नोंपर विचार किया जा चुका। अब चलता है पांचवां प्रश्न, "ये दोनों तत्त्व किस प्रकार परस्परमें मिलकर बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्चरूप इस विश्व की तर्कातीत कार्य-व्यवस्थाका संचालन कर रहे हैं?" विषय कुछ कठिन तथा जटिल है। परन्तु निराश होनेकी आवश्यकता नहीं। यथासम्भव सरल बनाने का प्रयत्न करूंगा। इस विषयकी जटिलताको देखकर ग्रन्थको छोड़ न देना। आगे पुनः सरल तथा रोचक हो जायेगा।

१. 'कार्य' शब्द—अपने जीवनकी अशान्तिका मूल खोजने जाऊँ तो प्रत्यक्ष ही है। २४ घन्टेकी यह करने-धरनेकी, बनाने-बिगाड़नेकी, मिलाने व हटानेकी दौड़धूप ही तो जीवनकी वह अशान्ति है जिसे दूर करना इष्ट है। अर्थात् मैं हरसमय कुछ न कुछ काम करना चाहता हूं, और कर रहा हूं, इस बातसे बिल्कुल बेख़बर कि मैं क्या कर रहा हूं और क्या करना चाहता हूं। इस तथ्यकी खोज निकालनेके-लिये पहले मुझे यह निर्णय करना है कि काम, जिसके पीछे मैं हरसमय लगा रहता हूं, वह वास्तवमें है क्या बला।

आइये बिचार करें। देखो मैं कह रहा हूं "मुझे आज देहली जाना है।" बिचारिये कि क्या करना है। सहारनपुसे उठकर देहली जानेका या अपना

स्थान-परिवर्तन कर देनेका नाम ही तो देहली जाना है या और कुछ ? अर्थात् देहली जानेका काम अपना स्थान परिवर्तन कर लेनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं। "पुस्तक उठाकर लाओ" , यह दूसरा वाक्य है। इसमें भी छिपा है एक काम। विचारिये, पुस्तक उठाकर लाना, उसके स्थान-परिवर्तनके अतिरिक्त और क्या है ? एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानपर पहुँचा देना ही तो पुस्तक उठाकर लाना है या कुछ और ? "मेरेलिये एक मेज बना दो" यह तीसरा वाक्य है। विचार करें तो लकड़ीकी हालत बदलकर अन्य हालत-विशेषमें लाना ही तो मेज बनाना है या कुछ और ? अर्थात् लकड़ीका रूप-परिवर्तन करना ही वास्तवमें मेज बनानेका काम है। और इसीप्रकार कोई भी लोकका काम करनेका विचार कीजिये वह इन दोनों कोटियोंमें-से किसी न किसी प्रकारका होगा। या तो होगा अपना व किसीका स्थान-परिवर्तन करनेरूप और या होगा अपना या किसी अन्यका रूप-परिवर्तन करनेरूप।

बस सिद्धान्त निकल आया, इसे याद रखना, आगेके प्रकरणोंमें इसे लागू करना होगा। "काम कहते हैं स्व तथा पर किसी भी पदार्थके स्थान-परिवर्तनको या रूप-परिवर्तनको।

२. पंच समवाय—अब देखना है कि वस्तुमें यह कार्य करने या किये जानेकी व्यवस्था किस प्रकार हो रही है अर्थात् काम कौन करता है, किसके द्वारा करता है, किसके लिये करता है, किसमें-से करता है, किसके सहारे करता है। क्योंकि जबतक स्पष्ट रूपसे यह बात जान न लूंगा, मेरी पूर्वकी धारणाओंमें अन्तर आना असम्भव है, जिसके बिना इस करने धरनेकी व्यग्रतासे छुटकारा मिलना असम्भव है। अतः शांतिके उपासकके-लिये वस्तुकी कर्ता-कर्म या कार्य-कारण व्यवस्थाका परिचय पाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि विषय कुछ सैद्धान्तिक रूप धारण करके अवतरित हुआ है, जो मेरी शैलीके विरुद्ध है, पर क्या करूं इसके बिना काम चलेगा नहीं। अपनी पुरानी धारणाओंको तोड़नेके-लिये मुझे वस्तु-व्यवस्था पढ़नी ही होगी। विषय सम्भवतः कुछ कठिन लगे परन्तु ध्यान दोगे तो कुछ कठिन न पड़ेगा, क्योंकि हर बात अनुभवमें आ रही है।

आवश्यकता केवल इस बात की है कि यदि धारणाओंमें पहलेका कोई पक्ष पड़ा है तो थोड़ी देरके-लिये उसे छोड़ दीजिये। अभिप्रायमें खेंचतान न रखिये। क्योंकि वस्तु-व्यवस्था बड़ी जटिल व उलझी हुई है। यद्यपि एक ही बार सब कुछ देखनेमें तो खेंचतानका काम नहीं है परन्तु शब्दोंमें वह एक ही बार दर्शानेकी शक्ति न होनेके कारण क्रमसे ही व्याख्या की जानी सम्भव है।

अतः कथन-क्रममें कमी तो ऐसी बात आयेगी जो कि आपमें-से कुछ व्यक्ति पहलेसे ही स्वीकार करते हैं और शेष व्यक्ति नहीं। और कुछ बात ऐसी आयेगी जो कि वे शेष व्यक्ति तो स्वीकार करते हैं पर पहलेवाले कुछ नहीं। इसका कारण यही है कि हमने कुछ व्यक्ति-विशेषोंसे सुनकर या किन्हीं शास्त्र-विशेषोंसे पढ़कर वे बातें अवधारित कर ली हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त शेष बातोंका या तो निषेध सुनने में आया है या वे सुनने व पढ़नेको ही मिली नहीं। इसलिये उन-उन बातोंका कुछ पक्ष पड़ा हुआ है। सो सम्भवतः अब भी आपको वस्तु-व्यवस्था समझनेमें कुछ बाधक पड़े। अपने अनुकूल बात सुनकर स्वभावतः ही कुछ प्रसन्नता व प्रतिकूल बात सुनकर कुछ खिंचाव सा चित्तमें उत्पन्न हुआ करता है, जिसमें-से अनेकों शंकायें व प्रश्न खेंचतानका रूप धारण करके निकल पड़ते हैं।

क्योंकि व्यवस्था जटिल है और एक दिनमें ही बताई नहीं जा सकती, इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि ऐसी शंकाओंको तब तकके-लिये दबा रखें जबतक कि प्रकरण पूरा न हो जाये। विश्वास दिलाता हूं कि प्रकरण पूरा हो जानेके पश्चात् आपके हृदयमें कोई शंका न रह पायेगी और फिर भी यदि रह गई तो अन्तमें प्रश्न कर लेना, अभी नहीं। धीरे-धीरे आपकी सर्व शंकाओंका समाधान हो जायेगा। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शब्दोंकी या व्यक्तिकी या आगमकी पकड़को छोड़कर वस्तुमें कुछ पढ़नेका प्रयत्न करें। जो बातें उसमें नित्य अनुभवमें आये या दिखाई दें उन सबको सरलता पूर्वक स्वीकार करें और एकका भी निषेध करनेका प्रयत्न न करें, क्योंकि इस प्रकार आपके ज्ञानमें वस्तुका तदनुरूप प्रतिबिम्ब न पड़ने पायेगा; वह लंगड़ा हो जायेगा। इसलिये वह ज्ञान बजाय साधक होनेके आपके मार्गका बाधक बन बैठेगा और हानि आपको होगी मुझे नहीं, क्योंकि मेरी धारणा तो जैसी है वैसी ही रहेगी। अपने हित-अहितको सोचकर अब ज्ञानको ढीला करके सुनिये।

पदार्थके स्वभाव अर्थात् पारिणामिक भावको लक्ष्यमें लेकर पदार्थका विचार करनेपर ही यह रहस्य समझा जा सकता है, उसकी शुद्ध व अशुद्ध व्यञ्जन पर्यायोंको लक्ष्यमें लेनेसे नहीं। अतः सूक्ष्म अध्यात्मका परिचय पानेके लिये अन्तरमें स्थिर दृष्टि करनेकी आवश्यकता है। चञ्चल दृष्टिमें उसका प्रवेश नहीं, क्योंकि प्रसंग आनेपर वह दृष्टि अपने लक्ष्यसे बहक जाती है। 'ज्ञानसे तन्मय होनेके कारण आत्माका काम-जाननेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है' इस बातको स्वीकार कर लेनेपर भी, 'घट बनाना कुम्हारका काम नहीं' जब ऐसा समझानेका अवसर आता है, तो तुरन्त वह दृष्टि अपने पूर्वके लक्ष्य

परसे बहककर इस चिन्तामें पड़ जाती है कि कुम्हारके बनाये बिना घट बना कैसे ?

अर्जुनको लक्ष्य साधते समय जिस प्रकार कौवेकी आंखके अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता था, भले ही वहां वृक्षादिक अनेकों पदार्थ पड़े हों, इसी प्रकार पदार्थका लक्ष्य साधते हुए तुम्हें भी उसके पारिणामिक भाव या स्वभावके अतिरिक्त कुछ अन्य दिखाई नहीं देना चाहिये, भले ही वहां निमित्त नैमित्तिक अनेकों संयोग पड़ेहों । ऐसे स्थिर लक्ष्यमें निमित्त नैमित्तिक - भावभी अभेद व अखण्ड वस्तुके अपने अन्दर ही देखा जाता है, जैसाकि ग्रन्थाधिराज समयसारकी १००वीं गाथाकी टीका करते समय भगवत्-अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी घट बना नहीं सकता । उपादान-रूपसे तो नहीं पर निमित्तरूपसे भी नहीं बना सकता । अज्ञानी भी निमित्त रूपसे यदि कुछ कर सकता है तो केवल घट बनानेका विकल्प कर सकता है, इसके आगे कुछ नहीं । अतः इस सूक्ष्म दृष्टिको समझनेके-लिये अब लक्ष्यको स्थिर कीजिये ।

वस्तुकी कार्य-व्यवस्थामें हम पांच बातें देखते हैं । १. वस्तुका स्वभाव, २. किसी न किसी अन्य बातका संयोग या निमित्त, ३. वस्तुका पुरुषार्थ, ४. काल या समयका नियतिपना या काललब्धि, ५. भवितव्य । इन पांचोंका क्रमसे विश्लेषण किया जाना है, ध्यानसे सुनना और ज्ञानमें सबको एकत्रित करते रहना, क्योंकि कार्य-व्यवस्थामें पांचों ही बातें समान रूपसे आवश्यक हैं । या यह कहिये कि ये पांचों ही वस्तु-व्यवस्थाके आवश्यक अंग हैं । एक अंगके होनेपर पांचों अंग होते ही हैं और एकके न होनेपर पांचों ही नहीं होते है । इन पांचोंमें आगे-पीछे होनेका भी कोई क्रम नहीं है, परन्तु कथन-क्रममें अवश्य आगे-पीछे कहे जानेका भेद है । वस्तु-व्यवस्था व कथन-क्रममें इतना अन्तर है कि किसी एक समयमें जो कथन किया जाता है उसे वस्तु-व्यवस्थाका पूर्णरूप न समझ बैठना, केवल एक अंगमात्र ही समझना । हां ज्ञानमें सर्व अंगोंका घुटमिट करके जो दिखाई दे वह वस्तुकी पूर्ण व्यवस्था अवश्य है । ज्ञानमें पूर्ण व्यवस्था देखनेकी शक्ति है पर वचनमें कहनेकी नहीं । इसलिये अनेकान्तवाद तथा स्याद्वादने जन्म धारा है । अब सुनिये पांचों अंगोंका क्रमसे विवेचन ।

३. स्वभाव—पहले सिद्ध कर आये हैं कि वस्तु परिवर्तनशील है । (देखो ३.६) अर्थात् प्रतिक्षण वह एक रूपको छोड़कर अन्य रूपको तथा एक स्थानको छोड़कर अन्य स्थानको प्राप्त कर रही है । रूपों व स्थानोंमें नित्य परिवर्तन करते रहना वस्तुका स्वभाव है, और स्वभाव अहेतुक होता है, उसमें तर्क नहीं चलता । ऐसा परिवर्तन वस्तुमें नित्य दिखाई दे रहा है और यदि किसी भी

एक पदार्थमें किसी भी एक क्षण यह परिवर्तन रुका हुआ दिखाई दिया होता तो उसे हम स्वभाव कभी नहीं कहते, क्योंकि स्वभावमें कभी ऐसी बाधा नहीं पड़ा करती, कि कभी तो दिखाई दे जाय और कभी नहीं। यदि वस्तुमें स्वयं ऐसा परिवर्तन करनेका स्वभाव न हुआ होता तो लोककी कोई भी शक्ति उसे परिवर्तन करानेमें समर्थ न हुई होती। जलने योग्य पदार्थको ही जलाया जा सकता है, अबरकको नहीं। यदि परिवर्तन करना वस्तुका स्वभाव न हुआ होता तो लोकमें कोई भी कार्य देखनेमें न आता, लोक कूटस्थ हो जाता। विश्वमें दीखनेवाली यह भाग दौड़ कैसे दृष्टिमें आती ? और यह तो स्पष्ट देखनेमें आ रही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष दीखनेवालेको अस्वीकार करना पक्षपात् है। अतः निश्चित हुआ कि वस्तुमें कार्य अर्थात् परिवर्तन, उस वस्तुके अपने परिवर्तनशील स्वभावके कारण हो रहा है, यह कार्य-व्यवस्थाका एक अंग हुआ।

४. निमित्त—इसके अतिरिक्त हम यह भी देख रहे हैं कि यह परिवर्तन किसी भो योग्य अन्य वस्तुका संयोग प्राप्त करके ही हो रहा है। संयोग-विहीन कोई भी परिवर्तन आज विश्वमें दिखाई नहीं देता। यह पुस्तक भी मेरे हाथके बिना उठ नहीं रही है। इस लकड़ीका यह चौकीवाला रूप भी बिना खातीके बन नहीं पाया है। एक अणु भी दूसरे अणुओंसे टकराये बिना गतिमान होता दिखाई नहीं देता। यह खम्बा भी बिना हवा-पानी या गर्मी-सर्दीका संयोग मिले जीर्ण नहीं हो रहा है। यदि यथायोग्य संयोग न हो तो परिवर्तन होना असम्भव है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, अतः सरलता-पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। देखते हुए भी मात्र भ्रम कहकर इसे टाल देना और स्वीकार न करना पक्षपात् है, ज्ञानकी खेंच है। ज्ञानको ढीला करके देखें तो न स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। यहां भले किसी भी पक्षवश स्वीकार न करें पर जीवन-प्रवाहके २४ घन्टोंमें भी इनकी स्वीकृती न हो, तब मानें।

अरे अरे ! मुखपर यह उदासीसी क्यों दीखने लगी? निराशाकी रेखायें क्यों खिचने लगीं ? सम्भल प्रभु सम्भल! पहले ही सावधान कर दिया था और अब फिर कर रहा हूं। अन्तरंगकी इस खेंचतानको छोड़, तेरे हृदयमें उठनेवाली इस शंकाका मुझे भान है। "वस्तु-स्वतन्त्रताके प्रकरणमें यह परतन्त्रता कैसी ?" यही है तेरा प्रश्न या कुछ और ? घबरा नहीं, कथन-क्रममें यथास्थान उत्तर आ जायेगा और विषय स्पष्ट कर दिया जायेगा। यहां वस्तुको परतन्त्र बनाने का अभिप्राय नहीं है, संयोग होते दिखाई देते हैं या नहीं ? बस इतनी बात है कि संयोग हुए बिना क्या कोई कार्य होता दिखाई देता है ? यदि नहीं तो

क्यों स्वीकार नहीं कर लेता ? बस इतनी ही बात स्वीकार करनेको कह रहा हूं कि संयोग होता है। संयोग ज़बरदस्ती करता या कराता है यह सिद्ध नहीं किया जा रहा है, और न ही ऐसा अभिप्राय है। जितनी बात कही जाये उतनी ही बात ग्रहण करें, बिना कहे अपनी ओरसे उसमें कुछ अन्य बात मिलानेका प्रयत्न न करें। संयोग प्राप्त होनेपर कार्य कैसे होता है और कौन करता है, यह बात आगे कही जायेगी। अतः कार्य-व्यवस्थामें संयोग या निमित्तका होना भी एक अंग अवश्य है जिसके बिना कार्य होना असम्भव है।

निमित्त केवल उपस्थितमात्र हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वस्तुमें कार्य या परिवर्तन होनेके समय उपस्थित तो अनेक पदार्थ हुआ करते हैं, पर वे सब निमित्त नहीं हुआ करते। निमित्त तो उन सब उपस्थित-पदार्थोंमें-से हम उसी पदार्थ-विशेषको कह सकते हैं, जो स्वयं भी उस परिवर्तनके अनुरूप ही कुछ कार्य कर रहा हो और उसके अनुरूप या उसके साथ परिवर्तन करनेकी शक्ति-विशेषको लें करके वहां आया हो। देखो इस पुस्तकके उठते समय यहां मेरे हाथके अतिरिक्त यह चौकी व वेष्टन भी उपस्थित अवश्य हैं पर इन तीनोंमेंसे इस समय इस पुस्तकके उठनेमें निमित्त मेरा हाथ ही है, ये दोनों नहीं। इसलिये केवल उपस्थितमात्र कहकर स्वीकार करना न करनेके बराबर है।

इसलिए शब्दोंकी खेंचातान को छोड़कर व्यवहारमें नित्य कहे जानेवाले निमित्तके कर्तापनेके वाक्योंपर हंसनेकी बजाय, उनको यथायोग्य स्वीकार कर लेना ही तेरे ज्ञानकी सरलताका द्योतक होगा। यहाँ पुनः कह देना आवश्यक है कि ऐसी स्वीकृतिसे वस्तु परतन्त्र न बनेगी, ऐसा विश्वास रख, जैसाकि अगले प्रकरणोंमें सिद्ध कर दिया जायेगा। यह ध्यान रख कि यहां संयोगकी दृष्टिसे बात हो रही है, स्वभाव या अन्य अंगोंकी दृष्टिसे नहीं। जब उनका नम्बर आयेगा तब वैसी ही बात होगी। किसी एक बातकी सिद्धिके–लिये उसमें दूसरी बातको बीचमें लानेसे एक भी बात समझमें न आ सकेगी।

<u>५. निमित्तोपादान मैत्री—</u> दृष्टान्तपरसे समझिये मेरे अभिप्रायको, अन्न बोना अर्थात् खेती करना एक काम है। मेरे अभिप्रायके अनुसार बीजने स्वयं बदलकर अन्न बोनेका काम किया, अपने द्वारा बदलकर किया, अपनेलिये किया, अर्थात् उस नवजात अन्नके साथ तन्मय होकर किया, अपनेसे किया अर्थात् अपने स्वभावमें रहते हुए किया, किसान बनकर नहीं। कुछ हंसी-सी आयेगी यह बात सुनकर, आजतक ऐसी बात सुनी नहीं, परन्तु नहीं भाई ! विचार करके देख, इसकी सत्यता प्रकाशित हो जायेगी। यद्यपि लोकमें साधारणतः तू किसी भी काम को न इसप्रकार करता हुआ देखता है, न इस भाषामें कहा

जाते हुए सुनता है, और न इसप्रकार स्वयं कभी कहता है, परन्तु वास्तवमें है ऐसा ही। देखो दृष्टांत देता हूं।

उपरोक्त खेतीका ही दृष्टांत लीजिये। यद्यपि लोकमें यह प्रसिद्ध है और किसान भी यही कहता है कि "मैंने खेती बोई," परन्तु विचार कीजिये कि यदि बैल इस बातको सुन पावे तो बेचारेके हृदयपर क्या बीते? खून-पसीना एक कर डाला पर तनिक भी तो श्रेय न दिया। अहंकारमें अन्धा हो गया है यह किसान, किसी दूसरेकी मेहनतको मेहनत ही नहीं समझता, और इस प्रकार विचारता हुआ वह बैल रूस जाय तो क्या हो? विचारिये, किसानका सारा अहंकार पानी बनकर बह जाये, और सुलह करनी पड़े आखिर उस बैल से। अच्छा भाई! बिगड़ मत! क्षमा कर! गल्ती हुई, सारे काममें आधा-साझा तेरा स्वीकार किया। चल उठ अब, और इसी प्रकार हलसे, कुएँसे, रहटसे, पानीसे, मिट्टीसे और बीजसे अब सुलह करते-करते उसे पता चल जाय कि खेती बोनेमें तूने कितना काम किया है। केवल सातवां हिस्सा। परन्तु किसान तो चेतन पदार्थ है। शरीर और वह पृथक-पृथक है। अतः शरीरकी मांग भी रुक न सकी। किसानको स्वीकार करना ही पड़ा कि हां भाई! तेरा भी हिस्सा सही। हम सब आठोंने मिलकर ही की है खेती, इसलिये सबने अठवाँ-आठवाँ हिस्सा काम किया है, मुझे स्वीकार है। परन्तु बीज बेचारा कैसे संतुष्ट हो। उसके काममें और शेष सातके कामोंमें तो महान अंतर है। शेष सबने तो कुछ कुछ काम ही किया है, परन्तु रहे अपने रूपमें ही। उन्हें स्वयं अपना रूप तो न बदलना पड़ा। पर उस बेचारेने तो अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया, अन्न उगानेके-लिये, यहां तक कि आज उसका पता भी नहीं कि कहाँ है वह? इस प्रकार स्वयं सारे अन्नके साथ घुल-मिल ही गया है, अथवा स्वयं ही वह रूप धारण कर लिया है। आठवें हिस्सेमें कैसे सन्तोष पावे? स्वीकार करना पड़ेगा कि तेरे कामकी जाति ही भिन्न प्रकारकी है। घोड़े और गधोंका क्या मेल? तेरे कामका मुकाबला हम सातों मिलकर भी नहीं कर सकते। अर्थात् कुछ बाह्यमात्र सहायता सम्बन्धी कार्यका सातवां हिस्सा हम सब ने किया, परन्तु अन्न उगानेका काम तो वास्तवमें तेरा ही है।

साझेकी खेतीका मिला-जुला काम किसी एकका नहीं है, सबका है। इस लिये इस एक मिले-जुले कामका विश्लेषण करना चाहिये। तभी पता चल सकेगा कि आठोंमें-से प्रत्येकने कौन-कौन काम किया है। विचारनेसे पता चल सकता है कि अन्तः प्रकाशरूप चैतन्य किसानका काम केवल "मैं अन्न उत्पन्न करूं," इस विकल्पके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह बेचारा अमूर्तीक और

कर भी क्या सकता है, जानने-देखने व विकल्प उत्पन्न करनेके अतिरिक्त? शरीरका काम है कुछ विशेष प्रकारसे हिलना-डुलना और इसीप्रकार बैल आदि सर्व पदार्थोंके पृथक-पृथक कार्यकी भी कोई सीमा है, जिसको उसने ही किया है और वह ही कर सकता है। न अन्यने किया है न अन्य कर सकता है।

यद्यपि यह बात सर्वथा मिथ्या भी नहीं है कि आठोंके ही कार्योंमें परस्पर कोई निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात् किसानके निमित्तसे शरीर और शरीरकी प्रेरणासे बैल, बैलके निमित्तसे हल व रहट और इसीप्रकार अन्य भी अपना-अपना कार्य कर सके। यदि ये न होते तो कर न सकते। परन्तु यह दृष्टि तो लौकिक है, विकल्पोत्पादक है। इसके त्यागनेके-लिये ही तो सब पुरुषार्थ है। अतः हे भव्य! इस दृष्टिके-द्वारा परम कल्याणकारी उस अलौकिक दृष्टि का घात करनेका प्रयत्न मत कर। इस दृष्टिको ही ऊपर परतन्त्र शब्दसे कहा गया है और उस अलौकिक दृष्टिको स्वतन्त्र शब्दसे।

दोनों ही दृष्टियें अपने-अपने स्थानपर सत्य हैं। पर मुझे तो जिस-किस प्रकार भी शान्तिका प्रयोजन सिद्ध करना है। जौनसी भी दृष्टिसे सिद्ध होता मानूं उसे ही अपना कर्त्तव्य समझूं दूसरीको नहीं। जानना और बात है, अपनाना और। यद्यपि एक वीतरागीको भी जानता हूं और एक चाण्डालको भी परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों मेरे उपास्य हैं। उपास्य तो वीतरागी ही है चाण्डाल नहीं। उपास्य न कहनेसे चाण्डालका अभाव नहीं हो जायेगा। इसीप्रकार परतन्त्र-दृष्टिको तो पहलेसे ही जानता था, अब स्वतन्त्रदृष्टि भी जान गया। जानता दोनोंको हूं पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों दृष्टि ही लक्ष्यमें रखनी या आश्रय करनी योग्य हैं। शान्ति-पथमें केवल एक स्वतन्त्र-दृष्टि ही लक्ष्यमें रहती है, परतन्त्र-दृष्टि नहीं। लक्ष्यमें न रहने मात्रसे दूसरी दृष्टिके आधारपर निमित्तकी निमित्तताका लोप नहीं हो जाता। यदि दूसरी दृष्टिपर ही लक्ष्य रखना है तो निम्न प्रकार क्यों नहीं रखता कि जिससे तेरी दृष्टिमें भी बाधा न पड़े और विकल्प भी हट जावें। विशाल-दृष्टि करके सम्पूर्ण विश्वको युगपत् अनुमानमें ले, तो एक बहुत बड़े कारखानेके रूपमें दिखाई देता है जिसमें स्व तथा पर सर्व पदार्थ बड़ी व छोटी ग़रारियोंवत् परस्पर सम्पर्कमें रहते बराबर बदल रहे हैं, और कारख़ाना काम कर रहा है। यदि कोई एक छोटीसी ग़रारी भी निकाल ली जाय तो सारीकी सारी मशीन बन्द हो जाय, या ज़बरदस्ती कोई नई ग़रारी ठोक दी जाय तो भी सारी मशीन बन्द हो जाय। पर क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या ऐसा आजतक कभी हुआ है? सब द्रव्य परस्पर निमित्त-नैमित्तिक रूपसे बराबर काम कर रहे हैं। निमित्तको हटानेवाला या मिलानेवाला तू कौन है? तुझे यह अधिकार किसने

दिया ? तुझमें इतनी शक्ति है भी या नहीं ? समस्त विश्वकी अद्वैत क्रियाको दृष्टिमें रखकर इन प्रश्नोंका उत्तर खोजें तो इस दिशामें अपनी असमर्थताका भान हुए बिना न रहे । निमित्त मिलाने व हटानेके सर्व विकल्प दूर हो जायें, विशाल-दृष्टि उत्पन्न हो जाय, ज्ञातादृष्टा मात्र रह जाय । यही तो इष्ट है ।

आजके तेरे विकल्पोंका मूल कूपमण्डूक बने हुए परतन्त्र-दृष्टिका रखना है, और इसी कारण अन्यके कर्तापनेका अंहकार होता है । अतः परतन्त्र-दृष्टिको संकुचित करनेका निषेध किया जा रहा है, सर्वथा निषेध नहीं । यदि विशाल दृष्टिसे नहीं देख सकता, तो इस परतन्त्र-दृष्टिपर-के लक्ष्यको सर्वथा मिटानेका प्रयत्न कर । भ्रम न कर, शंका न कर, दृष्टि मिटानेसे पदार्थ न मिटेगा । तुझे अपना कल्याण करना है, निमित्तकी रक्षा नहीं । आम खाने हैं पेड़ नहीं गिनने हैं । दोनों दृष्टियोंमें-से स्वतन्त्र-दृष्टि ही इस मार्गमें अत्यन्त उपादेय व हितकर है और साधारण रूपसे परतन्त्र दृष्टि महान अनिष्ट, जैसाकि आगे-आगेके प्रकरणों में सिद्ध हो जायेगा ।

५. पुरुषार्थ— कार्य-व्यवस्थाका तीसरा अंग है 'पुरुषार्थ' । उसके बिना भी लोकका कोई कार्य होता देखा नहीं जाता । यहां पुरुषार्थ शब्द का वह अर्थ न समझना जो कि लोकमें प्रयोग किया जाता है । लोकमें तो केवल मनुष्यके या अधिक बढ़े तो चेतन पदार्थके पुरुषार्थको ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जड़-तत्त्वमें साधारण-जनोंको कोई पुरुषार्थ होता दिखाई नहीं देता । 'पुरुषार्थ' यह शब्द भी, पुरुष या जीव तत्त्वका इच्छापूर्वक होनेवाला जो प्रयत्न या प्रवृत्ति है, उसके प्रति संकेत करता है । यही कारण है कि अहंकारको धारण करनेवाला लोक जड़-पदार्थोंको बिल्कुल निःशक्त व अपने आधीन मान बैठा है । अध्यात्ममें किसी भी शब्दका इतना संकुचित अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता । यहां पुरुषार्थ शब्दका अर्थ बड़ा व्यापक है ।

प्रत्येक पदार्थमें कोई न कोई पुरुषार्थ प्रति-समय पाया जाता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, छोटा हो कि बड़ा,अपनी एक अवस्था-विशेषको तजकर दूसरी अवस्था-विशेषको धारण करनेके प्रति या एक स्थानको तजकर अन्य स्थानको प्राप्त करनेके प्रति बराबर झुकनेका प्रयत्न कर रहा है । जैसे अग्निपर रख देनेसे जलका धीरे-धीरे ऊष्णताकी ओर झुकना, अथवा भापको किसी बर्तनमें रोक देनेपर उसका वहांसे निकलनेके प्रति उद्यम करना । यह बात अवश्य है कि आपके पुरुषार्थकी जाति किसी अन्य प्रकारकी है और जड़के पुरुषार्थकी जाति अन्य प्रकारकी । जो काम लाखों व्यक्ति मिलकर नहीं कर सकते वह एक अणु कर सकता है । आप चेतन पदार्थ हैं, विचारशील

हैं, अतः आपके पुरुषार्थकी जाति भी विचारणाओं रूप हैं। परमाणु जड़ है, अतः उसके पुरुषार्थकी जाति भी जड़ात्मक है। आपका विकल्प करनेरूप पुरुषार्थ इन्द्रियगोचर नहीं है, पर उसका गमनागमनरूप अथवा अग्नि आदि लगानेरूप या अन्यरूप पुरुषार्थका झुकाव, साक्षात् अथवा यन्त्र-विशेषोंकी सहायतासे इन्द्रियगोचर है।

अतः सिद्धान्त यह निकला कि प्रत्येक पदार्थमें पुरुषार्थ होता है, भले वह जड़ हो या चेतन। अन्तर केवल इतना है कि जड़का पुरुषार्थ जड़ात्मक है और चेतनका पुरुषार्थ चेतनात्मक। जड़ात्मक होनेके कारण उस जड़-पदार्थमें पुरुषार्थका अभाव नहीं कह सकते। यदि कोई पदार्थ स्वयं अपने अन्दर अपनेद्वारा अपनेलिये नवीन अवस्थाको उत्पन्न करनेके प्रति न झुके तो पुरानी अवस्था विनश जानेपर वह पदार्थ अवस्था-विहीन हो जाय, और ऐसा हो जाय तो इस विश्वमें कुछ भी दिखाई न दे, सर्व-शून्य हो जाय। पुरुषार्थका यह आध्यात्मिक व्यापकरूप यदि 'पुरुषार्थ' शब्दमें आपको दिखाई न दे सके तो भले ही इस शब्दको बदलकर 'परिणति' ऐसा शब्द कह लीजिये परन्तु 'पुरुषार्थ' शब्दका इस स्थलपर प्रयोग करनेका मेरा क्या अभिप्राय है, उसे समझ लीजिये।

आगम-भाषामें कहनेपर, सर्व पदार्थोंमें वीर्य नामका एक सामान्य गुण स्वीकार किया गया है। जड़का वीर्य जड़ात्मक और चेतनका वीर्य चेतनात्मक होता है। इस वीर्य-गुणकी पर्याय या प्रवृत्ति-विशेषको पुरुषार्थ कहते हैं। कहा भी है 'जो परिणमन करे सो कर्त्ता कहलाता है, उसका जो परिणमन सो उसका कर्म या कार्य कहलाता है, और जो उसकी परिणति अर्थात् एक अवस्थाको तजकर दूसरी अवस्थाके प्रति गमन करनेकी प्रवृत्ति-विशेष है सो उसकी क्रिया कहलाती है।' परिणमन और परिणतिमें इतना ही अन्तर है कि परिणति क्रिया है और परिणमन उसका फल। अर्थात् जो नवीन पर्याय उत्पन्न हुई उसे परिणमन कहते हैं, और परिणति उस परिणमनको उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति या झुकाव-विशेषका नाम है। बस वस्तुकी इस परिणतिको ही यहां पुरुषार्थ शब्दका वाच्य बनाया जा रहा है।

ठीक है कि यह अर्थ बादल आदिकी वैस्रसिक अर्थात् अन्य-निरपेक्ष क्रियाओं में तो स्पष्ट लागू होता है, परन्तु घट पट बनानेरूप प्रायोगिक या अन्य-सापेक्ष क्रियाओंमें लागू होता प्रतीत नहीं होता; परन्तु दृष्टान्त देकर इस प्रकारके प्रायोगिक कार्योंका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। जैसे साझेकी खेतीमें किसानके अकेले अमूर्तीक चेतनका कार्य या क्रिया राग या विकल्प करना है, उसके शरीरका कार्य या क्रिया हिलन-डुलन करना है, तथा इस एक मिले-जुले

कार्यमें बैल, हल आदि सर्व ही साझेदारोंका पृथक-पृथक कार्य दृष्टिमें ला दिया गया है, उसीप्रकार घट पट आदि सर्व ही लौकिक व व्यवहारिक कार्योंका विश्लेषण करके प्रत्येक साझीदारके पृथक-पृथक कार्यका ग्रहण हो जानेपर, लोकका कोई भी कार्य उस दृष्टिम प्रायोगिक न दीख सकेगा बल्कि वैस्रसिक ही दीखेगा। पुरुषार्थका फल कार्य है। जब कार्यको ही पदार्थका स्थान व रूप-परिवर्तन-मात्र स्थापित कर दिया गया तब 'पुरुषार्थ' परिणतिके अतिरिक्त और किसे कह सकते हैं।

वस्तुकी इस अपनी परिणतिरूप पुरुषार्थके अभावमें, वस्तुकी अवस्थाओंमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन होना असम्भव होनेके कारण, पुरुषार्थ भी कार्य-व्यवस्थाका एक अंग अवश्य है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुरुषार्थ ही पर्याप्त है, क्योंकि निमित्त आदिक अन्य अंगोंके अभावमें वह अकेला कुछ न कर सकेगा।

७. नियति तथा भवितव्य—वस्तुकी कार्य-व्यवस्थामें चौथा व पांचवा अंग है 'नियति' तथा 'भवितव्य'। आध्यात्मिक प्रकरणोंमें यह विषय सबसे अधिक जटिल व विवादग्रस्त है। यह प्रकरण सुनकर आपको ऐसा लगेगा मानो पहले कहे गये निमित्त व पुरुषार्थवाले अंगोंपर पानी ही फेरा जा रहा हो, पर वास्तवमें ऐसा अभिप्राय नहीं है। सर्व अंगोंको युगपत् कहा जाना सम्भव नहीं है, इसलिये एक-एक अंगको पृथक-पृथक ग्रहण करके कहा जा रहा है। पहिले जब स्वभावकी बात कही थी तब केवल उस ही का पक्ष किया था अन्य अंगोंका नहीं। इसीप्रकार जब निमित्त व पुरुषार्थका नम्बर आया तो उनका ही पक्ष किया गया अन्य अंगोंका नहीं। अब नियति व भवितव्यकी बारी आई है, अतः इस प्रकरणमें केवल इन्हींका पक्ष किया जायेगा अन्य अंगोंका नहीं। वचनोंके द्वारा एक समयमें एक ही अंगका प्रतिपादन किया जाना शक्य है, इसीलिये वचन सर्वदा एकान्तरूप होते है। एक पक्षको पकड़कर उसका ही कथन करना और अन्य अंगोंका कथन उस समय पीछे डाल देना, इसको आगममें 'नय' कहते हैं। यदि इनमेंसे दूसरे अंगोंका अभिप्राय सर्वथा लोप कर दिया जाय तो यह नय 'दुर्नय' या 'एकान्त' कहलाती है, और यदि अभिप्रायमें अन्य अंगोंकी मैत्री बराबर बनी रहे तो 'सुनय' कहलाती है। 'एकान्त' या 'दुर्नय' व्यक्तिके अधःपतनका कारण है, क्योंकि वह उसमें पक्षपात् उत्पन्न कर देती है, परन्तु 'सुनय' वस्तु-व्यवस्थाका ठीक-ठीक निर्णय कराके व्यक्तिके ज्ञानको व्यापक व सरल बना देती है, पक्षपात्का विनाश करती है। अतः नियतिके इस प्रकरणको सुनकर, केवल इसीका पक्ष पकड़ लेना योग्य नहीं है,

बल्कि जैसाकि आगे समन्वय करते समय पांचों अंगोंकी मैत्री दर्शाई जायगी उसीप्रकार ज्ञानमें सर्व अंगोंको अवकाश देते हुए वस्तु-व्यवस्थामें सर्वको ही युगपत् देखनेका प्रयत्न करना, अन्यथा पहिले सर्व कथनपर इस नियतिसे अवश्य ही पानी फिर जायेगा।

कर्मधारारूप मानवीय अहंकारपर यह 'नियति' इतनी कड़ी चोट है, जिसे वह सहन नहीं कर सकता और बड़े जोरसे चीखने लगता है। इस 'नियति' से कांपता हुआ वह कभी आगमकी दुहाई देता है और कभी पुरुषार्थ व कर्त्तव्यकी, कभी निज-स्वतंत्रताका द्वार खटखटाता है और कभी प्रत्यक्षरूपसे दृष्ट कार्योंकी साक्षी दिलाता है। कभी निमित्तोंसे रक्षाकी प्रार्थना करता है और कभी स्वच्छ-न्दाचारका भय दिखाता है। गरज़ उस तत्त्वको पचाना तो दूर उसके सुननेकी भी शक्ति आजके मानवमें नहीं है। उसके सुनते ही हृदयमें खलबली उत्पन्न हो जाती है, मन बौखला उठता है और शंकाओंका तूफान उमड़ पड़ता है। अतः भाई ! इन शंकाओंको कुछ देरके-लिये दबाकर धैर्यपूर्वक सुननेका प्रयत्न कर। विश्वास दिलाता हूं कि अन्तमें तेरी सब शंकायें दूर हो जायेंगी।

'नियति' शब्द काल-सूचक है और 'भवितव्य' भाव-सूचक। 'नियति' का अर्थ है निश्चित समयपर किसी कार्यका होना, और 'भवितव्य' का अर्थ है वह कार्य जोकि उस निश्चित समयमें होने योग्य है। 'नियति' का निर्देश आगममें 'काल-लब्धि' शब्द द्वारा किया गया है, और सौराष्ट्रसे आनेवाली 'क्रमबद्धता' की गुञ्जार भी इसीकी ओर संकेत करती है। 'नियति' या निश्चित समय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, निमित्त व पुरुषार्थ सबपर लागू होता है। अर्थात् जिस द्रव्यमें कार्य या अवस्था उत्पन्न होनी होती है वह उस समय निश्चित रूपसे वही होता है, जिस स्थानपर वह कार्य होना होता है वह क्षेत्र भी उस समय निश्चित रूपसे वही होता है, जिस समयमें वह कार्य होना होता है वह समय भी निश्चित रूपसे वही होता है, जिस प्रकारका तथा जो कार्य होना होता है वह कार्य या भवितव्य भी उस समय वही होता है, जिस निमित्तसे होना होता है वह निमित्त भी उस समम वही होता है, और जिस प्रकारके पुरुषार्थ द्वारा होना होता है वह भी उस समय निश्चित रूपसे वही होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कह लीजिये कि 'जिस पदार्थको, जहां, जब, जिस प्रकारसे, जिस निमित्तके द्वारा, जिस प्रकारके पुरुषार्थसे जो भी कार्य या भवितव्य करना होता है; वह पदार्थ, वहां, तब, उसी प्रकारसे, उसी निमित्तके द्वारा, उसी प्रकारके पुरुषार्थसे वही कार्य या भवितव्य निश्चित रूपसे करता है; इसमें जिनेन्द्र या देवेन्द्र कोई भी फेरफार करनेको समर्थ नहीं', ऐसी इस सिद्धान्तकी निर्भीक घोषणा है।

देख इस बातको सुनते ही उथल पुथल मचने लगी तेरे भीतर—१. पुरुषार्थका अभाव हो जायेगा। २. मोक्ष जब होनी होगी हो जायेगी, साधना क्यों करूँ? ३. नियतिके आधीन होकर पंगु बन जाऊंगा मैं। ४. सब कुछ नियत ही है तो निमित्तोंके ग्रहण-त्यागकी भी क्या आवश्यकता रह जायेगी हमें, जीवनके प्रत्येक कार्यमें? ५. अकाल-मृत्यु नामकी कोई चीज़ नहीं रह जायेगी। ६. आगममें नियतिवादको मिथ्यात्व कहा गया है। उसके साथ विरोध आयेगा। ७. नियतिको स्वीकार कर लेनेपर वस्तु परतन्त्र हो जायेगी। इत्यादि-इत्यादि अनेकों प्रश्न उठने लगे तेरे हृदयमें। तेरा कोई दोष नहीं। विषय ही अति जटिल है। यदि समझना है तो इन शंकाओंको कुछ देरके-लिये दबा,ज्ञानको सरल कर, अहंकारको पीछे हटा, व्यापक-दृष्टि उत्पन्न कर, कर्मधाराकी ओरसे हट, पूर्वोक्त ज्ञानधारामें प्रवेश पा, क्योंकि यह विषय कर्मधाराका नहीं है ज्ञानधाराका है। कर्मधारामें जानेपर तेरे सारे ही प्रश्न सार्थक हैं और उस अवस्थामें मैं उन सबको तेरी मान्यताके अनुसार सहर्ष स्वीकार करता हूं। परन्तु यहां तो एक अलौकिक विचित्र दृष्टिका परिचय दिया जा रहा है, जोकि शांन्ति-पथका मल आधार है। और सब बातें तो जानी देखी हैं, परन्तु यह बात सर्वथा अपरिचित है, इसलिये अनोखी लगती है। समझनेका प्रयत्न कर, समझमें बैठ जानेपर ये सर्व आशंकायें स्वतः दूर हो जायेंगी। यहां ज्ञातादृष्टा बनानेकी बात है, हृदयमें प्रभुत्व उत्पन्न करनेकी बात है, वर्तमानमें ही सर्वज्ञ बननेकी बात है, तेरे ज्ञानकी महिमा दर्शानेकी बात है। बात अलौकिक है, अतः लौकिक दृष्टिसे नहीं दिव्य दृष्टिसे समझी जा सकती है। भगवान्का विराट-रूप दिखानेके-लिये गीतामें अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदान की गई थी, उसीके द्वारा देखनेका प्रयत्न कर।

८. नियतिकी सिद्धि—नियतिकी सिद्धि यद्यपि आगम, अनुभव, तर्क व विज्ञान इन चारों प्रकारोंसे की जानी सम्भव है, तदपि ग्रन्थ-विस्तारके भयसे तथा विषय लम्बा खिंच जानेपर कदाचित् इस पक्षका पोषण आवश्कतासे अधिक न हो जाय, जिसके कारण कि 'निमित्त आदि अन्य अंग निःसार भासने लगें', इस भयसे केवल आगम तथा अनुभवसे ही करके छोड़ देता हूं।

सर्व ही मतों व सम्प्रदायोंकी भांति जैन-दर्शनने भी भविष्यग्राही ज्ञान स्वीकार किये हैं। भविष्यमें होनेवाले किसी कार्य तथा संयोगों आदिको वर्तमान में ही प्रत्यक्ष व निश्चित-रूपसे जाननेवाले ज्ञानको भविष्यग्राही ज्ञान कहते हैं। यद्यपि वर्तमानमें इन ज्ञानोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है परन्तु सर्व ही सम्प्रदायोंके आगमोंमें उसकी सत्तापर विश्वास अवश्य किया जाता है। एक ज्ञान तो ऐसा

है कि आगे होनेवाले घट पट आदिक दृष्ट कार्योंको, अथवा मानवीय व्यापार धन्धोंको, अथवा जन्म-मरणको, अथवा धनकी लाभ-हानिको, अथवा शत्रु-मित्र या अन्य पदार्थोंके संयोग-वियोगको तथा इसी प्रकारके अन्य भी अनेकों स्थूल कार्योंको, कई वर्ष पहलेसे जान लेता है। ऐसे ज्ञानको 'अवधिज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान इन सर्व कार्योंको वर्तमानमें ही प्रत्यक्षवत् देखता है। ज्योतिषज्ञान भी इन सर्व कार्योंका पहिलेसे निश्चित अनुमान लगा लेता है। यह यद्यपि अवधिज्ञानवत् प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु निश्चित अवश्य होता है, जैसेकि सूर्य-ग्रहणका निश्चित समय बतानेवाला ज्ञान। इसको आगममें निमित्तज्ञान कहते हैं। यह भी स्वर, चिन्ह आदि आठ प्रकारका होता है। विस्तारके भयसे यहां उनके भेद-प्रभेद कहना इष्ट नहीं है। एक ज्ञान ऐसा होता है जो आगे होने वाले मानवीय-बुद्धिके अदृष्ट विकल्पोंको भी पहिलेसे प्रत्यक्ष जान लेता है। वह यहांतक बता देता है कि दो महीने पीछे अमुक समय अमुक व्यक्ति ऐसा विचार करेगा। इसको आगममें 'मनःपर्ययज्ञान' कहा गया है। चौथा ज्ञान सर्वज्ञका है, जो जड़ व चेतनके सकल चराचर, सूक्ष्म व स्थूल, दृष्ट व अदृष्ट, शुद्ध व अशुद्ध, स्वाभाविक व वैभाविक, भूत-वर्तमान-भविष्यतके सर्व ही कार्यों को हस्तामलकवत् वर्तमानमें देखता है। उसे आगमकारों ने 'केवलज्ञान' के नाम से कहा है। यह ज्ञान अत्यन्त व्यापक व निर्विकल्प होनेके कारण हमारे अनुमानका विषय नहीं है तथा विवादास्पद भी है, परन्तु अवधि आदि पहिले तीन भविष्यग्राही ज्ञान स्पष्ट रूपसे विकल्पात्मक स्वीकार किये गये हैं।

यहाँ इतना ही अनुमान किया जाता है कि यदि कोई भी भविष्यग्राही ज्ञानकी सत्ता स्वीकारनीय है तो 'नियति' को स्वीकार करना ही होगा। बिना नियत-वस्तु-व्यवस्थाको स्वीकार किये इस प्रकारके ज्ञान, कल्पना मात्र बनकर रह जायेंगे। क्योंकि जैसा कार्य पहिले हुआ था वैसा ही ज्ञान वर्तमानमें जानता है और जैसा जानता है वैसा ही हुआ था। इसीप्रकार जैसा कार्य वर्तमानमें हो रहा है वैसा ही ज्ञान जानता है और जैसा वह जानता है वैसा ही हो रहा है। इसीप्रकार यह भी मानना होगा कि जैसा कार्य आगे भविष्यमें होगा वैसा ही वह ज्ञान वर्तमानमें जानता है, और जैसा वह जानता है वैसा ही होगा। जिसप्रकार जाननेके अनुसार ही भूतकालका कार्य निश्चित है, उसमें फेरफार सम्भव नहीं, उसीप्रकार जाननेके अनुसार ही भविष्यत कालका कार्य भी निश्चित है, उसमें भी फेरफार सम्भव नहीं। ज्ञानके आधारपर कार्यकी निश्चित अवलम्बित नहीं है, प्रत्युत कार्यकी निश्चिति पर ज्ञान अवलम्बित है। ज्ञानने जाना है इसलिये वैसा नहीं होता है, प्रत्युत कार्यका होना इस प्रकारसे निश्चित है इसलिये ज्ञान वैसा जानता है। जिसप्रकार दर्पणमें जैसा प्रतिबिम्ब पड़ रहा

है, निश्चित रूपसे वैसा ही पदार्थ उसके सामने विद्यमान है; इसीप्रकार ज्ञानमें जैसा प्रत्यक्ष हो रहा है, निश्चित रूपसे वैसा ही ज्ञेय अथवा कार्य उसके सामने विद्यमान है ।इस प्रकार आगम के आधारपर नियति सिद्ध होती है ।

अनुभवके आधारपर भी सिद्ध की जा सकती है यह। आप सबके जीवनमें नित्य अनेकों ऐसे अवसर आते हैं, जबकि आप करना तो कुछ और चाहते हैं और समय आनेपर हो कुछ और जाता है । कदाचित् ज्योतिषीके द्वारा बताई गई भविष्य सम्बन्धी किसी बातको झूठा करनेका अपनी ओरसे पूरा-पूरा उद्यम करते हो, पर फिर भी वह घटना समय आनेपर उसीप्रकार घट जाती है, जिस प्रकार कि बताई गई थी । पूज्य वर्णीजीके जीवनकी एक घटना है । ज्योतिषीने बताया कि अमुक दिन ६ बजेकी गाड़ीसे सम्मेदशिखर जाओगे । बराबर याद रखनेका प्रयत्न किया उस बातको, परन्तु जब वह दिन आया तो इतनी तीव्र जिज्ञासा उदित हुई यात्रा करनेकी कि सब कुछ भूल गए । ६ बजे वाली गाड़ीसे ही रवाना हो गए, और गाड़ी चल चुकनेपर याद आया कि मैं तो ज्योतिषीकी बातको झूठा करनेकी सोचता था पर कर न सका । न चाहते हुए भी समय आनेपर आपको कदाचित् कोई ऐसा कार्य करना पड़ जाता है जिसका आपको पहले भानतक नहीं था । विस्तारके भयसे उदाहरण नहीं देता,पर मेरे तात्पर्यको आप समझ गए होंगे । नियतिके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं इसे ?

६. नियति-पुरुषार्थ मैत्री—लीजिये अब क्रम-पूर्वक आपकी शंकाओंका समाधान करता हूं । प्रथम शंका है यह कि 'नियतिको स्वीकार कर लेनेमें पुरुषार्थका अभाव हो जायेगा' । सो भाई ! पुरुषार्थका अर्थ समझाते समय पहले यह भली भाँति बताया जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो या चेतन, परिवर्तनस्वभावी है । प्रत्येक क्षण नवीन-नवीन परिवर्तन या कार्य करते रहनेवाली उसकी निज परिणति ही उसका पुरुषार्थ है । तू भी एक चेतन वस्तु है । अवस्था-परिवर्तनरूप कार्य करते रहना तेरा स्वभाव है । स्वभावका अभाव तीन कालमें सम्भव नहीं । अतः तेरा यह प्रश्न निरर्थक है ।

दूसरा प्रश्न है 'मोक्ष जब होनी होगी हो जायगी, साधना क्यों करूं', सो भी ठीक नहीं, क्योंकि खाली तो तू बैठ नहीं सकता, कुछ न कुछ तो करना ही होगा । अब बता कि क्या करना अच्छा लगता है तुझे ? यदि कर्मधारा-रूप लौकिक कार्य करना भाता है तब तो 'नियति' पर श्रद्धा हुई कैसे कही जा सकती है, क्योंकि नियतिकी तो यह घोषणा है कि "लौकिक विषय हो या अलौकिक किसीको भी अपने अनुकूल बनानेका अधिकार तुझे नहीं है । अतः दोनों ही दिशाओंमें करने-धरने सम्बन्धी विकल्पको छोड़कर, जो कुछ

हो रहा है या होनेवाला है, उसे केवल देख तथा जान।" मोक्षमार्गको नियतिपर छोड़ना और संसारमार्गको पुरुषार्थकी ओर खैंचना, यही तो बता रहा है कि तेरे अभिप्रायमें कर्मधारा है ज्ञानधारा नहीं। सब कुछ नियत देखना ही ज्ञानधारा है। बाहरमें कुछ अपनी कल्पनाके अनुसार परिवर्तन करनेका विकल्प कर्मधारा है, जिसका आधार नियति नहीं अनियति है। क्योंकि कार्य-व्यवस्थाको अनियत जाननेवाला ही बाहरमें कुछ करने-धरनेका प्रयत्न करता है, उसे नियत जाननेवाला नहीं। तात्पर्य यह कि कर्मधारा नियतिके अनुरूप नहीं प्रत्युत अनियतिके अनुरूप पुरुषार्थ है। दोनों ही दशाओंमें पुरुषार्थ बाधित नहीं होता। नियतिमें रहता है ज्ञानधारारूप पुरुषार्थ और अनियतिमें कर्मधारारूप।

तीसरा प्रश्न है यह कि मैं 'नियतिके अधीन होकर पंगु बन जाऊंगा'। इस प्रश्नका उत्तर भी पूर्वोक्त दो प्रश्नोंमें आ चुका है। जबतक कर्मधारारूप पुरुषार्थ कर रहा है तबतक तो तुझे नियतिपर विश्वास ही नहीं है। उसके आधीन कैसे हो सकता है? और जब नियतिपर विश्वास करके उसके आधीन बन जायेगा, तो उस समय ज्ञानधारारूप पुरुषार्थ करता हुआ होगा तू। पंगू कैसे बनेगा? उसकी यह आधीनता तो इष्ट ही है।

१०. नियति-निमित्त मैत्री—अब चौथा प्रश्न है यह कि 'निमित्तोंका मिलना भी यदि नियत ही है तो फिर उनका ग्रहण-त्याग करनेकी आवश्यकता ही क्या?' इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहले हम तुझसे यह पूछना चाहते हैं कि यह प्रश्न किस रुचिसे कर रहा है—ज्ञानधाराकी रुचिसे या कर्मधाराकी रुचिसे? ऐसा प्रतीत होता है कि अन्दरमें तो रुचि पड़ी है कर्मधाराकी और बाहरमें बात कर रहा है ज्ञानधाराके विषयभूत नियतिकी। मेल बैठे तो कैसे बैठे? किसी भी कार्य करनेकी प्रेरणा नियति नहीं, रुचि देती है। देख वर्तमानमें तुझे धन कमानेकी रुचि है तो तू उसी प्रकारकी प्रवृत्ति भी करता है, तत्सहायक निमित्तोंको मिलानेका प्रयत्न भी करता है और तद्बाधक निमित्तों को हटाने का प्रयत्न भी करता है। उपार्जित धनका उपयोग करनेके-लिये तदनुकूल विषय-सामग्रीका संग्रह भी करता है और उस भोगके आधारभूत इस शरीरको स्वस्थ रखनेका प्रयत्न भी करता है। इस प्रकारसे इन सकल निमित्तोंके प्रति प्रवृत्ति होना ही तो धनोपार्जन विषयक पुरुषार्थ है या कुछ और? और इस पुरुषार्थके फलस्वरूप धन तथा विषय-सामग्रीकी प्राप्तिका होना ही है उसका भवितव्य। इस प्रकारके पुरुषार्थपर-से तेरी अन्तरंग श्रद्धाका तथा रुचिका परिचय मिलता है।

यदि यह रुचि बदलकर शान्ति-प्राप्तिकी दिशाके प्रति झुक जाय तो उसके लिये तू कुछ प्रयत्न करेगा या नहीं ? क्या सर्वथा निठल्ला बैठ जाना सम्भव है? मनसे, वचनसे तथा कायसे, तीनोंसे कुछ न कुछ तो करेगा ही । या तो सर्व मानसिक विकल्पोंको हटाकर ज्ञानधारामें निश्चल रहनेका प्रयत्न करेगा और यदि वैसी सामर्थ्य नहीं है तो देव-गुरु-शास्त्रकी शरणमें जाकर तदनुकूल कोई धार्मिक अनुष्ठान करेगा । इस दिशामें तीसरा कोई कार्य किया जाना सम्भव नहीं । साक्षात् रूपसे ज्ञानधारामें निश्चल रहनेको तो अभी तू समर्थ नहीं है, इसलिये तदनुकूल कर्मधारारूप कोई व्यवहारिक पुरुषार्थ ही कर सकता है । और सकल व्यवहारिक पुरुषार्थका स्वरूप है वही जो कि धनोपार्जनकी दिशामें ऊपर बताया जा चुका है, अर्थात् अनुकूल निमित्तोंका ग्रहण और प्रतिकूलका त्याग । अतः यह कैसे सम्भव है कि धर्म या शान्तिकी रुचि जागृत हो जानेपर और कर्मधाराकी भूमिपर स्थित रहते हुए तू धर्मके साधक निमित्तोंका ग्रहण तथा उसके बाधक निमित्तोंका त्याग न करे । यही तेरा इस दिशाका पुरुषार्थ है, जो कि बता रहा है कि नियति या काललब्धि अब सुधर गई है तेरी । इस पुरुषार्थके फलस्वरूप धीरे-धीरे विकल्पोंकी निवृत्ति-पूर्वक तेरा ज्ञानधारामें प्रविष्ट हो जाना निश्चित है, और यही है इस पुरुषार्थका भवितव्य । तात्पर्य यह कि यदि तू देव-गुरु-शास्त्र आदिकी शरणमें जाकर अपनी शक्तिके अनुसार धार्मिक अनुष्ठानोंमें प्रवृत्त होनेका प्रयत्न करे तो अवश्य ही मोक्षका पात्र बन जाय । इसीमें नियतिदर्शक ज्ञानधाराकी रुचि भी स्वतः सिद्ध है ।

निमित्तादिका ग्रहण-त्याग तो करता रहे धनोपार्जनकी दिशावाला, और बात करता रहे नियतिकी तथा ज्ञानधाराकी, यह तो नियतिकी स्वीकृति कहलाती नहीं । यथाशक्ति धनोपार्जनकी दिशावाले कार्योंसे हटकर धार्मिक दिशावाले कार्योंमें प्रवृत्त होनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करे, तो उसीमें नियतिकी अनुक्त स्वीकृति निहित है क्योंकि ऐसा करनेसे ही तेरी बुद्धि धीरे-धीरे विकल्पों से हटकर ज्ञानधारामें प्रवेश पानेके योग्य होती चली जायेगी । जानने, श्रद्धा-करने तथा प्रवृत्ति करनेमें बड़ा अन्तर है । जाना कुछ और जाता है और किया कुछ और जाता है । जाना तो जाता है धनोपार्जन और दुकानमें माल भरनेके लिये किया जाता है धन-व्यय । इसीप्रकार जानी तो जाती है ज्ञान-धारावाली निर्विकल्पता, और प्रवृत्ति की जाती है तदनुकूल निमित्तोंके ग्रहण त्याग रूप विकल्पोंकी । इसी प्रवृत्तिमें पड़ी है नियतिकी स्वीकृति । क्योंकि विकल्पात्मक होते हुए भी इस प्रकारकी प्रवृत्तिका लक्ष्य है निर्विकल्पता । इस लक्ष्यकी पूर्तिका यहां सर्वथा अभाव हो, ऐसा भी नहीं है । आंशिक रूपसे उसकी प्राप्ति भी बराबर हो ही रही है । लौकिक दिशावाली तीव्र कर्मधारा

धीरे-धीरे विराम पाती जा रही है और शान्तिकी दिशावाली मन्द ज्ञानधारा धीरे-धीरे उदित होती जा रही है।

११. नियति व अकाल-मृत्यु मैत्री—पांचवां प्रश्न है अकाल-मृत्यू सम्बन्धी। समयसे पहले विषभक्षण आदिसे होनेवाली मृत्युको 'अकालमृत्यु' कहते हैं, कर्म-सिद्धान्तके अन्तर्गत पूर्वबद्ध कर्मोंकी स्थिति आदिके घटने बढ़नेको 'अपकर्षण' व 'उत्कर्षण' कहते हैं और प्रकृतिके बदल जानेको 'सङ्क्रमण' कहते हैं। समयसे पहिले कर्मको उदयमें लाना 'उदीरणा' कहलाती है और समयसे पहिले उन्हें झाड़ देना 'निर्जरा' कहलाती है। 'आगम-कथित ये सब विषय नियतिके बाधक हैं, ऐसी आशंका भी करनी योग्य नहीं, क्योंकि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके आनेपर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वतः होती है। तीव्र-क्रोध आनेपर ही विषभक्षण आदिका कार्य होता है, उसके अभावमें नहीं। इसीप्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदिके सम्बन्धमें भी जानना। क्योकि अकाल-मृत्युका अर्थ आयु-कर्मकी उदीरणाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अकाल तो केवल इसलिये कही जाती है कि जितनी आयु बंधी, उतनी स्थिति पूरी नहीं की। वास्तवमें कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसकी स्थिति बन्धके अनुसार ही उदयमें आती हो। बुद्धिहीन सूक्ष्म प्राणियोंमे भी ये उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा-जैसा विकल्प उस-उस समय आता है, वैसी-वैसी प्रवृत्ति ही उस-उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा-वैसा ही नवीन बन्ध व उत्कर्षण आदि होता है। उत्कर्षण आदिके परिणाम कोई और हों और बन्धके कोई और, ऐसा नहीं है। एक समयके जिस एक परिणाम या प्रवृत्तिसे बन्ध होता है, उसीसे उसी समय यथायोग्य उत्कर्षण, अपकर्षण आदि भी होते हैं, अतः इनसे नियति बाधित नहीं हो सकती।

१२. नियति व आगमाज्ञा मैत्री—छठा प्रश्न है यह कि 'नियतिकी स्वीकृतिको 'आगममें मिथ्यात्व बताया गया है'। सो भाई! यह बात भी दृष्टिकी संकीर्णताके कारण ही निकल रही है। गोमट्टसार आदि ग्रन्थोंमें जहां इसे मिथ्यात्व बताया है, वहां यह देख कि प्रकरण क्या चल रहा है, और फिर उसके अनुसार ही उसका अर्थ लगा। आश्चर्य होगा यह सुनकर कि जहांपर तुझे नियतिका निषेध दिख रहा है, वहांपर ही तुझे नियतिका समर्थन दिखने लगेगा। सो कैसे? वही बताता हूं।

वहांपर प्रकरण एकान्त-मिथ्यात्वका है, जिसके ३६३ भेद करके दिखाये हैं। अस्ति-नास्ति आदि सप्त भंग, जीवादि सप्त तत्त्व या नव पदार्थ, नित्य अनित्य आदि विकल्प तथा लोकमें प्रसिद्ध ८ वादोंको परस्परमें गुणा करके

क्रियावादियों आदिके अनेकों भंग बनाये गये हैं, जिन सबका जोड़ ३६३ होता है। वे आठ वाद भी ये हैं—१ स्वभाववाद, २ आत्मवाद, ३ ईश्वरवाद, ४ कालवाद, ५ संयोगवाद, ६ पुरुषार्थवाद, ७ नियतिवाद, और ८ दैववाद। उस स्थलपर इन आठों वादोंके लक्षण मात्र किये गये हैं उनका निषेध नहीं। हां प्रकरणवश उनके निषेधका तात्पर्य वहां अवश्य है, परन्तु सर्वथा निषेधका प्रयोजन नहीं है। उन-उनको एकान्त रूपसे ग्रहण करना, अर्थात् अपनी रुचिके अनुसार उनमें-से कोई एक या दो आदि वाद तो स्वीकार करले और अन्यका निषेध करदे, ऐसा करना एकान्त मिथ्यात्व है।

इसप्रकार यदि गौरसे देखा जाय तो वहां एक नियतिवादको ही मिथ्यात्व बताया गया हो, ऐसा नहीं है। वहाँ तो सप्त भंग, सात तत्त्व, नव पदार्थ, सबकी स्वीकृतिको एकान्त बताया गया है। तू यदि पुरुषार्थ या संयोग व निमित्तके गान गाता है तो वहां उनकी स्वीकृतिको भी मिथ्यात्व कहा गया है। वहां तो स्वभावकी स्वीकृतिको भी मिथ्यात्व कहा है। जैनागमका कौनसा ऐसा तत्त्व है जिसे वहां मिथ्यात्व न कहा गया हो। यदि उस कथनपर-से नियतिका निषेध करना है तो अन्य सर्व वादों व अंगोंका भी निषेध करना पड़ेगा। और यदि ऐसा करदे तो रह ही क्या जाय? क्या सर्व-शून्यकी स्वीकृतिको सम्यक्त्व कहेगा?

भाई! वहां नियतिका निषेध नहीं किया है बल्कि सप्त तत्वों आदिकी भांति उसको भी स्वीकार करनेके-लिये कहा है। वहां तो यह बताया है कि जिसप्रकार निमित्त व पुरुषार्थसे हीन नियतिकी स्वीकृति एकान्त है उसीप्रकार नियतिसे हीन पुरुषार्थ व निमित्त आदिकी स्वीकृति भी मिथ्यात्व है। क्योंकि सर्व कथन कर देनेके पश्चात् आचार्य स्वयं वहां एक गाथा कह रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि, "एकान्त मिथ्यात्वके ये ३६३ भेद कह दिये गये, पर ये इतने ही नहीं हैं, असंख्यात हैं, क्योंकि जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही एकान्त हैं। अन्य मतवादियोंके वही वचन मिथ्या हैं क्योंकि वे 'सर्वथा' शब्दके साथ वर्तते है, परन्तु जैन या अनेकान्त वादियोंके वही वचन सम्यक हैं क्योंकि वे 'कथञ्चित्' पदसे चिह्नित हैं।" इस गाथाके अनुसार 'नियति' का सर्वथा निषेध करके शेष बचे ३६२ की स्वीकृति भी एकान्त कहलायेगी।

किसी न किसी प्रकार इन ३६३ तथा इनके अतिरिक्त अन्य अनेक बातोंको युगपत् स्वीकार करना ही वास्तवमें व्यापक-अनेकान्त-दृष्टि है और वही सम्यक्त्व है। अब तू ही निर्णय करले कि यहां नियतिका निषेध कराया गया है या स्वीकार?

१३. सर्वाङ्गीण मैत्री—प्रश्न समाप्त हो गए, परन्तु हृदय अब भी समाहित नहीं हुआ। नियतिका बल स्वीकार कर लेनेपर वस्तु परतन्त्र सी होती प्रतीत होने लगती है। सो भाई ! बड़ी मुश्किलकी बात है। स्वभावको कहने जाता हूं तो वस्तु स्वभावके आधीन होकर परतन्त्र होने लगती है, निमित्तको कहने जाता हूं तो वस्तु निमित्तके आधीन होकर परतन्त्र होने लगती है और नियतिको कहने जाता हूं तो वस्तु नियतिके आधीन होकर परतन्त्र होने लगती है। समाधान करूं तो कैसे करूं ? भैया ! वस्तुका तथा उसकी कार्य-व्यवस्था का स्वरूप बड़ा जटिल है। वास्तवमें जो कुछ भी एक समयमें कहा जाता है, वस्तु-व्यवस्था वैसी है नहीं। वह है इन पांचों समवायोंका एक अखण्ड-पिण्ड। केवल ज्ञानधारा ही समर्थ है उसे देखनेके-लिये, जिसका उल्लेख निमित्तोपादान मैत्रीमें पहले किया जा चुका है।

किसी भी कार्यके-लिये अनेकों कारणकूटोंकी आवश्यकता होती है। यहां तो केवल पांच ही का उल्लेख किया है, उसमें तो अनन्तों अंग एक ही समय पड़े हैं। जबतक वस्तुको पढ़नेका प्रयत्न न करेगा प्रश्न उठते ही रहेंगे। यद्यपि सभीका तर्कपूर्ण उत्तर उपलब्ध है, तदपि स्थानाभावके कारण सबका उल्लेख यहां किया जाना सम्भव नहीं। सभी बातोंको युगपत् देखे तो स्वतः सबका सामाधान प्राप्त हो जाता है। किसी एक मशीनके सारे पुर्जे यथास्थान जड़े रहते हुए भी यदि उसमेसे एक छोटीसी कील निकाल ली जाय तो सब घोटमटाला हो जाय। भले ही पैसेकी दृष्टिसे उसका मूल्य न के बराबर हो, परन्तु मशीनकी कार्य-व्यवस्थामें उसका भी उतना ही मूल्य है जितना कि किसी बड़ी भारी गरारीका। इसीप्रकार विश्वकी सहज कार्य-व्यवस्थामें सभी अंगों या समवायोंका समान मूल्य है, न किसीका कम न अधिक। भले ही तत्त्व-दृष्टाकी दृष्टिमें निमित्तका कोई मूल्य न हो परन्तु वस्तुकी कार्य-व्यवस्थामें उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, और इसीप्रकार अन्य अङ्गोंकी भी। अतः शब्दोंकी खेंचतान छोड़कर साक्षी-भावसे इस बाह्याभ्यन्तर जगतका तमाशा देख।

इन पांचों समवायोंमें वस्तुका 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' स्वभाव तो त्रिकाल सत् है और इसलिये उसमें कुछ भी किये जानेका प्रश्न नहीं। नियति कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं है। न वह कोई द्रव्य है, न किसी द्रव्यका कोई गुण और न किसीकी कोई पर्याय। वह है मात्र उस कालका नाम जिसमें कि कोई विवक्षित कार्य सिद्ध होना होता है। इसीप्रकार भवितव्य भी है मात्र उस कार्यका नाम जोकि उस कालमें सिद्ध होना होता है। अतः इन दोनों अङ्गोंमें भी व्यक्तिको करनेके-लिये कुछ नहीं है। अब रह गए निमित्त तथा पुरुषार्थ। तहां

निमित्तके रूपमें यह गुरुवाणी तथा तेरे अपने ज्ञानकी शक्ति वर्तमानमें तुझे सहज प्राप्त है, इसलिये उसे प्राप्त करनेके-लिये भी तुझे कुछ करना नहीं है। प्राप्तको प्राप्त करनेका प्रयत्न कौन करता है? रह गया अकेला पुरुषार्थ। वही करनेकी बात है। गुरुवाणीरूप इस निमित्तकी शरणमें जाकर उसकी आज्ञानुसार सत्य पुरुषार्थ करे तो निमित्त भी सार्थक हैं, अन्यथा तेरेलिये वे निमित्त भी नहीं कहे जा सकते। परन्तु पुरुषार्थ क्या? इस बातका उत्तर पहले दिया जा चुका है (देखो ६.६)। तीव्र लौकिक कर्मधारासे हटकर मन्द कर्मधाराका अर्थात् धार्मिक क्रियाओंका आश्रय ले। फिर उससे भी हटकर साक्षात् ज्ञानधारामें प्रवेशकर, और साक्षी-भावसे इस जगतका तमाशा देख। यही है सत्य पुरुषार्थ।

और यदि कदाचित् इन पांचोंमेंसे कोई भी एक आकर अपनी शेखी बघारने लगे, तथा अपने सहवर्ती अन्य समवायोंका तिरस्कार करने लगे तो इसप्रकार समझाकर उसे शान्तकर देना चाहिये—

(१) जब स्वभावका विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि स्वभाव ही सब कुछ है, निमित्तादिका कुछ मूल्य नहीं है तो मन्ताका कर्त्तव्य है कि वह पुरुषार्थकी ओर देखकर ऐसा विचार करे कि स्वभाव तो एक कालातीत सामान्य बात है। वह तो न कुछ करता है न किसीको कुछ करनेकी प्रेरणा देता है। कार्य करना तो मेरे पुरुषार्थके आधीन है। जब जैसा पुरुषार्थ करूंगा तब तैसा ही कार्य होगा और यही है उसकी नियति और भवितव्य।

(२) जब निमित्तका विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि निमित्त ही सर्वेसर्वा है, नियति आदिका मूल्य नहीं, तो मन्ताका कर्त्तव्य है कि तत्सहभावी स्वभाव, पुरुषार्थ और नियति इन तीनोंकी ओर देखकर ऐसा विचार करे कि यदि मेरा स्वभाव परिणमन करनेका न होता तो निमित्त बेचारा क्या करता। अथवा यदि उसके सद्भावमें भी मैं पोस्ती बना बैठा रहता तो वह बेचारा क्या करता। यदि प्रेरक निमित्त आकर यह कहने लगे कि मैं तुझे पुरुषार्थ करनेके-लिये बाध्य कर सकता हूं तो साथमें रहनेवाली नियतिकी ओर देखकर तू उसके इस अहंकारको दूर करदे और उसे कह दे कि जैसी नियति होगी वैसा ही निमित्त आयेगा। अपनी मर्जीसे जो कोई भी निमित्त जब चाहे प्राप्त हो जाय, यह सम्भव नहीं। नियतिके आधीन होनेके कारण जो स्वयं परतन्त्र है वह दूसरेको क्या परतन्त्र बनायेगा।

(३) जब पुरुषार्थ आकर यह अहंकार करने लगे कि सर्वत्र मेरी ही प्रधानता है, अन्य सर्व बातें तुच्छ हैं, तो मन्ताका कर्त्तव्य है कि वह नियतिकी

ओर देखकर उसे यह समझा दे कि देख भाई ! तेरा पक्ष यद्यपि प्रबल है, परन्तु तनिक यह विचार कि बिना हार्दिक रुचिके भी क्या तू जागृत हो सकता है कभी ? और हृदयके राज्यमें किसी भी प्रकारकी कृत्रिमताको अवकाश नहीं। वह तो समय आनेपर स्वतः स्फुरित हो जाती है, न जाने क्यों तथा कैसे। इस प्रकार रुचि नियतिके आधीन है, और वही तेरा जननी है। जब जैसी नियति होती है तब वैसी ही रुचि होती है, जब जैसी रुचि होती है तब तैसा ही पुरुषार्थ जागृत होता है और जब जैसा पुरुषार्थ होता है तब तैसा ही कार्य या भवितव्य होता है। अतः व्यर्थका गर्व मत कर।

(४) जब नियति का विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि इसने वस्तुको सर्व ओरसे जकड़जन्द कर लिया है, तो साथमें रहनेवाले पुरुषार्थकी ओर देखते हुए उसे यह कहकर शान्त करदे कि हे माता ! तू तो कुछ करनेकी प्रेरणा किसीको देती नहीं, तू तो मात्र उस कालका नाम है जिस कालमें कि वह कार्य होना होता है। कार्य करना तो पुरुषार्थके आधीन है। जब जैसा पुरुषार्थ करूंगा तब तैसी ही मेरी प्रवृत्ति होगी, तब तैसे ही निमित्तोंका ग्रहण-त्याग होगा और जब जैसे निमित्तोंका ग्रहण-त्याग होगा तब तैसा ही कार्य या भवितव्य सिद्ध होगा।

(५) जब भवितव्य आकर अपनी डींग हांकने लगे तो साथमें रहनेवाले शेष चार अंगोंकी ओर देखते हुए उसे यह कहकर जरा डरा दो कि तेरा तो अपना कोई स्वतंत्र स्वरूप ही नहीं है। जहां जब पुरुषार्थ जागृत होकर जैसे कैसे निमित्तों का ग्रहण-त्याग करता है, तहां तब तैसा ही कार्य सिद्ध हो जाता है, और होने योग्य वह कार्य ही तेरा स्वरूप है।

इसप्रकार पाञ्चोंका युगपत् एक दूसरेके साथ गुंथे रहना ही वस्तु-व्यवस्था है। किसी एक अंगको भी हटा दिया जाय तो कार्यकी गति रुक जाय। स्वभाव न हो तो परिवर्तन ही न हो, कार्य कैसे होगा, चाहे जोर लगालें सब मिलकर। यदि निमित्त न हो तो परिवर्तन ही न हो। काल नामक सामान्य निमित्त न हो तो मृतिकामें अथवा तन्तुओमें सामान्य परिवर्तन न हो, और चक्र-चीवर आदि विशेष निमित्त न हों तो उनमें घटरूप या पटरूप विशेष परिवर्तन न हो, स्वभाव या पुरुषार्थ क्या करेंगे बेचारे ? यदि पुरुषार्थ न हो तो प्रवृत्ति ही न हो, बैठे रहें स्वभाव निमित्त तथा नियति हाथपर हाथ रखे। यदि नियति न हो तो हृदयमें काम करनेकी रुचि ही जागृत न हो और उसके अभावमें पुरुषार्थका जन्म ही न हो। यदि भवितव्य न हो तो कार्य ही न हो, क्योंकि कार्यका नाम ही तो भवितव्य है। जब कार्य ही नहीं तो सर्व अंगोंका मिलना व्यर्थ।

पांच अंगोंसे समवेत यही है वस्तुकी स्वतन्त्र कार्यव्यवस्था, जिसे देखा जा सकता है और देखकर आनन्द लूटा जा सकता है, केवल ज्ञानधाराके द्वारा। कर्मधाराको आज्ञा नहीं है इसके राज्यमें प्रवेश करनेकी। अतः अब अपने ज्ञान को कुछ सरल कर, खेंचतान छोड़, अपने किसी पक्षके कारण वस्तु-स्वरूपका या सिद्धान्तका निरादर न कर। पाञ्चों समवायोंको यथोचित रूपमें स्वीकार कर। वस्तु स्वातन्त्र्यका यह अर्थ नहीं कि उसमें निमित्ताका कोई स्थान नहीं, और निमित्ताकी स्वीकृतिका यह अर्थ नहीं कि नियति तथा भवितव्य कोई वस्तु नहीं और न ही नियति तथा भवितव्यकी स्वीकृतिका यह अर्थ है कि पुरुषार्थ तथा निमित्त व्यर्थ हैं। सबको युगपत् देखनेका प्रयत्नकर और वह तभी सम्भव है जब कि तू शब्दोंके घरोंदेसे निकलकर ऊपर व्योम में चला जाय और वहां स्थिर रहकर देखा करे इस सकल विस्तारका तमाशा।



११

आस्रव-तत्त्व



१. पारमार्थिक अपराध—अहो ! अपराधोंसे अतीत वीतरागी गुरु, आपका उपकार, करुणा व निःस्वार्थता। निपट अन्धेको आंखें प्रदान करके इसे अपराधोंके प्रत्यक्ष दर्शन करा देनेवाले हे गुरुवर ! इसके अपराधोंको अब शान्त करो। शान्ति-पथके पथिकको स्वपर-भेद कर चुकनेके पश्चात्, अब यह बात चलती है कि कौनसा ऐसा अपराध है जिसका कि दण्ड उसे इस व्याकुलताके रूपमें मिल रहा है। गुरुदेवके द्वारा प्रदान की गई दिव्य चक्षुसे आज मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि वास्तवमें मेरा सारा जीवन ही अपराधमय है। चौबीस घण्टे मैं करता ही क्या हूं, अपराधके अतिरिक्त ? यहाँ अपराधसे तात्पर्य राजदण्ड्य लौकिक अपराध न ले लेना, बल्कि वह पारमार्थिक अपराध लेना जिसके कारण कि व्याकुलताका दण्ड उठाना पड़े। कौन देने वाला है वह दण्ड ? कोई दूसरा नहीं, मैं स्वयं ही हूं, क्योंकि जो अपराध मैं करता हूं वह स्वयं व्याकुलतारूप ही है। इसी अपराधको आगमकारोंने 'आस्रव' नामसे कहा है।

२. कार्मण-शरीर—आस्रव अर्थात् आ+स्रव। 'आ' का अर्थ चारों ओर से और 'स्रव' का अर्थ स्रना, रिसना या धीरे-धीरे प्रवेश करना। अर्थात् जो धीरे-धीरे प्रवेश कर रहे हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। दो वस्तुएं हैं जो इसप्रकार प्रवेश कर रही हैं—एक तो मेरा अपना चैतन्यात्मक अपराध और दूसरा वह जड़ पदार्थ, जो कि इसके कारणसे कुछ एक विशेष निमित्त बननेकी शक्तिको लेकर आता है। इसे 'कर्म' कहते हैं। मेरा अपराध मेरे जीवनमें प्रवेश पाता है और कर्म शरीरमें। मेरे अपराधसे आगे बताये जानेवाले मेरे संस्कारोंका निर्माण होता है और इन कर्मोंसे सूक्ष्म-शरीरका अथवा कार्मण-शरीरका।

वास्तवमें सूक्ष्मशरीर ही मेरा बन्दीगृह है, स्थूल-शरीर नहीं। यदि ऐसा

न होता तो इस शरीरको आत्महत्याके द्वारा त्यागकर सम्भवतः मैं इस बन्दी-गृहसे निकल भागता, और इसप्रकार इसका अभाव हो जानेपर इस सम्बन्धी इच्छाएं मुझे प्रगट न हो सकतीं, मैं शान्त हो जाता। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं है। स्थूल शरीरका विच्छेद हो जानेपर इच्छाओंका विच्छेद नहीं होता, और यह कार्मण-शरीर पुनः नये शरीरका निर्माण कर देता है। अतः शान्तिका उपाय स्थूल-शरीरका विच्छेद करना नहीं है, बल्कि कुछ और है।

यदि उस सूक्ष्म-शरीरका किसी प्रकार विच्छेद कर दिया जाय तो सहायकके अभावमें यह स्थूल-शरीर भी टिका नहीं रह सकता, त्यागपत्र देकर स्वयं चला जाता है, और उसका यह त्यागपत्र सदाके-लिये होता है। प्रतिदिन-वाली यह मृत्यु वास्तविक नहीं है, तब इसकी मृत्यु वास्तविक होती है। यह फिर मुझको बन्दी नहीं बना सकता, परन्तु उस सूक्ष्म-शरीरका विच्छेद कैसे किया जाय, सो विचारनीय है। सूक्ष्म व अदृष्ट होनेके कारण तथा दूध-पानीवत् मेरे-साथ मिलकर पड़ा होनेके कारण, किसी यन्त्रके द्वारा उसका विनाश किया जाना असम्भव है। अग्निके द्वारा भी उसे भस्म नहीं किया जा सकता। वास्तवमें उसका विच्छेद करना मेरे बसकी बात नहीं। जिसे मैं छू व देख तक नहीं सकता, उसके विच्छेद करनेका स्वप्न देखना भ्रम है। हां मैं उस अपराधका विच्छेद अवश्य कर सकता हूं जिसके कारणसे कि इसका प्रवेश हो रहा है।

अपराधको करनेवाला स्वयं मैं हूं और वह अपराध तत्क्षण व्याकुलताके रूपमें मेरे अनुभवमें आ रहा है। मैं उससे भली भाँति परिचित हूं। उसे करनेका व न करने का मुझे पूरा अधिकार है और यदि मैं स्वयं अपराध न करूँ तो कोई शक्ति ज़बरदस्ती मुझे अपराध करनेके-लिये बाध्य नहीं कर सकती। इन उपरोक्त कर्मोंका दास बना आजका जगत अपनेको उस सूक्ष्म-शरीरके आधीन मानता है। "मुझसे तो अपराध वह करा रहा है। जब तक वह रास्ता न देगा, मैं क्या कर सकता हूं? उसका उदय होगा तो मुझे अपराध करना ही पड़ेगा। मैं क्या करूं? मैं स्वयं तो अपराध करना चाहता नहीं, पर यह मेरा पीछा छोड़ता नहीं। यदि गुरुदेव दया करके इससे मेरा पीछा छुडा दें तो मैं अपराधी कभी न बनूं।" और इसप्रकार अपना दोष दूसरोंके गले मँढ़ता है, स्वयंको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है। अपने अपराधको स्वीकार करने तकका साहस जिसमें नहीं है, वह बेचारा पामर व्यक्ति कभी यह नहीं विचारता कि क्या इसप्रकार तुझे शांति मिलनी सम्भव है? यह शरीर तो सदासे है और सदा रहता रहेगा, तुझे अपराध कराता

रहेगा। स्वभावतः ही उस तेरे अपराधसे उसमें और वृद्धि होती रहेगी, इस प्रकार न कभी उसका विनाश होगा न तेरे अपराधका। तू सदा बन्दी बना खाता ही रहेगा ठोकरें, इस व्याकुलतामय जगतकी। प्रभो! अब विपरीत बुद्धिको छोड़, तुझे आज प्रकाश मिल रहा है, कुछ देख, अपने अपराधको स्वीकार कर और इसे तोड़नेका प्रयत्न कर। इसपर तेरा बस चल सकता है, उस बेचारे जड़ शरीरको अपने अपराधके कारण क्यों कोसता है।

प्रकाशको पीटनेसे प्रकाशका अभाव नहीं हो जाता, दीपक बुझानेसे ही होगा। गोलीको उठाकर छेतनेसे तो गोली लगनेका भय नहीं जाता, उसके-लिये तो व्याघ (शिकारी) पर आघात करना होगा, जैसाकि सिंह करता है। परन्तु श्वान उससे उल्टा व्याधपर न झपटकर गोलीपर झपटता है, तथा मारनेवाले पर न झपटकर लाठीपर झपटता है। भला विचारो तो, लाठी बेचारीका क्या दोष? व्यक्ति उठाकर लाया तो वह आई, उसे घुमाया तो वह घूम गई। उसी प्रकार इस बेचारे जड़ शरीरका क्या दोष? तूने अपराध करके उसे बुलाया तो आकर बैठ गया। अपराध करनेमें ही रस मान-मानकर तू उसे घुमाता है तो घूम जाता है, अर्थात् उदयमें आ जाता है। वह बेचारा तो तेरा दास है, जैसी तुझसे आज्ञा पाता है वैसा करता है। वेतन न दे तो स्वयं भाग जायेगा। नया-नया अपराध करके आनन्द मानना ही उसको वेतन देना है। प्रभु जाग! देख तू सिंहकी सन्तान है श्वानकी नहीं, लाठीको मत पकड़, उस बेचारेको मत कोस, मूलपर आघात कर, अपने अपराधको देख और उसको स्वीकार कर।

भगवन्! तू स्वतन्त्र है। स्वपर-भेदविज्ञान किया है, फिर भी अपनेको इस बेचारे जड़ कार्मण-शरीरके आधीन क्यों मानता है? 'जो यह करायेगा वही तुझे करना पड़ेगा', अर्थात् तुझमें अपना तो कुछ बल है ही नहीं। कोई कह रहा है कि ईश्वर जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा और तू कह रहा है कि कर्म जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा; बात तो एक ही रही, केवल नामका भेद रहा। उसका ईश्वर आकाशमें बैठा कोई काल्पनिक व्यक्ति है, और तेरा ईश्वर कर्म। अनादिसे परतन्त्र दृष्टि बनी रही, व्याकुलताका निशाना बनता रहा, आज सौभाग्यसे गुरुदेवका उपदेश प्राप्त हुआ है। यहाँ भी पुरानी टेव न छोड़ी। उसी परतन्त्रताका पोषण किया। कुत्तेकी दुमको बारह वर्ष नलकीमें रखा पर जब निकली टेढ़ी ही निकली। अपनी स्वतन्त्र शक्तिको अबतक नहीं पहिचाना, गुरुदेवके बतानेपर भी विश्वास नहीं करता। कैसे होगा कल्याण?

क्या कहा? गुरुदेवपर व उनकी वाणीपर तो पूरा विश्वास है? पर बात तो वास्तवमें ठीक नहीं जँचती। केवल कहने मात्रका विश्वास हो तो हो, पर

सच्चा विश्वास तो है नहीं। विश्वास वह होता है जिसका प्रतिबिम्ब जीवनमें दिखाई दे। जीवनमें तो अविश्वास ही दिखाई दे रहा है। 'आपकी बात स्वीकार है, पर करूंगा तो वही जो करना है' कुछ ऐसी बात है। फिर बता कैसे कहें कि विश्वास है? क्या भेदविज्ञान इसीका नाम है कि 'शरीर जुदा मैं जुदा' इतना कहा और हो गया? यदि पूर्वकथित रूपसे गुरुदेवके समझाने पर शरीरमें और अपनेमें षटकारकी भेदका निश्चय किया है, तो बता तू कैसे कह सकता है कि कर्म तेरा काम कर सकेंगे? भाई! अपना अपराध करनेवाला तू स्वयं है, स्वतन्त्र रहकर करता है, अपने द्वारा करता है। कर्म बेचारेका क्या दोष?

यदि तेरे निकट पड़ा भी है तो पड़ा रहने दे। क्या मांगता है तेरा? वह अपना काम करता रहे और तू अपना, वह तुझे काम करनेसे तो रोकता नहीं। जिधर चाहे जा, जिसप्रकार चाहे विचार कर, चाहे तो इन अपराधोंमें रस ले चाहे तो न ले। ये बेचारे जड़ तुझे क्या कहते हैं? अब गुरुदेवकी शरणमें आया है। स्व-परका स्वरूप निश्चय किया है तो बस परको पर समझ, उसपर-से लक्ष्य हटा और 'स्व' पर लक्ष्य कर। गुण या दोष जो कुछ भी देखना है स्वमें देख, स्वमें ही पुरुषार्थ कर, तभी कल्याण सम्भव है। कर्मोंसे भिक्षा मांगकर भिखारी बना हुआ क्यों अपने कुलको कलंक लगाता है? आ तुझे समझायें, वह तेरा अपराध क्या है, जो क्षण प्रति क्षण बराबर तेरे जीवनमें प्रवेश कर रहा है।

३. द्विविध अपराध—शान्तिके घातक व व्याकुलताके कारणभूत आस्रवका कथन चलता है। जड़ आस्रव अर्थात् कर्मास्रवकी बात हो चुकी। अब मुख्य आस्रवकी बात चलेगी जो प्रत्यक्ष-रूपसे शान्तिका घातक ही नहीं बल्कि स्वयं व्याकुलता स्वरूप है, जो अपने अनुभवमें आता है, जो स्वयं मेरा ही कोई दुष्कृत है, जिसको स्वतन्त्र रूपसे मैं कर रहा हूं, और इसलिये यदि चाहूँ तो स्वतन्त्र रूपसे रोक भी सकता हूँ। यह आस्रव भी यद्यपि कर्म कहलाता है पर यह जड़ात्मक नहीं है, चेतनात्मक है, मेरी ही कोई अवस्था-विशेष है। क्योंकि व्याकुलता स्वरूप है इसलिए शांतिके प्रति कर्त्तव्य नहीं है, अपराध है। यह अपराध भी दो प्रकारका है, शुभ और अशुभ। शुभ है पुण्य और अशुभ है पाप। पहले अशुभ अर्थात् पापकी बात चलनी है।

'आस्रव' जो सर्व ओरसे प्रतिक्षण मुझमें प्रवेश पा रहा है, अर्थात् वह अपराध जो प्रतिक्षण मैं किये जा रहा हूं, इस बातसे बिल्कुल बेखबर कि इससे मुझे शांति मिलेगी कि अशांति। जैसा कि साक्षात् अनुभवमें आ रहा है, मैं प्रतिसमय कोई न कोई नई-नई क्रिया मनसे, वचनसे व कायसे किया करता

हूं। यदि विचार करके देखूं तो उन सब क्रियाओंका मूल अन्तरङ्गमें उठनेवाले वे विकल्प हैं, जो इन्द्रिय-भोगोंसे कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते हैं तथा उन भोगों के प्रति शृङ्खलाबद्ध इच्छाओंमें-से उत्पन्न होते हैं। मनमें उठे हुए ये विकल्प ही इस शरीरको तथा जिह्वाको प्रेरित करके कोई न कोई शारीरिक व वाचिक क्रिया करनेपर बाध्य करते हैं। यदि मनमें ये विकल्प न आयें तो शरीर व वचनसे वैसी क्रियायें न हों। मन-वचन-कायकी ये सब भोग-विषयक क्रियायें इच्छाओंके आधीन हैं तथा परम्परा रूपसे इच्छाकी उत्तेजक होनेके कारण शांतिकी घातक हैं, स्वयं व्याकुलतारूप है। अतः शांति-पथगामी मेरेलिये ये सब अपराध-स्वरूप हैं, पाप हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह ये पांचों पाप इसीके अन्तर्गत हैं।

४. रागद्वेष—शरीरकी चमड़ीको सुन्दर देखकर, इसे हृष्ट-पुष्ट देखकर, इसे सुन्दर वस्त्रालंकारसे कुछ सजा हुआ देखकर, इसको चिकना-चुपड़ा देखकर न मालूम क्यों मुझे एक प्रकारका आनन्दसा होता है। रसीले व मिष्ट पदार्थोंको खाते, सुगन्धित व स्वादिष्ट पदार्थोंका भक्षण करते न मालूम क्यों मुझे एक प्रकारका आनन्दसा आता है। अकस्मात् ही किसी पुष्पकी या किसी मिष्टान्नकी या इतर-तेल आदिकी सुगन्धि नाकमें पड़ते ही न मालूम क्यों अपने को मैं उस ओर कुछ खिचा-खिचासा अनुभव करने लगता हूं। बाज़ारमें कोई सुन्दर चीज़ या मूर्ति देखकर, या हलवाईकी दुकानमें सजी हुई मिठाई देखकर, कोई सुन्दर रेडियो, ग्रामोफ़ोन आदि देखकर, सिनेमाके चलचित्र पर कुछ चलते फिरते चित्र देखकर, या थियेटर-सर्कसके कुछ सीन देखकर, या नृत्य देखकर, या किसी सुन्दर स्त्रीका मुख देखकर, या अपने किसी परम मित्रको देखकर, न मालूम मनमें कहांसे उथल-पुथल मचाता यह एक आर्कषणसा आ घुसता है कि किसी प्रकार मैं ये पदार्थ प्राप्त कर पाऊँ तो कितना अच्छा हो? कहींसे आती हुई मीठे रागकी ध्वनि व मेरी प्रशंसाके शब्द न मालूम क्यों मेरे कान खड़े कर देते हैं, और मुझे सब काम छोड़कर अपनी ओर ही ध्यान देने तथा कुछ अभिमान करनेको बाध्य कर देते हैं? अन्य भी अनेकों प्रकारके ये पांच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं, उनमें मुझे कुछ आनन्दसा भासता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्रसे ही अन्तरंगमें कुछ मिठाससा वर्तता है। विषयोंके प्रति इस प्रकारके आर्कषण का नाम 'राग' है और इस जातिके ये विषय 'इष्ट-विषय' कहे जाते हैं।

अधिक गरमी या धूपमें चलते हुए, या सर्दीमें काम करते हुए, या मैले व खुरदरे वस्त्र शरीरपर धारण करते हुए, शरीरपर मैल जमी जानते हुए, इसपर

किसी प्रकार चोट आदि खाते हुए अथवा इसपर मच्छर आदिके काटनेपर न मालूम क्यों कुछ पीड़ासी, कुछ हटावसा, कुछ बुरासा प्रतीत होने लगता है? कोई भी कड़वा या कसैला या रूखा पदार्थ खाते हुए, या स्वतः ही मुंहमें-से या किसी कुष्टीके शरीरमें-से या कहीं अन्यत्रसे किसी प्रकारकी दुर्गन्धि नाकमें आ जानेपर, न जाने क्यों मुंह फेरनेको या शीघ्रसे शीघ्र वहांसे हट जानेको जी चाहता है? किसी कुरूपसे कुष्टीको देखकर, या किसी भी मैले-कुचैले व्यक्तिको देखकर, या विष्टाको देखकर, अपने किसी शत्रुको देखकर अथवा किसी रोगीको देखकर न जाने कहांसे कुछ घृणासी, कुछ भयसा उत्पन्न होने लग जाता है? गालीका या व्यंगका कोई वचन सुनकर या अपनी निन्दाका वचन सुनकर, या वैसे ही कोई कर्कशसा शब्द सुनकर न जाने क्यों कुछ बुरासा लगने लगता है, क्यों क्रोधसा आने लगता है? तथा अन्य भी अनेकों प्रकारके ये पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझमें कुछ अदेखसका-सा, कुछ हटावका-सा, कुछ क्रोधका-सा, कुछ बुरासा भाव उत्पन्न कर देते हैं। उनमें कुछ मुझे हटावसा वर्तता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्रसे अन्तरंगमें कुछ हलचल-सी मच जाती है। विषयोंके प्रति इस प्रकारके अदेखसके भावका नाम 'द्वेष' है और इस जातिके ये विषय 'अनिष्ट विषय' कहे जाते हैं।

इष्ट विषयोंकी प्राप्तिमें राग तथा उनकी अप्राप्ति या विनाशमें द्वेष होता है। और इसके विपरीत अनिष्ट विषयोंकी प्राप्तिमें द्वेष तथा अप्राप्ति व विनाशमें राग वर्तता है। बस यह रागद्वेष ही मुझे प्रतिक्षण मनद्वारा इनकी यथायोग्य प्राप्ति व अप्राप्ति सम्बन्धी कल्पनायें करनेके-लिये, उपाय सोचनेके लिये बाध्य करते हैं। वचनद्वारा किसीको प्रेमपूर्ण वाक्य कहनेके-लिये और किसी को गाली आदि देनेके-लिये मजबूर करते हैं। शरीरद्वारा इधर दौड़ उधर दौड़, इधर आ उधर जा, ऊपर चढ़ नीचे उतर, हाथ उठा हाथ घुमा, झुकने या सीधे खड़े रहने, बैठने या लेटने आदि-रूप कार्य करनेकी प्रेरणा देते हैं। उन-उन विषयोंकी प्राप्ति हो जानेपर ही ये कार्य होते तो भी खैर थी, परन्तु उनकी निकट सम्भावना न होनेपर भी शेखचिल्लीकी भांति ये क्रियायें बराबर चला करती हैं। कोई एक ही क्रिया बहुत देरतक चलती रहती हो, सो भी नहीं, प्रतिक्षण बदलती रहती है। अगले-अगले क्षणोंमें पहलेसे अपूर्व ही कोई नई क्रिया हुआ करती है।

<u>५. क्रियाओंकी अनिष्टता</u>—प्रभो! सोचा है कभी इस सम्बन्धमें कि यह क्या है? यही तो है वह अपराध जिसे विकल्प नामसे कहा जाता है। आगे-आगेके प्रकरणोंमें आनेवाले 'इन्द्रिय विषय' 'रागद्वेष' व 'विकल्प' इन शब्दोंका

यही तो तात्पर्य है । क्या इन क्रियाओंको करते हुए प्रतिक्षण व्याकुलतासी नहीं भासती है ? क्या बराबर होती रहनेवाली इन क्रियाओंसे तू कुछ थका-थकासा नहीं महसूस करता है ? साक्षात् व्याकुलतारूप इन क्रियाओंमें फिर भी तू बड़ी लगनसे प्रवृत्ति करता है, महान आश्चर्य है । वास्तवमें तूने आजतक विचारकर देखा ही नहीं कि ये क्रियायें सुखरूप हैं कि दुःखरूप । विचारता भी कैसे, इन दो महा सुभट 'राग' व 'द्वेष' की असीम इच्छा-सेनासे कौन भयभीत नहीं हो जाता ? इन इच्छाओंसे संतप्त ही तू आजतक बिना विचारे, किये जा रहा है यह कार्य, प्रतिक्षण नया-नया अपराध । यदि एक क्षणको भी इधर ध्यान दे तो सदाके-लिये इससे मुक्ति मिल जाय, इन विकल्पोंसे छुट्टी मिल जाय । फिर ये कार्य करनेकी आवश्यकता ही न पड़े । इसलिये वास्तवमें इच्छायें करना ही वह अपराध है, जिसके प्रति कि संकेत करना इष्ट है ।

स्व व परमें भेद-ज्ञान न होने या झूठा भेद-ज्ञान होनेके कारण ही इन पूर्वकथित पदार्थोंका आश्रय वर्तता है, जिनकी महिमासे अपरिचित रहनेके कारण इस शरीर या भोग-सामग्री आदिक पर-पदार्थोंकी महिमा तेरी दृष्टिमें आती है । यदि यह समझ लेता कि इन पदार्थोंसे तेरा कोई कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है, क्योंकि ये परपदार्थ हैं, षट्कारकी-रूपसे स्वतंन्त्र हैं, तो इन क्रियाओंको अवकाश न रहता । यदि यह समझ लेता कि ये षट्कारकी-रूपसे स्वतन्त्र पर-पदार्थ तेरे आधीन नहीं हैं, तो इनकी प्राप्ति व विनाशकी इच्छा तुझमें जागृत न होती । यदि यह समझ लेता कि ये षट्कारकी-रूपसे स्वयं अपना सर्व कार्य करनेको समर्थ हैं, तो तुझे अन्यकी सहायता करने की आवश्यकता न पड़ती । यदि यह समझ लेता कि षट्कारकी-रूपसे स्वतन्त्र तू स्वयं शान्तिका भण्डार है तो इन वस्तुओंमें अपनी शान्तिकी खोज करनेकी भूल कभी न करता । यदि यह समझ लेता कि षट्कारकी-रूपसे स्वतन्त्र तू इनके आधीन नहीं है तो कदापि इनका आश्रय लेनेका प्रयत्न न करता । स्वतन्त्र-रूपसे, अपनेद्वारा, अपनेलिये, अपनेमें-से, अपने ही स्वभावके आधारपर प्रयत्न करता शांति प्राप्तिके-लिये, और शीघ्र ही सफल हो जाता । विकल्प मिट जाते, सर्व इच्छाओंका लोप हो जाता और ये सुभट राग व द्वेष अपना रास्ता नापते दिखाई देते ।

भाई ! जरा तो बुद्धिसे काम ले । इच्छाओंकी ज्वालामें घी डालनेवाली यह तेरी मानसिक,वाचिक व शारीरिक क्रियायें तेरेलिये हितकारी हैं कि अहित-कारी, सुखरूप हैं कि दुःखरूप ? इच्छाओंका दास बनकर अपनी प्रभुताको भूल गया, इस धूलकी महिमा गिनता है, इससे आकर्षित होता है, अपनी शान्तिकी बराबर अवहेलना किये जा रहा है, अपमान किये जा रहा है, भोगोंका रूप

धारण किये इन इच्छाओंरूपी वेश्याओंको घरमें वास दिये जा रहा है। पर धन्य है वह पतिभक्त शांतिरानी, जो अनादि कालसे अपमानित होते हुए भी आजतक तेरे घरमें बैठी है। अब भी उसकी ओर देख। सुन! कितनी मधुरता से यह तुझे अपनी ओर बुला रही है। "स्वामिन्! आइये, एक बार केवल एक बार मेरे मुखपर दृष्टि डाल लीजिये, फिर भले चले जाना उधर ही। मैं आपको रोकूंगी नहीं। इतना ही खेद है कि जबसे आये हो एक बार भी तो आंख उठा कर मेरी ओर नहीं देखा।" भाई! ठीक तो कहती है, एक बार देखनेमें क्या हर्ज है? नहीं अच्छी लगेगी तो छोड़ देना।

यदि निर्विकल्प इस शान्तिके दर्शन करे तो विकल्पात्मक इस मन-वचन-काय सम्बन्धी क्रियाको अपराध स्वीकार किये बिना न रहे और तेरा जीवन बदल जाय। जो अब इच्छाओंकी ज्वालामें स्वाहा होने जा रहा है, वही फिर शान्ति-सुधाके निर्मल सरोवरमें स्नान करने लगे।

६. पुण्य भी अपराध—शान्तिके घातक व इच्छाओंकी ज्वालामें नित्य मुझे भस्म करनेवाले आस्रवकी बात चलती है। इसके दो अंगोंमें-से अशुभ आस्रव अर्थात् अशुभ अपराधकी बात हो चुकी। अब चलेगी शुभ अपराधकी बात। इस प्रकरणको प्रारम्भ करनेसे पहिले यह बात यहां बता देनी आवश्यक है कि इस प्रकरणमें धर्म-कर्म सम्बन्धी पुण्यरूप क्रियाओंका निषेध करनेमें आयेगा। उसका अभिप्राय ठीक-ठीक ग्रहण करना, अन्य अर्थ लगानेपर महान अनर्थ हो जायेगा। पुण्य क्रियाओंके निषेधका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें छोड़कर लौकिक पाप-कार्योंमें प्रवृत्ति करने लगे। बल्कि इसका अर्थ यह है कि यद्यपि साधक दशामें अशुभ रागको छोड़नेके-लिए शुभ रागका आश्रय कथञ्चित् इष्ट है, पर शुभ रागसे भी धीरे-धीरे हटते हुए अधिकाधिक स्वरूप-निमग्न होनेका प्रयत्न कर, यहां तक कि अन्तमें जाकर इनको सर्वथा तजकर ध्यानस्थ हो जा। इनकी अनिष्टता दिखानेका यही प्रयोजन है कि कहीं इनको ही जीवनका सार मानकर तू इन ही में उलझकर न रह जाय, अर्थात पुण्यमें रस लेने न लग जाय। क्योंकि ऐसा होनेपर तेरा पतन अवश्यम्भावी है। वर्तमानकी अल्प स्थितिमें हेयबुद्धि-पूर्वक, अपने प्रयोजनकी किञ्चित् सिद्धि करनेके-लिये इन शुभ धार्मिक क्रियाओंका आश्रय लेना आवश्यक है, यह बात आगेके प्रकरणमें स्पष्ट बताई जायेगी।

कलके प्रकरणमें बताई गई ही वे मन-वचन-कायकी क्रियायें हों, ऐसा नहीं है। धर्म-कर्मके सम्बन्धमें भी उनकी क्रियायें चला करती हैं, उन क्रियाओंका आधार भी किसी विशेष जातिकी इच्छायें ही हैं और इच्छा-मूलक होनेके

कारण इन क्रियाओंका समावेश भी आस्रव या अपराधके प्रकरणमें किया जा रहा है, क्योंकि इच्छा व्याकुलताकी जननी है और व्याकुलता सर्व ही अपराधरूप है।

धर्म-कर्म सम्बन्धी वे क्रियायें मनके द्वारा, वचनके द्वारा या कायके द्वारा, सच्चे देवकी पूजा व भक्तिके रूपमें, अथवा शान्त-मूर्ति वीतरागी गुरुकी उपासनाके रूपमें, अथवा शान्ति-पथ-प्रदर्शक प्रवचनके अध्ययन मननके रूपमें, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग आदि व्रतोंके रूपमें, प्राणियों पर दयाके रूपमें, धर्मोपदेशके रूपमें, परोपकारके रूपमें, देश-सेवाके रूपमें, साधर्मी जनोंपर प्रेमके रूपमें, तप-जप शील-संयमादिके रूपमें, इत्यादि अनेकों रूपोंमें, मैं नित्य ही किया करता हूँ। इन सब क्रियाओंका वर्णन आगे क्रमसे किया जानेवाला है। यहाँ केवल इतना मात्र दर्शाना इष्ट है कि ये सर्व क्रियायें आस्रव हैं, अपराध हैं।

ओह ! क्या कहा जा रहा है ? मानो बाण ही फेंके जा रहे हैं। कलेजा छलनी हुआ जाता है ये वचन सुनकर। धार्मिक क्रियायें और अपराध? निकाल दो इस वक्ताको बाहर, कौनसे देशकी बात सुनाने आया है, नास्तिक कहींका। बस-बस बन्द करो यह वचनालाप, ऐसी बात सुननेको हम तैयार नहीं। जप, तप, शील, संयम, पूजा, दान, भक्ति, सेवा सब अपराध ? अरे रे ! कितना कठोर है तेरा हृदय ? प्राणियोंकी रक्षा करना और अपराध ? हमसे नहीं तो ईश्वरसे तो डर। और इसप्रकारकी अनेकों बातोंका मानो तूफ़ान ही उठ गया हो, आप सबके हृदयमें। ऐसी बात कभी न सुनी, न देखी। एक अनोखी बात। इतनी कठिनाई उठा-उठाकर जिन क्रियाओंको बड़े बड़े योगीश्वरोंने किया, आज उन्हें अपराध बताया जा रहा है। यह कोई नई जातिका धर्म चलाना चाहता है, सबको ही नास्तिक बनाना चाहता है।

शान्त हो प्रभु ! शान्त हो ! यह नास्तिक बनानेकी बात नहीं है, शान्ति दिलानेकी बात है। तेरा कोई दोष नहीं, वास्तवमें कभी इतनी निर्भीकतासे ऐसी बातका न सुनना ही तेरे इस क्षोभका कारण है। 'मन वचन कायकी ये क्रियायें अत्यन्त हितरूप हैं, धर्मरूप हैं, मोक्ष देनेवाली हैं,' इस प्रकारकी तेरी पुरानी धारणायें ही तेरे इस क्षोभकी कारण हैं। शान्त होकर सुन, तू स्वयं पछतायेगा अपनी इस भूलपर। बात कठिन नहीं है समझमें आ जायेगी। अब तक सुनी नहीं, इसलिये समझी नहीं। अब शान्तचित्त होकर सुन। मेरे कहने मात्रपर विश्वास न कर, तेरा अन्तःकरण स्वयं 'हां' कर दे तो स्वीकार कर नहीं तो न कर। मेरी बात मेरे पास ही तो रहेगी, तुझसे कुछ छीन तो न लूंगा।

७. पुण्य भी पाप—कल बताई गई अशुभ क्रियाओंको तो दुनिया ही पाप बताती है, अपराध बताती है, परन्तु देखो वीतरागके मार्गकी अलौकिकता कि धार्मिक क्रियाओंको भी अपराध बताया जा रहा है, पाप कहा जा रहा है। पुण्य व पापमें अन्तर देखनेवाला शान्तिका उपासक नहीं है, यह कहा जा रहा है। कुछ आश्चर्यकी बात है। कितनी निर्भीकता है वीतरागी गुरुओंकी बातमें? सर्व-लोक एक ओर और वे अकेले एक ओर, बेधड़क धार्मिक क्रियाओंको पाप बताने-वाले। यहांतक कह दिया है ज्ञानीजनोंने कि भगवन्! मुझे सब कुछ हो, बड़ेसे बड़ी बाधा भी स्वीकार है, पर एक पुण्य कभी न हो। अरे! कैसी अजीब बात है यह कि जिस पुण्यको, जिस धर्मको सब चाहते हैं उसे ज्ञानी इन्कार करते हैं। याद होगी आगरेके विरागी गृहस्थ श्री बनारसीदासजीके जीवनकी वह घटना जब उन्होंने बादशाह अकबरसे यह माँगा था कि अगर आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो कृपया आजके पीछे मुझे अपने दरबारमें न बुलाना। और आश्चर्यमें पड़ गया था सारा दरबार उस समय। क्या मांगा इसने? पागल हो गया है शायद? जिसकी नज़रके-लिये आज सारा देश तरसता है, वह व्यक्ति उसके पास बुलाने पर भी आना नहीं चाहता। बस ऐसी ही अटपटी बात है ज्ञानियोंकी। सामान्य मनुष्यको यह रहस्य समझमें नहीं आ सकता, और वही हालत है आपकी। परन्तु घबराइये नहीं, गुरुदेवकी शरणमें आये हो, अज्ञानी न रहोगे, इस रहस्य को अवश्य समझ लोगे।

विषय समझानेसे पहले यह बात अवश्य हृदयंगत कर लीजिये कि सिद्धान्त वही होता है जो सर्वत्र समान रीतिसे लागू हो। कहीं लागू हो जाय और कहीं नहीं, उसे सिद्धान्त नहीं कहते, वह कल्पना है, पक्षपात है। वैज्ञानिक मार्गमें पक्षपातको अवकाश नहीं, भले ही पहलेकी पोषी सर्व धारणाओंका त्याग क्यों न करना पड़े। 'सत्य' सत्य ही रहेगा। आपकी कल्पनाओंके अनुकूल हो तो सत्य, नहीं तो असत्य, ऐसा सत्यका लक्षण नहीं। कोई भी स्वीकार न करे तो भी 'सत्य' तो सत्य ही है। आपकी कल्पनाओंके कारण सत्य न बदलेगा, सत्यके कारण आपको ही अपनी धारणायें बदलनी होंगी। यह तो विचारिये कि यदि आपकी धारणायें व क्रियायें सच्ची होतीं तो आज दुखी क्यों होते? अधिक नहीं तो कुछ न कुछ शान्ति तो अवश्य होती और प्रारम्भसे ही तो यह बताया जा रहा है कि वास्तविक सिद्धान्त व रहस्यसे अपरिचित तेरी सब धारणायें मूलके आधारपर टिकी हुई हैं। वहां तो सुनकर क्षोभ नहीं आया था, यहां क्यों आ गया? प्रतीत होता है कि अन्य धारणाओंकी अपेक्षा इस धारणाकी शक्ति सबसे प्रबल है, इसकी पकड़ बहुत मज़बूत है। इसलिए ही सर्व शक्ति लगाकर

इसे हटानेका प्रयत्न किया जा रहा है। यह बात तेरे हितके-लिये है, अहितके-लिये नहीं।

८. इच्छा दर्शन—देखिये पहले तो यह याद कीजिये कि आप क्या प्रयोजन लेकर निकले हैं? 'शांति'। अच्छा तो अब बताइये कि शान्तिका क्या लक्षण आपने स्वीकार किया है? 'निरभिलाषता या निर्विकल्पता।' ठीक। अब यह बताइये कि आप अभिलाषायें चाहते हो या उनका निरोध? 'उनका निरोध।' शाबाश, शान्तिके उपासकके मुंहसे इसके अतिरिक्त और निकल भी क्या सकता है? सिद्धान्तको तो आप खूब समझे हुये हो, परन्तु फिर भी उपरोक्त बाधा क्यों? खैर धीरे-धीरे दूर हो जायगी। अब यह बताइये कि यदि कुछ इच्छाओं को निकालकर कुछ इच्छायें बाकी छोड़ दी जायें तो? 'किसी भी जातिकी एक भी इच्छा नहीं रहनी चाहिये।' वाह, कितना सुन्दर उत्तर है। अनेकों पीड़ायें पहुँचाकर जब थक गये तो अंग्रेजोंने भी यही प्रश्न पूछा था गान्धीसे कि कुछ स्वतन्त्रता तो ले लो और कुछ हमारे हाथमें रहने दो। उस समय गान्धीने भी यही उत्तर दिया था जो आज आपने दिया है। "चाहे आप स्वर्णके भी बनकर आयें, चाहे मुझे सब कुछ देनेको तैयार हो जायें पर मुझसे यह आशा न करना कि मैं परमाणु मात्र भी अधिकार तुम्हारे हाथमें रहने दूं। मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिये, और पूर्ण ही लूंगा, रत्ती भर कम नहीं।" अच्छा निर्णय हो चुका कि सब इच्छाओंका अभाव करना ही आपका प्रयोजन है। अब याद रखना इसे, आगे जाकर भूल न जाना।

आ जाइये अब मूल विषयपर। विचारिये कि उपरोक्त धार्मिक क्रियायें इच्छाके बिना की जाती हैं या इच्छा सहित? देखिये हमारी आजकी कोई क्रिया भी चाहे पुण्यरूप हो या पापरूप, चाहे धर्मरूप हो कि अधर्मरूप, बिना इच्छाके नहीं हो रही है। यह बात अलग है कि इच्छायें कई जातिकी होती हैं, अशुभ भी होती हैं, और शुभ भी। अशुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाषको, जिनका कथन कि कलके प्रवचनमें आ चुका है, और शुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाषसे निरपेक्ष देवपूजा या गुरुसेवा आदिक उपरोक्त कार्य करनेकी इच्छाको। भोगाभिलाषके अभावके कारण ही इन क्रियाओंको निष्काम-कर्म कहते हैं, जिसका कि गीतामें कथन आया है। परन्तु विचारिये कि क्या भोगाभिलाषका अभाव हो जानेके कारण उन क्रियाओंको निरभिलाष मान लें? यदि इन धार्मिक क्रियाओंको भी करनेकी अभिलाषा न होती तो बताइये उन क्रियाओंमें प्रवृत्ति ही कैसे होती? मेरी हर शुभ या अशुभ क्रियाके पीछे किसी न किसी इच्छाकी प्रेरणा अवश्य होती है।

अब देखना यह है कि वे इच्छायें जो इस धर्म-क्षेत्रमें मेरे अन्तरंगमें उत्पन्न होकर मुझे वे क्रियायें करनेकी प्रेरणा दे रही हैं, कितने प्रकारकी हैं। ये सब उपरोक्त क्रियायें अनेकों प्रकारकी इच्छाओं व अभिप्रायोंसे प्रेरित होकर की जा रही हैं। विचारनेसे सब स्पष्ट हो जाती हैं।

१—पहली इच्छा तो अत्यन्त स्थूल भोगोंकी प्राप्तिके प्रति है। जिसके कारण कि उन क्रियाओंका रूप अन्तरंगमें कुछ ऐसासा होता है कि इन क्रियाओंको करनेसे मुझे धर्म होगा। और धर्मका फल धन-धान्यकी प्राप्ति, राज्यादि सम्पदा, सुन्दर स्त्रियें, आज्ञाकारी पुत्र व सेवक आदि ही तो हैं, इस लिये ये क्रियायें मुझे इष्ट हैं। अथवा प्रभु मुझपर प्रसन्न होकर मुझे उपरोक्त सम्पदा प्रदान कर देंगे, मुक़दमा जिता देंगे, परीक्षा में सफल करा देंगे, शत्रुपर विजय करा देंगे इत्यादि। इस प्रकारकी इच्छायें रखकर पूजा करना, छत्र चढ़ाना, बोलत-कबूलत करना आदि अनेकों ऐसी स्थूल क्रियायें होती हैं जिनमें कि उनके अन्तरंगकी इच्छायें स्पष्ट प्रगट हो जाती हैं।

२—दूसरी इच्छा वह है जिसके आधारपर इस भव-सम्बन्धी भोगोंका तो नहीं परन्तु अगले भव-सम्बन्धी भोगोंका अभिप्राय अन्तरंगमें छिपा रहता है। उसका रूप कुछ इस ढंगका है—"तिर्यञ्च व नरक गति तो बड़ी दुखदाई है, वहां तो धर्म-कर्म भी होना बड़ा कठिन है, किसीप्रकार देवगति मिले तो अच्छा, या भोगभूमि मिले तो अच्छा। वहां सुख है, सर्व अनुकूल है, कोई चिंता नहीं है, जीवन सुखपूर्वक बीतेगा, इत्यादि। इस प्रयोजनकी सिद्धि क्योंकि व्रत, उपवास, पूजा, प्रभावना, पात्रदान आदिके द्वारा बताई गई है, अतः ये क्रियायें मुझे इष्ट हैं।" इस अभिप्राय-पूर्वक अधिकाधिक भक्ति, तप व दान आदि क्रियायें करता है। यद्यपि स्थूलतः बाहरमें वह अभिप्राय पूर्ववत् प्रगट होने नहीं पाता, परन्तु बातचीतमें वह अवश्य प्रगट हो जाता है, इसलिये यह इच्छा भी स्थूल भोगों सम्बन्धी ही है।

३—तीसरी इच्छा वह है जिसके आधारपर स्वर्गादि सम्बन्धी न सही, पर मोक्ष सम्बन्धी अभिप्राय अन्दरमें छिपा रहता है। परन्तु यहां मोक्षका स्वरूप किसी अन्य प्रकारकी कल्पनारूप रहता है। इसका रूप कुछ इस प्रकारका है—"देवगतिके सुखको तो गुरुजन दुःख बताते हैं, अतः ठीक है, मुझे वह सब कुछ नहीं चाहिये, परन्तु मोक्षके-लिये तो स्वयं वे भी प्रयत्न कर ही रहे हैं। इन क्रियाओंका फल मोक्ष भी तो है ही। कहा जाता है कि मोक्षमें अनन्त सुख है, सर्व इन्द्रोंके सुखसे भी अनन्तगुणा। वाह वाह! इससे अच्छी बात क्या? वहां तो खूब मौजमें रहूंगा। मोक्षशिला भी सुन्दर बताई जाती है, उसपर

बैठने मात्रसे ही बड़ा सुख मिलेगा। फिर अनन्तों सिद्ध वहां विराजमान हैं, उनको साक्षात् स्पर्श करनेका अवसर मुझे मिलेगा। पवित्रात्माओंके स्पर्शसे तथा उनके दर्शनसे कितना सुख मिलेगा जबकि साधुओं तकके स्पर्शकी व दर्शनकी बड़ी महिमा गाई जाती है? और कुछ न सही, लोकमें ख्याति तो हो ही जायेगी कि बड़ा धर्मात्मा है। अतः मुझे इन धार्मिक कियाओंमें प्रवृत्ति करना इष्ट है।" यह अभिप्राय भी वचनोंपर-से जाना जा सकता है, जोकि स्थूल है। यद्यपि साधारणतः देखनेपर भोगाभिलाष प्रतीत नहीं होती,परन्तु ये भी भोगाभिलाष की कोटिमें ही आती हैं, क्योंकि मोक्षसुखसे अनभिज्ञ केवल शिलास्पर्श, सिद्धों का सम्पर्क और उनका स्पर्श भी इन्द्रिय-सुख ही है अतीन्द्रिय नहीं।

४—चौथी इच्छा वह है जिसके अन्तर्गत विदेह-क्षेत्रमें जाकर सीमन्धर-प्रभुके दर्शनका अभिप्राय छिपा है। उसका रूप कुछ ऐसा है—"पुण्य करनेसे देव-गतिमें जाऊंगा और वहांसे प्रभुके दर्शनको। अथवा यहांसे सीधा विदेह-क्षेत्रमें उत्पन्न हो जाऊंगा, प्रभुके दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करूंगा, और फिर मोक्ष।" परन्तु यहांपर भी मोक्षका स्वरूप पहला ही रहा और सीमन्धर-प्रभुके दर्शनमें भी उसी जातिके किसी सुखकी कल्पना रही, या रही कोरी भावुकता। सो भी तीसरी इच्छाके समान ही है और यह वचनालापसे प्रगट हो जाती है।

५—पांचवीं इच्छा है सच्चे मोक्षकी इच्छा, जिसका रूप कुछ इस प्रकार का है—"मुझे केवल शांति चाहिए और कुछ नहीं। मुझे मोक्षशिला लेकर क्या करना है? दूसरे सिद्धोंसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अतः मेरे हृदयमें उस लोकशिखर-वाले सिद्धलोकके प्रति कोई आकर्षण नहीं। यह ठीक है कि वहां ही जाना होगा परन्तु इसकी कोई महत्ता नहीं। नरक-लोकमें जाकर भी यदि शान्ति रहती हो तो वह भी मेरेलिये मोक्ष है। और कहीं जानेकी मुझे क्या आवश्यकता, मुझे तो यहां ही शांति वर्तती है, यही मेरी मोक्ष है, कुछ कमी है पूरी हो जायेगी। ये धार्मिक क्रियायें करना शांतिकी दृष्टिसे कुछ प्रयोजनीय नहीं, जो कुछ भी इनका फल बताया जाता हो पर मेरे-लिए इनका कोई फल नहीं। जो इनका फल धनादिकी प्राप्ति है वह मुझे चाहिये नहीं। वर्तमानमें साक्षात् विकल्पात्मक होनेसे ये क्रियायें स्वयं अशांतिरूप हैं। भले कुछ शांतिरूप हों पर वह शांति नहीं जो निर्विकल्प समाधिमें होती है। परन्तु फिर भी जब समाधिमें स्थिर न रह सकूं तब क्या करूं? अशांतिमें तो जाना ही होगा। कहीं भोगादिकोंकी ओर प्रवाह हो गया तो गजब हो जायेगा, सब कमाई लुट जायेगी। अतः 'सारा जाता देखिए तो आधा लीजिए बांट' इस उक्तिके अनुसार, चलो इन्हीं क्रियाओंमें मनको उलझा दो।" इत्यादि

प्रकारसे इन क्रियाओंमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि यह प्रवृत्ति सच्ची है, यहां किसी भी रूपमें भोगोंकी अभिलाषाकी रेखा दिखाई नहीं देती, न ही बाह्य क्रियाओंसे या वचनसे कोई भी उस प्रकारका अभिप्राय प्रगट होने पाता है, तो भी 'मुझे किसी प्रकार शीघ्र शांति मिले', इतनी तो व्यग्रता है ही। बस इसीलिए अत्यन्त सूक्ष्म भी यह इच्छा ही तो है।

अब सिद्धान्त लागू कीजिए। क्योंकि पांचोंमें ही कोई न कोई इच्छा है, अतः सब धार्मिक क्रियायें अपराध हैं। इतनी विशेषता है कि नं० १ से नं०४ तककी इच्छायें तो भोगाभिलाष सम्बन्धी होनेके कारण अशुभ हैं, अनिष्ट हैं। इसलिए उन इच्छाओं-पूर्वक की गई वे क्रियायें बड़ा अपराध है। परन्तु नं० ५ की इच्छा अत्यन्त सूक्ष्म व भोगाभिलाषसे निरपेक्ष होनेके कारण तथा उस इच्छाका भी अन्तरंगमें निषेध वर्तते रहनेके कारण शुभ है तथा इष्ट है। उस सूक्ष्म इच्छाके साथ वर्तनेवाली क्रियायें शान्तिमें इतनी बाधक नहीं पड़ेंगी, जितनी कि पहली चार। बल्कि साधककी, भोगाभिलाषमें उलझनेसे रक्षा करनेके कारण, कुछ सहायक ही रहती हैं। अतः इस दशामें वे क्रियायें कथञ्चित् इष्ट हैं। परन्तु सिद्धान्त बाधित नहीं होना चाहिए। जितनी कुछ भी इच्छा है, उतना अपराध ही है। अतः यह पांचवी भी ह अपराध ही, आस्रव ही।

६. पुण्यमें पाप—अहो! शान्त आत्माओंसे मुझमें प्रतिबिम्बित होनेवाली शान्त आभा जयवन्त रहो। वह शान्ति जिसने भवसंतप्त मुझ अधमको एक अपूर्व शीतलता प्रदान की, वह शीतल शान्ति जिसके सामने दाहोत्पादक ये पंचेन्द्रियके भोग चितातुल्य हैं, वह मधुर शान्ति जिसके सामने भोगोंके सब रस फीके हैं, वह द्युतिवन्त शान्ति जिसके सामने प्राणीका अन्धकार मिटा देनेवाली भोगोंकी चमक फीकी है, वह महिमावन्त शान्ति जिसके सामने भोगोंकी महिमा तुच्छ है, वह मूल्यवान शान्ति जिसके सामने तीन लोककी विभूतिका भी कोई मूल्य नहीं। हे देवी! अपना मुख दिखाया है तो अब छिपा न लेना, मैं तेरेलिये सर्वस्व न्योछावर कर देनेको तैयार हूं। तेरी ओर निहारकर अब मैं कभी इस सम्पदाकी ओर आंख उठाकर न देखूंगा। हे नाथ! मुझको शक्ति प्रदान कीजिये कि इस आपदाजनक सम्पदाकी ओर इस भवमें तो क्या आगे किसी भवमें भी मैं दृष्टि न उठाऊँ, सदा इसे ठुकराता चलूं। शान्ति-रानीको पाकर कौन ऐसा है जो इस कुलटाका मुख देखेगा।

और जब इस सम्पदा ही की ओरसे दृष्टि हट गई तो फिर इसके कारण-भूत पुण्यको मैं क्या समझूं? वह भी मेरे द्वारा अपमानित हुए बिना न रह

सकेगा। मैं पापके फलका स्वागत करनेको तैयार हूं पर पुण्यके फलका नहीं, वह पुण्य जो पापसे अधिक भयानक है। पाप तो ऊपरसे ही भय दिला देता है, जिससे कि इसके प्रति स्वभाविक घृणा उत्पन्न हो जाय। परन्तु पुण्य ऐसा लुभावना जाल फैलाता है कि स्वतः आकर प्राणी इसमें फंस जाते हैं और तड़प-तड़पकर प्राण दे देते हैं। वह पुण्य तीसरे भव नरकका द्वार दिखलाता है और वर्तमान भवमें इच्छाओंकी ज्वालामें घी डालता है।

क्योंकि स्वाभाविक रीतिसे ही इच्छित पदार्थकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें आसक्ति हुए बिना रह नहीं सकती। इसलिये भोग-सम्पदा या देवादि पदोंकी इच्छासे की जानेवाली पुण्यरूप क्रियाओंके फल भोगादिक प्राप्त हो जानेपर उनमें आसक्ति हुए बिना रह नहीं सकती और यह बात सर्वसम्मत है। बहुत प्रतीक्षाके पश्चात् मिली हुई स्त्रीमें क्या अत्यन्त आसक्तता होती नहीं देखी जाती? और आसक्तताका फल क्या होना चाहिये, सो सब जानते हैं। देखिये अपनी भूलका विषैला फल कि धार्मिक क्रियाओंको भोगाभिलाषके कारण अपने हितरूप मानकर उन क्रियाओंको करनेमें संन्तोष धारण किया। 'मैंने बहुत अच्छा काम किया है, मैं बहुत धर्मात्मा हूं।' ऐसा अभिमान उत्पन्न हुआ। यह वर्तमान भवमें फल मिला। भोगोंकी तीव्र इच्छाके कारण संताप उत्पन्न हुआ, यह दूसरे भवमें फल पाया और तीसरे भवमें उस आसक्तिके फलस्वरूप कुगतियोंमें अनेक दुःख सहे। यह मिला तीसरे भवमें उन क्रियाओंका फल और फिर भी उन क्रियाओंको अत्यन्त हितरूप मानता है, खेद है इसकी इस भूलपर। इसीसे ज्ञानीजन उनको अपराध कहते हैं।

१०. ज्ञानीका पुण्य—उन क्रियाओंको अपराध बता देनेसे यह तेरे अन्दर में उत्पन्न हुआ क्षोभ ही यह बात दर्शाता है कि उनके प्रति तुझे मिठास वर्तता है। तर्क किया जा सकता है कि ज्ञानीको भी तो उन कियाओंमें मिठास ही आता है? नहीं, वह क्रियायें करता अवश्य है पर उसे इनमें मिठास कभी नहीं आता। मिठास तो एक मात्र शान्तिमें ही आता है और इसलिये उसको इन का निषेध सुनकर क्षोभ नहीं आता। स्वयं अन्तरंगसे वह यही भावना किया करता है कि ये क्रियायें करनेकी आवश्यकता उसे न पड़े। फिर तेरी मिठास और उसकी मिठासमें अन्तर भी तो महान् है। तेरी मिठास तो अपनी शान्तिसे अपरिचित रहनेके कारण केवल तेरे उन चार जातिके भोगाभिलाष सम्बन्धी अभिप्रायोंमें-से निकल रही है, जिनके सम्बन्धमें कि कल बताया गया था। और उसकी मिठास पांचवीं जातिकी शान्ति-सम्बन्धी अभिलाषामें-से निकल रही है, जिसमें केवल शान्तिकी अपेक्षा है, अन्य किसी बातकी नहीं। उन क्रियाओंमें तुझे जो तन्मयतासी दीखती है, उसका आधार तो वे मधुर सुर,

ताल, लय, मजीरे, ढोलक आदि हैं, जिनके द्वारा भक्ति करनेको तू बहुत महत्ता देता है, और उसकी तन्मयताका आधार अपनी वह शान्ति है जोकि उसे उस समय भगवान्की शान्तिको देखकर याद आ जाती है, और अपने अन्दर जिसका वह प्रत्यक्ष वेदन करने लगता है। तू इन क्रियाओंको करते हुए उन्हें हितरूप समझता है, और इन क्रियाओं सम्बन्धी अपने पुरुषार्थको हितरूप समझता है, इनके प्रति अपने झुकावको हितरूप समझता है; और वह इन क्रियाओंको करते हुए भी इन्हें हितरूप नहीं समझता, इन क्रियाओंकी इच्छाको भी हितरूप नहीं समझता, इन क्रियाओं सम्बन्धी अपने पुरुषार्थको भी हितरूप नहीं समझता, तथा उनके प्रति अन्तरंगमें उसे कभी झुकाव भी उत्पन्न नहीं होता। उसका सच्चा झुकाव है तो केवल शांतिके वेदनके-लिये।

अभिप्रायोंमें महान अन्तर होनेसे उनके फलोंमें भी महान अन्तर पड़ जाता है। फल तो दोनोंको ही यद्यपि भोग-सम्पदा मिलता है, तुझको कदाचित् जितनी मिल पाती है उससे भी हजारों गुणी उसे मिल जाती है। परन्तु तू तो उस सम्पदामें उलझ जाता है, क्योंकि क्रियायें करते हुए उसीकी अभिलाषा मनमें बैठी हुई थी; और वह उसे प्राप्त करके भी उससे उदासीन बना रहता है तथा समय पड़नेपर उसे बेधड़क ठुकरा देता है। उसे वह जञ्जाल भासती है। देव-गतिको तू अच्छा समझता है और वह तेतीस सागरकी कैद, क्योंकि यह मार्गमें न आती तो वह इतने समय पहले ही अपने प्रयोजनको सिद्ध कर चुका होता। तुझे तीसरे भव उसका फल पापमें मिलता है और उसे सदा पुण्य ही पुण्यमें। और इसी कारण तेरी वे क्रियायें कही जाती हैं पापानुबन्धी पुण्य, और उसकी वे ही क्रियायें कहलाती हैं पुण्यानुबन्धी पुण्य। देख बाहरमें क्रियायें एक होते हुए भी केवल अभिप्रायोंके फेरसे कितना महान् अन्तर पड़ गया है दोनोंमें। अपने अन्दरमें झुककर ज़रा गौरसे देख, वही या उसी जातिके कुछ और अभिप्राय बैठे हुए हैं या नहीं? शान्तिके प्रतिका अभिप्राय तो तुझे हो नहीं सकता, क्योंकि तेरा हृदय स्वयं कह रहा है कि उसका वेदन तुझे अभी हो नहीं पाया है, वह अब भी उसके लिये तड़प रहा है। अतः भाई! क्षोभको तजकर अन्तरके अभिप्रायको बदलनेका कुछ प्रयत्न कर, जिससे कदाचित् उन क्रियाओंकी सार्थकता हो जाय और जैसा कि कहा जाता है, परम्परा-रूपसे शान्ति-पथमें वे कुछ सहायक हो जायें। अभिप्राय बदले बिना तो ये परम्परा रूपसे भी सहायक नहीं हैं।

११. अभिप्रायका फेर—यह सुनकर आश्चर्य कर रहा होगा कि भिन्न अभिप्राय रखते हुए भी कार्य कैसे हो सकता है? ठीक है तेरा प्रश्न। आगे भी

संयम आदिकके प्रकरणोंमें तुझे यही शंका उत्पन्न होगी । ज्ञानी गृहस्थकी महिमा का बखान किया जानेपर कि यह भोग भोगते भी वैरागी है, तुझे यह शंका हुए बिना न रहेगी । अतः इस शंकाके निवारणार्थ ही यहां यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करता हूं कि 'ऐसा होना सम्भव है कि अभिप्राय कुछ और हो तथा क्रिया कुछ और' । अभिप्रायमें उसका निषेध वर्तते हुए भी बाह्यमें वह क्रिया करता हुआ दीखता है । अन्तरंगमें रस न लेते हुए भी बाहरमें कुछ रस लेता हुआसा प्रतीत होता है ।

ले सुन ! आगममें भी इस बातका समाधान भरत-चक्री सम्बन्धी एक सुन्दर दृष्टान्त देकर किया गया है । यह प्रश्न किसी व्यक्तिके द्वारा किया जानेपर, एक तेल-भरा कटोरा उसके हाथमें दिया और आज्ञा दी कि सारे नगरमें घूमकर आये, पर तेलकी एक बूंद भी गिरने न पाये । गिरी तो तत्क्षण सर उड़ा दिया जायेगा । आज्ञाका पालन हुआ । लौट आनेपर उस व्यक्तिसे पूछा गया कि उसने नगरमें क्या देखा । क्या बताता बेचारा ? तेल और अपना सर या तलवारके अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं दिया था उसे, नगरमें क्या देखता ? बस ज्ञानीको भोग भोगते कैसे रस आवे ? उसे तो दिखाई देता है केवल अपनी शान्तिका लक्ष्य या वर्तमानमें उपलब्ध किञ्चित् शान्तिके वेदनमें बाधा पड़नेकी सम्भावना ।

दूसरा आगमका दृष्टान्त है अर्जुनका । कौवेके नेत्र बींधनेको धनुषवाण चढ़ाये अर्जुन खड़ा है । गुरु पूछते हैं कि क्या दिखाई देता है । जवाब मिला कि कौवेका एक नेत्र और वह भी उस समय जबकि वह उस पुतलीमें आता है । इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । वहाँ उस कौवेका इतना बड़ा शरीर विद्यमान होते हुए भी उसे दिखाई कैसे देता ? उसके लक्ष्यमें तो था केवल एक नेत्र । इसीप्रकार पुण्य क्रियाओंमें ज्ञानीको मिठास क्यों आवे ? उसे तो वर्तमानमें या भविष्यतमें दिखाई देती है केवल एक शान्ति ? लक्ष्य तो लगा है केवल उसीपर ? यह है लक्ष्यबिन्दु या अभिप्रायकी महिमा ।

इनके अतिरिक्त सुनिये एक लौकिक उदाहरण । कल्पना करो कि किसी मुक़दमेमें उलझ गए आप । अपनी रक्षाके-लिये कुछ सामान व रुपया लेकर मैजिस्ट्रेटके घर गये और बड़े प्रेमसे वह सामान घूसके रूपमें भेंट किया । बोले बच्चोंके-लिये है । उसके बच्चोंके प्रति प्रेम भी बहुत दिखाया । उन्हें खिलाता, बाज़ार ले जाता, जो कुछ उन्हें चाहता लाकर दे देता । बच्चोंकी मां भी समझती कि उसे बड़ा मोह पड़ गया है बच्चोंसे और पिता भी समझता कि उसे

प्रेम है हमारे कुटुम्बसे। परन्तु आप जानो कि कैसा प्रेम है आपको? मुक़दमा जीता कि सब प्रेम हवामें उड़ा। बस ज्ञानीको पता है कि कैसी रुचि है उसे इन धार्मिक क्रियाओंके प्रति। शान्ति मिली कि सब रुचि भागी। वर्तमानकी यह झूठी रुचि दिखावटी है, अशुभ बातोंमें ये विकल्प न चले जायें, केवल इस भयके कारण। उससे विपरीत तेरी रुचि है, उन बच्चोंके साथ माताके प्रेमवत् हितबुद्धि रखकर।

और भी उदाहरण है, जिससे सम्भवतः अभिप्रायकी अत्यन्त सूक्ष्मताका स्पर्श किया जा सके। कल्पना कीजिये कि आपकी आयु ६० वर्षकी हो चुकी है, और सन्तान नहीं हुई। स्त्रीने बहुत इलाज कराये पर निराश रही। निराश होकर अपने भाईका कोई बच्चा रख लिया अपने पास। खूब प्रेम करते थे इस अभिप्रायसे कि दो तीन वर्षमें परच जायेगा, तब गोद ले लेंगे। एक दिन गांव जाते-जाते मार्गमें सौभाग्यवश वृक्षके नीचे बैठे दिखाई दिये एक अवधिज्ञानी दिगम्बर साधु। भक्ति उमड़ी, नमस्कार किया और कह डाली अपने मनकी व्यथा। उत्तर मिला कि जाओ एक वर्ष पश्चात् पुत्र होगा। सन्तोष हुआ तथा अतीव प्रसन्नता भी। घर आकर स्त्रीसे बताया। पर बेचारी बिल्कुल निराश हो चुकी थी, कैसे विश्वास करती? ऊपरसे हां हूं कर दी, पर भीतरसे यही आवाज़ आती रही कि अरे! क्या रखा है बच्चा होनेको? स्वामीको तो साधुकी भक्तिवश ऐसे ही विश्वास हो गया है, बच्चा होना असम्भव है।

अब भी उस दत्तक पुत्रपर दोनोंका स्नेह बराबर था। परन्तु विचारिये कि स्त्रीके व आपके स्नेहमें कुछ अन्तर पड़ा कि वैसा ही है? यद्यपि स्त्रीका स्नेह ज्योंका त्यों रहा पर आपके स्नेहमें कुछ अन्तर पड़ा। विश्वास जो था कि दो तीन साल पीछे उस बालकको तो चला ही जाना होगा अपने घर। तीन महीने बीत गए। गर्भके चिन्ह दिखाई दिये। बताइये कि क्या कुछ अन्तर पड़ेगा उस दूसरी स्थितिके प्रेममें? अवश्य पड़ेगा, आपका प्रेम कुछ पहलेकी अपेक्षा भी कम हो जायेगा और स्त्रीके प्रेममें भी कुछ अन्तर पड़ जायेगा। अब चौथी स्थिति, बालक पैदा हो गया। क्या कुछ अन्तर पड़ा तीसरी स्थितिके प्रेममें? अवश्य पड़ा और सम्भवतः अब तो उस दत्तक पुत्रपर भी वह अन्तर कुछ प्रगटसा होने लगा। कभी-कभी धमकानेकी भी नौबत आने लगी। अब बालक हो गया दो वर्षका। बताइये अब भी प्रेम रहा उस पहले बालकपर? नहीं, अबतो कुछ भार दीखने लगा वह। यद्यपि शर्म व लिहाज़के कारण स्वयं बालकको विदा न किया पर यह इच्छा अवश्य रही कि जितनी जल्दी चला जाय अच्छा है।

देखिये, विश्वासमें अन्तर पड़ते ही प्रेममें अन्तर पड़ गया। पहली दो स्थितियोंमें वह अन्तर सूक्ष्म रहा, बाहर प्रगट नहीं होने पाया और आगेकी स्थितियोंमें उत्तरोत्तर स्थूल होता गया तथा अब बाहर भी उसके चिन्ह दिखाई देने लगे। इस उदाहरणपर-से यह बात भली भांति जानी जा सकती है कि अभिप्राय बदल जानेपर किस क्रमसे क्रियामें धीरे-धीरे अन्तर पड़ा करता है तथा अभिप्रायमें क्रियाका निषेध वर्तते हुए भी पहली स्थितियोंमें क्रिया बराबर होती रहती है।

और भी एक सुन्दर व स्पष्ट उदाहरण है। एक किसान खेती करता है और एक कैदी भी। दोनों ही दत्तचित्त काममें जुटे हुए दिखाई देते हैं, दोनों ही खेतीको फूली देखकर प्रसन्नचित्त दिखाई देते हैं, क्रिया दोनोंसे हो रही है। पर क्या अभिप्राय दोनोंका समान है? किसान हितबुद्धिसे खेती करता है और कैदी दण्ड समझकर। किसानकी तन्मयता हितबुद्धिके कारण ध्रुव है और कैदीकी क्षणिक। आज छुट्टी मिले तो चाहे खेतीमें आग लगे, उसकी बलासे। खेतीके लिये जेलमें रहने को तैयार नहीं। परन्तु किसानको मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए भी सम्भवतः यही विचार हो कि कहीं खेतमें गाय न घुस गई हो। किसान की प्रसन्नता उसके फलको भोगनेके-लिये है और कैदीकी प्रसन्नता केवल अपने परिश्रमको फलित हुआ देखनेके कारण, भोक्तापनेसे निरपेक्ष। किसानकी खेती है अभिप्रायके अनुकूल और कैदीकी खेती है अभिप्रायके प्रतिकूल।

बस इसीप्रकार तेरी धार्मिक क्रियायें हैं अभिप्रायके अनुकूल, हितबुद्धि पूर्वक, उनमें मिठास लेते हुए; और ज्ञानीकी क्रियायें हैं अभिप्रायसे प्रतिकूल, अहितबुद्धि रखकर, उसमें कुछ कड़वास लेते हुए। महान अन्तर है, आकाश पातालका अन्तर। धान्य कुटते समय देखने-वालेको क्या पता कि यह धान्य कूटता है या तुष? ओखलीमें ऊपर तो तुष ही दिखाई देता है। इसीप्रकार ज्ञानीको पूजा आदि करते देखकर तू क्या समझे कि यह भगवान्की पूजा करता है या अपनी शान्ति की? ऊपरसे तो भगवान्की ही पूजा करता है। देखमदेखी वह देखनेवाला अपने घर जाकर तुष कूटने लगे तो क्या निकलेगा उसके परिश्रमका फल? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा जितना कि धान्य कूटने-वालेको। उसीप्रकार ज्ञानीकी देखमदेखी तू भी पूजा आदि करने लगे तो क्या निकलेगा उस परिश्रमका फल? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा जितना कि ज्ञानीको।

१२. <u>पुण्य समन्वय</u>—धार्मिक क्रियाओंको अपराध बताया जा रहा है। तेरी व ज्ञानीकी उन क्रियाओं सम्बन्धी अन्तरंग अभिप्रायमें क्या अन्तर है यह बात

कल दर्शाई गई । इन क्रियाओंको अपराध कहता सुनकर उपजा क्षोभ यद्यपि शान्त हो चुका है पर उसका स्थान एक संशयने ले लिया है । उसका स्पष्टीकरण ही आज किया जायेगा ।

"तो क्या इन शुभ क्रियाओंको त्याग दें ? यदि यह बात है तो बड़ा ही अच्छा हुआ । आजतक भूलकर व्यर्थ ही समय गँवाता रहा, दुकानका भी व्यर्थ ही हर्ज करता रहा । यह रहस्य खोलकर तथा मुझे जगाकर बड़ा उपकार किया है आपने । आजसे मन्दिरमें न जाऊंगा । बेकार ही लोग धन बरबाद करते हैं मन्दिर आदि बनवाकर या प्रतिमा स्थापित करवाकर" इत्यादि अनेकों विकल्प उठ रहे होंगे आज आपके मनमें ।

नहीं भाई ऐसा नहीं है । सम्भल ! देख कहां जा रहा है तू ? तेरे इस प्रवाहको रोकनेके-लिये ही तो ज्ञानी-जनोंने ये क्रियायें तेरेलिये अच्छी बताई हैं । धन्य है उनकी करुणा, जिसमें ज्ञानी अथवा अज्ञानी सबको बराबरका स्थान प्राप्त है । ज्ञानीजन मूर्ख नहीं थे कि तेरे ऊपर कोई व्यर्थका साम्प्रदायिक भार लाद देते । उनके उपदेशमें जन-कल्याणके अतिरिक्त कोई अन्य अभिप्राय नहीं होता । प्रभु ! विचार कर, अपने हित अहितको पहिचान, कुछ बुद्धि लगा, केवल दूसरोंके संकेतपर मत चल । तुझे ज्ञानी बननेके-लिये कहा जा रहा है, मूढ़ता त्यागनेके-लिए कहा जा रहा है । परन्तु हर बातका उल्टा ही अर्थ ले तो कहनेवालेका क्या दोष ? उन क्रियाओंको करनेके-लिये कहा जाय तो 'मुझे सुख प्रदान करनेवाली हैं' ऐसा मानकर उनको ही हितरूप समझ जाता है और अभिप्रायको बदलनेके-लिये कहा जाय तो उन क्रियाओंको ही छोड़नेके-लिये तैयार हो जाता है । दोनों प्रकार मुश्किल है । किस प्रकार समझायें । ऐसे कहें तो भी नीचेकी ओर जाता है और वैसे कहें तो भी नीचेकी ओर जाता है । नीचेकी ओर जानेको नहीं कहा जा रहा है भगवन् ! ऊपर उठनेको कहा जा रहा है । दोनों ही प्रकारसे नीचे ही जानेका प्रयत्न क्यों करता है ? ऊपर उठनेका प्रयत्न कर ।

ज़रा विचार तो सही कि इन क्रियाओंको छोड़कर यह समय तू किस कार्यमें बितायेगा ? यदि दुकान आदिके धन्धोंमें, तो लाभ क्या हुआ ? कुछ हानि ही हुई, पुण्यकी बजाए पाप ही हुआ, धर्म अर्थात् शान्ति तो न हुई । पापमें धकेलनेके-लिये तो अपराध नहीं बताया जा रहा है इन क्रियाओंको, धर्ममें ले जानेके-लिये बताया जा रहा है, जिससे कि तेरी दृष्टि पाप व पुण्यसे अतीत उस तीसरी बातपर जा सके जो तेरेलिये साक्षात् हितकारी है, जिसे तू आज तक भूला हुआ है । दुकान आदिके धन्धेमें न जाकर यदि शान्तिमें स्थिति पाने

सम्बन्धी पुरुषार्थ करना इष्ट है इस समयमें, तो इससे अच्छी बात ही क्या है ? अवश्य इन क्रियाओंको त्याग दे, शीघ्र त्याग दे, और शान्तिका वेदन करनेमें निश्चलता धार।

१३. मनोविज्ञान—देख सिद्धान्त घटित करते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी समय ऐसा नहीं कि तू बिना कुछ काम किये रह रहा हो। दुकान का काम, कहीं जानेका काम, कुछ उठाने-धरनेका काम, इत्यादिक अनेक कार्योंके अतिरिक्त यदि खाली भी बैठा है तो भी कुछ न कुछ विचारनेका काम तो हर समय किया ही करता है। और किसी कामसे फुरसत मिल जाय तो मिल जाय पर विचार धाराओंसे अवकाश पाना कठिन है। मन वह राक्षस है जो हर समय तुझसे काम मांगता है। इसे काममें लगा दे तो लगा दे नहीं तो वह स्वयं तुझे अपने काममें लगा लेगा।

हातमताईकी एक पिक्चर आई थी, उसमें था यह सीन। मन्त्रों द्वारा अपने कार्यकी सिद्धिके अर्थ वश किया एक राक्षस अपने स्वामीसे कहता है कि 'काम दे नहीं तो तुझे खा जाऊंगा।' यह काम बताया, वह काम बताया, आखिर कबतक ? इतने काम थे ही कहाँ कि एक समयके-लिये भी खाली न रहने पावे वह ? विचारा कि यह तो अच्छी बला मोल लेली, अच्छाईके लिए सिद्ध किया था इसे परन्तु गले ही पड़ गया। वह अब छोड़ेसे भी तो नहीं छूटता। विचार-विचारकर एक उपाय सूझा। ठीक है, आओ काम बताता हूं। एक जीना बनाओ, उसपर चढ़ो और उतरो, वह टूट जाए तो फिर बनाओ, फिर चढ़ो और उतरो। बराबर इसी भांति करते रहो जबतक कि मैं तुम्हें न बुलाऊं। अब तो सब राक्षसपना हवा हो गया। वह खाली न रहने पाया और स्वामी भयसे मुक्त हो गया।

इसीप्रकार तू भगवान् आत्मा, मन तेरा सेवक, परन्तु एक ऐसा सेवक जो हर समय काम मांगता है, एक क्षणको भी खाली नहीं रह सकता। कार्य न दें तो विकल्प जालोंमें उलझाकर ऐसा धक्का दे तुझे कि धरातलपर आकर तड़फने लगे। भाई ! इस राक्षसको किसी न किसी काममें उलझाये रखना ही श्रेय है, भले ही निष्प्रयोजन क्यों न हो।

१४. चतुर्विध क्रिया—अब यह देखना है कि वे काम कितनी जातिके होने सम्भव हैं कि जिनमें मनको उलझाया जा सके। कुल क्रियाओंको शान्ति-पथकी दृष्टिसे तीन कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है। एक अशुभ-आस्रवके अन्तर्गत बताई गई भोगाभिलाष-सहित तथा भोगोंमें रमणतारूप अशुभक्रिया। दूसरी शुभ-आस्रवके अन्तर्गत बताई गई दो जातिकी शुभ क्रियायें—एक भोगाभि-

लाष सहित और दूसरी इससे निरपेक्ष केवल शान्तिकी अभिलाषा-सहित। तीसरी है साक्षात् शांतिके वेदनके साथ तन्मयतारूप शुद्धक्रिया। शुभक्रियाके दो भेद हो जानेसे कुल क्रियायें चार प्रकारकी हो जाती हैं। पहली क्रियाको अशुभ या पाप कहते हैं। शुभके प्रथम भेदरूप दूसरी क्रियाको पापानुबन्धी पुण्यरूप शुभ-क्रिया कहते हैं। शुभके द्वितीय भेदरूप तीसरी क्रियाको पुण्यानुबन्धीरूप शुभ क्रिया कहते हैं। और चौथी क्रिया शुद्धक्रिया कहलाती है।

इन चार क्रियाओंमें-से एक समयमें एक ही क्रिया की जानी शक्य है दो नहीं। अर्थात् मनमें एक समयमें एक क्रिया सम्बन्धी ही विचार उठ सकते हैं, दो क्रिया सम्बन्धी नहीं। ऐसा तो हो सकना सम्भव है कि वचन व काय किसी दूसरी क्रियाको करते हों और मन किसी दूसरी क्रियाको जैसा कि प्रति-दिन अनुभव करते हैं। काय या वचनसे तो भगवान्‌की पूजा आदि कार्य करते हैं और मन बाजारमें घूमता है। परन्तु यह नहीं हो सकता कि मन ही भग-वान्‌की पूजा सम्बन्धी विचार कर रहा हो और उसी समय बाजारमें भी घूमता हो। जैसेकि ध्यान-पूर्वक यह प्रवचन सुनते हुए आपको क्लाककी टन-टन सुनाई नहीं देती। अपनी चञ्चलताके कारण यह बड़ी द्रुतगतिसे गमन कर सकता है। अभी गृहस्थ सम्बन्धी विचार कर रहा है तो अगले ही क्षण मोक्ष व शान्ति सम्बन्धी। इन दो विचारोंके बीचका अन्तराल कभी अधिक भी हो जाता है और कभी कम भी। अधिक अन्तराल होनेपर तो हमें यह जान पड़ता है कि एक समयमें एक ही कार्य हुआ और दूसरा कार्य कुछ देर पश्चात् दूसरे समयमें हुआ, परन्तु अल्प अन्तराल होनेपर हमें ऐसा लगने लगता है कि दो काम युग-पत् हो रहे हैं। जैसेकि यह प्रवचन सुनते हुए भी इस क्लाककी टन-टन आप कदाचित् सुन लेते हो।

यद्यपि मन, वचन व काय इन तीनोंकी क्रियाओमे स्वतन्त्रता देखनेको मिलती है, परन्तु ये सब क्रियायें बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ करतीं, स्वतः चला करती हैं। बुद्धिपूर्वककी मन, वचन व कायकी क्रियाओंमें भेद नहीं हुआ करता। मनसे बुद्धिपूर्वक विचारा जाना, उसी दिशामें शरीरसे गमन किया जाना, उसीके मकानपर जाकर रुक जाना और उसी व्यक्ति-विशेषसे वही बातें की जाना। इसीप्रकार मनकी विचारणाओंके ऊपर भी शरीर व वचनकी क्रियाओंका प्रभाव बराबर पड़ा करता है। क्रिया ठीक चल रही है या नहीं यह देखनको मन स्वतः लौटा करता है। मन, वचन व काय इन तीनोंकी उपरोक्त प्रवृत्तियोंसे सब परिचित हैं। केवल विश्लेषण न कर पानेके कारण हमें उनके क्रमका पता नहीं चलता।

१. मनको हर समय कुछ न कुछ विचारनेको चाहिये। यह खाली नहीं रह सकता। २. मन एक समयमें एक ही विचार कर सकता है। ३. बुद्धि-पूर्वक की गई शरीर व वचनकी क्रियाओंसे मन भी उसी ओर आकर्षित हो जाता है।

इस सिद्धान्तपरसे यह स्पष्ट हो गया कि मनको किसी एक क्रिया-विशेषमें जुटा देनेपर वह उस समय दूसरी क्रिया न कर सकेगा और शरीर व वचनकी सहायतासे उसको कुछ देर कदाचित् वहां ही अटकाये रखा जा सकता है। अब यह विचारना है कि कौनसी क्रियामें जुटाना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे पास चार क्रियायें हैं—पाप, पापानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य तथा शुद्धक्रिया। इन चारोंमें कौन क्रिया हितरूप है और कौन क्रिया अहितरूप, इसका तोल हमें शान्तिकी तुलासे करना है। जिसमें सर्वथा अशान्ति है वह सर्वथा हेय है, जिसमें अधिक अशान्ति है वह अधिक हेय है, जिसमें कुछ शान्ति है वह कुछ उपादेय है, तथा जिसमें सर्वथा शान्ति है वह सर्वथा उपादेय है। उपरोक्त चारों क्रियाओंका तोल करनेसे, इसमें तो कोई संशय है ही नहीं कि पहली पाप और चौथी शुद्धक्रिया, इन दोनोंमें पहली अत्यन्त हेय है और चौथी अत्यन्त उपादेय। विचारना तो दूसरी व तीसरी क्रियाके सम्बन्धमें है कि उन्हें हेय मानें या उपादेय ?

इस बातका उत्तर लेनेके-लिये हमें यह विचारना होगा कि ये क्रियायें अशान्तिरूप ही हैं या कुछ शान्तिरूप भी। एक उपयोगमें एक ही कार्य सिद्ध होनेके कारण यद्यपि एक ही कार्यमें शान्ति और अशान्ति दोनों अंशोंका सद्भाव एक समयमें रहना कुछ जञ्चता नहीं है, परन्तु विचार करनेपर एक ही कार्यमें ये दोनों अंश रहने असम्भव प्रतीत नहीं होते। शान्ति और अशान्ति पृथक-पृथक भी रह सकती हैं और मिश्रित-रूपमें भी। देखिये समझिये। उपयोग व शान्तिमें कुछ अन्तर है—उपयोग केवल जाननेका नाम है और शान्ति है स्वाद-का नाम, उपयोग ज्ञान है और शान्ति ज्ञेय, उपयोग प्रकाशक है और शान्ति प्रकाश्य। ज्ञानमें भले क्रम रहे पर ज्ञेयमें क्रम रहने की आवश्यकता नहीं। यदि दो या अधिक ज्ञेय मिलकर एकमेक हो जायें तो एक ही समयमें क्या ज्ञान उसे जान न लेगा ? जैसे कि अनेक पुद्गलोंके पिण्डरूप स्कन्धको या जीव-पुद्गल-मिश्रित मनुष्यको जाननेमें क्या आगे पीछे जानने की आवश्यकता पड़ती है ? या अनेकों नमक मिर्च आदि मसालोंके मिश्रित स्वादको जानने या अनुभव करनेके-लिये क्या क्रमकी आवश्यकता पड़ती है ? अर्थात् नमकका स्वाद पहले जानोगे, फिर मिर्चका, पीछे अन्य किसी मसालेका, क्या इस प्रकार जानोगे ? इतना अवश्य है कि जिसप्रकार मिश्रित मसालेका स्वाद चखते समय नमक

मिर्च आदिका भिन्न-भिन्न स्वाद न आकर एक विजातीय ही प्रकारका मिश्रित स्वाद आता है, जो न अकेले नमक-सरीखा है न अकेली मिर्च सरीखा। इसी प्रकार मिश्रित शान्तिका स्वाद लेते समय भी शान्ति तथा अशान्तिका भिन्न भिन्न स्वाद न आकर, शान्ति-अशान्ति-मिश्रित कोई विजातीय ही स्वाद आता है, जो न अकेला शान्तिरूप है और न अकेला अशान्तिरूप, बल्कि इनके मध्य-वर्ती किसी तीसरी ही जातिरूप है, जिसका निर्णय मिश्रणमें पड़े शान्ति व अशान्तिके अंशोंपर-से किया जा सकता है। शान्तिका अंश अधिक रहनेपर कुछ शान्तिकी ओर झुका हुआ और अशान्तिका अंश अधिक रहनेपर कुछ अशान्ति की ओर झुका हुआ स्वाद आता है। फलितार्थ निकला यह कि पापक्रिया तीव्र अशान्तिरूप है क्योंकि वहां भोगाभिलाषके साथ-साथ भोगनेकी व्यग्रताका स्पष्ट वेदन हो रहा है, दूसरी क्रिया सर्वथा मन्द-अशान्तिरूप है क्योंकि यहां भोगाभिलाष सम्बन्धी ही रागद्वेषादि हैं, भोगने सम्बन्धी व्यग्रता नहीं। तीसरी क्रिया शान्ति अशान्तिके मिश्रणरूप है, क्योंकि यहां भोगाभिलाषका अभाव है और उसके भोगनेकी व्यग्रताका भी। जितने अंशमें क्रिया करनेके प्रतिकी व्यग्रता है, उतनी अशान्ति है और जितने अंशमें वीतरागता है उतने अंशमें शान्ति। चौथी क्रिया सर्वथा शान्तिरूप है।

इसपर-से इन चारोंकी हेयोपादेयताका निर्णय करना बड़ा सहल हो जाता है। पहली पापक्रिया तो अशान्तिके कारण सर्वथा हेय है। दूसरी क्रिया अशान्तिके कारण यद्यपि हेय ही है पर पहलीकी अपेक्षा मन्द-अशान्ति होनेके कारण कथञ्चित् उपादेय है। तीसरी क्रिया भी यद्यपि चौथी पूर्णशान्ति वाली क्रियाकी अपेक्षा अशान्ति-मिश्रित होनेके कारण हेय ही है और पहली व दूसरी क्रियाओंकी अपेक्षा शान्तिका अंश रहनेके कारण उपादेय है, परन्तु चौथी क्रियाकी अपेक्षा अशान्तिका अंश रहनेके कारण हेय। चौथी क्रिया तो पूर्ण शान्तिरूप होनेके कारण पूर्ण उपादेय है ही। यह चौथी क्रिया वास्तवमें आस्रवरूप नहीं है, अपराधरूप किसी तरह भी नहीं है। यह संवररूप तथा निर्जरारूप है। अर्थात् ज्ञानधारामें रंगी सर्व क्रियायें उपादेय हैं और कर्मधारामें रंगी सर्व क्रियायें हेय हैं। आंशिक ज्ञानधारामें रंगी क्रियायें प्रथम भूमिकामें अभ्यास करनेके अर्थ प्रयोजनवान् है।

इस सारे प्रकरणमें पापके अतिरिक्त दोनों शुभ-क्रियाओंको भी सर्वथा व कथञ्चित् अपराधरूप बताया गया था, सो सिद्ध कर दिया गया। परन्तु इसका तात्पर्य उन शुभ-क्रियाओंका जीवनमें-से सर्वथा निषेध करना नहीं है बल्कि अभिप्राय बदलना है। उन क्रियाओंमें जो 'बहुत अच्छी हैं, हित-रूप हैं' ऐसा मिठास वर्तता है, उसे छुड़ानेका तात्पर्य है। ऐसा अभिप्राय

सर्वथा हेय ही है परन्तु अभिप्रायके हेय हो जानेपर क्रियायें एक दम छोड़ दी जायें, ऐसा नहीं हुआ करता, जैसाकि पहले दृष्टान्त द्वारा समझा दिया गया है। अब प्रश्न होता है यह कि अभिप्राय बदल जानेके पश्चात् क्रिया कौनसी करें, क्योंकि कुछ करना तो पड़ेगा ही, निष्क्रिय तो रह नहीं सकता? इस प्रश्नका उत्तर लेनेके-लिए हमें उपरोक्त चारों क्रियाओंमें-से छांट करनी है। परन्तु जिसमें चारों प्रकारकी क्रिया करनेकी शक्ति न हो वह कितनीमें-से छांट करेगा? उतनीमें ही से तो करेगा जितनी कि वह कर सकता है। ज्ञानी जीव जिन्होंने कुछ भी शान्तिका वेदन कर लिया है वे तो चारों क्रियायें कर सकते हैं और इसलिये उन्हें तो चारोंमें-से छांट करनी है, परन्तु वे व्यक्ति जिन्होंने कुछ भी शान्तिका परिचय प्राप्त नहीं किया है, केवल पहली दो क्रियायें ही कर सकते हैं। अगली दो उनके पास हैं ही नहीं, क्या करें? यद्यपि अभिप्रायमें-से भोगाभिलाष जाती रही है, परन्तु शान्तिके वेदन-रहित होनेसे इनका समावेश तीसरी क्रियामें नहीं किया जा सकता। इसलिये उन्हें केवल पहली दो कियाओंमें-से ही छांट करनी है।

विषय स्पष्ट हो गया। ज्ञानी व्यक्ति तो चौथी क्रिया करनेका ही भरसक प्रयत्न करेगा, परन्तु अल्प-भूमिकामें शक्तिकी हीनतावश वहां अधिक समय न टिका रह सके तो शेष समय तीसरी क्रियामें बितानेका प्रयत्न करेगा। दूसरी क्रिया उससे होगी ही नहीं क्योंकि शुभ-क्रियाओंमें उसकी प्रवृत्ति तीसरी कोटिमें चली जायेगी। गृहस्थ दशामें, करनेका अभिप्राय न होते हुए भी पूर्व-संस्कारवश यदि कदाचित पहली क्रिया हुई भी तो उसके प्रति अपना बहुत अधिक निन्दन गर्हण करेगा। परन्तु अज्ञानी जीव अभिप्राय बदल जानेपर और शान्तिकी जिज्ञासा जागृत हो जानेपर दूसरी क्रियाको करनेका तथा तीसरी क्रियाकी कोटिमे प्रवेश पानेका भी भरसक प्रयत्न करेगा। पहली क्रिया करनेका स्वयं प्रयत्न नहीं करेगा, परन्तु यदि संस्कारवश हो ही गई तो उसके लिये अपनी निन्दा करेगा।

शास्त्रसे उधार ली हुई 'शुद्धोऽहं,' 'प्रबुद्धोऽहं', 'निरञ्जनोऽहं', अथवा 'ब्रह्मास्मि' की रट लगानेसे तो तू वह बन नहीं जायेगा, क्रमपूर्वक अभ्यास करनेसे ही बनेगा। प्रथम क्रियाके सोपानको छोड़कर द्वितीय क्रियाके सोपानपर, उसपर पाँव जमनेके उपरान्त उसे छोड़कर तृतीय सोपानपर, और इसमें भी अभ्यस्त हो जानेपर चतुर्थ सोपानपर चढ़ते जना ही वह क्रम है। बताइये अब कहां रहा विरोधको अवकाश? परन्तु अपराधरूप तो वे क्रियायें रही ही रहीं। सिद्धान्त तीन काल भी वाधित नहीं हो सकता।

१२
बन्ध-तत्त्व



१. बड़ी भूल—स्वतन्त्रताकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण बन्धनोंका विच्छेद करके, पूर्ण स्वतन्त्रता सहित, निज चैतन्य-देशमें शान्ति-रानीके संग विलास करनेवाले, परब्रह्म अनन्तसिद्ध भगवन्त मुझे भी शक्ति प्रदान करें कि उनकी भांति मैं भी इन बन्धनोंका विच्छेद करके निज साम्राज्यका भोग कर सकूं। परन्तु बन्धन क्या है, यह बात पहले जाननी पड़ेगी। क्या किसीने बेड़ी डाली है पाँवमें, या बन्द किया है जेलखानेमें ? कुछ भी तो ऐसी बात दिखाई नहीं देती, फिर भी बन्धन क्या ?

ऐसा नहीं है भाई ! यह बन्धन बेड़ियोंरूप नहीं है पर बेड़ियोंसे भी अधिक दृढ़ है। यह बन्धन जेलखानेरूप नहीं है पर जेलखानेसे भी अधिक प्रबल है। सो दो प्रकारसे देखा जा सकता है—एक अन्तरंगमें और दूसरा बाहरमें। यदि मैं स्वयं अन्तरंगमें न बन्धूं तो बाहरमें मुझे बांधनेवाली कोई शक्ति नहीं। इस शरीरको अपना मानकर निष्प्रयोजन इसकी सेवामें जुटे रहना अथवा इसके लिए कुछ इष्टसे दीखनेवाले धनादिक अचेतन परपदार्थोंकी तथा कुटुम्ब आदिक चेतन परपदार्थोंकी सेवामें जुटे रहना तो वह अन्तरंग बन्धन है, जो स्वयं मैंने अपने सर लिया हुआ है। कुटुम्ब आदिक वास्तवमें बन्धन नहीं हैं। यदि मैं इनकी सेवा न करूं तो कोई शक्ति ऐसी नहीं जो मुझे इनका सेवक बना सके। सेवक बने रहना मेरी अपनी भूल है और मजा यह कि इस भूलमें भी मैं आनन्द मानता हूँ। यह मेरी भूल ही अन्दरमें मुझे कुछ प्रियसी, कुछ मधुरसी लगती है। यदि मेरा कोई अत्यन्त हितैषी मुझे इससे छुड़ानेके-लिये इनकी स्वार्थता दर्शाये भी तो मुझे वह भाता नहीं। मैं अन्तरंगमें किसी दाहसे व्याकुल हुआ, हाय-हाय करता अन्तरंगसे पुकार अवश्य करता हूँ, पर उसकी माननेको एक भी तैयार नहीं। कितना दृढ़ है यह बन्धन ?

इसके कारणसे आस्रव-तत्त्वमें दर्शाये गये उस कार्मण-शरीर या सूक्ष्म-शरीरमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होते जाना, इस शरीरका नित्य नये-नये जड़ कर्मोंके प्रवेशद्वारा पुष्ट होते रहना, सो बाह्य बन्धन है अर्थात् कर्मबन्धन है। यद्यपि यह अत्यंत सूक्ष्मशरीर हमको दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञानी गुरु इसे हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं। तदपि मेरे कल्याणमें यह बेचारा जड़ क्या बाधा पहुंचा सकता है ? यदि मैं स्वय भूल न करूं तो पड़ा है, पड़ा ही रहेगा। पड़ा रहने दे, क्या मांगता है बेचारा। "कर्म बेचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घनघात लोहकी संगत पाई।" यदि मैं इन परपदार्थोंकी सेवा स्वयं स्वीकार न करूं तो कोई शक्ति नहीं कि ज़बरदस्ती मुझे इनकी सेवा करनेको बाध्य करे। इनकी सेवा स्वीकार करनेवाला तो मैं हूं, बिना किसी बाह्यके दबावके स्वतन्त्र रूपसे स्वीकार करता हूं और पीछे पुकारा करता हूं कि हाय-हाय इन कर्मोंने मुझे पकड़ा, कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ।

अरे ! कैसी मूर्खता है ? वृक्षकी कौली भरकर यदि मैं आते जाते पथिकोंसे यह पुकार करूं कि भाई ! मेरी सहायता करो, देखो इस वृक्षने मुझे पकड़ा है, इससे मुझे छुड़ाओ, तो कितनी मूर्खता होगी ? मैं नित्य अन्यको उपदेश देता हूं, तोतेका दृष्टांत सुना-सुनाकर मानो जगतको रिझाता हूं। शिकारीके द्वारा लटकाई गई नलकीपर बैठा तोता नलकी घूम जानेके कारण जब स्वयं घूमने लगता है तो यह जानकर कि 'अरे मैं तो नीचे गिरा', नलकीको और दृढ़ पकड़ लेता है और उसपर उल्टा लटका रहता है, परन्तु विचारता यह रहता है कि नलकीने मुझे पकड़ लिया है। पर फड़फड़ाता है उड़नेके-लिये, पर पाँवको न छोड़े तो कैसे उड़े ? 'नलकीने मुझे पकड़ा कोई छुड़ाओ'। वही दशा तो मेरी है। स्वयं दासता स्वीकार करके, 'हाय इस दासतासे मुझे छुड़ाओ'। कितनी हंसीकी बात है ?

देखो बन्दरकी मूर्खता, शिकारीके द्वारा पृथ्वीमें गाड़ी गई चनोंसे भरी हंडियामें चनोंके लालचवश हाथ डाले स्वयं, चनोंकी मुट्ठी भरे स्वयं और बन्द मुट्ठी हंडियाके मुँहमें-से न निकल सके तो पुकार करे, हाय-हाय हंडियाने मुझे पकड़ा, कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ। यदि उस समय उसको यह कहा जाय कि भाई ! मुट्ठीको खोल दे छुटा ही तो पड़ा है, तो मुट्ठी खोलनेके-लिये कभी तैयार नहीं, भले शिकारी पकड़ले। किसने पकड़ा है उसको ? हंडियाने या उसके लालचने ? हंडिया बेचारीका क्या दोष ? अब छोड़े और भाग जाय। पड़ी रहेगी बेचारी। वह कब उसे पकड़नेको वृक्षपर चढ़ेगी ? बन्दरकी मूर्खता पर आज मैं हंस रहा हूं पर खेद है कि अपनी मूर्खता मुझे दिखाई नहीं देती।

शरीर, धन व कुटुम्बादिकी सेवा स्वयं स्वीकार करके कोस रहा हूं कर्मोंको। हाय इन कर्मोंने मुझे पकड़ा, देखो निष्कारण तंग कर रहे हैं! प्रभो! किसने पकड़ा है तुझे? विचार तो सही, सेवा चाकरी छोड़, कौन रोकता है तुझे? ये बेचारे जड़कर्म तो बिल्कुल निरपराध हैं, ये कब पकड़ते हैं तुझे? तू स्वयं ही बुला-बुलाकर पकड़ लेता है उन्हें। अपराध अपना और गले मंढे कर्मोंके, कैसे मजेकी बात है?

हे भाई! तुझे कल्याण चाहिये, हित चाहिये, सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, तो बाहरमें इनकी ओर न देख। देख अपनी ओर, अपनी प्रभुताकी ओर। तू तो पहिले ही से कल्याणरूप पड़ा है, तू तो अब भी शान्तिका भण्डार है। किसने छीना है उसे? कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है तेरा। अपनी शान्तिको सेवा चाकरीमें खोजने जाता है, बस इस कल्पना ही ने तो पकड़ा है तुझे। यही वे बन्धन हैं जो महात्माओंने तोड़ दिये हैं। तू भी तोड़ दे तो वैसा ही हो जावे। सिद्धप्रभुमें और तुझमें तनिक भी तो भेद नहीं, काहे दुहाई देता है उनके द्वार पर कि तुझे शान्ति प्रदान करें। तू सर्व-समर्थ है, शक्तिका पुञ्ज है।

२. संस्कार निर्मिति—शरीर व कुटुम्बकी सेवा चाकरीका भाव कौन पैदा करता है तेरे हृदयमें? क्या कोई सिखाता है तुझे ये बातें? पैदा होते ही बालक दौड़ पड़ता है स्तनकी ओर। कौन सिखाता है उसे? स्वयं सीखा सिखाया ही तो उत्पन्न हुआ है। पहले कभी यह क्रिया करने लगा था, आज आदत बन गई, संस्कार बन गया। कहीं भी जाये, इस रूपमें या उस रूपमें, मनुष्यके शरीरमें या तिर्यञ्चके शरीरमें, नरक-गतिमें या देव-गतिमें, संस्कारको सदा साथ लेकर जाता है। फिर किस सिखाने-वालेकी आवश्यकता है? स्वयं सीखता है, स्वयं संस्कार बनाता है, स्वयं साथ ले जाता है। स्वयं तू ही तो है इनका निर्माण करनेवाला। तू स्वयं इनको न बनाये तो कर्म बेचारे क्यों आयें? तू इन सस्कारोंको तोड़दे तो कर्म भी बेचारे तेरा साथ छोड़दें। कर्मोंसे प्रार्थना करनेसे कि 'भाई! अधिक न सताओ, कृपया मुझे रास्ता दे दो, मैं धर्म करने जा रहा हूं', क्या लाभ है? इन बेचारोंको क्या सुनाई देता है? अपने संस्कारोंको पहचाने, उनका निर्माण तू नित्य किसप्रकार कर रहा है उसे जाने, तथा ऐसी भूल करना छोड़दे तो बन्धन काहेका? स्वतन्त्र ही तो पड़ा है।

अपने अन्दरमें उतरकर देख, संस्कार प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। संस्कार उस आदतका नाम है जो तूने धीरे-धीरे नित्य नये-नये अपराध करके आस्रवके द्वारा पुष्टकी है, और उसी पुरानी आदतरूप संस्कारोंसे प्रेरित हुआ नित्य नये-नये अपराध कर रहा है, बिल्कुल विवेक नहीं रहा है। अपराध, संस्कारोंका

निर्माण, आगे उनकी प्रेरणासे पुनः-पुनः वही नये-नये अपराध, संस्कारोंका और पोषण, अधिक-अधिक अपराध, संस्कारोंकी अधिक-अधिक पुष्टि । बस यही तो है वह चक्र जिसमें तू उलझा पड़ा है ।

यह बात समझनी भी कठिन नहीं है, सबके अनुभवमें आई है, केवल विश्लेषण करनेकी कमी है । ज्ञानी व अज्ञानीमें तथा एक फ़िलास्फ़र व एक साधारण व्यक्तिमें इतना ही तो अन्तर है कि फ़िलास्फर तो वस्तुका विश्लेषण करके बना लेता है सिद्धान्त और दूसरा रह जाता है ताकता उसके मुंहकी ओर । सिद्धान्तका आधार तो अनुभव है, विश्लेषण करो तो आप भी बना सकते हो । यदि सिद्धान्त बनानेकी शक्ति नहीं तो समझ तो सकते ही हो । देखिये दृष्टान्त देकर समझाता हूं संस्कार निर्माणका क्रम तथा उस संस्कारकी वह शक्ति जो तुझे नये-नये अपराध करनेकी प्रेरणा देती है ।

देखिये उस व्यक्तिकी ओर जो आजका एक विश्वविख्यात डाकू है । क्या वह डाकू बनकर जन्मा था ? नहीं, जन्मा था तब तो बिल्कुल भोला-भाला था, छोटासा बच्चा था, बड़ा प्रिय लगता था । आजका यह भयानकरूप कैसे धारण किया ? डाकू बनना उसने प्रारम्भ किया था उस समय जबकि वह स्कूलमें पढ़नेके-लिये भेजा गया था । पहले ही दिन उसकी दृष्टि पड़ी अपने साथीकी पैन्सिलपर, जो उसे कुछ सुन्दरसी लगी । न मालूम एक विचारसा कहांसे उठा उसके अन्दर ? एक बिजलीकी चमककी भाँति उसे कुछ धक्का सा लगा— "और यदि उठा लूं इसे तो? अवकाशका ही तो समय है ? रैसेस है । कोई भी तो नहीं है यहां ? सब साथी खेलमें लगे हैं ? कोई भी तो नहीं देख रहा है ? किसीको क्या पता चलेगा कि मैंने उठाई है ?' और चारों ओर चौकन्ना होकर न जाने किसे खोज रहा है वह ? हाथ यकायक बढ़ता है पैन्सिलकी ओर । पर यह क्या ? 'अरे ! नहीं नहीं यह ठीक नहीं है । यदि किसीने देख लिया तो ? मार पड़ेगी बुरी तरह और वह बेचारा साथी तो रोयेगा । नहीं नहीं मत उठा', हृदय बुरी तरह कांपता हुआसा । पुनः चौकन्नोसी दृष्टि चहुँ ओर । और साहस बटोरकर उठा ही लेता है उस पैन्सिलको, हृदयके कम्पनको दबानेका प्रयत्न करता हुआ । घर जाकर प्रसन्न होता है उस पैन्सिलको देखकर । अरे दो पैसेकी तो होगी ही, कितनी सुन्दर है, चलो आज तो दो पैसे कमाये ।

और अगले दिन वही दृष्टि पड़ी एक साथीकी पुस्तकपर । चौकन्नीसी आँखें घूमने लगीं यकायक चारों ओर, हृदयमें कम्पन, हाथ भी कुछ कांपे-कांपेसे, परन्तु न तो था कल जितना विस्मय, न था कल जितना भय, न था कल जितना कम्पन,न थी कल जितनी ग्लानि । किताब उठाई और बस्तेमें डालली ।

घर जाकर किताबको उलट-पलटकर देखा तो बिल्कुल नई है। वाह-वाह ! कितना अच्छा हुआ। अब तो मुझे किताब खरीदनी ही न पड़ेगी।

तीसरे दिन उसीप्रकार दवात, और फिर चौथे पांचवें दिन अन्य-अन्य वस्तुएं। पर आगेको हीन-हीन विस्मय, हीन-हीन भय, हीन-हीन कम्पन और हीन-हीन ग्लानि। इनके साथ-साथ धीरे-धीरे साहसमें वृद्धि। और आज वही है साहसी, निर्भीक डाकू जिसके अन्दर न है विस्मय, न है भय, न है कम्पन, न है ग्लानि। बस बन गया संस्कार, एक पुष्ट और प्रबल डाका डालनेका संस्कार। पहली दूसरी आदि स्थितियोंमें ही रोकता तो रुक जाता, पर आज उसे कितना भी दण्ड मिले वह संस्कार रुकनेवाला नहीं। पहले दिन जिस संस्कारका आरम्भ कांपते हुये हृदयसे हुआ था, आज वह उसे प्रेरणा करता है, साहस देता है, बड़े-बड़े डाके डालनेका।

इसीप्रकार किसी मित्रकी प्रेरणासे पहले दिन घृणा-बुद्धिसे, कांपते हुए हृदयके साथ, शराबकी एक घूंटमात्र पी लेनेवाले उस व्यक्तिको आज शराबके बिना चैन नहीं। पहले दूसरोंके पैसेसे पीनी प्रारम्भ करनेवाला आज अपनी लहू-पसीनेकी कमाईको भी शराबके-लिये फूंक रहा है। कौन शक्ति है, कौन प्रेरणा है? वही संस्कारकी शक्ति, वही संस्कारकी प्रेरणा, जिसे उपरोक्त क्रमसे स्वयं उसने पुष्ट किया है।

बस बन गया संस्कार-निर्माणका सिद्धान्त—कोई भी व्यक्ति कभी एक नया अपराध करता है, तब संस्कारकी रूपरेखा मात्रसी अन्दरमें बन जाती है जो उसे पुनः वह अपराध करनेके-लिये बल प्रदान करती है तथा उसके भयको हटाती है। उससे प्रेरित हुआ पुनः उसी जातिका अपराध करता है। उस संस्कारकी पुष्टि हो जाती है और वह पुष्ट संस्कार और अधिक प्रेरणा व बल देता है। पुनः उस जातिका अपराध दोहराता है, पुनः संस्कारकी पुष्टि हो जाती है और इसीप्रकार पुनः-पुनः नया-नया अपराध या आस्रव और तत्फल-स्वरूप संस्कारोंकी पुष्टि या पूर्व-पूर्व संस्कारमें नई-नई शक्तिका बन्ध। इसीप्रकार आगे जाकर बन बैठता है वह एक प्रबल संस्कार, एक आदत, एक इन्सटिंक्ट, जिसको अब यदि दबाना भी चाहेगा तो कुछ असम्भवसा प्रतीत होगा।

इसीप्रकार मैं अनादिसे कुछ नये-नये अपराध या आस्रव करता चला आ रहा हूं। जिस-जिस जातिके अपराध करता हूं उस-उस जातिके अपराध पहले भी किये थे, अतः उस-उस जातिके संस्कार अन्तरंगमें पहलेसे ही पड़े हैं। अब का किया नया अपराध मिल जाता है अपनी जातिके पूर्व संस्कारके साथ और

पुष्ट कर देता है उसे। इसीप्रकार सर्व ही पूर्व-संस्कारोंका बराबर सिञ्चन करता चला आ रहा हूं, बराबर आस्रव तत्त्वके-द्वारा उनका पोषण करता चला आ रहा हूं, बराबर उन्हें वेतन देता चला आ रहा हूँ। यही है वास्तवमें मेरा बन्धन अर्थात् बन्धतत्त्व जिसकी प्रेरणासे करता हूँ मैं नित्य नये-नये अपराध, और जिसकी प्रेरणासे स्वीकार की है मैंने शरीर आदिकी दासता।

यदि आज इस दासताको छोड़कर नये-नये अपराध करना बन्द कर दूं तो इन संस्कारोंको आहार कहांसे मिलेगा? इन्हें वेतन कौन देगा? स्वयं सूख जायेंगे बेचारे या भूखे मरते छोड़ जायेंगे मुझे और कोई दूसरा द्वार जा खटखटायेंगे। अत: भाई यदि स्वतन्त्रता चाहिये तो कर्मोंको कोसनेसे कुछ न बनेगा, न ही प्रभुसे भिक्षा मांगनेसे काम चलेगा। जिसप्रकार रस ले-लेकर संस्कारोंका निर्माण किया है उसीप्रकार रस ले-लेकर इन्हें तोड़नेसे काम चलेगा। स्वतन्त्र रूपसे तूने ही इनका निर्माण किया है और स्वतन्त्र रूपसे तू ही इन्हें काट सकता है। कैसे? सो अगले प्रवचनमें आ जायेगा।



नवीन-नवीन संस्कारोंकी वर्षामें बैठा जीवात्मा बराबर उनकी शक्तिको पुष्ट किये जा रहा है।

१३

संवर-तत्त्व



१. जीवन शोधन—भव-संतप्त इस पथिकको शान्ति प्रदान कीजिये नाथ ! आपकी शरणमें आकर क्या इतना भी न मिलेगा ? सुनते आये हैं कि अपने आश्रितको आप अपने समान कर लिया करते हैं। अनेकों अधम उधारे हैं आपने। मैं भी तो एक अधम हूँ, मुझपर भी कृपा कीजिये प्रभु। शान्ति मांगता हूँ और कुछ नहीं। धन सम्पत्ति मांगने नहीं आया हूँ और वह आपके पास है ही कहां जोकि दे देते। वही वस्तु तो दी जा सकती है जोकि किसीके पास हो। आपके पास है शान्तिका अटूट भण्डार, मुझे भी दीजिये नाथ ! थोड़ीसी ही दे दीजिये, इस ही में सन्तोष कर लूंगा। देखिये अपने द्वारसे खाली न लौटाइये। मेरा तो कुछ न बिगड़ेगा क्योंकि मैं तो पहले ही रंक हूँ, अब भी रंक रह लूंगा। जगत आपकी ही निन्दा करेगा कि काहेका बड़ा जो भूखेकी झोलीमें एक मुट्ठी चावल भी नहीं डालता।

नहीं नहीं, ऐसा होना असम्भव है, आपकी शरणमें जो आया है वह खाली नहीं लौट सकता। मुझमें लेनेकी शक्ति होनी चाहिये, आप तो मार्ग दर्शा ही रहे हैं। संवरका मार्ग, अर्थात् सम्यक्-प्रकार वरण करनेका मार्ग, सम्यक्-प्रकार ढक देनेका अर्थात् दबा देनेका मार्ग। किनको ? आस्रव अधिकारमें बताये गए प्रतिक्षण होनेवाले नवीन-नवीन अपराधोंको जो साक्षात् व्याकुलता रूप हैं, अन्तर-दाहक हैं। उनके दब जानेका नाम ही तो शान्ति है, अतः यह संवरका मार्ग ही तो शान्तिका मार्ग है। लो सुनो! सुनने मात्रसे काम न चलेगा, जीवनमें उतारनेसे काम चलेगा। आजतक जीव अजीवादि तत्त्वोंकी रटंत की है, शान्ति मिले तो कैसे मिले ? अब वैसी बात न समझना, कुछ सूत्र याद करनेसे कोई लाभ नहीं, उनके रहस्यको जीवनमें उतारनेसे लाभ है। ले तो उसी रहस्यको सूत्रोंमें नहीं, बड़ी सरल भाषामें, तेरी भाषामें, बड़ा सहल करके धीरे-

धीरे समझाता हूँ। ध्यानसे सुन, विचार कर और आजसे ही अपने दैनिक जीवनमें उनके अनुसार कुछ परिवर्तन लानेका प्रयत्न कर।

वे बातें कुछ ऐसी नहीं होंगी जो तू न कर सके या उनके करनेमें तुझे कठिनाई पड़े। गुरुदेव बड़े उपकारी हैं। छोटेसे छोटे, बड़ेसे बड़े, शक्तिहीन व शक्तिशाली सबका उपकार करते हैं, सबको मार्ग दर्शाते हैं, उस-उसकी श्रद्धाके अनुसार तथा उस-उसकी शक्तिके अनुसार। पक्षपात् व साम्प्रदायिकताकी बात नहीं है, सर्व-हितकी बात है। कोई भी क्यों न हो, पशु हो या देव, ब्राह्मण हो या शूद्र, जो करे सो पावे। जीवनमें उतारनेका नाम करना है, ऊपरकी कुछ दिखावेकी अथवा शरीरको तोड़ने-मरोड़नेकी या पदार्थोंको इधरसे उधर धरनेकी क्रियाओंका नाम करना नहीं है। अहो! करुणा-सागर गुरुदेव! कितना सहल बना दिया है मार्ग, हर किसीको अवकाश प्रदान कर दिया है, मानो सर्वधर्म-समभावका बिगुल ही बजाया है। आपके शासनमें ब्राह्मणको ऊँचा व शूद्रको नीचा दर्जा प्राप्त हो, ऐसा भेद है ही नहीं और वास्तवमें आपके शासनमें शूद्र नामका शब्द ही नहीं है। जिस मार्गकी नींवमें ही द्वेष डाला गया हो, ब्राह्मण व शूद्रमें द्वेष उत्पन्न कर दिया गया हो, उस मार्गको साम्यताका मार्ग होनेका दावा किया जाय, यह आश्चर्य है। द्वेष व साम्यता दोनों कैसे इकट्ठे रह सकेंगे? शांति प्राप्त हो तो कैसे हो? मूलमें ही भूल है फल कैसे लगे? भगवन् समझ! स्वपर-भेदविज्ञान प्राप्त करके इस भूलको निकालदे और फिर साम्य-रसमें भीगी उस गुरुदेवकी वाणीको सुन।

यद्यपि आजतक उन क्रियाओंमें-से आप सब बहुतसी क्रियायें पहलेसे करते आ रहे हैं जैसेकि देवपूजा आदि, तदपि अन्तरंग अभिप्राय ठीक न होनेसे उनका वह फल नहीं हुआ जोकि होना चाहिये था अर्थात् शान्ति। इसीलिए यह कहनेमें आता है कि जितना अधिक धर्म करनेवाले व्यक्ति हैं उतने ही अधिक दुःखी हैं। यह बात झूठी भी नहीं है क्योंकि वास्तवमें ऊपरसे देखनेसे ऐसा ही दिखाई दे रहा है। उसका कारण यह है कि या तो वे क्रियायें मिथ्या अभिप्राय-पूर्वक की जा रही हैं अर्थात् आस्रव प्रकरणमें बताये गए दूसरे अभिप्राय-पूर्वक की जा रही हैं, या केवल कुल-परम्परासे बिना समझे की जा रही हैं। सच्चे अभिप्राय-पूर्वक अर्थात् आस्रव प्रकरणमें बताये गये तीसरी कोटिके अभिप्राय-पूर्वक इन क्रियाओंको करनेवाला तीन-कालमें भी कभी दुःखी रह नहीं सकता, ऐसा दावेके साथ कहा जा सकता है। अतः प्रत्येक क्रियाकी परीक्षा अपने अभिप्रायसे करते हुए चलना है। अभिप्रायपर ही जोर है, वही मुख्य है। क्रियाकी इतनी महत्ता नहीं जितनी उसकी है। अतः अभिप्रायको

पढ़नेका अभ्यास करना चाहिये। स्थल-स्थलपर दृष्टान्त आदिके द्वारा अभि-प्राय पढ़नेका उपाय भी बताया जाता रहेगा। उसे पढ़कर गुण-दोषको खोजने तथा अपनी भूलोंको दूर करनेका प्रयत्न करना, तभी वे क्रियायें सच्ची कहला सकती हैं।

एक उदाहरण देता हूं। किसी साधुको स्वर्ण बनानेकी रासायनिक विद्या आती थी। एक गृहस्थको पता चल गया। विद्या लेनेकी धुनको लिये वह उस साधुकी सेवा करने लगा। दो वर्ष बीत गये, बहुत सेवा की, साधु ने प्रसन्न होकर उसे विद्या दे दी अर्थात् वह कापी जिसमें वह उपाय लिखा था उसे दे दी। प्रसन्नचित्त गृहस्थ घर लौटा, भट्टी बनाई, सारा सामान जुटाया और जिसप्रकार कापीमें लिखा था, करने लगा। बड़ी सावधानी बरती कि कहीं गलती न हो जाय। प्रत्येक क्रियाको पढ़-पढ़कर किया, पर स्वर्ण न बना। फलतः श्रद्धा जाती रही। सोचने लगा 'दो वर्ष व्यर्थ ही खो दिये, साधुने यूंही झूठमूठ अपनी ख्याति फैलानेके-लिये ढोंग रच रखा था, सोना आदि बनाना उसे आता ही न था। कापीमें भी यूंही काल्पनिक बातें मेरे मन बहलानेको लिख दीं'। क्रोधमें भर गया वह, पर क्रोध उतारे किसपर? साधु न सही उसकी कापी तो है। चौराहेपर बैठकर लगा कापीको जूतोंसे पीटने। सहसा वही साधु उस मार्गसे आ निकला। गृहस्थकी मूर्खता को देखकर सब कुछ समझ गया। बोला, "क्यों इतना क्रोध करता है, भूल स्वयं करे और क्रोध उतारे कापीपर? इस बेचारीने क्या लिया है तेरा? चल मेरे साथ मैं देखता हूं कि कैसे नहीं बनता सोना?" भट्टीके पास दोनों आये, सामान जुटाया, प्रक्रिया चालू हुई। सब ठीक, परन्तु नींबू पड़नेका अवसर आया तो लगा चाकू लेकर नींबू काटने। साधु बीचमें ही बोला, 'क्या करता है?' 'नींबू काटता हूं।' 'कहां लिखा है इसमें नींबू काटना?' 'काटना न सही, नींबूका रस तो लिखा है। बिना काटे रस कैसे निकले?' साधुने गृहस्थसे नींबू छीन लिया और दोनों हथेलियोंके बीच साबुतका साबुत नींबू रखकर जोरसे दबा दिया। रस निचुड़ गया। बोला कि ऐसे निकलता है रस। यह न सोचा बुद्धि लगाकर कि चाकूसे लोहेका अंश जाकर सारे फलका विनाश कर देगा? सोना बन गया और गृहस्थ लज्जित हुआ अपनी भूलपर। परन्तु अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत। विद्याको साधु अपने साथ ही ले गया।

तात्पर्य केवल इतना दर्शाना है कि सर्व क्रिया ठीक होते हुए भी कोई ऐसी भूल जो दृष्टिमें भी आती नहीं सर्व फलका विनाश कर डालती है, और यथा-कथित फल न मिलने पर बजाये अपनी भूल खोजनेके प्राणीका विश्वास क्रिया

पर-से ही उठ जाता है और इसप्रकार बजाये हितके अपना अहित कर बैठता है। अतः पहलेसे ही अभिप्रायकी सूक्ष्मताको पढ़नेके-लिये कहा जा रहा है ताकि सूक्ष्मसे सूक्ष्म मूलका भी सुधार किया जा सके और क्रियासे वही फल प्राप्त किया जा सके जोकि उससे होना चाहिये।

संवर कहते हैं प्रत्येक क्षण होनेवाले नये-नये अपराधको रोक देना अर्थात् जिसप्रकार भी लौकिक-भोगादि सम्बन्धी अथवा ख्याति-प्रतिष्ठा आदि सम्बन्धी बहिर्मुखी वृत्ति रोकी जा सके उसे रोकना कर्त्तव्य है। वास्तवमें पदार्थोंको जानना अपराध नहीं है। जानने मात्रसे रागद्वेष उत्पन्न नहीं हो सकता। राग द्वेष होता हैं इष्टानिष्ट बुद्धिसे। देखिये आप अपने बरामदेमें खड़े सड़ककी ओर देख रहे हैं। अनेक पशु, पक्षी व व्यक्ति सड़कपर-से गुज़रते आपने देखे। कुछ परिचित थे और कुछ अपरचित भी। कुछ देर पश्चात् उसी सड़कपर देखा अपने पुत्रको आते हुए। तुरन्त यह सोचकर कि कुछ कार्य-वश मेरे पास ही आ रहा है, एकाएक बोल उठे "क्यों! क्या काम है? इतनी जल्दी कैसे लौट आये आज?" पुत्रको देखकर यह विकल्प क्यों? कारण यही कि अन्य व्यक्तियोंमें थी माध्यस्थता और पुत्रमें थी इष्टता। इसीप्रकार आप इन्हीं आंखोंसे देखते हो हस्पतालमें पड़े बुरी तरह कराहते हुए अनेक रोगियों को और इन्हीं नेत्रोंसे देखते हो अपने रोगी पुत्रको। परन्तु जो व्याकुलता तथा वेदनाका भाव पुत्रको देखकर आपमें जागृत होता है वह अन्य रोगियोंको देखकर क्यों नहीं होता? कारण यही कि पुत्रमें है इष्टता और अन्यमें माध्यस्थता। और यदि कदाचित् अन्यको देखकर थोड़ी मात्रामें व्याकुलता हो भी गई तो उसका कारण है कुछ करुणा, जिसका आधार है राग या इष्टता। यदि पूर्ण माध्यस्थता होती तो उन्हें देखकर बिल्कुल व्याकुलता न होती।

उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार हमें यह देखना है कि ऐसी कौनसी क्रियायें सम्भव हैं जिनमें इष्टता अनिष्टताको पूर्णरूपसे या आंशिक-रूपसे अवकाश न हो। अनेकों क्रियायें होनी सम्भव हैं। पूर्णरूपसे इष्टता-अनिष्टता रहित क्रियाओंको करनेकी सामर्थ्य इन्द्रिय-जयी योगियोंमें ही होनी सम्भव है। इस-लिये अल्प-दशामें मेरेलिये कुछ ऐसी क्रियायें होनी चाहियें जिनको मैं सुविधा-पूर्वक अपने जीवनमें उतार सकूं। ऐसी क्रियायें आंशिक-रूपसे ही इष्टता अनिष्टता रहित हो सकती हैं। अतः संवररूप क्रियायें तीन भागोंमें विभाजित कर दी गई हैं—एक गृहस्थके योग्य दूसरी श्रावकके योग्य और तीसरी साधुके योग्य। तीनों ही प्रकारकी क्रियाओंका विशेष विस्तार आगे साधना-खण्डमें किया जानेवाला है।



१४

निर्जरा-तत्त्व



१. निर्जरा—यह निश्चय हो जानेके पश्चात् कि संवर-तत्त्वके द्वारा अर्थात् वहां बताए गए विस्तृत क्रियाकलापकी साधना द्वारा शान्तिके बाधक संस्कारों का दमन किया जाना शक्य है, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतना ही पर्याप्त है ? नहीं-नहीं, हे भव्य ! जल्दी मतकर, घबरा भी नहीं, सुनता रह, क्योंकि विषय लम्बा है । अभी मार्गका प्रारम्भ ही हुआ है, इस मार्गकी पूर्णता तो बहुत आगे जाकर होगी । संवरसे बेख़बर विकल्प सागरमें ग़ोते खाते जीवों की तो बात नहीं, संवरसे बाख़बरके भी जीवनमें-से कुछ देरके-लिये आंशिक रूपमें या आयु-पर्यन्तके-लिये केवल इन विकल्पोंको रोक देनामात्र पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे भले ही वे पूर्वके संस्कार आगेको और अधिक पुष्ट न होने पावें तथा वर्तमानमें जीवन कुछ हल्कीसी शान्ति लिये हुए अनुभवमे आने लगे, परन्तु पूर्वसे डेरा जमाये हुए उन संस्कारोंसे तो बच न पायेगा । भले ही आजके संवरणके कारण उनको कुछ निद्रासी या बेहोशीसी आ गई हो, परन्तु तेरे तनिक भी असावधान होनेपर या यह अनुकूल वातावरण बदल जानेपर या कालचक्र द्वारा ज़बरदस्ती किसी प्रतिकूल वातावरणमें फेंक दिये जानेपर, क्या वे संस्कार सचेत होकर एकदम तुझपर आक्रमण न कर बैठेंगे ? उस समय सम्भवतः उस आक्रमणको तू सह सकनेमें समर्थ न होगा और बह जायेगा पुनः उनके द्वारा प्रेरित उसी पहली रौमें । शत्रुका बीज नाश कर देना ही नीति है । जिसप्रकार कि एक कुशा-घासके पांवमें चुभ जानेपर चाणक्यने उस सारी जङ्गलकी कुशा-घासका बीज नाश कर दिया था, उसीप्रकार जबतक एक भी संस्कार शेष है तुझे सन्तोष नहीं करना चाहिये । बराबर उसके उच्छेदका उद्यम करते रहना चाहिये, थोड़ा-थोड़ा या अधिक-अधिक, अपनी पूरी शक्ति लगाकर ।

जिसप्रकार कोई राजा अपने शत्रुओंसे सावधान होकर उन्हें पराजित करनेके-लिये पहले उस दलको नहीं छेड़ता जो कुछ छिपा-छिपासा दूरसे ही प्रहार करता है, प्रत्युत उस दलका पहले सामना करता है जो बिल्कुल उसके नगरमें प्रवेश कर गया है। परन्तु उसे परास्त कर लेनेके पश्चात् भी वह चैनसे नहीं बैठ जाता बल्कि तुरन्त ही उस छिपकर प्रहार करनेवाले शत्रुकी ओर दौड़ता है तथा उसे ललकारकर गुफाओंसे बाहर निकालता है। एक-एकका विनाश करता हुआ तबतक चैन नहीं लेता जबतक कि ऐसी अवस्थामें न पहुंच जाय कि उसकी ललकार सुननेवाला वहां कोई न रहे। उसीप्रकार शान्ति-नगर का राजा यह भगवान् आत्मा,आस्रव तथा बन्ध तत्त्वोंसे अर्थात् नवीन विकल्पोंसे तथा पूर्व संस्कारोंसे सावधान होकर उन्हें पराजित करनेके-लिये, भले पूर्व-सञ्चित संस्कारोंको छेड़नेकी बजाय पहले नवीन-विकल्पोंको परास्त करे अर्थात संवरण करे,परन्तु केवल संवरण करनेपर ही वह चैनसे नहीं बैठ जाता, सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि तुरन्त ही पूर्व-संस्कारोंपर दौड़ता है और क्रम-क्रमसे एक-एकको ललकारकर उनसे युद्ध ठानता है। तबतक चैन नहीं लेता जबतक कि उनका मूलोच्छेद न कर दे।

और भी, जिस प्रकार नवीन जल-प्रवेशके मार्गको रोक देने मात्रसे जोहड़में भरे गन्दे-पानीके कीटाणुओंसे सम्भावित रोगप्रसारका भय दूर नहीं हो जाता बल्कि भयमुक्त होनेके लिए उस सम्पूर्ण जलको सूर्य-किरणोंद्वारा सुखाना आवश्यक है। उसीप्रकार नवीन-विकल्पोंके प्रवेशको रोक देने मात्रसे अन्तरंगमें पड़े संस्कारोंसे सम्भावित विकल्पोंके प्रसारका भय दूर नहीं हो जाता बल्कि विकल्पमुक्त होनेके-लिये इन सम्पूर्ण संस्कारोंका अन्तर्दृढ़ता, बल व साहसके साथ विनाश करना आवश्यक है।

यह बात आप सबके अनुभवमें भी आ रही है। मन्दिरके अनुकूल वातावरणमें प्रातःकी इस गुरुवाणीका श्रवण करते हुए एक घण्टेके-लिये भले ही कुछ शान्तिसी, कुछ हल्कापनसा, कुछ अनोखासा प्रतीत होने लगता है कि अरे! क्या रखा है इस गृहस्थ जञ्जालमें,जिस-किस प्रकार भी बस अब छोड़दे इसे। इतनी तीव्र जिज्ञासा भी कदाचित् उत्पन्न हुई होगी कि यदि गुरुदेव होते तो अवश्य उनकी शरणको छोड़ अब मैं घर न जाता। परन्तु मन्दिरसे निकलते ही गृहस्थ के वातावरणमें गए और फिर वही हाल। कहां गई शान्ति और कहाँ गए वे विचार, कुछ पता नहीं। वही विकल्प-जाल, वही अशान्ति। कौन शक्ति है जो मेरी बिना इच्छाके मुझे धकेलकर यह सब कुछ करनेपर बाध्य करती है? वास्तवमें अनादिके पड़े वे खोटे संस्कार अर्थात् पहला कर्मबन्ध ही वह शक्ति

है जिससे मुझे विकल्प करनेकी प्रेरणा मिल रही है। इन संस्कारोंके प्रति बल व साहस धारकर युद्ध ठानना ही योग्य है। तू वीरकी सन्तान है, स्वयं वीर बन, इस आध्यात्मिक युद्धसे मत घबड़ा।

आज तेरे पास शक्ति है उस प्रकाशकी, उस ज्ञानकी, उस जिज्ञासा व भावनाकी, उस आन्तरिक प्रेरणाकी जोकि गुरुवाणी सुननेसे सौभाग्यवश तेरे अन्दर उत्पन्न हुई है। अब भी यदि इन संस्कारोंको न ललकारा और इनके साथ युद्ध करके अपना पराक्रम न दिखाया तो कब दिखायेगा ? क्या उस समय जबकि कालचक्र-द्वारा एक ऐसे वातावरणमें फेंक दिया जायेगा जहाँ न होगी गुरुवाणी, न होगा देवदर्शन, न होगी आजकी भावना, न होगा यह ज्ञान व प्रकाश; परन्तु तू होगा इन सस्कारोंके प्रकोपका शिकार, बहता हुआ होगा इन विकल्पोंके ऐसे तीव्र वेगमें कि जहां तेरे हाथ पांव मारना भी निरर्थक होगा। याद रख कि ये दुष्ट संस्कार बड़े प्रबल हैं, सदा ही अपनी रक्षाके प्रति सावधान रहा करते हैं। कभी भी प्राणीमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होने देते क्योंकि ये जानते हैं कि इस प्रकाशकी एक किरण भी यदि हृदयमें प्रवेश पा गई तो लेनेके देने पड़ जायेंगे। इस कारण ये भय व प्रलोभनके अनेकों विकल्पोंसे कभी भी प्राणीको अवकाश लेने नहीं देते।

आज जो तुझे यह स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ है इसे केवल अपना सौभाग्य समझ। सम्भवतः इस अवसरपर आकर इन सस्कारोंको कुछ ऊंघ आ गई थी, तभी तो यह वातावरण तेरे द्वारा प्राप्त किया जाना सम्भव हो सका है। आज ये संस्कार स्वयं अपनी भूलपर पछता रहे हैं और देख कितने सहमे हुएसे प्रतीत हो रहे हैं। इनका विरोधी वह प्रकाश जो प्रवेश कर गया है तेरे अन्दर? उसीसे भयभीत हैं ये। अब इनको सन्देह हो रहा है स्वयं अपने जीवनका, सोच रहे हैं कि कहीं इस घरको छोड़नेकी नौबत न आ जाय। परन्तु इनके पास बड़ा सैन्य-बल है,घबराये हुए भी ये आसानीसे निकलनेको तैयार नहीं। आज ये सामने न आकर छिप-छिपकर प्रहार करनेकी चिन्तामें हैं। अतः ग़ाफ़िल मत होना, जीवनमें जितना समय शेष है उसे इनके साथ युद्ध करनेमें लगा देना। यदि इस भवमें ही इनको परास्त न कर सको तो भी कोई चिन्ताकी बात नहीं, इनके बलको आप क्षति पहुंचानेमें तो आज भी समर्थ हैं ही। यदि इनसे आज ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया तो आगेके भवोंमें भी आपकी इस ज्ञान-किरणको ये छीन न सकेंगे और इसप्रकार आपका युद्ध बाधित न हो सकेगा। तीन-चार भवोंमें बराबर युद्धको चालू रखते हुए एकदिन आप इनको पूर्णतः परास्त कर देंगे और अबाध, शाश्वत् व विकल्पमुक्त शान्ति-रानीको वर लेंगे।

संस्कारोंको ललकार-ललकारकर इनसे ठाना जानेवाला यह युद्ध ही आगम-भाषामें कहलाता है 'तप' तथा उसके फलस्वरूप होनेवाली सस्कार-क्षति 'निर्जरा-तत्त्व'। इसमें बहुत अधिक बल लगानेकी आवश्यकता है और इसीलिये इस तत्त्वको बड़े पराक्रमी व निर्भीक योगीजन ही मुख्यतः धारण किया करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसको तू आंशिक-रूपमें भी धारण नहीं कर सकता। तू इतना नपुंसक नहीं है। जितना बल लौकिक कार्योंमें लगाता है यहां भी लगा, शक्तिको छिपानेके-लिये बहाना न बना, यह तेरे हितकी बात है।

२. संस्कार-क्षति—शान्ति-प्राप्तिकी दिशामें पूर्व-संस्कारोंको तोड़नेके लिए, तपके द्वारा वर्तमान अल्प-स्थितिमें अपनाई जानेवाली उन क्रिया-विशेषोंको बतानेसे पहले, इस स्थानपर यह बतला देना आवश्यक है कि किसी भी अच्छे या बुरे लौकिक संस्कारको बनानेका क्रम पहले बताया जा चुका है (देखो १२.२)। बस उससे उल्टा क्रम संस्कार तोड़नेका होना चाहिये। यद्यपि संस्कार तोड़नेके इस क्रमको आप सब जानते हैं क्योंकि आपके अनुभवमें आया हुआ है, परन्तु विश्लेषण न कर सकनेके कारण वह जाना हुआ भी न जाननेके समान है, क्योंकि बिना विश्लेषण किये दीखनेवाली क्रियाके क्रमिक अङ्गोंके भान बिना, नवीन रूपसे उस क्रियाका प्रारम्भ करके उसके अन्तिम फलको प्राप्त करना असम्भव है। मैं आपको यहां कोई नई बात बतानेवाला नहीं हूं, यह बात वही है जिसे आप सब जानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि आप विश्लेषणरहित जानते हैं और मैं उसीका विश्लेष करके दिखा रहा हूं।

बन्ध-तत्त्वमें संस्कारको बनानके क्रमका विश्लेषण करते हुए यद्यपि चोरका दृष्टान्त दिया गया है, परन्तु सुलभतासे समझाया जा सके इस प्रयोजनसे यहां गालीके संस्कारको तोड़नेका दृष्टान्त दिया जा रहा है। आपकी दृष्टिसे बहुतसे व्यक्ति ऐसे गुजरे होंगे जो हर बातमें किसी गालीरूप अश्लील वचनका प्रयोग कर जाते हैं पर स्वयं यह जान नहीं पाते कि उन्होंने कोई भी अयोग्य वचन कहा है। एक लम्बे अभ्यासवश आज वह क्रिया उनकी अबुद्धि-पूर्वककी कोटिमें जा चुकी है। इसीको लोकमें तकियाकलाम कहकर पुकारा जाता है। स्वयं न जान पानेकी बात तो रही दूर, आपके द्वारा संकेत करनेपर भी उन्हें आपकी बातपर विश्वास नहीं आता और कह बैठते हैं कि 'नहीं-नहीं! मैंने तो कोई अश्लील वचन नहीं कहा है।' इतना पुष्ट हो गया है वह संस्कार कि उनके विवेकको सर्वथा ढक लिया है। वे दोष करके भी उसको स्वीकार करनेके-लिये

तैयार नहीं होते। दृष्टान्तमें उनके संस्कारको तोड़नेका क्रम बताया है। इसको तोड़नेके-लिये साधकको उत्तरोत्तर अनेकों स्थितियोंमें-से गुज़रना पड़ेगा।

पहली स्थिति तो वह अविवेक-पूर्णताकी ऊपर कही हुई स्थिति है जहां कि उसको दोषका स्वीकार ही नहीं होता। यह है पुरुषार्थ-हीनताकी स्थिति और इसलिये इसका समावेश अभीष्ट मार्गमें नहीं हो सकता। हां इससे आगेकी उस दूसरी स्थितिसे अवश्य मार्ग प्रारम्भ हो जाता है जबकि वह आपके सुझानेपर यह विचारने लगता है कि "ठीक ही होगा, गाली अवश्य मेरे मुंहसे निकली होगी, नहीं तो ये मुझे क्यों टोकते, इनको मुझसे कोई द्वेष थोड़े ही है"। और इसप्रकार आपके कहनेपर केवल विश्वासके आधारपर अपने अपराधको स्वीकार कर लेता है।

इससे आगे तीसरी स्थिति वह है जबकि कदाचित् अपने मुँहसे निकली गालीपर स्वतः ही उसका उपयोग चला जानेपर उसे यह भान होने लगे कि "हां, गाली निकलती तो अवश्य है, मेरे मित्र ठीक ही कहा करते हैं"। चौथी स्थिति वह है जबकि उसको अपने मुँहसे निकली उस गालीकी अनिष्टताका भान होने लगे कि "मेरी यह आदत अच्छी नहीं है, सभ्य-व्यक्तियोंको यह शोभा नहीं देती, इसे अवश्य त्यागना चाहिये" अर्थात् अपराध-सम्बन्धी निन्दा व उसे छोड़नेकी तीव्र-जिज्ञासा उसमें जागृत हो जाय। पांचवीं स्थिति वह है कि आपके द्वारा सावधान किये जानेपर तत्क्षण ही वह उसके मुंहसे निकला शब्द उसके ध्यानमें आ जाय और अन्तरंगमें वह अपने उस कृत्यपर पछताने लगे। छठी स्थिति वह है जबकि बिना आपकी सहायताके स्वतः ही, कह चुकनेके पश्चात् उसे भान होने लगे कि वह शब्द उसके मुँहसे निकल चुका है तथा अपने उस कृत्यपर पछताने लगे। यहां उसकी यह क्रिया अबुद्धि से बुद्धिकी कोटिमें आ चुकी है। सातवीं स्थिति वह है जबकि आधा शब्द निकला है और आधा शब्द निकलनेको ही था कि उसने उसे बलपूर्वक रोक लिया तथा हो चुकनेवाले आधे कृत्यपर वह अन्दर ही अन्दर अपनी निन्दा कर रहा है। आठवीं स्थिति वह है जबकि अन्दरमें बोलनेके प्रति अभी प्रयत्न या चञ्चलता हुई ही थी कि उसे इसका पता चल जाता है और वहीं उसे दबा देता है, बाहरमें बिल्कुल प्रगट होने नहीं देता और अन्तरमें भी क्यों प्रगट हुआ, उसकी चिन्ता करने लगता है। नवमी स्थिति वह है जबकि अन्तरमें वह चञ्चलता होनी ही बन्द हो जाती है। बस अब उसका वह संस्कार टूटा ही जानो।

गालीका संस्कार तोड़नेका एक लम्बे समयतक चलनेवाला वह पुरुषार्थ, विश्लेषण द्वारा नौ कोटियोंमें विभाजित करके दर्शाया गया। इसका यह अर्थ

नहीं कि सर्वत्र नौ ही कोटियां बनानेकी आवश्यकता है, तत्त्वको समझनेसे मतलब है। यहां ऊपरकी नौ स्थितियोंमें हम स्पष्ट देख रहे हैं कि प्रत्येक आगे-आगेकी स्थिति इष्टकी सिद्धिमें पहली-पहलीसे कुछ ऊंची है क्योंकि आगे-आगे संस्कारकी शक्तिमें कुछ हानि देखी जाती है। यदि ऐसा न हुआ होता तो पुरुषार्थका आगे बढ़कर अन्तिम फलको प्राप्त कर लेना असम्भव था। बस जितने अंशमें प्रतिस्थिति संस्कारकी शक्तिमें क्षति आई है उतने अंशमें उस संस्कारकी निर्जरा हुई है। पूर्ण क्षतिका नाम पूर्ण-निर्जरा या संस्कारसे मुक्ति है। क्रोधके संस्कारको तोड़नेका भी यही नियम है। किसी भी दूषित संस्कारको तोड़नेका यही क्रम है—१. अपराधका स्वीकार, २. अपराधका अनुभव ३. उसे तोड़नेकी जिज्ञासा व उस कृत्यकी निन्दा, ४. किसी अन्य की सहायता से उसका अबुद्धिसे बुद्धिकी कोटिमें आना तथा तत्सम्बन्धी पछतावा करना, ५. बिना किसीकी सहायताके बुद्धिकी कोटिमें आना तथा अपने कृत्य पर अपने को धिक्कारना, ६. आधा अपराध होनेपर आधेको रोक लेना और पछताना, ७. सम्पूर्णको बाहर प्रकट होनेसे रोक लेना तथा अन्तरमें उठे तत्सम्बंधी विकल्पको धिक्कारना, ८. अपराध सम्बन्धी अन्तर विकल्पको भी रोक लेना।

३. प्रतिकूल-वातावरण—बस यही क्रम है उन पुष्ट संस्कारोंको तोड़नेका जिनके कारण मैं अपनी इच्छाके बिना भी अपने अतिरिक्त अन्य चेतन व अचेतन पदार्थोंमें इष्ट व अनिष्ट भाव कर बैठता हूं और व्याकुलता-जनक विकल्पजालमें फंसकर अशान्त हो जाता हूं। उपरोक्त दृष्टान्तपर-से यह बात भी भली भांति सिद्ध हो जाती है कि इसप्रकार किया गया पुरुषार्थ प्रतिकूल वातावरणमें ही हो सकता है अनुकूल-वातावरणमें नहीं। घरके एकान्त कमरे में बैठकर गालीके संस्कारको तोड़नेका प्रयत्न नहीं किया जा सकता। जहां कोई दूसरा व्यक्ति ही न हो और बोलनेका अवसर ही न मिले तो कैसे चलेगा उसका पुरुषार्थ, कैसे पहुँचेगा ऊपर-ऊपरकी स्थितिमें ? अर्थात् क्रम चलना असम्भव हो जायगा। यह क्रम तभी चल सकता है जबकि उसके सामने कोई अन्य व्यक्ति हो जिससे बात करनेका अवसर उसे प्राप्त हो और गालीका शब्द मुंहसे निकलता हुआ हो।

इसीप्रकार उन-उन पदार्थोंमें इष्टता-अनिष्टता सम्बन्धी संस्कार भी तभी तोड़े जाने सम्भव हैं जबकि वे पदार्थ इन्द्रियोंके विषय बन रहे हों और विकल्प उठ रहे हों। मन्दिरमें बैठकर यह संस्कार-विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ किया नहीं जा सकता। क्योंकि जहाँ पदार्थ भी नहीं और विकल्प भी नहीं वहाँ किसको लायेगा बुद्धिकी कोटिमें, किसके प्रति करेगा पश्चाताप और अपने किस कृत्यको धिक्कारेगा ? अर्थात् घर-गृहस्थके प्रतिकूल-वातावरणमें

रहकर ही यह पुरुषार्थ किया जाना सम्भव है और वह वातावरण सहज ही आपको प्राप्त है ।

४. संवरमें निर्जरा—इसका यह तात्पर्य नहीं कि मन्दिरमें आनेसे अथवा संवर-अधिकारमें बताई जानेवाली विशेष-क्रियाओंसे उस पुरुषार्थकी बिल्कुल सिद्धि नहीं होती। कुछ अंशमें संवरके अंगरूप उन क्रियाओंसे भी इन संस्कारोंकी क्षति अवश्य होती है और उसे आप सब अनुभव कर रहे हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो आप आज उपरोक्त क्रमकी चौथी कोटिमें बैठे हुए न होते। अर्थात् इस प्रवचन द्वारा प्रेरित होकर अपने-अपने दोषोंको स्वीकार कर, अपने जीवनमें उनका अनुभव, उनके प्रति घृणा, उनको तोड़नेकी जिज्ञासा तथा यहां बताये जानेपर उन दोषोंकी अपने उपयोगमें पकड़ और उनके प्रति निन्दा, जो इस समय आपके हृदयमें उथल-पुथल मचा रही है,कदापि प्रकट न हो सकती।

अतः यह बात स्वीकार्य है कि जहां संवर होता है वहां निर्जरा भी अवश्य होती है। जहां कुछ समयके-लिये अनुकूल-वातावरणमें रहकर विकल्पोंको दबानेका पुरुषार्थ होता है वहां संस्कार भी अवश्य क्षीण होते हैं। परन्तु यहां निर्जराकी मुख्यताका प्रकरण है अर्थात् संस्कार-प्राबल्यके विच्छेदकी मुख्यताका जो संस्कार कि प्रतिकूल-वातावरणमें मुझे सब कुछ भुला देता है, सुने व सीखे सबपर पानी फेर देता है। तो फिर संवर व निर्जरामें अन्तर ही क्या रहा, दोनों एक ही तो हैं? नहीं अन्तर भी है। दोनोंमें होनेवाला पुरुषार्थ यद्यपि एक ही जातिका है अर्थात् विकल्पको रोकनेका है तथापि 'संवर' अनुकूल वातावरणमें रहकर विकल्पोंको दबानेका नाम है और 'निर्जरा' प्रतिकूल-वातावरण में रहकर विकल्पोंको उत्पन्न ही न होने देनेके प्रयत्नका। अर्थात् उत्पन्न होते हुए विकल्पोंको उपरोक्त क्रमसे रोकनेका नाम निर्जरा है। संवरमें भी पुरुषार्थ लगाना होता है, बुद्धिपूर्वक कुछ करना होता है और निर्जरामें भी। परन्तु संवरमें थोड़े बलसे ही काम चल जाता है जबकि निर्जरामें अधिक बलकी आवश्यकता होती है। अनुकूल-वातावरणकी अपेक्षा प्रतिकूल-वातावरणमें रहकर कोई काम करना अधिक कठिन है।

अनुकूल-वतावरणमें रहकर संवरके साथ-साथ होनेवाली निर्जरा करनेका बल तो हमारे अन्दर है ही परन्तु प्रतिकूल-वातावरण अर्थात् गृहस्थीमें रहकर निर्जरा करनेके अर्थात् संस्कारोंकी शक्ति अधिकाधिक क्षीण करनेके बलसे भी आज सौभाग्यावश हम शून्य नहीं हैं। शान्तिके जिज्ञासुका कर्त्तव्य है कि अपनी शक्तिको न छिपाकर संस्कार-क्षतिकी दिशामें उसका पूरा-पूरा प्रयोग करे, मनकी गहराइयोंमें छिपे संस्कारोंको ललकारे और उनसे युद्ध करे।



१५
मोक्ष-तत्त्व

<u>१. मोक्ष-तत्त्व</u>—समस्त संकल्पों-विकल्पोंके मूल संस्कारोंका निर्मूलन करके आत्यंतिकी शुद्धता व निर्मलताको प्राप्त, हे पवित्र आत्माओं ! क्या मुझपर दया न करोगे ? मुझको भी शक्ति प्रदान कीजिये नाथ ! जिससे कि मैं भी इन सर्व दुखद संस्कारोंका मूलोच्छेद कर सकूं, इनकी निर्जरा करके मुक्ति प्राप्त कर सकूं। शान्ति-मार्गके विवेचनमें सात तथ्य या तत्त्व विचारणाके लिये स्थापित किये गए थे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर तथा निर्जरा इन छः तत्त्वोंपर विचार कर लिया गया, अब बात चलनी है अन्तिम तत्त्व 'मोक्ष' की। 'मुच्' धातुसे बने मुक्ति शब्दका अर्थ है छूटना। छूटना किसी बन्धनसे ही होता है। जो बंधा ही नहीं उसका क्या छूटना? गाय रस्सेसे बँधी है, रस्सा खुलनेपर उससे मुक्त हो जाती है। सिंह पिंजरेमें बन्द है, निकल जानेपर पिंजरेसे मुक्त हुआ कहा जाता है। वनमें स्वतन्त्र विचरण करनेवाले सिंहकी क्या मुक्ति ? बन्दी-गृहमें पड़ा बन्दी ही मुक्त किया जा सकता है, स्वतन्त्र नागरिक नहीं। अतः मोक्षका अर्थ बन्धन-सापेक्ष है। जहां बन्धन नहीं वहां मोक्ष नहीं और जहां बन्धन है वहां मोक्ष भी है। मुझे अन्य पदार्थोंकी मोक्षसे कोई प्रयोजन नहीं, मुझे तो अपनी मोक्ष खोजनी है। मोक्ष खोजनेसे पहले अपना बन्धन खोजना होगा।

बाहरमें खोजनेपर तो कोई बन्धन दिखाई देता नहीं। बन्दी तो मैं हूँ नहीं, कुटुम्बादिने भी मुझे पकड़कर बिठा नहीं रखा है। स्वयं मेरी कल्पनायें ही बन्धन हैं और इसलिये इन कल्पनाओंसे छूटनेका नाम मोक्ष है अर्थात् अन्तरंग में पुष्ट वे संस्कार जिनसे प्रेरित होकर मैं ये सकल्प-विकल्प कर रहा हूँ उनसे छूटनेका, उनके विनष्ट होनेका नाम ही मेरी मुक्ति या मोक्ष है। इसका

उपाय निर्जरा व तपके प्रकरणमें आ चुका है। अर्थात् संस्कारोंसे रहित अपनी स्वाभाविक, पूर्णस्वतन्त्र व शान्त दशाका नाम मोक्ष है।

२. काल्पनिक मोक्ष—मोक्षके सम्बन्धमें जो कल्पनायें अबतक की हैं वे सब झूठी हैं क्योंकि वे शान्तिसे निरपेक्ष हैं। उन कल्पनाओंका झुकाव शान्ति की ओर न जाकर जा रहा है लोकके शिखरपर, आकाशके किसी विशेष क्षेत्र की ओर, अथवा अनुमानतः किसी पत्थरकी बनी हुई शिलाकी ओर, अथवा पहलेसे विराजमान अनेक शुद्ध आत्माओंकी ओर और इसलिए अनेकों संशय व संदेह उत्पन्न हो रहे हैं उसके सम्बन्धमें। भले मुखसे कहता हुआ डरता हूँ कि कहीं गुरुवाणीके प्रकोपका भाजन न बन बैठूं। पर इसप्रकार मुख बन्द कर लेनेसे हृदयकी शंकायें तो टल नहीं जातीं? बिल्लीके आनेपर यदि कबूतर आँख मूंद ले तो बिल्ली तो टल नहीं जाती? अन्तरंगमें झुककर देख, कुछ इस जातिके अनेकों संशय भरे पड़े हैं वहां या नहीं—"क्या रखा है मोक्षमें, न कुछ खानेको न कुछ पीनेको, न कुछ बैठनेको न कुछ सोनेको, न चलने-फिरने को न सैर करनेको, न सुन्दर व सुसज्जित महल रहनेको न मोटर व हवाई जहाज़ घूमनेको, न भाई-बन्धु बोलनेको न सुन्दर स्त्रियाँ भोगनेको। कुछ भी तो नहीं है वहां, बैठे रहो मुख सीये। बराबरमें अनेकों बैठे रहें वहां पर सब गुमसुम, मानो पत्थरके बुत गढ़कर बिठा दिये हों। यह भी कोई जीवन है? ज्ञान, ज्ञान की रट सुनते हैं पर क्या करें उस ज्ञानको? ओढ़े या बिछायें? किसीको बताया तक न जा सके, कुछ नया आविष्कार निकाला न जा सके, हुआ न हुआ बराबर है। आज इस उन्नतिके युगमें जब चारों ओर ज्ञानका चमत्कार दिखाई दे रहा है, ऐसे ज्ञानका क्या मूल्य? केवल अन्ध-श्रद्धानका विषय है, किये जाओ, परन्तु कबतक? एक रोज़ तो छोड़ना ही होगा।"

"मुझे नहीं चाहिये ऐसी मोक्ष। वर्तमानमें ही क्या कमी है मेरे पास? बड़े-बड़े महल, क़ीमतीसे क़ीमती वस्त्र व अलंकार, घूमनेको मोटर व जहाज़, बैठने-सोनेको ख़ूब गद्देदार डनलप-पिलोके सोफा-सैट व पलंग, खानेको स्वादिष्टसे स्वादिष्ट व्यञ्जन, भोगनेको देवांगना सरीखी स्त्री, बाल बच्चे, और क्या नहीं? इन सबको छोड़कर क्यों एक शून्य-स्थानमें जाऊँ जहाँ इनमें-से कुछ भी नहीं। पड़े रहो अकेले। इतना भी तो नहीं कि अपना ग़म किसीको सुना दूं। अरे रे! मोक्ष कहते हैं इसे? कोरी कैद है। भगवान् बचाये इस मोक्षसे। भला ख़ाली बैठे रहना कहीं शोभा देता है मनुष्यको? न भाई न! कोई बहुत बड़ा राजपाट भी दक्षिणामें दे और कहे कि किसी प्रकार मोक्ष लेलो, तो न लूं।"

फिर यह नित्य ही मोक्षकी रटना क्यों ? "मुझे क्या पता था कि वह मोक्ष इस प्रकारकी होगी ? मैं तो समझा था कि कोई आकर्षक वस्तु होगी, सारा जगत जिसके गुणगान करता है। सोचता था कि वह कुछ तो होगा ही, परन्तु खोदा पहाड़ और चुहिया भी तो न निकली। भला कौन स्वीकार करेगा जड़-सम बनकर पड़े रहना ? किसे अच्छा लगता है सोफा-सैटको छोड़कर पत्थरकी शिलापर पड़े रहना, यूं ही अचेतसा। और इसी प्रकारकी अनेकों कल्पनायें। भला विचारिये तो सही कि फिर भी इस मोक्षकी यह रटंत क्यों? इसमें साम्प्रदायिकताके अतिरिक्त और है ही क्या ? कुछ रूढ़ियां व पक्षपात्, और हंसी आ जाती है आज मोक्षका नाम सुनकर। पुराने जमानेकी बात कहाँसे लाये हो निकालकर विज्ञानके इस युगमें ?

३. भाव-मोक्ष—मोक्षका स्वरूप समझे बिना कैसे दबा सकेगा इन विकल्पों को और ये कल्पनायें दबाये बिना क्यों करने लगा इतने बड़े तपश्चरणादि का परिश्रम। अतः भाई मोक्ष-तत्त्वको जानना अत्यन्त आवश्यक है। "क्या इसको जाने बिना या इसकी श्रद्धा किये बिना अब तककी सारी पढ़ाई बेकार है ?" वास्तवमें ऐसा नहीं है, अब तककी सारी पढ़ाई एक अलौकिक देन है, उसकी अवहेलना मत कर, मोक्षका सच्चा स्वरूप जाननेका प्रयत्न कर।

लोक-शिखरमें स्थित आकाशके किसी टुकड़ेका नाम मोक्ष नहीं। मोक्ष-शिलाका नाम मोक्ष नहीं। वहांपर विराजे पूर्व-आत्माओंके सम्पर्कका नाम मोक्ष नहीं। तेजमें तेजकी भांति अपनेसे भिन्न किसी सत्तामें समा जानेका नाम मोक्ष नहीं। दीपकवत् बुझकर अपनी सत्ता नष्ट कर देनेका नाम मोक्ष नहीं। ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष नहीं। जड़ बनकर पड़े रहना भी मोक्ष नहीं। इतना कुछ प्रयास ऐसे मोक्षके लिये नहीं किया जाता। ऐसा मोक्ष लेना तो बहुत आसान है, खूब भरकर पाप करो, बस मिल जायेगी ऐसी मोक्ष। निगोदका रूप धारण करके पड़े रहोगे सागरोंके-लिये अचेत, लोक-शिखरमें, उसी पत्थरकी शिलापर, उन्हीं पवित्र आत्माओंके सम्पर्कमें।

भाई ! मोक्ष इतनी तुच्छसी वस्तु नहीं, वहाँसे दृष्टी हटा। मोक्षको बाहर में मत खोज, अपने अन्दरमें देख, उसीप्रकार जैसे कि अबतक आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा आदिको देखता आया है। मोक्ष किसी क्षेत्रका नाम नहीं है, बल्कि तेरी अपनी ही किसी दशा-विशेषका नाम है जिसमें न संकल्प है न विकल्प, न राग न द्वेष, न इच्छायें न चिन्तायें, न बाह्य पदार्थोंका ग्रहण न त्याग, न उनमें इष्टता न अनिष्टता। केवल है एक ज्ञायकभाव जिसमें सर्वप्राणी केवल प्राणी मात्र हैं, न है कोई पुत्र न है कोई पिता, न है कोई बहन न है कोई

माता, न है कोई मित्र न है कोई शत्रु, न है कोई राजा न है कोई रंक, न है कोई बड़ा न है कोई छोटा, न है कोई ब्राह्मण न है कोई शूद्र, न है कोई देव न है कोई तिर्यञ्च। जहां है एक साम्यता व शान्ति, विकल्प उठनेको अवकाश नहीं, प्रेरक संस्कारोंका आत्यन्तिक विच्छेद जो किया जा चुका है पहले ही।

विकल्पोंके अभावमें शरीरका निर्माण किस लिये करें? भिन्न-भिन्न रूप क्यों धारें? क्यों किसीको पुत्र मित्रादि बनायें? किसके-लिये यह सब जञ्जाल मोल लें? किसके-लिये धन कमायें? किसको वस्त्र पहनायें? किसके लिये भोजन बनायें? किसको पढ़ायें लिखायें? किसकी रक्षा करें तथा किसके-लिये भीख मांगें? जहाँ विकल्प ही नहीं वहां इच्छा किस बातकी? जहां शरीर नहीं वहां महल, सोफा, पलंग, स्वादिष्ट पदार्थ, सुन्दर-स्त्री आदिककी आवश्यकता ही कैसी? मित्रों आदिसे बातचीत करनेकी आवश्यकता ही क्या? आवश्यकता के बिना उनके प्रतिका पुरुषार्थ कैसा? पुरुषार्थके बिना व्यग्रता कैसी? व्यग्रताके बिना दुःख क्या और दुःखके बिना रहा ही क्या? केवल एक शान्ति जो तेरा स्वभाव है, तेरा सर्वस्व है। इन विकल्पोंके नीचे ही तो दबी पड़ी थी वह, कहीं भाग तो न गई थी जो कहींसे लानी पड़ती। ऊपरसे यह सब कूड़ा-कर्कट फूंक डाला, बस यह रही तेरी पवित्रता, शान्ति-रानी। और क्या चाहिए था तुझे? इसीको तो लक्ष्यमें लेकर चला था, इसीके-लिए तो लक्ष्यबिन्दु बनाया था, इसी के-लिए तो इतना लम्बा प्रयास किया था। बस मिल गई वह, अभीष्टकी प्राप्ति हो गई। जो करना था सो कर लिया, जहां जाना था वहां पहुंच गया, कृतकृत्य हो गया, मार्ग समाप्त हो गया। और क्या चाहिये? और कुछ चाहिये तो फिर वहीं जाना होगा, विकल्पोंमें, व्यग्रताओं व चिन्ताओंमें जिनको छोड़कर कि यहां आया है। इस पूर्ण व आत्यन्तिकी तेरी अपनी शान्तिका नाम ही तो मोक्ष है।

यहां न खोजकर वहां खोजनेके-लिए गया, तभी तो उस सेठने मोक्ष जाना स्वीकार न किया। क्योंकि वहां उसे न दिख सके अपने दस पुत्र, और न दिख सके दस कारखाने। क्या करता वहां जाकर? भाई! मोक्षकी सच्ची अभिलाषा है तो अभीसे इस बाह्य जञ्जालसे तथा इन सम्बन्धी अन्तरंग विकल्पोंसे धीरे-धीरे मुक्ति पाना प्रारम्भ कर। जितनी-जितनी इनसे मुक्ति पायेगा उतनी-उतनी अन्तरंगमें शान्ति प्रगट होगी। बस उतनी-उतनी ही मोक्ष हुई समझ। मोक्ष एकदम प्राप्त की जा सके ऐसा नहीं है। अन्य सर्व प्रक्रियाओंवत् इसकी प्राप्ति भी क्रम-पूर्वक धीरे-धीरे होती है। आंशिक-शांति, आंशिक-मोक्ष; पूर्ण-शांति, पूर्ण-मोक्ष; आंशिक-निर्विकल्पता, आंशिक-त्याग; पूर्ण-निर्विकल्पता, पूर्ण-त्याग;

पकड़ी जा सकती थी, परन्तु मुनीमके हृदयकी गति किसी और ही दिश में चली जा रही थी। बाहरमें बराबर चोरी कर रहा था और अन्तरङ्गमें, 'अरे! क्या कर रहा है तू? किसके-लिए कर रहा है यह इतना बड़ा अनर्थ? कितने दिन चलेगा यह कुछ? विश्वासघात करना क्या शोभा देता है तुझे? क्या मुंह लेकर जाता है सेठके सामने? क्या इसीका नाम है मनुष्यता?' और इसी प्रकार अनेकों धिक्कारें निकला करती थीं बराबर उसके अन्तस्तलसे। चोरी अवश्य करता था पर उसके हृदयने कभी उस धनको स्वीकार न किया, बराबर उसकी रक्षा करता रहा, पृथक हिसाब खोलकर बैंकमें डलवा दिया, एक कौड़ीको भी उसने हाथ न लगाया, मानो धरोहर थी उसके पास। कुछ दिन और बीत गये अपराधी प्रवृत्ति तथा हृदयके इस संघर्षमे और आखिर जीत हुई हृदयकी। डेढ़ वर्ष पश्चात् लाकर रख दिया बीसका बीस हजार रुपया सेठजीके चरणोंमें, और हाथ जोड़कर खड़ा रह गया किंकर्त्तव्य-विमूढ़सा। 'सेठजी, अपराधी हूं। मुझ जैसा दुष्ट सम्भवतः लोकमें कोई दूसरा न हो। विश्वासघात किया है मैंने। यह आपकी दुकानसे चुराया हुआ धन है। आश्चर्य न करें, मैं ही हूं वह चोर जिसने यह कुकर्म किया है। दण्ड दीजिये इस पापीको।'

इसीके समान एक दूसरे चोरको भी देखिये जो उसी दुकानपरसे चुरा रहा है और खा रहा है, मस्त मानो उसके बापकी ही है यह सम्पत्ति। भले साल भरमें केवल २०० रुपये ही चुरा सका हो पर उस चोरीमें रस ले रहा है वह। आप ही बताओ दोनोंमें चोर कौन? २०,००० चुरानेवाला या २०० चुरानेवाला? सोचमें पड़ गये? हृदयकी आवाजको छिपानेका प्रयत्न न कीजिये। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है कि आप समझ गये हैं इस रहस्यको।

८. अतिचार और अनाचार—लीजिये अब इसको सिद्धान्तका रूप दे दीजिये ताकि भविष्यमें शंकायें उत्पन्न होनेको अवकाश न रह जाय। व्रतीके अपराध दो प्रकारके होते हैं—एक अभिप्रायपूर्वक किया जानेवाला और दूसरा अभिप्राय-रहित प्रमादवश केवल किसी संस्कारके क्षणिक उदयवश किया जानेवाला; एक अच्छा समझ कर किया जानेवाला और एक आत्म-ग्लानि-सहित स्वयं हो जानेवाला। इन दोनोंमें-से पहले अपराधका नाम है 'अनाचार' और दूसरेका नाम है 'अतिचार'। अनाचारमें निरर्गलता होती है, 'किया तो किया सही, क्या बुरा किया? ठीक ही किया' ऐसा भाव रहता है और अतिचारमें उस प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न रहता है आत्म-

निन्दन व ग्लानि रहती है, 'यह तूने बहुत बुरा किया, तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था, अब किया तो किया, भविष्यमें तेरे द्वारा ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये' ऐसा भाव रहता है। और इसलिए अनाचार तुच्छ मात्र होते हुए भी बड़ा अपराध है और अतिचार पर्वत सरीखा होते हुए भी हल्का अपराध है।

अभिप्रायकी महिमा अपार है। बाहरमें अपराध न करनेपर भी अभिप्रायमें करनेकी बुद्धि होते ही अपराधी है और अभिप्रायमें न होते हुए स्पष्ट अपराध करता हुआ भी निरपराधी है, शीघ्र ही सुधरनेके योग्य है। धर्मी-जीवके जीवनमें लगनेवाले अपराध अतिचाररूप होते हैं अनाचाररूप नहीं। परन्तु बराबर बाहरसे आप लोगोंकी धुत्कारें पड़ती रहें, उसे सान्त्वना देनेका प्रयत्न न किया जाय तो हो सकता है कि वह अतिचार अनाचारमें परिवर्तित हो जाय। वह सोचने लगे कि 'लोकमें तो निन्दा हो ही चुकी, कोई तेरे साथ सहानुभूति करनेवाला दिखाइ देता नहीं, अतः अपराध करनेसे क्यों घबराता है? जब अपराधी ही बन गया तो दिल खोलकर कर' इत्यादि। इसप्रकार कल्याणके पात्रको आप ढकेल देंगे अकल्याणके गर्तमें। कितना बड़ा अनर्थ होगा? अतः भाई! गांठ बांधले इस बातको कि कभी किसीका दोष देखकर घृणा न करेगा। प्रेमपूर्वक समझा-बुझाकर उसका दोष टलवानेका प्रयत्न करेगा, और यदि वह न भी माने तो भी उससे द्वेष नहीं करेगा, माध्यस्थता ही धारेगा।

बाह्यके अपराधोंको न देखकर अभिप्रायको पढ़ना सीखो, अभिप्रायकी रक्षा करो। प्रवृत्तिमें-से दोष धीरे-धीरे स्वतः टल जायेंगे। अभिप्राय न बदलकर प्रवृत्तिमेंसे दोष टालना चाहोगे तो भले कुछ दिन रुके रहें, आयु पर्यन्त रुके रहें, पर अगले भवमें सही, एक रोज़ तो अवश्य जागृत होकर ही रहेंगे। अभिप्राय मूल है और प्रवृत्ति उसकी शाखा। मूलपर आघात करना ही बुद्धिमानी है, केवल शाखाको काटनेसे कुछ न होगा। इस गृहस्थ अवस्थामें भी भले अपराध प्रवृत्तिमें-से न टलें, पर अभिप्रायमें-से निरर्गलता व स्वच्छन्दता टल सकती है। यह महान कार्य है, इसे अवश्य कर डालो। अवसर मिला है इसे मत चूको।

६. आगे बढ़—यदि धीरे-धीरे अभ्यास करता चले और शक्तिको न छिपाये, तो क्रमशः अणुव्रती श्रावक बनकर उसकी जघन्य स्थितिसे उत्कृष्ट महिमापूर्ण श्रेणीमें पदार्पण करेगा, ऐसा निश्चय है। भय छोड़, यदि शान्ति का उपासक बना है तो शरीरसे ममत्व हटा, इस पर्यायमें आनेवाली बाधाओं से न घबरा।

तेरे समक्ष जो कदाचित् साधुओंके व्रतों आदिकी चर्चा की जाती है उस का प्रयोजन यह नहीं कि तुझे भी इस प्रकार करनेके लिये कहा जा रहा है, प्रत्युत यह बताना है कि शान्तिका मार्ग उतने मात्रपर समाप्त नहीं हो जाता जितना कि गृहस्थ-धर्ममें करनेके लिए कहा गया है। यदि उतने ही मात्रमें सन्तोष धार लेगा तो शान्तिकी पूर्णता न हो सकेगी। पूर्णताकी प्राप्ति के अभावमें कदाचित् तुझे मार्गपर अविश्वास न हो जाय इसलिए पूर्ण मार्ग जानना आवश्यक है। भले ही शक्तिकी हीनतावश उसका अंशमात्र ही जीवनमें उतारा जाय, परन्तु यह जानना आवश्यक है कि तेरेवाली उस प्रथम श्रेणीके अतिरिक्त जिसका अबतक कथन चला आ रहा है, दो और श्रेणियां भी हैं जो तेरे वालीसे उत्तरोत्तर ऊंची हैं। वे तुझमें बलकी वृद्धि हो जाने के पश्चात् ही धारी जानी सम्भव हैं। उनमेंसे प्रथमकी नं० २वाली श्रेणी तो श्रावककी है जिसे वानप्रस्थ भी कहते हैं और अणुव्रतीके रूपसे जिसका उल्लेख अभी-अभी किया जा चुका है। दूसरी नं० ३ वाली श्रेणी साधुकी है जिसे तपस्वी, योगी, मुनि, ऋषि, साधु, सन्यासी आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है।

इसका यह अर्थ भी न समझ लेना कि साधुओंकी क्रियायें सर्वथा आपके करनेकी नहीं हैं, और गृहस्थकी क्रियायें सर्वथा साधुको करनेकी नहीं हैं, बल्कि यह समझना कि ये क्रियायें मुख्यतया साधुओंके और आंशिक रूपमें गृहस्थके करने योग्य हैं। आगे सुनकर आप स्वयं जान जाओगे कि अबतक जो क्रियायें आपको करनेके लिये कहा गया है, वे साधुकी क्रियाओंके ही अल्परूप है और इन क्रियाओंके अतिरिक्त भी साधु-धर्ममें बताई जानेवाली कुछ क्रियायें हैं जो गृहस्थके द्वारा आंशिक रूपमें की जानी शक्य हैं। वे सब जीवनके प्रयोजन सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थियां सुलझाने वाली हैं, अतः ध्यानसे सुनना।



२९

साधु-धर्म

१. सामान्य परिचय—शान्तिपथपर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए जब मैं इस तृतीय श्रेणीमें पदार्पण कर जाऊंगा, अर्थात् साधु बन जाऊंगा, तब मेरा जीवन किमात्मक होगा, यह बात चलनी है, अर्थात् साधु-धर्मकी बात। गृहस्थ, श्रावक तथा साधु तीनोंके धर्मोंमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल निम्नोन्नत श्रेणियोंका, जघन्यता व उत्कृष्टताका। जो क्रियायें आपको अब तक जघन्य रूपसे करनेके-लिए कहा गया है प्रायः वही क्रियायें कुछ अन्यान्य विशेषताओंके साथ साधु उत्कृष्ट रूपसे करता है। दूसरी विशेषता यह है कि श्रावक-धर्ममें बाह्याचारकी प्रधानता है और साधु-धर्ममें अन्तरङ्ग आचारकी। उसका सकल बाह्याचर सूक्ष्म होकर अन्तरङ्गमें उतरता चला जाता है, जैसे कि उसे न अब देवदर्शन करना आवश्यक है और न प्रतिज्ञा-बद्ध सामायिक करे करे, न करे न करे। तत्त्वदर्शन ही अब उसका देवदर्शन है और समता ही उसकी सामायिक। अतः बाह्यमें देवदर्शन आदि करे या न करे, दोनों उसके-लिये समान है।

यद्यपि साधु-धर्मको किसी निश्चित वेष या लिङ्गकी सीमाओंमें बांधा नहीं जा सकता, तदपि लोक-व्यवहारके अर्थ किसी न किसी वेषमें तो उसे रहना होता ही है। विभिन्न सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार साधुओंके विभिन्न वेष उपलब्ध हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो साधुका अपना कोई वेष नहीं। निर्वेष ही उसका वेष है। अथवा यों कह लीजिए कि प्रकृति ने जिस वेषमें उसे उत्पन्न किया है वही उसका वेष है, अर्थात् शिशु अथवा पशु-पक्षीकी भांति यथाजात नग्नता ही उसका स्वाभाविक वेष है। इसमें कुछ भी कृत्रिमता करना अहंकारका कार्य है जिसके राज्यका वह उल्लंघन

श्यकता पड़ेगी यह पूछनेकी कि तू देव व गुरु किसे समझता है। यदि नग्न शरीर, केश-लुंचनादि तथा अन्य शारीरिक लक्षणों सहितको गुरु और अद्वितीय तेजःपुञ्ज-शरीरधारी तथा छत्र, चमर आदि सहितको देव मानकर, उन सम्बन्धी दृढ़श्रद्धा करे तो उसे तो सम्यक्त्व कहेंगे नहीं क्योंकि उसका नाम देव व गुरु है ही नहीं ? वास्तविक देव व गुरुको जाना नहीं, श्रद्धा किसकी करेगा ? कुल-परम्परासे नग्न-शरीरादि लक्षणोंको देखकर देवादि स्वीकार करना तो साम्प्रदायिक श्रद्धा है, अन्धश्रद्धा है। बिना परीक्षा किये कोई बात स्वीकार करना श्रद्धा नहीं। साम्प्रदायिक श्रद्धा तो अपने-अपने देव व गुरुके प्रति सबको ही है। यदि कहो कि मेरी श्रद्धा सच्चे देव-गुरुके प्रति है इसलिये यह सच्ची है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि बिना परीक्षा किये सच्चे व झूठेका पता कैसे चला ? तेरे पिताने कहा है कि वह सच्चे हैं, इसका नाम तो परीक्षा नहीं। आगे साधना-खण्डमें इस बिषयपर काफी प्रकाश डाला जानेवाला है।

शान्ति या वीतरागताके आदर्शका नाम देव व गुरु है, शान्ति व वीतरागता सम्बन्धी उपदेशका नाम शास्त्र है, शान्ति व वीतरागताको प्राप्त करने के मार्गका नाम धर्म है। बिना शान्तिकी पहिचानके कौन देव, कौन गुरु, कौन धर्म व कौन शास्त्र ? इसलिए शान्तिका अनुभव हुए बिना देव व गुरु आदिक की श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं कही जा सकती। अतः इस लक्षणमें शान्तिके अनुभवकी ही मुख्यता है।

२. दूसरा लक्षण है सात तत्त्वोंपर दृढ़श्रद्धान। अब तू ही बता कि सात तत्त्व किसे कहता है और उनकी श्रद्धा किसे मानता है? यदि सात तत्त्वोंके नाम तथा उनके भेद-प्रभेद मात्रको जानकर तत्सम्बन्धी श्रद्धा करनेको श्रद्धा कह रहा है तब तो वह सच्ची श्रद्धा है नहीं। ऐसी श्रद्धा तो प्रत्येक जैनीको है, पर सब सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इन सात बातोंमें हेयोपादेय-बुद्धि बनाकर हेयको त्यागनेके प्रति और उपादेयको ग्रहण करनेके प्रति झुकाव हो जावे; मोक्ष या पूर्णशान्तिका लक्ष्य बिन्दु बनाकर अजीव, आस्रव व बन्ध तत्त्वोंको हेय जानकर छोड़े और जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्षको उपादेय मानकर ग्रहण करे; अजीव, आस्रव तथा बन्धमें आकुलता देखे और जीव,संवर,निर्जरा तथा मोक्षमें शान्ति देखे। ऐसे सात तत्त्वोंकी एकत्वरूप श्रद्धाका नाम सच्ची श्रद्धा है। शान्तिके अनुभवके बिना वास्तविक रीतिसे हेयोपादेयका भेद नहीं किया जा सकता। भले गुरुके उपदेशके आश्रयपर मान लेता हो, पर वह तो श्रद्धान शब्दात्मक हुआ, रहस्यात्मक नहीं। अतः इस लक्षणमें भी शान्तिके वेदनकी ही मुख्यता है।

३. तीसरा लक्षण है स्वपर-भेददृष्टि । इस लक्षणमें तथा उपरोक्त सात तत्त्वोंवाले लक्षणमें विशेष भेद नहीं है । क्योंकि यहाँ हेय तत्त्वोंको 'पर' में और उपादेय तत्वोंको 'स्व' में समाविष्ट कर दिया गया है । 'स्व' अर्थात् मैं जीव हूं और संवर-निर्जराके द्वारा प्राप्त शान्ति ही मेरा स्वभाव है, मोक्ष मेरे ही स्व-भावका पूर्ण-विकास है । अजीव 'पर' तत्त्व है, इसके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले आस्रव व बन्ध मेरी शान्तिके घातक हैं । अतः अजीव, आस्रव, बन्धको 'पर' तत्त्व समझकर छोड़ और जीव, संवर, निर्जराको 'स्व' तत्त्व समझकर ग्रहण कर । शान्तिके अनुभव बिना कैसे जाने कि मैं 'जीव' कौन ? जीवको अर्थात् 'स्व' को जाने बिना 'पर' किसे कहेगा ? प्रकाशको जाने बिना अन्धकार किसे कहेगा ? केवल शरीर ही जीव-रूपसे दिखाई देगा । उसे ही तो छुड़ाना अभीष्ट है । भले जीवका नाम बदलकर 'मैं आत्मा हूँ, शरीरसे पृथक् हूं' ऐसा कह दे पर अनुभवके बिना वह आत्मा क्या, यह तो पता नहीं । शब्दोंमें आगम के आधारपर भले लक्षण कर दे पर अनुभवके बिना तेरे वे लक्षण अन्धेके तीरवत् ही तो हैं । इसलिए 'स्वपर-भेददृष्टि' में भी शान्तिका अनुभव ही प्रधान है ।

४. चौथा लक्षण है आत्मानुभव । सो तो स्पष्ट अनुभव रूप कहनेमें आ ही रहा है । आत्माका अनुभव क्या ? वह भी तो शान्तिका वेदन ही है । अनुभव तो स्वादका हुआ करता है, सुख व दुःखका हुआ करता है । जैसे सुई चुभनेका अनुभव सूईके ज्ञानसे कुछ पृथक् जातिका है । इसीप्रकार निजका अनुभव निजके ज्ञानसे कुछ पृथक जातिका है । ज्ञानमें वस्तुके आकारादि गुणों की प्रधानता होती है और उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान होना अल्पज्ञको सम्भव नहीं है, परन्तु सुख व दुःखका प्रत्यक्ष होना हरेकको सम्भव है । जैसे अन्धेको सूईका ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है पर उसके चुभनेका प्रत्यक्ष-वेदन होना सम्भव है । इसीलिए आत्मानुभवका अर्थ ही शान्तिरूप स्वभावका अनुभव है ।

५. स्वात्म-रुचि भी इसीका अंग है । 'उपयोगकी रुचि', निज-शुद्धस्वरूपमें रहना अर्थात् निज शान्तिके अनुभवकी रुचि है । पर-पदार्थोंमें जबतक रुचि रहती है तबतक निज स्वभावभूत शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती । अतः परपदार्थों की रुचि त्यागकर स्वात्म-रुचिका होना स्वात्मानुभवका कारण है । इसलिए स्वात्मरुचिको ही सम्यक्त्व कह दिया । और वही तो मैं भी कहता चला आ रहा हूं ।

अब बताओ कि इन पांचों लक्षणोंमें कहाँ भेद दीखता है ? शान्तिका वेदन हो जानेके पश्चात् ही स्वात्म-रुचि व आत्मानुभव हुआ कहा जा सकता

है। उसके होनेपर ही अपना स्वभाव अर्थात् 'स्व' तत्त्व दृष्टिमें आता है। इसके होनेपर ही 'पर' तत्त्वका यथार्थ भान होता है। उसके होनेपर ही शान्ति व अशान्ति, निराकुलता व व्याकुलता, सुख व दुःख, उपादेय व हेयक ज्ञान होता है। जिसने आजतक शान्ति ही नहीं जानी उसे क्या पता कि अशान्ति किसे कहते हैं? उसकी दृष्टिमें तो मन्द-अशान्ति, शान्ति है और तीव्र-अशान्ति, अशान्ति। उपरोक्त प्रकार हेयोपादेय भेद हो जानेपर ही सात तत्त्वों का भाव समझमें आता है। शान्तिका वेदन हो जानेपर ही शान्तिके आदर्श देव व गुरुका तथा शान्तिके उपदेशरूप शास्त्रका व शान्तिके पथरूप धर्मका भान होता है। अतः सर्व लक्षणोंमें एक शान्तिका ही नृत्य हो रहा है।

जिसने शान्तिको नहीं चखा, वह कैसे जान सकता है कि मैं कौन हूँ? 'मैं' को जानें बिना क्या जाने कि जीव या आत्मा किसे कहते हैं। अपनेको जाने बिना दूसरे जीवोंको कैसे जाने? जिसप्रकार अपने सम्बन्धमें कल्पनायें करता है उसी प्रकार दूसरोंके सम्बन्धमें भी करेगा। कैसे जान पायेगा कि जीव-तत्त्व क्या है? जीव-तत्त्वको जाने बिना अजीव-तत्त्वकी क्या पहिचान करेगा? क्योंकि जीवके संसर्गसे यह अजीव-तत्त्व बिल्कुल जीववत् चेतन दिखाई दे रहा है। जीवकी पहिचानके बिना उसमें भेद कैसे करेगा? शान्ति या निर्विकल्पताके अनुभव बिना विकल्पोंकी पहिचान क्या करेगा? विकल्पोंकी पहिचान बिना आस्रव-बन्ध किन्हें कहेगा तथा निर्विकल्पता व शान्तिके वेदन बिना संवर, - निर्जरा व मोक्ष किसे कहेगा? कोरी कल्पनायें ही करेगा और इसके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है? शान्तिका अनुभवात्मक या रसात्मक स्वरूप जाने बिना किसे शान्तिका आदर्श कहेगा, किसे देव व गुरु कहेगा, किसे शान्तिका मार्ग व उपदेश कहेगा, किसे धर्म व शास्त्र कहेगा? अतः सर्व-लक्षणों में शान्तिका वेदन तथा उसके प्रतिके झुकावरूप श्रद्धा ही प्रधान है।

एक ही की प्रधानता होते हुए भी भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंवाले शिष्योंके प्रति बोधनार्थ भिन्न-भिन्न लक्षण किये गये हैं। शान्तिका नमूना दिखानेके-लिये देव-गुरुकी श्रद्धा कही गई है, क्योंकि मार्गका श्री-गणेश यहांसे ही करना है। शान्तिका नमूना देखे बिना उसके प्रतिका झुकाव कैसे होगा और झुकाव हुए बिना पुरुषार्थ क्या करेगा? झुकाव हो जानेपर भी यथार्थ उपदेश प्राप्त किये बिना पुरुषार्थ क्या करेगा? अतः प्राथमिक शिष्यको देव, गुरु, धर्म व शास्त्रकी श्रद्धावाला लक्षण बहुत हितकारी है। इनके प्रति बाह्यकी रुचि व श्रद्धाके आधारपर ही कदाचित् वह यथार्थ-शान्तिको स्पर्श कर सकता है। हेयोपादेयको जाने बिना किसके ग्रहण व त्यागका प्रयास करेगा, इसलिये

सात तत्त्वोंकी श्रद्धा भी प्राथमिक शिष्यके-लिए बड़ी कार्यकारी है। 'स्वपर'में ऊपरी भेद जाने बिना किसके प्रति उदासीन होगा और किसके प्रति झुकाव करेगा, इसलिये प्राथमिक दशामें ऊपरी 'स्वपर' भेद जानना भी बहुत कार्यकारी है। इसप्रकार देखनेपर भी इन तीनों बाह्य लक्षणोंमें शान्तिका लक्ष्य ही पुकार रहा है।

इस प्रकार पाँचों लक्षणोंमें शब्दोंका भेद होते हुए भी अभिप्रायकी एकता है।

२. सम्यक्त्वके अंग—अहो! आध्यात्मिक प्रकाशकी महिमा! जिसका लक्ष्य शान्तिकी ओर गया उसका जीवन बदल गया, उसकी विचारणाओंकी दिशा घूम गई, उसकी रीति अटपटी-सी भासने लगी। सामान्य जगतको उसकी बातोंपर आश्चर्य होता है। वह जगतको और जगत उसे मूर्ख समझने लगता है। परन्तु साधारण व्यक्ति बेचारे क्या जानें कि उसके अन्तरंगमें क्या बीत रही है। शान्तिका उपासक पद-पदपर शान्तिका स्वाद लेनेमें मग्न हुआ चला जा रहा है, अन्य सब स्वादोंका तिरस्कार करता हुआ। उसके ढंग निराले हैं, उसके जीवनमें अनेकों चिन्ह या लक्षण स्वाभाविक रूपसे उत्पन्न हो जाते हैं, जिनको वह बुद्धिपूर्वक नहीं बनाता। लौकिकजन भी उसकी नक़ल करके अपने जीवनमें ज़बरदस्ती उन लक्षणोंको बनाना चाहते हैं, जिससे कि वे भी किसी प्रकार धर्मियोंकी श्रेणीमें गिने जाने लगें। क्या करें बेचारे, धर्मी बननेकी उत्कण्ठा ही ऐसी है जो उन्हें यह कृत्रिम स्वांग खेलनेको बाध्य करती है। परन्तु उसके द्वारा अपने अन्दर उत्पन्न किये गये वे चिन्ह बिल्कुल पैबन्द सरीखे भासते हैं, उस कौवेवत् जिसने कि मोरके पंख चढ़ाकर अपनेको मोर बनाना चाहा। धर्मी-जीवके इन लक्षणोंको ही सम्यक्त्वके अंग या गुण कहते हैं।

इन लक्षणोंपर-से धर्मी जीवको या उस जीवको जिसका लक्ष्य शान्तिपर केन्द्रित हो चुका है, भलीभाँति पहिचाना जा सकता है। अन्य भी शान्तिके इच्छुक उसके जीवनमें इन गुणोंका साक्षात्कार करके अपने इस विश्वासको दृढ़ बना सकते हैं और वह धर्मी स्वयं भी इन गुणोंपर-से अपनी परीक्षा कर सकता है कि कहीं मार्गसे विचलित तो नहीं हो गया। इनमें-से कुछ इसप्रकार हैं—१. निःशंकता, २. निराकांक्षता, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन या उपबृंहण, ६. स्थितिकरण ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना, ९. प्रशम, १०. संवेग, ११. अनुकम्पा, १२ आस्तिक्य, १३. मैत्री, १४. प्रमोद, १५. कारुण्य और १६. माध्यास्थता। आगे इन्हींका पृथक्-पृथक् विस्तार करनेमें आता है।

(१) शांतिका उपासक दृढ़तया निश्चय कर बैठा है कि वह चैतन्य है, निर्बाध है, अमूर्तीक है, ज्ञानपुञ्ज है, शान्तिका स्वामी है, कोई भी उसके इन स्वभावोंमें बाधा डालनेको समर्थ नहीं। इसलिये उसमें एक निर्भीकतासी उत्पन्न हो जाती है, कोई अलौकिक साहस जागृत हो जाता है। वह इस कुछ थोड़ेसे वर्षों मात्रके जीवनमें अपनेको सीमित करके नहीं देखता, भूतकालमें अनादिसे चले आये और भविष्यत कालमें अनन्त कालतक चले जानेवाले सम्पूर्ण जीवनों तथा रूपोंको फैलाकर एक अखण्ड जीवनके रूपमें देखने लगता है। इसलिये मृत्यु उसकी दृष्टिमें खेल हो जाती है। एक खिलौना लिया तोड़ दिया, दूसरा लेकर खेलने लगा, बस इसके अतिरिक्त और मृत्यु है भी क्या? इस शरीरके त्यागका नाम वह मृत्यु समझता ही नहीं, केवल पुराने वस्त्र उतारकर नवीन वस्त्र धारण करनेवत् समझता है, सरायके एक कमरेको छोड़कर दूसरे कमरे में चला जाना मात्र समझता है जो सम्भवतः पहलेवालेसे कुछ अच्छा है। मृत्यु उसकी दृष्टिमें रूप-परिवर्तन मात्र है, विनाश नहीं। उसमें उसे कोई हानि दिखाई नहीं देती। हानि दिखाई देती है केवल एक ही बातमें और वह है उसकी शान्तिमें बाधा। उसे सब कुछ सहन है पर शान्तिका विरह सहन नहीं। अतः उन संकल्प-विकल्पोंको मृत्यु समझता है जो क्षण-क्षणमें आकर उसे बाधित करनेका प्रयत्न करते हैं। उसका जीवन शरीर नहीं शान्ति है।

वह हर प्रकारसे निर्भय रहता है। १. उसे लोकमें किससे भय लगे? लौकिक कोई भी शक्ति शरीरको बाधा पहुंचा सके तो कदाचित् किसी अपेक्षा पहुंचा सके पर उसकी शान्तिको बाधा पहुंचानेमें स्वयं उसके अतिरिक्त कोई समर्थ नहीं। इस जीवनमें कोई उसके शरीरको बाधा न पहुंचा दे, इस बातका उसे क्या भय? २. अगले भवमें कैसा शरीर या वातावरण मिले, इस बातकी उसे क्या चिन्ता? कुछ मिले या न मिले, उसकी शान्ति उसके पास है। ३. शरीरका विनाश उसका विनाश नहीं अतः उसे मृत्युसे क्या डर? ४. शरीर की ही परवाह नहीं तो रोग आनेकी क्या चिन्ता? ५. उसे किसी अन्यके द्वारा अपनी रक्षाकी क्या आवश्यकता? ६. उसकी शान्ति स्वयं उसमें गुप्त रूपसे सुरक्षित है, अतः किसी गुप्त स्थानमें छिपकर इस शरीरकी रक्षाका भाव उसे क्यों आये? ७. 'अकस्मात् ही कोई बड़ा कष्ट न आ पड़े, बिजली न गिर पड़े, बम न गिर पड़े' इत्यादि भयको कहां स्थान? इसप्रकार सातों मुख्य भयोंसे मुक्त निर्भीक-वृत्ति वह सिंहकी भांति बराबर अपनी शान्तिकी रक्षा करनेमें तत्पर हुआ, आगे बढ़ता चला जाता है।

लोक कुछ भी कहे पर वह किसीकी सुनता नहीं। उसका एक ही लक्ष्य है—'आगे बढ़ो, शान्तिकी ओर। मृत्यु आ जाय परवाह नहीं, इससे पहले जहां

तक हो सके बढ़ो। मृत्युके पश्चात् अगले जीवनमें पुनः वही पुरुषार्थ चालू करो, उस स्थानसे आगे जहां कि इस जीवनमें छोड़ा है'। पीछे मुड़कर देखना उसका काम नहीं। लोग बेचारे सहानुभूति करें, दया दर्शायें, पर वह किसीकी नहीं सुनता। जानता है कि इन बेचारोंको नहीं पता कि मैं कहां जा रहा हूं ? अतः केवल हँस देता है उनकी बातोंपर और चल देता है आगे। वह जानता है कि लोगोंकी सहानुभूति शरीरके साथ है, उसकी शान्तिके साथ नहीं, अतः उनके कहनेपर अपना मार्ग नहीं छोड़ता। उसके हाथमें है (Excelsior) 'ऊंचे ही ऊंचे' की पताका, इसकी लाज बचाना ही उसका कर्त्तव्य है। ओह कितनी निर्भीकता ? कोई कृत्रिम-रूपसे अपनेमें प्रगट करना चाहे तो क्या सम्भव है ? ऊपरी प्रवृत्तियोंमें या शरीरादिकी क्रियाओंमें भले प्रगट न होने दे पर अन्तरमें पड़े भयको कैसे टाले, हृदय तो कांप ही रहा है। यह निर्भीकता ही है उसका निःशंकित गुण, अर्थात् उसे भयकी शंका स्वभाविक रीतिसे नहीं होती। यह शंका हो सकती है कि ज्ञानीको भी भय होता तो देखा जाता है ? इस प्रश्नका उत्तर आगे निर्विचिकित्सा-गुणके अन्तर्गत दिया गया है, वहांसे जान लेना।

अथवा "मैं जीव हूं, शान्तिका पुञ्ज हूं, अन्य कुछ नहीं। अन्यसे मुझे कुछ लाभ-हानि नहीं, इन क्षणिक विकल्पोंके अतिरिक्त अन्य कोई मेरा शत्रु नहीं, विस्तृत रूपसे साधना-खण्डमें निर्णय किया गया देवदर्शन आदि प्रवृत्तियोंरूप मार्ग ही मेरा मार्ग है, पूर्ण शान्ति ही मेरी मोक्ष है।" हेयोपादेय तत्त्वोंका इसप्रकार अनुभवात्मक निर्णय हो जानेपर कौन शक्ति है जो उसके इस श्रद्धानमें कम्पन उत्पन्न कर सके ? स्वयं भगवान् भी आयें तो वह अपना विश्वास बदलनेको तैयार नहीं। उसने अहितको व हितको स्वयं साक्षात् रूपसे मुंह-दर-मुंह खड़ा करके देखा है। कैसे भूले उसे ? उसका श्रद्धान पूर्व में बताये अनुसार चौथी कोटिकी श्रद्धामें प्रवेश पा चुका है (देखो ५.३)। अतः 'यह ऐसे है कि ऐसे' इस प्रकार तत्त्वोंमें या गुरु-वाक्योंमें उसे शंका क्यों उपजे ? स्वाभाविकरूपसे ही उसकी इस प्रकारकी सर्व शंकायें मर चुकी हैं। यह भी उसकी निःशंकताका ही दूसरा लक्षण है।

लौकिकजन भले उसकी देखमदेखी गुरु-वाक्योंमें ज़बरदस्ती शंका उत्पन्न न करें। "जिन-वचमें शंका न धारो गुरुका ऐसा उपदेश है। यदि तत्त्वों आदिमें शंकायें करूंगा, युक्ति व तर्क करूंगा, संशय करूंगा, तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा, अतः चुप ही रहना ठीक है" ऐसा मानकर तत्त्व समझनेके-लिये प्रश्न भी करते डरते हैं। अरे प्रभु ! सम्यक्त्व है ही नहीं, घाता क्या जायेगा ? शांति

पर लक्ष्य है ही नहीं, बिच्छेद किसका होगा। भले शब्दोंमें न कहे पर हृदयमें उत्पन्न हुई शंकायें कैसे दबायेगा? 'यदि ऐसा करूंगा तो सम्यक्त्व घाता जायेगा' ऐसा भय ही तो शंका है। वह तो उठ ही रही है! भगवन्! यह तेरी शंका तो तुझे जागृत करने आई है। सावधान हो। अपनेको झूठमूठ धर्मी मान बैठा है, केवल बाह्यकी कुछ क्रियायें करनेके आधारपर, सो तेरी कल्पना झूठी है। ऐसा झूठा सन्तोष त्याग। वस्तु कुछ और ही है, उसे तू आजतक जान नहीं पाया है, शास्त्र पढ़े हैं पर रहस्य नहीं समझा है, अतः उसे समझ और पूर्वकथित मार्गपर चल। अपने जीवनको उस सांचेमें ढाल, शान्तिका अनुभव कर और तब प्रगटेगी तेरी निःशंकता। यूं नकल करनेसे तुझे क्या लाभ? जबरदस्ती शंकाओंको दबानेका नाम निःशंकता नहीं बल्कि स्वाभाविक रूपसे अन्तरंग अनुभवात्मक निर्णयके कारण शंकाको अवकाश ही न रहे, इसका नाम निःशंकता है। धर्मीको ऐसी ही निःशंकता होती है बनावटी नहीं।

(२) शान्तिके उपासकको शान्तिके अतिरिक्त किसी बातकी अभिलाषा नहीं और शान्ति स्वयं उसके पास है, बाहर कहींसे आनी नहीं। इन्द्रिय-भोगों के प्रति उसे बहुमान नहीं। क्या मांगे बाहरके संसर्गोंसे? 'इस लोकमें मैं सुखी रहूं, मुझे कोई बाधा न आवे, खूब धन हो, स्त्री हो, कुटुम्ब हो, ख्याति हो इत्यादि' तथा 'मृत्युके पश्चात् परलोकमें मुझे कोई अच्छी गति मिले, मैं नरक, पशु आदि गतियोंमें न जाऊं, देव ही बनूं या राजा आदि पदोंकी प्राप्ति हो इत्यादि' ऐसी आकांक्षायें उसे होती ही नहीं। उसके-लिये सब योनि समान हैं। सब उसीके एक अखण्ड जीवनके भिन्न-भिन्न रूप हैं (देखो ७.२), किसके प्रति आकर्षित हो? देव-गतिमें ही क्या विशेष आकर्षण है जो नरकगतिमें नहीं? देवगति तो उसकी दृष्टिमें है तेतीस सागरकी कैद। चाहते हुए भी और शक्ति के होते हुए भी शान्ति-पथपर आगे न बढ़ सके, इससे बड़ा दुःख और क्या होगा उसे? हृदय मसोसकर रह जाता है, क्या करे कैद पूरी हुए बिना उसे कुछ करनेकी आज्ञा नहीं है। नरक-गतिसे भी उसे कोई द्वेष नहीं है, उसे तो शान्ति चाहिये। नरक ही क्या, इससे भी बुरी कोई योनि हो तो स्वीकार है, परन्तु शान्ति मिलनी चाहिये। अतः धन-सम्पत्ति या सुन्दर-शरीर आदिकी, इस भवके-लिये या अगले भवोंके-लिये उसे कदापि आकांक्षा नहीं होती। बाह्य-सुविधा और बाह्य-बाधा उसकी दृष्टिमें समान हैं। भोगादिके सुख उसे सुख भासते नहीं, आकांक्षा किसकी करे? व्यवहारमें या निश्चयमें, किसी प्रकार भी उसे आकांक्षा होती नहीं। आकांक्षा है केवल एक अपनी शान्तिकी रक्षाकी, अन्य कुछ नहीं। और तो और 'विदेह क्षेत्रमें जाकर प्रभुके दर्शन करनेसे मुझे कुछ लाभ होगा, अतः किसी प्रकार विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न हो जाऊं तो अच्छा',

इस प्रकारकी भी आकांक्षा नहीं। उसका प्रभु सर्वदा उसके पास है, नित्य ही वह उसका साक्षात्कार करता है, अतः वह आकाँक्षा भी क्यों हो? यह है उसका निःकांक्षित गुण।

उसकी देखमदेखी लोग भी शब्दोंमें 'मुझे स्वर्गादि भोग नहीं चाहियें, वर्तमानमें भी यह भोग-सामग्री मेरेलिये कोई विशेष आकर्षक नहीं, मुझे कुछ आकांक्षा नहीं और यदि स्वर्गादि या भोगादिकी आकाँक्षा करूंगा तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा, इत्यादि', इस प्रकार भले शब्दोंमें कहता रहे पर अन्तरङ्गमें पड़े इनके प्रतिके आकर्षणको कैसे दबाये? वहां तो बराबर आकांक्षा छिपी हुई है ही। और रूपमें न सही पर 'विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न हो जाउं तो भगवान्के दर्शनसे कुछ लाभ उठाऊं', ऐसी आकांक्षा तो मुखपर भी आ ही जाती है। मुखपर लाना भी देखमदेखी या सुन-सुनाकर रोकले तो अन्तरंगमें पड़ी आकाँक्षाका क्या करेगा? सम्यक्त्व है ही कहां जो कि इस आकांक्षासे घाता जायेगा। प्रभो! यह उपाय नहीं है इसे दबानेका। यदि नक़ल ही करके आकांक्षा दबाना इष्ट है तो पूर्वकथित मार्गके अनुरूप अपने जीवनको ढालनेका प्रयत्न कर! स्वतः टल जायेगी सब आकांक्षायें। धर्मी-जीवोंका निःकांक्षित गुण कृत्रिम नहीं होता, स्वाभाविक होता है। वह नक़ल करके अपनाया नहीं जाता, जीवनमें परिवर्तन करके अपनाया जाता है।

(३) शान्ति व सुन्दरतामें ओत-प्रोत वह लोकमें सर्वत्र शान्ति ही का प्रसार देखता है। चेतन-अचेतन पदार्थोंका निर्णय किया है, उसपर दृढ़श्रद्धान किया है, अपने सर्व लौकिक व्यवहारोंमें भी उस निर्णयका प्रयोग करनेका सर्वदा प्रयास करता रहता है। सर्व विश्वको एक अद्वैत ब्रह्म या ईश्वरके निवास-स्थान या अपने द्वारा की गई सृष्टिके रूपमें देखता है (देखो २०.१०), इसीलिये पदार्थोंको उनके असली रूपमें देखता है। उनके क्षणिक इन बाह्य रूपोंमें सुन्दरता व असुन्दरता उसे दीखती ही नहीं। जड़ हो कि चेतन सर्वमें उस-उस जातिके रूपको ही देखता है। लोकमें दीखनेवाले जड़के सुन्दर-असुन्दर रूपोंमें केवल जड़त्वका और चेतनके मनुष्य-पशु, धनवान्-निर्धन, स्वस्थ-रोगी आदि रूपोंमें केवल चेतनत्वका ही उसे भान होता है। बाहरके इन रूपोंकी उसकी दृष्टिमें कोई सत्ता नहीं, क्योकि जो अब है कल नहीं, उसकी क्या सत्ता (देखो ९··)? अब सुन्दर है और कल असुन्दर, अब मिष्टान्न है और कल विष्टा, तीन दिन पीछे फिर अन्न और फिर मिष्टान्न। इन रूपोंका क्या मूल्य? बहुरूपियेका स्वांग है। वह ज्ञानी इस स्वांगसे भलीभाँति परिचित है। उसे इस स्वांगमें क्यों भ्रम होने लगा। इसीलिये उसे मिष्टान्नके प्राप्त आकर्षण और विष्टाके प्रति घृणा नहीं होती, किसी पुरुषमें मित्रता और किसीमें

शत्रुताका मान नहीं होता, किसीमें अपनत्व और किसीमें परत्वका भाव नहीं उठता। यही है उसका निर्विचिकित्सा गुण।

तू तो कुछ सोचमें पड़ गया है भाई यह सुनकर। सम्भवतः सोच रहा हो कि गृहस्थकी या ऊपरकी भी यथायोग्य भूमिकाओंमें, ज्ञानीकी यथार्थतया यह दशा देखनेमें नहीं आती, क्योंकि कोई भी मिष्टान्नकी बजाये विष्टा खानेको तैयार नहीं और गृहस्थ-ज्ञानी भी पिता व पथिकमें एकत्व माननेको तैयार नहीं। फिर एकता कैसे कहते हो? तेरा विचार ठीक है भाई! ऐसा ही है, तनिक गहराईमें उतरकर अभिप्रायकी परीक्षा कर, बाह्य क्रियाको मत देख। यह प्रकरण सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धाके गुणोंका है, चारित्रके गुणोंका नहीं। अभिप्रायमें साम्यता आ जानेपर तुरत चारित्रमें साम्यता आना आवश्यक नहीं। अभिप्राय पूर्व-क्षणमें ही पूरा हो जाता है परन्तु उसके अनुरूप जीवन बनानेमें बहुत देर लगती है। धीरे-धीरे जीवन या चारित्र भी आगे चलकर उसके अनुरूप अवश्य बन जाता है। देख गृहस्थ-अवस्थामें रहते हुए जो व्यक्ति पिता व पथिकमें या मित्र व शत्रुमें कुछ भेद-व्यवहार करता था, साधु बननेके पश्चात् बिल्कुल नहीं करता। यह गुण क्या उसमें एकदम प्रगट हो गया? नहीं, गृहस्थ-अवस्थामें ही साधनाके प्रथम क्षणसे प्रगट होना प्रारम्भ हुआ था, यहाँ आकर पूर्ण हुआ। पूर्ण हो जानेसे पहले भले तू उसे न देख पाये, पर वह उसके जीवनमें किंचित् भी न हो ऐसा नहीं था। गृहस्थ अवस्था में भी इस प्रकारका भेद-व्यवहार करनेसे वह संतुष्ट नहीं था, उसे अपनी इस प्रवृत्तिके प्रति घृणा थी, वह इसके-लिए अपनेको धिक्कारा करता था और बराबर इस भेद-बुद्धिको दूर करनेका प्रयत्न करता था। उस समय उसके अभिप्रायमें साम्यता अवश्य थी, उसीने बढ़ते-बढ़ते चारित्रका रूप धारण किया है।

इसप्रकार योगी होनेके पश्चात् भी विष्टा व मिष्टान्नमें भेद रहता है परन्तु अभिप्रायमें जाकर देखे तो अभेद ही है। क्योंकि उसे इस बातका दृढ़ निर्णय है कि दोनों ही पदार्थ केवल ज्ञेय हैं भोज्य नहीं, भले शक्तिकी हीनता व शरीर के रागवश उनको भोगनेका विचार आता है परन्तु यह विचार अनिष्ट है। बाहरमें प्रगट दीखनेवाला यह भेद इस रागका कार्य है, अभिप्रायका नहीं। अभिप्रायमें तो यही है कि 'कौन दिन आये कि खाने-पीनेके रागसे मुक्त हो जाऊं?' बस जिस दिन ऐसी अवस्थामें प्रवेश कर जाता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामें, तो वह अभिप्राय ही पूर्व-दृष्टान्तवत् साकार होकर सामने आ जाता है। साधु-अवस्थातक उसे पूर्व-दृष्टान्तवत् इस भेद-बुद्धिके प्रति बराबर आत्मनिन्दन होता रहता है।

विष्टासे तू भी घृणा करता है और एक ज्ञानी भी, पर महान अन्तर है दोनोंकी घृणामें। तेरी घृणाके पीछे पड़ा है यह अभिप्राय कि यह घृणा तेरे लिए हितकर है और उसके अन्दरमें पड़ा है यह अभिप्राय कि यह घृणा उसका दोष है, त्याज्य है, जितनी जल्दी छूट जाय अच्छा है। इसीप्रकार एक भंगी व ब्राह्मणमें भी भले वर्तमान-रागवश या पूर्व संस्कारवश वह कुछ भेद करता हो, भंगीसे बचनेका प्रयत्न करता हो परन्तु अभिप्रायमें अपने इस कृत्यकी निन्दा करता है, इसे त्याज्य समझता है, जबकि तू इसे ही अपने-लिए हितकारी समझता है। बिल्कुल इसीप्रकार निःशंकित-गुणमें कथित ज्ञानी व अज्ञानी की भयरूप प्रवृत्तिमें भी अन्तर समझ लेना।

धर्मीका ऐसा स्वभाव ही है। वह कोई बनावट करके यह बात पैदा नहीं करता। उसमें अकृत्रिम-रूपसे स्वतः ही यह भाव उत्पन्न होता है। किसीकी देखमदेखी या सुन-सुनाकर शब्दोंमें कोई इस साम्यताका गुणगान करने लगे और घृणा न करे तो वह गुण प्रगट हुआ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अन्तरंगमें पड़ी घृणाको कैसे निकालेगा? बनावटी-रूपसे घृणा न करे तो निर्विचिकित्सा गुण नहीं बनता। अभिप्रायमें अन्तर पड़ना चाहिये जो बिना वस्तु-स्वभाव समझे नहीं हो सकता अर्थात् आत्मानुभव हुए बिना नहीं हो सकता।



सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सा गुण। कुष्टिकी सेवामें रत महात्मा गान्धी।

साधारण चेतन व अचेतन द्रव्योंके प्रति तो उपरोक्त प्रकार घृणाका अभाव हो ही जाता है परन्तु इसके अतिरिक्त विशेष गुणी जीवोंके प्रति यही परिणाम कुछ और विशेषता धारण कर लेता है। शान्तिके उपासक अन्य जीवोंके

प्रति उसे इतना प्रेम व आकर्षण हो जाता है कि यदि कदाचित् ऐसे किसी जीवके शरीरमें कोई रोग हो जावे, उसमेंसे मल आदि बहने लग जावे, उसमें दुर्गन्धि उत्पन्न हो जावे, उसकी ऐसी दशा हो जावे कि किसीका पास खड़ा रहना भी कठिन हो जावे, तो वह धर्मी-जीव उसकी हर प्रकारसे सेवा करनेसे बिल्कुल ग्लानि नहीं करता बल्कि उसकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझता है। उसके मल-मूत्रको अपने हाथपर उठानेमें भी उसे संकोच नहीं होता, कफ या नासिकाके मलको अपने हाथमें धारण कर लेनेपर भी ग्लानि नहीं होती। उन पदार्थोंके प्रति अल्पावस्थाके कारण जो कुछ ग्लानि उसकी प्रवृत्ति में दिखाई देती थी, वह उस पात्रके गुणोंके प्रति जो बहुमान उसे उत्पन्न हुआ है, उसमें दबकर रह गई है। यह है उसका निर्विचिकित्सा गुण।

अहो शान्तिकी महिमा! जिसके कारण बिना प्रयासके ही इतने गुण स्वतः प्रगट हो जाते हैं। कितना बड़ा कुटुम्ब है इस शान्तिका? बात चलती है धर्मी-जीवके गुणों अथवा उसके लक्षणोंकी, जिनपरसे यह निर्णय किया जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्मी है कि अधर्मी अर्थात् शान्तिका उपासक है कि भोगोंका? उसके अनेक गुणोंमें-से तीन गुण निःशंकता, निराकांक्षता, व निर्विचिकित्साकी बात कल चल चुकी। आज अगले कुछ गुणोंकी बात चलती है।

४. अनुभवके आधारपर शान्तिका व शान्तिके आदर्शका दृढ़तया निर्णय हो जानेके कारण, शान्तिके आस्वादके प्रति अत्यन्त बहुमान उत्पन्न हो जानेके कारण तथा शान्तिके अतिरिक्त अन्य सर्व प्रयोजन लुप्त हो जानेके कारण, अब उसका स्वाभाविक बहुमान शान्तिके आदर्शभूत देव-गुरु-शास्त्रके प्रति अथवा शान्तिरूप धर्मके प्रति अथवा इनके उपासकोंके प्रति ही रहता है, किसी अन्यके प्रति नहीं। यह बात कृत्रिम नहीं होती, क्योंकि लोकमें भी ऐसा देखनेमें आता है कि जुवारीका बहुमान जुवारीके प्रति ही होता है, अन्यके प्रति नहीं। उसमें उसकी दृष्टि भ्रमको प्राप्त होती नहीं। इसीका नाम है अमूढ़दृष्टिपना।

इसका यह अर्थ नहीं कि उनके अतिरिक्त अन्य सर्वसे उसे द्वेष हो जाता है। अपने पुत्रसे प्रेम करनेका यह अर्थ नहीं कि दूसरोंके पुत्रोंसे आपको द्वेष हो। राग व द्वेषके अतिरिक्त एक तीसरी बात भी होती है जिसे माध्यस्थता कहते हैं। आप सबको भी माध्यस्थ-परिणामका मान है, परन्तु यह पकड़ नहीं है कि माध्यस्थता उसीका नाम है। देखिये आपके घरके आगेसे अनेकों व्यक्ति आ रहे हैं और जा रहे हैं। आप अपने बरामदेमें खड़े होकर सबको देख रहे हैं। बताइये उनसे आपको प्रेम है कि द्वेष? न प्रेम है न द्वेष, यह आप भली भाँति जानते हैं। फिर भी उनको क्यों देखते हैं? इसीका नाम

माध्यस्थता है। इसमें न देखने व बोलनेका कोई अभिप्राय है और न उनके निषेधका। बस इसी प्रकारका माध्यस्थभाव उन अन्य व्यक्तियों आदिके प्रति उसे रहता है। न उनके प्रति बहुमानका कुछ अभिप्राय है और न निषेधका।

इसी गुणके सम्बन्धमें ठीक-ठीक परिचय न होनेके कारण आज साम्प्रदायिक विद्वेषको अमूढ़दृष्टिपना ग्रहण करनेमें आ रहा है, जिसके कारण आज हम अन्य देवी-देवताओंकी निन्दा व अविनय करने तकको तैयार हो जाते हैं, उनके प्रति मुख करके खड़ा होना भी आज हमें सहन नहीं। या तो ऐसे स्थानोंपर जाते हुए ही हम घबराते हैं और यदि किसीके दबावके कारण जाना भी पड़े तो उनकी तरफ़ पीठ करके खड़े हो जाते हैं कि कहीं उनका प्रभाव न पड़ जाये। ऐसा करनेमें हमें इतना भी विचार नहीं रहता कि उनके उपासक जो अन्य भक्तजन हैं, उन्हें हमारी इस प्रवृत्तिको देखकर कितना दुःख होगा। साक्षात् हिंसा होते हुए भी हम उसे गुण मान बैठे हैं? भगवन्! इसका नाम अमूढ़दृष्टिपना नहीं है यह साम्प्रदायिक विद्वेष है, यह गुण नहीं महान दोष है, अमूढ़-दृष्टि नहीं मूढ़-दृष्टि है। उसके प्रति पीठ घुमानेका अर्थ है यह कि आप उनमें कुछ विशेषता देख रहे हैं। यदि सामान्य दृष्टिसे देखा होता तो अपने घरके सामनेसे गुज़रनेवाले व्यक्तियोंमें तथा उनमें क्या अन्तर था? जैसे माध्यस्थ भावसे उन जाते हुए व्यक्तियोंको देखते थे वैसे ही माध्यस्थ भावसे उनको भी देख लेते, क्या बाधा आती थी? अतः भगवन्! अब वीतरागी गुरुओंकी शरणमें आकर इस साम्प्रदायिक विद्वेषको त्याग। सबके प्रति माध्यस्थता धारण कर।

५. शान्ति-पथपर बराबर आगे बढ़नेवाला जीव, उसमें बाधा पहुंचानेवाले अपने अपराधोंके प्रति सदा जागृत रहता है, एक क्षणको भी उनसे ग़ाफ़िल नहीं होता। इसीलिये वह सदा अपने जीवनमें दोष ही दोष ढूंढ़नेका प्रयत्न करता है। यद्यपि उसको अनेकों गुण प्राप्त हो चुके हैं पर उनके प्रति उसकी दृष्टि नहीं जाती। पूर्णताके लक्ष्यमें उसे कमी ही कमी दिखाई देती है। इस कमीको जिस-किस प्रकार भी दूर करना अपना कर्त्तव्य समझता है। अपने गुणोंके प्रति दृष्टि चली जानेसे अभिमान उत्पन्न हो जाता है। ओह! 'मैं इन लौकिक रंक-जीवोंसे कितना ऊंचा हो गया हूं', ऐसा अभिमान उसे ऐसी खाईमें ढकेल देगा जहांसे वह उठनेका नाम भी न ले सकेगा।

इसके विपरीत उसे अन्य जीवोंके जीवनमें गुण ही गुण दिखाई देते हैं। गुणोंके प्रति बहुमान जो है उसे, गुणोंको अपने जीवनमें उत्पन्न जो करना है उसे? गुणोंका वह सच्चा ग्राहक है। बाज़ारमें जायें तो स्वभावतः आपकी

दृष्टि उन पदार्थोंपर ही पड़ती है जिनकी कि आपको आवश्यकता है, अन्यपर नहीं। उसीप्रकार किसी भी अन्य व्यक्तिके जीवनमें उसकी दृष्टि गुणोंपर ही पड़ती है दोषोंपर नहीं, भले ही उसमे दोष पड़े रहें। उनकी उसे आवश्यकता ही नहीं, क्यों देखे उनकी ओर ?

तात्पर्य यह कि वह सदा अपने दोषोंको देखता है और दूसरेके गुणोंको, अपने दोषोंको प्रगट करता है और दूसरोंके गुणोंको, अपने गुणोंको छिपाता है और दूसरोंके दोषोंको, अपनी निन्दा करता है और दूसरोंकी प्रशंसा। दूसरोंके दोषोंको छिपाने या गोपनेके कारण उसके इस गुणका नाम उपगूहन है और साथ-साथ अपने गुणोंमें वृद्धि करते जानेके कारण इस गुणका नाम उपबृंहण है।

आज हमारे जीवनका अधिक भाग बीता जा रहा है बिल्कुल इससे विपरीत दोषमें अर्थात् अपनी प्रशंसा करते हुए व दूसरोंकी निन्दा करते हुए। आज दूसरोंके अनहुए या तृणवत् दोष भी हमें बहुत बड़े भासते हैं और अपने अन्दर पड़े हुए शहतीर जितने बड़े दोष भी दिखाई नहीं देते। अपने अनहुए गुण भी प्रकट करते हुए और दूसरोंके अनहुए दोषोंका भी ढंढोरा पीटते हुए हर्ष मानते हैं। यह प्रवृत्ति बड़ी निकृष्ट है। इसमें अब ब्रेक लगा प्रभु ! अपने हितके लिए दूसरोंके लिए नहीं। आत्मप्रशंसा व परनिन्दा करनेसे दोषोंमें वृद्धि और आत्मनिन्दा व परप्रशंसा करनेसे गुणोंमें वृद्धि होती है। गुरुदेवकी शरणमें आकर गुणोंमें वृद्धि कर दोषोंमें नहीं।

(६) शान्तिके उपासकका लक्ष्य पद-पदपर अपनी शान्तिकी रक्षा करना है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्थामें जब-जब अपनी शक्तिकी हीनतावश वह अपनी शान्तिसे च्युत होता है तब-तब पुनः उसीमें स्थित होनेका बराबर प्रयास करता है, ऐसा उसका स्वभाव हो गया है। क्यों न हो ? क्या दुकानमें हानि हो जानेपर उसमें लाभ प्रगट करनेके लिए, स्वभावतः ही आप अधिकाधिक प्रयास नहीं करते हैं ? यह ही है उसका स्व-स्थितिकरण।

इतना ही नहीं अपनी शान्तिके आस्वादसे छूट जानेपर उसे जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। चक्रवर्तीके षट्खण्डका राज्य छूट जानेपर भी उसे इतनी पीड़ा नहीं होती होगी। इसलिए अन्य शान्तिके उपासकोंकी पीड़ा भी उसके लिए असह्य है। 'अरे ! इतनी दुर्लभ वस्तुको, अत्यन्त सौभाग्यवश प्राप्त करके भी,यह प्राणी इन कुछ बाह्य बाधाओंके कारण उसे छोड़नेको तैयार हो गया है ? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मेरे होते यदि वह शान्तिकी रक्षा न कर सका तो मेरा जीवन निरर्थक है' तथा इसी प्रकारके अन्य

अनेकों विचार स्वतः अन्तरमें उठकर उसे बेचैन बना देते हैं और उसे उस जीवकी यथायोग्य रक्षा करनेके-लिए बाध्य कर देते हैं, चाहे इस प्रयोगमें उसे कुछ क्षति ही क्यों न उठानी पड़े। यदि आर्थिक परिस्थितिके कारण वह मार्गसे विचलित हो रहा है तो धन देकर या उसके योग्य कोई काम देकर उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि शारीरिक रोगके कारण वह मार्गसे विचलित हो रहा है तो योग्य औषधि देकर तथा शारीरिक सेवा करके उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि किसीके मिथ्या उपदेश या कुसंगतिके कारण मार्गसे च्युत हो रहा है तो योग्य उपदेश देकर उसे पुनः वहाँ स्थित करनेका प्रयत्न करता है। तथा अन्य भी किन्हीं कारणोंवश यदि वह ऐसा कर रहा है तो जिस-किस प्रकार उसकी यथायोग्य सेवा करनेको वह हर समय उद्यत रहता है। याद होगी आपको वारिषेण ऋषिकी कथा। अपने शिष्य पुष्पडालको मार्ग पर स्थित करनेके-लिए अयोग्य कार्य करनेसे भी वे न डरे। यह जानते हुए भी कि इस कार्यसे लोकमें मेरी निन्दा हो जायेगी, वे उसे अपने महलमें ले गये और अपनी सकल सुन्दर रानियोंको पूरा शृङ्गार करके सामने आनेकी आज्ञा दी। इस सर्व कार्यमें उनका अभिप्राय खोटा नहीं था, केवल पुष्पडालके मनकी शल्य निकालना था। बस इस स्वाभाविक गुणका नाम है स्थितिकरण।

हमारी प्रवृत्ति बिल्कुल इसके विपरीत है। किसी साधकके जीवनमें किंचित् दोष लगा कि चारों ओरसे धुतकारें आनी प्रारम्भ हुई। भगवन्! रोकिये इस प्रवृत्तिको। कषायकी शक्ति विचित्र है, बड़े-बड़े नीचे गिरते देखे गये हैं, गिरते को गिरानेका प्रयत्न न कीजिये। जिस-किस प्रकार भी उसे उठानेका प्रयास कीजिये, उसे धुतकारिये नहीं बल्कि पुचकारिये, बिल्कुल उसीप्रकार जिस प्रकार कि चलना सीखनेवाले अपने बालकको आप पुचकारते हैं जबकि वह चलता-चलता गिर जाता है।

(७) शान्तिकी उपासनासे उसके अन्दर एक यह गुण भी प्रगट हो जाता है कि जहां भी किसी अन्य अपनी बिरादरीके व्यक्तिको देखा, अर्थात् किसी भी अन्य शान्तिके पथिकको देखा कि उसके हृदयमें एक उल्लास उत्पन्न हुआ, जिसका कारण वह स्वयं भी नहीं जानता क्योंकि ऐसा उसका स्वभाव ही है। किसी दूर देशमें आपके नगरका कोई साधारणसा व्यक्ति मिल जाय तो मिलने व बोलनेको जी चाहता है उससे। आपका यह गुण नगर-वात्सल्य है और इसी प्रकार उसका वह गुण शान्तिपथ-वात्सल्य है, जिसके कारण एक प्रमोद उमड़ पड़ता है उसके हृदयमें। 'इसे मैं सर पर बैठा लूं या क्या करदूं' ऐसा किंकर्त्तव्य-विमूढ़सा उसकी ओर आकर्षित हो अन्दर ही अन्दर फूल उठता है वह।

क्यों न फूले, अपनी शान्तिका स्वाद लेते समय भी तो यही हालत होती है उसकी ? उसके इस स्वाभाविक गुणका नाम है 'वात्सल्य'।

उसकी देखमदेखी कृत्रिम रूपसे भले कोई वात्सल्य या प्रेम प्रगट करना चाहे परन्तु जबतक उस जीवमें शान्तिके दर्शन होते नहीं तबतक उसकी कृत्रिमताका भान अन्तरंगमें साक्षात् होता रहता है। ऐसे कृत्रिम वात्सल्यका नाम वात्सल्य नहीं है।

(८) शांतिके आस्वादनसे प्रभावित होकर उसका जीवन बराबर उसकी ओर बढ़ता जाता है। किसी ऐसे साञ्चेमें ढलता जाता है कि जिसे देखकर लोगोंको आश्चर्य होता है। कुटुम्बादि व धनादिकी तो बात दूर रही, शरीरसे भी उपेक्षा होती चली जाती है उसे, विरक्तता बढ़ती जाती है उसकी, साम्यता व सरलता आती जाती है उसमें, जिसके कारण द्वेषादिका पता नहीं पाता, सबके प्रति कल्याणकी भावना जागृत हो जाती है उसके हृदयमें। ऊपर बताये हुए सात महान गुण तथा इनके अतिरिक्त अनेकों अन्य गुण प्रगट हो जाते हैं, जीवन अलौकिक बन जाता है, ऐसाकि उन्हें देखकर अन्य जीव भी आर्कषित हुए बिना न रह सकें, प्रभावित हुए बिना न रह सकें। यह है उसका प्रभावना गुण।

'सर्वजीवोंका कल्याण हो,किसी प्रकार शान्तिके प्रति उन्हें भी बहुमान हो', ऐसी शुभाकाँक्षा लेकर वह बाहरमें भी अनेक प्रकारके उत्सव तथा शान्तिके प्रदर्शन करता है ताकि साधारणजन उसे देखकर कुछ प्रभावित हों और उनके हृदयमें शान्तिके-लिए जिज्ञासा उत्पन्न हो। उसकी देखमदेखी लौकिक जीवों द्वारा जो उत्सव आदि किये जाते हैं उसका नाम प्रभावना गुण नहीं है क्योंकि उनकी उन क्रियाओंमें-से केवल साम्प्रदायिकता झांक रही है,शान्ति नहीं। आजके उत्सव आदिमें केवल धनका प्रदर्शन है, जीवनका नहीं। वैराग्यके प्रकरण-स्वरूप भगवान्की पंच-कल्याणक प्रतिष्ठायें भी आज शान्ति व वैराग्य प्रदर्शनसे शून्य केवल खेल-तमाशा बनकर रह गई हैं, जिसमें ढोल-बाजोंके अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकारके मेलोंपर लाखों रुपया व्यर्थ खोकर भले यह समझ लिया जाय कि धर्म-प्रभावना हुई पर यह धन-प्रभावना है, धर्म-प्रभावना नहीं।

(९) शान्तिमें स्नान करते रहनेके कारण उसके जीवनमें इतनी सरलता व साम्यता आ जाती है कि क्रोधादिकी तीव्रता तो दूर लौकिक स्वार्थका भी अभाव हो जाता है। उसके रोम-रोममें शान्ति खेलने लगती है सबकी पीड़ाको अपनी पीड़ा समझने लगता है। उसको देखकर दूसरोंको भी कुछ शान्ति प्रतीत होती है, ऐसा है उसका प्रशम गुण।

बाह्य विषय-भोगोंमें अब उसे रस नहीं आता। शान्तिके सामने इनका क्या मूल्य ? हलवा-मांडा खानेको मिले तो सूखी ज्वारकी रोटी कौन खाये ? अतः भोग सामग्रीसे उसे स्वतः ही अन्तरङ्गमें कुछ उदासीनतासी हो जाती है। कृत्रिम-रूपसे देखमदेखी इस सामग्रीका त्याग करनेका नाम उदासीनता नहीं है। उनका त्याग न करके भी गृहस्थमें रहते हुए ही इनमें पूर्ववत् रस आना बन्द हो जाय, ऐसा वैराग्य या संवेग उत्पन्न हो जाता है। संसारके इस जञ्जालसे मानो अब उसे कंपकंपीसी छूटने लगती है। घरमें संचित पदार्थोंका ढेर देखकर उसका कलेजा हिलने लगता है। जिस कमरेको बड़ी रुचिपूर्वक उसने सजाया था, आज मानो वह उसे खानेको दौड़ रहा है। संसारके प्रति उसे कुछ भयसा उत्पन्न हो जाता है। यही है उसका निर्वेद गुण।

(११) दुःखी जीवोंको देखकर स्वतः ही बिना किसी स्वार्थके उसका कलेजा पसीज उठता है। 'अरे ! यह भी तो शान्तिका पिण्ड है। उसे भूलकर बेचारा संतप्त है आज। अवश्य ही इसकी पीड़ाका निवारण होनी चाहिए' इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प खड़े हो जाते हैं और अपनी शक्ति अनुसार यथायोग्य रूपमें उसकी पीड़ाकी निवृत्तिका उपाय करता है, ऐसा है उसका स्वाभाविक करुणा व दया गुण।

(१२) शान्तिका साक्षात् वेदन हो जानेपर, 'अरे ! यह रहा मैं तो, अन्तरङ्गमें प्रकाशमान, व्यर्थ ही ढूंडता फिरा इधर उधर' ऐसा भाव प्रगट हो जाता है, उसके सम्बन्धमें अब उसे कोई शंका नहीं होती, चाहे कोई कितना भी कहे वह दृढ़ रहता है। आँखों-देखी बातको कौन अस्वीकार कर सकता है ? बस इसीप्रकार स्वयं अनुभवकी हुई अपनी सत्ताके प्रति कौन संशय कर सकता है। अपनी सत्ताका निर्णय हो जानेपर स्पष्टतया अन्य प्राणियोंकी सत्ताका निर्णय हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि उन सबमें उसे अपना जातिपना दिखाई दे रहा है। अपने जातिपनेसे रहित अन्य जड़ या अचेतन पदार्थकी सत्ताका भी अनुभवात्मक व रहस्यात्मक निर्णय हो जाता है। समस्त विश्वकी सत्ताका निर्णय ही उसका आस्तिक्य गुण है। 'अस्ति' शब्दका अर्थ है 'होना'। होनेपनेके निर्णयको अर्थात् पदार्थोंकी सत्ताके निर्णयको आस्तिक्य कहते हैं। 'जो वेदोंको माने सो आस्तिक, जो न माने सो नास्तिक', आस्तिक्य व नास्तिक्यकी इस व्यख्या में साम्प्रदायिकता झांककर देख रही है, अतः यह व्याख्या ठीक नहीं है। 'वस्तुकी सत्ताको स्वीकार करे सो आस्तिक, इसकी सत्ता को स्वीकार न करे सो नास्तिक' ऐसी व्याख्या ही ठीक है।

परन्तु सुन-सुनाकर 'मैं हूं, जीव है, अजीव है, विश्व है' इत्यादिरूप स्वीकृति भी वास्तवमें आस्तिक्य नहीं है। क्योंकि अनुभवके बिना, 'मैं कौन

तथा अन्य कौन' यह जान नहीं पड़ता । केवल अन्धोंकी भांति टटोलकर भले कहता रहूं कि यह जीव है, अजीव है इत्यादि ।

(१३) सर्व विश्वके प्राणियोंको शान्तिके निवास-रूपमें देखता है, उनमें अपनी जाति व बिरादरीको देखता है । उनके दोष अव्वल ता दीखते नहीं और यदि दीख भी पावें तो उसे उनका रोग समझता है । इसलिए बजाये द्वेषके करुणा करता है, सबसे प्रेम करता है, सबके कल्याणकी भावना करता है, अपकारीका भी हित चाहता है तथा उसे हित मार्गपर लगानेका प्रयास करता है । छोटे-बड़े सर्व जीवोंमें समानता देखता है, सबमें उसे अपना ही रूप अर्थात् एक चैतन्य दिखाई देता है (देखो २०-१०) । यह है उसका सर्व-सत्वके प्रति मैत्री भाव ।

(१४-१६) प्रमोद-गुणकी बात वात्सल्य नामक सातवें गुणके अन्तर्गत आ चुकी है, कारुण्यकी बात अनुकम्पा नामक ग्यारहवें गुणके अन्तर्गत और इसी प्रकार माध्यस्थताका कथन भी अमूढ़दृष्टि नामक चौथे गुणमें समा गया है । इन तथा अन्य अनेकों गुणोंसे विभूषित वह शान्तिका उपासक आज कितना सौम्य हो चुका है ? कोटि जिह्वाओंसे भी उसकी महिमाका गान कौन कर सकता है ? 'धन्य हैं वे महा भाग्य' इसके अतिरिक्त शब्द ही नहीं हैं मेरे पास ।



१७

समन्वय



१. सप्ततत्त्व समन्वय—दर्शन-खण्डके प्रारम्भमें धर्मके अनेक लक्षण बताते हुए एक लक्षण श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र बताया गया था। उन तीनोंका तथा श्रद्धाके आधारभूत सात तत्त्वोंका कथन अबतक विस्तारके साथ किया गया। उस सकल विस्तारमें सर्वत्र इस बातपर ज़ोर दिया गया कि पाठक इन तीनोंको अथवा इन सातोंको पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्र कुछ न समझकर एक ही जीवनोपयोगी अखण्ड-मार्गके विभिन्न अंग समझे, जिसप्रकार कि हाथ पांव आदि एक ही अखण्ड-शरीरके विभिन्न अंग हैं। खण्डकी समाप्तिपर यहां पुनः इन सर्व अंगोंका एकीकरण कर देना आवश्यक है।

वास्तवमें श्रद्धा व ज्ञानके विषय सम्बन्धी सातों तत्त्वोंका शाब्दिक परिचय मात्र ही हो सका है अर्थात् इनका शाब्दिक ज्ञान ही हुआ है, परन्तु इनके रसात्मक रहस्यका अनुभव नहीं हो सका है। यदि हो जाता तो इन सातों तत्त्वोंमें भी भेद देखनेमें न आता और उपरोक्त धर्मके तीन अंगोंमें भी भेद दिखाई न देता। इसलिए यह शाब्दिक ज्ञान वास्तविक महत्ताको प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी 'इस शाब्दिक ज्ञानके बिना श्रद्धा किसकी करे और जीवनमें किसे उतारे', इस दृष्टिसे देखनेपर इस ज्ञानकी भी महिमा अपार हो जाती है। परन्तु यह महिमा उसीके-लिए है जो इसे जानकर इसके अनुसार अपने जीवनमें कुछ परिवर्तन करनेका प्रयास करे। केवल शब्दोंके जाननेमें सन्तोष धारले तो ज्ञान हुआ और न हुआ बराबर है, उल्टा अभिमान का कारण बनकर और भी अनिष्ट कर सकता है।

यहांतक कथित सात खण्डोंमें विभक्त इस विस्तृत वक्तव्यके अनुसार अपने जीवनको ढालनेके-लिए इन सातोंमें परस्पर क्या मेल है यह जानना आवश्यक है। क्योंकि भले ही जाननेमें या बतानेमें शब्दोंकी क्रमिकताके

कारण इस अखण्ड एक विषयके सात खण्ड बन गये हों, पर जीवनमें यह सात-खण्ड-रूपसे उतारा नहीं जा सकता। जैसेकि पहले (देखो ६.१) में एक श्रद्धाके विषयको प्रयोजनवश विश्लेषण करके सात भागोंमें विभाजित किया गया, उसी प्रकार अब वह प्रयोजन पूरा हो लेनेपर उन सातों खण्डोंका एकीकरण करना आवश्यक है, क्योंकि श्रद्धा वास्तवमें सात नहीं है। जिसप्रकार रोगका प्रतिकार करनेके-लिये वैद्यके द्वारा बताई गई औषधिका जो प्रयोग करनेमें आता है, उसकी आधारभूत श्रद्धामें भले सात खण्ड पड़े हों पर वह श्रद्धा एक है; इसीप्रकार इस विकल्परोगके प्रशमनार्थ जो प्रयास जीवनमें किया जाने वाला है, उसकी आधारभूत श्रद्धामें ये सात खण्ड भले पड़े हों पर श्रद्धा एक है। और वह इस प्रकार :—

मैं वास्तवमें शान्तिका पिण्ड तथा चैतन्यात्मक अमूर्तीक पदार्थ हूं, परन्तु अपनेको व अपने अन्दर पड़ी शान्तिको भूल जानेके कारण मैं इन दोनोंकी खोज शान्ति व अशान्ति-विहीन अचेतन तथा मूर्तीक शरीर अथवा धनादि जड़ पदार्थोंमें करता फिर रहा हूं। बिल्कुल उस मृगकी भांति जिसकी नाभिमें छिपी है गन्ध, पर उसे बाहरमें खोजता हुआ उसे कहीं न पाकर व्याकुल हो रहा है, मैं भी व्याकुल बना हुआ हूं। यह जीव व अजीव तत्त्वकी एकता हुई। उपरोक्त भूलके कारण नित्य ही नए-नए विकल्प व इच्छायें धारण करके, इच्छाओं सम्बन्धी पुष्ट संस्कारोंको और अधिक पुष्ट करते हुए, व्याकुलतामें प्रतिक्षण वृद्धि करता रहता हूं। यह मेरा अपराध है और इसीको आस्रव-बन्ध तत्त्व कहते हैं। जीव-अजीव तत्त्वके साथ आस्रव-बन्धका इसप्रकार मेल बैठा लेनेपर यह चारों मिलकर एक हो जाते हैं। यदि उन्हीं जीव और अजीव में स्वपर-भेदविज्ञान प्रगट करके इस भूलको दूर कर दूं तो अपनी शान्तिको बाहर खोजनेकी बजाय अन्दरमें खोजने लगूं अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य जो अजीव तत्त्व है उसपर-से अपना लक्ष्य हटाकर अन्दरमें प्रकाशमान जो जीव तत्त्व है उसका आश्रय लूं। और वह वहां है ही, इसलिए अवश्य उसे खोजनेमें मैं सफल हो जाऊँ। शान्तिके दर्शन होते ही बाह्यके विकल्प समाप्त होते चले जायें, अधिकाधिक उस शान्तिमें स्थिरता धरनेसे पूर्वके विकल्प उत्पन्न करनेवाले संस्कार कटते चले जायें और इसीप्रकार करते-करते एक दिन संस्कारों व विकल्पोंसे पूर्णतया मुक्त निर्बाध शान्तिका उपभोग करने लगूं। यही है जीव और अजीवके साथ संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्वोंकी एकता। सातके दो खण्ड हो गये—एक व्याकुलता उत्पन्न करने सम्बन्धी और दूसरा व्याकुलता दूर करने सम्बन्धी। पहला हेय है और दूसरा उपादेय। इन दोनोंको मिला देनेसे

पूर्ण-मार्गकी रूपरेखा दृष्टिमें आ जाती है अर्थात् व्याकुलताके कारणभूत पहले खण्डको छोड़कर शान्तिको उत्पन्न करनेवाले अगले खण्डमें विचरण करूं तो धीरे-धीरे पहला खण्ड कम होता जाय और दूसरा खण्ड बढ़ता जाय। ऐसा करते हुए एक दिन पहला खण्ड विनष्ट हो जायेगा और दूसरा खण्ड पूर्ण हो जायेगा। बस इसप्रकार इन सातों बातोंमें हेयोपादेयताका मेल बैठाकर श्रद्धाका एक अखण्ड विषय बन जाता है।

२. रत्नत्रय समन्वय—यद्यपि यहांतक इस सप्तात्मक एक अखण्ड विषय का ज्ञान भी हो गया और उसके अनुरूप शाब्दिक श्रद्धा भी हो गई परन्तु जीवनका ढलाव भी साथ-साथ जबतक उसके अनुरूप न होने लग जाय अर्थात् उसका झुकाव बाह्य-द्रव्योंके विकल्पात्मक आश्रयसे हटकर अन्तरंग-शान्तिकी खोजमें न लग जाय, बाह्य-द्रव्योंसे किञ्चित् उदासीनता न आ जाय और इस प्रयोजनकी सिद्धिके अर्थ प्रारम्भमें अधिकाधिक समय साधनाके अङ्गभूत देवपूजा आदि क्रियाओंमें देने न लग जाय, तबतक वह श्रद्धा 'श्रद्धा' नहीं कही जा सकती। इस सप्तात्मक मार्गको भली-भांति युक्ति द्वारा जानकर, इसपर 'ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं' ऐसी दृढ़श्रद्धा करके अपने जीवनको उसके अनुरूप ढालने या आचरण करनेका नाम ही शान्तिका मार्ग है। इसमें युगपत् ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र तीनों खण्ड पड़े हुए हैं। यही है शान्तिमार्गकी या मोक्ष-मार्गकी या धर्म-मार्गकी त्रयात्मकता जिसमें ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र तीनों मिल-कर एक हो गये हैं। इतना विशेष है कि साधना-खण्डमें कथित देवपूजा आदि प्रवृत्तियोंमें जिस-किस प्रकार भी, राग-प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेकी प्रधानता रहती है। यथाशक्ति स्थूल-विकल्पोंसे निवृत्ति पाकर अन्तरंगमें उतरनेकी तथा वहां पड़ी हुई निज-शान्तिमें प्रवृत्ति पानेकी ही प्रधानता सर्वत्र जाननी चाहिए।

इसीलिये जबतक इस धर्मका वास्तविक फल अर्थात् उस चौथी कोटिकी शान्तिका साक्षात् वेदन नहीं हो जाता तबतक न चारित्र रहस्यात्मक है, न श्रद्धा रहस्यात्मक है और न ज्ञान रहस्यात्मक है। ज्ञान व श्रद्धाका आधार है उपदेश और चारित्रका आधार है शरीर, इसलिये इस स्थितिमें रहनेवाले ये तीनों ही खण्ड सच्चे नहीं कहे जा सकते। परन्तु क्योंकि पहली दशामें ऐसा किये बिना उस रहस्यका वेदन होना असम्भव है, इसलिये इसप्रकारकी झूठी त्रयात्मकता भी कार्यकारी है। प्रारम्भिक भूमिकामें इसका बड़ा महत्त्व है परन्तु प्रयास कुछ अन्तरंगकी प्राप्तिके प्रति अवश्य होना चाहिये। केवल शारीरिक क्रियाओंमें संतोष धारे तो उस त्रयात्मकताका कोई मूल्य नहीं।

धीरे-धीरे इसप्रकार जीवनको एक नई दिशाकी ओर घुमाकर धैर्य व

साहस-पूर्वक इसपर आगे बढ़ते जायें तो एक दिन ऐसा आ जाना सम्भव है जबकि एक क्षरण-मात्रके लिये उस लक्ष्यका साक्षात्कार हो जाय। उस समय अन्तरंगमें क्या चिन्ह प्रगट होंगे सो पहले ही शान्तिके प्रकरणमें बताये जा चुके हैं (देखो अधिकार ३)। उस समय एक अपूर्व कृतकृत्यतासी उत्पन्न होने लगेगी, एक विचित्र संतोष व हल्कापनसा प्रतीत होगा और वे ज्ञान व श्रद्धा जो इस समयतक शब्दात्मक थे अब एक नया रूप धारण कर लेंगे। "अरे! यह है वह रहस्य, यह हूं मैं साक्षात्-रूपसे अपने अन्तरंगमें विराजमान, शान्ति के वेदनसे अत्यन्त तृप्त, सर्वाभिलाषसे मुक्त। वाह वाह! कितना सुन्दर है यह? यह तो है बिल्कुल पृथक, यह रहा। वास्तवमें कुछ भी सम्बन्ध है नहीं इन दूसरोंसे इसका। व्यर्थ ही अबतक व्यग्र बना रहता था, व्यर्थ ही इसकी खोज इतनी कठिन समझता था। यह मैं ही तो हूं। अरे वाह-वाह! कितनी विचित्र बात है? आजतक यूंही मारा-मारा फिरता रहा इसकी खोजमें। इस शान्तिको छोड़कर अब कहां जाऊं? कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है। बस अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। यह था वह जिसकी मुझे इच्छा थी।" इत्यादि प्रकारके विकल्प व उद्गार उत्पन्न हो जायेंगे।

बस उसी क्षरणसे वह श्रद्धा अब इस रूपमें न रह जायेगी कि 'गुरुका उपदेश है इसलिये यह ऐसा ही है', बल्कि इस रूप हो जायेगी कि 'मैंने स्वयं इसका फल चखा है, इसलिये यह ऐसा ही है'। अब इसका आधार उपदेशकी बजाय अनुभव हो गया है। अब यह श्रद्धा पराश्रित नहीं रही स्वाश्रित हो गई है, शब्दात्मक नहीं रही रहस्यात्मक हो गई है। अब यह श्रद्धा तीन कोटियोंका उलंघन करके चौथी कोटिमें पहुँच चुकी है, इसलिये इसीका नाम वास्तविक व सच्ची श्रद्धा है। इसके हो जानेपर ज्ञान भी रहस्यात्मक बन जानेके कारण सच्चा हो गया है और चारित्र भी रसास्वादनरूप हो जानेके कारण सच्चा हो गया है। वास्तवमें सच्चे मार्गका प्रारम्भ इस दशाके पश्चात् ही होता है। पहलेकी त्रयात्मकतामें शाब्दिक ज्ञानकी प्रमुखता थी और इस रहस्यात्मक त्रयात्मकतामें रसास्वादरूप अनुभव सम्बन्धी श्रद्धाकी मुख्यता है। इसलिये जहां सच्चे मार्ग या धर्मका निरूपण किया जाता है वहां ज्ञानको प्रथम स्थान न देकर श्रद्धाको प्रथम स्थान दिया जाता है। अब इस त्रयात्मकताका रूप ज्ञान, श्रद्धा व चारित्र न रहकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र बन जाता है, क्योंकि ज्ञानकी रहस्यात्मकताका कारण अनुभवात्मक श्रद्धा है और आगे-आगे चारित्रमें प्रेरक होनेवाली भी बजाय गुरुके वही रहस्यात्मक श्रद्धा है। पहलेकी भांति अब गुरुके कहनेके कारण आगे नहीं बढ़ेगा बल्कि इस स्वादका व्यसन

पड़ गया है इसलिये आगे बढ़ेगा। इसी स्वादकी प्रेरणासे पुरुषार्थ आगे-आगे अधिकाधिक उत्तेजित होता जायेगा और एक दिन श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र मिलकर तीनों एक शान्तिमें निमग्न हो जायेंगे। वहाँ न होगी श्रद्धा, न ज्ञान और न चारित्र। मैं हूंगा और मेरी शान्ति, एक अद्वैत दशा होगी वह।

३. स्याद्वाद्—यद्यपि दर्शनखण्ड समाप्त हुआ, परन्तु इसपर-से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जैन-दर्शन भी यहां ही समाप्त हो गया है। ठीक है कि विद्वद्क्षेत्रमें इसका इतना मात्र ही स्वरूप प्रसिद्ध है परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो यह इसकी एक छोटीसी किरण मात्र है जिसकी झलक देशकालकी मांगके अनुसार आजसे २५०० वर्ष पूर्व भगवान् वीरने जगतके समक्ष प्रस्तुतकी थी। इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् तत्त्वके विषयमें इतना ही कुछ जानते थे। जानते वे सब कुछ थे परन्तु नैतिक तथा धार्मिक ग्लानिके जिस युगमें उनका व्यक्तित्व रंगमञ्चपर उदित हुआ था उस युगमें तत्त्वोपदेशकी बजाय धर्मोपदेश की अधिक आवश्यकता थी। यही कारण है कि अपने समकालीन बौद्ध-दर्शन की भांति उनका दर्शन भी तत्त्व-प्रधान न होकर प्राय धर्म-प्रधान रहा। तात्त्विक चर्चाओंमें उलझना उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया बौद्ध-दर्शनके चार आर्य-सत्योंकी भांति प्रस्तुत सात तत्त्वोंमें भी केवल व्यक्तिके पतन तथा उत्थानके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है अन्य कुछ नहीं। व्यक्तिके जीवनोत्थानके क्षेत्रमें इतना मात्र ही पर्याप्त है। प्रसंगवश यदा-कदा उदित होनेवाली आत्मा-परमात्मा विषयक जटिल तात्त्विक चर्चाओंका दोनों ही महा-पुरुषोंने जिस-किस प्रकार वारण करनेका प्रयत्न किया। ऐसी परिस्थितियोंमें महात्मा बुद्ध यह कहकर प्रश्नको टाल देते थे कि 'किसने देखा है आत्मा परमात्मा ? ऐसी चर्चाओंको छोड़कर जीवनोपयोगी चर्चायें करनेमें ही कल्याण है'। इसलिये बौद्ध-दर्शन आगे चलकर नास्तिक तथा अनात्मवादी प्रसिद्ध हो गया। दूसरी ओर भगवान् वीर इतना शुष्क उत्तर न देकर एक ऐसी प्रेममयी पद्धतिका प्रयोग करते थे जिससे प्रश्नकर्ता भी सन्तुष्ट हो जाता था और प्रश्न का वारण भी सहज हो जाता था। 'स्यात् अर्थात् किसी एक दृष्टिसे तुम ठीक ही कह रहे हो', बस इतना मात्र संक्षिप्तसा उत्तर होता था और कुछ नहीं। इसलिये भगवान् वीर स्याद्वादी प्रसिद्ध हो गए। उनकी इस विचित्र कथन पद्धतिने ही आगे जाकर 'स्याद्वाद्' नामक एक सांगोपांग महा-दर्शनका रूप धारण कर लिया।

दर्शन-शास्त्रका विषयभूत 'सत्य' अनन्त है जिसे बुद्धिकी संकीर्ण सीमाओंमें बद्ध नहीं किया जा सकता। किसी भी एक बुद्धिसे यह आशा करना कि वह

उसका पूर्ण दर्शन कर लेगी, दुराशा है। अनादि कालसे आजतक ऋषिजन तथा मनीषिजन उसका अन्वेषण करते आ रहे हैं परन्तु न आजतक उसका अन्त आया है और न आयेगा। इसलिये दर्शनोंकी संख्या निर्धारित की जानी सम्भव नहीं है। अनन्त हो सकते हैं वे। कोई उसमें विभुत्वका दर्शन करता है और कोई प्रभुत्वका, कोई सर्वगतत्त्वका और कोई असर्वगतत्त्वका, कोई समष्टिका और कोई व्यष्टिका, कोई एकत्वका और कोई अनेकत्वका, कोई नित्यत्वका और कोई अनित्यत्वका,कोई चेतनत्वका और कोई जड़त्वका, कोई द्वैतका और कोई अद्वैतका। तात्पर्य यह कि जितने दृष्टा उतने ही उनके दृष्टिपथ, जितने दृष्टि-पथ उतने ही उनके वचनपथ, जितने वचनपथ अथवा दृष्टिपथ उतने ही दर्शन-पक्ष। अनन्तों भूतकालमें उदित होकर कालकवलित हो गए, अनन्तों विद्यमान हैं और अनन्तों आगे उत्पन्न होनेवाले हैं। भारत हो या अभारत सर्वत्र ही जन्मते रहे हैं तीर्थंकर, अवतार, ऋषि, पैग़म्बर या ईश्वर-पुत्र, जन्म रहे हैं और जन्मते रहेंगे। इसप्रकार ऋषि-सन्तानकी तथा उसके दर्शनोंकी यह देशकालानवच्छिन्न धारा बराबर बहती रही है और बहती रहेगी।

यही कारण है कि दर्शनोंकी इस अविच्छिन्न धारामें न कहा जा सकता है किसी भी एक दर्शनको पूर्ण सत्य और न कहा जा सकता है उसे पूर्ण असत्य, सब हैं आपेक्षिक सत्य। जिसप्रकार किसी एक महानदीका प्रत्येक जलकण पूर्ण नदी न होकर केवल उसका एक क्षुद्रांश है, इसीप्रकार दर्शनोंकी इस महाधारा का प्रत्येक दर्शन पूर्ण दर्शन न होकर केवल एक किसी महादर्शनका क्षुद्रांश है। अपने-अपने दृष्टिकोणसे एक ही सत्यको देखनेके कारण सभी वास्तवमें उस सत्यके आंशिक अथवा आपेक्षिक अध्ययन-मात्र हैं। और इसप्रकार अन्य दर्शनोंकी भांति 'जैन दर्शन' भी स्वयं इस महाधाराका एक क्षुद्र-अंश ही है, न कि पूर्ण। "अरेरे! क्या कह दिया आपने? भले ही असर्वज्ञ-कथित होनेके कारण अन्य दर्शन अपूर्ण रहें परन्तु सर्वज्ञ-कथित होनेके कारण यह दर्शन पूर्ण है। क्या इसे अपूर्ण कहते आपको भय नहीं लगता?" और इसीप्रकार की अनेकों क्षुब्ध तरंगें न जाने क्यों आपके मानस-पटपर प्रगट होने लगीं? शान्त हो प्रभो! शान्त हो, यह क्षोभ ही तो वह पक्षपात् है जिसका अबतक स्थल-स्थलपर निषेध किया जाता रहा है। क्षमा करना, मेरे मुखसे आपको किसी प्रकारका भी साम्प्रदायिक पक्ष प्राप्त न हो सकेगा।

निःसन्देह जैन-दर्शनने जगतको अनेकों बहुमूल्य रत्न प्रदान किये हैं, जिनके-लिये जगत सदा इसका आभारी रहेगा परन्तु स्याद्वादी होनेके नाते इसके अनुसन्धानका द्वार बन्द नहीं हो गया है। आओ स्वतंत्र सन्धानके निष्पक्ष

वैज्ञानिक क्षेत्रमें प्रवेश करके स्याद्वाद्का गौरव बढ़ायें। इसे जगतको अभी बहुत कुछ देना है। अन्य दर्शनोंके प्रति अदेखसका भाव छोड़कर यह देखनेका प्रयत्न करें कि उन्होंने किस दृष्टिकोणसे उस सत्यको परखा है। यही है जैन-दर्शनकी पूर्णता और इसके प्रतिपादक महर्षियोंकी सर्वज्ञता। तनिक विचारिये तो सही कि जितना कुछ आप विभिन्न विषयोंके सम्बन्धमें जानते हैं, क्या उतना सब आप लिख सकते हैं या कहकर बता सकते हैं? भले ही सर्वज्ञने सबकुछ जान लिया हो परन्तु उसके-लिये भी क्या यह सम्भव है कि जितना कुछ उसने जाना वह सब कहकर बतादे?

"पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो तु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो।"

"जाननीय भावोंका अनन्त-बहुभाग तो अनभिलाप्य अर्थात् न कहा जाने योग्य ही रह जाता है। केवल उसका अनन्तवाँ भाग ही कहा जाने योग्य हो पाता है और उसका भी केवल अनन्तवां भाग ग्रन्थोंमें निबद्ध हो पाता है। जितना कुछ निबद्ध हो पाया है उसका असंख्यातवाँ भाग भी आज उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ या आगमके इतने मात्र उपलब्ध अंशपर-से कौन यह कहनेका साहस कर सकता है कि जितना कुछ जैन-शास्त्रोंमें लिखा है उतना कुछ ही सत्य है, उससे अधिक नहीं। बहुत सम्भव है कि जिन तथ्योंका उल्लेख आज अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध है, उन्हींका प्रतिपादन किसी इतिहासातीत कालमें जैन-ऋषियों या तीर्थंकरोंने किया हो और वे तथ्य या तो उस समय ग्रन्थ-निबद्ध न हो पाये हों या काल-कवलित हो गए हों।

निष्पक्ष तथा विशाल-दृष्टिसे सम्पन्न महर्षिजन ही ऐसा घोष करनेके-लिये समर्थ हो सकते हैं कि स्वभाववाद, आत्मवाद, कालवाद, ईश्वरवाद, संयोगवाद पुरुषार्थवाद, नियतिवाद, दैववाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, एक-तत्त्ववाद, अनेक-तत्त्ववाद आदि जितने कुछ भी वचनवाद आजतक दार्शनिक अथवा व्यवहारिक क्षेत्रमें प्रसिद्ध हो चुके हैं अथवा आगे होनेवाले हैं, वे सभी पूर्ण सत्य न होकर एकाङ्गी सत्य हैं। अतः अपनी रुचिके अनुसार किन्हीं एक दो वादोंको स्वीकार करके अन्य वादोंका लोप करनेवाले पक्षपाती के सर्ववचन परस्पर निरपेक्ष हो जानेके कारण मिथ्या हो जाते हैं और यथा-देश, यथाकाल व यथाभाव एक दो वादोंका कथन करते हुए साथ-साथ 'स्यात्' पदके द्वारा अन्य वादोंका संग्रह करनेवाले सर्व वचन परस्पर सापेक्ष होनेके कारण सम्यक् हो जाते हैं। परस्पर निरपेक्ष वे मिथ्या वचन आगे जाकर साम्प्रदायिक पक्ष बन बैठते हैं और पारस्परिक विद्वेषका रूप धारण करके

व्यक्तिका आध्यात्मिक पतन कर देते हैं। विपरीत इसके परस्पर सापेक्ष हो जानेपर वे ही वचन सम्प्रदायवादसे ऊपर उठ जाते हैं और पारस्परिक प्रेमका रूप धारण करके व्यक्तिका आध्यात्मिक उत्थान करते हैं।

"जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा ।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ।।
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा व्यणाद ।
जयणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो ।।"

जैन तथा अजैन दर्शनोंमें यही अन्तर है। अजैन-दर्शन जहां अपनी बात कहनेकी धुनमें यह भूल जाते हैं कि जो कुछ हम कह रहे हैं वह उसी समय सत्य हो सकता है जब कि सहवर्ती अन्य दर्शनोंको भी हम प्रेमपूर्वक गले लगा सकें, वहां ही जैन-दर्शन अपनी बात कहते हुए बराबर यह विवेक रखता है कि मेरी बातसे किसी भी अन्य दर्शनके हृदयको किञ्चित भी ठेस पहुंचने न पावे। अपने हर पक्ष या वचनके साथ 'स्यात्' या 'कथञ्चित्' पदका प्रयोग करके वह बराबर अन्य दृष्टियों अथवा दर्शनोंका संग्रह करता रहता है। इसीलिये उसके वही वचन सम्यक् तथा कल्याणकारी होते हैं जो कि अन्य-निरपेक्ष हो जानेके कारण साम्प्रदायिक क्षेत्रोंमें प्रायः पारस्परिक वैर विरोध तथा वैमनस्य उत्पन्न करके अकल्याणके हेतु हो रहे हैं। पांच जन्मान्धों द्वारा टटोल-टटोलकर जाने गए हाथीके पृथक्-पृथक् अवयवोंका संग्रह करके सांगोपांग हाथीके यथार्थ ग्रहणवाला आगम-प्रसिद्ध दृष्टान्त भी इस दर्शनकी सर्व-संग्रहकारी दृष्टिकी ओर संकेत करता है। इसप्रकार स्वयं अपनेको अपूर्ण कहकर अन्य दर्शनोंका सप्रेम स्वागत करनेवाला यह निष्पक्ष घोष ही इस दर्शनकी पूर्णता तथा इसके प्रतिपादक ऋषियोंकी सर्वज्ञताका द्योतक है।

कूप-मण्डूक न बनिये, तनिक इस कुएँसे बाहर आइये और देखिये शुचि-हंस-वाहिनी और स्यात्-वीणा-वादिनी मां सरस्वतीके प्रेमपूर्ण हृदयकी विशालता तथा उसकी गोदकी व्यापकता, जिसमें समान स्थान प्राप्त है सब दर्शनोंको, सब धर्मोंको और सर्व सम्प्रदायोंको, सहोदर भाइयोंकी भांति। क्यों न हो, उसीकी तो सन्तान है यह सब, ज्ञान-जननी मां सरस्वतीकी। देखो किसप्रकार गलेसे लगाती है वह सबको, किसप्रकार प्यार करती है वह सबको, किसप्रकार स्तनपान कराती है वह सबको, किसप्रकार अपनी गोदमें बैठाती है वह सबको, किसप्रकार आत्मसात करती है वह सबको, किसप्रकार परस्परमें लड़नेसे बचाती है वह सबको। कौन कर सकता है स्याद्वाद्की इस विशाल-हृदयताका गान एक जिह्वासे, भगवान् अनन्त भी थककर रह गए जहां? ऋषियोंने भी प्रसन्न कर

लिया अपने चित्तको यह कहकर कि,"जिसप्रकार सागरमें अनेक नदियें देखी जा सकती हैं परन्तु किसी भी एक नदीमें सागर नहीं देखा जा सकता, उसीप्रकार हे सर्वज्ञ ! आपके दर्शनमें सर्व दर्शन देखे जा सकते हैं परन्तु किसी भी एक दर्शनमें आपका दर्शन नहीं देखा जा सकता ।" जरा विचारिये कि कौनसे जैन-दर्शनकी बात है यह ? क्या सप्ततत्त्व-प्रधान जैन-दर्शनकी या स्याद्वाद्-प्रधान जैन-दर्शन की? सप्ततत्त्व वाले जैन-दर्शनमें सांख्य वेदान्त आदि सर्व-दर्शन समाविष्ट किये जाने सम्भव नहीं, स्याद्वाद्-दर्शनमें ही यह बात सम्भव है । जैन-दर्शनकी यह सर्व-संग्रहकारी तथा सर्व-समभावी दृष्टि ही है इसकी महानता, विशालता तथा सुहृदयता और ये ही हैं इस दर्शनकी पूर्णता तथा इसके प्रतिपादकोंकी सर्वज्ञताके द्योतक । इसी कारण इसके समक्ष सकल विश्वका मस्तक नत है ।



वर्तमान युगके
समन्वय-स्वभावी
चार महापुरुष

अतः भो मुमुक्षु ! आ, सकल पक्षपातका विष उगलकर आ, अन्य मतोंका खण्डन करनेवाली अदेखसकी बुद्धिका वमन करके आ, ज्ञानको सरल बनाकर

आ, सत्यका पारखी बनकर आ, बुद्धि-राज्यकी बजाय हृदय-राज्यका नागरिक बनकर आ, इस खुले आकाशमें जहां न है जैन न अजैन, न हिन्दू न मुस्लिम, न भारती न अभारती, जहां है केवल सत्य, खुला सत्य जिसे पढ़ सकता है हर कोई, बच्चा व बूढ़ा, सधन व निर्धन, मूर्ख व विद्वान्; जहां है सबकी दृष्टियोंको या उनके अभिप्रायोंको समझनेकी उदारता तथा उन्हें प्रेमपूर्वक गले लगानेकी सुहृदयता। फिर देख इस सत्यका सुन्दररूप, इस अनन्तका विस्मयकारी स्वरूप। देख देख केवल देख, बिना किसी प्रकारका विकल्प उत्पन्न किये देख, दूसरेको समझानेकी बुद्धि तजकर देख। न है यहां मैं-तूका भेद, न मेरे-तेरेका भेद, न मत-मतान्तरका भेद, न इष्ट-अनिष्टका भेद, न ग्रहण-त्यागका भेद। सब कुछ दृष्ट है युगपत् समष्टि-व्यष्टि, एक-अनेक, विभु-अविभु, द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य, सत्-असत्, तत्-अतत्। कृतकृत्य हो जायेगा तू, सर्वज्ञ हो जायेगा तू। अन्य मतोंके खण्डन-मण्डन द्वारा अपने मन, बुद्धि व हृदयको मलिन करनेकी बजाय, 'कौन दर्शनकार किस दृष्टिसे क्या कहना चाह रहा है' यह समझनेका प्रयास करें। सभीकी बातोंमें निहित सत्यांशका अन्वेषण करें। ऐसा करनेमें ही स्याद्वादरूप महादर्शनका गौरव है। समता व उदारताका हेतु होनेके कारण इसकी शरणमें ही कल्याण है, इसकी शरणमें ही कल्याण है।

४. उपसंहार—यहां इतना बता देना उचित है कि भले ही जैन-जगतके प्रति उपदिष्ट होनेके कारण इस ग्रन्थमें जैन-तत्त्वानुसारी दृष्टिको अपनाया गया हो, परन्तु इसका कहीं भी पक्षपात् नहीं किया गया है, न ही अन्य दर्शनोंका कहीं तिरस्कार किया गया है। विपरीत इसके, जैसा कि अबतक होता रहा है, हर बातको निष्पक्ष तथा अनुभवपूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से समझानेका प्रयत्न किया गया है। साथ-साथ जहां जितना कुछ भी सम्भव हो सका है समन्वय पद्धतिसे अन्य दर्शनोंका संग्रह करनेका प्रयत्न किया है। मुझे आशा है कि पाठक-गण मेरी इस पद्धतिमें रस लेंगे, तथापि यदि कदाचित् यह किन्हींकी रुचिका अनुसरण न कर सके तो उनसे मैं आग्रह करूंगा कि चित्तको क्षुब्ध करनेकी बजाय अपने-अपने पक्षको क्षणभरके-लिये ढीला करके यथा-सम्भव मेरे अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न करें। जिसप्रकार अबतक एक फ़िलास्फ़रकी भांति केवल सत्यान्वेषण किया है पक्षपोषण नहीं, उसीप्रकार आगे भी करें तो मुझे विश्वास है कि इसमें उन्हें रस ही आयेगा, तथा उनके ज्ञानकी वृद्धि ही होगी।

भज मन तत्त्वं भज मन सत्यं, तज मन पक्षं भव्यमते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे, नान्यत् रक्षति गृहे अरण्ये॥ १॥

भव्य जहीहि घनागम-तृष्णां, कुरु सद्बुद्धि मनसि वितृष्णाम् ।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं, वित्तं तेन विनोदय चित्तम् ॥ २ ॥
अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः, सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ॥ ३ ॥
मा करु धन-जन-यौवन-गर्वं, हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा, परंपदं त्वं प्रविश विदित्वा ॥ ४ ॥
कोऽहं कस्त्वं कुत आयातः, का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं, विश्वं त्यक्त्वा स्वप्न-विचारम् ॥ ५ ॥
कामं क्रोधं लोभं मोहं, त्यक्त्वात्मानं भावय कोऽहम् ।
आत्मज्ञान विहीना मूढाः, ते पच्यन्ते नरक-निगूढाः ॥ ६ ॥
शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ, मा कुरु यत्नं विग्रह-सन्धौ ।
भव सम-चित्तः सर्वत्र त्वं, वाञ्छस्यशु यदि तीर्थंकरत्वम् ॥ ७ ॥

हे भव्य मतिवाले मन ! तू तत्त्व तथा सत्यको भज और पक्षको तज, क्योंकि घरमें अथवा वनमें इनके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मरण-काल निकट आनेपर तेरी रक्षा कर सके ॥ १ ॥

हे भव्य ! तू धन-प्राप्तिकी इच्छाको छोड़ । अन्तःकरणमें तृष्णा रहित सद्बुद्धि जागृत कर । कर्मोदयवश जो तथा जितना कुछ भी धन प्राप्त हो उसीसे चित्तका समाधान कर ॥ २ ॥

अर्थ अनर्थ है, इसका सदा ध्यान रख । सचमुच उससे लेश-मात्र भी सुख नहीं होता । धनी लोगोंको अपने पुत्रसे भी डर रहता है । इस संसार में सर्वत्र ऐसी ही रीति है ॥ ३ ॥

धन जन और यौवनका गर्व मत कर । क्षण मात्रमें काल इन सबका हरण कर लेता है । इस अखिल मायामय प्रपञ्चको छोड़कर तू परम-पदको जान तथा उसमें प्रवेशकर ॥ ४ ॥

"मैं कौन, तू कौन, कहांसे आया, कौन मेरी माता, कौन मेरा पिता ? यह सब असार है", ऐसा चिन्तवन कर । यह विश्व स्वप्नके समान है इसे छोड़कर आत्म-चिन्तन कर ॥ ५ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोहको छोड़कर, 'मैं कौन हूँ' इसप्रकार आत्माके विषयमें भावना कर । आत्म-ज्ञानसे विहीन मूढजन नरकमें पड़े सड़ते हैं ॥६॥

शत्रु व मित्रमें अथवा पुत्र व बन्धुमें तोड़-जोड़ करनेका प्रयत्न मत कर । यदि शीघ्र तीर्थंकरत्व प्राप्त करना चाहता है तो सर्वत्र समताभावी बन ॥७॥

२

साधना खण्ड



उड़ रे पंछी धीरे-धीरे, ऊंचे-ऊंचे उड़ ।

असत्, तम, मृत्यु-लोकसे

सत्-ज्योति-अमृत लोकको ।

१८

साधना



१. महाविघ्न—यह तो है केवल दर्शन-सिद्धान्त, तत्त्व-परिचय, स्वभाव-निर्धारण। यह तो है केवल लक्ष्य या गन्तव्य, ज्ञात न कि प्राप्त। किसी वस्तुको जानने मात्रसे अथवा कहने मात्रसे प्राप्त नहीं हो जाती वह। बहुत कुछ करना पड़ता है उसकी प्राप्तिके-लिए। भोजनको जानने मात्रसे पेट नहीं भर जाता और न कहने मात्रसे। बहुत कुछ करना पड़ता है अन्न प्राप्तिके लिए और भोजन पकाने तथा खानेके-लिए। तीर्थराजको जानने मात्रसे पहुचा नहीं जाता वहाँ और न कहने मात्रसे। चलना पड़ता है उसके-लिए, पहले-पहले ग्रामको पीछे छोड़ते हुए और अगले-अगले ग्रामोंमें प्रवेश करते हुए। महलकी छतको जानने मात्रसे पहुंचा नहीं जाता वहाँ और न कहने मात्रसे, चढ़ना पड़ता है उसके-लिए पहले-पहले सोपानको छोड़ते हुये और अगले-अगले सोपान पर पग रखते हुए। न तो जान लेना पर्याप्त है प्राप्तिके इस क्षेत्रमें, न कहना मात्र और न किसी एक ग्राम या सोपानको प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाना मात्र। करते रहना है पूरे प्रयत्नके साथ, चलते रहना है पूरे उत्साहके साथ, चढ़ते रहना है पूरे धैर्यके साथ, उस समयतक जबतक कि प्राप्त न हो जाय वह लक्ष्य अथवा गन्तव्य। वाग्विलासको प्रवेश नहीं इस क्षेत्रमें और न ही प्रमादको। साहसी-वीरको ही अधिकार है प्रवेश पानेका इसमें।

आ मेरे साथ यदि वास्तवमें प्राप्त करना चाहता है तू उसे, परन्तु देख कहीं भी अटक नहीं जाना है, बराबर चलते रहना है मेरा पल्ला पकड़े, बराबर बढ़ते रहना है आगे-आगे। न देखना है मुड़कर अपने पीछे, न दायें-बायें, न ऊपर-नीचे। निश्चल करके चलना होगा अपनी दृष्टिको, अर्जुनकी भाँति अपने लक्ष्यपर; और स्तम्भित करके चलना होगा अपनी बुद्धिको, ध्रुवकी भाँति अपने गन्तव्यपर। अनेकों आवाजें सुनाई देंगी तुझे, अनेकों दृश्य दिखाई देंगे

तुझे अपने आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहर; कुछ डरावने, कुछ लुभावने और कुछ लजावने। याद रख कि कहीं सुन लिया उन्हें या देख लिया उनकी ओर तो पत्थरका बनकर रह जायेगा। बड़ा विकट है यह मार्ग। बच्चोंका खेल नहीं है इसपर चलना। भले ही आगे चलकर निर्बाध हो जाय यह, निष्कण्टक हो जाय यह, सुखद हो जाय यह,परन्तु प्रारम्भमें अनेकों बाधायें तथा विघ्न पड़े हुए हैं इसमें, अनन्तो कण्टक बिछे हुए है इसमें, अति दुःखद है यह। अनन्तों मायाजालिए तथा स्वांगिये बैठे हैं इसमें। पद-पदपर धोखा देंगे वे तुझे, पद-पदपर फिसलानेका प्रयत्न करेंगे वे तुझे, ठगनेका प्रयत्न करेंगे वे तुझे, और तू पहचान नहीं सकेगा उनकी मायाको, तू जान नहीं सकेगा उनके स्वांगको,तू पकड़ नहीं सकेगा उनकी ठग्गीको। कोई चतुराई काम नहीं आयेगी तेरी। बड़े चतुर कलाकार हैं वे। यदि पहचान पाये उन्हें तो फिर उनकी चतुराई ही क्या रही? केवल गुरुदेव ही समर्थ हैं उन्हें पहचाननेके-लिए अन्य कोई नहीं,अन्य कोई नहीं। बस उनका पल्ला पकडकर चलना होगा, निर्भय। समझले कि उनका पल्ला छूटा कि तू गया। अनेकों साहसी वीर चले हैं इस पर परन्तु धराशायी होकर रह गये हैं सब,गुरु-चरण-शरण छूट जानेके कारण।

कुछ तो पीछे मुड़कर चले गए वहीं जहाँसे कि आये थे वे अर्थात् धन, स्त्री, कुटुम्बमें और कुछ जो चाहते हुए भी लोक-लाजके कारण न मुड़ सके उधर, वे मुड़ गये अपनी दायीं ओर, सकाम-भावरूप निदानके प्रति अर्थात् अगले भवमें प्राप्त होने योग्य राज्य-वैभव या देव-वैभवके प्रति। शास्त्राज्ञाके भयसे जो साहस न कर सके इस दिशामें मुड़नेका, वे मुड़ गये अपनी बाईं ओर जिधर बिछे हुए हैं एषणाके विविध जाल, कुछ पुत्रेषणाके, कुछ वित्तेषणाके, कुछ लोकेषणाके, कुछ ख्याति-प्रसिद्धिके, कुछ सुविधा प्राप्तिके और कुछ स्वार्थ-पोषणके। बड़े सूक्ष्म हैं ये। यही है वह राक्षसी 'पूतना' जो प्राण खेंचती रहती है सबके, अपने स्तनोंका मीठा परन्तु विषैला दूध पिला-पिलाकर। लोक-दिखावेका दम्भाचरण ही है इसका प्रधान शस्त्र। बड़े-बड़े ज्ञानी तथा विरागी फँसते देखे गए हैं इसके जालमें। एकबार फँसकर छूटना असम्भव। मधुर-स्वरोंमे गा-गाकर तथा नाच-नाचकर भगवान्की पूजा करता है वह, बड़ी भक्तिसे तिष्ठो-तिष्ठो कहकर गुरुको आहार-दान देता है वह, परन्तु सब या तो लोक-रञ्जनाके-लिए और या देव-गतिमें अथवा भोग-भूमिमें जानेके-लिए। बड़े-बड़े शास्त्र पढ़ता है वह, बड़ी-बड़ी ऊंची चर्चायें करता है वह, दूसरोंको बड़े-बड़े ऊँचे उपदेश देता है वह, परन्तु या तो लोक-रञ्जनाकेलिए, या अपना पाण्डित्य प्रकट करनेके लिए और या पाँव पुजवानेके लिए। बड़े-बड़े त्याग तथा

तप करता है वह, बड़े-बड़े व्रत तथा उपवास धारण करता है वह, परन्तु या तो मात्र लोक-दिखावेके-लिए, या 'बड़ा त्यागी तपस्वी है' इत्यादि प्रशंसायें सुननेके लिये, या महन्त बनकर पाँव पुजवानेके लिए। खूब देख-देखकर चलता है वह, गिन-गिनकर पृथ्वीपर पाँव रखता है वह परन्तु केवल दिखावेके लिए। कहाँतक कहा जाय, सभी क्रियायें कृत्रिम होती हैं उसकी, हृदयशून्य, प्राणशून्य, कोरा नाटक, कोरा दम्भाचार।

और यदि गुरु-कृपा-प्रसादसे कदाचित् कोई एक-आध निकल भी भागा वहाँसे तो चला गया नीचे धरातलमें। हो गया निश्चयाभासी। अभिमान हो गया अपनी उक्त सर्व क्रियाओंपर। 'ओह! मैं? इतना महान्? क्या जानें ये बेचारे रंक मेरे सामने? बाह्य-क्रियाकाण्डमें उलझकर भूल गये हैं अपनेको। क्या पता इन्हें किसे कहते हैं जीवतत्त्व, चिदानन्द भगवान्? अन्तरंगसे शून्य है इनका सर्व आचार। जड़वादके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है इसे? भगवान् निकाले इनको इस अन्धकूपसे। पकड़ मेरा हाथ, मेरी ही भाँति विचार, मेरी ही भाँति बोल 'सिद्धोऽहं, बुद्धोऽहं, निःसोगोऽहं, निरञ्जनोऽहं, अलिप्तोऽहं, पूर्णोऽहं, साक्षीमात्रोऽहं, ब्रह्मास्मि'।

"देख उठ गया अब तू इस जड़-जगतसे ऊपर और पहुँच गया चेतन-लोकमें, जहाँ न है कोई छोटा न बड़ा, न इष्ट न अनिष्ट, न ग्राह्य न त्याज्य। हो गया अब तू जीवन्मुक्त। जो चाहे कर, जो चाहे खा, जो चाहे पी, जो चाहे पहन, जहाँ चाहे रह, जो चाहे विचार। तुझे क्या आवश्यकता है किसीकी पूजा अथवा विनय करनेकी? तुझे क्या आवश्यकता है किसीका सम्मान करनेकी या किसीको नमस्कार करनेकी? तुझे क्या आवश्यकता है अब शास्त्रादि पढ़नेकी या किसीका उपदेश सुननेकी अथवा सत्संगति करनेकी? तुझे क्या आवश्यकता है संयम, तप, व्रत, उपवासके कष्ट उठानेकी? काय-शोषणके अतिरिक्त और रखा ही क्या है इसमें? तुझे क्या आवश्यकता है किसीपर दया करनेकी अथवा किसीको दान देनेकी अथवा ध्यान आदि करनेकी? पूर्ण जो है तू?" भगवान् जाने कैसे पूर्ण हैं वे कहनेवाले और कैसे पूर्ण हैं वे सुननेवाले? अपनी इस महानताके गर्वमें भूल गए हैं वे यह भी कि अभिमानका सर सदा नीचा होता है। जितना महान समझते हैं वे अपनेको, उतने ही तुच्छ हैं वे।

यहांसे भी यदि जिस-किस प्रकार छुटकारा मिला तो चले जाते हैं ऊपर। घरबार छोड़कर रहने लगे श्मशानमें जन-संसर्गसे दूर, बिल्कुल अकेले। सुखा डाला शरीर महीनों-महीनोंके उपवास करके। जला डाला इसे धूपमें सिक-

सिककर अथवा शीतमें खड़ा रहकर। क्या मिलना है इस प्रकारकी बाल-क्रियाओंसे तथा बाल-तपसे। यहाँसे भी यदि कदाचित् छूट पाया तो अटक गया व्यवहाराभासमें। सब कुछ करता है वह और नेक-नियतसे करता है वह। न रखता है आगामी सुखोंकी आकांक्षा, न वर्तमान भवकी लोकेषणा, न लोक-दिखावा। केवल आत्म-कल्याणके-लिये करता है सब कुछ, परन्तु तात्त्विक विवेकसे विहीन वह सब होता है पुण्य न कि धर्म। समझता रहता है वह यह कि मैं कर रहा हूँ धर्म, परन्तु समता-लोकमें प्रवेश न पानेके कारण वह रहता है उससे कोसों दूर। समझता रहता है वह उसे व्यवहार-धर्म परन्तु वास्तवमें होता है वह व्यवहाराभास, न कि धर्म।

तात्पर्य यह कि यह सब कुछ है असत्, कोरा प्रपञ्च, बिल्कुल निःसार, बिल्कुल निष्प्राण। शान्ति तथा समताकी सरस-प्रतीति तो है कहीं और, इन सबसे अतीत, केवल तेरे आगेवाली दिशा में, जिस ओर लक्ष्य करके कि चलना प्रारम्भ किया था तूने, और जिसे अब भूल चुका है तू इन दिशाओं तथा विदिशाओंमें भटककर। जैसा बीज वैसा हो फल। असत्यका फल असत्य और सत्य का फल सत्य। आप स्वयं सोच सकते हैं कि क्या फल मिल सकता है इस प्रकारके धर्म-कर्मसे, विवेक-शून्य कोरे व्यवहाराभाससे अथवा साधना-विहीन कोरे निश्चयाभासी वाग्विलाससे।

शत्रु हैं ये सब तेरे, तुझे भ्रान्तियोंमें अटकानेवाले, तुझे अन्धकूपमें धकेल देनेवाले, तुझे तमोलोकमें ले जानेवाले। सावधान रह इनसे तथा इनकी मायावी वकालतसे, इनके प्रलोभनोंसे और आ गुरु-शरणमें अथवा अनुभवी जनोंकी संगतिमें। देख कितने प्यारसे बुला रहे हैं ये तुझे। पकड़ इनका हाथ और चल अपने आगेकी दिशामें, उसी लक्ष्य-बिन्दुकी ओर। एक क्षणको भी मत भूल कि शान्ति-प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है तेरा लक्ष्य, समता-रस-पानके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है तेरा प्राप्तव्य।

२. अभ्यन्तर-साधना—परन्तु आसान नहीं है यह खेल। संघर्ष करना पड़ेगा पूरा-पूरा असत्य-लोककी इन सर्व विरोधी शक्तियोंके साथ, जूझना पड़ेगा पूरे बल तथा पराक्रमके साथ इन सर्व महाविघ्नोंको परास्त करनेके-लिये। आगामी भवोंमें सुख-प्राप्तिकी भावनारूप 'निदान', ख्याति लाभ पूजाकी चाह-रूप 'लोकेषणा', लोक-दिखावेरूप प्राणशून्य 'दम्भाचरण', तत्त्व-विवेक-विहीन 'व्यवहाराभास', 'सिद्धोऽहं, ब्रह्मास्मि' आदिरूप निष्प्राण वाग्विलास या 'निश्चयाभास', इस निश्चयाभाससे उत्पन्न अपनी पूर्णकामताका 'मिथ्या गर्व', अन्तःकरणके स्पर्शशून्य 'बाल-तप', 'बाल-त्याग' व 'बाल-वैराग्य' और इसी प्रकारकी अनन्तों भ्रान्तियां।

सबको पढ़ना होगा अपने भीतर, सबको देखना होगा अपने भीतर, सबको ठीक-ठीक प्रकार पहचानना होगा अपने भीतर। खाते, नहाते, चलते, सोते, हर समय जागरूक रहना होगा अपने भीतर। देखते रहना होगा प्रतिक्षण अपने मनको तथा अपनी बुद्धिको कि क्या कुछ विचार रहे हैं ये, क्या कुछ स्वप्न देख रहे हैं ये, क्या कुछ जाल बुन रहे हैं ये। प्रयोग करना होगा सूक्ष्म-प्रज्ञाका, प्रतिक्षण इन्हें सम्बोध-सम्बोधकर, समझा-समझाकर, ताकि भटकने न पावें ये इन भ्रान्तियोंमें पड़कर। लक्ष्यको सुमेरुवत् स्थिर रखना होगा, दर्शन-खण्डमें कथित तत्त्वके प्रति तथा तद्विषयक विवेकके प्रति। और यही होगी, तुम्हारी अभ्यन्तर-साधना।

३. बाह्य-साधना—इतना ही नहीं, और भी बहुत कुछ करना होगा इस स्व-अध्ययनके अतिरिक्त, अपने मन बुद्धि तथा इन्द्रियोंकी बहिर्मुखी वृत्तियोंका निरोध करके उन्हें अन्तर्मुखी करनेके-लिये। पुनः बता देना चाहता हूँ कि केवल शास्त्र पढ़ लेने मात्रसे अथवा 'सिद्धोऽहं', 'पूर्णोऽहं' आदि राग अलापने मात्रसे विशुद्ध नहीं हो जाते ये। विशुद्ध होनेकी तो बात नहीं, अभिमान परि-पुष्ट होते रहनेसे और भी अधिक अशुद्ध हो जाते हैं ये, और भी अधिक बहि-र्मुख हो जाते हैं ये, और भी अधिक भ्रान्त हो जाते हैं ये। लोक-प्रशंसाके कारण उदित उल्लास तथा शान्तिको समझ बैठते हैं ये अपनी शान्ति, चहुँ ओर अनुकूलता हो जानेके कारण उदित समताको समझ बैठते हैं ये अपनी समता। परीक्षा करनेका अवसर मिले तो पता चले, प्रशंसाकी बजाये निन्दा मिले तो पता चले, प्रशंसकोंकी भीड़ धीरे-धीरे खिसककर समाप्त हो जाय तो पता चले, अनुकूलताकी बजाय प्रतिकूलता मिले तो पता चले कि कितनी शान्ति है इनमें और कितनी समता है इनमें। सम्भवतः अपनी पूर्ववाली भूमिसे भी कुछ नीचे गिर गये हैं ये।

छोड़ इन असत् भ्रान्तियोंको और पढ़ अपने हृदयकी गहराइयोंमें जाकर कि कहीं सत्यका स्वांग धरकर कोई असत्य तो नहीं घुस बैठा है तेरे घरमें? लड़ना होगा इन महाविघ्नोंके साथ पूरी तरह और आज ही से प्रारम्भ करना होगा तुझे यह युद्ध। भले ही नवजात होनेके कारण अधिक शक्ति न हो आज तुझमें, जितनी कुछ भी प्राप्त है गुरु-कृपासे तुझे उसे ही लेकर प्रारम्भ कर दे युद्ध आजसे ही, शक्तिहीन इस गृहस्थ-दशासे ही। भले न कर मुंह-दर-मुंह सामना, छिप-छिपकर वार करता रह इनपर, शिवाजीको भांति। इसप्रकार क्षीण होती जायेगी इनकी शक्ति और बढ़ती जायेगी तेरी शक्ति। एक दिन गृहस्थसे योगी बन जायेगा तू, अति सुभट, और उस समय कर दीजियो साक्षात्

युद्धकी घोषणा। भाग खड़ी होगी यह असत्य-सेना सत्यका रुद्ररूप देखकर उस समय, और अमर हो जायेगा तू पाकर अपनी अमरावती, जहाँ तेरी प्रतीक्षामें बैठी है शान्ति-रानी।

इसप्रकार एक ही साधक शक्तिकी तरतमताके कारण अनेक कोटियोंमें विभाजित हो जाता है जिनका समावेश तीन प्रधान श्रेणियोंमें कर सकते हैं—गृहस्थ, श्रावक तथा साधु। 'गृहस्थ' साधक तो कहलाता है वह जो कि गुरु-कृपासे तात्त्विक विवेक जागृत हो जानेपर भी संस्कारोंकी प्रबलताके कारण अभी घर-गृहस्थीके काम-धन्धोंसे विरक्त नहीं हो पाया है, परन्तु अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके अर्थ अपनी शक्ति-अनुसार इस दिशा-सम्बन्धी कुछ क्रियायें करने लग गया है। 'श्रावक' कहते हैं उस सद्गृहस्थको जिसके चित्तमें अपने इस पुरुषार्थके फलस्वरूप कुछ-कुछ विरक्ति जागृत होनी प्रारम्भ हो गई है, परन्तु संस्कारकी प्रबलताके कारण अभी पूर्ण विरक्त होकर सन्यास धारण करनेके योग्य नहीं हो पाया है। तथापि अपनी इस विरक्तिको वृद्धिगत करनेके लिये अपनी शक्तिके अनुसार कुछ व्रत या प्रतिज्ञायें उसने अवश्य धारण करली हैं। 'साधु' कहते हैं उस सन्यासीको जिसका चित्त अपने इस पुरुषार्थके फलस्वरूप पूर्ण विरक्त हो चुका है और इस कारण घरबारको सर्वथा छोड़कर या तो वनमें रहता है या किसी मन्दिर आदिमें। अत्यन्त परिवृद्ध शक्तिवाला हो जाने के कारण यह विविध प्रकारके क्लिष्ट तपश्चरण करनेके-लिये भी समर्थ है। शक्तिकी तरतमताके कारण तीनों प्रकारके साधकोंकी क्रियाओंमें भेद होना स्वाभाविक है। आस्रव-तत्त्वरूप शुभाशुभ अपराधोंका संवरण करनेमें सहायक होनेके कारण ये सकल क्रियायें संवर-तत्त्वमें अन्तर्भूत हैं।

गृहस्थके योग्य क्रियाओंमें ६ प्रधान हैं—देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान। दया भी दानमें गर्भित है। श्रावकके योग्य क्रियाओंमें इन छः के अतिरिक्त सम्मिलित हैं अणुव्रत, देशव्रत तथा सामायिक। साधुके योग्य कियाओंमें ६ प्रधान हैं—महाव्रत, गुप्ति, समिति, दशधर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र, तप और ध्यान। 'तप' के अतिरिक्त यह सकल साधना वास्तवमें संवर-तत्त्वका विस्तार है और 'तप' निर्जरा-तत्त्वके अन्तर्गत है। इन सबका कथन किया जायेगा आगे धीरे-धीरे, परन्तु इतना समझ लेना आवश्यक है यहां कि बड़ी सावधानीके साथ चलना है। साधक प्रायः लोक-रञ्जनाके, ख्याति-लाभ-पूजाकी चाहके अथवा लोकेषणाके शिकार हो जाया करते हैं यहां आकर। और ऐसा हो जानेपर बड़ेसे बड़ा पुरुषार्थ करते हुए भी, महानसे महान तप करते हुए भी, बड़े-बड़े कष्ट झेलते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं कर पाते वे,

परिश्रम तथा कष्टके अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आता उनके। कुछ हाथ आनेकी ता बात नहीं, सम्भवतः पहली पूंजी भी गवा बैठते हैं वे। मिथ्या प्रशंसाओंके द्वारा उदित तपाभिमानके कारण पतन हो जाता है उनका, ज्योतिर्लोककी बजाय तमोलोकमें प्रवेश कर जाते हैं वे।

४. समन्वय—एक समस्या है यह बड़ी जटिल। दर्शन-शास्त्रके अनुसार अपनेको सिद्ध तथा पूर्ण मानकर बाह्याचारको जलाञ्जली देदें तो भी तमोलोक और आचार-शास्त्रके अनुसार ये सब क्रियायें करनेमें निमग्न हो जायें तो भी तमोलोक। ज्यातिर्लोककी प्राप्ति हो तो कैसे हो? भैया! वास्तवमें देखा जाय तो न वह ग़लत है और न यह ग़लत। ग़लत तो है वास्तवमें वह अज्ञान, वह अविवेक, वह अविद्या जिसके कारण कि इन दोनोंकी सूक्ष्म सन्धिमें निहित रहस्यको देख नहीं पाते ये दोनों ही। दोनों ही ईमानदार हैं अपने प्रति, दोनों ही का लक्ष्य है शान्तिके प्रति, दोनों पुरुषार्थ कर रहे हैं अति प्रबल, पहलेवाले कर रहे हैं बौद्धिक पुरुषार्थ और दूसरेवाले कर रहे हैं शारीरिक पुरुषार्थ। किसीके भी पुरुषार्थमें कमी नहीं परन्तु न जाने क्या रहस्य है वह जिसके कारण सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं कर पाते वे। नियतिके अतिरिक्त और क्या कहें इसे?

परन्तु मत घबरा भो पुरुषार्थी! मत घबरा, निराश मत हो, गुरुदेवकी शरणको मत छोड़, कसकर पकड़ अंगुली। सबकुछ सुलझा देंगे वे स्वयं और बता देंगे वह सूक्ष्म रहस्य भी तुझे। जिसप्रकार किसी चूर्णके स्वादमें नमक, ज़ीरा, सौंठ आदि अनेक मसालोंके स्वाद युगपत् पड़े रहते हैं, जो सबके सब युगपत् एक विजातीय स्वादके रूपमें अनुभव करनेमें आते हैं, इसी प्रकार इन सर्व क्रियाओंमें भी दो अंश रहते हैं—एक बाह्यांश और एक अभ्यन्तर अंश। इन दोनों अशोंका परस्पर मिश्रित कोई विजातीय स्वाद ही साधकके अनुभवमें आता है। बाह्यांश तो इन्द्रिय गम्य होनेके कारण जगत्के दृष्टिपथमें आजाता है परन्तु अभ्यन्तर अंश इन्द्रिय-ग्राह्य न होनेके कारण जगत्को दिखाई नहीं देता। उसे या तो जानता है साधक स्वयं या जानते हैं गुरुदेव। ख्याति व प्रशंसा आदिका आधार वास्तवमें बाह्यांश है, अभ्यन्तर अंश नहीं। जिसप्रकार कोई सर्राफ़ खोटे स्वर्णके जेवरमें, उसका शोधन किये बिना ही यह पहचान लेता है कि इसमें इतना अंश तो सोनेका है और इतना अंश खोटका, उसी प्रकार ज्ञानी-साधक बराबर इन क्रियाओंके विजातीय स्वादका विश्लेषण करके यह जानता रहता है कि इनमें इतना अंश तो बाह्य है और इतना अंश अभ्यन्तर। जिसप्रकार ताम्बा अथवा चान्दीरूप खोटका व्यवहारिक क्षेत्रमें कोई मुल्य

होते हुए भी सर्राफ़के-लिये वह बिल्कुल बेकार है, इसीप्रकार इन क्रियाओंके बाह्यांशका प्रशंसा आदिके व्यवहारिक क्षेत्रमें कोई मूल्य होते हुए भी साधकके लिये वह बिल्कुल बेकार है। जिसप्रकार जेवरमें खोट मिलवानेकी इच्छा न होते हुए भी ग्राहकको टांके आदिमें प्रयुक्त खोटको स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि बिना उसके जेवर बनना सम्भव नहीं; इसीप्रकार बाह्य-क्रियाकी इच्छा न होते हुए भी ज्ञानी-साधकको उसे स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि उसका आलम्बन लिये बिना अन्तरंगकी क्रिया सम्भव नहीं। जिसप्रकार जेवरको नित्य गलेमें पहनते हुए भी ग्राहककी दृष्टिमें उसका खोट बराबर खटकता रहता है, उसीप्रकार इन सकल क्रियाओंको करते हुए भी साधककी दृष्टिमें उनका बाह्यांश बराबर खटकता रहता है। कारण यह कि उन क्रियाओंमें रहनेवाला अभ्यन्तर अंश ही वास्तवमें अमृत है, बाह्यांश नहीं। इसके विपरीत वह तो स्वयं आस्रव-तत्त्वरूप होनेके कारण विष है।

इसलिये उसका प्रयत्न बराबर यही रहता है कि जिस किस प्रकार भी इस बाह्यांशका आलम्बन छूटे और अभ्यन्तर अंशमें अधिकाधिक वृद्धि होती जाय। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों वह आगे चलता है त्यों-त्यों बाहरसे हटकर भीतरमें जाता रहता है, बाह्यांश कम होता जाता है और अभ्यन्तर अंश बढ़ता जाता है। एक दिन अभ्यन्तर अंश पूर्ण हो जाता है और बाह्यांशका आलम्बन सर्वथा छूट जाता है। फिर उसे कुछ भी करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। करे या न करे। विधि-निषेधसे अतीत हो जाता है वह, संवर तथा निर्जरा तत्त्वका उल्लंघन करके मोक्ष तत्त्वमें प्रवेश पा जाता है वह, जीवन्मुक्त हो जाता है वह, और यही है उसकी पूर्णता जिसे प्राप्त कर लेनेके उपरान्त ही उसको अधिकार प्राप्त होता है 'सिद्धोऽहं, पूर्णोऽहं, ब्रह्मास्मि' आदि कहनेका। बस यही है वह रहस्य जिसे न जाननेके कारण कोई रह जाता है लोक-रञ्जनामें, कोई ख्याति, प्रशंसा, प्रतिष्ठामें और कोई पूर्णताके मिथ्या-अभिमान में। अतः भाई! यदि तू ईमानदार है अपनी साधनाके प्रति तो तेरा सर्वप्रथम कर्त्तव्य यह है कि इन दोनों अंशोंकी यथोक्त मैत्रीको साथ लेकर चल। अपनी ओरसे कोई खेंचतान न कर। तभी कहलायेगी वह सत्य साधना।

१६

गृहस्थ-धर्म



यातायातके इस साधन-सम्पन्न युगमें साधुओं तपस्वियों तथा त्यागियोंके दर्शन सुलभ तथा बहुल हो जानेके कारण, और साथ-साथ उनके त्याग-प्रधान उपदेश सुनते रहनेके कारण जन-साधारणमें आज एक ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि गृह-त्याग अथवा भोजन, वस्त्र आदिका अधिकाधिक त्याग किये बिना शान्ति-पथकी साधना की जानी सम्भव नहीं है। भक्तजनोंसे प्राप्त साधुओं तथा त्यागियोंकी पूजा, प्रतिष्ठा, ख्याति व प्रसिद्धि देखकर पूर्व-संस्कारोंकी वासनासे मनमें जा लोकेषणा जागृत होती है, वह इस भ्रान्तिको बल प्रदान करती है, और भोले-भाले व्यक्ति इस जालमें उलझकर अपने जीवनको नष्ट कर डालते हैं। अमृत भी उनके लिये विष बन जाता है। अतः सत्य-साधकको प्रथम-पगमें ही सावधान होकर चलना है, बाह्यके इस असत्य-प्रसारको देखकर इसकी रौमें नहीं बह जाना है। बाहरमें छोड़ने मात्रसे किसी वस्तुका त्याग नहीं हो जाता। साधना बाहरसे भीतरको न जाकर भीतरसे बाहरको आती है। बाहरमें साधु अथवा त्यागी-जैसा वेष बना लेनेसे अथवा अनुचित त्याग आदिके द्वारा देह-शोषण करनेसे शान्तिकी सिद्धि नहीं होती, विपरीत इसके कृत्रिम तथा भावना-शून्य होनेके कारण इस प्रकारका वेष तथा त्याग जीवनका भार बन बैठता है, प्रशंसा सुननेकी भावना उसे अपने प्रशंसकोंका दास बना देती है, और अपने निन्दकोंके प्रति उसका मन शंका, भय, द्वेष तथा घृणासे भर जाता है, प्रशम आदि पूर्वोक्त गुण किनारा कर जाते हैं, हृदयकी सरसता नष्ट हो जाती है और उसके स्थानपर क्रोध व अभिमान आकर डेरा जमा लेते हैं।

साधनाका अर्थ है अभ्यास और अभ्यास एकदम न होकर धीरे-धीरे हुआ करता है। इस प्रसंगमें तीन बातोंका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है—

प्रकृति, शक्ति तथा स्थिति। सर्वप्रथम व्यक्तिको अपनी प्रकृति या स्वभावमें परिवर्तन लाना चाहिये और तत्पश्चात् अपने बलाबल तथा परिस्थितिको देखते हुए यथोचित त्याग आदि करना चाहिये। न अपनी शक्तिको छिपाना चाहिये और न उससे अधिक करना चाहिये। जैसे वातावरणमें रहता हो तथा जैसी परिस्थितियों-में से उसका जीवन गुज़र रहा हो उसका भली भांति सन्तुलन करके चलना चाहिये। इन बातोंका अतिक्रम करनेसे वह ऊपर उठनेकी बजाय नीचे गिर जाता है। सद्भावनासे शून्य होनेके कारण तथा ख्याति आदिक अन्यान्य असत् अभिप्रायोंसे उत्तेजित होनेके कारण इस प्रकारका सकल प्रयास उसे सन्मार्गसे दूर किसी ऐसे अन्धकूपमें धकेल देता है जहांसे निकलनेके लिये उसे असंख्यकाल प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अच्छाईके-लिये किया गया घोर परिश्रम उसकी बुराईका हेतु बन जाता है।

प्रथम-पगमें ही साधकको अपने हृदय-राज्यमें सद्भावनायें, संवेग, निर्वेद तथा वैराग्य जागृत करके उसे धीरे-धीरे पुष्ट करनेका अभ्यास करना चाहिए, जिसके हो जानेपर त्याग आदि किया नहीं जाता प्रत्युत स्वतः हो जाता है, क्योंकि तब उसकी प्रकृति बदल जाती है, उसकी रुचि बदल जाती है। वे पदार्थ अब उसको अच्छे ही नहीं लगते, विपरीत इसके वे उसे कुछ भार सरीखे दीखने लगते हैं। साधकको सर्वप्रथम भूमि गृहस्थ है और उसकी शक्ति अति-अल्प है। इसमें रहते हुए ही उसे भावना-वृद्धिका और इसके द्वारा शक्ति-वृद्धि का अभ्यास प्रारम्भ करना है। लोक-दिखावेसे दूर रहना है, इसलिये जो कुछ भी करना है गुप्त रहकर करना है, केवल अपने भीतर तथा अपने लिए करना है। और यही है एक गृहस्थके योग्य संवर-तत्त्व।

अपनी-अपनी प्रकृति, शक्ति व स्थितिके अनुसार अनेक प्रकारसे प्रारम्भ किया जा सकता है यह अभ्यास, तथापि अनुभवी पुरुषोंने इस विषयमें छः बातें बताई हैं—देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान। इन छहोंमें प्रथम तीन अर्थात् देवपूजा, गुरु-उपासना और स्वाध्याय मनोमञ्जन अथवा भावना-वृद्धिके-लिये हैं और संयम आदि आगेकी तीन क्रियायें यथा-शक्ति त्याग व तपका अभ्यास करनेके-लिये हैं। इन छहोंका अभ्यास करनेसे साधक श्रावक आदिकी क्रमोन्नत भूमियोंमें प्रवेश पानेकी योग्यता जागृत कर लेता है। इसलिये साधकका कर्त्तव्य है कि त्याग आदि करनेकी उतावल न करे और न ही अपनी शक्तिको छिपाये, निराश न हो और सन्तोष व धैर्यपूर्वक इन छहों क्रियाओंका अभ्यास करता रहे। इनका विस्तार तो आगे क्रमसे किया जाने-वाला है, परन्तु यहां इतना बता देना आवश्यक है कि भले ही इन क्रियाओंमें

देवप्रतिमा आदि किन्हीं परपदार्थोंका अवलम्बन रहा आवे तदपि साधना या संवर उस आलम्बनका नाम नहीं है प्रत्युत समता-भावके उस अंशका नाम है जो कि इसके सत्य आलम्बनसे धीरे-धीरे चित्तमें उत्पन्न तथा परिवृद्ध होता जाता है। अन्तरंगके इस अंशकी परवाह न करके किया गया वह अवलम्बन या की गई वे क्रियायें संवर-तत्त्वरूप न होकर कोरा आडम्बर है, जिसका महत्त्व सम्प्रदाय-पुष्टिके अतिरिक्त और कुछ नहीं। लीजिये अब इनका क्रमपूर्वक विवेचन करता हूँ।



एक क्षणको भी मत भूल कि शान्ति प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है तेरा लक्ष्य, समता-रस-पानके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है तेरा प्राप्तव्य।

२०
देव-पूजा



१. आदर्श भिखारी—हे शान्ति-सुधा-सागर! हमें अपना दास बनानेका सौभाग्य प्रदान कीजिये। ओह ! कैसी अनोखी बात है कि शान्तिका उपासक मैं भीख मांगनेपर उतर आया हूँ और भीख भी काहेकी, दासत्वकी? परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है भाई ! क्योंकि आज मैं वास्तवमें हूँ ही भिखारी। भिखारी कौन होता है, यह तो सोच ? भिखारीके दो मुख्य लक्षण हैं—पहला यह कि जिसे कुछ इच्छा हो, दूसरा यह कि जिसकी इच्छायें पूर्ण न हो पाती हों या पूर्ण होनेकी आशा न हो। यदि किसीको इच्छायें न हों या अपनी इच्छाओंको स्वयं पूरा कर लेता हो तो दूसरेके सामने हाथ फैलायेगा ही क्यों? बस तो आजकी दशामें यह दोनों लक्षण मुझमें घटित होते हैं। मुझे शांतिकी इच्छा है और गृहस्थ-जालमें बन्धकर विकल्प-सागरमें डूबे हुए मुझे परिश्रम करनेपर भी विकल्पोंसे मुक्ति मिलती प्रतीत नहीं होती। इसलिये इस दशामें रहते हुए शान्ति मिलनी बहुत दुर्लभ लगती है, यहां तककि आज मैं कुछ हतबुद्धि-सा, निराशसा होकर यह ही सोचा करता हूं कि क्या करूं, कैसे इन विकल्पोंसे छूटूं, कैसे शान्तिमें स्थिति पाऊं ? मैं भिखारी अवश्य हूँ, पर अन्य भिखारियोंमें और मुझमें अन्तर है। वे हैं धन व भोगोंके भिखारी और मैं हूँ शान्तिका भिखारी। भिखारी बना रहना किसीको अच्छा नहीं लगता और मुझे भी अच्छा नहीं लगता पर क्या करूं भूखा मरता क्या नहीं करता। जिसप्रकार कदाचित् सौभाग्यवश उन भिखारियोंमें-से किसी एकको भी यदि किसी प्रकार धन या भोगोंकी प्राप्ति हो जाय तो वह स्वतः भीख मांगना छोड़ देता है, उसीप्रकार मुझे यदि कदाचित् किसीप्रकार शान्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी स्वतः भीख मांगना छोड़ दूंगा। और जैसे वह यदि आज ही आपके कहनेसे या स्वतः भीख मांगना

छोड़दे तो भूखा मर जाय, उसीप्रकार मैं भी यदि आपके कहनेसे या लज्जाके कारण शान्तिकी भीख मांगना छोड़दूं तो भूखा मर जाऊं।

२. आदर्श-दाता—अब प्रश्न यह उठता है कि भिखारी बनकर घरसे निकला कोई भी व्यक्ति किसके पास जाय भीख मांगने ? उत्तर स्पष्ट है कि उसके पास जो कि उसकी अभीष्ट वस्तुका भण्डार हो, तथा जो उदार हो कृपण नहीं। बस तो जिसप्रकार धनके भिखारी जाते हैं धनके भण्डार व दानी धनिकों व राजाके पास; धनुष-विद्याके भिखारी जाते हैं, उस विद्याके भण्डार व उदार-हृदय द्रोणाचार्यके पास ; आधुनिक विद्याके भिखारी जाते हैं उस विद्याके भण्डार तथा इसे देने में तत्पर स्कूल कालिजोंके मास्टरों तथा प्रोफैसरोंके पास; वीरताके भीखारी जाते हैं वीरताके भण्डार तथा दयालु महाराणा प्रतापके पास; जूएके भिखारी जाते हैं किसी बड़े जुआरीके पास; उसीप्रकार शान्तिका भिखारी मैं जाऊंगा शान्तिके भण्डार व विश्व-कल्याणमें तत्पर किसी भी योग्य व्यक्तिके पास।

अब देखना यह है कि मेरी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला, मुझ भिखारीकी झोली भर देनेवाला, उपरोक्त लक्षणोंको धारण करनेवाला, ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास कि मैं जाऊँ, तथा वह कहां रहता है ? चलो खोजें उसे। यह लो राजाकी सवारी आती है। आइये इसीसे मांग लें। "राजा महाराजकी जय हो, इस गरीबकी झोलीमें भी कुछ डालदो।" "लो यह दो अशर्फी।" "पर क्या करूंगा इनका ? मुझे तो शान्ति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "अरे ! इस शान्तिका तो मैं भी भिखारी हूँ। भिखारी भिखारीको क्या देगा ?" और इस प्रकार स्कूलका मास्टर, प्रोफैसर, सेठ, सेनापति, जुआरी, कसाई सबसे मांगकर देखो, सब स्वयं भिखारी हैं इस शान्तिके, अतः उनके पास जाना व्यर्थ है।

अब आइये इधर इस द्वारपर जहांकि कल्पनाओंके घोड़ेपर सवार ये कुछ विशेष प्रकारके भिखारी खड़े भीख मांग रहे हैं। देखें तो अन्दर कौन है और क्या बांट रहा है ? अरे ! ये तो मुरली-मनोहर हैं, मुरलीकी धुनमें तथा भक्त गोपियोंके साथ रासलीलामें मग्न, अतीव सुन्दर शरीरके धारी, बलवान, नीतिज्ञ, दयालु, सखा तथा अनेक गुणोंके भण्डार श्रीकृष्ण। "प्रभो ! मुझे भी दे दीजिये कुछ ?" "हां, हां लो। बताओ क्या चाहिये ? संगीतका मधुर पान चाहिये तो यह लो, अपने साथियोंसे प्रेम करनेकी इच्छा हो तो यह लो, वीरता चाहिये तो यह लो, राज्यनीति चाहिये तो यह लो, धन-महल चाहियें तो यह लो। अरे ! तुम तो कुछ बोलते ही नहीं ? बोलो, डरो नहीं, जो चाहिये ले लो।" "परन्तु भगवन् ! मेरे कामको तो इनमें एक भी वस्तु नहीं। मुझे तो शान्ति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "हैं ! क्या कहा ? शान्ति ? भाई यह तो

कुछ कठिन समस्या है। यही एक वस्तु ऐसी है जो मेरे पास नहीं। मैं स्वयं इसके-लिये वैराग्यमूर्ति श्मशानवासो शिवकी उपासना करता हूँ।"

आइये इधर देखिये, कैसी भीड़ लगी है ? अरे ! ये तो राजाराम हैं। कन्धेपर धनुष, दाईं ओर भ्रातृभक्त लक्ष्मण और बाईं ओर माता सीता। अहा हा ! कितना मनोज्ञ है यह दृश्य, मानो विश्वको प्रेमका संदेश सुना रहा है। मुखपर कोमल-कोमल मुस्कान, मानो जगतको निर्भयता प्रदान कर रहे हैं। आओ इन्हींके सामने झोली फैलाकर देखूं, सम्भवतः कुछ मिल जाय। देखिये ये स्वयं बुला रहे हैं। कितना प्रेम है इनमें ? "प्रभो ! मुझे भी दे दीजिये कुछ।" "लेलो भाई! यह पड़ा है ढेर, जो चाहे ले जाओ। देखो यह पड़ी है पितृभक्ति, इधर देखो यह पड़ा है प्रजापालन, और वह देखो रखा है न्याय, यह है वीरता, और यह लो कर्त्तव्य-परायणता। बताओ क्या चाहिये ? अरे ! चुप क्यों हो ?" 'क्या कहूँ भगवन् ! इन सबमें-से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मुझे तो चाहिये केवल शान्ति।" 'ओह ! समझा। बहुत भाग्यशाली हो तुम, उस महान वस्तुकी जिज्ञासा लेकर आये हो जिसके सामने तीन लोककी सम्पदा तुच्छ है, जिसके लिये बड़े-बड़े चक्रवर्तियोंने राजपाट-को लात मार दी, और जिसके-लिये मैंने स्वयं भी इस सम्पूर्ण जालको तोड़कर वीतरागी-वेष धर वनवासको अपना सौभाग्य समझा। तुम सम्भवतः नहीं देख पा रहे हो मेरे जीवनका वह पिछला भाग, जबकि मैं राजाराम नहीं था बल्कि था साधूराम, और न देख पा रहे हो मेरा आजका जीवन, जबकि मैं राजारामकी बजाए भगवान् राम बन चुका हूँ। यदि शान्ति चाहिये तो राजारामके पास न मिलेगी बल्कि भगवान् रामके पास मिलेगी, मुनि-रामके पास मिलेगी, तपस्वो-रामके पास मिलेगी, दिगम्बर-रामके पास मिलेगी, जिसको न रही थी महलकी आवश्यकता, जिसको न रही थी वस्त्राभूषणकी आवश्यकता, जिसको न रही थी दासियोंकी आवश्यकता, जिसको न रही थी धनुष-बाणकी आवश्यकता।" जब उसका नाम राम न रह गया था बल्कि हो गया था इन्द्रिय-विजयी जिन। (जैन मान्यताके अनुसार सर्व तीर्थंकरोंकी भांति भगवान् राम तथा भगवान् हनुमानने भी सन्यास लेकर तपश्चरण द्वारा मुक्ति प्राप्त की थी।)

कैसा मधुर व निःस्वार्थ है इनका उपदेश ? धन्य हो गया हूँ भगवन् आज इसे सुनकर। आपने मुझे अधिक भटकनेसे रोक दिया। यदि आपसे उस शान्ति-भण्डार मुनि व भगवान् रामके सम्बन्धमें परिचय न पाता तो न जाने किस-किसके दरकी ठोकरें खानी पड़तीं। बड़ा अनुग्रह हुआ है नाथ आपका, कृपया आशीर्वाद दीजिये कि मैं उस परम-योगेश्वरको खोज निकालनेमें सफल हो जाऊं।

१. आदर्श-देव—कहां खोजूं उन्हें ? घरमें या वनमें ? चलो पहले घरमें ही खोजूं । अरे ! ये रहे वे तो, मेरे ही घरमें । घरमें भी क्या, स्वयं मुझमें । मुझमें भी क्या, स्वयं मैं ही तो हूं शान्ति तथा समताका आवास, महाप्रभु चैतन्य महातत्त्व, जीवतत्त्व । क्या नहीं देख रहे हो ? चलो भीतर । इन्द्रियोंके पीछे तथा इनके द्वारा गृहीत विविध ज्ञेयाकृतियोंके पीछे । मनके पीछे तथा इसके द्वन्द्वात्मक संकल्प-विकल्पोंके पीछे, इसकी रागद्वेषात्मक कषायोंके पीछे । बुद्धिके पीछे तथा इसकी विविध तर्कणाओंके पीछे, धारणाओं तथा स्मृतियोंके पीछे । अहंकारके पीछे तथा इसके विविध संस्कारोंके पीछे, वासनाओं कामनाओं व इच्छाओंके पीछे । भीतर, और भीतर, हृदयकी अन्तस्तम गुफामें । कितना प्रचण्ड है इसका तेज, महातत्त्वकी ज्योति ? इसीके तेजसे तेजवन्त है मन तथा इसका जगत; इसीकी ज्योतिसे ज्योतिवन्त है बुद्धि तथा इसका विस्तार, इसी की सुवाससे वासित है अहंकार तथा उसकी वासनायें । सबमें अनुस्यूत है यह, सबमें अनुगत है यह, मालाके दानोंमें पिरोये गए डोरेकी भांति । कितनी चतुराईसे छिपाया है इन्होंने अपना रूप, ताकि किसी जगवासीकी नज़र न लग जाय इन्हें । अत्यन्त सुन्दर हैं न ये और साथ ही एक चतुर कलाकार भी । परन्तु कहां जाओगे प्रभु ! मुझसे छिपकर ? क्या तरंगसे सागर छिपा है कभी ? आप ही का तो शिशु हूं मैं, आप ही का तो अंश हूं मैं, आप ही की तो तरंग हूँ मैं । भले छोटासा हूं, भले अबोध हूँ परन्तु आपकी एक किरण जो प्राप्त करली है मैंने गुरु-कृपासे ।

परन्तु यह क्या ? लुप्त हो गए ? इतनी जल्दी ? बड़े माया-जालिये हैं आप । आपसे मेरा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं । एक क्षणको भी नहीं टिकते, मुझे देंगे क्या ? मुझे तो चाहिये ऐसे देव जिनसे मुंह-दर-मुंह बातें कर सकूं मैं, जिनकी गोदमें खेल सकूं मैं, जिनका प्यार पा सकूं मैं, जिनको अपने दुःख सुखकी व्यथा सुना सकूं मैं और जिनसे भीख मांग सकूं मैं ।

और यह लो मेरे सौभाग्यसे ऋषियोंने बना दिया इस निराकारको साकार, तत्त्वको मानव, अतिमानव । किसीको लगा दिये चार हाथ पांव और किसीको दस । किसीका रूप बनाया सुन्दर और किसीका भयंकर । विविध शक्तियोंके प्रतीकरूपमें विविध आयुध दे दिये उनके हाथोंमें, और उनकी प्रधान चित्‌शक्तिको ला बैठाया उनके वाम-भागमें, उनकी अर्धांगिनी बनाकर । विविध गुणोंके प्रतीकरूपमें विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलङ्कृत करदिया उनके दिव्य शरीरों को । परन्तु कहांसे लाऊं बुद्धि इतनी कि दर्शन कर सकूं इन विविध प्रतीकात्मक आकारोंमें निराकारके, देख सकूं इन अतिमानवोंको तत्त्वके रूपमें, जिसके प्रतीक

बनाये गए हैं ये। मुझे तो दीखता है केवल उनका बाह्य रूप, उनकी सुन्दर अथवा भयंकर आकृतियां, उनके आयुध तथा वस्त्रालङ्कार, उनकी पत्नी तथा उनके सेवक। इन्हें देखकर समझ बैठता हूँ मैं इन्हें सातवें आसमानमें रहनेवाला कोई भोगी-विलासी, रागी-द्वेषी, अपने शत्रुओंके प्रति भयग्रस्त, उनके साथ युद्ध करनेमें रत और न जाने क्या-क्या। एक लौकिक सम्राटसे अधिक दीखते ही नहीं वे मुझे। कैसे करूं इनमें देवके दर्शन, अपनी-आदर्शभूत समता तथा शान्तिके दर्शन ? अतः इनसे भी मेरा काम चलनेवाला नहीं।

चलिये अब वनकी ओर, अपने प्रभुको खोजने, जो मेरी झोलीमें शान्तिकी भिक्षा डाल सकें। अरे! ये सामने कौन दिखाई दे रहे हैं, कितनी शान्त व सौम्य है इनकी मुखाकृति, रोम-रोमसे शान्तिका प्रसार करते मानो साक्षात् शान्तिके देवता ही हैं। जिनका नग्न वेष बता रहा है कि इन्हें कोई इच्छा नहीं, कोई चिन्ता नहीं गरमीकी या सर्दीकी, भूखकी या प्यासकी। इनकी शान्त-मुस्कान बता रही है कि इन्हें कोई आश्चर्य नहीं, कोई शोक नहीं, कोई भय नहीं, जिसके कारण कि इन्हें शस्त्र अपने पास रखने पड़ें। इनका पुलकित शरीर बता रहा है कि इन्हें कोई राग भी नहीं। शान्तिमें इनकी निश्चलता बता रही है कि इस व्याकुल जगतसे इनका कोई सम्पर्क नहीं, और न ही आगे कभी होगा। इनका सन्तोष बता रहा है कि इस शान्तिका विच्छेद इनसे कभी नहीं होगा। इनकी साम्यता बता रही है कि इन्हें न भक्तसे प्रेम है न निन्दकसे द्वेष। इनकी सौम्यता इनके अन्तरंगकी साम्यताको दर्शा रही है तथा बतला रही है कि इन्हें कोई अभिमान नहीं, किसी भी परपदार्थका कुछ करने सम्बन्धी मोह नहीं। इनकी सरलचित्तता बता रही है कि इन्हें कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ रहा है। वही तो हैं ये, जिनका दर्शन किया था मैंने अपने भीतर। उन्हींका तो साकार रूप है यह, उन्हींकी तो प्रतिच्छाया है यह। खुले आकाशके नीचे अस्पृष्ट तथा अलिप्त बैठी यह निर्भीक-शान्तमुद्रा न जाने मुझे क्यों रस्सा बान्धकर अपनी ओर खेंच रही है ? कितनी शान्ति आ गई है इनके दर्शनमात्रसे ? इससमय मैं भूल बैठा हूँ सबकुछ, यहाँतक कि यह भी कि मैं यहाँ किस कामके लिये आया था। मानो मैं स्वयं भी शान्त हुआ जा रहा हूँ।

चन्दनके आस-पास लगे वृक्ष भी स्वतः चन्दन बन जाते हैं। इस शान्तिके देवताका भी तो ऐसा ही माहात्म्य प्रतीत होता है कि इनसे बिना कुछ मांगे ही मैं तृप्त हुआ जा रहा हूँ, कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ। भोगोंका रस इस समय मुझे विषमय भास रहा है, स्त्री व बच्चोंकी चीख-पुकार माना मेरे कानोंको चीरे डाल रही है, धन सम्पत्ति मानो एक बड़ा भारी भारसा प्रतीत हो रहा

है, इसका उपार्जन व रक्षण अब साक्षात् दावाग्निवत् दिखाई पड़ रहा है। मैं भी स्वयं शान्तिके साथ तन्मयसा हो गया हूँ, शान्तिसुधाका मानो पान ही कर रहा हूँ। आज मैं अपनेको भिखारी नहीं समझता। मैं तो स्वामी हूँ, सामने बैठा इन जैसा ही सा समझ रहा हूँ कुछ अपनेको। ठीक ही सुना करता था कि प्रभु अपने आश्रितको अपने समान कर लेते हैं, आज उस बातका साक्षात् हो रहा है। अन्तर केवल इतना है कि तब समझा करता था यह कि वे उसे कुछ राज्य वैभव आदि देकर अपने बराबर करते हैं, और अब समझता हूँ यह कि उनका करना नाम मात्र है, वास्तवमें उनके बिना किये स्वतः उनका आश्रित उनके समान शान्त हो जाता है, उनके बिना कुछ दिये स्वतः वह वस्तु अर्थात् शान्ति पा लेता है, जिसकी इच्छा लेकर वह इनकी शरणमें आया था तथा जिसके लिये भटकता-भटकता वह कुछ निराश हो गया था।

अहो ! इस परम अभीष्ट शान्तिको पाकर, उस शान्तिको कि जिसके पानेके लिये मुझे व्यर्थ ही अनेकों द्वारोंकी ठोकरें खानी पड़ीं, मैं आज न जाने अपनेको कितना महान् देख रहा हूँ। कुछ ऐसासा लगता है कि मानो मुझे नालीसे निकालकर सिंहासनपर बैठा दिया गया हो राजतिलकके-लिये। परम सौभाग्य ही जागृत हो गया है आज मेरा। आजतक राजा-रामको देखता रहा, अब भगवान् रामको देख रहा हूँ, भगवान् हनुमन्तको देख रहा हूँ, भगवान् ऋषभको देख रहा हूँ, अरिष्ट-नेमिको देख रहा हूँ, भगवान् पार्श्व व महावीरको देख रहा हूँ। मानो साक्षात् ब्रह्माको, शिवको या शंकरको देख रहा हूँ, महादेव या महेशको देख रहा हूँ, विष्णु या बुद्धको देख रहा हूं, अल्लाह या खुदाको देख रहा हूँ। जिनको आजतक पृथक-पृथक देखकर व्यर्थ द्वेषकी ज्वालामें जलता रहा, आज उनको एक शान्तिके आदर्शरूपमें देख रहा हूँ। वास्तवमें आज मैं धन्य हो गया हूँ।

जगत पुकारता रहे इन्हें अनेकों नामोंसे, परन्तु शान्तिके भिखारी मेरेलिये ये राम है न कृष्ण, न राजा न वीर, है केवल शान्तिका प्रतीक। यह है मेरा लक्ष्यबिन्दु, मेरे जीवनका आदर्श। यह है वह जो कि बनना चाहता हूँ मैं। यही है मेरा उपास्य देव, जिसके चरणोंका दास बननेकी मैंने प्रार्थना की थी। सर्वत्र घूमा पर राग व इच्छा, द्वेष व भय, प्रेम व शोकके अतिरिक्त कुछ न देखा, सब स्थानोंसे निराश ही लौटा। सर्व-दोषविमुक्त इस शान्तिके सौन्दर्यमें मुझे वह दिखाई दे रहा है जो मैंने कहीं नहीं देखा अर्थात् वीतरागता, छोटे-बड़े, ऊंचे नीचे सर्व-प्राणियोंके प्रति साम्यता, सरलता, सौम्यता, स्थिरता, क्रोधादि-रहित प्रसन्नचित्तता। अनेक गुणोंका भण्डार यही था मेरा लक्ष्य, जिससे मुझे कुछ मांगना था, पर बिना मांगे ही जिसे देखकर मुझे मिल गया।

४. आदर्श-पूजा—शान्तिके उपासकने दर-दरकी ठोकरें खाकर आखिर शान्तिके देवता को अर्थात् अपने इष्टदेवको ढूंढ ही लिया। परन्तु किंकर्त्तव्य-विमूढ़सा मैं अब इनकी पूजा कैसे करूं? क्या जलसे? या चन्दनसे? या अक्षत पुष्पादिसे? इन वस्तुओंकी इन्हें आवश्यकता ही क्या? अरे भोले! इनको तो तेरी पूजा ही की कौन आवश्यकता है? इनको तो कुछ नहीं चाहिये; तू चाहे पूजाकर या निन्दा, ये तो दोनोंमें समान हैं। चाहे जल चढ़ा या विष, दोनोंसे ही इनको लाभ-हानि नहीं। ये हैं तेरे विकल्प, चाहे किसी प्रकार पूरे कर।

मैं क्या करूं प्रभु! कुछ भी किये नहीं बनता, एक ओर आप शान्तिके देवता, त्रिलोकाधिपति, और दूसरी ओर मैं कीट। सर्व लोकमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं दिखाई देती जिसे आपके चरणोंमें भेट करूं, असमञ्जसमें पड़ा हूं, कभी आपको ओर कभी अपनेको देखता हूं। कहाँ बिठाऊँ आपको? तीनलोकमें आपके योग्य स्थान ही दीखता नहीं। तो क्या मैं आपकी पूजा ही न कर सकूंगा? क्या सेठ लोगोंको ही अधिकार है इस महा-सौभाग्यका? बोलते क्यों नहीं? मैं भी तो आपका सेवक हूं? भले कुछ न आता हो मुझे, भले बोलना भी न आता हो मुझे, भले मेरे पास धन न हो, भले मेरे पास आपकी भक्तिके पाठ न हों, परन्तु इतना तो अवश्य है मेरे पास कि मेरे हृदयमें आपको देख कर कुछ तूफ़ानसा उठ खड़ा हुआ है। क्या कहूं मैं उसे? मैं स्वयं नहीं जानता कि क्या है वह? कुछ बहुमानसा है। यद्यपि आपके योग्य तो नहीं पर कुछ है अवश्य। बस यही सामग्री है मेरे पास। क्या स्वीकार कर लेंगे मेरी पूजाको?

अहा! शान्ति ही शान्ति दीखती है चहूं ओर, सर्व विकल्प शान्त हो गये हैं मेरे, कोई चिन्ता नहीं रही है, शान्तिके इस प्रवाहमें मैं स्वयं खोसा गया हूं, अपनी महिमाका भान होने लगा है। मैं चैतन्य हूं, सब बाह्य दीखनेवाले नाते कहाँ हैं मुझमें? मैं'मैं' का विचारकर सर्वदा इसमें ही खोया रहूं तो कहाँ है अवकाश चिन्तओंको, कहां है अवकाश विकल्पोंको, और कहां है अवकाश व्याकुलताको? आप जैसा ही तो हूं, अमूर्तिक व शान्तिस्वरूप। यदि अन्यका विचार न करूं तो शान्ति ही है। आपको देखकर अन्य सर्वको मैं पहले ही भूल चुका हूं। आपको मेरी इस भक्तिसे हर्ष नहीं हो रहा है, और न निन्दासे खेद। मुझे ही क्यों हो? किसीके लिये मैं चिन्तायें क्यों करूं? किसीकी निन्दासे मैं दुःखी क्यों हूं? किसीके दुःखमें मैं दुःख क्यों मानूं? हुआ करे लोक व्याकुल, मैं तो सुखी हूं, मुझे तो अपनेसे मतलब है। मैं किसीका बुरा भी क्यों चिन्तूं? मैं तो

अबाध्य हूँ। मैं शरीर, पुत्र, धन, धान्यादिको अपना हितकारी या अहितकारी भी क्यों समझूं ? आप जिसप्रकार मुझे देख रहे हैं, इस निन्दकको देख रहे हैं, इस समवशरणकी विभूतिको देख रहे हैं, उसीप्रकार क्यों न देखूं मैं भी सर्व ज्ञेयको ? हैं वे भी कोई पदार्थ, पड़े रहें, मुझे क्या, मुझसे क्या लेते हैं, मुझे क्या देते हैं ? नाहक् विकल्प किया करता था, निःसार, निष्प्रयोजन। किसीका क्या जाता था, मेरा ही बिगड़ता था, मेरे ही घरमें आग लगती थी। आज आपके दर्शन पाकर न जाने कहां जाते रहे हैं ये सब विकल्प।

आप और मैं ? अरे ! यह द्वैत भी कहाँ टिकता है यहां ? जो आप हैं सो ही तो मैं हूँ, शान्तमूर्ति आप और शान्तमूर्ति मैं। अरे रे ! यह क्या ? सब शान्ति ही शान्ति, और कुछ नहीं। यहां तो 'शान्ति और मैं' इस द्वैतको भी अवकाश नहीं। कहूँ भी क्या, दूसरा कुछ है ही नहीं यहां। एक अद्वैत ब्रह्म, शान्तं-शिवं-सुन्दरं। कैसे बखान करूं इसकी महिमाका ? इसकी महिमाका क्या अपनी महिमाका, अपने सौन्दर्य का। शरीरके सौन्दर्यका नहीं कह रहा हूँ भगवन् ! अपने सौन्दर्यकी बात है, अन्तरंग सौन्दर्यकी, जिसके सामने जगतकी सुन्दरता भ्रम है, जिसमें तन्मय हो जानेपर सारा जगत कल्पना-मात्र है, जहां मैं और शान्तिका भी भेद नहीं। आहा ! यह, बस यह, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

अरे मैं तो आपकी पूजा करने आया था, पर आपको भूल गया और अपनेको भी। कौन पूजा करे, किसकी करे, और कैसे करे ? कोई पदार्थ ही दिखाई नहीं देता, क्या अर्पण करूं ? एक शान्ति है, लीजिये यही चढ़ा देता हूँ चरणोंमें और शान्तिको चरणोंमें चढ़ा दिया तो मैं पृथक रह ही कहां गया ? मैं भी तो चढ़ गया वहीं। चरणोंमें क्या चढ़ना, आपकी शान्तिमें ही तो मिल गया। आपकी शान्ति और मेरी शान्ति दो रही ही कहां ? एक शान्ति ही तो है और वह मैं ही तो हूँ ? बस फिर वही शान्ति, उसके साथ तन्मयता, वही सौन्दर्य। बताइये भगवन् ! पूजा करूं तो कैसे करूं ? पुनः-पुनः शान्तिमें खोया जा रहा हूँ, पूजाका विकल्प फिर शान्ति, फिर पूजाका विकल्प फिर शान्ति। यह कैसी आँखमिचौनी है, कभी अन्दर लखाता हूँ और कभी बाहर, कभी अपनी ओर और कभी आपकी ओर ? यह मेरी अस्थिर बुद्धिका ही परिणाम है, पूजा करूं तो कैसे करूं ?

यही तो है यथार्थ पूजा, और क्या चाहता है इसके अतिरिक्त ? चढ़ाने व चढ़नेमें क्या रखा है ? अपनी शान्तिपर न्योछावर होकर उसके साथ तन्मय हो जाना ही प्रभुके चरणोंमें वास्तविक भेंट चढ़ाना है। तू तो धन्य है कि तुझे वास्तविक पूजाका अवसर मिला। लोगोंके द्वारा की जानेवाली पूजापर क्यों

जाता है ? ये बिचारे स्वयं नहीं जानते कि पूजा किसे कहते हैं। निज शान्तिके साथ तन्मयतामें अत्यन्त तृप्ति, सन्तोष व हलकापनसा जो प्रतीतिमें आता है वही वास्तवमें देवपूजा है, अन्तरंगपूजा।

इस पूजामें-से स्वाभाविक माधुर्य आ जानेपर स्वत: ही प्रभुके प्रति एक बाहुमानसा उत्पन्न हो जाता है। इस माधुर्यसे च्युत हो जानेपर अर्थात् निज शान्तिके वेदनसे हटकर प्रभुका विकल्प उत्पन्न हो जानेपर, कुछ इस प्रकारकी स्वाभाविक दासतासी उत्पन्न हो जाती है कि हे प्रभु! मुझ जैसे भव-कीटको यह अतुल निधान प्रदान करके कृत्यकृत्य कर दिया है आपने। 'मैं किन शब्दोंमें कृतार्थता प्रगट करूँ? आपको कहाँ बिठाऊं?' इत्यादि जो पूर्वकथित विकल्पोंके आधारपर प्रभुमें तन्मयता है, वह ही कहलाती है उनकी भक्ति या बहुमान। इस प्रकारका बहुमान कृत्रिम नहीं हुआ करता, स्वाभविक होता है, अन्तर-ध्वनिसे निकलता है, किसी गुरुकी प्रेरणासे नहीं होता, स्वयं अन्तष्करणकी प्रेरणासे, उसके झुकावसे उत्पन्न होता है। स्वाभाविक बहुमानका कुछ चित्रण इस दृष्टान्तपर-से दृष्टिमें आ सकता है।

एक सेठजी थे, एक ही पुत्र था उनके। दुर्भाग्यसे कुसंगतिमें पड़ गया और सम्पत्ति लुटाने लगा। सेठजी को बड़ी चिन्ता हुई, बीमार पड़ गए, चिन्ता बढ़ती गई। 'क्या होगा मेरे पीछे इस लड़केका? भूखा मरेगा' और इसीप्रकार अनेकों विकल्पोंमें फंसे अन्तिम श्वास लेने लगे। उनका एक मित्र था। बड़ा प्रेम था दोनोंमें। अपने मनकी व्यथा किसे सुनाते? मित्रपर दृष्टि पड़ी और सब कुछ व्यथा उगलदी। "मित्र इस संकटमें मेरी कुछ सहायता करो, मैं तो एक-दो दिन का हूँ, इस बच्चेकी रक्षाका भार तुम्हें देता हूँ"। मित्र स्वयं भी एक सेठ थे, जगतके अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे उन्होंने। बोले, "चिन्ता न करो, शान्ति धरो, मुझपर विश्वास करो, बच्चेका जीवन कुछ ही दिनोंमें पलटा खायेगा"। सारी नगदी, जेवर, हीरे-जवाहरात घरके एक कोनेमें गाड़ दिये, और सेठजी सो गये सदाके-लिये। लड़का कई सालतक जायदाद बेच-बेचकर लुटाता रहा और एक दिन फ़कीर हो गया। एक-एक करके मित्रोंने अपना रास्ता नापा। लड़का बेचारा लगा भूखा मरने, कभी सूखे चने चबा लेता, कभी पानी ही पीकर सन्तोष कर लेता। तनपर वस्त्र थे पर नाम मात्रको। रहनेको एक मकान ही रह गया था अब उसके पास और वह भी कालके प्रहारोंसे भग्नावशेषमात्र। भीख मांगनेका साहस होता तो अवश्य भिखारी बन गया होता, पर इसप्रकार कबतक चले? एक दिन व्याकुलचित्त उसके पाँव ले चले उसे किसी ओर, उसी अपने पिताके मित्र अपने चचाके पास। चचा जी! आगया आखिर आज आपकी शरणमें। आपको

छोड़कर और जाता भी कहां ? पिछली बातें याद दिलाकर मुझे लज्जित न करना, मेरा अन्तष्करण स्वयं मुझे धुनकार रहा है, उसकी मार असह्य है, इस वेदनाको न बढ़ाना अपितु मेरी रक्षा करना।

दयालु चचा बोले कि "बेटा चिन्ता न कर, यह मुझे पहलेसे पता था एक दिन अवश्य आयेगा यहां। अच्छा ही किया कि आ गया। कबतक चलता व्यर्थ भूखा रहकर और तुझे इस दशामें रहनेकी आवश्यकता भी क्या है ? तू तो अब भी करोड़ोंका स्वामी है, अब भी चाहे तो व्यापार करके अपने पितासे अधिक धनवान हो सकता है। कमी ही क्या है तुझको ?" परन्तु विश्वास कैसे आये ? "नहीं-नहीं चचा, हंसी न कीजिये, एक-एक रोटीको मोहताज अब सेठ बननेके स्वप्न देखनेको अवकाश कहां ? अब तो रोटी चाहिये।" "घबरा नहीं बेटा ! मैं हंसी नहीं कर रहा हूं, ठीक ही कहता हूं, विश्वास कर मुझपर, तेरे हितकी बात है, तू अब भी हज़ारोंको खिला देने योग्य है। रोटीकी क्या कमी तुझे ? जा अपने घरका दक्षिणी कोना खोद डाल।" सहम ही गया मानो यह सुनकर, कोई वज्र ही पड़ा हो जैसे उसपर, "सब ओरसे निराश्रय हो गया हूं, एक यह मकान शेष है, यह भी कालके प्रहारों द्वारा खाया हुआ। मकान भी काहेका, एक छतमात्र है जिसके नीचे सर छिपा लेता हूं। खोद दिया तो कभी खड़ा न रह सकेगा, यह भी मुंह मोड़ जायेगा। इतनी बड़ी चोट सहनेकी इसमें शक्ति ही कहां है ? नहीं-नहीं चचा ! मुझे बेघर बनानेकी बात न कीजिये, अब अधिक परीक्षा न लीजिये, बस पेट भरने भरकी इच्छा है।" "ओह ! दया आती है तेरी दशापर, भूखका मारा आज तू जितना भी संशय करे थोड़ा है। पर नहीं, अब इसे छोड़, विश्वास कर, जैसे मैं कहता हूं वैसे कर, जा अपने घरका दक्षिणी कोना खोद डाल।"

लड़खड़ाता हुआ वह आखिर चल पड़ा, कुछ निराशामें डूबा। परन्तु अब मार्ग भी क्या है ? देखा जायेगा। जहाँ इतना सहा यह भी सह लूंगा, चचाके अतिरिक्त अब है भी कौन जिसके पास जाऊं अपनी पुकार सुनाने ? घर खोदना प्रारम्भ किया और कुछ देरके पश्चात्— हैं ! यह खट की ध्वनि कैसी ? क्या है इसमें दबा हुआ ? कोई टोकनासा प्रतीत होता है। अरे ! यह तो है वही जिसकी ओर चचाका संकेत हुआ था।' और एक ही बार घूम गई चचाकी सब बातें, उसके हृदय-पटपर। 'तू अब भी करोड़पति है, तू अब भी करोड़पति है' मानो कोने-कोनेसे यही आवाज़ आ रही थी। पागलसा हो गया वह कुछ भावुकताके आवेशमें, भूल गया आगे खोदना। हाथ भी कैसे चलता ? कृतघ्नी तो था नहीं। यद्यपि पृथ्वीका टोकना पृथ्वीमें ही था, पर सेठ बन चुका

था आज वह। 'नहीं-नहीं' यह कृतज्ञता न कहलायेगी। यह सब कुछ मेरा है ही कब ? मेरा होता तो भूखा क्यों मरता ? और यदि दूसरे मकानोंके साथ इसे भी बेच देता तो किसका होता यह टोकना ? नहीं-नहीं, मेरा कुछ भी नहीं, भले यहाँ रहता हूँ। वे इतनी प्रेरणा न देते तो खोदनेको ही कब तैयार होता मैं ?' और इसीप्रकारके विचारोंमें खो गया वह, रुक गये उसके हाथ, और चल पड़ा दौड़ा-दौड़ा अपने चचाके घरकी ओर।

"चलिये चचा चलिये, सम्भाल लीजिये वह जो वहांसे निकला है, आपने ही बताया था, आपका ही है।" "बेटा ! जा उसको निकालले, व्यापार प्रारम्भ कर, तेरा कल्याण होगा।" धन्य है चचा आपकी सहानुभूति, धन्य है आपका प्रेम, धन्य है आपकी निःस्वार्थता, धन्य है आपका त्याग। आजतक आपकी शरणमें न आकर व्यर्थ ही ठोकरें खाता रहा, क्षमा कर दीजिये अब मुझे। मैं अधम हूँ, नीच हूँ, पापी हूँ। आपकी ओर आजतक न देखा, उन दुष्टोंको ही मित्र समझता रहा जिन्होंने सबकुछ लूटा और यदि कदाचित् इस टोकनेका भी पता होता तो अबतक साथ न छोड़ते। आप न होते तो आज मैं रंकसे राव कैसे बनता ? मैं कैसे आन्तरिक कृतार्थता प्रगट करूं ? कहनेको शब्द भी तो नहीं हैं मेरे पास। किंकर्तव्य-विमूढ़सा मानो सब कुछ भूल गया हूं मैं। जी करता है कि आपके चरणोंमें बिछ जाऊं। क्या करूं, क्या न करूं, कुछ सूझ नहीं पड़ता। 'आशीर्वाद दीजिये चचा', आखिर यही निकलता है मुंहसे। और इसप्रकारका कुछ अन्तर्प्रवाह बह रहा था उसके हृदयसे आज। आंखोंसे अश्रुधारा मानो उसकी सब पिछली भूलोंको धोये डाल रही थी। और यह सब कुछ वह किसी दबावसे नहीं कर रहा था, स्वतः ही उससे ऐसा हो रहा था। यदि और भी शक्ति होती तो और भी सबकुछ करनेको तैयार था आज वह अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट करनेके-लिये, नया जीवन जो मिला था उसे आज।

५. अष्टद्रव्य पूजा—आप भी क्या ऐसा ही न करते यदि होते उस परिस्थितिमें ? यदि कृतज्ञ होते तो अवश्य ऐसा ही करते क्योंकि यह स्वभाव ही है एक कृतज्ञका, उपकारीके प्रति सहज भक्ति, सहज बहुमान। यही है वह भाव जिसके प्रति कि संकेत किया गया था—अन्तरंग शान्तिके किञ्चित् वेदनके माधुर्यसे निकला हुआ देवके प्रतिका स्वाभाविक बहुमान, आदर्श-भक्ति, आदर्श-पूजा, भाव-पूजा; और इस बहुमानसे प्रेरित होकर अपनी योग्यतानुसार कुछ शब्दोंकी, तथा अपने उद्गारों की, तथा कुछ सामग्री आदिको उनके चरणोंमें भेंट, कुछ याचनायें, सो है बाह्यपूजा, द्रव्यपूजा।

१. हे नाथ ! इस तृप्तिकर अतुल शान्तिमें विश्राम करते हुए आप तो, जन्म-जरा-मरणसे अतीत, क्षण-क्षणमें वर्तनेवाले दाहोत्पादक विकल्पोंकी दाहसे अति दूर, स्वयं एक शीतल सर हो। मुझको भी शीतलता प्रदान कीजिये, इन विकल्पोंसे मेरी रक्षा कीजिये प्रभु। उस अलौकिक शीतलताको पानेकी जिज्ञासा लेकर लौकिक शीतलताका प्रतीक यह जल लाया हूँ आपके चरणोंपर चढ़ाने, मानो मेरे उद्‌गार ही जल बनकर बह निकले हैं आज।

२. हे देव ! इस शीतल शान्त-सरोवरमें वास करके भव-संतापके दाहका नाश कर दिया है आपने। मुझ संतप्तका दाह भी नाश कीजिये प्रभु। बड़ा खेद-खिन्न हो रहा हूँ, चिन्ताका ताप अब सहा नहीं जाता, इच्छाओंमें भड़ाभड़ जल रहा हूं। मेरी भी यह दाह शान्त कीजिये नाथ। अलौकिक शीतलताकी इच्छा लेकर लौकिक दाह-विनाशक यह चन्दन लाया हूं आपके चरणोंकी भेंट, मानो साक्षात् चन्दन बनकर आया हूं आपके चरणोंकी बलिहारी जानेके-लिये।

३. हे शान्तिके अक्षय भण्डार ! हे अतुल निधान ! क्षयकर डाली हैं, भग्न कर डाली हैं, सब व्याकुलतायें आपने। यह अक्षय शान्ति मुझको भी प्रदान कीजिये नाथ। इसीसे यह अक्षत अर्थात् बिना टूटे हुए मुक्ताफल लाया हूं इन चरणोंकी भेंट, मानो अपनी अक्षय निधिकी याद बनकर स्वयं न्योछावर होने आया हूं आपके चरणोंपर।

४. हे त्रिलोकजेता ! शान्ति-रानीका कर ग्रहण करके विश्व-विजयी बन, इस कामदेवको सदाके-लिये भस्म कर दिया है आपने। देखो दूर ही खड़ा वह कांप रहा है। आपके निकट आनेका साहस कहां है उसमें ? पर आपसे परा-जित हुआ वह अपने क्रोधकी ज्वालामें भस्म किये जा रहा है मुझ जैसे तुच्छ व्यक्तियोंको। लोककी सम्पदाकी असीम कामनाओंमें मानो जला जा रहा हूं मैं। रक्षा कीजिये प्रभु इस दुष्ट कामसे। आपकी शरणको छोड़कर कहां जाऊं अब जहाँ इसका साया न दिखाई दे ? आपकी शान्तिका कोमल स्पर्श करने तथा इसके सुगन्धित श्वासमें अपनेको खो देनेकी इच्छा लेकर यह लौकिक कोमलता व सुगन्धिका प्रतीक पुष्प लाया हूं, मानो अत्यन्त सुगन्धित शान्त व कोमल इन चरण-कमलोंका रस लेनेके-लिये स्वयं भँवरा बनकर आया हूं।

५. हे क्षुधा-निवारक ! अनादि कालसे लगी इन धूल सरीखे आकर्षक पर-पदार्थोंकी भूख शान्त करली है आपने। मैं भी तो बहुत क्षुधित हूं। तीन-लोककी सम्पत्तिका भोग कर-करके भी जो आजतक तृप्त नहीं हुई है, ऐसी मेरी भूखको भी शान्त कर दीजिये प्रभु। इसीसे लौकिक क्षुधा-निवारक यह स्वादिष्ट चरु नैवेद्यादि मिष्टान्न लाया हूं इन चरणोंकी भेंट, मानो इस

शान्तिसे अस्वस्थ तृतवत् हुआ मैं आज स्वयं अत्यन्त मिष्ट बनकर विश्राम पाने आया हूं यहां।

६. हे ज्ञान-ज्योति ! हे त्रिलोक प्रकाशक ! आन्तरिक अन्धकारका विनाश कर अतुल तेज जागृत किया है आपने। कोटि जिह्वाओंसे इस तेजकी महिमाका वर्णन करनेको आज बृहस्पति भी समर्थ नहीं है, उस तेजके अतुल प्रकाशकी महिमाका जिसमें तीनलोक व तीन कालवर्ती सर्व पदार्थ हाथपर रखे आंवलेवत् प्रतिभासित हो रहे हैं आपको। इस अन्धेको भी नेत्र प्रदान कीजिये प्रभु। पर-पदार्थोंमें रस लेनेमें अन्धा हुआ आज मैं अपनेको भी देखनेमें समर्थ नहीं हूं। यह प्रकाश मुझे भी दीजिये जिससे कि मैं अपने शान्त-स्वभावके एक क्षणको दर्शन कर सकूं। इससे ही लौकिक प्रकाशका प्रतीक यह तुच्छ दीपक लाया हूं भेंट, मानो आपको ज्योतिसे उद्योतित हुआ मैं स्वयं ही दीपक बन गया हूं आज।

७. हे अम्बर! हे तेजःपुञ्ज ! हे अग्नि ! आपके विशुद्ध रूपके दर्शनसे तथा आपके चिन्तनके प्रसादसे मेरे दोष भस्मीभूत हुए जा रहे हैं। अपने इसी भावको पुष्ट करनेके-लिये मैं आपके समक्ष धूपायनसे प्रज्वलित अग्निके अन्दर अष्टांग-धूप समर्पण कर रहा हूं जिसको सुगन्धि और धुआं ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो मेरी भाव-शुद्धिसे मेरे साथ एकमेक हुई कर्मरज उड़ी जा रही है, मेरा भार हलका होता जा रहा है, और मुझे सच्ची शान्ति, आनन्द व तेज प्राप्त हो रहे हैं।

८. हे मिष्टफल-प्रदायक ! आपको तो आपका लक्ष्यबिन्दु जो शान्ति, उस फलकी प्राप्ति हो चुकी है। आप तो उसके शाश्वत-स्वादमें मग्न हो रहे हैं। कुछ मेरी ओर भी तो निहारिये, इस भिखारीकी ओर भी तो देखिये, जो दर-दरकी ठोकरें खाता कितनी कठिनाईसे आया है इस द्वारपर। हर ओरसे निराश होकर आये हुए इसे यहांसे निराश न लौटाइये। इस फलका थोड़ा टुकड़ा मेरी झोलीमें भी डाल दीजिये, मैं भी दुआयें दूंगा आपको। यह तुच्छ सा लौकिक फल पड़ा है मेरी झोलीमें, निःसारसा। परन्तु क्या करूं, इसके अतिरिक्त और कुछ है भी कहां मेरे पास, जो कि भेंट करूं ? लीजिये इसे ही भेंट चढ़ाये देता हूं परन्तु वह अपनेवाला अलौकिक फल 'शान्ति' मुझे प्रदान कर दीजिये।

और इसी प्रकारकी अनेकों उठनेवाली अन्तरंगकी मधुर-मधुर कल्पनाओं पर बैठकर ऊंची-ऊंची उड़ानें भरता, मानो प्रभुके साथ तन्मय ही होने जा रहा हूं। इन बाह्य जल आदिक द्रव्योंसे भगवानकी अर्चनाकी जो यह क्रिया है,

उसे कहते हैं द्रव्यपूजा, बाह्यपूजा। अन्तरंग व बाह्य दोनों अंगोंमें गुंथी यह है वास्तविक देवपूजा जो एक शान्तिका उपासक, शान्तिके आदर्श अपने देवके प्रति करता है। केवल पूजा ही नहीं साक्षात् शान्तिका वेदन ही हो जाता है इसमें। देवके-लिये नहीं बल्कि अपनी शान्तिके आस्वादनके-लिये होती है यह पूजा। ये उद्गार हैं जो स्वतन्त्र रूपसे स्वयं ही प्रवाहित हो उठते हैं।

६. शंका समाधान—देवपूजाकी बात चलती है। इस प्रकरणके अन्तर्गत अनेकों प्रश्न सामने आकर मानस-पटपर घूमने लगते हैं। यथा—१. देव कौन ? २. पूजा क्या ? ३. बाह्यपूजाकी आवश्कताय क्यों ? ४. पूजामें ईश्वर-कर्त्तावाद क्यों ? ५. प्रतिमाकी आवश्यकता क्यों ? ६. परमें टक्कर मारनेसे क्या लाभ ? ७. जड़-प्रतिमाके प्रति भक्ति कैसी ? ८. पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाविधान क्यों ? ९. जो स्वयं अपनी रक्षा करनेको समर्थ नहीं, वह प्रतिमा किसीको क्या दे सकती है और कैसे दे सकती है ? १०. मन्दिरकी आवश्यकता क्या ? ११. मन्दिरमें कैसे आना चाहिये और वहां आकर क्या करना चाहिये ? लीजिये क्रमसे इनके उत्तर देता हूं।

i देव विषयक (१) पहला प्रश्न है 'देव कौन ?' वास्तवमें देवके सम्बन्धमें कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता कि अमुक ही देव है, क्योंकि 'देव' नाम आदर्शका है, और आदर्श इच्छाके पूर्ण-लक्ष्यका नाम है।तथ अतः देवकी परीक्षा अपने अभिप्राय परसे ही की जा सकती है। जैसा अपना अभिप्राय हो या जैसी अपनी इच्छा हो वैसा ही उस व्यक्ति-विशेषका लक्ष्य होगा, और वैसे ही किसी यथार्थ या काल्पनिक आदर्शको वह स्वीकार करेगा। उसकी दृष्टि उसपर ही जाकर ठहरेगी जैसा कि वह बनना चाहता है। बस वह ही है उसके लिये सच्चा देव। जैसे कि धनवान बननेकी इच्छावालेका देव कुबेर हो सकता है वीतरागी शान्त-मुद्राधारी यह देव नहीं जिसकी कि बात चलनेवाली है, पितृ-भक्तिकी इच्छावालेका देव राम या श्रवणकुमार हो सकता है वीतरागी देव नहीं, और इसी प्रकार अन्यत्र भी। परन्तु यहां तो शान्तिपथ-प्रदर्शन चल रहा है इसलिये केवल शान्त-प्राप्तिकी इच्छा लेकर देवको खोजना है, या देवकी परीक्षा करनी है। सो देवपूजाके तीसरे प्रकरणमें की जा चुकी है, और यह निर्णय किया जा चुका है कि उस देवका स्वरूप जिसकी कि मैं आदर्शरूपसे उपासना करने चला हूं, वीतराग तथा शान्त-रसपूर्ण ही होना चाहिये अन्य नहीं, क्योंकि अभिप्रायसे विपरीत जिस-किसीको आदर्श बनाकर उपासना करनेसे अभिप्रायकी पूर्ति होना असम्भव है। अभिप्राय-शून्य उपासनामें भले यह नियम लागू न हो, पर यहाँ जिस सच्ची पूजा या उपासनाकी बात चलेगी उसमें अभिप्राय-सापेक्ष होनेके कारण यह नियम आवश्यक है।

ii पूजा विषयक (२) दूसरा प्रश्न है 'पूजा क्या ?' जैसाकि कलके प्रवचनमें काफी विस्तार करके बताया जा चुका है, शान्तिके अभिप्रायकी पूर्तिके अर्थ शान्तिमें तल्लीन किसी व्यक्ति-विशेषको आंखोंके सामने रखकर, या उस व्यक्तिके किसी चित्रणको आंखोंके सामने रखकर, अथवा उस व्यक्ति या उसके चित्रणको अन्तरंगमें मनके सामने रखकर, अथवा शान्तिके यथार्थ जीवनादर्शको मनमें स्थापित करके, कुछ देरके-लिये अन्य सर्व संकल्प-विकल्पोंको छोड़ उस आदर्शको शान्तिके आधारपर, निज शान्तिका अपने अन्दरमें किञ्चित् वेदन करते हुए, उसके साथ तन्मय हो जाना, अन्तरंग-पूजा है। शान्तिके इस मधुर आस्वादनवश, निमित्तरूप उस आदर्शके प्रति सच्चा बहुमान उत्पन्न हो जानेपर, अपने दोषोंको तथा कमजोरियोंको दूर करनेके-लिये और उसमें प्रगट दीखनेवाले गुणोंकी प्राप्तिके-लिये, अनेकप्रकारसे प्रार्थना करना बाह्य-पूजा है। इन दोनों पूजाओंमें 'अन्तरंगपूजा ही यथार्थपूजा है, इसके बिना बाह्य-पूजा निरर्थक है', यह वाक्य बराबर दृष्टिमें रखना चाहिये, क्योंकि इसको भूल जानेपर आपको अपने प्रश्नोंका उत्तर समझमें न आयेगा।

(३) यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब अन्तरंग-पूजा अर्थात् शान्तिका वेदन ही प्रधान है तो 'बाह्यपूजाकी आवश्यकता क्यों ?' प्रश्न बहुत अच्छा है। वास्तवमें उसकी कोई आवश्यकता न होती यदि प्रथम-भूमिकामें ही मैं स्वतन्त्ररूपसे शान्तिका वेदन करके उसमें स्थिति पानेके योग्य हो सका होता। शान्तिसे बिल्कुल अनभिज्ञ मैंने न कभी शान्तिको देखा है, न सुना है, न अनुभव किया है। ऐसी दशामें सोचिये कि शान्तिमें स्थिति पाकर अन्तरंग-पूजा करनी सम्भव कैसे हो सकती है ? अतः जबतक शान्तिका परिचय प्राप्त न कर लूं, किसी न किसी शान्त-जीवनका निकट सान्निध्य आवश्यक है, क्योंकि शान्ति ऐसी वस्तु नहीं जो शब्दोंमें बताई जा सके, या स्कूलोंमें पढ़ाई जा सके, या 'शान्ति' शब्दके रटने मात्रसे उसे जाना या कहा जासके। यह तो किसी आन्तरिक सूक्ष्म-स्वादका नाम है, जो वेदन किया जा सकता है तथा किसीके जीवनपर-से अनुमान लगाकर किञ्चित् जाना जा सकता है, जैसाकि आगे दृष्टान्तपरसे स्पष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं बल्कि शान्तिका परिचय प्राप्त कर लेनेपर भी, मैं निरन्तर उसमें स्थित रह सकूं इतनी शक्ति प्रथम अवस्थामें होनी असम्भव है। अतः उतने समयके-लिये जितने समयतक कि मैं स्वतंत्ररूपसे उसके रसास्वादनमें लय होनेके योग्य न हो जाऊं, मुझे उस बाह्यपदार्थके आश्रयकी आवश्यकता होगी और इसी प्रयोजनके अर्थ है अन्तरंग-सापेक्ष बाह्यपूजा। यहां इतना अवश्य जान लेने योग्य है कि यद्यपि अगली भूमिकामें जाकर इस

बाह्यपूजाकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु इस गृहस्थ-दशामें स्थित मनुष्यके-लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

"बिना किसी बाह्यजीवनका आश्रय लिये इस शान्तिका परिचय क्यों प्राप्त नहीं हो सकता ? शान्ति तो अपना स्वभाव है, स्वतंत्ररूपसे क्यों जानी नहीं जा सकती ? उसके जीवनकी शान्ति मुझमें कैसे आ सकती है, और अपनी शान्ति दिये बिना वह मुझे शान्ति का स्वाद कैसे चखा सकता है ? इत्यादि अनेकों प्रश्न इस स्थलपर मुझे आगे चलनेसे रोक रहे हैं। अच्छा ले पहले इनका ही स्पष्टीकरण कर देता हूँ।

पहले प्रश्नका उत्तर तो पहले दिया जा चुका है कि जिसने आजतक उसे न देखा हो, न अनुभव किया हो, वह बिना परके आश्रयके उसे कैसे जान सकता है ? जैसे कि जिस वस्तुका आकार ही मेरे ध्यानमें नहीं, उस वस्तुको बनानेका कारखाना मैं कैसे लगा सकता हूं ? उस वस्तुका एक नमूना अपने सामने रख कर भले ही उस जैसी अनेकों वस्तुएं बनानेमें सफल हो जाऊं। यह ठीक है कि कारखाना चल जानेके पश्चात् उस नमूनेकी अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु प्रारम्भमें वह मेरेलिए अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा प्रश्न है कि स्वतन्त्र रूपसे क्यों नहीं जानी जा सकती ? इसका निषेध किया किसने ? स्वतन्त्ररूपसे जानी अवश्य जा सकती है, परन्तु केवल उसके द्वारा जिसने कि कभी पहले उसका परिचय प्राप्त किया हो, भले ही आज वह उसका परिचय प्राप्त करके छोड़ बैठा हो। यहाँ इतनी बात अवश्य है कि अधिक समयतक छोड़े रहनेके कारण वह परिचय अत्यन्त लुप्त हो सकता है, ऐसा कि प्रयत्न करने पर भी याद न आये। तब उसे अवश्य पुनः बाह्यका आश्रय लेनेकी आवश्यकता पड़ेगी, जैसेकि पहली बार लगाया हुआ कारखाना यदि दुर्भाग्यवश फेल हो जाय, और कुछ वर्ष पश्चात् पुनः उसे चालू करना पड़े तो अब उसे नमूनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, स्वतन्त्ररूपसे स्मरणके आधारपर माल बना लेता है। परन्तु यदि किसी रोग-विशेषके कारण उसकी स्मरण-शक्ति जाती रही हो और फिर यह कारखाना चालू करना पड़े तो पुनः उसे अवश्य ही नमूनेकी आवश्यकता पड़ेगी।

तीसरा प्रश्न यह है कि उसके जीवनकी शान्ति मुझमें कैसे आ सकती है ? बहुत सुन्दर प्रश्न है। तेरा विचार बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें किसी अन्यकी शान्ति मुझमें कदापि नहीं आ सकती। उसकी शान्ति उसके साथ और मेरी शान्ति मेरे साथ ही रहेगी। उसकी शान्ति उसके पुरुषार्थ द्वारा उसमें उत्पन्न हुई है और मेरी शान्ति मेरे पुरुषार्थ द्वारा मुझमे ही उत्पन्न होनी है।

उसकी शान्तिका उपभोग वह स्वयं कर रहा है और मेरी शान्तिका उपभोग मैं स्वयं ही करूंगा। ऐसी ही वस्तुकी स्वतन्त्रता है। इसलिये वह मुझे शान्ति देनेमें समर्थ नहीं हैं। इतना अवश्य उससे लाभ है कि उसका नमूना देखकर मैं उस परम परोक्ष रहस्यका कुछ अनुमान लगा सकता हूं, यदि बुद्धि-पूर्वक प्रबल-पुरुषार्थ करूं तो। जैसेकि कारखाना लगानेवाले उस व्यक्तिको नमूना कुछ देता नहीं है, वह स्वयं ही उसको देखकर अनुमानके आधारपर उस सम्बन्धी परिचय प्राप्तकर लेता है, वैसे ही शान्तस्वरूप तथा आदर्शरूप वह व्यक्ति मुझे कुछ देता नहीं है, मैं स्वयं ही उसकी मुखाकृतिको, उसके शान्त परिभाषण और जीवनमें होनेवाली उसकी कुछ शान्त-क्रियाओंको देखकर, अनुमानके आधारपर शान्ति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त कर सकता हूँ।

यहां यह बात कुछ विचारणीय है कि अनुमानके आधारपर किसीके जीवनको कैसे पढ़ा जा सकता है? इसके सम्बन्धमें एक दृष्टान्त है। एक जिज्ञासु किसी समय अपने गुरुके पास पहुंचा और बोला, प्रभो! कुछ हितकारी उपदेश देकर मेरा कल्याण कीजिये। गुरु बोले कि "भाई! मैं उपदेश तो दे दूंगा, पर उसका लाभ कुछ न होगा। मैं तो केवल दो चार वाक्य ही कह सकता हूं, परन्तु उसका रहस्य तुम कैसे समझ सकोगे? ऐसे उपदेश तुम पहले भी अनेकों बार सुन चुके हो, परन्तु सुनने मात्रसे कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं। जाओ नगरके विख्यात सेठ शांति-स्वरूपके पास चले जाओ, वहां उनके पास रहकर धैर्यपूर्वक उपदेश सुनना।"

आज्ञानुसार वह सेठकी दुकानपर पहुँच गया, गुरुको आज्ञा कह सुनाई और सेठके पास दुकानपर रहने लगा। सेठ बड़ा व्यापारी था, प्रतिदिन लाखोंका व्यापार, अनेकों मुनीम-गुमाश्ते, बही-खाते और न मालूम क्या-क्या? जिज्ञासु सोचने लगा कि न जाने क्या सोचकर गुरुदेवने भेजा है यहां? क्या उपदेश मिलेगा? सेठजी बिचारे स्वयं उपदेशके पात्र हैं, स्वयं ही जालमें फंसे बैठे हैं, क्या जानें कि कल्याण किस चिड़ियाका नाम है? फिर भी रहना तो पड़ेगा ही, गुरुकी आज्ञा जो है। दो महीने बीत गये, पर सेठजीकी जुबान से एक शब्द भी उपदेशका न निकला। फिर वही पहलेवाले विचार घूमने लगे हृदय-पटपर। इसीप्रकार विचारोंके हिंडोलेमें झूलता अन्तरंगमें निराशसा व्यर्थ समय गवां रहा था बेचारा।

एक महीने पश्चात् एक मुनीमजो घबराये हुये आए सेठजीके पास। मुंहसे वाक्य नहीं निकलते थे बेचारेके। कुछ साहस करके बोले कि "चार करोड़का माल जहाज़से भेजा था, समाचार आया है कि जहाज़ डूब गया

है।" सेठजी अत्यन्त शान्त रहते हुए ही बोले, "तो क्या हुआ ? प्रभुकी कृपा है, जाओ अपना काम करो।" एक छोटासा वाक्य था, वाक्यसे ध्वनित कुछ सन्तोष था, शान्त मुखाकृति और पूर्ववत् ही अपने काममें संलग्नता थी, मानो कुछ हुआ ही नहीं। जिज्ञासुने वह सब सुना व देखा। दो महीने पश्चात् आज उसे कुछ ऐसा लग रहा था कि कोई उसे बड़ा उपदेश दे रहा है। विचार-निमग्न वह सहमासा बैठा ही रह गया।

और दो महीने बीत गये। एकदिन पुनः एक घटना घटी। मुनीमजी दौड़े आ रहे हैं, हांपते हुए, मानो दो मीलसे चले आ रहे हों, मस्तकपर पसीनेकी बूंदे, आंखोंमें हर्ष, होंठोंपर मुस्कराहट, "सेठजी ! बड़े हर्ष का दिन है, भाग्य जग गये हैं। अमुक सौदेमें दस करोड़का लाभ, अभी तार आया है, यह लीजिये। सेठजी आज भी शान्त थे। बोले, "तो क्या हुआ ? प्रभुकी कृपा है, जाओ अपना काम करो।" वही दो शब्द, वही संतोष, वैसी ही शान्त मुखाकृति, वैसी ही पूर्ववत् काममें संलग्नता, मानो कुछ हुआ ही नहीं। आज तो जिज्ञासुके आश्चर्यका पारावार न रहा। उसे मिल चुका था वह उपदेश जिसके लिए वह गुरुके पास गया था, साम्यताका आदर्श। चुप रहा न गया उससे और पूछ ही बैठा—

"सेठजी ! मैं क्या देख रहा हूँ, कुछ अनोखीसी बात ? चार करोड़की हानि में भी वही बात और १० करोड़के लाभमें भी वही बात ? कुछ विश्वास नहीं आता।" तुझको आश्चर्य हो रहा है जिज्ञासु परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। "मेरी दृष्टिको न पहिचान सकना ही इसका कारण है। लाभ-हानिका मेरी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं, क्योंकि बाहरसे सर्व आडम्बरका स्वामी भले दीख रहा हूँ, पर अन्तरंगमें मैं केवल इसका मैनेजर हूँ, व्यापार तो प्रभुका है। सारे विश्वमें उसके व्यापारकी अनेकों शाखायें हैं। कभी इस शाखासे वह रुपया उस शाखामें भेज देता है और कभी उस शाखासे इस शाखामें। मैं तो केवल नाम लिख देता हूँ, या जमा कर लेता हूँ। और बातोंसे मुझे क्या मतलब ?" समझ गया जिज्ञासु साम्यताका रहस्यार्थ, जो शब्दोंपरसे तीन कालमें भी समझना सम्भव नहीं था। इसी प्रकार पूर्ण आदर्श जीवनपरसे समझी जा सकती है पूर्ण-शान्ति।

(४) चौथा प्रश्न भी बहुत सुन्दर है कि 'पूजामें कर्त्तवाद क्यों ?' जब बिना अपनी शान्ति दिये वह मुझे शान्तिका स्वाद नहीं चखा सकता तब यह कैसे कहा जा सकता है कि हे प्रभु ! मुझे शान्ति प्रदान कीजिये ? जैसा कि ऊपर बता दिया गया है, वह अपनी शान्तिका स्वयं उपभोग करनेमें समर्थ है

मुझे देनमें नहीं; तदपि उपरोक्त प्रकार अनुमानके आधारपर शान्ति-सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त करके मैं अपने जीवनमें तथा अपने सम्भाषणमें वैसे-वैसे ही रूपसे वर्तनेका प्रयत्न करने लगता हूं, उसकी मुखाकृतिपर-से उसकी अन्तर्मुखी दृष्टिका अनुमान करके स्वयं भी अन्तर्मुख होनेका प्रयत्न करने लगता हूं, जैसा कि आगेके प्रकरणोंमें स्पष्ट हो जायेगा। अपने इस प्रयत्नमें दृढ़ रहते हुए कुछ समय पश्चात् स्वयं उस अमृतका स्वाद अवश्य चख सकता हूं। इतनी ही कुछ मेरे प्रयोजनमें उससे सहायता मिलती है और इस सहायताके कारण ही 'यह शान्ति उसने दी है' ऐसा कहा जा सकता है, जो केवल उपचार है।

कर्तावाची उपरोक्त शब्दोंको सैद्धान्तिक न समझकर भक्ति-परक समझना चाहिये। इन शब्दोंको सत्यार्थ मानकर प्रभुको शान्ति या अशान्तिका अथवा दुःख या सुखका देनेवाला समझ बैठना भ्रम है, पुरुषार्थ-हीनता है, स्वपर-भेदसे अनभिज्ञता है। ऐसा समझनेवाला व्यक्ति सच्चे-देवको आदर्शरूपसे स्वीकार कर लेनेपर भी शान्तिकी प्राप्ति नहीं कर सकता। 'देव ही प्रसन्न होकर मेरा प्रयोजन सिद्ध कर देंगे, मुझे स्वयं कुछ करना न पड़ेगा', ऐसा अभिप्राय रखनेके कारण वह न अपने जीवनमें कुछ विशेष परिवर्तन करनेका प्रयत्न करेगा, और न उसे वह प्राप्त होगी।

स्वयं अपने उद्यमद्वारा अपनेमें-से उत्पन्न की गई होनेपर भी, बहुमानवश कृतज्ञता प्रकट करनेके-लिये तथा उस उत्कृष्ट आदर्शके सामने अपनी इस हीन-दशाको रखकर दोनोंमें महान अन्तर देखनेके कारण, यह कहनेमें अवश्य आता है कि "यह महान विभूति आपने ही प्रदान की है, यदि आप न देते तो मुझ अधमके द्वारा यह प्राप्त की जानी कैसी सम्भव होती", इत्यादि। बिल्कुल उसीप्रकार जैसेकि बहुमान-सम्बन्धी कलके दृष्टान्तमें सेठ-पुत्रके मुखसे अपने चचाके प्रति कहा गया था, और आप भी निरभिमानता दिखानेके अर्थ जिस प्रकार ऐसा कहते सुने जाते हो कि "आपकी कृपासे ही सफल हो जायेगा यह काम, यह आपका ही बालक है, यह आपका ही मकान है" इत्यादि। शब्दोंमें कहे जानेपर भी उनका अर्थ वैसा नहीं होता जैसाकि शब्दोंपरसे ध्वनित होता है। बस तो इसीप्रकार भक्तिके सम्बन्धमें भी समझना। भक्ति, निराभिमानता व कृतज्ञतावश प्रभुको शब्दोंमें अपने ऊंच-नीच कर्मोंके कर्ता-हर्ता कहनेमें भले आये, पर उसका अर्थ यह ग्रहण नहीं करना चाहिये कि वे कुछ दे रहे हैं या दे देंगे।

iii प्रतिमा विषयक (५) देवपूजाके प्रकरणमें यह पांचवां प्रश्न है कि **'पूजामें प्रतिमाकी आवश्यकता क्यों?'** प्रश्न बहुत सुन्दर व स्वाभाविक

है, तनिक विचार करनेपर उत्तर भी अपने अन्दरसे लिया जा सकता है। वास्तवमें ही प्रतिमाकी आवश्यकता न होती, यदि साक्षात् देव मेरे समक्ष होते। साक्षात्की तो बात नहीं, यहांतो आस-पास भी देखनेमें नहीं आते, और न ही उनके साक्षात् निकटमें होनेकी सम्भावना ही है। और यदि आस-पास कहीं होते भी तो इतने बड़े विश्वमें वे अकेले सबके प्रयोजनकी सिद्धि कैसे कर सकते अर्थात् विश्वके सर्व व्यक्ति उनके दर्शन कैसे कर सकते ? व्यक्ति असंख्यात और देव एक। और यदि दो-तीन, दस-पांच आदि भी हों तो भी सभीकी अभिलाषा पूर्ण न होती। यदि एक दिनके दर्शन मात्रसे काम चल जाता तो भी सम्भवतः यह अभिलाषा जीवित-देवकी उपस्थितिमें शान्त हो जाती, परन्तु ऐसा नहीं है। यह अभिलाषा तो नित्यकी है, और देव किसी एक या कुछमात्र व्यक्तियोंके-लिये बन्धकर एक ही स्थानपर रहें, यह कैसे हो सकता है ?

इसलिये कोई भी कृत्रिम मार्ग निकालना होगा। हम मनुष्य हैं, बुद्धि-मान हैं। तिर्यञ्च होते, पशु-पक्षी होते, तो सम्भवतः इच्छा होते हुए भी कुछ न कर सकते, परन्तु हम तो बहुत कुछ कर सकते हैं। अतः कृत्रिम देवकी स्थापना कर अपना काम चला सकते हैं। उसी कृत्रिम देवका नाम है प्रतिमा, प्रतिमा अर्थात् देवकी प्रतिकृति, उसका ही प्रतिबिम्ब। भले जड़ हो, पाषाणकी हो, पर इस प्रकारकी कोई भी प्रतिमा जिसकी आकृति उनके शरीरकी बाह्य-आकृतिके बिल्कुल सदृश हो, मेरे प्रयोजनकी सिद्धि कर देती है। क्योंकि मेरा तथा आप सबका कुछ ऐसा ही स्वभाव है कि किसी व्यक्तिका चित्र देखकर या उसका नाम सुनकर भी कुछ-कुछ उसी प्रकारके भाव चित्तमें उत्पन्न होने लगते हैं जैसेकि उस व्यक्ति-विशेषके साक्षात् होनेपर उत्पन्न होते हैं। अपने विचारों पर जड़ चित्रोंका यह प्रभाव मैं नित्य देखता हूं। एक कागज़पर खिंचे दुःशासन द्वारा द्रौपदीका चीरहरण देखकर कुछ रोनासा आ जाता है। रानी झांसी व महाराणा प्रतापका चित्र देखकर मानो मेरी भुजायें फड़कने लगती हैं। अपने शत्रुका चित्र देखकर मनमें कुछ द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सिनेमाके परदेपर चलने-फिरनेवाली उन कुछ प्रकाशकी रेखाओं मात्रको एक क्षणिक चित्रके रूपमें देखनेसे क्या होता है, यह किसीसे छिपा नहीं है। यदि कुछ न हुआ होता तो धन खर्च करके देखनेवाले व्यर्थ ही वहां नींद न खोते। कभी किसी चित्र-विशेषको देखकर मुझे रोना आ जाता है और कभी हंसी। क्या कारण है ? वह भी तो चित्र ही है, जड़ चित्र, जो एक क्षण भी सामने टिकता नहीं। किसीके प्रति द्वेष हो जानेपर उसके चित्रकी अविनय करनेका भाव क्यों आता है मेरे हृदय में ? कागज़पर खिंची दो-चार लकीरें ही तो हैं।

स्वयंवरमें संयोगिताने पृथ्वीराजकी प्रतिमाके गलेमें माला क्या समझकर डाल दी थी? अपने उपास्य-देव या स्वयं अपने चित्रको जूतोंमें पड़ा देखकर क्यों दुःखसा होने लगता है मुझे? अपने कमरोंको चित्रोंके द्वारा क्यों सजाता हूं मैं? यदि सजाऊं भी तो जो कोई भी चित्र क्यों टांग नहीं देता, अपनी रुचिके अनुसार ही क्यों टांगता हूं? इत्यादि सर्व दृष्टांतोंपरसे एक जड़ चित्रका मेरे मनपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। वैसे ही देवके चित्रको देखकर स्वाभाविक रीतिसे ही मेरे मनपर कुछ अद्वितीय प्रभाव अवश्य पड़ता है।

इस प्रभावमें और भी कई गुणी वृद्धि हो जाती है, जबकि मैं इसमें अपनी कुछ विशेष कल्पनायें उण्डेल देता हूँ। दस-पांच सूतके धागोंकी बनी इस देशकी ध्वजाको ऊंचेपर लहराते देखकर मानो मेरा रोम-रोम फूल उठता है, और इस छोटेसे वस्त्रके टुकड़ेको अपमानित होता देखकर मुझे स्वतः क्रोध आ जाता है। क्या कारण है? किसी जानकार व्यक्तिकी तो बात नहीं, किसी व्यक्तिका या देश, नगर, ग्रामादिका चित्र भी तो नहीं है यह, केवल एक कपड़ेका टुकड़ा ही तो है। परन्तु ऐसी बात चित्तमें होती अवश्य है, और जिस बातका साक्षात् वेदन हो उससे नकार कैसे की जा सकती है? इसका कारण यही है कि बज़ाज़की दुकानपर रहनेतक ही वह साधारण वस्त्र था, परन्तु आज मेरी कुछ कल्पनाओंका आधार होनेके कारण वह साधारण वस्त्र नहीं रहा है। वह बन गया है देशकी लाज। यह शक्ति उस जड़ वस्त्रमें नहीं बल्कि मेरी कल्पनाओं में है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ीके टुकड़े आदिमें भी मैं देवकी कल्पना करके उसी प्रकारका भाव उत्पन्न कर सकता हूं जैसाकि जीवित देवको देखनेसे होता है, और यदि वह पत्थर व लकड़ीका टुकड़ा देवकी आकृतिके अनुरूप हो तो सोनेपर सुहागा है। आकृति-सापेक्ष और आकृति-निरपेक्ष दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें आज हमारे देखनेमें आती हैं। शतरंजके खेलमें लकड़ीकी कुछ गोटोंमें हाथी घोड़े व राजा आदिकी कल्पना की जाती है। वह आकृति-निरपेक्ष है और वीतरागी शान्त-देवकी प्रतिमा आकृति-सापेक्ष है। परन्तु आकृति-सापेक्षका जो प्रभाव सहज ही पड़ता प्रतीत होता है वह आकृति-निरपेक्षमें अनुभव करनेमें नहीं आता, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि आकृति-निरपेक्षको देखकर मुझे बुद्धिपूर्वक उन कल्पनाओंको याद करनेके-लिये अधिक ज़ोर लगाना पड़ता है और आकृति-सापेक्षको देखते ही वे कल्पनायें अबुद्धिपूर्वक स्वतः जागृत हो उठती हैं। ख़ैर कुछ भी हो यहां तो केवल इतना सिद्ध करना था कि प्रतिमाका कोई प्रभाव न पड़ता हो ऐसा नहीं है, उसका हमारी बुद्धिपर बड़ा प्रभाव पड़ता है।



चाँदनपुरवाले भगवान महावीर

उपरोक्त बातोंपर-से तीन सिद्धान्त निकलते हैं—एकतो यह कि किसी चित्रका मेरी मनोवृत्तिपर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दूसरा यह कि किसी भी वस्तु में कल्पना-विशेष कर लेनेपर उस वस्तुमें मुझे तद्वत्सा ही भाव बर्तने लगता है, और तीसरा यह कि प्राकृति-सापेक्ष प्रतिमासे मेरे चित्तपर प्राकृति-निरपेक्ष प्रतिमाकी अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रतिमाको आज मैंने अपने सामने अपना उपास्य बनाकर रखा है उसमें यह तीनों ही बातें पाई जाती हैं। प्रतिमा तो वह है ही, चाहे पाषाणकी हो या धातुकी या लकड़ीकी या काग़ज़ पर खिंची चित्ररूप। इसके अतिरिक्त उसमें वीतराग-प्राकृतिका ज्यों का त्यों आकार या प्रतिबिम्ब भी विद्यमान है और मैंने अपनी कुछ विशेष कल्पनायें भी इसमें उण्डेली हुई हैं, पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा विधानके द्वारा। अतः आज जीवित देव तथा उस प्रतिमामें मेरे लिये कोई अन्तर नहीं रह गया है।

(६) छठा प्रश्न यह है कि 'पत्थर में टक्कर मारने से क्या लाभ'? भो कल्याणार्थी! इस संशयको दूर कर, आ मेरे साथ और देख कि प्रतिमा में क्या दिखाई देता है। आजतक तूने इसे पाषाणकी प्रतिमाके रूपमें देखा है, आ आज मैं इसे जीवित रूपमें दिखाता हूँ। आजतक प्रतिमाके दर्शन किये हैं, आ मैं जीवित देवके दर्शन कराता हूँ। अपनी दृष्टिसे नहीं मेरी दृष्टिसे देख कि यहाँ प्रतिमा कहाँ है, साक्षात् देव विराजमान हैं, जीवित देव, वही वीतरागी शान्तमुद्रा-धारी देव जिनके दर्शन कि परसों वनमें किये थे। देख, गौरसे देख, वही तो हैं। क्या अन्तर है इनमें तथा उनमें? उनकी मुखाकृति भी सौम्य, सरल व शान्त थी और इनकी भी वैसी ही है; उनके होठोंपर भी मीठी मीठी मुस्कान थी और इनके होठोंपर भी वैसी ही है; उनके शरीरपर भी वस्त्र नहीं था और इनके शरीर पर भी नहीं है; उनके भी रोम-रोमसे शान्ति टपकती थी और इनके भी रोम-रोमसे शान्ति टपकती है; वे भी मौन थे और ये भी मौन हैं; वे भी निश्चल थे और ये भी निश्चल हैं; वे भी वन्दक व निन्दकमें हर्ष-विषाद रहित समान थे और ये भी वैसे ही हैं। उनके दर्शन करनेपर भी उनके चैतन्यका साक्षात्कार नहीं हो रहा था और इनके दर्शन करनेपर भी चैतन्य का साक्षात्कार नहीं हो रहा है; ऊपरसे वे भी जड़वत् भासते थे और ये भी वैसे ही दीख रहे हैं; वहाँ भी अनुमानके आधारपर शान्तिको पढ़ा जा रहा था और यहाँ भी अनुमानके आधारपर शान्तिको पढ़ा जा रहा है। अन्तर क्या है? केवल इतना ही न कि वह चमड़ेकी प्रतिमा थी और यह है पाषाणकी? परन्तु वहाँ तो तेरी दृष्टिमें चमड़ा न आकर देव ही आया था, एक शान्त जीवन ही आया था, यहाँ क्यों तेरी दृष्टिमें पाषाण आता है? क्यों उसी दृष्टिसे यहाँ भी नहीं

देखता ? इनका ऊपरी रूप न देखकर इनके अन्तरंगमें घुस और उन कल्पनाओं के आधारपर जोकि मैंने इनमें डाली हुई हैं, इनके जीवनको देखनेका प्रयत्न कर। तब देखना कि ये जड़ दिखाई न देंगे, साक्षात् चेतन दिखाई देंगे।

कल्पनाओंमें महान बल है, शेख़चिल्ली कुछ कल्पनाओंके बलपर ही राजा बन बैठा और लात चला दी अपनी काल्पनिक स्त्रीपर। शेख़चिल्लीकी ही बात न समझना, वास्तवमें हम सब शेख़चिल्ली हैं क्योंकि सुबहसे शामतक वैसी ही कल्पनायें किया करते हैं। "बेटा हो जायेगा, उसका विवाह कर देंगे, सुन्दरसो एक बहू घरमें आयेगी, पोता हो जायेगा, मेरी गोदमें आकर खेलेगा, तुतला तुतलाकर बोलेगा, कितना प्यारा लगेगा, कुछ बड़ा होकर 'बाबा जी' कहकर पुकारेगा मुझे। अहा ! मानो मैं किसी दूसरे लोकमें पहुँच जाऊँगा, कितना सुन्दर होगा वह दिन, कब आयेगा वह दिन ?" ये सब शेख़चिल्लीकी कल्पनायें नहीं तो क्या हैं ? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानो असली दृश्य ही सामने हो। एक व्यभिचारी केवल कल्पनाओंके आधारपर अपनी प्रेमिकाके घरपर पहुँच जाता है, और प्रेमसे उसका अंग स्पर्शता हुआ कल्पनामें ही व्यभिचार-सेवन करता है। ये शेख़चिल्लीकी कल्पनायें नहीं तो क्या हैं ? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानो असली प्रेमिकाका ही साक्षात् स्पर्श हो रहा हो। इसी प्रकारकी अनेकों रागवर्धक कल्पनायें कर-करके नित्य ही कभी हर्षका और कभी विषादका अनुभव किया करता हूँ। ऐसा होता सबको प्रतीत होता है, फिर भी इस सत्यके प्रति नकार क्यों ? प्रतिमाके प्रभाव व कल्पनाओंकी शक्तिके प्रति आज जो नकार तुझे वर्त रहा है उसके पीछे कोई पक्षपात् छिपा बैठा है, कोई सम्प्रदाय पुकार रहा है। तू एक वैज्ञानिक बनकर निकला है, साम्प्रदायिक नहीं। एक वैज्ञानिक है तो पक्षपातको अब धो डाल और इस मनोविज्ञानसे कुछ लाभ उठा।

आजतक इस मनोविज्ञानका दूसरी दिशामें प्रयोग करता आया है, आज उसीका प्रयोग इस दिशामें कर। देख तुझे साक्षात् देवके दर्शन होते हैं, शान्तिके दर्शन होते हैं। आजतक वैज्ञानिक बनकर दर्शन किये नहीं, साम्प्रदायिक बनकर ही दर्शन करता रहा और इसीलिए ऊपरकी शंकायें उत्पन्न हो रही हैं। अभिप्रायके तनिकसे फेरसे क्रियामें महान् अन्तर पड़ जाता है, अतः अभिप्रायको ठीक बनाकर आगे बढ़। पहले ही इस दिशामें काफी समझा दिया गया है तुझे। आ और देख इस प्रतिमामें जीवित देव।

(७) देवपूजा की बात चलती है। अन्तरंग व बाह्यपूजाका चित्रण खेंच दिया गया। तद्विषयक अनेकों प्रश्नोंमें-से आज सातवां प्रश्न चलता है, 'जड़ प्रतिमाके प्रति भक्ति कैसी ?' अपनी इस भ्रांतिको तज क्योंकि जड़

होते हुए भी प्रतिमामें जीवित देव देखे जा चुके हैं। पुनरपि उसी भावको दृढ़ करता हूं। आओ चलें, यह लो आ गया भगवानका समवशरण, गन्धकुटीपर विराजमान साक्षात् वीतराग देव। वह देखो सामने वीतराग प्रभु कितनी शान्त-मुद्रामें स्थित हैं। वेदीमें नहीं समवशरणमें बैठे हैं। वेदीपर दृष्टि न कीजिए, केवल प्रतिमापर लक्ष्य दीजिये, जैसे धनुर्धर अर्जुनकी दृष्टिमें कौवे की आंख ही आती थी, उसीप्रकार। ये जीवित ही तो हैं, जिन्हें वनमें देखा था वही तो हैं। वही मुखाकृति, वही वीतरागता, वही सरलता, वही शान्ति, वही मधुर-मुस्कान, वही निश्चल-आसन, वही मौन, वही नासाग्रदृष्टि, वही निर्भीक नग्न-रूप, वही निश्चिन्तता, वही अलौकिक तेज, वही आकर्षण।

आहा हा! धन्य हुआ जा रहा हूं आज मैं, परम सौभाग्यसे मिला है यह दुर्लभ अवसर। जिनके दर्शनोंको बड़े-बड़े इन्द्र तरसते हैं, सर्वार्थ-सिद्धिके अह-मिन्द्रोंको भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं, आज मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज मैं इस विश्वमें सबसे ऊँचा हूं। आजसे पहले अधम था, नीच था, पापी था, पर आज? आज न पूछिये। मुझे यह बतानेको भी अवकाश नहीं कि आज मैं सर्वार्थ-सिद्धिके इन्द्रोंसे भी ऊँचा हूं, आज मुझे कुछ अन्य बातें विचारनेका अवकाश नहीं, किसीकी बात सुननेका अवकाश नहीं, बोलनेका अवकाश नहीं। अरे! पलक झपकने तकका अवकाश नहीं है आज मुझे। अरे मन! ज़रा चुप रह, देख नहीं रहा है कि आज देव आये हैं तेरे आँगनमें। अरे! जवाहरलाल नेहरू तेरे घरपर आजायें तो पागल हो जाय, सोचनेको भी अवकाश न रहे कि क्या करूं और कहां बिठाऊं इनको? आज तीन लोकके पति, त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ पधारे हैं तेरे घर तो तुझे अपने राग अलापनेको पड़ी है? लाज नहीं आती? देख-देख सावधान हो, प्रभुको बैठानेके-लिये स्थान बना। घबरा नहीं, तेरे पास है प्रभुके योग्य स्थान।

आइये नाथ, आइये! इस अधमका आंगन पवित्र कीजिये, यहां विराजिये, यहां विराजिये, इस मेरे हृदय-मन्दिरमें। भगवन्! देखिये तो कितना सुन्दर बनाया है इसे, सर्व संकल्प-विकल्पोंका कूड़ा-कचरा निकालकर कितना उज्ज्वल धुला-धुलाया तथा पवित्र पड़ा है यह, केवल आपकी प्रतीक्षामें कि कब आयें मेरे प्रभु और कृतार्थ करें मुझ अधमको। आहा हा! मानो आज मैं सामान्य व्यक्ति नहीं हूं, मेरे पाँव आज पृथ्वी पर नहीं पड़ते, मेरे घरमें विराजे हैं त्रिलोकाधीश। आज मैं गर्वके मारे उड़ा जा रहा हूं आकाशमें। आज मेरे आंगनमें भीड़ लगी है दर्शनार्थियोंकी। इन्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त होगा। आप खड़े न रहिये भगवन्! बैठ जाइये इस मनके जड़ित आसनपर,

आपके-लिये ही तो बिछाया है इसे। आहा हा ! आज पावन भये हैं नेत्र मेरे, मैं हुआ पूर्ण धनी। मेरा जीवन पावन हो गया, मेरा जन्म पावन हो गया, मेरा तन पावन हो गया, मेरा मन पावन हो गया, मेरा हृदय पावन हो गया, कृतकृत्य हो गया। मेरे आंगन पधारे हैं भगवान्, शान्तिके देवता, मेरे उपास्य, मेरे लक्ष्य, मेरे आदर्श।

अरे ठहर, ठहर रे मन ! अभी मत बोल, बीचमें अपनी टांग अड़ाये बिना क्या एक क्षण भी नहीं बैठ सकता ? बड़ा चञ्चल है तू ! ज़रा प्रभुकी ओर देख, इतना निर्लज्ज न बन, कब-कब पधारते हैं ये तेरे घर ? सुन, तनिक कान लगाकर सुन, देख प्रभु मुझसे बातें कर रहे हैं। अरे तू भी तो अपना जीवन सफल बना ले, यह अवसर फिर मिलना कठिन है। अहा हा ! कितनी मिष्ट है प्रभुकी वाणी मानो अमृत ही वर्ष रहा है। मेरी तो बात क्या, नरकमें पड़े जीवोंको भी कुछ चैन-सी पड़ जाती है ऐसे समयमें। त्रिलोक-तृप्तिकर यह अमृतगंगा। अरे मन ! तनिक अपना ढकना तो खोल और ले इस गंगाको समाले अपनेमें। याद रख, फिर न मिलेगी इसकी शीतल धारा, तरसता रह जायेगा। बहुत स्थान है तेरी गहनतामें, सबकी सब समाले अपने अन्दर, देख एक बून्द भी न बिखरने पाये। और ले अब बेसुध होकर करने लगा मैं अमृत का पान, करने लगा भगवान्से बातें।

भगवान्— मैं—

क्या देखा तूने अधरोंमें ?............ एक शान्त-मुस्कान।
क्या देखा तून नेत्रोंमें ?............ इस ही का सम्मान।
क्या देखा कर-कमलोंमें ?............ लक्ष्य-सिद्धि-आल्हाद।
क्या सुनता है इन कानोंमें ?......... मधुर-तृप्तिका नाद।
क्या देख रहा मेरे मनमें ?............ शान्ति-सखीका नृत्य।
क्या दीख रहा तुझको तनमें ?......— शान्ति नगरका दृश्य।
आओ सखा ! इस शान्ति-नगर......... आता हूँ भगवन् ! रुक जाओ,
क्षण भर यात्री बन जाओ ?.......— लो हाथ पकड़कर अपनाओ।
कैसा लगता है अब तुझको ?......... मैं तुम एक हुए मानो।
कुछ इच्छा है तो कह डालो ?......... क्या कहूँ नाथ ! अब मत बोलो।
क्या कह रहा है यह बन्दक ?...... .. होंगे कोई मुझे क्या इनसे।
जा-जा, इनकी कुछ तो सुनले।.........इनका नाता ही क्या मुझसे ?
कुछ इच्छा है तो अब भी कहदे।...... बस प्रभु मैं तृप्त हो गया, कृतकृत्य होगया।

नेत्र बन्द किये मानो मैं प्रभुमें मिल चुका था, दीन-दुनियासे दूर हो चुका था। मैं था और थे मेरे शान्ति-आदर्श वीतराग-प्रभु। और फिर वही ? अरे मन ! तेरा भला हो, तू अपनी चंचलतासे बाज़ न आया ? आख़िर वही किया जो तुझे करना था ? घसीट ही लिया मुझे ? अच्छा करले जो कुछ करना है, अपनी बदकारी में कमी मत रख, सब अरमान निकालले। आख़िर कब-तक ? एक दिन बिदा लेनी ही होगी तुझे। बाँध ले अपना बिस्तरा-बोरिया। अब अधिक दिन नहीं निभेगा मेरा साथ। मेरा रास्ता यह और तेरा रास्ता वह। प्रभुको भुला देना तो अब तेरी सामर्थ्यसे बाहर हो चुका है, क्योंकि अब मैं कर चुका हूँ प्रतिमामें जीवित-देवके दर्शन, अब मेरेलिये वे पाषाण नहीं भगवान् हैं।

(८) अबतक भले भूला रहा हूँ पर अब मुझे 'पंच-कल्याणक विषयक' सब पिछली बातें याद आ गई हैं। वह दृश्य मेरी आँखोंके सामने घूम रहा है, जबकि प्रभुने माताकी कोखमें प्रवेश किया था। मेरे सामने ही इनका जन्म हुआ था। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है जबकि इनका राजतिलक हुआ था, और इनकी प्रजाका एक अंग बनकर मैं सुखपूर्वक जीवन बिताता था। आहा हा ! वह दिन तो मानो कल ही गुज़रा है। क्या दृश्य था वह ? चहुँ ओर वैराग्य व वीतरागता, लौकान्तिक देवोंका वह सम्बोधन मेरे कानोंमें आज भी गूंज रहा है। प्रभुको वैराग्य आ गया था उस दिन, राजपाटको ठुकरा, नीची गर्दन किये वनकी ओर चल पड़े थे वे। मुझसे रहा न गया, पालकी उठा लाया, प्रभुको बैठाया और ले चला कुछ दूर अपने कन्धोंपर। ओह ! कितना उत्साह था उसदिन मुझमें, जैसेकि आज ही घर छोड़कर चल दूं प्रभुके पीछे। पर मेरा दुर्भाग्य, मैं न जा सका। प्रभु चले गये और मैं देखता ही रह गया। कितनी उदासीन थी सारी प्रजा ? पर प्रभु प्रसन्न थे, शान्त थे, मानो चले हों किसी स्वयम्बरमें।

यह दृश्य तो मानो मेरी आंखोंके सामने ही हो रहा है। देखो-देखो, क्या नहीं दीख रहा है तुम्हें ? लो इन आंखोंसे देखो, वे प्रभु बैठे किस तरह घास-फूसकी भांति अपने केश नोच-नोचकर फेंक रहे हैं, और मैंने इन हाथोंसे समेटे थे उनके वे केश। ध्यानमें निश्चल हुए वे योगी यही तो हैं जिनके शरीर पर खाज खुजाता हुआ एक मृग मैंने देखा था। और वह दृश्य जब तीनों लोक झंकार उठे थे, चहुँ ओर युगपत् गूंजनेवाली दुन्दुभि-बाजोंकी ध्वनि मानो आकाशको फाड़नेका प्रयत्न कर रही थी ? उस दिन उत्पन्न हुआ था भगवान्‌को वह ज्ञान जिसके प्रकाशमें वे तीनों लोकोंको तीनों कालोंमें प्रत्यक्ष देख

रहे थे, अपने हृदय पटपर। वह अलौकिक तेज जिसमें कि मुझे भी दिखाई देने लगे थे अपने सात भव। आहा हा! कैसी महिमा थी उस समय भगवान्‌की, मानो तीन लोककी सम्पत्ति ही सिमट आई थी उनके चरणोंमें। मैं तो क्या सहस्र जिह्वा भी उसका वर्णन करनेको समर्थ नहीं। और अन्तका वह दिन जब भगवान् विदा ले रहे थे हम सबसे, सदाके लिये? मानो अनाथ बना चले थे हम सबको। मैं रो रहा था उस समय न जाने क्यों? सम्भवत: इसलिये कि मैं भी कभी ले सकूंगा ऐसी विदा?

और आज वही प्रभु हैं मेरे सामने। मानो इस अनाथकी सुध लेने आये हैं कि भूल न बैठा हो कहीं उस अन्तिम रुदनके भावको, और वास्तवमें था भी वैसा ही। प्रभुसे क्या छिपा है? मैं तो भूल ही बैठा था सब कुछ, यहां तककि प्रभु भी पाषाण दिखाई देने लगे थे अब मुझे। सोतेको जगा दिया प्रभुने। भगवन् आप न आते तो न जाने क्या होता मेरा? इस भवमें अपने हाथोंसे की हुई सब क्रियाओंको, अपनी आंखोंसे देखे हुए सब दृश्योंको, अपने कानोंसे सुने हुए सब शब्दोंको इसी भवमें भूल गया। यदि आज आपके दर्शन न होते तो आगे क्या होता? तभी तो कहते हैं आपको करुणासिन्धु, भक्त प्रतिपालक, अधमोद्धारक।

अरे भोले प्राणी! क्या अब भी समझ न पाया कि 'क्या देती है यह सामर्थ्यहीन प्रतिमा और कैसे देती है?'

(६) कितनी सामर्थ्य है दृष्टिमें आनेवाली इस पाषाणकी मूर्तिमें? भावना-शून्य तुझे दिखाई ही कैसे देगी वह सामर्थ्य? पक्षपातके गहन अन्धकारमें मुन्द गई हैं तेरी आंखें। उपरोक्त प्रकार तन्मय होकर शान्तिके दर्शन करे तब पता चले कि क्या देती है यह प्रतिमा, कितनी सामर्थ्य है इसमें। ठीक है यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती क्योंकि जड़ है, परन्तु मेरी रक्षा अवश्य कर सकती है। हाथ कंगनको आरसी क्या? करके देख उपरोक्त प्रकार दर्शन। यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं करती तो क्या आश्चर्य, वे जीवित प्रभु भी तो जिनकी कि यह आकृति है स्वयं नहीं करते थे अपने शरीरकी रक्षा। अनेक शक्तियों व ऋद्धियोंके भण्डार होते हुए भी, इस पृथ्वीको एक अंगुलीपर घुमा देनेकी शक्ति रखते हुए भी वे नहीं करते थे स्वयं अपने शरीरकी रक्षा। वे नित्य जागृत रहा करते थे अपनी रक्षाके-लिये, और यह प्रतिमा भी बराबर कर रही है अपनी रक्षा उन्हींकी भांति।

प्रभु! इस अन्धकारमें तुझे कैसे सूझे कि किसे कहते हैं अपनी रक्षा? एक ओर कह रहा है शरीर और आत्मा भिन्न हैं और दूसरी ओर कह रहा है कि

शरीरकी रक्षा ही मेरी रक्षा है। भला कहां है विश्वास तुझे स्वयं अपनी बात पर ? प्रभुका विश्वास तुझ जैसा पोच न था, वे दृढ़ थे इस बातपर कि वे चैतन्य हैं अन्य कुछ नहीं, शरीरका उनके साथ कोई नाता नहीं, तनिक भी। फिर बता इसकी रक्षा वे क्यों करते ? और कदाचित् उपकार-बुद्धिसे कर भी देते, यदि इसकी रक्षा करते हुए स्वयं अरक्षित न हो जाते। समझ भगवन् समझ, शरीरकी रक्षा क्या बिना इसके प्रति राग आये सम्भव है ? और राग आनेपर क्या शान्ति सुरक्षित रह सकती है, वह शान्ति जिसके-लिये कि इतना पुरुषार्थ किया है उन्होंने ? तो फिर बता शरीरकी रक्षाके-लिये अर्थात् एक ऐसी वस्तुकी रक्षाके-लिये जो उनके-लिये उससमय बिल्कुल निष्प्रयोजन बन चुकी थी, राग उठाकर अपनी शान्तिका घात करना, निधि लुटा देना, अपने हाथों अपने घरमें आग लगा लेना, कौन बुद्धिमत्ता थी, और प्रभु ऐसी मूर्खता करते ही क्यों ? बस वही आदर्श तो उपस्थित कर रही है यह प्रतिमा भी। निश्चल-ध्यान-अवस्था में स्थित, अन्तर तथा बाह्य-विकल्पोंसे रहित, उस समय प्रभु भी तो जड़वत् दीखते थे ? क्या भूल गया उस दिनको जब अपने मुंहसे उस महायोगी को जड़-भरत कहकर पुकारा करता था ? यदि यह प्रतिमा ही जड़वत् दीखती है तो क्या आश्चर्य हुआ ?

देख प्रतिमा सम्बन्धी महाभारतका प्रसिद्ध दृष्टान्त। भले ही नीचकुल होनेके कारण अथवा यह सोचकर कि 'मेरे द्वारा सिखाई गई धनुर्विद्याका दुरुपयोग न हो जाय, इसका प्रयोग पशु-हिंसाके प्रति न हो जाय' गुरु-द्रोणाचार्यने उस भीलको धनुर्विद्या देनेसे इन्कार कर दिया था. पर उसकी दृष्टिमें तो उसके गुरु बन चुके थे वे। भले वे उसे अपना शिष्य स्वीकार न करते पर उसकी भावना कैसे बदल सकते थे ? 'प्रत्यक्ष न सही परोक्ष ही सही, धनुर्विद्या अवश्य सीखूंगा, और इनसे ही सीखूंगा' ऐसे दृढ़ संकल्पवाले उस भीलने वनमें जाकर कच्ची मिट्टीसे बनाई द्रोणाचार्यकी प्रतिमा और एक गुफाके मुखपर बड़ी विनयसे विराजमान कर दिया उसे। तीन समय पुष्प चढ़ाता था उसके चरणोंमें। उसकी दृष्टिमें वह प्रतिमा न थी, थे साक्षात् गुरु-द्रोण। प्रतिमासे ही पूछ-पूछकर करने लगा धनुर्विद्याका अभ्यास। स्वयं अपने ही हृदयसे प्रगट होनेवाले लक्ष्य-साधनके उपायोंको यदि पहलेसे ही मान बैठता अपने, तो अभिमान हो जाता। 'गुरु-द्रोण ही क्या करेंगे इसमें, मैं स्वयं ही सीख लूंगा' ऐसा भाव आ जाता, और कभी न सीख पाता वह विद्या। परन्तु उसके हृदयमें यह विकल्प था ही नहीं, उसकी दृष्टिमें तो थी गुरुकी विनय। लक्ष्य चूक जानेपर गुरुसे अर्थात् प्रतिमासे क्षमा मांग लेता और लक्ष्य सफल हो जानेपर उनके चरण छू लेता। वर्षों बीत गये इसी प्रकार

करते पर एक क्षणको भी उसने उसे प्रतिमा रूपमें न देखा । वे थे उसके साक्षात् गुरु और एक दिन सिद्धहस्त हो गया वह, अर्जुनकी विद्याको भी शर्मा देनेवाला ।

अर्जुनसे यह कैसे सहा जा सकता था कि गुरु-द्रोणका शिष्य इस निगुरे भीलसे नीचा रह जाय ? नहीं, यह नहीं हो सकता । गुरुसे जाकर कह ही दिया । गुरु आये और भीलसे पूछा, किनसे सीखी है विद्या ? गुरुको साक्षात् सामने देखकर लेट गया उनके चरणोंमें । "आहा हा ! आखिर चले ही आये आप खिंचे हुए ? भक्तिमें इतनी सामर्थ्य है । भगवन् ! और कोई नहीं आप ही हैं मेरे गुरु", यह था भील का उत्तर । गुरु-द्रोण आश्चर्यमें डूब गये । यह बात सत्य कैसे हो सकती है, क्योंकि उन्होंने तो उसे विद्या देनेसे इन्कार कर दिया था ? नहीं, मैं नहीं हो सकता, यह झूठ बोलता है, छिपाना चाहता है अपने गुरुका नाम मुझसे । भील ताड़ गया गुरुके मनकी बात और ले गया उनको प्रतिमाके पास । 'यदि विश्वास न आता हो तो देख लीजिये, ये बैठे हैं मेरे गुरु,' और गुरु द्रोणपर खुल गया सारा रहस्य, जड़-प्रतिमा क्या दे सकती है और किस प्रकार दे सकती है, यह रहस्य ।

भो कल्याणार्थी ! अब पक्षपात् तज, किसी दूसरेके-लिये नहीं अपने लिये । 'मेरे मनमें हैं भगवान्, क्या करूंगा प्रतिमाके दर्शन करके' ऐसा बहाना छोड़ दे । स्वयं तेरी शान्तिका घात कर रहा है यह, क्योंकि अबतक तूने भगवान्के दर्शन किये हो कब हैं जो तेरे हृदयमें उनका वास सम्भव हो जाता । भगवान् शब्द का नाम भगवान् नहीं । भगवान् जीवनका एक आदर्श है जो तू इस प्रतिमा में पढ़ सकता है या साक्षात् भगवान्में । भगवान् वर्तमानमें हैं नहीं, अतः उनके प्रतिनिधि-रूप इस प्रतिमाको अब शरण ले और अपना कल्याण कर ।

iv मन्दिर विषयक —(१०) देव-पूजाकी बात चलती है, देवका व पूजाका स्वरूप दर्शाया जा चुका । अब प्रश्न यह होता है कि **'मन्दिर की क्या आवश्यकता ?'** प्रश्न बहुत उत्तम व स्वाभाविक है, ऐसे प्रश्न उत्पन्न करते समय यदि भय लगेगा तो तत्त्व नहीं समझा जा सकेगा । जैसे मैं कहूँ वैसे स्वीकार कर लेना वास्तवमें समझना नहीं है । देख इस प्रश्नका उत्तर स्वयं अपने अन्दरसे ही आ जाता है ।

'मुझे शान्ति चाहिये' यह समस्या है, इस समस्याका सुलझानेका अब प्रश्न है । शान्ति प्राप्त करनेसे पहले यह जानना आवश्यक था कि शान्ति क्या है, और इसका घात करनेवाला कौन है ? सो भी जाना जा चुका कि शान्ति मेरा स्वभाव है, और इसका घात करनेवाला मेरा अपना ही अपराध है जो आस्रव-तत्त्वमें दर्शा दिया गया है, अर्थात् शरीर धन व कुटुम्बादि सम्बन्धी अनेकों नित्य-

नये-नये उठनेवाले विकल्प, इच्छायें व चिन्तायें। यदि ये विकल्प दब जायें तो मैं शान्त पहले ही से हूँ। वास्तवमें शान्ति प्राप्त नहीं करनी है बल्कि अशान्ति को दूर करना है, इन चिन्ताओंको, इन इच्छाओंको, इन विकल्पोंको दूर हटाना है। ये दूर हुए कि शान्त तो मैं हूँ ही, वह तो स्वभाव जो ठहरा मेरा। प्राप्तकी प्राप्ति क्या ? जो पहले ही से मेरे पास है उसको प्राप्त करनेका प्रयास क्या ? स्वभावका कभी विच्छेद नहीं हुआ करता। क्या अग्निसे जल गर्म हो जानेपर भी जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ बैठता है ? नहीं। तो मैं ही इन विकल्पोंके कारण व्याकुल होता हुआ अपनी शान्ति कैसे छोड़ सकता हूं ? अतः जिस-किस प्रकार भी इन विकल्पोंका अभाव करनेका प्रयास करना है।

अब विचारना यह है कि क्या एकदम इन विकल्पोंको रोका जाना सम्भव है ? जैसेकि बिजलीका बटन दबाया और प्रकाश बन्द, क्या इसीप्रकार 'कोई क्रियाविशेष करी और विकल्प बन्द', ऐसा होना सम्भव है ? ऐसी बात यहां सम्भव नहीं, क्योंकि प्रारम्भमें ही आस्रव-बन्ध तत्त्वोंके अन्तर्गत इन विकल्पों व संस्कारोंके जन्मका क्रम दर्शाते हुए यह बताया जा चुका है कि संस्कार धीरे धीरे ही शक्ति पकड़ता हुआ एक दिन पुष्ट हो जाता है, एकदम पुष्ट नहीं हो बैठता (देखो १२-२)। बस उसीप्रकार यहाँ भी समझना। आगे तपके प्रकरणमें इस बातको सविस्तार बताया जायेगा कि कोई भी संस्कार क्रमपूर्वक तोड़ा जाता है। जबतक संस्कार समूल नष्ट न होगा तबतक उससे प्रेरित हुआ मैं नित्य नये-नये विकल्प भी छोड़ न सकूंगा। रोगीका रोग एकदम दबाया नहीं जा सकता, क्रमपूर्वक और धीरे-धीरे ही दबाया जा सकता है, उसीप्रकार विकल्प दबानेके सम्बन्धमें भी समझना।

इन विकल्पोंमें सर्वदाके-लिये तो क्या, कुछ देरके-लिये भी पूर्णतया ब्रेक नहीं लगाया जा सकता। हाँ इतना अवश्य है कि इन्हें कुछ देरके-लिये किसीप्रकार दबाया जा सकता है, जिसप्रकार कि मारफीन या कोकीनके इन्जैक्शन द्वारा कुछ देरके-लिये पीड़ा दबाई जा सकती है। अब मुझे यह देखना है कि कुछ देरके-लिये ही सही, वह क्रिया-विशेष कौनसी है जिसके करनेसे कि वे विकल्प दब सकें। अनेकों बार जबकि मैं क्रोधमें अत्यन्त व्याकुल हुआ अन्दर ही अन्दर कुछ जलनसी महसूस करता हूँ, मैंने यह अनुभव किया है कि ऐसे अवसरोंपर यदि मैं घर या दुकान आदिकका वातावरण छोड़कर क्लबमें जाकर खेलने लगूं तो धीरे-धीरे वह क्रोध शान्त हो जाता है और उस समयतक पुनः जागृत नहीं हो पाता जबतक कि पुनः उसी प्रकारका कोई अन्य वातावरण मेरे सामने न बन जाय। बस इसी अपने अनुभवपर-से सिद्धान्त निकाल लीजिये।

सिद्धान्त यह निकला कि बाह्य-वातावरणका मेरे विचारोंके साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जब जुआरियोंके वातावरणमें रहकर मैं जुआरी और शराबियोंके वातावरणमें रहकर शराबी बन सकता हूं तो निर्विकल्प वातावरण में रहकर मैं निर्विकल्प क्यों नहीं बन सकता ? यद्यपि स्वपर-भेद-विज्ञानके अन्तर्गत वस्तुतः इसका निषेध किया गया है, और बताया गया है कि अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता और इस बातपर मुझे विश्वास भी है, युक्ति आदिसे निर्णय भी किया है, परन्तु अभीतक वह विश्वास पूर्णतया मेरे जीवनमें उतरने नहीं पाया है। पूर्ववाला पराश्रित हो जानेका संस्कार अभी दृढ़ है। यद्यपि गलती मेरी है, पर करता हूं मैं किसी वातावरणसे प्रभावित होकर ही। जो बात स्पष्ट अनुभवमें आती हो, उससे नकार कैसा ?

विकल्पको दबानेके दो उपाय हैं। एक तो यह कि स्वपर-भेदज्ञानके द्वारा मैं जहां कहीं भी बैठूं दृढ़ता धारकर वातावरणकी ओर दृष्टि न दूं और अपने शान्त-स्वभावको लक्ष्यमें लेकर अन्तरंगमें एक नया वातावरण उत्पन्न करलूं। यह उपाय करने बैठता हूं तो वर्तमानकी इस प्राथमिक अवस्थामें अपनेको बिल्कुल असमर्थ पाता हूं, क्योंकि बातको समझना सरल है पर उसको कार्यान्वित रूप देना कुछ कठिन। समझने व श्रद्धा करनेमें अधिक समय नहीं लगता, पर उसे पूरा करनेको एक लम्बा समय चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये जो इस अत्यन्त निम्न अवस्थामें भी किया जा सकना सम्भव हो, और मेरी शक्तिसे बाहर न हो।

कुटुम्ब-सम्बन्धी चिन्ताओंसे कुटुम्बके वातावरणमें रहकर, धनोपार्जन सम्बन्धी चिन्ताओंसे दुकानपर रहकर, और शरीर-सम्बन्धी चिन्ताओंसे शरीरकी सेवामें संलग्न रहकर, बचनेका प्रयास करते हुए भी बचा नहीं जा सकता। अतः इस निश्चयके आधारपर वातावरण बदल देना चाहिए। अब विचारना यह है कि इसको छोड़कर किस वातावरण में जाऊँ ? क्या क्लबमें जानेसे काम चल जायेगा ? नहीं, क्योंकि वहां भले कुटुम्बादि-सम्बन्धी विकल्प दब जायें पर हार-जीत सम्बन्धी नये विकल्प उत्पन्न हो जायेंगे। अतः वातावरण ऐसा होना चाहिये कि जहां जाकर यदि विकल्प भी उत्पन्न हों तो वीतरागता-सम्बन्धी ही हों। सौभाग्यवश शान्तिके आदर्श जीवित देव या उनकी प्रतिमाकी शरणमें जानेसे यह प्रयोजन ठीक-ठीक सिद्ध हो जाता है, जैसाकि इससे पहलेके प्रकरणोंमें दर्शा दिया गया है। इन दोनोंमें भी देवकी शरणका तो प्रश्न नहीं क्योंकि वर्तमानमें कहीं दिखाई ही देते नहीं, किन्तु उनकी प्रतिमा अवश्य सौभाग्यवश प्राप्त है। अतः प्राप्त साधनसे ही कुछ लाभ लेना है।

अब यह विचारिये कि यदि यह प्रतिमा घरपर ही रख लूं तो क्या वह वातावरण छोड़कर नया वातावरण बनाया जा सकेगा? यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि नहीं बनाया जा सकेगा। एक ओर स्त्रीकी नई-नई मांगे, एक ओर वृद्ध माता-पिताकी कराहट, एक ओर बच्चोंकी चीख़-पुकार, इन सबके होते हुए प्रतिमाके सामने खड़े हुए भी मेरा उपयोग उनकी ओर आकर्षित न हो सकेगा। अत: कोई अन्य उपयुक्त स्थान ढूंढना होगा।

चलिये वनमें खोजें। आहा हा! कैसा रमणीक व सुन्दर स्थान है? यहां ही तो देखा था मैंने अपने प्रभुको बैठे हुए। बड़ा शान्त है, प्रकृतिने मानो अपनी विशाल गोद ही फैलाई है, नगर व ग्रामकी सीमातक मुझे आश्रय देने के लिये। बहुत शान्त वातावरण है। इससे अच्छा और क्या हो सकता है? जहां आते ही मैं भूल जाता हूं सर्व कुटुम्बको, धनको, यहांतक कि शरीरको भी, और खो जाता हूं प्रकृतिकी सुन्दरतामें, उस स्वाभाविक व शाश्वत् सुन्दरतामें जिसे रचनेका या नवीन बनानेका विकल्प भी मुझे नहीं आ सकता। बस अपने प्रभुकी प्रतिमा को यहां ले आऊं और कर दूं विराजमान किसी वृक्षके नीचे एक शिलापर या किसी मिट्टीके चबूतरेपर। यह प्रतिमाके दर्शन करनेमें मेरी बहुत सहायता करेगा और इसी कारण बन गये चैत्यवृक्ष, जिसकी ओर गुरुदेव पुन:पुन: संकेत कर रहे हैं, इस आगममें। चैत्यवृक्ष अर्थात् प्रतिमा रखी गई हो जिस वृक्षके नीचे। प्राचीन समयमें चैत्यवृक्ष ही हुआ करते थे, जहां जाकर मैं कुछ देरके लिये भूल जाता था सब चिन्तायें और लय हो जाता था प्रभुकी शान्तिमें जैसाकि पहलेके प्रकरणोंमें बता दिया गया है।

यह समय वह था जबकि मैं छोटे-छोटे गांवोंमें रहा करता था, दो फलांग चला कि चैत्यवृक्षपर पहुँच गया। फालतू समय भी काफी होता था। सौ पचास छोटी-छोटी झोपड़ियोंका ग्राम होता ही कितना बड़ा है? चारों ओर वन ही वन पड़ा है और हैं हरे-हरे खेत। परन्तु समयने पलटा खाया और आज मैं रहता हूं बड़े बड़े नगरोंमें, जहांसे यदि कई मील चल लिया जाय तो भी मैं वनमें प्रवेश न कर सकूंगा। सड़कों आदि पर बड़ा व्याकुलसा वातावरण रहता है। और आज इतना समय भी तो नहीं है मेरे पास कि मीलों चला जाऊं वनमें भगवानके दर्शन व पूजा करने, और घरपर लौट आऊं। सम्भवत: आधा दिन लग जाय इस काममें। फिर मैं गृहस्थी; भला कैसे दे सकता हूं इतना समय? यदि गुरुदेवकी प्रेरणासे या अन्तःकरणकी अभिलाषाकी प्रेरणासे कुछ समय निकालनेका प्रयत्न भी करूं तो बड़ी कठिनाईसे १५ मिनिट या आध घण्टा। और फिर इतना समय भी फालतू कहां है आज मेरे पास?

वनको अनुकूल वातावरणके रूपमें प्रयोग करना आज असम्भव है। अतः कोई अन्य कृत्रिम मार्ग निकालना पड़ेगा, जो भले ही उतना सुन्दर व स्वाभाविक न हो पर जिस-किस प्रकार भी वहां मेरे प्रयोजनकी सिद्धि कुछ हो सके, और निकल ही आया एक उपाय। नगर ही में एक पृथक स्थान या मन्दिर बना डालो और उसके अन्दर घर सम्बन्धी कोई सामान न रखो। वहां हो मेरे प्रभुकी प्रतिमा शान्तिके दर्शनके-लिये। मन्दिरकी दीवारोंके दूसरी ओर भले पड़ा रहे नगरका व्याकुल वातावरण, परन्तु उसके भीतर हो केवल एक शान्ति ही शान्ति। चहुँ ओर दीवारोंपर खिंचे हों या तो प्राकृतिक दृश्य, या शान्त महापुरुषोंके चित्र और या हो शान्तिके उत्पादक कुछ गुरुवाक्य, ताकि इस स्थानमें आकर जिधर भी दृष्टि उठाऊं दिखाई दे एक शान्ति। इसे कहते हैं मन्दिर अर्थात् शान्तिका घर। यद्यपि आज इस विलासताके युगमें आकर इसमें भी विलासताका विशैला अंश प्रवेश पा गया है, सोने चाँदीकी अधिकाधिक सामग्रीके रूपमें, कुछ बर्तनोंके रूपमें, छत्र-चमरोंके बड़े संग्रहके रूपमें, फ़रनीचरके रूपमें, परन्तु फिर भी यहाँ अन्यत्रकी अपेक्षा शान्ति है। कर्त्तव्य तो यह है कि इस विशैले अंशको यहाँसे निकालनेका प्रयत्न करूं, और कर भी रहा हूँ, कुछ सफलता भी मिली है। अब यहां नवीन आदर्श-मन्दिरोंकी स्थापना की जा रही है, जहां न स्वर्णका छत्र है, न चमर, न बर्तन भांडोंकी खड़खड़ाहट, न अधिक चौकियों आदिका संग्रह, न अधिक प्रतिमायें न लौकिक, आकर्षण, केवल एक विशाल प्रतिमा है और एक बड़ी टेबल तथा बैठनेके-लिये कुछ आसन। यह है मेरे प्रयोजनकी सिद्धिमें सहायक शान्त-वातावरण।

यद्यपि प्रभुका तो कुछ नहीं, वे तो वीतराग हैं, कहीं भी बैठा दो ले जाकर, निश्चल व निर्विकल्प ही रहते हैं। पूर्ण जो हो गये हैं ? परन्तु प्रभुके-मन्दिरमें ये विलासताके अंश अनेक प्रकारके विकल्प पैदा करते हैं मेरे मनमें। मैं तो अभी चलना भी नहीं सीखा हूं। इसी कारण मन्दिरमें विलासताका दृश्य खटकने लगता है आंखोंमें, सो ठीक ही है, फिर भी अपना काम निकालना है। यदि आदर्श-मन्दिर उपलब्ध हो जाय तो बहुत अच्छा, नहीं तो इन मन्दिरोंसे हो काम चलाओ। ज़रा अधिक बल लगाना पड़ेगा, इस रूपमें कि दृष्टिके सामने पड़े आकर्षक पदार्थोंकी ओर मेरा ध्यान खिंचने न पावे, परन्तु घर व दुकान आदि से फिर भी अच्छा है। अनेकों अन्य विकल्पोंसे तो छुट्टी मिलती ही है। दो प्रकारकी मुख्य बाधायें हैं जो मेरी शान्तिको बाधित करती हैं—एक इन्द्रिय ज्ञान व उनके द्वारा जाने गये पदार्थ, और दूसरा मन तथा उसमें उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पदार्थों सम्बन्धी विकल्प। इन दोनों बाधाओंमें-से

इन्द्रियज्ञान सम्बन्धी बाधा स्थूल है क्योंकि वह बाह्यमें पड़े पदार्थोंका आश्रय लिये बिना उत्पन्न नहीं होती, और मन सम्बन्धी बाधा सूक्ष्म है क्योंकि इसके विकल्पों का बाह्यमें किसी पदार्थके आश्रयकी आवश्यकता नहीं। मन्दिरके वातावरण व घर आदिके वातावरणमें इतना ही अन्तर है कि घर आदिकमें तो दोनों प्रकारकी बाधायें सम्भव हैं परन्तु मन्दिरमें केवल मन सम्बन्धी, क्योंकि रागात्मक बाह्य पदार्थ वहां दिखाई ही नहीं देते। घर बैठकर विकल्पोंके प्रशमनका पुरुषार्थ करनेमें दोनों प्रकारकी बाधाओंका सामना करना पड़ता है जिसमें अधिक बलकी आवश्यकता है, और मन्दिरमें बैठकर वही पुरुषार्थ करनेमें केवल एक बाधाका सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रतिमा की उपस्थिति मुझे शान्तिके दर्शन करनेमें सहायता देती है, इसलिये कम बलसे भी काम चल जाता है।

यदि विकल्पोंके प्रशमनके-लिये पर्याप्त बल मुझमें हो तो मन्दिरकी वास्तवमें कोई आवश्यकता न थी। तब तो घर पर बैठे, रेलमें बैठे या सड़क पर चलते, किसी स्थान पर भी, किसी समय भी मैं विकल्पोंको दबाकर शान्तिमें मग्न हो जाता। परन्तु अनुभव करनेपर यह जाना जाता है कि जीवनचर्यामें विकल्प बजाये दबनेके अधिकाधिक वृद्धिको ही प्राप्त होते हैं, इस लिये विकल्प प्रशमनके प्रयोजनार्थ घर आदिका वातावरण प्रतिकूल पड़ता है और मन्दिरका वातावरण अनुकूल। आगे भी सभी जगह यही सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा कि अनुकूल वातावरणमें रहकर पुरुषार्थ करनेमें कम बल लगाना पड़ता है। इसलिये आगेके सर्व प्रकरणोंमें जहां अन्तरंग विकल्पोंके संवरण अर्थात् प्रशमनका अनेक दिशाओंमें प्रसार होने लगेगा वहां जिस-किस प्रकार भी प्रतिकूल निमित्तोंका त्याग और अनुकूल निमित्तोंका ग्रहण करनेको दृष्टिसे ओझल नहीं किया जा सकता, कारण कि मैं अधिक बल-वालोंकी कोटिमें नहीं हूं, मेरी शक्ति बहुत हीन है और ज़रासी बातमें विकल्प उठ खड़े होते हैं। आगे यद्यपि शक्ति बढ़ती चली जायेगी, तदपि तदनुसार अनुकूलतायें बनानेका प्रयास बराबर चलता रहेगा, भले ही पहलेकी अनुकूलताओंका आगे-चलकर कोई मूल्य न रह जाय; जैसेकि साधु दशामें पहुंच जानेपर यद्यपि मन्दिरका अधिक मूल्य नहीं रह जाता, परन्तु किसी भी अन्य एकान्त-स्थानका मूल्य बन जाता है।

(११) अब यह तो सिद्ध हो गया कि मन्दिरमें आकर अनुकूल वातावरणके कारण मैं चाहूं तो किञ्चित् शान्ति प्राप्त कर सकता हूं। परन्तु मन्दिरमें आ जाने मात्रको पर्याप्त मानकर यदि सन्तोष कर बैठूं तो क्या उस प्रयोजनकी सिद्धि

सम्भव है ? नहीं, क्योंकि यद्यपि एक स्थूल बाधा टल चुकी है परन्तु अत्यन्त प्रबल मन-सम्बन्धी सूक्ष्म बाधा जीतनी बाकी है। यदि उस बाधाको जीतनेका प्रयत्न किये बिना ही, हिताहितके विवेकहीन केवल साम्प्रदायिक विश्वासके आधारपर मन्दिरमें आकर हाथ जोड़ूं और चला जाऊं, तो इष्ट कार्यका सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इतना जानना आवश्यक है कि **'मन्दिरमें क्यों आना चाहिये, कैसे आना चाहिये और वहां आकर क्या करना चाहिये।'**

उपरोक्त तीन प्रश्नोंमें-से पहले प्रश्नका उत्तर तो दिया जा चुका कि केवल विकल्पोंका प्रशमन करना ही मन्दिरमें आनेका प्रयोजन है। इसलिये यहाँ आनेसे यदि विकल्प किञ्चित् भी शान्त नहीं होते तो यहां आना निरर्थक है। तीसरे प्रश्नका उत्तर भी लगभग आ गया, कि यहां आकर प्रतिमामें जीवित देवका दर्शन करते हुए निज शान्तिमें लय होनेका प्रयास करना चाहिये। मन्दिरमें आकर यदि 'यह बड़ा सुन्दर है, ये स्तम्भ संगमरमर के हैं, इसपर बहुत पैसा लगा है, अभी इसमें इतनी कमी है', इत्यादि विकल्पोंमें उलझकर देव-दर्शनका कार्य भूल बैठूं, तो यहाँ आना निरर्थक ही हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि यहां न आयें, बल्कि यह है कि यहाँ आकर इन विकल्पोंमें उलझनेको बजाय यथार्थ देव-दर्शनका काय करें। देवदर्शन व देवपूजामें कोई विशेष अन्तर नहीं है, दर्शन भी पूजन ही है।

अब यह देखना है कि मन्दिरमें कैसे आया जाय ? प्रयोजनपर ध्यान दीजिये। विकल्पोंके प्रशमनार्थ व शान्तिके अनुभवनार्थ आता हूं यहां। शान्तिके दर्शन तो देवपूजासे हो जाते हैं, पर विकल्पोका प्रशमन स्वयं करना पड़ेगा। विकल्पोंकी उपस्थितिमें देवके भी दर्शन न कर सकोगे। नेत्र करते होंगे दर्शन प्रतिमाके और मन भागता फिरेगा घर व बाजारमें। मन्दिर तो केवल निमित्त मात्र है। यदि स्वयं पुरुषार्थपूर्वक विकल्पोंका किञ्चित् त्याग करूं तो मन्दिर व वातावरण सहायक कहलायें, और यदि मनका व्यापार चलने दूं, इसपर ब्रेक न लगाऊं, तो मन्दिर तो जबरदस्ती मुझसे विकल्प छीननेसे रहा। अतः मन्दिरके-लिये घरसे चलते समय पहिला पग जब आगे बढ़े तबसे ही अपना मन्दिर सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करना ही है।

"अब चला हूं प्रभुके साथ तन्मय होने, अपनी शान्तिका अथवा तृप्तिका स्वाद लेने, परम आल्हादमें नृत्य करने। मानों प्रभुकी वीतरागता अभीसे घूमने लगी है मेरे हृदयपटपर। अरे चेतन ! यह विकल्प क्यों ? क्या नाता है इन पदार्थोंसे, कुटुम्बसे, इस सम्पत्तिसे या इस शरीरसे तेरा ? सब जड़ या चेतन पथिक जा रहे हैं अपने-अपने मार्गपर, बराबर बढ़ते हुए एक लक्ष्यको

ओर, जाने क्यों ? मैं भी जा रहा था अबतक इनके साथ, पर मुझे मुड़ जाना है दूसरी पगडंडीपर, और इन सबको जाना है सीधे इसी पगडंडीपर । जाने दे इन्हें, तुझे क्या मतलब, कहीं जायें, तू अपना मार्ग देख और ये देखें अपना । निभा लिया जितना साथ निभाना था, सदा किसका साथ निभता है, यों ही मिलते और बिछुड़ते रहते हैं, अब इधर मत देख, इस अपने मार्गकी ओर देख । इसपर जाते हुए भी तो कोई न कोई साथी मिल ही जायेगा, घबराता क्यों है ? भले कम पथिक जाते हों इस मार्गपर, परन्तु जाते तो अवश्य हैं, मार्ग सूना तो नहीं है ? वे तो थे सब स्वार्थी, लुटेरे, और इधर मिलेंगे निःस्वार्थी, करुणाधारी । वह देख दूर दिखाई दे रहा है कोई जाता हुआ । कितनी शान्त है उसकी चाल ?'' और इसी प्रकारकी विचार-धारामें बहते-बहते न जाने कब आ जाय मन्दिरकी ड्योढ़ी ।

''आज भगवान्के दर्शन करने जा रहा हूँ, परम अभीष्ट शान्तिकी उपासना करने जा रहा हूँ । सर्व विकल्पोंकी गठरी छोड़दे इसी ड्योढ़ीके बाहर । इसे सरपर रखे कैसे जायेगा आगे, और अच्छा भी क्या लगेगा इस घसियारेकी सी दशामें प्रभुके पास जाता हुआ ? यह माली तो यहां बैठा ही है, ज़रा देखते रहना भाई ! वापिस आकर उठा लूंगा'', और इसप्रकार सर्व विकल्पोंके भारको त्यागकर प्रवेश करता हूँ मन्दिरमें, मानो आज मैं साधु ही हूँ । मेरेमें और साधुमें अन्तर ही क्या है ? उसने घर सम्पत्तिको त्याग वैराग्य धारा और मैंने भी घर सम्पत्ति तथा उसके विकल्पोंकी गठरीका त्यागकर वैराग्य धारा, वह भी शान्तिकी ओर उन्मुख और मैं भी शान्तिकी ओर उन्मुख । रहे ये वस्त्र, सो इनकी कोई मुख्यता नहीं, क्योंकि इससमय देवके अतिरिक्त मुझे कुछ दिखाई ही नहीं देता, यहाँ वस्त्र बेचारे मेरी दृष्टिमें कैसे आवें ? 'और यह देखो आ गया अब मैं साक्षात् प्रभुके सामने ।' इसके पश्चात् वही तल्लीनता जिसके सम्बन्धमें पहले काफ़ी बताया जा चुका है ।

इसप्रकार अपनी अपनी योग्यताके अनुसार किसी निश्चित समयके-लिये १५ मिनट, आधा घण्टे या एक घण्टेके-लिये सर्वसंगविमुक्त होकर, घर गृहस्थीसे नाता तोड़कर, थोड़े समयके-लिये मानो साधु हूँ ऐसा मानकर, यदि मन्दिरमें प्रवेश करूं तो मेरे प्रयोजनकी सिद्धि हो, और उसीका नाम है वास्तवमें मन्दिर जाना । उतने समयके-लिये इतनी दृढ़ता होनी चाहिये, जैसी कि सेठ धनञ्जयकी हुई थी। धनका लाभ-हानि तो तुच्छसी बात है, यदि पुत्र-मृत्युका समाचार भी आ जाय तो नेत्र न हटें प्रभुपर-से, और कोई विकल्प न आने पावे मनमें । ''अरे ! उस पुत्रका नाता है ही कहां मेरे पास इस समय ? वह तो बाहर पड़ा है गठरीमें ।

भाई ! ज़रा बाहर प्रतीक्षा करो, जब बाहर आऊं तो याद दिलाना । खोजूंगा उस गठरीमें तुम्हारा कागज़, कहीं मिल गया तो । अब तो कुछ याद नहीं पड़ता, अभी दफ्तरका समय हुआ नहीं, शान्तिका भोजन कर लूं, फिर आऊंगा, फिर सुनूंगा कि क्या कहना है तुम्हें, अब इससमय अवकाश नहीं ।'' ऐसे होने चाहियें विचार उस अवसरपर, तब कहा जा सकता है कि मन्दिरमें जाना सफल हुआ, और उसे तू स्वयं अनुभव करेगा । वह है वास्तविक देवदर्शन ।



पार्श्वनाथ जैन मन्दिर शान्ति निकेतन ईसरी

२१

गुरु-उपासना

१. पुनरावृत्ति—पूर्वसंस्कारोंको विजयकर महान-विकल्प-सागरसे पार हो जानेवाले, तथा गम्भीर प्रशान्त सागरकी अथाह गुरुताको प्राप्त हे गुरुवर ! मुझे भी गुरुता प्रदान करें। हे कुशल खेवटिया ! मेरी नौका इस भवसागरसे पार करें। उस पार, जहां न है रागद्वेषकी ज्वाला और न है हर्ष-शोककी आंधी, है एक गहन शान्ति। आज मैं अशान्त हूं, और प्रतिक्षण मिलनेवाली अंतरंगकी प्रेरणा मुझे शान्त-द्वीपकी ओर जानेके-लिये वाचाल कर रही है, परन्तु विकल्पों-की इस आंधीमें अत्यन्त विशाल व भयानक इस भव-सागरको इन शक्ति-हीन भुजाओंसे कैसे पार करूं ?

हे गुरुवर ! यदि जन्मान्ध इस पामरको आंखें प्रदान करके आप यह न दर्शाते कि मेरा घर शान्ति है और आज मैं अशान्त-सागरमें गोते खाता हूं, तो किसप्रकार मुझे आपकी शरण भाती, मैं कैसे यह समझ पाता कि मैं तो चिदानन्दघन पूर्ण परमेश्वर, आनन्दमूर्ति, तथा ज्ञानशरीरी वर्तमानमें स्थित प्रभु आत्मा हूं, चैतन्य हूं, अमूर्तिक हूं ?

जीव-तत्त्वके ऐसे श्रद्धान बिना कैसे यह विश्वास करता कि, 'यह मेरे हैं मैं इनका हूं, इनसे मुझे सुख-दुःख है और मुझसे इन्हें सुख-दुःख है' इस प्रकारकी धारणाओंके आधारपर इन्द्रियोंसे दीखनेवाले भिन्न क्षेत्रावगाही स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिक तथा मेरे आंगनमें रहकर नृत्य करनेवाला यह चमड़ेका शरीर अथवा सूक्ष्म-कार्मण-शरीर और नित्य उठनेवाले विकल्प आदिक, सभी पदार्थ 'पर' हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, इनमें मेरा हित निहित नहीं है। आजतक सदा यही मानता आया हूं कि, "इनका कार्य मैं करता हूं और इनके कारण मेरा काम होता है, इनके-लिये मैं कार्य करता हूं और मेरेलिये ये काम करते

हैं, मेरे स्वभावमें-से इनका कार्य अर्थात् लाभ हानि निकलती है और इनमें-से मेरा कार्य बनता है, मेरे आधारपर इनका जीवन व सत्ता है और इनके आधारपर मेरा जीवन व सत्ता है, मैं न होऊं तो ये न हों, और ये न हों तो मैं न होऊं, मैं इनकी रक्षा करता हूँ और ये मेरी रक्षा करते हैं। ये न होते तो मेरा भी कल्याण हो गया होता, न्याय अन्याय कभी न करता। मुझ निर्दोषको दोषी बनानेवाले ये हैं, मैं तो उज्ज्वल निर्दोष हूँ", इत्यादि। इस प्रकारकी परपदार्थोंके साथ षट्कारकी अभेद बुद्धिके कारण इनके ही काममें व्यग्रता धारण कर, अपने कामसे विमुख मैं अशान्त बना हुआ हूँ और मज़ा यह कि फिर भी चाहता शान्ति ही हूँ। यह सब आपका ही प्रसाद है कि आज मैं इन सबको प्रत्यक्ष पर-पदार्थोंके रूपमें, अपनेसे बिल्कुल भिन्न षट्कारकी रूपसे पृथक देखनेमें समर्थ हुआ हूँ, इन सबको अपनी दृष्टिमें अजीव-तत्त्वरूप देख पाया हूँ। वह मेरी भारी भूल थी कि 'अजीव इतने होते हैं, इतने प्रकारके होते हैं, इनके लक्षण ये हैं' इत्यादि जाननेको ही अजीव-तत्त्वका श्रद्धान गिनता रहा। कभी विश्लेषण द्वारा स्व व परको जुदा करके नहीं देखा।

'यदि मेरी भूल है तो हुआ करे, इस भूलसे मेरी हानि ही क्या है?' इसी प्रकारकी धारणा आजतक बनी रही। यह भी कभी सोचनेका अवकाश न मिला कि मेरी वर्तमानकी दशा क्या है, और शान्तिका स्वरूप व उसकी प्राप्तिका सच्चा उपाय क्या है? उपरोक्त पर-पदार्थोंकी व्यग्रता में, इच्छाओंके आधारपर अर्थात् इच्छाओंको बढ़ा-चढ़ाकर मैं शान्ति खोजने बैठा हूँ, यह महान् आश्चर्य है। आपके बिना मुझे इस अन्धकारमें कौन सुझाता कि यही तो मेरा अपराध है और इस अपराधके ही द्वारा पुष्ट किये गये नित्यके रागद्वेषको प्रेरित करने वाले संस्कार ही मेरे वास्तविक बन्धन हैं, अशान्तिके मूल हैं? आपका शाब्दिक उपदेश पाकर आजतक यही मानता आया कि जड़ कर्मोंका मेरे प्रदेशोंमें आनामात्र कोई आस्रव नामका तत्त्व है, और उनका किसी विचित्र प्रकारसे बन्ध होकर कार्मण शरीरका रूप धारण करलेना बन्ध-तत्त्व है। आजतक अपनी शान्ति व अशान्तिको खोजनेका प्रयत्न नहीं किया। कर्म हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं, इस प्रकारके भेदोंकी उलझनमें उलझा अपनेको ज्ञानी मान बैठा, और झूठे अभिमानके शिखरपर बैठ नीचे, पड़ी बिलखती अपनी शान्तिकी अवहेलना करने लगा।

आपकी महान कृपासे आज वह रहस्य प्रगट हो जानेपर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है शान्ति-पथ, अशान्तिके उपरोक्त भ्रमात्मक पथसे बिल्कुल उल्टा, विपरीत दिशामें जानेवाला। धन्य है आपकी बुद्धि जो विषमें-से अमृत खोज

निकाला। अनुमानके आधारपर यह जानकर कि 'वहाँ अशान्ति है और मुझे चाहिये शान्ति, वहां विकल्प हैं और मुझे चाहिये निर्विकल्पता', यह सिद्धान्त बना डाला कि शान्तिका मार्ग अशान्तिसे बिल्कुल उल्टा होना चाहिये। आपने देखा कि अशान्ति उत्पन्न हो रही है पर-पदार्थोंका आश्रय लेनेसे, अतः शान्तिका मार्ग होगा उसका आश्रय छोड़ देनेसे और इसलिये मुझ पामरको उपदेशमें बताने लगे यही रहस्य, कि यदि मैं उन पर-पदार्थोंका कर्त्ता न बनूं, उनसे लाभ-हानि न मानूं, उनमें रस न लूं, तो अवश्य शान्त हो जाऊं। उसी मार्गका अर्थात् संवरका प्रकरण चल रहा है। लक्ष्य है पर-पदार्थोंका आश्रय क़तई न हो, कर्ता-बुद्धिके आधारपर होनेवाला राग व द्वेष बिल्कुल न हो।

राग और द्वेष दोनों सहोदर हैं, 'यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः', जहां राग होता है वहां द्वेष होता ही है। कोई द्वेषको बुरा समझे और रागको अच्छा माने सो ग़लत है, दोनों ही आकुलता-जनक हैं, स्वयं आकुलता स्वरूप हैं, उन दोनोंको दूर करना होगा। 'ये बिल्कुल न हों' ऐसा तो हुआ लक्ष्य। हमें तो इस लक्ष्यकी पूर्ति करनी इष्ट है, इसे कार्यान्वित रूप देना अभीष्ट है। लक्ष्य-मात्रसे तो काम चलता नहीं और उसकी प्राप्तिकी जिज्ञासा रखकर उस ओर चले बिना वह लक्ष्य भी क्या?

अब देखना यह है कि क्या इस लक्ष्यकी प्राप्ति एक समयमें हो जानी सम्भव है, अर्थात् क्या सम्पूर्ण राग-द्वेषका जीवनमें-से विच्छेद किया जाना सम्भव है? नहीं, लक्ष्य एक समयमें निश्चित हो जाया करता है परन्तु प्राप्ति करनेमें अधिक समय लगता है। लक्ष्य बनाना एक बात है और उसकी प्राप्ति करना दूसरी बात। लक्ष्यमें कोई क्रम नहीं होता परन्तु प्राप्तिके-लिये कोई मार्ग होता है जिसमें क्रम पड़ता है। उस मार्गमें धीरे-धीरे शक्ति-अनुसार चलना होता है, इसलिये चलते-चलते कोई आगे निकल जाता है और कोई रह जाता है पीछे, किसीमें शान्ति अधिक प्रगट हो जाती है और किसीमें रह जाती है कम। जितना बल लगाओ, जितनो तेज़ीसे क़दम उठाओ उतनो ही जल्दी शान्तिके निकट पहुँच जाओ। क्या अधिक बलवाले और क्या हीन बलवाले, उस मार्गपर चलनेकी देर है, पहुँच तो दोनों ही जायेंगे लक्ष्यपर, कोई पहले और कोई पीछे। अतः प्रभु! अपनेको असमर्थ मत समझ, उस मार्गपर चलनेकी सामर्थ्य तुझमें न हो ऐसी बात नहीं है। अतः चल, भले ही धीरे-धीरे चल।

शान्तिके मार्गपर गमन करते हुए तेरा पहला कर्त्तव्य होगा क्या करनेमें? वह होगा देवपूजामें, शान्तिके पूर्ण आदर्शके बहुमानमें, उसकी भक्ति व उपासनामें, अथवा चैत्य-चैत्यालय व शान्तस्वरूप प्रतिमाके भावपूर्ण दर्शनमें, आदर्श

पूजामें। देव कैसा होना चाहिये, प्रतिमा व मन्दिरसे क्या लाभ, अनुकूल वातावरणका मनपर प्रभाव पड़ता है, इत्यादि बातें बताते हुए भली भांति यह बात दर्शा दी गई थी कि देवका आश्रय लेनेका यह प्रयोजन नहीं है कि वे मुझे ज़बरदस्ती तार देंगे, पर यह है कि नमूनेके रूपमें उन्हें अपने सामने रखकर मैं अपने जीवनमें उनका रूप ढालनेका प्रयत्न कर सकूं। जैसा नमूना होगा वैसा ही माल बनाया जा सकेगा, इसलिये नमूनेके सम्बन्धमें अत्यन्त सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। खूब अच्छी तरह परीक्षा करके अपनी अभिलाषाओंके अनुरूप ही नमूना अर्थात् देवको उपास्य-रूपमें ग्रहण करना चाहिये। बिना विवेकके जैसे-कैसे भी आदर्शसे हमारा लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

२. गुरु कौन—अब दूसरे कर्त्तव्यकी बात चलती है, वह है गुरु-उपासना। जिस प्रकार ऊपर अच्छी प्रकार घूम-फिरकर, खूब परीक्षा करके अपने लक्ष्य के अनुरूप देव मैंने खोजा है, उसीप्रकार यहां गुरुके सम्बन्धमें भी जानना। गुरु मेरी नावके खेवटिया हैं, अतः देवसे भी अधिक है उनकी महत्ता। जैसा-कैसा भी गुरु मेरी नावको किस दिशामें ले जाय, शान्तिकी ओर ले जाय या अशान्ति की गहराईमें डुबादे, यह कौन जाने? अतः खूब अच्छी तरह परीक्षा करके ही किसीको गुरु स्वीकार करना योग्य है। गुरु बुद्धिवाला है, अपने उपदेशों द्वारा अपने अभिप्रायके अनुसार घुमा सकता है वह अपने शिष्यकी बुद्धिको, अपने कृपा-कटाक्ष द्वारा शक्तिपात करके उठा सकता है वह अपने शिष्यके जीवनको। अतः गुरुको स्वीकार करनेसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इसका आन्तरिक अभिप्राय क्या है, इसका जीवन शान्ति या समताकी ओर जा रहा है अथवा वासनाकी ओर, अभिलाषाके पोषणकी ओर अथवा शिष्य-मण्डली एकत्रित करके प्रसिद्धि पानेकी ओर।

यद्यपि गुरुके सम्बन्धमें भी देवकी भांति निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ही गुरु हैं, क्योंकि जिससे अपने जीवनके-लिये कोई भी हित की बात सीखनेको मिले वही गुरु है। व्यक्तिका हित उसकी अपनी दृष्टिमें वही होता है जिससे कि उसका जीवन सुखमय बने। इसलिये एक जुआरीका गुरु जुआरी ही हो सकता है, चोरका चोर, पहलवानका पहलवान और दुकानदार का दुकानदार। परन्तु यहां बात है पारमार्थिक हितकी, शान्ति-प्राप्तिकी, जीवनको बाह्य जगतकी बाधाओंसे बचाकर भीतरकी ओर उन्मुख करनेकी। अतः आओ किसी ऐसे गुरुको खोज करें जिससे कि मेरे इस प्रयोजनकी सिद्धि हो, जोकि इस दिशामें मेरा पथ-प्रदर्शन कर सके।

कहां खोजें, भीतरमें या बाहरमें? चलो पहले भीतर ही खोजें। और ये

रहे वे। अरे भाई! उधर नहीं इधर, अपने भीतर। नहीं दिखाई दिये? भैया! कुछ और भीतर चल, अभी तो तू इन्द्रियोंमें तथा मन और बुद्धिमें ही अटका है। यहाँ नहीं हैं वे। इसके भी भीतर, और भीतर, हृदयकी अन्तस्तम गुहामें, जहाँ न पहुँच सकती है मन की कल्पना और न बुद्धिकी तर्कणा, केवल प्रेम ही प्रेम है जहां। देख कितने मधुर हैं ये और कितने हितैषी, माता की भाँति। परम-माता हैं ये। कितनी सुखद है इनकी प्यारभरी गोद, इनकी चरण-शरण। हर-क्षण मेरे साथ रहते हैं ये, मेरी अंगुली पकड़कर धीरे-धीरे चलाते हैं ये, धीरे-धीरे चढ़ाते हैं ये साधनाके क्रमोन्नत सोपानोंपर। सदा मेरे आगे-आगे चलकर मार्ग दर्शाते हैं ये, इस मार्गके प्रत्येक कण्टकसे बचाते हैं ये। बाह्य जगत की ओर देखनेसे चित्तमें रागद्वेष उत्पन्न हुआ नहीं कि इन्होंने तुरत घूरकर देखा नहीं, कोई भी ग़लत कार्य हुआ नहीं कि तुरत प्यार भरा तपड़ाख् इन्होंने मेरे गालपर जमाया नहीं, वचन अपने पथसे बहका नहीं कि तुरत इन्होंने जिव्हा पकड़ी नहीं। और इस प्रकार बराबर देखते रहते हैं ये मुझे। भले ही सो जाऊं मैं, पर एक क्षणको भी सोते नहीं ये। कोई भी बात छिपी नहीं है मेरे मनकी इनसे। जगतकी आँखोंमें धूल झोक सकता हूँ मैं, परन्तु मजाल कि इन्हें धोखा दे जाय कोई। मेरी सभी चालाकियोंको पहचानते हैं ये। जीवनके सर्व दोषोंको दूर करनेके-लिए, सर्व अपराधोंसे मेरी रक्षा करनेके-लिये, मेरे मन का मैल धोनेके-लिये, पग-पगपर घूरते रहते हैं ये मुझको, बात-बातमें घुड़कते रहते हैं ये मुझको, तमाचा लगाते रहते हैं ये मुझको। जैसा अपराध वैसा ही दण्ड। कभी पश्चातापमात्र, कभी आत्म-निन्दन, कभी गर्हण, कभी निज-दोषा-लोचन, और कभी-कभी रुदन व क्रन्दन। दोषको त्यागकर जब पुनः लौट आता हूँ मैं अपने भीतर, इन परम गुरुदेवके चरणोंमें तो प्यारसे गले लगा लेते हैं ये मुझे, मुख चूम-चूमकर मदहोश कर देते हैं ये मुझे, और सो जाता हूँ मैं विश्रान्त, इनकी प्यारभरी गोदमें। यही हैं मेरे अभ्यन्तर-गुरु, परमगुरु, पारमार्थिक-गुरु, जिसे अन्तर्ध्वनि नामसे अभिहित किया गया है पहले।

अब आइये बाहरमें भी देखें। जगतका जड़ या चेतन प्रत्येक पदार्थ दे रहा है मुझे बड़े-बड़े उपदेश। सारी रात ग्राहककी प्रतीक्षामें बिता देनेपर प्रातः निराशाकी गोदमें सो जाती है वेश्या, मुझे यह उपदेश देनेके-लिये कि 'निराशा सन्तोषकी जननी है'। देखो रोटीका टुकड़ा पञ्जोंमें दबाये उड़ी जारही है यह चील, और इधर वह देखो अनेकों चीलें झपट पड़ी उसपर, रोटीका टुकड़ा पञ्जेसे छूटकर गिर गया नीचे और लड़ाई हो गई बन्द। उपदेश दे दिया इसने हम सबको कि परिग्रह दुखको खान है। यह देखो डाल बोकर उससे

छिलका जुदा करनेवाली यह कहारिन भी उपदेश दे रही है मुझे कि भगवान्-आत्मा शरीरसे पृथक है । और इस प्रकार कण-कण गुरु है इस विश्वका, यदि कोई सुन सके इनका उपदेश तो । परन्तु इतनी योग्यतावाले भगवान् दत्तात्रेय या मुनि शिवभूति हैं ही कितने इस लोकमें ?

अतः आओ खोजें व्यवहारिक क्षेत्रमें । यहां भी हैं अनेकों गुरु, पूर्वोक्त अन्तर्गुरुको प्रकृतिवाले, उसी प्रकारसे मेरे पथोंके कण्टक हटानेवाले, मुझे अपराधोंसे बचानेवाले, दिव्य उपदेशों द्वारा मुझे ऊपर उठानेवाले, ज्योतिर्लोकके प्रति मुझे क्रमोन्नत सोपानों पर चढ़ानेवाले । अन्तर्गुरु थे निराकार और ये सब हैं साकार । संस्कारोंकी मायावी वकालतके धोखेमें आकर अनेकों बार चूक कर जाता था मैं । अन्तर्ध्वनिकी बातको समझ बैठना था संस्कारकी और संस्कारकी बातको अन्तर्ध्वनिकी । इन बाह्य गुरुओंके सामने उस संस्कारकी तीन-पाञ्च चलती नहीं, क्योंकि अनुभवी हैं ये, अनेकों उतार-चढ़ाव देखे हैं इन्होंने, बाह्य जीवनके भी और अन्तरंग जीवनके भी, बाह्य जगतके भी और अन्तरंग जगतके भी । एक-एक चतुराईको जानते हैं ये इसकी । अतः वर्तमानकी इस डांवाडोल दशामें अत्यन्त उपकारी हैं ये मेरे लिये ।

इस श्रेणीमें सर्व प्रथम स्थान प्राप्त है माता-पिताको । शिशु-कालकी अबोध दशासे लेकर जबतक भली भांति प्रबुद्ध न हो जाऊं मैं और अपना हिता-हित स्वयं समझनेके योग्य न हो जाऊं मैं, तबतक बराबर पथ-प्रदर्शन करते हैं ये मेरा, जीवनके हर संकट तथा कण्टकसे बचाते हैं ये मुझे । स्वयं कष्ट झेलते हैं अनेकों परन्तु मुझे कष्ट नहीं होने देते हैं तनिक भी, स्वयं रूखा खाकर माता घी पिलाती है मुझे, स्वयं भूखी रहकर दूध पिलाती है मुझे, स्वयं गीलेमें सोकर सूखेमें सुलाती है मुझे । कौन चुका सकता है इनका ऋण ? नत रहे मस्तक सदा इनके चरणोंमें ।

इससे कुछ आगे चलकर आते हैं मेरे शिक्षा-गुरु, स्कूल तथा कालेजके अध्यापकजन । कितने प्यारसे पढ़ाते हैं वे मुझे, किस प्रकार 'क से कबूतर' सिखाते हैं वे मुझे, किस प्रकार छोटी-छोटी कथायें सुनाकर जीवन-रहस्य समझाते हैं वे मुझे और किस प्रकार बड़े-बड़े ग्रन्थोंका अध्ययन करने योग्य बनाते हैं वे मुझे । असंस्कृतसे सुसंस्कृत बनाते हैं वे मुझे, जीवनमें रहनेके विविध ढंग सिखाते हैं वे मुझे । कैसे चुका सकता हूं उनका ऋण ? नमस्कार हो मेरा उनके चरणोंमें ।

इनसे भी ऊपर चलकर आते हैं वे पारमार्थिक-गुरु, वीतराग-गुरु, जो उपदेश देते हैं मुझे अपने जीवनसे । कितनी ममता है इनके होठोंपर और कितना प्यार

इनकी आंखोंमें ? कितनी समता है इनके हृदयमें और कितना दुलार इनकी बातोंमें ? कितना तेज है इनके मस्तकपर और कितना आलोक इनकी बुद्धिमें ? कितना विरद है इनके हाथोंमें और कितना रहस्य इनकी चर्यामें ? कितना विशाल तथा उदार है इनका हृदय ? सभीको समान देखनेवाले, सभीसे निज शिशुवत् प्यार करनेवाले, सभीको सन्मार्ग दर्शानेवाले, सभीको जीवनके अति-गुप्त रहस्य बतानेवाले, वे रहस्य जिन्हें जाननेके-लिए स्वयं अनेकों कष्ट सहे हैं उन्होंने, दुर्धर तपश्चरण किये हैं उन्होंने। बाहरके सन्तापसे बचाकर अभ्यन्तरके प्रतापमें ले जाते हैं ये मुझे, असत् लोककी भयावह शक्तियोंसे बचा कर सत्-लोककी सैर कराते हैं ये मुझे, अशान्तिसे शान्तिमें पहुँचाते हैं ये मुझे, प्रायश्चित देकर मल-शोधन करते हैं ये मेरा (दे० ३७.३) और शुद्ध हो जानेपर मुख चूमते हैं ये मेरा। कहां से लाऊं शब्द इनका स्तवन करनेके लिये ? मेरे सर्वस्व हैं ये, मेरे भगवान् हैं ये, मेरे जीवन हैं ये, मेरे प्राण हैं ये। अर्पण हो जाऊं मैं साराका सारा इनके चरणोंमें, तनसे, मनसे और वचनसे। इनकी आज्ञाके बिना कुछ न करूं मैं, इनकी आज्ञाके बिना कुछ न बोलूं मैं, इनकी आज्ञाके बिना कुछ न विचारूं मैं। और इसीमें है मेरा हित, मेरा कल्याण, मेरा परमार्थ।

३. आदर्श शिक्षा—देव-पूजावत् गुरु-उपासनाका प्रयोजन भी गुरुको प्रसन्न करना या रिझाना नहीं है बल्कि उनके शान्त-स्वरूपपर-से अपना शान्त-स्वरूप निहारना, उनके गुणोंपर-से अपने गुण स्मरण करना, तथा उनके जीवनपर-से अपने जीवनमें कुछ परिवर्तन करनेकी प्रेरणा लेना है। इस मार्गमें मेरी प्रगति बराबर बढ़ती चली जानी चाहिये। यद्यपि देवपूजा करते समय आध-पौन घण्टेके-लिए, अन्तरंगकी प्रगति अवश्य कुछ शान्तिकी ओर बढ़ी थी पर दैनिक-चर्याके अन्य समयोंमें लौकिक धन्धोंमें फंसकर वह पुनः मन्द पड़ जाती है, लुप्तवत् हो जाती है। गुरुका जीवन मुझे मन्दिर मात्रका सीमित कर्त्तव्य नहीं दर्शाता, बल्कि चौबीस घण्टोंकी मेरी जीवन-चर्यामें कुछ योग्य अन्तर डालनेकी प्रेरणा देता है, तथा इस संशयको दूर करता है कि यह शान्ति पूर्ण हो सकनी शक्य भी है या नहीं। गुरुसे प्रश्न करके नहीं बल्कि उसके जीवनपर-से यह बात पढ़ी जा सकती है कि यह शान्ति अवश्य पूर्ण हो सकती है और मुझे अपने जीवनमें कुछ परिवर्तन करना चाहिए। जैसाकि देवपूजाके शीर्षक नं० ६ के अन्तर्गत तृतीय प्रश्नका उत्तर देते हुए दिखाया गया है, एक जीवित आदर्शसे कुछ शाब्दिक उपदेश न मिलनेपर भी एक भारी उपदेश मिलता है। यह उपदेश कुछ ऐसा होता है जो सीधा जाकर

जीवनपर टकराता है और जीवनको दिशाको घुमा देता है। दो वर्षकी स्वाध्याय भी इतना नहीं सिखा सकती जितना कि एक मिनटकी गुरु-उपासना सिखा देती है। गुरु जीवित आदर्श हैं इसलिये इनकी उपासना या दर्शन मेरे जीवनमें एक फेर ला सकनेको समर्थ है। यद्यपि गुरु मौखिक उपदेश भी देते हैं, जिससे बड़े-बड़े सैद्धान्तिक रहस्य खुल जानेके कारण मार्ग सरल बन जाता है, परन्तु जीवनको प्रेरणा देनेवाला उपदेश वचनोंसे नहीं स्वयं उनके जीवनसे लिया जाता है। शाब्दिक उपदेश हम शास्त्रमें भी पढ़ सकते हैं पर जीवित उपदेश हमें गुरुके सिवाय कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए गुरु-उपासना है दूसरा पग जो कि इस मार्गका बड़ा आवश्यक अंग है।

४. आदर्श उपासना—मेरी भांति उन गुरुओंने भी प्रथम पग देव-पूजामें ही रखा था। वहांसे बढ़ते-बढ़ते उन्होंने अपने अन्दरसे आती हुई कोई गर्जना सुनी कि "प्रभु! तू सिंह है, सिंहकी सन्तान है, त्रिलोकाधिपति है, अपनेको पामर व कायर मत समझ, अपनी जातिको पहिचान, जिनका तू उपासक बना है वही तू है।" उससे ही इन्हें जागृति मिली और बन गये वीर, इन्द्रिय-विजयी। ऐसा वीरत्व अपने अन्दर जागृत करनेके-लिये ही गुरु-उपासनाकी प्रधानता है। गुरु-उपासनाका अर्थ गुरुके पांव दबा देना या उनकी झूठी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना मात्र नहीं है, इसका आन्तरिक अर्थ कुछ और है।

उपासना कहते हैं 'उप+आसन' अर्थात् निकटमें बैठना। गुरु-उपासनाका अर्थ हुआ गुरुके निकट बैठना, गुरुदेवकी आन्तरिक शान्तिके निकट बैठना, उनकी समताके निकट बैठना, उनकी वीतरागताके निकट बैठना। धन्य है प्रभु आपका जीवन, आपके पास गृहस्थदशामें सब कुछ होते हुये भी आपने उसकी ओर चित्त न लगाया और वास्तवमें आपने तत्त्वको समझा। मुझ पामरका भी उद्धार कीजिये, वही भावना मेरे अन्दर भी भर दीजिये। (वस्तुतः भावना ये नहीं भरेंगे, परन्तु भक्तिके आवेशमें उनके प्रति बहुमान होनेसे ऐसे शब्द निकल ही आया करते हैं) (दे० २०/६.४)।

गृहस्थमें आप अपनेको सन्तानका सहायक मान रहे थे, परन्तु कितनी जल्दी छोड़दी आपने वह धारणा? मेरा भी यह भ्रम दूर कर दीजिए प्रभु। आपने इस संसारसे दूर एक नया संसार बसाया है। कितना सुन्दर है यह संसार जहाँ शान्ति-सुन्दरीके साथ आप किलोल कर रहे हैं, जहाँ इस सुन्दरीकी कोखसे आपके सन्तति उत्पन्न हुई है, निष्कपटता, निष्कषायता तथा अन्य अनेकों सद्-गुण? मुझे भी वहीं ले चलिए प्रभु। कितने स्वतन्त्र हैं आप? न है वस्त्रकी

आवश्यकता न धनकी चाह, न किसी सहायताकी अपेक्षा न इन्द्रादि पदोंकी इच्छा। धन्य है आपकी स्वतन्त्रता, धन्य है आपकी निर्भयता, धन्य है आपकी साम्यता। सुख-दुखमें तथा अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सदा समान भाव, सदैव अपनेको ही निहारना। मुझपर भी करुणा कीजिये नाथ, यह भाव व शक्ति मुझे भी प्रदान कीजिये।

देखिये भगवन्! आपका वीर्य कितना बढ़ा हुआ है कि आपने कुटुम्बादि से ममत्व छोड़ा तो छोड़ा परन्तु इससे भी आगे आपने तो मेरे इस सन्देहको कि 'क्या गरमी सर्दी आदिकी बाधायें सहन करनेको मैं समर्थ हो सकूंगा' दूर करके यह सिद्ध कर दिया कि मैं अवश्य सहन कर सकूंगा। आप धन्य हैं परन्तु इससे मेरे जीवनको कुछ प्रेरणा मिले तभी तो यह 'धन्य' धन्य है। आजके लोगोंको सम्भवतः यह भ्रम होता है कि 'दिशाओं मात्रको वस्त्र-रूपसे ग्रहण करके आकाशकी खुली छतके नीचे, गरमी-सर्दी आदिको अनेकानेक पीड़ायें सहन करते हुए आप व्यर्थका कष्ट झेल रहे हैं और यह कष्ट-सहिष्णुता ही आपको मुक्ति दिला देगी', परन्तु यह उनका केवल भ्रम है। आज मुझे आपके प्रसादसे तत्वों का प्रकाश मिला है। कोई जीव अशान्तिके मार्गमें-से शान्ति पा नहीं सकता, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है। आपके जीवनको तपश्चरणका जीवन कहा जाता है, परन्तु क्या जाने क्यों मुझे वह फूलोंकी सेजपर विश्राम करता प्रतीत होता है? यह सुखका मार्ग है, इसमें दुख है ही नहीं। कड़ाकेकी सर्दी सहन करते हुए भी आपकी मुखाकृति देखनेपर आपके अन्तरमें कल्लोलित शान्त-रसका सागर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अशान्तिकी एक रेखाको भी वहाँ प्रवेश नहीं। सर्दी आदि सहन करनेसे आपको दुःख होता तो आपके अन्दर अशान्ति होती, और वह आपके मस्तकपर आये बिना न रहती, परन्तु यहाँ वह दीखती नहीं।

अब मैं जान पाया कि ये बाधायें आपके-लिये बाधायें नहीं हैं, आपका वीरत्व जागृत हो चुका है, आज आपने साक्षात् शत्रुओंको ललकारा है, शत्रु सामने खड़े हैं परन्तु किसीमें सामर्थ्य नहीं कि आपको डिगा सके। धन्य है आपका यह साहस कि यह बात प्रत्यक्ष दिखादी, शब्दोंसे नहीं वरन् अपने जीवनसे। कितने बड़े योद्धा बनकर युद्धक्षेत्रमें उतरे हैं आप, जहां बड़ेसे बड़ा शत्रु आता है आपको विचलित करनेके-लिये, आपकी परीक्षा लेनेके-लिये। पोष-माघमें चलने वाला तीव्र वायुका वेग रात्रिको कितनी ठण्डीकर देता है, परन्तु आप ऐसी रात्रिमें भी धैर्य और शान्तिसे चिन्तवनमें निजानन्द-रसपान किया करते हैं। आपके साहसको देखकर जन-सामान्यको कम्पा देनेवाला तुषार स्वयं कम्पायमान

हो गया है आज। वह भागा जा रहा है न जाने किस ओर ? आपके प्रहारसे मानो भयभीत हो आज खण्ड-खण्ड होकर हिमके रूपमें आपके चरणोंमें आ पड़ा है वह।

इस प्रकारके भावोंसे गुरुका स्वरूप देखकर, अपनी शक्तिकी स्वीकृति है उनके निकट बैठना अर्थात् गुरु-उपासना। यदि इसप्रकार करूं और करता चला जाऊं तो क्या समझ न पाऊंगा कि मेरेलिये भी वैसा बन जाना सम्भव है, और क्या ऐसा करनेसे मेरी गति इस मार्गमें और न बढ़ेगी ? इस उपासनाके प्रतापसे मेरा लक्ष्य और निकट आजायेगा। अतः हे कल्याणार्थी ! हे शान्ति-पथके पथिक ! रागकी शरणको छोड़कर अब गुरुकी शरणमें आ।

यह तो है गुरु-उपासनाका पारमार्थिक स्वरूप, और इनकी मानसिक,वाचिक व कायिक विनय है उसका व्यवहारिक स्वरूप। मनमें उनके प्रति उपर्युक्त प्रकार से बहुमान जागृत करना है गुरुकी मानसिक विनय, और शब्दों द्वारा उस मनोगत बहुमानको प्रकट करना अर्थात् उनका स्तवन करना है उनकी वाचिक विनय। कायिक विनयके अन्तर्गत हैं अनेकों क्रियायें। "गुरुको दण्डवत् प्रणाम करना, उनके आनेपर खड़े हो जाना, उन्हें उच्चासन प्रदान करना, पाद-प्रक्षालन करके उसे मस्तकपर चढ़ाना, अर्घ्य अर्पण करना, वे चलें तो नत-मस्तक उनके पीछे-पीछे चलना, किसीसे बात करें तो बीचमें न बोलना, कोई बात पूछनी हो तो अत्यन्त विनम्र भावसे हाथ जोड़कर पूछना उद्दण्डतापूर्वक नहीं, स्वयं समझनेके-लिये पूछना दूसरोंको समझानेके-लिये नहीं" इत्यादि क्रियायें हैं व्यवहारिक उपासना। अथवा बहुश्रुत होते हुए भी अल्पश्रुत गुरुके समक्ष अपनेको तुच्छ मानना है उनकी मानसिक विनय, 'सब आपका कृपा-प्रसाद है' इसप्रकार कहते हुए अपने सकल गुणोंका कारण उनको और सकल दोषोंका कारण अपनेको मानना तथा बताना है उनकी वाचिक विनय, और शरीरद्वारा पुनः-पुनः नति करते हुए अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करना है उनकी कायिक विनय। 'विनयके अभावमें गुरुसे कौन क्या प्राप्त कर सकता है, अभिमानका सर नीचा होता है', ये सब बातें आगे 'उत्तम तप' के अन्तर्गत 'विनय' नामक तपके प्रकरणमें बताई जानेवाली हैं। (दे० ३७.३)

शान्तिके पूर्ण आदर्श होनेके कारण देव तो वन्दनीय तथा पूज्य हैं ही, परन्तु गुरु भी उनसे किसी प्रकार कम नहीं। भले ही भीतरमें कोई सूक्ष्म अन्तर हो तो हो परन्तु बाहरमें देखनेपर दोनों समान हैं। गुरुकृपाके बिना कुछ भी सम्भव नहीं, न विषयोंका त्याग और न तत्त्वदर्शन। फिर सहजावस्थाकी प्राप्तिका अर्थात् स्वाभाविक शान्तिकी प्राप्तिका प्रश्न क्या ? गुरु ही परंब्रह्म हैं,

गुरु ही परंतत्त्व हैं, गुरु ही परा-गति हैं, गुरु ही परम-विद्या हैं, गुरु ही परम धन हैं, गुरु ही परम-काम हैं और गुरु ही परम आश्रय हैं। देवसे भी ऊपर है उनका स्थान। भगवान्से भी बढ़कर हैं वे। देवको देव बनानेवाले वे हैं, भगवान्को भगवान् बनानेवाले वे हैं। यदि अपनी मधुरवाणी द्वारा वे जगतको यह रहस्य न बताते कि 'वह तो तुम्हारे भीतर ही है, भीतर भी क्या, वह तो तुम स्वयं ही हो,' तो कौन जान पाता कि भगवान् कौन हैं और कहां रहते हैं ? भगवान् बैठे रहते अपने घरमें और मैं फिरा करता ढूंढता उन्हें वनोंमें, मन्दिरों में तथा विविध कल्पनाओंमें। बने रहते वे भगवान् अपनेलिए परन्तु किसीको कैसे पता लगता कि ये ही हैं वे जिनकी तलाश थी मुझे ?

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ॥"

कीचड़से निकालकर मुंह दर मुंह वे मुझे मेरा हित न दर्शाते तो देवका परिचय भी मुझे कैसे प्राप्त होता, मैं इस उत्तम मार्गमें आकर जीवनको किञ्चित् शान्त कैसे बना पाता ? शन्तिकी अपेक्षा देखनेपर पांचों ही परमेष्ठियोंका एक स्थान है। 'आचार्य कुछ ऊंचे हैं, उपाध्याय कुछ नीचे हैं, अर्हन्त सबसे ऊंचे हैं' इत्यादि प्रकारका भेद एक वन्दककी दृष्टिमें है ही नहीं। वास्तवमें वह न देवको वन्दता है और न गुरुको। उसका वन्दन तो है केवल एक शान्तिके लिये, जो पांचोंमें उसे समान दिखाई देती है।

५. पराश्रयमें स्वाश्रय—किसीको पूजनेमें व्यक्तिका कोई न कोई लक्ष्य तो होता ही है। इसीलिये धनका इच्छुक जो लक्ष्मीको पूजता है, बही, बाट, तराजू, गज आदि को पूजता है, सो वृथा नहीं पूजता, क्योंकि उसके अन्तरंगमें धन-प्राप्तिका लक्ष्य है। इसीप्रकार पंच-परमेष्ठीकी पूजामें भी मेरा कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिये। वह लक्ष्य क्या है ? "तू चैतन्य पदार्थ है, ये सब स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादि तुझसे भिन्न हैं, शरीर तथा राग-द्वेषादि यहांतक कि यह लौकिक पर्याय भी किसी अपेक्षा 'पर' है, ज्ञानमें इनका आश्रय आनेपर कुछ रागात्मक विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अतः इनका आश्रय छोड़े बिना शान्ति मिलनी असम्भव है।" इसप्रकार एक ओर तो पर-तत्त्वको छोड़नेका उपदेश दिया जा रहा है, उसे अनिष्ट बताया जा रहा है और दूसरी ओर देव व गुरुका आश्रय लेनेकी, उनकी पूजा, वन्दना आदि करनेकी प्रेरणा दी जा रही है। क्या देव व गुरु 'स्व' हैं ? ये भी तो 'पर' हैं, फिर उस ही का निषेध और उसीका ग्रहण, कैसी अजीब बात है जो समझ में नहीं आती। सो भाई ! ऐसी बात नहीं है, पर-तत्त्वका आश्रय तो सदैव अशान्तिका ही कारण है और हमारा कर्त्तव्य

एकमात्र निज-शान्तिमें ठहरना है, परन्तु क्या करें अल्प-दशामें यह सम्भव नहीं दीख रहा है। पूर्वके प्रबल संस्कारवश अधिक देर शान्तिमें स्थिरता रहती नहीं, पुनः पुनः लौकिक पर-पदार्थोंकी ओर उपयोग भागनेका प्रयत्न करता है, इसलिये यदि पर-तत्त्वका ही आश्रय लेना है तो किसी ऐसेका ले जिससे कि लौकिक-तीव्र-रागात्मक विकल्प न उठ पावें, विकल्प ही उठें तो शान्ति सम्बन्धी उठें। इसी लक्ष्यकी सिद्धिके-लिये शान्तिको प्राप्त किन्हीं पर-तत्त्वोंका आश्रय लेनेके-लिए कहा जा रहा है। लौकिक-पर-पदार्थोंका आश्रय पराश्रयके लिये होता है, इनमें-से रस लेनेके-लिये होता है, परन्तु यह आश्रय पराश्रय छुड़ानेके-लिये है।

यहां बड़े भारी विवेककी आवश्यकता है, क्योंकि पराश्रयकी बात है। बहुत देख-भाल कर ऐसेका ही आश्रय लेना योग्य है जिसमें कि कुछ मेरे लक्ष्य-बिन्दुकी आभा दिखाई दे, शान्ति दिखाई दे, वीतरागता दिखाई दे। गुरुके आश्रयसे उठनेवाली मेरी अपनी ही भावनायें क्योंकि मुझे मेरी शान्तिकी याद दिलाती प्रतीत होती हैं, निज शान्तिके दर्शन कराती प्रतीत होती है, इसलिये 'पर' का आश्रय भी यह 'स्व' के आश्रयके-लिये ही है। भविष्यकी बात नहीं वर्तमानमें ही उसके आधारपर मैं अधिकाधिक 'स्व' की ओर झुकता प्रतीत होता हूँ, अतः बाह्यमें देव व गुरुका आश्रय अन्तरंगमें निज शान्तिका ही आश्रय है। दोनों क्रियायें साथ-साथ चल रही हैं—लौकिक-पर-पदार्थोंसे बाह्य-निवृत्ति, देव गुरुमें बाह्य-प्रवृत्ति, देव गुरुसे अन्तरंग-निवृत्ति, स्व-शान्तिमें अन्तरंग-प्रवृत्ति। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों मार्गोंका कितना सुन्दर समन्वय है ? यही है पंचपरमेष्ठीकी पूजा या उपासनामें मेरा स्वार्थ। यहां विवेक की मांग है कि यदि इस अल्प-दशामें तुझे परका अर्थात् गुरुका आश्रय लेना ही है तो किसी ऐसेका ले जो तेरे लक्ष्यके अनुकूल हो।

६. <u>सच्चे गुरु</u>—गुरु वे होते हैं जो वीतराग व शान्त हों, जिन्हें गरमी-सर्दी का, डांस-मच्छरका, कुत्ते-सिंह आदि क्रूर जन्तुओंका, भूख-प्यास आदिका तथा अन्य भी किसी प्रकारका भय न हो। जो सर्वतः निर्भीक वृत्तिके धारक हों, जिन्हें किसी भी बातका शोक, खेद व चिन्ता न हो, जिन्हें लज्जा व ग्लानि आदिके भाव न आते हों, जिन्हें कभी क्रोध न आता हो, जिन्हें अपने तपका अथवा ज्ञानका अथवा प्रतिष्ठा आदिका अभिमान न हो। 'मैं इतना ज्ञानी व तपस्वी हूँ, लोगोंको मेरी विनय करनी चाहिये' ऐसा भाव जिन्हें न आता हो, अपनी प्रसिद्धिके-लिये अथवा शिष्य-मण्डलीकी वृद्धिके-लिये मायाचारीके भाव जिनमें न हों, 'मेरी प्रसिद्धि व ख्याति फैलनी चाहिये, तथा मेरी शिष्य-



Shripad Process
BOMBAY, 8

चारित्र-चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज.

मण्डली अधिक होनी चाहिये' इस प्रकारके लोभजनक भावोंका जिनमें अभाव हो। इसप्रकार जिन्होंने चारों कषायोंको परास्त कर दिया हो, वे वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

सारांश यह है कि वीतरागी गुरु वे हैं जो शान्तिके प्रतीक हों; कषायों व पांचों इन्द्रियोंके विजेता हों; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतोंसे सुशोभित हों; ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण व उत्सर्ग इन पांच समितिरूप कवचके धारण करनेवाले हों; समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण स्वाध्याय व कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक जिनके रक्षक हों। ऐसा तो जिनका अन्तरंग जीवन हो तथा नग्नता, केश-लुंचन, अदन्तधोवन, स्नान-रहितता, एक बार भोजन, खड़े-खड़े कर-पात्रमें भोजन, तथा भू-शयन इन सात बाह्य गुणोंके धारक हों। इन २८ मूल-गुणों सहित जो उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य इन दस धर्मोंको धारण करने वाले हों। ऐसे वीर, विजेता तथा स्वतन्त्र वैभवशाली ही सच्चे गुरु हैं, क्योंकि इनके ही अन्तरंग व बाह्य जीवनमें शान्ति व वीतरागताके दर्शन होने सम्भव हैं। इन गुणोंके अभावमें सच्चा गुरु होना सम्भव नहीं। इन सब गुणोंका विस्तार आगे साधु-धर्मके अन्तर्गत किया जाने वाला है। (दे० २९.१)

●

२२

स्वाध्याय

१. स्वाध्यायका महत्त्व—अहो ! मुझ जैसे अल्पज्ञको घर बैठे समस्त विश्वका साक्षात्कार करानेवाली माँ- सरस्वतीका उपकार । यदि यह न होती तो आज इतनी निकृष्ट परिस्थितिमें जबकि देव दिखाई देते हैं न गुरु, मुझे शान्तिकी बात कौन सुनाता ? शान्ति-मार्गकी साधनाके अन्तर्गत आज स्वाध्याय की बात चलती है ।

शान्ति-प्राप्तिकी सिद्धिके अर्थ आवश्यकता इस बातकी है कि जिस किस प्रकार भी अभिलाषा-प्रवर्द्धक विकल्पोंका, भले कुछ देरके लिये सही, संवरण कर दिया जाय, प्रशमन कर दिया जाय । उपाय निकला यह कि सारी जीवनचर्यामें-से आध या पौन घण्टा अवकाश निकालकर, उतने समय मात्रके लिये गृहस्थके वातावरणको बिल्कुल भूलने तथा शान्तिका स्मरण करनेका प्रयत्न कीजिये । मन्दिरमें आकर देवदर्शन या पूजन कीजिये अथवा गुरुकी शरणमें जाकर उनकी उपासना कीजिये । परन्तु विचार करनेपर यह बात ध्यानमें आये बिना न रहेगी कि इन कामोंमें मैं थोड़ी देर ही संलग्न रह सकता हूँ । स्वतन्त्र-रूपमें अपने हृदयसे निकाल-निकालकर कबतक प्रभु-भक्तिके उद्गार प्रगट कर सकूंगा ? सम्भवतः चार-पांच दिन तक बना रहे यह क्रम परन्तु तत्पश्चात् वे उद्गार सरीखे दीखनेवाले भाव शब्दमात्र ही रह जायेंगे और मन अपना काम करता रहेगा गृहस्थीमें घूमनेका । तात्पर्य यह कि शान्तिके दर्शनों में चित्त अटकानेका काम इस प्रथम भूमिकामें अधिक देरतक किया जाना बहुत कठिन है । इसलिये इन कामोंके अतिरिक्त कोई और काम ऐसा ढूंढ़ना होगा जिसमें कि बहुत अधिक देरतक उपयोगको अटकाया जा सके, और इतना

अटकाया जा सके कि शान्तिकी बातोंके अतिरिक्त इसे अन्यत्र जानेको अवकाश न मिले । सौभाग्यवश एक उपाय निकल ही आया, और वह है 'स्वाध्याय' ।

दूसरा प्रयोजन यह है कि भले ही गुरुमें शान्तिके दर्शन कर पाया हूं पर इस शान्तिसे बिल्कुल अपरिचित मुझको शब्दोंके बिना कौन यह बताये कि इसकी प्राप्ति अमुक प्रकार होनी सम्भव है ? नमूना अपना स्वरूप बता सकता है पर अपने बनानेका उपाय नहीं । मुझको तो अशान्तसे शान्त बनना है और बड़े विकट वातावरणमें रहते हुये बनना है । क्या-क्या प्रक्रियायें करूं, जीवनको कैसे ढालूं जो इस प्रयोजनकी सिद्धि हो ? ठीक है कि देवदर्शन और गुरु-उपासना भी इस मार्गमें बड़ी सहायक प्रक्रियायें हैं, परन्तु मन्दिरके समयसे बचे जीवनके इतने लम्बे कालमें क्या वैसे ही वर्तन करता रहूं जैसेकि अब कर रहा हूं ? ऐसा ही करता रहूं तो देव व गुरुके दर्शनोंसे प्राप्त हुई शान्ति थोड़ी देर भी न टिक सके और जीवनके २४ घण्टे अत्यन्त तीव्र व्यग्रतामें बिताये जानेके कारण, मन्दिरमें प्रवेश करते समय भी तत्सम्बन्धी विकल्पोंके दृढ़ संस्कारोंका त्याग थोड़ी देरके लिये भी न कर सकू । अतः कुछ ऐसी बातें भी अवश्य होनी चाहियें जिनको वर्तमान परिस्थितमें रहते हुये भी मैं अपने चौबीस घण्टोंके जीवनमें किञ्चित् उतार सकूं और विकल्पोंकी तीव्रतामें तनिक मन्दता ला सकूं । कौन बताये यह बातें मुझे ?

घबरा नहीं जिज्ञासु ! वह देख सामनेसे आती हुई प्रकाशकी एक रेखा अब भी तुझे बुला रही है अपनी ओर, चल कुछ प्रकाश मिलेगा जिसकी सहायतासे तू अपने जीवनको पढ़ सके कि क्या कुछ और करना है तुझे । ओह ! यह तो वाणी है, मां सरस्वती है, कितना शान्त है इसका स्वरूप ? जिसके दर्शन मात्रसे इतनी तृप्ति हो गई उसकी बातें सुननेसे क्या न होगा ? कृपा कीजिये माता ! मुझे मार्ग दर्शाइये, देव तथा गुरु दर्शनसे आनेवाली क्षणिक शान्तिने मेरे चित्तमें अब यह लग्न उत्पन्न कर दी है कि जिस-किस प्रकार भी इसमें अधिकाधिक वृद्धि करूं । अब गृहस्थ सम्बन्धी व्यग्रता साक्षात्-रूपसे मुझको दाह उत्पन्न करती प्रतीत होने लगी है । मेरी रक्षा करो मां ।

स्वाध्यायका अर्थ है स्व + अध्याय या स्व-अध्ययन, अर्थात् निज शान्त-स्वरूपका अध्ययन या दर्शन । यद्यपि देव-दर्शन व गुरु-उपासनामें भी यही कार्य सिद्ध होनेके कारण वे दोनों कार्य भी स्वाध्याय कहे जा सकते हैं परन्तु अधिक देरतक विकल्पोंसे बचकर कुछ अधिक शान्तिमें स्थिति पानेके अर्थ यह तीसरा कार्य अधिक उपयोगी है । अतः मुख्यतः स्वाध्याय उस तीसरी प्रक्रियाका नाम है जिसमें समावेश पाता है उपदेश, मौखिक या लिखित ।

यद्यपि देवसे भी कुछ मूक-उपदेश प्राप्त हुआ, पर उसका क्रम अधिक देरतक न चल सका। गुरुके द्वारा भी मौखिक उपदेश दिया गया जिससे महान कल्याण हुआ और जी चाहा कि निरन्तर इस अमृतका पान करता रहूं। जितनी देरतक उपदेश सुनता रहा, जैसाकि यहां प्रवचन सुनते हुये आपको प्रतीत होता है, मानो मैं सब कुछ भूल गया, जीवनमें एक उत्साहसा आता प्रतीत होता रहा, कुछ प्रेरणा मिलती रही। परन्तु कहां है मेरा इतना सौभाग्य कि गुरु प्रतिदिन मुझको मिलते रहें ? आज मिले कल नहीं। रमते जोगी हैं, वन-वन विचरते हैं, क्या जाने किधर निकल जायें, और फिर मेरे लिए वही अन्धकार। आज तो समस्या ही दूसरी है, एक दिनको भी गुरु का सम्पर्क होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, गुरु ही दिखाई नहीं देते। जहां दर्शनकी ही सम्भावना नहीं वहां उपदेश कैसा ? इसप्रकार रह गया मैं कोराका कोरा, असमञ्जसमें पड़ा, बगलें झांकता और विचारता कि क्या करूं, कैसे रक्षा करूं इन दुष्ट विकल्पोंसे अपनी।

सौभाग्यवश सरस्वती मांने आशा दिलाई, और वह देखो अब भी कितने प्रेमसे बुला रही है मुझे अपनी ओर। अब कोई चिन्ता नहीं, आश्रय मिल गया, ऐसा कि चाहे कितनी ही देर सुनता रहूँ उपदेश, चाहे जितना समय बिता दूं और विकल्पोंको प्रवेश पानेका अवकाश न मिले। जो हर समय मेरे पास है, कहीं वन आदिमें जानेकी आवश्यकता नहीं, अर्थात् गुरुओंका ही लिखित उपदेश, आगम या शास्त्र। जितनी देर चाहूँ पढ़ूं, जितनी बार चाहूँ पढ़ूं, जब चाहूँ विचारूं, जहाँ चाहूँ विचारूँ, जैसी अवस्थामें चाहूँ विचारूं और विशेषता यह कि वही गुरुकी बात, वही प्रतिध्वनि, मानो साक्षात् गुरु ही बोल रहे हैं, सामने बैठे। गहनसे गहन, गम्भीरसे गम्भीर समस्याओंका अत्यन्त सरल उपाय बता देनेमें समर्थ, यह आगम ही है वास्तवमें सरस्वती। शान्तिमें स्नान करानेके-लिये, अन्तर्मल शोधणके-लिए यही यथार्थ गंगा है, और विकल्पोंसे मेरी रक्षा करनेके कारण यही माता है।

स्वाध्यायका अर्थ शास्त्रको पढ़ना मात्र नहीं है बल्कि उसका अर्थ है जिस-किस प्रकार भी शान्ति-मार्गके उपदेशका रहस्यार्थ ग्रहण करना तथा उसमें इस अत्यन्त चंचल मनको अटकाना। इसलिए "विशेष ज्ञानी या उपयुक्त वक्ताके मुखसे वह रहस्य सुनना, विशेष स्पष्टीकरणके अर्थ शंकायें उठाना, प्रश्न कर-करके समाधान करना, अवधारित अर्थको एकान्तमें पुनःपुनः चिन्तवन करना या विचारना, जो कुछ समझा है उसकी परम्परा या आम्नायसे मिलान करके परीक्षा करना कि ठीक समझा हूं या नहीं, कहीं भूल तो नहीं है, यदि भूल हो तो पक्षपात्

तजकर उसके सुधारका प्रयत्न करना, जो निर्णय किया उसका उपदेश अन्यको देना, या जो समझा उसको लिखना" यह सब स्वाध्याय है। कोई पढ़ना जाने या न जाने, उपदेश देना जाने या न जाने, किसी न किसी प्रकार स्वाध्याय अवश्य कर सकता है और मार्गका निर्णय कर अपना हित कर सकता है।

२. शास्त्र विनय—देव तथा गुरुकी भांति स्वाध्यायमें भी विनय तथा बहुमान अत्यन्त आवश्यक है, विनय-रहित सुना या पढ़ा बेकार है। गुरु व वाणीके प्रति बहुमान न हो तो कोई भी बात सीखी नहीं जा सकती। मुझे केवल पढ़कर स्वाध्यायकी रूढ़ि पूरी नहीं करनी है बल्कि कुछ हितकी बात सीखनी है। विनय-युक्त होकर ही सीखा जा सकता है कुछ, जिस प्रकार कि लक्ष्मणने सीखी थी विद्या रावणसे, अथवा राजाने सीखी थी विद्या चोरसे (दे० ३७/३.२)।

बस इसीप्रकार शास्त्रको पुस्तकमात्र न देखकर साक्षात् गुरुके रूपमें देखो, बिल्कुल उसीप्रकार जिसप्रकार कि प्रतिमामें जीवित देवके दर्शन किये थे। शास्त्र जड़ नहीं है, यह साक्षात् बोलकर मेरा हित दर्शा रहा है, पद-पदपर ठोकरोंसे बचा रहा है, गहनसे गहन ग्रन्थियोंको सुलझा रहा है। अहो! इसका उपकार? न जानो, न देखी, न अनुभवी, अत्यन्त रहस्यमयी सूक्ष्म बातको हथेलीपर रख कर साक्षात् दर्शा रहा है। कितनी शीतलता-प्रदायक है और प्रकाश-वर्द्धक है इसकी शरण? इसकी विनय अत्यन्त आवश्यक है। बिना नहाये व हाथ धोये इसे छूनेमें, बिना शुद्ध वस्त्र पहने इसे हाथ लगानेमें, इसकी अविनय है। शुद्धता व अशुद्धताके विवेक रहित जिस-किस स्थानमें बैठकर इसे उपन्यासकी भांति पढ़नेमें इसकी अविनय है। उठाते व धरते समय अत्यन्त विनयसे साष्टांग नमस्कार किये बिना, उद्दण्डतासे सामने जाकर बैठ जानेमें इसकी अविनय है। स्थान एकान्त व शुद्ध होना चाहिये, मन्दिर ही उसके-लिये सर्वोत्तम स्थान है, और घरपर भी यदि पढ़ें तो किसी एकान्त कमरेमें ही पढ़ें, जहाँ जूते आदि न आते हों। जिस-किस समयमें पढ़ना योग्य नहीं, जब अन्य विकल्पोंसे किञ्चित् मुक्ति मिले तब ही पढ़ना योग्य है। रूढ़ि पूरी करने मात्रको एक दो लकीर इधर-उधरसे जैसे-तैसे पढ़कर जल्दीसे भागनेका अभिप्राय रखते हुए पढ़ना, पढ़ना नहीं दण्ड है और बिना स्पष्ट उच्चारण किये या बिना अर्थ समझे पढ़ना भी पढ़ना नहीं रूढ़ि है। इस प्रकार पढ़ना इसकी अविनय है। अतः सर्व बातोंका विचार करके अपने-लिये अत्यन्त कल्याणकारी समझते हुए कुछ जीवनमें उतारने योग्य उपयोगी बातें सीखनेपर ही इसके पढ़नेसे या सुननेसे लाभ हो सकता है। केवल पढ़ने मात्रके अभिप्राय-वालोंके

लिये तो यह कुछ पत्रोंका ढेर मात्र है, लाभदायक कुछ नहीं। जैसी दृष्टिसे पढ़ेगा वैसा ही फल मिलेगा।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'स्वाध्याय' मन्दिरकी चार दिवारोके अन्दर ही हो सकनी सम्भव है, बाहर नहीं। जो कुछ पढ़ा या सुना है उसका चिन्तवन हम कहीं भी बैठकर कर सकते हैं, कैसी भी अवस्थामें कर सकते हैं, किसी भी समयमें कर सकते हैं और इसलिये स्वाध्याय चौबीस घण्टे की जा सकती है। यद्यपि इसीप्रकार मनके द्वारा देव व गुरुके दर्शन भी सर्वत्र व सर्वदा किये जा सकते हैं, परन्तु जैसाकि पहले बताया जा चुका है उसमें अधिकदेर स्थित नहीं रह सकते। शास्त्रमें पढ़े या सुने तत्त्वों-सम्बन्धी विचारनामें और तत्सम्बन्धी तर्क-वितर्कोंमें हम कई-कई घण्टे बिता सकते हैं। अतः यही है स्वाध्याका महत्त्व और इसीलिये इस मार्गमें बहुत आवश्यक व उपयोगी है यह।

१. शास्त्र क्या—हे मातेश्वरी सरस्वती! अब अपने इस बालकको अनाथ न रहने दो, तुम्हारी अवहेलना करके अनाथ बना दर-दरकी ठोकरें खाता रहा, अब अपनी गोदमें स्थान दो। स्वाध्यायका प्रकरण है—इसका प्रयोजन, इसका अर्थ व इसके प्रति विनयकी बात आ चुकी, अब विचारना यह है कि कौनसे शास्त्र स्वाध्याय करने योग्य हैं। प्रारम्भसे ही मैंने किसी बातको आजतक बिना परीक्षा किये अन्धविश्वासी बनकर नहीं अपनाया। मैं वैज्ञानिक बनकर निकला हूँ, मैं खोजी बनकर निकला हूँ, बिना 'क्या' और 'क्यों' किसी भी बातको स्वीकार करनेको तैयार नहीं। देव व गुरुको बिना परीक्षा किये मैंने स्वीकार न किया, तो शास्त्रको कैसे कर लूं ?

देव व गुरुकी भांति यहां भी हम नियम नहीं बना सकते कि अमुक ही सच्चा शास्त्र है, क्योंकि भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंके आधारपर आज अनेकों शास्त्र या पुस्तकें या साहित्य लोकमें दिखाई दे रहे हैं। किसीको भी सर्वथा झूठा नहीं कहा जा सकता और किसीको भी सर्वथा सच्चा नहीं कहा जा सकता। सच्चे व झूठेकी पहिचान अभिप्रायपर-से होती है। डाक्टरी सम्बन्धी जानकारीका अभिप्राय रखने वालेके-लिए डाक्टरी सम्बन्धी साहित्य सच्चा और अन्य सब झूठा, एन्जीनियरिंग पढ़नेकी अभिलाषा रखनेवालेके-लिए एन्जीनियरिंगका साहित्य सच्चा और अन्य सब झूठा। इसी प्रकार जिसका जो भी विषय पढ़ने या सीखने का अभिप्राय हो उसके-लिये तत्सम्बन्धी साहित्य ही सच्चा कहा जा सकता है, उसके अतिरिक्त अन्य नहीं। यहां हम किसे सच्चा शास्त्र व साहित्य स्वीकार करें ?

आओ खोज करें इसकी। चलो पहले अपने भीतर ही देखें। देखो यह

रहा शान्ति विषयक सच्चा शास्त्र मेरे हृदयमें। कितने-कितने सूक्ष्म रहस्य लिखे हैं इसमें, तर्क तथा शब्द जिनका स्पर्श करने को समर्थ नहीं। कितना बड़ा विस्तार लिखा है इसमें, सब तीर्थङ्कर मिलकर बताने लगें और सब गणधर मिलकर लिखने लगें तो न पूरा कहा जा सके और न पूरा लिखा जा सके। कितना अधिक स्पष्टीकरण है इसमें कि शब्दके द्वारा किया जाना सम्भव नहीं। दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिका भी भेद नहीं जहां। स्वयं ही दृष्टांत और स्वयं ही दार्ष्टान्ति, स्वयं ही प्रतिज्ञा और स्वयं ही हेतु। महान है न्याय इसका। कितनी सरल भाषा है इसकी, कि कोई भी पढ़ सके, कोई भी समझ सके, मूढ़ हो या विद्वान, बालक हो या जवान। हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हैं सकल विषय।

परन्तु किसी बिरले महाभाग्यको ही परिचय है इसका। अतः आओ बाहरमें खोजें, सम्भवतः कोई और भी शास्त्र मिल जाय, साहित्यकी क्या कमी इस लोकमें? ओह कितना विशाल है साहित्य-भण्डार इस प्रकृति-मांका। अणु-अणु, कण-कण है शास्त्र यहां, अपने-अपने विषयके अनन्त विस्तार-युक्त, बिल्कुल उपर्युक्त हृदय-शास्त्रकी भांति। सैंकड़ों वर्ष बीत गये, विश्वभरके वैज्ञानिक लिखते-लिखते थक गए, परन्तु क्षुद्रातिक्षुद्र दिखनेवाले इस छोटेसे अणुका विस्तार पूरा न लिख सके आजतक। इसी प्रकार एक-एक वृक्ष, एक-एक अंकुर, एक-एक पशु, एक-एक पत्ती, एक-एक मनुष्य, जो कुछ भी है यहां, जड़ या चेतन, सब है अपना अपना शास्त्र स्वयं। इन्हींके भीतर देखकर, इन्हींको पढ़कर, इन्हींके विस्तारको लिखते हैं वैज्ञानिक अथवा साहित्यकार अथवा कवि। सब कुछ लिखा है इनमें, पढ़नेवाला चाहिये। जो तथा जितना पढ़ना चाहे वह तथा उतना ही मिल जायेगा उसे लिखा हुआ यहां। परन्तु किसमें है योग्यता स्वतन्त्र रूपसे इस विशाल साहित्यको पढ़नेकी, बिना सरस्वती मांकी उपासना किये। जो पढ़नेके-लिए समर्थ हैं आज इसे, उन्होंने भी की है सरस्वती मांकी उपासना।

परन्तु इसका भण्डार भी है अथाह, कौनसा शास्त्र चुनूं स्वाध्यायके-लिए स्व-अध्ययनके लिए? स्पष्ट है कि वही शास्त्र चुनूं जिसमें स्व-विषयक बातें लिखी हों, जिसमें आत्माके स्वरूपका, उसकी शान्ति तथा समताके स्वरूपका अथवा इनकी प्राप्तिके उपायका स्पष्ट तथा सरल विवेचन उपलब्ध हो। अतः शान्ति-पथ दर्शानेवाली वाणी ही सच्ची वाणी हो सकती है यहां, लौकिक प्रयोजन दर्शानेवाली या शरीर-पोषणकी बातें बतानेवाली नहीं। अब कुछ बुद्धिका प्रयोग करना है, जिसप्रकार देव व गुरुके सम्बन्धमें करते आये हैं। आज लोकमें बहुत बड़ा साहित्य हमारे सामने है, और सब ही शान्तिपथ दर्शानेका

दावा करता है, सबके ऊपर शान्ति-पथकी मोहर लगी है, सबको साक्षात् भगवान्से आया हुआ माना जा रहा है, और मजेकी बात यह कि एक शान्तिको दर्शानेवाले होते हुए भी परस्पर एक दूसरेका विरोध कर रहे हैं, मानो एक दूसरेसे लड़ रहे हैं। बड़ी विकट समस्या है, किसको सच्चा मानूं ? पढ़ने बैठता हूं तो प्रत्येकमें कुछ न कुछ बातें अवश्य शान्ति प्रदान करती प्रतीत होती हैं, परन्तु आगे जाकर कुछ अन्य बातें और आ जाती हैं, जो या तो शान्तिमें बाधक हैं या इस विषयसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। और आगे जाता हूं तो अरे ! यहां तो द्वेषका नग्न नृत्य ही देखनेमें आता है, किसीका खण्डन, और किसीका मण्डन, अतः पढ़नेको ही जी नहीं चाहता।

अहो ! यह वीतराग-वाणीका ही प्रताप है, जिससे कि मुझे यह प्रकाश मिला कि भाई ! हर साहित्यमें जो बातें तुझे शान्तिप्रद प्रतीत हों, समझले कि वे सच्ची हैं, अथवा विचार करके तर्क व अनुभवके द्वारा जो सच्ची दिखाई देती हों, मान ले कि वे सच्ची हैं, भले हों वे किसी भी साहित्यमें लिखी हों। सब शान्तिप्रद व सच्ची बातें एक सच्ची वाणीके ही अंश हैं जिन्हें किन्हीं ज्ञानियोंने अपने अनुभावोंके आधारपर लिखा है। यह बात अवश्य है कि अधिकतर साहित्य ऐसा है कि जिसमें आदिसे अन्त तकका पूर्ण मार्ग न दर्शाकर उस मार्गका एक खण्ड मात्र दर्शाया है। इसका कारण यही है कि उसका रचयिता शान्तिको तो पकड़ पाया, पर उसे पूर्ण करनेसे पहले ही उसे कालके मुखमें जाना पड़ा और उसकी बात अधूरी रह गई। कुछ साहित्य ऐसा भी है कि जिसमें इस अधूरी बातके साथ-साथ कुछ अन्य बातोंका अथवा कुछ अप्रयोजनीय बातोंका मिश्रण दिखाई देता है। तनिकसा विचार करनेपर यह पेवन्द स्पष्ट दिखाई देने लगता है। ऐसा साहित्य वह है जोकि मूल रचयिताओंकी कृति न होकर उसके पीछे आनेवाले किन्हीं व्यक्तियोंद्वारा लिखा गया है। अधूरी बात सीख लेनेके कारण इनको उसकी पूर्तिके अर्थ कुछ बातें अपनी कल्पनाके आधारपर, बिना उसके सच्चे व झूठेपनेका अनुभव किये, इस मूल साहित्यमें मिला देनी पड़ीं, और वह साहित्य विकृत हो गया। उसके पीछे आनेवालोंने कुछ अपने स्वार्थवश उसमें और भी बहुतसी बातें मिला दीं और आगे चलकर वह स्वार्थ बदल गया द्वेषमें, जिसके कारण आ मिला उस साहित्यमें खण्डन-मण्डनका विष।

यह तो हुई साहित्यके इतिहासकी कुछ रूपरेखा, पर इतना जानने मात्रसे कोई साहित्यके सच्चे व झूठेपनेकी परीक्षा नहीं कर सकता। अतः परीक्षा का कोई उपाय होना चाहिए। विचार करनेपर एक उपाय निकल आया। देख भाई ! शास्त्र तो बेचारे जड़ हैं, वे तो स्वयं बोल नहीं सकते, उनके अन्दर

तो कुछ शब्दोंका संग्रह है और इन शब्दोंमें छिपा है वक्ताका कोई अभिप्राय। बस यदि वक्ताकी परीक्षा हो जाय तो उसके वाक्योंकी भी मानो परीक्षा हो गई क्योंकि शब्दोंकी प्रमाणिकता वक्ताकी प्रमाणिकताके आधारपर होती है, जैसा-कि पहले श्रद्धा सम्बन्धी उस पथिकके दृष्टान्तमें बता दिया गया है। देखिये कोई ग्राहक आकर आपसे कहने लगे कि यह वस्तु अमुक दुकानपर यह भाव मिल रही है यदि आपको इस भाव देनी हो तो देदो। बताइये, क्या आप विश्वास कर लेंगे उसकी बात पर ? नहीं करेंगे। क्या कारण ? एक तो यह कि स्पष्ट झूठ दिखाई दे रहा है। जितनेमें आपको घर भी नहीं पड़ी उतनेमें वह उसे कैसे बेच सकता है ? परन्तु हो सकता है कि भाव गिर गया हो, ऐसे संशयको दूर कर देता है उस ग्राहकका अपना सवार्थ, 'यदि इस भाव देनी है तो देदो।' और यदि वही बात मैं आपको आकर कहूं तो आप अवश्य स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि न मुझे आपसे मोल लेनी थी, न बेचनी थी, जैसा उस दुकानपर सुनकर आया था आपसे कह दिया, आपके घर उतनेमें पड़ी है कि नहीं पड़ी है, मुझे उससे क्या मतलब। अतः वक्ताकी प्रमाणिकतासे ही वचनकी प्रमाणिकता होती देखी जाती है, और वक्ताकी परीक्षा उसकी स्वार्थता व निःस्वार्थतापर-से की जा सकती है।

तात्पर्य यह कि इस वीतरागता व शान्तिके मार्गमें वीतराग द्वारा लिखित शास्त्र ही प्रमाणिक शास्त्र कहा जा सकता है, रागी-द्वेषीद्वारा लिखित नहीं। रचयिताके अभावमें कैसे जानें कि वह वीतराग था कि रागी ? यह बात शास्त्र पढ़कर जानी जा सकती है। उन वाक्योंका झुकाव किस ओर जा रहा है, किसी निजी स्वार्थका पोषण तो करता प्रतीत नहीं होता है, सर्व-सत्व-कल्याणकी भावना प्रतिध्वनित हो रही है या नहीं, उन वाक्योंमें माधुर्य है या कटुता, उन वाक्योंमें किसीकी ओर आक्षेप तो नहीं किया जा रहा है, किसी एक पक्षका पोषण करनेके लिये उस विषयके अंगभूत अन्य बातोंका निषेध तो नहीं किया जा रहा है अथवा किसी बातको आवश्यकतासे अधिक खेंचकर उसे एकांगी या साम्प्रदायिक रंगमें तो नहीं रंगा जा रहा है, किसी मत मतान्तरपर या किसीकी श्रद्धापर चोट तो नहीं की जा रही है, उसमें कहीं कोई लौकिक अभिप्राय तो दिखाई नहीं दे रहा है, कहीं किसीको अशान्ति उत्पन्न करनेवाली या पीड़ा पहुँचानेवाली बात तो नहीं कही जा रही है, पहले कुछ लिखकर पीछे स्वयं उस बातका निषेध तो नहीं कर रहा है अथवा उस अपनी ही बातका निराकरण या विरोध करनेकी बात तो नहीं लिख रहा है, कुछ असम्भव बातें तो नहीं लिखी हैं ? इत्यादि अनेक बातें पढ़कर वक्ताकी प्रमाणिकताका निर्णय किया जा सकता है। उप-

रोक्त तथा इसी जातिके यदि दोष वक्तव्यमें दिखाई दें, तो समझ लें कि वक्ता प्रमाणिक नहीं है।

इतना ही नहीं और भी अधिक सावधानीकी आवश्यकता है यहां, क्योंकि जहां मिश्रित अभिप्राय पड़ा हो वहां विपरीतताकी परीक्षा करना कुछ कठिन पड़ता है। अतः भले ही सारे शास्त्रमें निर्दोष बातें भरी पड़ी हों, परन्तु कहीं एक भी कोई दूषित बात दिखाई दे तो समझ लो कि उन सर्व निर्दोष बातोंका कोई मूल्य नहीं। यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि भले दूषित बातको स्वीकार न करो पर निर्दोष बातका निषेध क्यों करते हो। सो भाई! इसके अन्दर निर्दोष बातका निषेध करनेका अभिप्राय नहीं है, वक्ताका निषेध करनेका अभिप्राय है। जैसाकि ऊपर दृष्टान्तमें बताया गया है एक ही बात दो व्यक्तियोंके मुखसे सुनकर ग्राहकके मुखसे निकला हुआ वही वाक्य झूठा माना गया और मेरे मुखसे निकला हुआ वही वाक्य सच्चा माना गया। कोई व्यक्ति कभी माताको माता कहता है और कभी माताको पत्नी भी कह देता है, तो क्या कहेंगे आप उसे? "यह नशेमें है, इसकी कोई भी बात ठीक नहीं। माताको माता भी बेहोशीमें कह रहा है, इसे कुछ पता नहीं कि माता कौन और पत्नी कौन?" यही तो कहोगे? बस इसीप्रकार ९९ बातें ठीक कहकर एक बात विपरीत कह रहा हो तो उसकी ९९ बातें भी ठीक नहीं हैं। या तो किसी दूसरेकी नक़ल करके कही हैं या बिना समझे बूझे यों ही सुन-सुनाकर कह दी हैं। सम्भवतः आगे चलकर कोई ऐसी बात भी कहदे कि जो मेरे-लिये अहितकारी हो और उससमय प्रमादवश मैं उसकी परीक्षा न करूं तो मेरा अहित हो जाय, इस लिये इसकी सारी ही बातें मान्य नहीं हैं।

अथवा जिसप्रकार कोई दुकानदार सच्चा व्यवहार करके पहले अपनी साख जमा लेता है और पीछे लोगोंका रुपया मारकर भाग जाता है। उसीप्रकार स्वार्थी वक्ता पहले बहुतसी सच्ची व शान्तिकी बातें बताकर अपना विश्वास जमा लेता है, और पीछे अपने स्वार्थकी बात कहकर अपना उल्लू सीधा कर लेता है, चाहे पढ़नेवालेका हित हो या अहित इस बातकी उसे चिन्ता नहीं। इसलिये ऐसे वक्ताकी कोई भी बात स्वीकार करने योग्य नहीं, भले शान्तिकी क्यों न हो। वही बात यदि किसी दूसरे प्रमाणिक शास्त्रमें लिखी हुई पायें तो विश्वास करने योग्य है। अतः शास्त्रकी परीक्षाका उपाय यही है कि पूरेके पूरे शास्त्रमें हितकी बातके अतिरिक्त अन्य बात किञ्चित् भी न हो, यदि एक भी बात अहित या स्वार्थकी हो या असंगत हो, तो समझलो कि सारा शास्त्र अप्रमाण है, पढ़ने योग्य नहीं है।

४. प्रयोजनीय विवेक—शास्त्रकी परीक्षा कर लेनेके पश्चात् पुनः अड़चन आती है यह कि प्रमाणिक पुरुषोंद्वारा लिखे गये शास्त्र भी मुख्यतः चार कोटियोंमें विभाजित किये गये हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, और चरणानुयोग। १. कुछ शास्त्र तो शान्ति-पथपर चलने-वालोंके जीवन-चरित्र दर्शाकर कोई आदर्श उपस्थित करते हैं, अर्थात् आदर्श-पुरुषोंकी कथाओंका निरूपण करते हैं। उनको कथानुयोग या 'प्रथमानुयोग' कहा जाता है, क्योंकि इनमें प्राथमिक जनोंको शान्ति-पथकी ओर आकर्षित करनेका अभिप्राय छिपा है और इसलिये इनमें शृंगार-रस आदि अलंकारोंका भी प्रयोग किया गया है। जिसप्रकार बताशेमें रखकर कड़वी भी औषधि बालकको खिलादी जाती है उसीप्रकार सुन्दर-सुन्दर कथाओं तथा आकर्षक शृंगार आदि रसोंके कथनके साथ, बीच-बीचमें यथास्थान जीवनोपयोगी बातों व तत्त्वोंका निरूपण भी कर दिया गया है। अतः प्रथमानुयोगमें चारों ही अनुयोगों सम्बन्धी बातोंका सुन्दर व संक्षिप्त संग्रह मिलता है। २. कुछ ऐसे हैं जिनमें तत्त्वों का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे प्ररूपण किया गया है तथा अत्यन्त परोक्ष व सूक्ष्म बातोंका, जैसे कि कार्मण-शरीर तथा उसके बनने व बिछुड़ने सम्बन्धी अथवा द्वीप समुद्रों आदि सम्बन्धी। उसे 'करणानुयोग' कहते हैं। ३. कुछ ऐसे हैं जिनमें वस्तुका अनुभवात्मक स्वरूप दर्शाया है, स्व व परमें विवेक कराया है, सुख व दुःखका सच्चा स्वरूप बताया है, तर्क व बुद्धिसे उसकी अनेक प्रकार सिद्धि करते हुए वैज्ञानिक ढंगसे विवेचन किया है। उसे 'द्रव्यानुयोग' कहते हैं। ४. कुछ ऐसे हैं जो हमें हमारा कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य बता रहे हैं तथा अपने जीवनको किसप्रकार शान्तिके सांचेमें ढालना चाहिये, किसप्रकार शान्ति प्राप्तिके अर्थ साधना करनी चाहिये, यह बता रहे हैं। इसे 'चरणानुयोग' कहते हैं।

यद्यपि ये चारों ही प्रमाणिक हैं परन्तु इस वर्तमानकी भूमिकामें क्या चारों ही पढ़े जाने योग्य हैं? नहीं भाई! इनमें-से पहले दोकी तो इस अवस्थामें तेरेलिए आवश्यकता नहीं। प्राथमिक कोटिसे तू निकल चुका है, तभी तो यहां बैठा सुन रहा है, इतनी रुचिसे। इसलिए 'प्रथमानुयोग' वर्तमानमें तेरेलिये विशेष प्रयोजनीय नहीं है। अभीतक तो तू स्थूल बातों तकका भी निर्णय नहीं कर सका, सूक्ष्मको कैसे जान सकेगा? अत्यन्त परोक्ष बातोंको जैसे कर्म व द्वीप समुद्रोंके वर्णनको अभी जान कर क्या करेगा, और सूक्ष्म दृष्टि बने बिना वह तेरी समझमें भी क्या आयेगा? अतः 'करणानुयोग' भी वर्तमान दशामें तेरेलिये विशेष प्रयोजनीय नहीं है। यहाँ ऐसा न समझ लेना कि इनके पढ़नेका निषेध किया जा रहा है, निषेधका अभिप्राय नहीं है बल्कि थोड़े समयमें अधिक कल्याण कैसे प्राप्त हो, यह अभिप्राय है। कुछ अनुभव तथा स्थूल सिद्धान्तोंका ग्रहण हो जानेके पश्चात् 'करणानुयोग'

महान उपकारी सिद्ध होगा । 'किसीको बैंगन बायले, किसी को बैंगन पच' अर्थात् जो 'करणानुयोग' तेरेलिये प्रयोजनीय नहीं है, वही किसी अन्यके-लिये जिनकी दृष्टि मझ चुकी है, अत्यन्त उपकारी है, तथा जो आज तेरेलिये प्रयोजनीय नहीं है वही कल तेरे लिये उपकारी सिद्ध होगा । इसीप्रकार 'प्रथमानुयोग' भले ही तेरेलिये इस समय उपयोगी न हो, क्योंकि तेरी श्रद्धा दृढ़ हो चुकी है, परन्तु ऐसे प्राथमिक जन जो कभी मन्दिरमें भी आना नहीं जानते, उनको मार्गकी श्रद्धा करानेके-लिये यही एक मात्र साधन है, क्योंकि कथाओंके आधारपर बालकोंको भी कठिनसे कठिन बात समझा देनी तथा उसका फल दर्शाकर उसपर दृढ़ श्रद्धा करा देनी शक्य है ।

परन्तु बात यह चलती है कि इस वर्तमान स्थितिमें कौनसे शास्त्रका स्वाध्याय करूं ? बस तो वस्तु-स्वरूप-दर्शक 'द्रव्यानुयोग' से स्व-पर-भेदकी बात जाननेके साथ-साथ, 'चरणानुयोग' से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य पहिचानने तथा अपने जीवनको शान्तिकी ओर ढालने सम्बन्धी बात जाननी चाहिये । अतः 'द्रव्यानुयोग' और 'चरणानुयोग' ये दोनों ही इस दशामें तेरे-लिये विशेष प्रयोजनीय हैं । चरणानुयोगकी भी दो धारायें हैं—एक अन्तरंगमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली तथा दूसरी इस जीवनमें बाह्य-त्यागरूप कुछ प्रेरणा देनेवाली । इन दोनोंमें-से भी पहले 'चरणानुयोग' की वैराग्य उत्पन्न करानेवाली धारा विशेष प्रयोजनीय है, किञ्चित् वैराग्य उत्पन्न हो जानेके पश्चात् व्रतादिका उपदेश देनेवाली धारा भी महान उपकारी है । यदि किसीकी बुद्धि इतनी मन्द है कि वस्तु-स्वरूपको समझ न सके या वैराग्यकी बात जिसके गले न उतर सके तो उसके लिये 'प्रथमानुयोग' तथा 'चरणानुयोग' के बाह्य-त्यागोंवाले अंगका स्वाध्याय ही कथञ्चित् इष्ट है । जिसकी बुद्धि कुशाग्र है और जिसने 'द्रव्यानुयोग' व 'चरणानुयोग' को भली भांति अवधारण कर लिया है, उसको निज कल्याणार्थ अपने सूक्ष्म-परिणामोंकी परख करनेके-लिये 'करणानुयोग' का स्वाध्याय अत्यन्त इष्ट है । जिसके पास समय अधिक है उसके लिये भी यह महान उपकारी है, क्योंकि इसकी उलझी हुई बातोंको समझनेमें बुद्धि इतनी उलझ जाती है कि दिन जाता प्रतीत नहीं होता । इसका स्वाध्याय करते समय व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है और किसी प्रकारके भी लौकिक विकल्पको जागृत होनेके-लिये अवकाश नहीं रहता । इस कथनपर-से स्वयं अपनी भूमिकाको पहिचानकर इन चारोंमें-से यथायोग्य रूपमें किसी भी शास्त्रका मनन करना तेरा परम कर्त्तव्य है । शान्ति-पथकी साधनामें यह तीसरा पग है ।

२३

संयम

१. संयम सामान्य—शान्तिकी खोजमें आगे बढ़नेवाले पथिकको क्रमशः इसकी प्राप्तिका उपाय बताया जा रहा है। यह उपाय अत्यन्त सरल है जिसे गृहस्थ अवस्थामें रहते हुए भी अपनाया जा सकता है। इसके-लिये गृहस्थ छोड़ कर तुरन्त साधु हो जानेकी आवश्यकता नहीं। इसको आंशिक रूपसे भी धारण करने-वालेको तत्क्षण सहभावी शान्तिका वेदन अवश्य होने लगता है। उस शान्तिके रसास्वादनमें इस मार्गकी कठिनाइयां वास्तवमें कठिनाइयां प्रतीत नहीं होतीं, जिसप्रकार कि धनके लोभसे प्रगटी धनोपार्जनकी रुचिमें व्यापारकी कठिनाइयां वास्तवमें कठिनाइयां प्रतीत नहीं होतीं।

गृहस्थके योग्य पूर्वोक्त छः अंगोंमें-से तीन अंग, देवदर्शन, गुरु-उपासना व स्वाध्याय बताये जा चुके। अब चौथे अंग संयमका प्रकरण चलता है। मार्गके इन पृथक-पृथक करके बताये जानेवाले अंगोंका यह अर्थ नहीं कि जीवन में भी ये पृथक-पृथक पालन किये जावें अर्थात् जब देवदर्शन हो तब गुरु-उपासनादि अन्य अंगोंका अभाव हो और जब संयम पालन करता हो तो देवदर्शनादिका अभाव हो। ये चारों तथा आगे बताये जानेवाले जितने भी अंग हैं वे सब शरीरके हाथ-पांव आदि अंगोंवत् एक गृहस्थ-जीवनमें युगपत् पालन करने योग्य होते हैं। युगपत् होनेपर ही उस गृहस्थका जीवन शान्तिका मार्ग बनता है। पृथक-पृथक रहनेपर वास्तवमें वे मार्ग नहीं रहते और न ही उन्हें जीवनके अंगरूप स्वीकार किया जा सकता है। वे तो बन्दरकी नकलमात्र बनकर रह जायेंगे जिनका कोई मूल्य न होगा। समझे बिना तथा उन अंगोंमें शान्तिका दर्शन किये बिना सर्व अंग शून्यमात्र हैं, निष्फल हैं। क्योंकि शान्ति-पथकी प्राप्तिके-लिये अपनाये गये ये सर्व अंग यदि तत्क्षण शान्तिका वेदन न

करा सके, तो फलके अभावमें इन सर्व अंगोंको निष्फल ही तो कहेंगे ।

संयम अर्थात् 'सं+यम'। 'सं' अर्थात् सम्यक प्रकार, 'यम' अर्थात् यमन करना, नियंत्रण करना, दबाना । सम्यक् प्रकार दबा देना, व्याकुलता उत्पादक उन विकल्पोंको जोकि विषय-भागोंके दृढ़ संस्कारोंवश या कर्त्तव्य-हीनतावश प्रतिक्षण नया-नया रूप धारण करके मेरे अन्तष्करणमें प्रवेश पाते या आस्रवते हुए मुझे अशान्त तथा विह्वल बनाये रहते हैं। शान्तिके उपासकको और चाहिये ही क्या ? विकल्पोंका पूर्णतया अभाव ही तो इष्ट है और विकल्पोंके आस्रवनका निरोध संवर है । अतः संयम 'संवर' का ही एक अंग है । पूर्ण संयमके प्रतीक तो हैं देव व गुरु, जिनकी भक्ति व उपासनाकी बात चल चुकी है, जिनके दर्शनोंसे मैंने शान्तिका स्वरूप समझा, उस शान्तिका जोकि संयमकी अविनाभावी है । उनसे मुझे संयम धारण करनेकी शिक्षा मिलती है, इसलिये देवदर्शन व गुरु-उपासनाका फल जीवनको संयमित बनाने में ही निहित है, उसी प्रकार से जिस प्रकारसे कि उन संयमी गुरुओं द्वारा प्रणीत आगममें बताया गया है । स्वाध्यायसे उसी संयमको धारण करनेकी जिज्ञासाका प्रोत्साहन तथा उसे धारण करनेके मार्गका ज्ञान कराया गया है, उस संयमके जिसको कि स्वयं अपने जीवनमें लाकर उन गुरुओंने यह सिद्ध कर दिया कि इसका पालना अशक्य नहीं है और इसका पालन ही शान्ति है । उन्होंने तभी उपदेश दिया जबकि अपने जीवनकी प्रयोगशालामें प्रयोग करके उसके फलका निर्णय स्वयं कर लिया ।

इस संयमको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—एक वह भाग जिसके द्वारा मैं अपनी इन्द्रिय-विषयों सम्बन्धी लोलुपता व आसक्तिका सम्यक् प्रकार दमन कर सकूं अर्थात् 'इन्द्रिय-संयम', और दूसरा वह जिसके द्वारा इस जीवनमें अपनी शान्तिकी रक्षा करनेके साथ-साथ दूसरे प्राणियोंके प्रति कर्त्तव्य-निष्ठ बना रह सकूं, अर्थात् उन कुटिल संस्कारोंका सम्यक् प्रकार दमन करनेमें समर्थ हो सकूं जो कि मुझे कर्तव्यहीन बनाये हुए हैं, जिनके कारण मैं स्वयं मनुष्यताको भूलकर अपने साथी अन्य छोटे-बड़े प्राणियोंके साथ सम्भवतः पशुओंसे भी अधिक नीचा राक्षसी व्यवहार कर रहा हूँ, और फिर भी अपनेको मनुष्य कहनेका गर्व करता हूँ, अर्थात् 'प्राण-संयम'। क्रमपूर्वक इन दोनों अंगोंका विस्तार सहित कथन किया जायगा । धैर्यसे सुनना ।

२. प्रेरणा—गुरुदेव तो पूर्ण हो चुके हैं, इन्द्रिय-संयममें भी और प्राण-संयममें भी । पांचों इन्द्रियोंको अपनी दासी बना चुके हैं वे । किसी प्राणीको भी किसी प्रकारकी बाधा देनेके-लिये अवकाश नहीं रहा है उनके जीवनमें । कषायोंपर भी

पूर्ण नियन्त्रण कर लिया है उन्होंने। वे हो चुके हैं पूर्ण इन्द्रिय-संयमी, पूर्ण इन्द्रिय–विजयी, पूर्ण कषाय-विजयी, पूर्ण अहिंसक या प्राण-संयमी। आज सौभाग्यवश उनकी शरणमें आकर भी क्या मैं खाली लौट जाऊंगा, जैसा कि अनादि कालसे करता आया हूँ ? नहीं, अबतक भूला तो भूला अब वही भूल पुनः न दोहराऊंगा, इस अवसरको अब न खोऊंगा, इस अवसरकी महान दुर्लभताको मैं अब जान पाया हूँ। प्रभु ! मुझे शक्ति प्रदान करें कि मैं भी आपके समान संयमी बनकर जीवन शान्त बना सकूं, ऐसा ही जैसाकि आपका है। आपकी भांति ही अभिप्रायमें साम्यताको स्थान दे सकूं। सुनता हूँ कि जो आपकी शरणमें आता है वह आप सरीखा बन जाता है। धनिकका धनिकपना भी किस कामका जो याचकको अपने समान न बना ले ? आप आदर्श हैं, क्या मुझपर दया न करेंगे, क्या मुझको न उभारेंगे ? माना कि मैं अपराधी हूँ, परन्तु आप अपराधियोंका ही तो उद्धार करनेवाले हैं, निरपराधियोंको आपकी आवश्यकता ही क्या ? हे अधमोद्धारक ! अब सही नहीं जाती व्याकुलताकी मार, मेरी रक्षा कीजिये।

परन्तु भो चेतन ! क्या इस प्रकारकी अनुनय, विनय, प्रार्थना, स्तुति तथा याचना मात्रसे काम चल जायेगा ? प्रभुने तो दया करदी, अपने जीवनके आदर्शके आधारपर तुझे तेरा जीवनादर्श दर्शा दिया। अब जीवनको उद्यम-पूर्वक वैसे सांचेमें ढालना तेरा काम है। यह काम तो प्रभु न करेंगे। अतः अत्यन्त हितकारी इस संयमको अब शीघ्रातिशीघ्र जीवनमें उतारनेका प्रयत्न कर, साहसी बन, आगे बढ़, कायरता छोड़, बाधाओंसे मत घबरा। वीर-प्रभुको आदर्श माना है तो वीर बन। यदि भविष्यमें अमुक परिस्थिति हो गई 'तो' ? यह घातक 'तो' ही वास्तवमें तेरे जीवनकी कायरता है, इसे त्याग। प्रभुका आश्रय लिया है तो विश्वास कर कि तेरे जीवनमें इस 'तो' के लिये अब समय न आयेगा।

अरे ! यह चिन्ता, यह असमंजस कैसा ? हां-हां ठीक है, एकदम वैसा हुआ नहीं जा सकता, क्योंकि शक्तिकी हीनतावश और पूर्व-संस्कारोंवश इतनी बाधाओंका तेरे द्वारा सहा जाना वर्तमानमें अशक्य है। परन्तु पूर्णतया वैसा बननेके-लिये तो वर्तमानमें नहीं कहा जा रहा, वैसा बननेका प्रयत्न करनेके-लिये ही तो कहा है। इस प्रयत्नमें छिपी है इस मार्गकी सरलता व शक्यता। घबराने व डरनेकी आवश्यकता नहीं। बार-बार रस्सीके गुज़रनेसे पत्थर भी कट जाता है, इसी-प्रकार धीरे-धीरे जीवनको इस ओर झुकानेसे क्या एकदिन तू आदर्शके अनुरूप न बन जायेगा ? भले समय अधिक लगे इस बातकी

चिन्ता नहीं, परन्तु कर तो सही। एकबार प्रारम्भ कर, पूर्णताके लक्ष्यसे, पूर्णताके अभिप्रायसे, धीरे-धीरे आगे चल, अर्थात् शक्तिका संतुलन करता हुआ परन्तु शक्तिको न छिपाता हुआ। क्रमशः थोड़ा-थोड़ा विषयोंपर क़ाबू पानेसे एक दिन तू भी पूर्ण इन्द्रिय-विजयी हो जायेगा, जिसका उल्लेख आगे उत्तम-संयम नामक ३६ वें अधिकारमें किया जाने वाला है।

३. इन्द्रिय-विषय-विभाजन—संयमके इन दो भागोंमेंसे पहले इन्द्रिय-संयमकी बात चलती है। इस प्रयोजनको सिद्धिके अर्थ मुझे विश्लेषण द्वारा अपने विषयों को दो भागोंमें विभाजित करना होगा—एक आवश्यक भाग अर्थात् 'नेसैसेरीज़' और दूसरा अनावश्यक भाग अर्थात् 'लक्सरीज़'। शरीरपर या कुटुम्बादिपर अर्थात् मेरी गृहस्थीपर किसी भी प्रकारकी बाधा, तीव्र-रागवश या शक्तिकी हीनतावश, आज मुझसे सहन न हो सकनेके कारण, भले आज आवश्यक विषयोंको अर्थात् नेसैसेरीज़को त्यागनेमें या उनकी उपेक्षा करनेमें मैं अपनेको समर्थ न पाऊं, परन्तु अनावश्यक विषयों अर्थात् लक्सरीज़को त्यागनेमें मैं आज भी समर्थ हूं क्योंकि इनके त्यागसे मेरे शरीरमें या गृहस्थीमें कोई बाधा आनी सम्भव नहीं। यदि ऐसा अभिप्राय बन जाय तो अवश्य ही इन्द्रिय-विषयोंके उस बड़े भागसे मैं बच जाऊं, जो मेरे जीवनमें अधिक भाररूप है, जिसके कारण मुझे अधिक व्याकुलता हो रही है, जिसके कारण मैं अपना विवेक भूल बैठा हूं, जिसके कारण मैं हितको अहित और अहितको हित मान रहा हूं। इस प्रकार विकल्पोंके एक बड़े समूहको जीत लेनेके कारण मैं पूर्ण-रूपसे न सही, परन्तु आंशिक-रूपसे अवश्य इन्द्रिय-विजयी बन जाऊंगा।

परन्तु यहां इतना समझ लेना आवश्यक है कि इन्द्रिय शब्दका तात्पर्य यहां शरीरमें दीखनेवाले ये कुछ नेत्रादि चिन्हमात्र नहीं हैं, बल्कि है मेरे अन्दरका वह अभिप्राय जिसके कारण कि न मालूम क्यों आप ही आप उन नेत्रादि इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जाने गये पदार्थों व विषयोंकी ओर रुचिपूर्वक मैं झुक जाता हूं, जिसके कारण कि उन-उन पदार्थों व विषयोंका उन-उन इन्द्रियोंसे ग्रहण करते समय मुझमें स्वतः ही कुछ मिठास वर्तने लगता है, कुछ आनन्दसा आने लगता है, और इस प्रकारका भाव आ जानेपर उनके पुनःपुनः ग्रहणकी इच्छा अन्तरंगमें जागृत हो जाता है। 'अहो! यह तो बहुत स्वादिष्ट है, ऐसा ही और भी लाकर देना', कुछ ऐसासा भाव ही वास्तवमें यहां इन्द्रिय शब्दका वाच्य बनाया जारहा है। ऊपर कहे जानेवाले अनावश्यक विषयोंका ग्रहण तो सर्वतः उन्हीं भावोंके आधारपर होता है, परन्तु आवश्यक विषयोंके ग्रहणका आधार बहुत अंशोंमें है सहन-शक्तिकी कमी, तथा थोड़े अंशोंमें है वह

उपरोक्त विशेष-झुकावका भाव। इच्छाओंको भड़कानेके कारणभूत इस विशेष झुकाववाले भावका निषेध ही प्रथम अवस्थामें कर्तव्य है। क्योंकि उसके त्याग से मेरी शान्तिमें बाधक इच्छाओंका एक बड़े अंशमें निराकरण हो जाता है, इसलिये क्रमशः संयम-धारणके प्रकरणमें पहले अनावश्यक विषयोंके त्यागका उपदेश दिया गया है। मुझे पद-पदपर अपनी शान्तिकी रक्षाका अभिप्राय लेकर चलना है अत: इस शान्तिमें जो भी बात अधिक बाधा पहुँचाती प्रतीत हो उसे ही पहले मार्गसे हटा देना आवश्यक है।

४. अन्तरंग व बाह्य संयम—अन्तरंग अभिप्राय टालनेको कहा है न ? बाहर में त्यागनेसे क्या लाभ ? अरे प्रभु ! दया कर अपने ऊपर, तू स्वयं यह प्रश्न करके सन्तोष नहीं पा रहा है, फिर भी आश्चर्य है कि प्रश्न किये जा रहा है ? क्या बाहरका ग्रहण बिना अन्तरंगके अभिप्रायके सम्भव है ? क्या बिना अन्तरंग झुकावके ही इतना व्यग्रचित बना अपनी शान्तिका गला घोंट रहा है ? नहीं-नहीं, ऐसा न कह, बाह्यका ग्रहण अन्तरंग अभिप्रायका लक्षण है। यह हो सकना सम्भव है कि बाहरका त्याग हो जाय और अन्तरंगका अभिप्राय न छूटे, पर ऐसा होना असम्भव है कि अन्तरंगका अभिप्राय छूट जानेपर बाह्य-विषय न छूटे। अतः अन्तरंग त्यागपर मुख्यतासे जो ज़ोर दिया जा रहा है इसका अभिप्राय बाहरका ग्रहण नहीं है।

हर क्रियाके मुख्य दो अंग हैं, एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य, जैसाकि पहले देव दर्शन व गुरु-उपासनामें बताया जा चुका है। दानों अंग अविनाभावी-रूपसे साथ-साथ चलते हैं। यहां भी अन्तरंग-क्रिया है उन-उन वस्तुओंके प्रति झुकावका त्याग, और तत्फल-स्वरूप बाह्य-क्रिया है उन-उन अनावश्यक वस्तुओं का त्याग। यद्यपि आवश्यक वस्तुओंवाले भागमें-से भी मिठास लेनेवाले अन्तरंग-भावका त्याग हो जाता है, परन्तु शक्तिके अभावके कारण शरीरके रक्षार्थ बाह्य-विषयका त्याग नहीं होता। यह बात कुछ अटपटीसी लग रही होगी, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। शान्तिके उपासकको वीतरागताके प्रति गमन करनेमें उत्साह वर्तता है, अतः उसे स्वभावत: उन-उन विषयोंमें-से मिठास आना बन्द हो जाता है। वे अब उसे कुछ जञ्जलासे भासने लग जाते हैं।

५. इन्द्रिय-संयम—इन्द्रियसंयम और प्राणसंयम ऐसे द्विविध संयमोंमें-से पहले इन्द्रिय-संयमकी बात चल रही है। इन्द्रियें पाञ्च हैं, स्पर्शन, रसना आदि, और इसलिये इनके विषय भी पाञ्च प्रकारके हैं। पाञ्चोंके अनावश्यक भागका त्याग ही तेरी भूमिकावालोंके-लिये इन्द्रियसंयम है। अब इन पांचोंका पृथक-पृथक निर्देश प्रारम्भ किया जाता है।

(१) उदाहरण रूपमें स्पर्शन-इन्द्रियको लीजिये। इसके दो विषय हैं—एक गरमी-सर्दीका भान करते हुए सुखी-दुःखी होना, और दूसरा कोमल-कठोर तथा चिकने-रूखेको स्पर्श करके सुखी-दुःखी होना। इस इन्द्रिय सम्बन्धी इन दो विषयोंमें-से पहला विषय इस अल्प गृहस्थ भूमिकाके-लिये आवश्यक है, क्योंकि गरमीके दिनोंमें गरमी और सर्दीके दिनोंमें सर्दी सहन करनेको मैं समर्थ नहीं हूं। यद्यपि पूर्ण-आदर्शकी दृष्टिमें वह भी त्याज्य है, तदपि इस भूमिकामें इसका त्याग आवश्यक नहीं। इसलिये भले ही वस्त्रादि पहनूं, शीतादि-उपचार करूं, पवन प्रयोगमें लाऊं, परन्तु भो चेतन ! सुन्दर, कीमती, सिल्की व ऊनी वस्त्र, ज़रीके वस्त्र, जेवर तथा अन्य भी इसी प्रकारकी कोमल व शरीरको सजानेके अभिप्रायसे ग्रहण की गई वस्तुएं, शरीरको मल-मलकर धोनेके लिये साबुन व इसे चिकना बनानेके-लिये तेल-क्रीम तथा इसी प्रकारके अन्य भी प्रयोग यदि त्याग दिये जायें, तो विचार तो सही कि तेरी गृहस्थीमें इससे क्या बाधा पड़ेगी, या तुझको किस पीड़ाका वेदन होगा जिसको कि तू न सह सकेगा ? कुछ भी तो नहीं, ये विषय तो सर्वतः अनावश्यक ही हैं। इनके त्याग से बाधा होनी तो दूर, बहुतसी बाधाओंका प्रतिकार हो जायेगा।

किसप्रकार सो देखिये। आजसे तीस वर्ष पूर्वका अपने पूर्वजोंका जीवन हमें याद है, जिनके पास होते थे गरमी-सर्दीसे बचनेके-लिये केवल दो-चार वस्त्र। न ट्रंक थे न सन्दूक, एक जोड़ा धोया और एक पहन लिया, तीसरेका काम नहीं, या कहीं जाने आनेके-लिये किसीने रखा तो एक जोड़ा और, बस इतना ही पर्याप्त था। न कोई साबुन जानता था न शरीरपर मलनेके-लिये तेल, क्रीम। जेवर थे पर ठोस, जब चाहो बेचलो और पूरे दाम बनालो, नुक़सानका काम नहीं। फलितार्थ, जीवन हल्का तथा सन्तोषी था, आवश्यकतायें व चिन्तायें कम, अतः धनोपार्जनके प्रतिकी लालसा भी कम, निज-हित अर्थात् धर्म-साधनके-लिये या मित्रोंमें बैठकर कुछ हंसने बोलने तथा मनोरञ्जन करनेके-लिये काफ़ी समय।

आजका जीवन भी हमारे सामने है, जब घरमें ट्रंक सन्दूकोंका ढेर लगा है, एकके ऊपर एक लदे हैं, उनमें-से प्रत्येक ठसाठस सूती, ऊनी, रेशमी तथा ज़रीके कीमती वस्त्रोंसे भरा हुआ। शरीरको मल-मलकर धोनेके-लिये अनेक भांतिके साबुन, इसको चिकना-चुपड़ा बनानेके-लिये अनेक जातिके पाउडर, क्रीम, फ़िक्सर, सुर्खी, तेल और न मालूम क्या-क्या। एक भरी हुई पूरी आलमारीका सामान, परन्तु फिर भी अभी कमी है, क्योंकि बाज़ारमें उपलब्ध हैं नित नये-नये ढंगकी नाना प्रकारकी वस्तुयें। जेवर हैं परन्तु ऐसे कि जिनमें

स्वर्णका मूल्यात्मक अंश बहुत कम, काँच ही काँच, और कहा जाता है स्वर्णका जेवर, यदि बेचने जाओ तो सम्भवतः मूल्यका अठवां भाग भी न मिल सके। फलितार्थ, जीवन स्वयं एक भार, जिसमें है एक व्याकुलता व कलकलाहट, झुंझलाहट व कलह, असीम आवश्यकतायें, असीम तृष्णायें, 'यह भी चाहिये, यह भी चाहिये' 'और ला और ला' की पुकारसे व्यग्र-चित्त, चिन्ताओंकी दाह, अतः धनोपार्जनकी भी वही चिन्ता। निज-हित अर्थात् धर्म-साधनके लिये या मित्रोंमें बैठकर मनोरञ्जन करनेके-लिये एक सैकिण्डका अवकाश नहीं, घरमें बीवी बच्चोंसे हंसने व बोलनेका अवकाश नहीं, माता-पिताको सांत्वना देनेका अवकाश नहीं, कभी ४ घण्टे सोये तो कभी दो घण्टे और कभी न सोये तो न सही। प्रतिदिनकी यात्रा, कभी मोटरमें तो कभी रेलमें। कहांतक बताया जाय, सब ही जानते हैं इस जीवनकी कशमकश। क्या यही है जीवनका सार, क्या इसलिये ही पाया है यह मनुष्य जन्म ? इससे अच्छा तो तिर्यंच ही रहते, कुछ आगे पीछेकी चिन्ता तो न रहती ?

आश्चर्य है कि इतना कुछ होने पर भी अपनेको सुखी मानूं और नये-नये विषयोंके अधिक-अधिक ग्रहण करनेका प्रयत्न करूं। सम्भल चेतन सम्भल ! सौभाग्यवश तुझे वह प्रकाश मिल रहा है जिसमें यदि आंखें खोलकर देखे तो इन विषैले सर्पोंमें, जिनको अन्धकारमें तू चिकने-चिकने सुन्दर हार समझता रहा, अवश्य सावधान हो जाय और अपने जीवनमें अनावश्यक स्पर्शन-इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंसे अवश्य अपनी रक्षा करे। वास्तवमें स्पर्शन-इन्द्रिय विषयक सामग्रीसे रक्षा करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि अन्तरंग मिठास-रूप विशेष-भावसे बचने की है। आज वस्त्रादि शरीर ढांपनेके-लिये नहीं हैं, बल्कि हैं शरीरको सजानेके-लिये और इसी प्रकार अन्य वस्तुयें भी।

शान्तिकी खोजमें संलग्न पथिकको, शान्तिमें बाधक विकल्पोंके निषेधार्थ, जीवनको यथाशक्ति संयमित बनानेकी प्रेरणा की जा रही है। संयमके प्रथम अंग इन्द्रिय-संयमके अन्तर्गत स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी संयमकी बात हो चुकी। अब चलती है जिह्वादि शेष इन्द्रियोंको संयत करनेकी बात।

(२) स्पर्शन-इन्द्रियवत् रसना-इन्द्रियके विषयोंको भी दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—एक आवश्यक भाग और दूसरा अनावश्यक भाग। आवश्यक व अनावश्यककी व्याख्या स्पर्शन-इन्द्रिय-सम्बन्धी प्रकरणमें की जा चुकी है। आवश्यक भागमें आता है क्षुधा शमनार्थ किये गये भोजनको चबा-चबा कर अन्दर धकेलना, तथा सम्पर्कमें आनेवाले साधारण व असाधारण व्यक्तियों से योग्य संभाषण करना। अनावश्यक भागमें आता है उक्त किये गये भोजन

के स्वादमें या अन्य स्वादिष्ट मिष्टान्न या चाट आदिक पदार्थोंमें आसक्तिका होना, और निष्कारण द्वेष या प्रमादवश किसीकी निन्दा या चुगली करना, गाली या व्यंगके वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना इत्यादि ।

स्पर्शनेन्द्रियवत् यहाँ भी यद्यपि आवश्यक संभाषण व भोजन-ग्रहणकी क्रियाओंका वर्तमानमें त्याग करना शक्तिके बाहरकी बात होनेके कारण भले उसका त्याग न हो सके परन्तु उपरोक्त अनावश्यक भागका त्याग करनेमें गृहस्थ जीवनकी दैनिक चर्यामें कोई बाधा नहीं आती । फिर भी इसके त्यागके प्रति क्यों उत्साह नहीं करता ? तनिक विचार करके देखे तो पता चले बिना न रहेगा कि इस प्रकारकी आसक्तिके कारण तुझे समय-समय-प्रति कितनी जातिके संकल्प-विकल्प उत्पन्न हो-होकर व्याकुल बना रहे हैं । अनुकूल स्वाद न मिलने पर क्रोधके कारण तू किस प्रकार स्वयं अपने स्वरूपको साक्षात् जलता हुआ अनुभव करता है, एक ही वस्तुमें अनेक स्वाद उत्पन्न करनेके-लिए तुझे कितना कुछ करना पड़ता है तथा इसके कारण तेरे दैनिक बजटपर कितना भार पड़ा हुआ है, जिसकी पूर्ति कि तू अपना सारा समय धनोपार्जनके अर्थ लगा देनेपर भी कर नहीं पाता । क्या कभी विचारा है कि आजके तेरे जीवनको भार बना देनेवाली यह स्वादकी आसक्तिपूर्ण भावना तेरी शान्तिको कितनी बाधा पहुँचा रही है ? इसके त्यागसे तेरे शरीरको या गृहस्थीको बाधा पहुँचनेका तो प्रश्न नहीं, तुझे बड़ा लाभ होगा, यह बात विचारणीय है— आर्थिक दृष्टिसे व स्वास्थ्यकी दृष्टिसे । आर्थिक दृष्टिसे इसके त्यागके कारण अवश्य ही तेरे दैनिक खर्चमें बहुत बड़ी कमी आ जायेगी । सम्भवत: क्षुधा निवृत्तिके-लिए होनेवाला तेरा खर्च स्वादार्थ होनेवाले खर्चका तीसरा भाग भी न हो । इसके फलस्वरूप उसकी पूर्तिकी जो चिन्ता आज तुझे लगी रहती है उससे तुझे मुक्ति मिलेगी, और धनोपार्जनसे कुछ समयका अवकाश पाकर तू शान्तिकी उपासना कर सकेगा । स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी इस स्वादकी भावनासे दबाया गया तू अनेकों बार जानते-बूझते किन्हीं ऐसे पदार्थोंका सेवन कर लेता है, जिसके कारण अनेकों रोग या कष्ट तेरे शरीरमें उत्पन्न हो जाते हैं । उनसे रक्षा करनेके-लिए भी इसपर काबू पाना श्रेयस्कर है ।

इसके अतिरिक्त निन्दनीय सम्भाषण व पर-निन्दामें तेरा कितना समय व्यर्थ चला जा रहा है, क्या कभी विचार किया है इसपर ? इस क्रियासे तुझको कौनसा लौकिक व अलौकिक लाभ है ? लौकिक अपेक्षासे भी हानि और अलौकिक अपेक्षासे भी । लौकिक अपेक्षासे इसलिये कि इसके कारण ही अनेक व्यक्ति तेरे शत्रु बन बैठते हैं और तुझे बाधा पहुँचानेमें कदाचित् सफल भी हो

जाते हैं। अलौकिक हानि इसलिए कि इसके कारणसे प्रोत्साहित तेरा अन्तर्द्वेष स्वयं तेरे अन्दर दाह उत्पन्न करके तेरी शान्तिको जला डालता है। अतः इस वर्तमान गृहस्थ-दशामें रहते हुए भी तू स्वादके प्रति अपनी आसक्तिका त्याग करनेके-लिए, बाज़ारकी मिठाई चाट आदिका त्याग करके या घरपर भी स्वादिष्ट वस्तुयें बनवानेका यथासम्भव त्याग करके, अथवा किसीके साथ अयोग्य अश्लील व निन्दनीय सम्भाषणका त्याग करके, एकदेश-रूपसे जिह्वा-इन्द्रिय सम्बन्धी संयम धारण कर सकता है। यहां भी स्पर्शन-इन्द्रिय संयमकी भांति अन्तरंग अभिप्रायकी प्रधानता जानना। इसमे अवश्य ही तुझको शान्तिकी आंशिक प्राप्ति होती प्रतीत होगी, जीवन हल्का हो जायेगा, चित्तमें सात्विक विचार उदित होंगे और अन्तर्प्रकाशमें वृद्धि होगी।

(३) अब लीजिये तीसरी **नासिका-इन्द्रिय** सम्बन्धी संयमकी बात। इसके विषयको भी आवश्यक व अनावश्यक अंगोंमें विभाजित करनेपर, श्वास लेनेकी प्रवृत्तिरूप एक आवश्यक अंग तथा सुगन्धि दुर्गन्धिके प्रति राग व घृणा-भावरूप अनावश्यक अंग, ये दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। श्वास लेना भले न त्यागा जा सके परन्तु दूसरा विषय त्याग देनेपर शरीर को या गृहस्थीको कोई क्षति नहीं होती। वास्तवमें देखा जाय तो दुर्गन्धि सुगन्धि नामकी दो सत्तायें ही कहीं नहीं हैं। प्रत्येक भौतिक पदार्थमें कोई न कोई गन्ध तो अवश्य है, पर वह सुगन्धि है या दुर्गन्धि इस बातका निर्णय कौन करे? 'जो तुझे अच्छी लगे सो सुगन्धि, जो न रुचे सो दुर्गन्धि' इस प्रकार अपनी रुचिके अनुसार किसी भी गन्ध में 'सु' व 'दु' उपसर्ग लगा देना क्या न्याय-संगत है? पदार्थके स्वरूपका निर्णय करनेका तुझको यह अधिकार है ही कहां? अतः वास्तवमें तो तुझे किसी भी गन्धके आनेपर 'सु' व 'दु' का अथवा अच्छी व बुरी का भाव लाकर, रागद्वेष-जनक व्याकुलता उत्पन्न करके, अपनी शान्तिको घातना नहीं चाहिये, दोनोंमें ही साम्यता रखनी चाहिये, जैसे कि पहले देव व गुरुके आदर्श-जीवनमें देख आया है। परन्तु फिर भी अपनी शक्तिका संतुलन करनेपर तुझे ऐसा लगता है, कि प्रयत्न करनेपर भी सम्भवतः दुर्गन्धि आनेपर तेरी नाक सुकड़े बिना न रह सके, क्योंकि उसके प्रति घृणाके कुछ दृढ़-संस्कार ही ऐसे पड़े हुए हैं। खैर यदि ऐसा है तो भले दुर्गन्धिके प्रति की ग्लानि वर्तमानमें न छूटे, परन्तु सुगन्धिके प्रतिका झुकाव छोड़नेमें तो तेरे गृहस्थ-जीवनमें या दैनिक-चर्यामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। बल्कि इसके त्यागसे तो तुझको लौकिक व अलौकिक दोनों प्रकारका लाभ ही होगा, आर्थिक व स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी लाभ ही होगा।

आर्थिक-दृष्टिसे देखनेपर तो इस विषयपर क़ाबू पा लेनेके पश्चात्, पाउडर, क्रीम, वैसलीन, सैन्ट आदि अनेकों ऐसे बेकार पदार्थोंकी कोई आवश्यकता न रह जायेगी तुझे जिनमें कि तेरी आयका एक बड़ा भाग व्यय हो जाता है। इस प्रकार तेरे व्ययमें न्यूनता हो जानेसे स्वभावतः धनोपार्जन सम्बन्धी तेरा भार कुछ कम हो जायेगा, तत्सम्बन्धी चिन्ताओंसे निवृत्तिके कारण तू कुछ समय बचा सकेगा। और शन्तिकी उपासनाके मार्गपर सुगमतासे अग्रसर होनेका अवसर प्राप्त कर सकेगा। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे देखनेपर उन उपरोक्त पदार्थोंके कारण उत्पन्न होनेवाले बालोंकी सफेदी, नज़ला तथा अन्य भी कई इसी प्रकारके रोगोंसे मुक्त हो सकेगा। अतः पूर्णतया न सही परन्तु केवल सुगन्धिके प्रतिका राग छोड़कर इस विषयका भी एकदेश त्यागी तू अवश्य बन सकता है।

(४) अब देखिये नेत्र-इन्द्रिय सम्बन्धी विषयको जिसका नाम है देखना, राग-भावसे व द्वेष-भावसे जैसे कुटुम्बी जनोंको तथा किसी शत्रुको, करुणा-भावसे व क्रूर-भावसे जैसे अपने रोगी पुत्रको और सर्पादिकको, प्रेमसे व भयसे जैसे स्व-स्त्रीको और सिंहको, बहुमानसे व मनोरंजनसे जैसे देव व गुरुको अथवा धार्मिक उत्सवोंको और सिनेमा आदिको, तथा इसी प्रकार अन्य भी अनेकों विरोधी अभिप्रायोंसे देखना। इन सर्व अभिप्रायोंमें रागसे, निर्विकार-भावसे करुणासे, प्रेमसे व बहुमान इत्यादिक भावोंसे देखे बिना वर्तमान अवस्थामें चलता प्रतीत नहीं होता तो न सही; परन्तु द्वेष-भावसे, विकृत-भावसे, क्रूर-भावसे, भयसे तथा मनोरंजन आदिक भावोंसे देखनेका त्याग तो सहज ही कर सकता है, और इन दृष्टियोंके त्यागसे तेरी दैनिक चर्यामें बाधा आनेकी बजाय लौकिक व अलौकिक दोनों रीतिसे कुछ सुन्दरता ही आयेगी। लोकमें होने वाले अपयशसे बचेगा, यह है लौकिक सुन्दरता। सिनेमा आदि मनोरंजन मात्रके साधनोंसे मिलती है निःशुल्क शिक्षा सर्व खोटी बातोंकी व व्यसनोंकी। देशमें प्रचलित डाके मारनेके नये-नये ढंग, जेबकतरी, व्यभिचार-सेवन, मद्य व मांसका सेवन, नये-नये शृंगार व फैशन, इन सबके प्रचार-केन्द्र वास्तवमें ये सिनेमा आदि ही तो हैं। अतः इनको देखनेका त्याग करनेसे अनेकों व्यसनोंसे तू अपनी रक्षा कर सकेगा। इसके अतिरिक्त विकारी भावसे उत्पन्न होनेवाली कषायसे प्रेरित जो वेश्यागमन आदि महान अपराध हैं, उनसे भी बचा रहेगा तथा इसी प्रकार इन अपराधोंके कारण होनेवाले व्यर्थके अपव्ययकी चिन्तासे मुक्ति अर्थात् धनोपार्जन सम्बन्धी भारसे छुटकारा और अन्य भी अनेकों लाभ। अतः यदि पूर्ण नहीं तो आंशिक रूपसे अवश्य आज भी इस नेत्र-इन्द्रिय सम्बन्धी उपरोक्त अनावश्यक अंगको छोड़कर तू संयमी बन सकता है।

अब सोचिये पांचवीं श्रोत्र-इन्द्रिय की बात। गृहस्थ-क्षेत्रमें, व्यापार-क्षेत्रमें तथा धार्मिक-क्षेत्रमें कुटुम्ब-वालोंकी, ग्राहकोंकी और गुरुजनोंकी या उपदेशकोंकी बातें सुनना अथवा धार्मिक भजन सुनना तो आवश्यक अंग होनेके कारण छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु सिनेमाके अश्लील गाने सुननेका त्याग करनेसे तुझे क्या बाधा पड़ेगी? इसमें तो निहित है तेरा लाभ। सिनेमापर होनेवाले तथा रेडियो, ग्रामोफ़ोन आदि पर होनेवाले व्यर्थके व्ययसे बचेगा और इस प्रकार धनोपार्जन सम्बन्धी भार हल्का पड़ेगा। जो समय इन कार्योंमें व्यर्थ जाता है वह बच जायेगा जिसे तू उपयोगमें ला सकेगा निज-हितार्थ।

इसके अतिरिक्त श्रोत-इन्द्रियका एक और भी विषय है, बड़ा भयानक परन्तु ऊपरसे देखनेमें सुन्दर, जिस सुन्दरतासे आकर्षित होकर साधारण मनुष्यकी तो बात नहीं, धार्मिक क्षेत्रमें आगे बढ़े हुए व्यक्ति-विशेष भी धोखा खाये बिना नहीं रहते और ऐसी पटख़नी खाते हैं कि चारों ख़ाने चित्त नीचे आते हैं, और उस खाईमें जा पड़ते हैं जहांसे वे कब निकल सकेंगे यह कौन जाने। वह विषय है निज-प्रशंसाके शब्द सुनकर उनके प्रतिका मिठास व झुकाव। शान्तिके उपासकको इस दुष्ट विषयसे पद-पदपर सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। इस विषयकी विकराल दाढ़का चबीना बने हुए व्रत-संयमादि ज़ार-ज़ार रोते देखे जाते हैं। अभीसे ही, इस अल्प अवस्थासे ही, इसके प्रति सावधान रहनेका अभ्यास करना होगा, नहीं तो आगे जाकर अवश्यमेव इससे परास्त होना पड़ेगा। शान्ति-पथकी यह सबसे बड़ी बाधा है।

पांचों इन्द्रियोंकी बात हो चुकी, परन्तु इन पांचोंके अधिपति मनकी बात शेष रह गई, जिससे इन पांचोंको प्रेरणा मिल रही है, जिसके बलपर इन पांचोंका बल है, जिसके जीवित रहनेपर ये पांचों जीवित हैं तथा जिसकी मृत्युसे इन पांचोंकी मृत्यु है। इस मनका कोई एक निश्चित विषय नहीं है, पांचों ही इन्द्रियोंके विषय इसके विषय हैं। जिस प्रकार देवपूजा, गुरु-उपासना व स्वाध्यायके प्रकरणमें बताया जा चुका है तथा स्पर्शनेन्द्रिय-दमन सम्बन्धी विषयके साथ भी बताया जा चुका है, प्रत्येक क्रियाके दो अंग हैं, जो सदा साथ-साथ रहते हैं—एक अन्तरंग-अंग और दूसरा बाह्य-अंग। यहां भी अर्थात् इन्द्रिय-संयमके प्रकरणमें भी वही बात है। प्रत्येक इन्द्रियका बाह्य-विषय तो है उन-उन पदार्थोंका ग्रहण और अन्तरंग-विषय है उनका ग्रहण होनेपर अंतरंगमें उत्पन्न होनेवाली मिठास, रुचि व झुकाव, जोकि मुझे आगे-आगे पुनःपुनः अधिक-अधिक उन-उन विषयोंके ग्रहणकी प्रेरणा देता है तथा अत्यन्त आसक्त व गृद्ध बनाकर मुझे उनके उपभोगमें ऐसा फंसा देता है कि उनसे छूटनेका भाव भी मेरे अन्दर

उत्पन्न न होने पावे, हिताहितका विवेक भी जाता रहे। इन सर्व इन्द्रियोंके अन्तरंग विषय मिलकर एक मनका विषय बन जाता है। अतः इस मनको क़ाबू करनेके-लिये पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी अनावश्यक व आवश्यक दोनों ही विषयोंके प्रतिका झुकाव अन्तरंगमें न होने देनेके-लिये सावधानी रखनी आवश्यक है। इस प्रयाससे भी गृहस्थ-सम्बन्धी किसी चर्यामें बाधा आना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त भी आगे-आगेके प्रकरणोंमें आनेवाली सर्व अन्तरंग क्रियायें मनकी विषय हैं। उन सर्व ही अन्तरंग क्रियाओंका यथायोग्य त्याग विवेकपूर्वक सावधानीके साथ निर्बाध रीतिसे जीवनमें उतारनेका नाम ही है मनका संयम। इसको वशमें करनेपर ये सब इन्द्रियें सहज ही वश हो जायेंगी। इस प्रथम भूमिकामें इस ही को मुख्यतः वशमें करनेकी बात चलती है।

६. प्राण-संयम—शान्ति-प्राप्तिकी साधनाके अन्तर्गत संयमका कथन चलता है। जैसाकि पहले बताया गया था, वह दो प्रकारका है—इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम। इन्द्रिय-संयमकी बात हो चुकी और अब चलती है प्राण-संयमकी बात। जीवके दस प्राणोंका तथा उनकी अपेक्षा उनके अनेक भेद-प्रभेदोंका कथन जीव-तत्त्वके अन्तर्गत आ चुका है (देखो ७.२)। प्राण-संयमका अर्थ है इस प्रकारकी सावधानी कि मेरे दैनिक जीवनमें मेरेद्वारा मनसे, वचनसे अथवा कायसे कोई भी इस प्रकारकी प्रवृत्ति न हो जिसके कारण कि चींटीसे लेकर मनुष्य पर्यन्त किसी भी छोटे या बड़े व्यवहारगत प्राणीके प्राणोंको, साक्षात् रूपसे या परम्परा रूपसे किसी भी प्रकारकी पीड़ा पहुँच सके। न केवल आयु नामवाले प्रधान प्राणको अथवा काय या शरीर नामवाले प्राणको प्रत्युत किसी भी प्राणको, न पांचों इन्द्रियोंमें-से किसी भी एक इन्द्रियको, न मनको, न वचनको, न कायको, न श्वासोच्छ्वासको और न आयुको। न केवल उनको नष्ट-भ्रष्ट न करना प्रत्युत पीड़ित न करना। प्राण-संयमका यह व्यापक लक्षण समझ न पानेके कारण ही पृथ्वीपर देख-देखकर पग रखनेवाले तथा अन्नको बीन-बीनकर खाने वाले संयमीजन भी वास्तवमें रह जाते हैं असंयमी।

यह जाने बिना कि मेरी किस-किस प्रकारकी प्रवृत्तिसे किसके किस प्राणको किस प्रकारकी पीड़ा पहुँच रही है, संयमका यह विवेक धारण करना सम्भव नहीं। यदि सूक्ष्मतासे विचार किया जाय तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे द्वारा क्षुद्र जीवोंको इतनी पीड़ा नहीं पहुँच रही है जितनी कि मनुष्यको, स्वयं मेरे भाईको, शरीरके द्वारा नहीं वचनके द्वारा, मनके द्वारा। निन्दा, चुगली तथा व्यंग आदिरूप मर्मच्छेदी वचनोंके द्वारा मैं किसप्रकार उसका कलेजा छलनी करता रहता हूँ, यह मुझे पता ही चलने नहीं पाता।

७. पञ्च-पाप—अपनी सर्व प्रवृत्तियोंको प्राण-पीड़ाकी अपेक्षा मैं पांच कोटियों में विभाजित कर सकता हूँ—हिंसाके द्वारा, असत्यके द्वारा, चोरीके द्वारा, व्यभिचार-सेवनके द्वारा, और संञ्चय या होर्डिंगके द्वारा जिसका नाम परिग्रह भी है। इन्हें आगममें पांच पाप कहकर बताया गया है। प्राणियोंको पीड़ा-कारक होनेसे ये पांचों जातिकी मेरी प्रवृत्तियें पापरूप हैं, इसमें कोई संशय नहीं। अब पृथक-पृथक इन पांचों पापोंका विश्लेषण करता हूँ, तनिक ध्यान देना क्योंकि इस विश्लेषणपर-से यह बात ध्यानमें आये बिना न रहेगी कि अपनी जिन प्रवृत्तियोंको मैं न्याय-संगत माना करता हूँ वे भी अन्यायरूप हैं, पापरूप हैं। मुझे ऐसी सर्व प्रवृत्तियोंसे बचना है, अपने जीवनको संकोचकर केवल निज-शान्तिमें केन्द्रित करना है, भोग-विलासका यह मार्ग नहीं है। बहु-वर्णनीय होनेके कारण हिंसाका कथन बादमें करूंगा, पहले असत्यादि चार पापोंका कथन करता हूँ।

(१) क्रोधवश कहे जानेवाले कटु व तीखे शब्द या गालीके शब्द, द्वेषवश कहे जानेवाले व्यंगात्मक शब्द, लोभवश कहे जानेवाले छल-कपट भरे शब्द, हंसी ठठ्ठेवश कहे जानेवाले कुछ अनिष्टकारी शब्द, मानवश कहे जानेवाले मर्म-च्छेदी शब्द, इस प्रकारके शब्द बोलकर मैं किसीके अन्तःकरणमें दाह उपजाता हूँ। स्पष्ट अनिष्टकारी सफेद झूठ बोलकर, चुगली या निन्दा करके, अनिष्टकारी या खुशामदके शब्द बोलकर, झूठे कागज व दस्तावेज़ आदि बनाकर मैं प्राणियों के मनको ठेस पहुँचाता हूँ। किसीकी धरोहर मेरे पास रखी हो, उसका स्वामी उसे भूल गया हो या पूरी याद न रख पाया हो, और लेने आवे तो कमती माँगता हो, उस समय उसे पूरी याद दिलानेमें चुप खेंचकर, किसीका रहस्य स्वयं उसके द्वारा बताया हुआ अथवा अपने आप ही किन्हीं अन्य साधनोंसे या उसकी मुखाकृति आदि परसे जाना हुआ किसीपर प्रगट करके, इसीप्रकार अन्य भी वचन सम्बन्धित अनेकों विकल्पोंसे मैं किसीके अन्तर्प्राणोंको अर्थात् मानसिक प्राणोंको पीड़ा पहुँचाता हूँ। ऐसी प्रवृत्तिका नाम असत्य प्रवृत्ति है। यहाँ असत्यका अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन वास्तवमें असत्य है। सत्य भी वचन यदि अहितकारी है या कटु है तो वह भी यहाँ असत्यकी कोटिमें समझा जाता है।

(२) विभिन्न जातिके प्राणियोंने अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार पदार्थोंका जो सञ्चय किया हुआ है, वह सब उन उन प्राणियोंका धन है। इस धनको भी जीवका बाह्य-प्राण कहा जाता है क्योंकि इसमें तनिकसी भी बाधा माना यह प्राणी सहन नहीं कर सकता, और कदाचित् इस धनके-लिये अपने उपरोक्त दस

प्राणोंको न गिनते हुए आत्म-हत्या तक कर लेता है। यहां धन शब्दका अर्थ रुपया-पैसा मात्र नहीं है बल्कि जैसाकि ऊपर बताया गया है प्राणियोंका निज-निज-योग्य पदार्थ-सञ्चय है। इस धनका अपहरण करके मैं उन्हें पीड़ा पहुँचाता हूँ। अथवा कुछ देरके-लिये छोड़े गये किसी शून्य-आवास आदिमें ठहरकर अथवा सबका स्वामित्व जहाँ हो ऐसी धर्मशाला आदि स्थानोंमें आवश्यकतासे अधिक स्थान रोककर, या अपने रोके हुए स्थानमें दूसरेको आनेकी आज्ञा न देकर मैं दूसरों के दुःखका कारण बन जाता हूं। अथवा बिना किसीके दिये या देनेकी अन्तरंग भावना किये, किसी अपने परिचित मित्रकी कोई भी वस्तु लेकर अथवा लेनेकी इच्छा करके अथवा यह कहकर कि यह तो मुझे अच्छी लगती है, मैं वास्तवमें उसके हृदयको दुःख पहुँचाता हूँ; क्योंकि लिहाज़के कारण वह यदि बाहरसे इन्कार नहीं करता तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह इस वस्तुका विरह स्वीकार करता है। अथवा बिना दातारके आहार ग्रहण करके, या अयोग्य आहार ग्रहण करके भी मैं किन्हीं प्रेमीजनोंके हृदयको दुःख पहुँचाता हूँ। इतना ही नहीं धर्मके नामपर व्यर्थके वाद-विवाद द्वारा अनेकोंकी श्रद्धाको ठेस पहुँचाता हूँ, उस श्रद्धाको जो कि उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है। इस प्रकारकी मेरी सर्व प्रवृत्तियें दूसरोंके बाह्य या अभ्यन्तर धनका अपहरण करनेके कारण **चोरी** में गर्भित हैं। इनके अतिरिक्त मानसिक प्राणोंका भी अपहरण करता हूँ—स्थूल व प्रसिद्ध चोरी करके, चोरीका माल लेकर, चोरी करने सम्बन्धी उपाय अन्यको बताकर, चोरी करनेके उपयुक्त हथियार बनाकर या दूसरे किसीको देकर, चोरको आश्रय देकर, राज्यनियमके विरुद्ध काम करके, टैक्स व रेल आदिका किराया बचाकर, कमती-बढ़ती बाट, गज़ आदि तोलने तथा मापनेके यन्त्र रखकर, किसी चालाकीसे कम तोलकर या कम मापकर, अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तुयें मिलाकर, होर्डिंग करके अर्थात् 'भाव बढ़ जानेपर बेचूंगा' इस अभिप्रायसे गोदामोंमें माल रोककर, आज्ञासे अधिक सवारी मोटरमें बैठाकर, चोर-बाज़ारमें माल बेचकर, घूस लेकर, तस्करी करके, इत्यादि अनेक ढंगोंसे मैं प्राणियोंको पीड़ा दे रहा हूँ, नित्य चोरी किये जा रहूँ।

(३) साक्षात् स्त्री-संभोगके अतिरिक्त, स्त्री-पुरुष-संयोग सम्बन्धी बातें सुनने व कहनेमें आसक्त होकर, तिर्यञ्चोंका संभोग देखकर, शरीरके विशेष मनोहर अंगोपांगोंकी ओर दृष्टिपात करके, पूर्वमें की गई मैथन-क्रियाओंका स्मरण करके, गरिष्ट व तामसिक भोजन करके, शरीरका ऐसा शृंगार करके जिसे देखकर दूसरेका चित्त विकृत हो जाय, मैं सदा व्यभिचार-सेवन करता हूं। पत्नीके जीवित रहते दूसरा विवाह करके अथवा विवाहित या अविवाहित व्यभिचारी

या सुशील स्त्रियोंके घरपर जाकर या एकान्तमें उनसे वचनालाप करके, या अपने शरीरके अंग-विशेषोंका पुनः पुनः स्पर्श करके, हस्थ-मैथुन करके अथवा अंतरंगमें काम-वासना उत्पन्न करके तथा अन्य भी अनेकों ढंगोंसे मैं व्यभिचार-सेवन किया करता हूं। मेरी इस प्रवृत्तिका नाम अब्रह्म, कुशील-सेवन या व्यभिचार है। इस प्रवृत्तिके द्वारा असंख्यात छोटे-छोटे कीटाणुओंको पीड़ा पहुंचानेके अतिरिक्त मैं उन-उन स्त्रियोंके तथा उनके स्वामियों या माता-पिताओंके हृदयको भी अतीव वेदना पहुंचाता हूं और साथ-साथ अपने मन तथा काय-बलका नाश करता हूं।

(४) आवश्यकतासे अधिक धन-धान्य, कपड़ा-जेवर, बर्तन, खेत तथा जायदाद, पशु, दास-दासी आदि रखकर अथवा उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा करके या अच्छे न लगनेवाले पदार्थोंसे द्वेष करते हुए उन्हें दूर करनेकी इच्छा करके भी मैं अनेकोंको पीड़ा पहुँचा रहा हूं। मेरी इस प्रवृत्तिका नाम है परिग्रह भाव। सविस्तार विवेचन आगे यथास्थान किया जानेवाला है (दे० अधिकार ३०)।

(८) हिंसा—किसीको जानसे मार देना मात्र हिंसा नहीं है। वह तो केवल उसका राजदण्ड्य घोररूप है। हिंसाकी व्यापकतामें तो अनेकों इस प्रकार की प्रवृत्तियें सम्मिलित हैं जो मैं अपने दैनिक जीवनमें नित्य करता रहता हूं और जिन्हें करनेमें राजदण्डका भी कोई भय नहीं होता। यथा—किसी पालतू पशुको खूंटेके साथ इतनी छोटी रस्सीसे बान्धना कि वह ठीकसे हिल-डुल या बैठ-उठ न सके। पक्षियोंको मनोरंजनके-लिये पिञ्जरेमें रखना, निशानी करनेके-लिये पालतू पशुकी पूंछ आदि काट देना, छेद देना, भेद देना अथवा उसकी पीठपर दाग लगा देना, नेत्र आदि उसकी कोई इन्द्रिय फोड़ देना, खस्सी करना, अधिक भार लादना और न चल सके तो निर्दयतासे पीटना; गाय, भैंस दूध न दे तो उनके साथ अमानवीय व्यवहार करना, इञ्जेक्शन लगाकर दूध निकालना, क्रोधवश उसे आहार न देना। इसी प्रकार अपने आश्रित किसी सेवकसे अधिक काम लेना, न करे तो उसका वेतन रोक लेना या काट लेना या कम देना इत्यादि। चींटी, पतंग आदि क्षुद्र जीव तो मेरी असावधानीके कारण मरते या पीड़ित होते ही रहते हैं—चलते समय पांवके नीचे दबकर, वस्तुको उठाते-धरते समय उसके नीचे पिसकर, मल-मूत्र आदिमें दबकर अथवा नालीमें बहकर, रात्रिको भोजन करते समय उस भोजनमें फटाफट पड़कर, दीपककी लौपर जलकर अथवा बिजलीके बल्बके साथ टकराकर, इत्यादि।

इतना ही क्यों, यह तो केवल शरीर द्वारा की गई हिंसाके कुछ स्थूल उदाहरण मात्र हैं। वास्तवमें तो हिंसा होती है मन तथा वचनके द्वारा, जो

प्रतिक्षण बराबर चला करती है, गृहस्थोंमें ही नहीं त्यागियोंमें भी और यह पता नहीं चल पाता कि मैं हिंसा कर रहा हूं। व्यापकतासे देखनेपर असत्य आदि पूर्वोक्त चारों पाप भी वास्तवमें हिंसा ही हैं क्योंकि किसी न किसी प्रकार उनसे प्राणियोंके प्राण पीड़ित होते ही हैं।

इतना ही नहीं हिंसाके विश्वव्यापी विराटरूपमें न जाने क्या-क्या तथा कैसे-कैसे अपराध भरे पड़े हैं, स्थूल तथा सूक्ष्म। उन सबका किंचित् अनुमान करानेके-लिये हिंसक प्रवृत्तियोंके अनेकों भंग करके दर्शाता हूं। ये पांचों ही पाप मैं मनके द्वारा करता हूं अर्थात् मनमें वैसा करनेका विचार करता हूं। वचनके द्वारा करता हूं अर्थात् उनका कथन कर-करके या सुन-सुनके प्रसन्न होता हूं। कायके द्वारा करता हूं जैसाकि अबतक दर्शाया गया है। मन, वचन व कायके द्वारा इन पांचों पापोंको मैं स्वयं तो करता ही हूं, दूसरोंको भी करनेके लिये उकसाता हूं और किसीको करता देखकर मन ही मन प्रसन्न भी होता हूं। इन नौ भंगोंसे उन पांचों पापोंको करनेके-लिये कभी तो प्रयत्न मात्र करके रह जाता हूं, कभी तदर्थ कुछ सामग्री मात्र जुटाकर रह जाता हूं और कभी-कभी साक्षात् रूपसे कर भी गुजरता हूं। इस प्रकार उनके २७ भंग हो जाते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायोंसे पृथक-पृथक प्रेरित होकर करनेके कारण वे ही १०८ बन जाते हैं। इनको पांचों पापोंसे पृथक-पृथक गुणा करने पर हिंसाके ५४० भंग बन जाते हैं। छः कायवाले जीवोंके प्रति लागू होनेसे ये ही ३२४० और प्रायः चार प्रयोजनोंसे प्रवृत्त होनेके कारण १२९६० हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भी असंख्यातों भंग बनाये जा सकते हैं।

नित्य व्यवहारमें आनेके कारण हिंसाके ये चार प्रयोजन यहां विशेषरूपसे वर्णनीय हैं, जिनके कारण हिंसा चार प्रकारकी मानी जाती है—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी तथा विरोधी। निष्प्रयोजन केवल मनोरञ्जनके अभिप्रायसे या कषायवश की जानेवाली हिंसा **संकल्पी** कहलाती है, जैसे मांसके-लिये पशुबध करना, शिकार खेलना, मछली पकड़ना और मनोरंजनके-लिये तीतर आदिको अथवा पशुओंको लड़ाना आदि। व्यापार-धन्धेमें होनेवाली हिंसा **उद्योगी** है, जैसे अन्नके कारोबारमें होनेवाली सुरसी आदिकी हिंसा अथवा किसी बड़े कारखानेमें होनेवाली अनेक प्रकारकी हिंसा। घरके काम-धन्धेमें होने वाली हिंसा **आरम्भी** है, जैसे घरकी लिपाई तथा सफाईमें होनेवाली अथवा खाना बनानेमें होनेवाली हिंसा। अपने तथा कुटुम्बियोंके अथवा देशके जान माल तथा मानकी रक्षाके-लिये की जानेवाली हिंसा **विरोधी** कहलाती है, जैसे चोर-डाकुओंके साथ तथा आततायियोंके साथ युद्ध आदि करना।

वास्तवमें हिंसा या अहिंसाके दो शब्द जो आज प्रायः सुननेमें आ रहे हैं, व्यापक अर्थमें प्रयुक्त किये जाने योग्य हैं। किसी प्राणीको जानसे मार देना तो 'हिंसा' और जानसे न मार देना मात्र 'अहिंसा' ऐसा नहीं है। इनका बड़ा व्यापक अर्थ है। उपरोक्त सर्व १२९६० प्राण-पीड़ाके भंग तथा अन्य भी संभव अनेकों विकल्प, जिनके द्वारा किसी भी प्राणीको शारीरिक, वाचिक व मानसिक पीड़ा तथा बाधा हो, हिंसामें समावेश पा जाते हैं। सूक्ष्मरूपसे देखने पर जो कार्य अहिंसात्मक दिखाई देते हैं उनमें भी किसी न किसी रूपमें हिंसा रहती ही है। दृष्टान्तके रूपमें, मैं प्रयत्न पूर्वक चला जा रहा हूँ और कुछ पक्षी वहाँ बैठे हों जिनको मेरे निकट आ जानेसे कुछ भय प्रतीत हो और वे वहांसे उड़ जायें, तो उस मार्गपर उन कबूतरोंके निकट मेरा जाना हिंसा होगा। चींटी आदिको उनके प्राणोंकी रक्षार्थ मार्गसे हटाकर एक ओर सरका देना भी हिंसा है, क्योंकि ऐसा करनेसे सम्भवतः उनके उस आन्तरिक अभिप्रायको धक्का पहुँचा है, जिसको लिये हुये वह अमुक दिशामें जा रही थी, इत्यादि अनेकों प्रकारसे हिंसाका व्यापक अर्थ है। कहांतक कहा जाय और याद भी कैसे रहेंगे इतने विकल्प अतः एक छोटी सी पहिचान बताता हूँ, यह जाननेकी कि कौन क्रिया हिंसात्मक है और कौन अहिंसात्मक। अपनी प्रत्येक क्रियाको इस कसौटीपर कसकर देखनेके द्वारा बड़ी सरलतासे हिंसा व अहिंसाकी परीक्षा हो जायेगी। दूसरेके द्वारा होनेवाली जो भी क्रिया मुझे अपनेलिये अरुचिकर हो, बस वह क्रिया हिंसात्मक है और जो रुचिकर हो सो अहिंसात्मक। अतः मैं कोई भी ऐसी क्रिया किसी छोटे या बड़े जीवके प्रति न करूं जो स्वयं मुझे अपने प्रति पीड़ाप्रदायक भासती हो।

ऐसी सर्व हिंसात्मक प्रवृत्तियोंका अपने जीवनमें पूर्णतया निरोध करनेका नाम है पूर्ण प्राण-संयम या सकल-प्राण-संयम जो मुनियों तथा साधुओंमें ही सम्भव है। आंशिक रूपसे यथाशक्ति निरोध करनेका नाम है एकदेश-प्राण-संयम। भले ही पूर्णतया मैं इन सब प्रवृत्तियोंसे मुक्त होनेकी वर्तमानमें क्षमता न रखता हूँ, परन्तु शक्ति अनुसार इन सर्व १२९६० विकल्पोंमें-से कुछ भंगोंका पूर्ण त्याग और कुछका एकदेश या अल्प-त्याग करनेको इस अवस्थामें भी अवश्य समर्थ हूँ। इस विषयका विस्तार आगे अहिंसावाले अधिकारमें किया जानेवाला है।

६. <u>संयम का प्रयोजन</u>—आज संयमको अधिकतर लोकेषणाकी पुष्टिकेलिये किया जा रहा है। प्रतिष्ठाके-लिये, ख्याति लाभ पूजाके-लिये इसको धारण करनेवाले आज बड़े वेगसे इस ओर बढ़े चले आ रहे हैं। परन्तु लोककल्याणकी बात तो दूर रहो, क्या उनका अपना कल्याण भी हो रहा है

इससे, यह विचारणीय है ? इस बातकी परीक्षा है शान्ति जो संयमका वास्तविक प्रयोजन है। यदि फलस्वरूप, संमयसे इसी जीवनमें, तत्क्षण, शान्तिका, भूमिकानुसार वेदन न हुआ तो उसका संयम निरर्थक ही रहा, और ऐसे संयमसे इस मार्गमें कोई लाभ नहीं। संयमका अर्थ है विकल्प-दमन, जो साक्षात् शान्ति स्वरूप है, इसलिये संयमकी यथार्थता व अयथार्थताकी परीक्षा होती है अन्तरंगमें विकल्प-दमनसे, न कि बाह्यकी शारीरिक क्रियाओंसे।

जैसा कि साधना अधिकारमें तथा देवपूजा आदि प्रकरणोंमें बराबर यह बताया जाता रहा है कि लौकिक व अलौकिक सर्व प्रयोजनोंमें दो क्रियायें युगपत् चला करती हैं—एक बाह्यमें दीखनेवाली शारीरिक क्रिया तथा दूसरी अन्तरंगमें वेदन की जानेवाली अन्तरंग क्रिया। अन्तरंगमें विकल्पोंके आंशिक अभाव अथवा शान्तिके वेदनसे रहित केवल बाह्यकी शारीरिक क्रिया प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें असफल रहनेके कारण निरर्थक है। अतः यदि कुछ पुरुषार्थ करनेको उद्यत हुआ है तो उसको यथार्थ रीतिसे कर, जिससे कि वह किया हुआ पुरुषार्थ व्यर्थ न जाने पावे।

इन्द्रिय-संयममें इन्द्रिय-विषयोंका आंशिक त्याग और प्राणसंयममें यथाशक्ति अहिंसाका पालन केवल इसी अभिप्रायसे होना चाहिये कि तत्-तत्-विषय सम्बन्धी रागद्वेषात्मक इष्टानिष्ट विकल्पजाल हृदयमें उत्पन्न होकर मुझे व्याकुल न बना दे। इस प्रयोजनके अर्थ ही पद-पदपर इस बातकी सम्भाल रखकर चलना है कि प्रयोजनका अर्थात् शान्तिका किसी अंशमें भी क्या प्रवेश हो पाया है जीवनमें ? वस्तुका त्याग करनेके-लिये त्याग नहीं, बल्कि विकल्पका, इच्छाका, आसक्तिका या उस वस्तु-विशेषके प्रति अन्तरंग झुकावका, उसमें वर्तनेवाली मिठासका या रुचिका त्याग करनेके-लिये त्याग है, और वही है सच्चा संयम। इसका यह भी अर्थ नहीं कि बाह्य वस्तुओंका त्याग निरर्थक है। शान्तिकी रक्षा करनेके-लिये, जैसाकि इन्द्रिय-संयममें बताया जा चुका है, यथाशक्ति बाह्य विषयोंका त्याग कर ही देना चाहिये, भले पहिले-पहिल वह कुछ अखरता हो। इस प्रयोजनकी सिद्धि बिना अभिप्राय बदले नहीं की जा सकती। मन सम्बन्धी संयमके प्रकरणमें भी इसी बातपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-संयम व प्राण-संयम दोनोंमें यह ही प्रमुख है, और गृहस्थकी इस अल्प भूमिकामें रहते हुए इस अभिप्रायका अन्तरंगसे त्याग कर देनेसे तेरे शरीरको, तेरे कुटुम्बको या तेरी सम्पत्तिको कोई भी बाधा होनी सम्भव नहीं है। ऐसा करनेसे तेरे अन्दरमें उत्पन्न होगा एक उत्साह, एक बल, जीवनमें एक मोड़, जो धीरे-धीरे तुझे संयमित बनाता हुआ ले जायेगा विकल्प सागरके उस पार, जहां शान्ति खड़ी तेरी राह देखती है।

१०. विश्व-प्रेम—अन्तरंगमें प्राण-संयमके अर्थ उपरोक्त सच्चा अभिप्राय बनानेके-लिये, मुझे एक विशेष दृष्टि उत्पन्न करनी होगी जिसके द्वारा देखनेपर मेरे हृदयमें एक स्वाभाविक मैत्री-भाव प्रगट हो जाय, विश्वके सर्व छोटे-बड़े प्राणियोंके प्रति जिसमें होगा केवल प्रेम व भ्रातृत्वका भाव, समस्त विश्व होगा एक कुटुम्ब, जिसके द्वारा देखनेपर दिखाई देगा मुझे सर्वत्र अपना रूप, अपना ही निवास, एक अद्वैतपनासा दिखाई देगा जहां।

अहो ! अलौकिक-जनोंकी अलौकिक बातें, भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा उपरोक्त दृष्टिका सुन्दर चित्रण अनेक ज्ञानी-जनोंने किया है। श्रमण सन्तोंका तो कहना ही क्या, इनका जीवन तो सदा ही साम्यता व मैत्रीसे भरपूर रहा है, औपनिषदिक कालके ऋषियोंका हृदय भी इस अलौकिक भावनासे कितना भरपूर था इसका पता ईशोपनिषदके प्रथम मंत्रके अध्ययनसे लग जाता है। कितना सुन्दर है ईषापनिषद्का यह प्रथम वाक्य :—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथ मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥"

अर्थात् "इस जगतीपर जो कुछ भी है वह सब ईश्वरका आवास है। इसलिये यदि जगतके पदार्थोंका उपभोग ही करना है तो त्याग भावसे कर, अधिक लालसा मत कर, यह धन किसका है (किसी का नहीं)।" कितना सुन्दर भाव है कि इस जगतमें सभी पदार्थ ईश्वरीय तत्त्वसे ओत-प्रोत हैं, सभी जीती-जागती ईश्वरकी मूर्ति हैं, सभी अपनेमें पवित्रताको लिये हुए हैं, सभी संरक्षण, सहयोग और मैत्रीके अधिकारी हैं। यदि अहंकार-दृष्टिको छोड़कर सभी प्राणियोंको अपने समान ईश्वरका आवास समझें तो विश्वमें सहज ही सुख शान्तिका राज्य स्थापित हो जाय।

तनिक ध्यान देकर विचार कि तू कौन है, कहांसे आया है, कहां जायेगा, कैसे-कैसे रूप तूने धारण किये और कैसे-कैसे रूप तुझे धारण करने हैं ? आ, अब इधर आ, ज्ञान-शिखरपर बैठ और विश्वको निहार। क्या देखता है ? दूर-दूरतक फैली वृक्षोंकी पंक्तियां, आकाशमें उड़ते परवाने और पक्षी, वनोंमें विचरते सिंह व हाथी और इन बसे हुए ग्रामों तथा नगरोंमें नर-नारी। इनमें कौन बसता है, एक चैतन्य या कुछ और ? इस पत्थरकी शिलामें कौन बसता था पहले, एक चैतन्य या कुछ और ? नये घरमें चले जानेपर आज क्या तू अपने पुराने घरको अपना कहना छोड़ देता है ? इसीप्रकार यह समस्त विश्व एक चैतन्यका निवास-स्थान है, कुछ वर्तमान कालमें और कुछ भूतकालमें। विचार

तो सही कि तू कौन है ? तू भी तो चैतन्य है। उनमें बसते चैतन्यमें और तुझमें क्या अन्तर है ? अतः तू ही तो बसता है या बसता था इन सबमें, और इस प्रकार यह सब तेरा हो तो निवास-स्थान हुआ। बस तू ही तो है वह ईश्वर, वह चैतन्य प्रभु, वह ज्ञान ज्योति, जिसका कि यह समस्त विश्व क्रमशः निवास-स्थान रह चुका है, रह रहा है और आगेको रहेगा। क्या अब भी इस जगतके सर्व पदार्थोंको ईश्वरका निवास कहनेमें कोई शंका है तुझे ? किसीके प्राणोंको बाधा पहुँचाना अपने निवासको बाधा पहुँचाना है, जिसे कोई सहन नहीं कर सकता और इसी अभिप्रायका नाम है प्राण-संयम।

अब इधर आ। देख इस विश्वका दूसरा सुन्दर चित्रण जिसमें विश्वको ईश्वरकी सृष्टि बनाकर दिखाया जा रहा है। ओह ! कितना अच्छा है यह ? इसे देखकर तो मानो मुझे अपना सारा पिछला इतिहास ही याद आ गया। वह दिन जब कि बाह्य जगतके व्याकुलता-उत्पादक वातावरणसे अत्यन्त भयभीत हुआ मैं घुस बैठा था एक ऐसी गुफामें जिसमें प्रकाश आनेके-लिये कोई भी मार्ग नहीं था। था एक अत्यन्त छोटासा छिद्र जिसमेंसे अत्यन्त धीमीसी, एक छोटीसी रेखा बड़ी कठिनाईसे प्रवेश कर रही थी। अर्थात् भयके कारण कछुएकी भाँति ज्ञानके सब द्वार बन्द करके, मात्र एक स्पर्शन इन्द्रियका द्वार खुला रखकर, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति आदि रूपोंका सृजन करता फिरता था मैं, उस व्याकुलतासे बचनेके-लिये तथा शान्ति पानेके-लिये। यहाँ रहते-रहते, भयके कुछ मन्द पड़ जानेपर, इच्छा हुई दूसरा द्वार खोलकर इस जगतकी ओर स्पष्ट देखनेकी, और मैंने सृजन किया लट-केंचुवे आदिक द्वीन्द्रिय शरीरोंका। इसीप्रकार उत्तरोत्तर भयमें धीरे-धीरे कमी होती चली गई, क्रमशः एक-एक द्वार अपनी इच्छाकी पूर्तिकेलिये और खोलता गया और सृजन करता गया त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, मनरहित व मनसहित शरीरोंका। अधिक दिन किसी भी शरीरमें रहना मेरे मनने कभी स्वीकार न किया क्योंकि नवीनता भाती थी इसे और इसलिये नये-नये ढंगके शरीरोंका सृजन करता, उनमें कुछ दिन रहता, तबियत उकता जानेपर या सन्तुष्ट न होनेके कारण एक-एकको छोड़ता, आज इस मनुष्यके आकारवाले शरीरमें बैठा, अपने ज्ञानके सर्व द्वारोंसे इस विश्वको देख रहा हूँ। कुछ भी तो ऐसा दिखाई नहीं देता, जो या जैसा मैंने सृजन न किया हो कभी। यहां कुछ सृष्टि तो है ऐसी जिसका कि मैंने सृजन किया था पहले पर आज जिसे छोड़कर चला आया हूँ मैं, और वह कहलाने लगी है जड़। कुछ ऐसी है जिसमें मेरी जातिके मेरे ही सगे भाई, चैतन्य प्रभु बैठे इस जगतकी रचनाको आश्चर्य सहित देख रहे हैं और

अनेकों कल्पनायें इसके सम्बन्धमें बना रहे हैं। मैं ही तो हूं जगतका रचयिता वह ईश्वर ? कौन पदार्थ ऐसा है जिसे मैंने नहीं बनाया ? यहाँ दीखनेवाला पत्थरका खम्भा मेरे द्वारा उस समय बनाया गया था जब मैं पृथ्वीरूप शरीरमें बैठा था। इस चौकीमें प्रयुक्त लकड़ीका सृजन मैंने वनस्पतिका शरीर धारण करके किया था। ये सब मेरे मृत शरीर ही तो हैं। कितनी बड़ी महिमा है मेरी कि जिसे आजतक आंखें बन्द किये रहनेके कारण स्वयं मैं जान न पाया। किसी भी प्राणीका नाश करना अपनी ही सृष्टिका नाश करना है, इसी अभिप्रायको तो कहते हैं प्राण-संयम।

और भी देख यह तीसरा चित्रण जिसमें सारा जगत एक ब्रह्म दिखाई देता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं ? वाह-वाह कितना सुन्दर ! सो तो मैं ही हूं। जितने भी विभिन्न जातिके शरीर हैं वे सब मेरे द्वारा सृजन किये जानेके कारण तथा मेरे निवास-स्थान रहनेके कारण मेरे ही तो हैं, वे सब मैं ही तो हूं, भूतरूपसे या वर्तमान-रूपसे, इन सबमें वही तो भावनायें उठ रही हैं जो मुझमें, इन सबकी वही तो इच्छायें हैं जो मेरी, ये सब उसीके-लिये तो उद्यम कर रहे हैं जिसके-लिये कि मैं ? छोटा हो कि बड़ा, कीड़ा हो कि हाथी, वनस्पति हो कि मनुष्य, सबमें शान्तिकी इच्छा, आहार मैथुन व परिग्रहकी आकांक्षा, भय खाकर रक्षा करनेकी भावना, क्या एकसी नहीं है ? फिर इनमें और मुझमें क्या अन्तर है ? यह सब मानो मेरे अन्तष्करणका ही तो प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्बित हो रहा हूं मैं ही तो इन सबमें, इसके अतिरिक्त और दीखता भी क्या है यहां ? जिसे अपनी या अपनी भावनाओंकी खबर नहीं, ऐसे विकारी दृष्टि-वालेको ही सम्भवतः इन सबमें और अपनेमें कुछ अन्तर दिखाई दे, अतः वह भेदभाव, वह द्वैतभाव भ्रम है। और ये जड़ पदार्थ ? ये भी तो मेरे ही शरीर होनेके कारण, मैं ही हूं। कौनसा पदार्थ ऐसा है जो मुझे इस समय 'मैं' रूप दिखाई नहीं देता ? मनुष्य भी 'मैं' रूप, पशु-पक्षी भी 'मैं' रूप, पृथ्वी आदि भी 'मैं' रूप। मेरा ही नाम तो है ब्रह्म', क्योंकि मैं आत्मा हूं, पूर्ण चैतन्य प्रभु हूं। सर्वत्र मैं ही मैं, आत्मा ही आत्मा, ब्रह्म ही ब्रह्म, और कुछ नहीं। अहा हा ! कितना सुन्दर है रूप मेरा, सब मैं ही मैं और कुछ नहीं, 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। सर्व खल्विदं ब्रह्म।' तत्त्वमसि एक ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं। यह ब्रह्म निश्चयसे एक ही है, और वह तू ही तो है। कितनी सुन्दर बात है, साम्यताका उच्चतम आदर्श। किसी भी प्राणीको पीड़ा देना ब्रह्मको पीड़ा देना है। यही अभिप्राय तो है प्राण-संयम।

और भी देखो यह चौथा चित्रण, जिसमें सर्व विश्व एक कुटुम्ब दर्शाया गया है। मैं चैतन्य तथा यत्र-तत्र जहाँ देखूं चैतन्य, जिसे देखूं चैतन्य, मेरी जातिका,

मेरी बिरादरीका, मेरी समाजका ही कोई भाई चैतन्य। ज्ञानके नाते, स्वरूपके नाते, इच्छाओंके नाते, सब है मेरे ही सहोदर भाई, सब एक चैतन्यकी सन्तान अर्थात् एक चैतन्य-भावके चित्र-विचित्र रूप। और ये सब जड़? उस ही चैतन्य के शरीर, उस ही के निवास। छोटे-बड़े रूपमें सब चैतन्य मेरे भाई ही तो हैं, मेरे जैसे ही तो हैं? अतः यह सर्व विश्व है एक कुटुम्ब, सबकी प्रसन्नता है मेरी प्रसन्नता, और सबकी पीड़ा है मेरी पीड़ा। यही अभिप्राय तो है प्राण-संयम।

११. तात्त्विक समन्वय—इन उपरोक्त चारों चित्रणोंका सैद्धान्तिक अर्थ भी यहां बता देना योग्य है। जीव, अजीव, आस्रव व बन्ध तत्त्वोंका निरूपण किया जा चुका है, जिसमें बताया गया था कि जीव तत्त्व अर्थात् यह चैतन्य अपनेसे पर-तत्त्वरूप शरीरमें अथवा उसके नाम-रूपोंमें ममत्वबुद्धि करके बराबर अन्तरंगमें संस्कारोंका तथा बाहरमें कर्मरूप जड़ पदार्थका बन्ध करता रहता है, जिसके फलस्वरूप बराबर नये-नये शरीरोंका या नाम-रूपोंका स्वतः निर्माण होता रहता है। जैसे कर्म करता है वैसे ही शरीरका निर्माण हो जाता है। इसलिये यदि इस चैतन्यको शरीरका निर्माता या स्रष्टा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इस प्रकारके एक दो नहीं अनन्तों शरीर या रूप अनादिकालसे आजतक यह बना चुका है। वास्तवमें लोकमें दिखाई देनेवाला कोई रूप या शरीर ऐसा नहीं जो इसने अनन्तों बार बना-बनाकर छोड़ न दिया हो। अतः यदि किसी एक चैतन्य के पूर्वके सर्व जीवनोंको दृष्टिमें लूं तो ऐसा दिखाई देने लगता है कि सारे ही दृष्टरूपोंका स्रष्टा यह रह चुका है, और आज भी जो कुछ यह पसारा दिखाई दे रहा है वह सब इस चैतन्य-तत्त्व द्वारा ही सृजन किया जा रहा है। जीवात्माओंके रूपमें यह चैतन्य एक नहीं अनन्तों हैं, अतः प्रति समय होनेवाली उन सबकी सम्मिलित यह सृष्टि भी अनन्त है। यदि एक चैतन्य-जातीयता रूपसे देखा जाय तो वे अनन्त जीवात्मायें एक चैतन्य नामसे ही पुकारे जानेके कारण एक हैं। यह परम चैतन्य ही वह 'ईश्वर', 'ब्रह्म' या 'पुरुष' है और कर्म व कर्मफलरूप विस्तार 'प्रकृति' है। इसप्रकार पुरुष व प्रकृति मिलकर विश्वके स्रष्टा हैं। इन सब ही दृष्ट-रूपोंमें यह चैतन्य तत्त्वरूप ईश्वर बसता है या पूर्व भवोंमें बसता था। इसप्रकार ये सब ही ईश्वरके निवास-स्थान हैं। इसे ही विशाल दृष्टिसे देखनेपर यदि भूत और वर्तमानका विकल्प हटा दिया जाय तो सर्वत्र एक ईश्वर, एक ब्रह्म, एक पुरुष, एक चैतन्य-तत्त्व तथा उसके ही चित्र विचित्र रूपोंके अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। इसप्रकार सर्वत्र एक अखण्ड ब्रह्म-तत्त्वके दर्शन होते हैं। अनन्त चेतनोंकी एक जातीयताके कारण ही इसे एक जीव-तत्त्वकी संतति कहा जाता है। इसप्रकार यह सर्वविश्व एक चैतन्यका

कुटुम्ब बताया गया है। आध्यात्मिक अर्थमें विशालता होती है, अतः विशाल दृष्टिसे देखनेपर ही उस अर्थकी सुन्दरताका भान होता है, अन्यथा नहीं।

इन चारों विख्यात दृष्टियोंमें कहां है वैमनस्यको स्थान, कहां है द्वेषको स्थान, कहां है घृणाको स्थान, कहां है कटुताको स्थान ? जहां सर्वत्र मेरा ही निवास है, वहां प्रेमके अतिरिक्त और किसी बातको अवकाश कहां ? सर्व-सत्त्वमें मैत्री, सर्व प्राणियोंमें प्रेम, सर्वमें साम्यता, जहाँ छोटा बड़ा कोई नहीं, कीटाणु व मनुष्यमें भेद नहीं। यही तो है वह महान अन्तरंग-अभिप्राय जो प्राण-संयमका मूल है; यह दृष्टि अहिंसाका आदर्श है; 'अहिंसा परमो धर्मः', साम्यता, वीतरागता, प्रेम, शान्ति व सर्वस्व है।

इस विश्व-प्रेमके भावमें-से स्वतः ही निकल आयेगा, वह भाव जिसकी आज राष्ट्रीय दृष्टिसे इस विश्वको बड़ी आवश्यकता है, जो अहिंसा या प्राण-संयमका एक महत्वपूर्ण अंग है, विशेषतः मानव-समाजमें, और वह है अपरिग्रहता, जिसका कुछ संकेत हिंसाके अनेकों अंगोंवाले प्रकरणमें आ चुका है। इस भावका विस्तार करनेकी आज बड़ी आवश्यकता है, जो आगे अधिकार ३० में किया जानेवाला है।

२४

अहिंसा



१. कर्त्तव्य-विवेक—शान्तिके बाधक विकल्पोंसे बचनेके-लिये प्राण-संयमकी बात चलती है अर्थात् दूसरे प्राणियोंके प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है और मैं किस रूपमें कर्त्तव्य-विहीन बना इस लोकमें विचरण कर रहा हूँ, दूसरोंकी शान्तिकी अवहेलना करता स्वयं अशान्त बना हुआ हूँ। मेरी किसी भी प्रवृत्तिके द्वारा किसी भी बड़े या छोटे प्राणीको बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये, ऐसी सावधानी रखना मेरा कर्त्तव्य है। इसीका नाम है प्राण-संयम। परन्तु कुछ प्रमादवश, कुछ मनोरंजनवश और कुछ परिस्थितिवश मैंने इस कर्त्तव्यकी परवाह नहीं की और सदा निरर्गल चलते हुए मुझको केवल एक ही बातकी चिन्ता रही कि जिसकिस प्रकार भी पाचों इन्द्रियोंके विषयोंकी पूर्ति द्वारा मेरा भोगविलास अक्षुण्ण बना रहे, चाहे अन्य जीव या मेरे पड़ोसी मरें या जीयें, रोयें या हंसें। सम्भल भगवन् सम्भल, तेरे जीवनका कोई लक्ष्य है उसे समझ।

दर्शन-खण्डमें चारित्रके अन्तर्गत मनकी चञ्चलताका दिग्दर्शन करनेके-लिये पहियोंपर दौड़नेवाले मानवके अविश्रान्त जीवनका चित्रण किया गया है। सोच तो सही कि क्या यही है मानव जीवनका सार, क्या यही है तेरा भोग और विलास? जो पुरुषार्थ तू सुखके-लिये कर रहा है, उससे उल्टा दुःखी ही हो रहा है, अधिकाधिक जालमें फंसता जा रहा है। अन्य जीवोंके सम्बन्धमें अपना कर्त्तव्य विचारनेकी तो बात नहीं, तुझे तो अपने कुटुम्बके प्रति भी अपना कर्त्तव्य सम्भवतः याद नहीं रहा। चिन्ता-सागरमें डूबा तू चला जा रहा है किस ओर, तुझे स्वयं खबर नहीं। सम्भल, सम्भल, तुझे गुरुदेव प्रकाश दे रहे हैं, आंख खोलकर देख। कर्त्तव्य-हीन बनकर तो देख लिया, निकली चिन्तायें व व्यग्रतायें, अब कुछ समयको कर्त्तव्यपरायण भी बनकर देख। यदि अच्छा लगे तो करना नहीं तो छोड़ देना। जबरी नहीं है, करुणापूर्ण प्रेरणा है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार व परिग्रहके १२६६० कुल भंगोंके द्वारा जीवोंके प्राणोंको रोंदता मैं चला जा रहा हूं किस ओर, मुझे स्वयं खबर नहीं। अव्वल तो उनकी पीड़ा मेरे उपयोगमें ही नहीं आती और आवे भी तो इतना कहकर संतोष पा लेता हूं कि १. क्यों आये ये प्राणी मेरे मार्गमें ? या यह कह कर अपनी निरर्गलताका पोषण कर लेता हूं कि २. यदि सर्व ही जगत संयमी बन जाय तो जगत् का व्यवहार कैसे चले, जगतका व्यवहार चलाना भी तो किसीका कर्त्तव्य है हो, बस वह कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूं। या यह कहकर सन्तोष कर लेता हूं कि ३. मैं तो गृहस्थ हूं, इस सबके बिना मेरा काम नहीं चलेगा। या यह कहकर अपना स्वार्थ पुष्ट कर लेता हूं कि ४. यह सर्व सृष्टि मेरे भोगके-लिये ही तो बनी है। इत्यादि अनेकों घातक अभिप्राय हैं जिनके कारण साक्षात् मेरा अहित हो रहा है और अशान्तिके सागर में डूबा जा रहा हूं मैं बेखबर।

(१) भगवन् ! छोड़ दे इन निर्विवेक विकल्पोंको एक क्षणके-लिये, किसी दूसरेके-लिये नहीं अपनी शान्तिकी प्राप्तिके-लिये। अन्य जीवोंमें और तुझमें बड़ा अन्तर है। अन्य क्षुद्र जीवोंमें तो ज्ञान नहीं इसीलिए बेचारे आ जाते हैं मार्गमें, भूख जो सताती है उन्हें ? आहारकी खोजमें निकल आते हैं इस ओर बेचारे, अन्धेकी भांति। यदि बैठे रहते अपने निश्चित स्थानपर तो तू ही बता कौन देता खाना उन्हें ? जिसप्रकार तुझे खानेकी चिन्ता है इसीप्रकार उन्हें भी तो अपने उदर-पोषणकी चिन्ता है। वे भी तो तेरे समान ही प्राणी हैं। पर तुझे तो ज्ञान मिला है, बुद्धि मिली है, साधन मिले हैं, उनको तो ये नहीं मिले हैं। अन्धा मार्गपर चला जाता है और तू भी उसी मार्गपर चला जाता है, तो बता बचना किसका कर्त्तव्य है, अन्धेका या तेरा ? उस बेचारेके नेत्र ही नहीं, बचेगा कैसे ? बचना तो तेरा ही कर्त्तव्य है, आंखवाला, ज्ञानवाला जो ठहरा तू। तुझे ज्ञान, बुद्धि व साधन इसीलिये तो मिले हैं कि तू अपनी रक्षा करे और दूसरोंकी भी। इन ज्ञानादिका मिलना तभी तो सार्थक है जबकि उनका उपयुक्त प्रयोग हो, अन्यथा तुझे कौन कहेगा ज्ञानी तथा इस ज्ञानसे तेरा हित भी क्या होगा ?

(२) कितना अच्छा हो कि सकल जगतके संयमी बननेका तेरा विकल्प पूरा हो जाय। यद्यपि यह बात असम्भव है क्योंकि वर्तमानमें जीवनके-लिये अत्यन्त उत्तम समझा जानेवाला ऐञ्जिनियरिंग-लाइनका ग्रहण, सर्व सम्मत व आकर्षित होते हुए भी, क्या यह सम्भव है कि सब ही ऐञ्जीनियर बन जायें ? परन्तु यदि झूठी कल्पना इस प्रकारकी बनाकर यह फ़र्ज भी कर लिया जाय कि सर्व जगत संयमी बन गया, तो इससे अच्छी बात क्या है ? जगतका व्यवहार

चलता रहे, इस बातकी आवश्यकता ही क्या है तथा तुझे इस जगत-व्यवहार को चलानेका ठेकेदार बनाया किसने ? सर्व जगत संयमी हो जाय तो न हों इच्छायें, न हो चिन्तायें, न हो दौड़-धूप, न हो द्वेष, न हो घृणा, न हो युद्ध, न हो एटमबम किन्तु हो केवल शान्तिका प्रसार इस धरातलपर, मानो यही मोक्ष-स्थान है, बैकुण्ठ है। इससे उत्तम बात क्या हो सकती है ? क्या उपरोक्त इन चिन्ताओं आदिका अभाव भी नहीं भाता तुझे ? तेरे इस झूठे विलासने तेरी बुद्धिको ढक दिया है। भो चेतन ! विचार तो सही, तू स्वयं निश्चिन्त होना चाहता है और जगतका निश्चिन्त होना तुझे भाता नहीं। कैसे पायेगा निश्चिन्तता तू स्वयं ?

(३) ठीक है तू गृहस्थ है, पूर्णतया इन सर्व १२९६० विकल्पोंका त्याग करके तू वर्तमानमें न चल सकेगा, क्योंकि इतनी शक्ति ही नहीं है तुझमें, परन्तु सुनकर ही घबरा जाना पुरुषार्थीका काम नहीं, यह कायरता है। तू वीर गुरुओं की सन्तान है जिन्होंने उस शत्रुको परास्त किया जिससे कि बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट भी हार मान गये, जिन्होंने अन्तर्विकल्पोंका नाश किया और अत्यन्त निर्मल शान्तिमें स्थिरता प्राप्त की। तुझे शक्तिसे अधिक करनेके-लिए नहीं कहा जा रहा है, जितना कहेंगे उतनी शक्ति अब भी तेरे अन्दर अवश्य है। प्राणोंके बाधाकारक उपरोक्त १२९६० विकल्पोंको पूर्णतया भले त्याग न सके परन्तु इनमेंसे कुछ विकल्पोंको त्यागनेमें तू अब भी समर्थ है।

आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी हिंसामें लागू होनेवाले जो विकल्प हैं उनको अवश्य तू वर्तमान परिस्थितिमें निज-शरीर कुटुम्ब और सम्पत्ति आदिके मोहवश तथा शक्तिकी हीनतावश नहीं त्याग सकता, परन्तु निष्प्रयोजन तथा केवल मनोरंजनके अर्थ होनेवाली संकल्पी हिंसाके भंगोंको तू अवश्य त्याग सकता है, अर्थात् शिकार खेलना अथवा हिंसक जन्तु कुत्ता आदि पालना, इनके त्याग द्वारा परोक्ष (इण्डायरेक्ट) रूपमें तू अनेकों मूक पशुओं तथा पक्षियोंके प्राणोंको पीड़ा पहुँचानेसे अपनेको रोक सकता है। क्या ऐसा करनेसे तेरे शरीरको या गृहस्थीको कोई भी बाधा होनी सम्भव है ?

२. यत्नाचारी अहिंसा—शान्तिका खोजी बनकर निकला है तो दूसरोंके सुख व शान्तिकी चिताओंपर अपनी शान्तिका प्रासाद बनानेका प्रयत्न मत कर। कितने दिन टिका रहेगा वह प्रासाद ? इस प्रासादमें तू निर्भय न रह सकेगा। अतः उन सर्व १२९६० विकल्पोंमें-से संकल्प द्वारा बिना प्रयोजनवाले पूर्वोक्त १२४ विकल्पोंका त्याग कर ही देना चाहिये। शेष रही उद्योगी आरम्भी व विरोधी हिंसा, सो उनमें भी तुझे निरर्गलताका त्याग करके

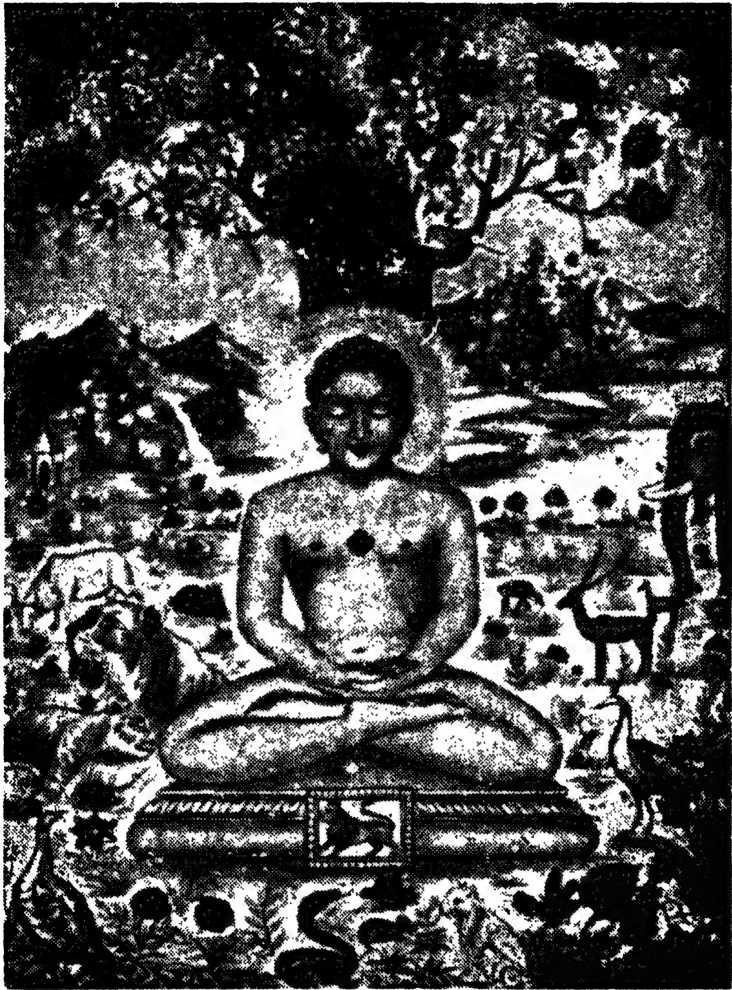
अपनेको संयमी बनाना चाहिये। उद्योगादिककी आवश्यक क्रियाओंमें होनेवाली हिंसासे गृहस्थमें रहते हुए तू सर्वतः नहीं बच सकता, परन्तु उन क्रियाओंमें भी यत्नाचार व विवेक रखकर तू बहुत अधिक हिंसासे बच सकता है। अन्नादि का शोधन करके उनमेंसे निकली जीव-राशिको यदि मार्गमें न डालकर किसी कोनेमें डाले तो तूने उनकी शान्तिका सत्कार अवश्य किया, और इतने अंशमें तू संयमी अवश्य हुआ। जलादिसे वनस्पति पर्यन्त जीवोंकी पूर्ण रक्षा तू भले न कर सके, परन्तु केवल आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करनेसे क्या प्रमादवश होनेवाले उनके अनावश्यक व्ययसे भी तू नहीं बच सकता? जितने कमसे कम पानीमें काम चले उससे चला, नलको खाली खुला न छोड़। रोज़की आवश्यकताके अनुसार ही वनस्पति घरमें ला, फ़ालतू नहीं। बढ़ियों वनस्पति न सुखा। पंखेको फ़ालतू चलता हुआ न छोड़। अग्निको या बल्बको आवश्यकतानुसार ही जला फ़ालतू नहीं। यदि ऐसा यत्नाचार वर्ते तो काफ़ी अंशमें तू इन क्षुद्र व जंगम जीवोंकी हिंसासे बच सकता है। यह तो बाह्य-स्थूल-कायिक हिंसासे बचनेकी बात है, इससे भी ऊपर बात है उस अहिंसाकी जो असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन चारों पापोंका यथाशक्ति त्याग करनेसे प्राप्त होती है, और उससे तेरी गृहस्थी बिगड़नेकी बजाय कुछ अच्छी ही बनेगी। तू ही बता कि यदि व्यंगात्मक या मर्मच्छेदी वचनोंके द्वारा तू किसीका हृदय छलनी न करे तो क्या हानि है तेरी? लाभ ही लाभ है। सबके साथ सहज मैत्री व प्रेम प्राप्त हो जाता है। इसीप्रकार मनसे किसीका अनिष्ट चिन्तवन न करे तो क्या हानि है तेरी? इन सूक्ष्म हिंसाओंकी उपेक्षा करके इस महासंयमको केवल कायिक हिंसाके-निरोध तक सीमित रखना इसके अर्थकी हिंसा है।

३. विरोधी हिंसामें अहिंसा—प्राण-संयमकी बात चलती है, उसके अन्तर्गत संकल्पी-हिंसाका पूर्ण त्याग और उद्योगी व आरम्भी-हिंसामें भरसक यत्नाचार रखनेके-लिये कल बताया जा चुका है। अब चलती है **विरोधी-हिंसा** की बात। गृहस्थमें रहते हुए अपनी, कुटुम्बकी, व अपनी सम्पत्तिकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। घरमें कोई चोर या डाकू मेरी सम्पत्तिका अपहरण करनेके-लिये घुस आवे तो मेरा कर्त्तव्य वहांसे भाग जाना, या चुपकेसे जो मांगे दे देना नहीं है, ऐसा करना कायरता है। इसके अतिरिक्त मेरे देशपर, उसपर जिसका सीना चीरकर उत्पन्न की गई सम्पत्तिका सुखपूर्वक मैं उपभोग कर रहा हूं, यदि कोई आक्रमण करनेको उद्यत हुआ हो तो यह समझकर कि इस विरोधीका मुक़ाबला करनेमें अनेकोंका लहू बह जायेगा, मैं हिंसक बन जाऊंगा, मुंह छिपा लेना कायरता है।

अहिंसा या प्राणसंयम कायरता का नाम नहीं, अहिंसा वीरोंका भूषण है, क्षत्रियोंका धर्म है, अतुल बलधारी ही इसका पालन कर सकते हैं। यह अहिंसाकी प्रतिष्ठाका ही कोई अचिन्त्य प्रताप है कि सिंह-गाय, बिल्ली-चूहा, सर्प-नेवला आदि जैसे विरोधी जीव भी परस्परका वैर भूलकर बैठ जाते हैं वीतरागी जनोंके चरणोंमें शान्तचित्त (दे० सामनेवाला चित्र)। अहिंसासे ठीक-ठीक परिचित न होनेके कारण ही आजका विश्व अहिंसाको कायरताका प्रतीक कह रहा है, इसीको भारत-देशके ह्रासका कारण कह रहा है। परन्तु क्या उसे अब भी विश्वास नहीं हुआ अहिंसाके पराक्रमपर, जबकि एक इसी हथियारके द्वारा मुक़ाबला किया गया तोपोंका, टैंकोंका, बमोंका, तथा आधुनिक बड़े-बड़े हथियारोंका, और जीत हुई इसीके पक्षकी अर्थात् भारत स्वतन्त्र हो गया, बिना रक्तकी एक बूंद गिराये। सम्भवतः विश्वास नहीं फिर भी इसके महान पराक्रमपर।

तो देख और अनेक ढंगोंसे दिखाता हूं अहिंसाका पराक्रम। गृहस्थीपर या देशपर उपरोक्त अवसर आ पड़नेपर एक गृहस्थ अहिंसकका कर्त्तव्य है कि अपनी व अन्यकी तथा देशकी रक्षा करनेके-लिये बाजी लगा दे अपनी जानकी, भले शत्रु प्रबल हो पर भिड़ जावे उससे। अहिंसकको अपमानके जीवनकी अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय है, मृत्यु उसके-लिये बच्चोंका खेल है, जैसेकि एक खिलौना लिया और टूट जानेपर दूसरा ले लिया। किस काम आयेगा फिर यह चमड़ेका शरीर, यदि आज मेरे सम्मानकी रक्षामें इससे कोई सहायता न मिले। इतने दिनोंसे बराबर इसे पोषता चला आया हूं, आज अवसर आया है इसकी परीक्षाका, मेरी सेवा का मूल्य चुकानेका। और यदि आज इसने कृतघ्नता दिखाने का प्रयत्न किया तो फिर यह मेरा कैसा? मित्रसे उसी समयतक प्रेम होता है जबतक कि उसकी कृतघ्नता प्रगट नहीं हो जाती। या तो आज इसे सहर्ष अपना कर्त्तव्य निभाकर अपनी कृतज्ञता प्रगट करनी होगी, या मेरेद्वारा इसे दण्ड भोगना होगा। दोनों दशाओंमें इसे क्षति ही उठानी होगी, दोनों दशाओंमें इसे मृत्युका आलिंगन करना होगा, परन्तु एक दशामें होगी वीरोंकी मृत्यु और दूसरी दशामें कुत्तोंकी मृत्यु। बता कौनसी मृत्यु स्वीकार है तुझे? सोचनेका अवकाश नहीं, शत्रु सामने खड़ा है।

ये होती हैं कुछ विचार धारायें, जो एक सच्चे अहिंसकके हृदयमें ऐसे अवसरोंपर उत्पन्न हुआ करती हैं। क्योंकि इस बातका दृढ़ विश्वास होता है उसे प्रत्यक्षवत्, कि वह अबाध्य व अघात्य चिदानन्द भगवान् आत्मा है, और शरीर उसका सेवक उसकी शान्तिकी रक्षा करनेके-लिये, इसलिये वह बिल्कुल



अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

निर्भय होता है। शरीर चला जायेगा तो और मिल जायेगा, पर सम्मान चला जायेगा, धर्म चला जायेगा, साहस चला जायेगा, तो फिर न मिलेंगे, मेरे अन्तरंगकी सर्व सम्पत्ति ही लुट जायेगी। नहीं-नहीं, यह सब कुछ उसे असह्य है। जो अहिंसक अन्य अवसरोंपर चींटीपर भी दया करता है, ऐसे अवसरोंपर अत्यन्त निर्दय हो जाता है।

बात कुछ अटपटीसी लग रही होगी। अहिंसा और रक्त-प्रवाह, दो विरोधी बातें कैसी, परन्तु यह प्रश्न तब ही तक तेरे हृदयमें स्थान पा रहा है जबतक कि अहिंसाका यथार्थ रूप जान नहीं पाता। क्रियाओंमें अवश्य विरोध दीख रहा है पर अभिप्रायमें विरोध नहीं है। हिंसक भी शत्रुसे युद्ध करता है और अहिंसक भी, दोनोंके द्वारा ही युद्धमें मनुष्य-संहार होता है, परन्तु फिर भी हिंसक निर्दय और अहिंसक दयालू ही बना रहता है। इसकी परीक्षा बाह्यकी क्रियापर-से नहीं हो सकती, अन्दरका अभिप्राय पढ़ना होगा। दोनोंके अन्तरंग अभिप्रायमें महान अन्तर है। हिंसकके अन्दर है आक्रमण और अहिंसकके अन्दर है केवल रक्षा, हिंसकके हृदयमें है द्वेष और अहिंसकके हृदयमें है क्षमा (देखो ३१.२)। हिंसकको होता है इस नर-संहारको देखकर हर्ष और अहिंसकको होता है पश्चाताप। इसलिये हिंसक न्याय-अन्यायके विवेकसे शून्य होकर प्रहार करता है हथियार-रहितपर भी, सोते हुए पर भी, स्त्री बूढ़े व बच्चेपर भी, घायल व अपाहिजपर भी। दूसरी ओर अहिंसकका हृदय ऐसे विचार मात्रसे भी कांपता है, किसी मूल्यपर भी यह विवेक बेचनेको वह तैयार नहीं। उसे अपनी हारकी चिन्ता नहीं, उसे अपनी मृत्युकी चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल न्याय व कर्त्तव्यकी और इसलिये कभी प्रहार नहीं करता छिपकर या हथियार-रहितपर या सोतेपर, या पीठ दिखाकर भागतेपर, या बच्चे व बूढ़ेपर, या घायल और अपाहिजपर। हिंसक करता है अपनी ओरसे पहल दूसरेके घरपर जाकर और अहिंसक करता है सामना अपने घरपर आये हुए का। हिंसक घायल व अपाहिज शत्रुओंपर करता है अट्टहास, और अहिंसक करता है उनसे मित्रवत् प्रेम, शान्त-सम्भाषणके द्वारा प्रयत्न करता है वह उन्हें सान्त्वना देनेका। युद्धके पश्चात् अहिंसक स्वयं करता है घायलोंकी सेवा, और हिंसक मारता है उनको ठोकरें। हिंसकके हृदयमें है बदलेकी भावना और अहिंसकके हृदयमें है क्षमा। यह है दोनोंकी क्रियाओंमें अन्तर, जो अन्तरंग अभिप्राय-विशेषवश ही होना सम्भव है। अभिप्रायमें इस अन्तरके कारण ही एक है हिंसक और दूसरा है अहिंसक।

इस अभिप्राय-पूर्वक बाहरमें विरोधी-हिंसा करनेवाला गृहस्थ वास्तवमें अन्तरंगसे हिंसा करता ही नहीं, और इसलिये उसके प्राण-संयममें बाधा आती

नहीं। अतः विरोधी-हिंसाको यदि आवश्यक समझता है अपनेलिये इस परिस्थितिमें, तो भी अभिप्रायमें तो कुछ परिवर्तन कर ही सकता है। उससे तो कोई बाधा नहीं आती तेरी गृहस्थीको या तेरे शरीरको ?

४. शत्रु कौन—शान्ति-प्राप्तिके उपायमें प्राण-संयम अर्थात् अहिंसाकी बात चलती है। अहिंसाका व्यापक रूप दर्शा दिया गया—अपनी रक्षार्थ विरोधी हिंसा यथायोग्य रूपमें करना एक वीर अहिंसक गृहस्थका कर्त्तव्य बता दिया गया, परन्तु इस विरोधका पात्र कौन है, यह बात भी यहाँ जाननी आवश्यक है। क्योंकि यह जाने बिना तथा विवेक किये बिना तो मैं जिस-किसीको भी विरोधीकी कोटिमें गिनने लगूंगा। जहां तनिक भी किसी मनुष्य, तिर्यञ्च, कीड़े, मकोड़े आदिके द्वारा मेरी रुचिके विरुद्ध कोई कार्य हुआ कि मैं समझ बैठा उसे विरोधी, और दौड़ पड़ा उसका नाश करनेके-लिये। यह तो संयम नहीं कहलायेगा। ऐसा तो सर्व लौकिक-जन ही करते हैं, फिर तुझमें व उनमें, एक संयमीमें और एक असंयमीमें अन्तर ही क्या रह जायेगा ? ऐसा करना ठीक नहीं, जिस-किसीको अपना शत्रु मान लेना योग्य नहीं। तेरी इष्टता व अनिष्टता मित्र व शत्रुकी पहिचान नहीं। बुद्धि रखनेवाले मानव ! कुछ विवेक उत्पन्न कर।

शत्रु व मित्रकी पहिचानका आधार तेरी रुचि नहीं बल्कि उन-उन जीवोंमें वर्तनेवाला कोई अभिप्राय-विशेष है। पुत्रकी या मुनीमकी किसी ग़लतीके कारण व्यापारमें हानि हो जानेपर भी आप उन्हें अपना शत्रु नहीं मान लेते, परन्तु मुनीमकी बेईमानीके कारण व्यापारमें हानि पड़ जानेपर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। डाक्टरके द्वारा किसी औषधिमें या आपरेशनसे आपके पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर आप उसे शत्रु नहीं मानते परन्तु किसी विद्वेषीके द्वारा विषसे या हथियारसे आपके पुत्रकी मृत्यु हो जानेपर अवश्य उसे शत्रु समझते हो, इत्यादि। इन दृष्टान्तोंपरसे मित्र व शत्रुका लक्षण बना लेना यहाँ उपयुक्त है। "मित्र उसे कहते हैं जिसके अभिप्रायमें मेरा हित हो, प्रेम हो; और शत्रु उसे कहते हैं जिसके अभिप्रायमें मेरा अहित हो, द्वेष हो।" मित्र व शत्रुके अतिरिक्त एक तीसरी कोटि भी जीवोंकी है और वह है उनकी जिन्हें कि मुझसे प्रेम है न द्वेष, जैसेकि सर्व नगरवासी। शत्रुके उपरोक्त लक्षणोंको कुछ और विशेषतासे, कुछ और सूक्ष्मतासे विचार करनेपर हर वह प्राणी जिसके हृदयमें मेरे प्रति अहितकी भावना हो, मेरा शत्रु नहीं हो सकता। क्या विरोधी हिंसाके अन्तर्गत शत्रुसे युद्ध करता वह आदर्श अहिंसक उस विरोधीका शत्रु कहा जा सकता है ? नहीं, क्योंकि वह विरोधी यदि उसके सम्मानपर, उसके देशपर स्वयं आक्रमण न करता तो उस अहिंसकके-लिये वह तीसरी

कोटिका एक सामान्य मनुष्य मात्र था, न था शत्रु और न था मित्र। क्या महात्मा गांधीको अंग्रेजोंका शत्रु कहा जा सकता है ? नहीं, क्योंकि 'मेरे देशको छोड़ दो, और कुछ नहीं चाहिये मुझे तुमसे' ऐसा अभिप्राय रखनेवाला गांधी न उनका शत्रु था न मित्र। फलितार्थ यह निकला कि द्वेष दो प्रकारका है, एक स्वार्थवश किया जानेवाला और एक अपनी रक्षाके अर्थ किया जानेवाला। केवल रक्षाके अर्थ किया जानेवाला द्वेष क्षणिक होता है तथा उसके पीछे पड़ी रहती है समता व माध्यस्थता, जिसमें न शत्रुका भाव रहता है न मित्रका। स्वार्थवश किया जानेवाला द्वेष ध्रुव होता है, निष्कारण होता है, जब भी मौक़ा देखता है तब ही निष्कारण हानि पहुँचानेका प्रयत्न करता है। ये हुईं द्वेषकी दो कोटियां जिनमें उपरोक्त दृष्टान्तोंपर-से यह सिद्ध होता है कि 'रक्षार्थ क्षणिक द्वेष रखनेवाला प्राणी शत्रु नहीं हो सकता और स्वार्थवश निष्कारण द्वेष रखनेवाला प्राणी शत्रु है'।

५. क्रूर जन्तु शत्रु नहीं—शत्रुके इस लक्षण परसे शत्रुका निर्णय कर लेनेपर ही विरोधी हिंसाको गृहस्थका कर्त्तव्य बताया गया है, निरर्गल हिंसाको नहीं। इस विवेकके अभावमें ही आजका मानव उन सर्व जीवोंको, जो किसी भी अभिप्रायसे उसके शरीरको बाधा पहुँचा रहे हों अथवा जिनसे कदाचित् बाधा पहुँचनेकी सम्भावना हो, अपना शत्रु मानकर जिस-किसी प्रकार भी उनके विनाशके उपाय किया करता है। उदाहरणके रूपमें सिंह, सर्प, बिच्छू, भिर्र, ततैया सब उसके शत्रु हैं क्योंकि भले आज न सही पर कल उनसे बाधा पहुँचनेकी सम्भावना हो सकती है और इसीकारण मानवका आज ऐसा अभिप्राय बन रहा है कि निष्कारण भी जहां कहीं वे मिलें उन्हें मार डालो।

शत्रुका उक्त लक्षण घटित करनेपर आपको आश्चर्य होगा कि जिसे शत्रु समझा जा रहा है यहाँ वह वास्तवमें माध्यस्थवाली तीसरी कोटिका प्राणी है। क्योंकि उपरोक्त सिंह आदि कभी किसीपर निष्कारण आक्रमण नहीं करते और मानव निष्कारण केवल द्वेषवश उनपर आक्रमण करता है। वे प्राणी यदि मानवको बाधा पहुँचाते हैं तो अपनी रक्षार्थ और मानव उन्हें मारता है तो स्वार्थवश, द्वेषवश, निरपराध। यह बात सभी जानते हैं कि सर्प, बिच्छू, भिर्र ततैया आदि बिना दबे अर्थात् बिना अपनेपर उपसर्ग जाने, बिना अपनेपर प्रहार हुए, कभी किसीपर प्रहार नहीं करते। करते अवश्य हैं पर अपनी रक्षार्थ, केवल उस समय जबकि उन्हें अपनेपर बाधा आती प्रतीत हो। जवाहरलाल नेहरूको जेलमें जो कोठरी मिली उसमें भिर्रोंके कई बड़े-बड़े छत्ते थे। भिर्रें जब भयके कारण कष्ट देने लगीं इस महान नेताको तो उसने मारना प्रारम्भ कर

दिया उन्हें। भिरें उसके साथ घोर युद्ध करने पर उतर आईं। नेता सब समझ गए। उन्होंने उनके साथ सन्धि करली और उनको मारना बन्दकर दिया। युद्ध रुक गया। भिरें भी वहां रहें और नेता भी, न वे उन्हें बाधा पहुँचावें और न वे उन्हें काटें।

अब रही सिंह आदि उन जन्तुओंकी बात जिन्हें क्रूर कहा जाता है। वहां भी यदि कुछ गहराईसे विचार करें तो पता चलेगा कि क्रूर कौन है, सिंह कि मानव जो कि उन क्रूरोंके प्रति भी क्रूर है, जो उनका निष्कारण बिना अपराध शत्रु बन बैठा है? वास्तवमें यदि देखा जाय तो जगतका सबसे अधिक क्रूर प्राणी मानव है, जिससे सर्व ही सृष्टि भय खाती है, जिसे ऐटमबम्ब द्वारा जगतमें प्रलय मचाते भी कोई झिझक उत्पन्न नहीं होती। पर स्वार्थी मानव अपनेको अपराधी कैसे बताये? दृष्टिपर चढ़ा है स्वार्थका चश्मा जिससे उसे सब दिखाई देते हैं शत्रु व क्रूर।

यदि सिंहको मानवसे किसी प्रकारके आक्रमणकी आशंका न हो तथा उसके प्रेमके प्रति उसे विश्वास दिला दिया जाय तो आपको आश्चर्य होगा यह सुनकर कि यह बड़ा मधुर है, बड़ा स्वामी भक्त है और बड़ा कृतज्ञ है। मानव कृतघ्नी हो सकता है पर वह नहीं, मानव अपने उपकारीको भूलकर स्वार्थवश उसका अनिष्ट कर सकता है और कर रहा है, पर उसके द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं।

यूनानके एक दास एण्ड्रयोकुल्यीज़का विश्वविख्यात दृष्टान्त हर किसीको याद है, सच्ची घटना है, कपोल-कल्पना नहीं। घटना है उस ज़मानेकी जब यूनानमें दास-प्रथा बड़े ज़ोरोंपर थी, मनुष्य पशुवत् बाज़ारोंमें बिकते थे, उनके साथ पशुओंका-सा व्यवहार किया जाता था और उस बेचारेको उफ़ करनेका भी अधिकार नहीं था। यदि तंग आकर बिना स्वामीकी आज्ञाके घरसे भागा तो राज्यकी ओरसे था उसके-लिये मृत्युदण्ड, और वह भी बड़ी क्रूरतासे, सारे नगरवासियोंके सामने। एण्ड्रोकुल्योज़ एक धनिकका दास था, स्वामीके व्यवहारसे तंग आकर घरसे भागा, पुलिसके डरसे राज्यमार्ग छोड़कर वनकी राह ली और चलते-चलते वनमें प्रवेश किया। एक हृदय-भेदक कराँहट उसके कानमें पड़ी। सहसा ही उसके पग रुके और वह घूम गया उस दिशाकी ओर जिधरसे कि वह पीड़ा-मिश्रित कराँहट आ रही थी। आज उसे मृत्युका भय नहीं था, मृत्यु तो आनी ही है आज नहीं तो कल, राज्यके द्वारा दण्ड भी तो मृत्युका ही मिलना है, फिर कर्त्तव्यसे विमुख क्यों रहूँ? सामने देखा एक सिंह जो बार-बार अपना पाँव ज़मीनपर पटक रहा था। एण्ड्रयोकुल्यीज़को यह जानते देर न

लगी कि उसके पांवमें असह्य पीड़ा हो रही है। निर्भय होकर वह आगे बढ़ा। उसके हृदयमें था कर्त्तव्य, दया व प्रेम। सिंहने पाँव आगे कर दिया और दयालु दासने उसके पाँवसे वह तीखा शूल खेंचकर फेंक दिया जो आधा उसके पंजेमें घुस चुका था, जिसकी पीड़ासे वह बेचैन हो रहा था। सिंहने एक नज़र अपने उपकारीकी ओर देखा और फिर पकड़ी अपनी राह।

पुलिससे बचकर कहां जाता बेचारा, पकड़ा गया। नगरवासी इकट्ठे किये गये। बीचमें रक्खा था एक बहुत बड़ा जंगला, एण्ड्रयोकुल्यीज़ उसमें खड़ा अपने जीवनकी शेष घड़ियोंको निराशा-पूर्वक गिन रहा था। सिंहका पिंजरा लाया गया और छोड़ दिया उसे कटहरेमें। लोग टिकटिकी लगाये देख रहे थे। चार दिनका भूखा सिंह अब खा जायेगा इस बेचारेको और वह भी था भयभीत। सिंह तेज़ीसे आगे बढ़ा एक गर्जनाके साथ। परन्तु हैं? यह क्या? क्या यह भी सम्भव है? लोग आँखें मल-मलकर देखने लगे और आखिर विश्वास करना पड़ा कि निकट आकर सिंहने उसे सूंघा और ज्यों का त्यों शान्त वापिस लौट गया। सिंहको भूखा रहना स्वीकार था पर अपने उपकारीको अपना भोज्य बनाना स्वीकार नहीं था। एक दो मिनट मात्रका ही तो सम्पर्क हुआ था उस वनमें उन दोनोंका, पर सिंह उसको न भूल सका, उस गन्धको जो उसे उस समय आई थी उस मनुष्यमें-से, जबकि उसने उसका कांटा निकाला था। यह है सिंहकी कृतज्ञताका दृष्टान्त।

इसलिये भो मानव! कुछ विवेक कर, हर किसीको निष्कारण अपनी गोलीका निशाना न बना। ऐसा करनेका नाम विरोधी हिंसा नहीं है। साँप, बिच्छू आदिको भी निष्कारण मारना विरोधी हिंसा नहीं है। प्रहार न करते हुए तो ये शत्रु हैं ही नहीं, परन्तु प्रहार करते हुए भी ये शत्रु कहे नहीं जा सकते, क्योंकि उनका इस प्रकारका पुरुषार्थ रक्षार्थ होता है। सबके साथ तू प्रेम करना सीख। तू दूसरोंका रक्षक बनकर आया है भक्षक बनकर नहीं। दूसरोंकी रक्षा करना ही तेरा गौरव है, नहीं तो तू ही बता कि तुझमें और पशुमें क्या अन्तर है? निष्कारण उन्हें मारनेवाले! तेरा जीवन सम्भवतः उनसे भी नीचा है।

२५
भोजन-शुद्धि

शान्ति अर्थात् आन्तरिक निर्मलता, स्वच्छता व सरलताकी प्राप्तिकी बातके अन्तगत संयमका प्रकरण चल चुका। क्योंकि जीवनकी स्वच्छताका अन्तरंग तथा बहिरंग-संयमके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये इस प्रकरणका विस्तार कुछ अधिक हो जाना स्वाभाविक है। संयम ही वास्तवमें शान्ति-पथपर चलनेका अभ्यास है, इसके बिना केवल तत्वचर्चा करनेसे अथवा शास्त्राभ्यास कर लेने मात्रसे जीवन शान्त होना असम्भव है। जीवनको शान्त बनानेके-लिये उन सर्व व्यापारोंसे इसे रोकनेकी आवश्यकता है जो कि अशान्तिजनक विकल्पोंकी उत्पत्तिमें कारण पड़ते हैं। इन्द्रिय-संयममें इन्द्रियोंको रोकनेकी अर्थात् उनपर नियन्त्रण करनेकी बात कही और प्राण-संयममें अपने आस-पास रहनेवाले अन्य छोटे व बड़े प्राणियोंके प्रति अपना कर्त्तव्य अकर्त्तव्य दर्शाकर विश्वव्यापी अन्तर्प्रेम जागृत करनेका प्रयत्न किया गया। अब बात चलनी है भोजन-शुद्धिकी। क्योंकि आचार-विचारकी शुद्धि मनःशुद्धिपर अवलम्बित है और मनः शुद्धि अहार शुद्धिपर, उसपर जोकि हमारे जीवनकी सर्वप्रधान आवश्यकता है। इसलिये सयमके इस प्रकरणमें इस विषयका विस्तृत विचार होना अत्यन्त आवश्यक है।

१—तामस-राजस-विवेक—भोजनको विचारोंपर तथा जीवनपर प्रभाव डालनेकी अपेक्षा तीन कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है - तामसिक, राजसिक व सात्विक। तामसिक भोजन शान्ति-पथकी दृष्टिसे अत्यन्त निष्कृष्ट है क्योंकि इससे प्रभावित हुआ मन अधिकाधिक निर्विवेक व कर्त्तव्यशून्य होता चला जाता है। तामसिक वृत्तिवाले व्यक्ति अपनेलिये ही नहीं बल्कि अपने पड़ोसियोंके-लिये भी दु:खोंका तथा भयका कारण बने रहते हैं, क्योंकि उनकी आन्तरिक वृत्तिका झुकाव प्रमुखत: अपराधों, हत्याओं, अन्य जीवोंके प्राण-शोषण व व्यभिचारकी ओर अधिक रहा करता है। राजसिक भोजनका प्रभाव

व्यक्तिको विलासिताके वेगमें बहा ले जाता है और इन्द्रियोंका पोषण करना ही उसके जीवनका लक्ष्य बन जाता है। सात्विक भोजनका प्रभाव ही जीवनमें सरलता, सादगी, विवेक, कर्त्तव्य-परायणता व सहिष्णुता उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

तामसिक भोजनसे तात्पर्य उस भोजनसे है जो प्राण-पीड़नके विवेकसे रहित होकर निरर्गल रूपसे बनाया गया हो; जिसमें मांस, मदिरा, शहद, अजीर, लहसुन, प्याज, कन्द, मूल, फूल आदि कुछ ऐसे पदार्थोंका ग्रहण करने में आया हो जिनकी उत्पत्ति बड़े या छोटे प्राणियोंके प्राणोंका (दे० ७२) घात किये बिना नहीं होती। हीनाधिक रूपमें ऐसे सर्व पदार्थ मनपर तामसिक प्रभाव डालते हैं अर्थात् मनमें अन्धकार उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण विवेक व कर्त्तव्य ही दिखाई नहीं देता, शान्ति-प्राप्तिका तो प्रश्न क्या ?

राजसिक भोजनसे तात्पर्य उस भोजनसे है जो इन्द्रिय-पोषण और विलासिताकी अर्थात् स्वादकी दृष्टिसे बनाया गया हो। आजके युगमें इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। होटलों व खौंचे वालोंकी भरमार वास्तवमें मानव की इस राजसिक वृत्तिका ही फल है। अधिक चटपटे, घीमें तलकर अधिकाधिक स्वाद बना दिये गये, तथा एक ही पदार्थमें अनेक ढंगसे अनेक स्वादोंका निर्माण करके ग्रहण किये गये, या यों कहिये कि ३६ प्रकारके व्यञ्जन या भोजन की किस्में (Varieties) अथवा पौष्टिक व रसीले पदार्थ सब राजसिक भोजनमें गर्भित हैं। ऐसा भोजन करनेसे व्यक्ति जिह्वाका दास बने बिना नहीं रह सकता और इसलिये शान्ति-पथके विवेकसे वह कोसों दूर चला जाता है।

सात्विक भोजनसे तात्पर्य उस भोजनसे है जिसमें ऐसी ही वस्तुओंका ग्रहण हो जिनकी प्राप्तिके-लिये स्थूल हिंसा न करनी पड़े अर्थात् अन्न, दूध, दही, घी, खांड व ऐसी वनस्पतियां जिनमें त्रस जीव अर्थात् उड़ने व चलने फिरने वाले जीव न पाये जाते हों। ऐसा भोजन ग्रहण करनेसे जीवनमें विवेक, सादगी व दया आदिके परिणाम सुरक्षित रहते हैं। यहां इतना जानना आवश्यकहै, कि उपरोक्त सात्विक पदार्थ ही तामसिक या राजसिककी कोटिमें चले जाते है यदि इनको भी अधिक मात्रामें प्रयोग किया जावे। पूरी भूखसे कुछ कम खानेपर अन्न सात्विक है और भूखसे अधिक खानेपर तामसिक, क्योंकि तब वह प्रमाद व निद्राका कारण बन बैठता है। एक सीमातक घीका प्रयोग सात्विक है पर उससे अधिकका प्रयोग तामसिक या राजसिक हो जाता है।

२—भक्ष्याभक्ष्य-विवेक—साधक ज्यों-ज्यों अपने मार्गपर आगे-आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके विचार अधिक-अधिक उज्ज्वल होते जाते हैं और ज्यों-

ज्यों विचार उज्ज्वल होते जाते हैं, त्यों-त्यों आहार-विषयक विवेक भी सूक्ष्म होता जाता है। शान्ति-पथकी पहली भूमिकाओंमें सात्विकका उपरोक्त लक्षण ही संतोषजनक रहता है पर आगे जानेपर उसमें अधिक स्वच्छता लानेका विवेक जागृत हो जाता है। उपरोक्त पदार्थोंको भी दो भागोंमें विभाजित कर लिया जाता है, एक वह जिसमें बहुत अधिक अर्थात् असंख्य (Countless) सूक्ष्म-जीवराशि पाई जाती है और एक वह जिसमें कम अर्थात् संख्यात (Countable) तक ही पाई जाती है। यहां सूक्ष्म-जीवसे तात्पर्य उन जीवोंसे है जो साधारण रूपमें नेत्र-गोचर नहीं होते पर सूक्ष्म-दर्शी-यंत्र (Microscope) से स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस प्रकारके प्राणी आजकी परिभाषामें बैक्टेरिया कहलाते हैं। ये प्रमुखतः स्थावर होते हैं।

ये बैक्टेरिया हर पदार्थमें, वह दूध हो कि दही, घी हो कि मक्खन, फल हो कि फूल-पत्ते, यहांतक कि जलमें भी हीनाधिक रूपमें अवश्य पाये जाते हैं। ये जड़ नहीं होते बल्कि प्राणधारी होते हैं। जीव-हिंसाकी दृष्टिसे, स्वास्थ्य-रक्षाकी दृष्टिसे तथा तामसिक व सात्विककी दृष्टिसे असंख्य-जीव-राशिवाली वनस्पतियां या दूध घी आदि पदार्थ त्याज्य हो जाते हैं और संख्य-जीव-राशिवाले ग्राह्य। यहां यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि यह संख्य राशिवाले पदार्थ भी तो जीव-हिंसाके कारण त्याज्य ही होने चाहियें। यद्यपि पूर्णताकी दृष्टिसे तो वे अवश्य त्याज्य ही होते हैं, परन्तु उनका सर्वथा त्याग करनेपर जगतमें कोई खाद्य पदार्थ ही नहीं रह जाता, तब शरीरकी स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है, और शरीरकी स्थितिके अभावमें शान्ति-पथकी साधना भी कैसे सम्भव हो सकती है? अतः वर्तमानकी हीन-शक्तिवाली दशामें साधकको सर्व पदार्थोंका त्याग करके अपनेको मृत्युके हवाले करना योग्य नहीं। 'सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बांट' इस लोकोक्तिके अनुसार अयोग्य व हिंसा-युक्त होते हुए भी प्रयोजनवश अधिक हिंसाका त्याग करके अल्प हिंसाका ग्रहण कर लेना नीति है। परन्तु अभिप्रायमें यह अल्प-हिंसा भी त्याज्य ही रहती है। इसी कारण आगे-आगे की भूमिकाओंमें ज्यों-ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है साधक इनका भी त्याग करता जाता है, यहां तककि पूर्णताकी प्राप्तिके पश्चात् उसे खाने पीनेकी ही आवश्यकता नहीं रह जाती।

यहां उन असंख्य-जीव-राशिवाले पदार्थोंका कुछ परिचय दे देना युक्त है। मछली, अंडा, शराब, मांस, शहद ये पदार्थ तो साक्षात्‌रूपसे हिंसाके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण सर्वथा अभक्ष्य हैं ही, अभक्ष्य क्या स्पर्श करने योग्य भी नहीं हैं; यहाँ तो बरबन्टी, पीपलबन्टी, गूलर, अञ्जीर, कठल, बढ़ल आदि की

जातिवाली वे सर्व वनस्पतियें भी अभक्ष्य हैं, जिनमें कि अनेकों उड़नेवाले छोटे-छोटे जन्तुओंका निवास रहता है। प्रत्येक वह पदार्थ जो बासी हो जानेके कारण या अधिक पक जानेके कारण या गल-सड़ जानेके कारण अपने प्राकृत स्वादसे चलित हो जाता है, उस कोटिमें आ जाता है। भले ही पहले वह भक्ष्य हो पर अब अभक्ष्य है। ऐसे पदार्थोंमें बासी भोजन, अचार, मुरब्बे, खमीरे, चटनी, कांजी-बड़े आदि या गली-सड़ी वनस्पति तथा अन्य भी अनेकों वस्तुयें सम्मिलित हैं। वनस्पतियोंमें कुछ ऐसी हैं जो पृथ्वीके अन्दर फलित होती हैं जैसे आलू, अरवी, गाजर, मूली आदि; अथवा अत्यधिक कचिया सब्जी जैसे कोंपल या बहुत छोटे साईजकी भिंडी, तोरी, ककड़ी, आदि; अथवा पृथ्वी और काठको फोड़कर निकलनेवाली वनस्पति जैसे खुम्बी, सांपकी छत्री आदि; तथा अन्य भी अनेको आगम-कथित वस्तुयें इस कोटिमें सम्मिलित हैं। शान्ति-पथ-गामीको इनका विशेष परिज्ञान आगमसे प्राप्त करके इनका त्याग कर देना योग्य है। यद्यपि पकाने या काटने छांटनेसे, अल्प-संख्यक-जीव-राशिवाली वनस्पतियोंकी भांति ये भी प्रासुक हो जाती हैं, परन्तु इनको प्रासुक करनेमें अधिक हिंसाका प्रसंग आता है, तथा ये अन्तरमें कुछ तामसिक वृत्तिकी उत्पत्तिका कारण भी बनती हैं, इसलिए किसी प्रकार भी इनका प्रयोग करना उचित नहीं है।

३. बैक्टेरिया-विज्ञान—अन्तशुद्धि हो जानेसे अन्तर्शान्तिमें निवास करने वाले हे गुरुदेव ! मेरे जीवनमें शुद्धिका संचार करें। अन्तशुद्धिके-लिये बाह्यशुद्धि और विशेषतः भोजनशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। कलके प्रकरणमें ग्राह्य और अग्राह्य पदार्थोंका निरूपण कर चुकनेके पश्चात्, भोजन पकानेमें क्या-क्या सावधानी रखी जाने योग्य है और क्यों, ऐसा विवेक उत्पन्न कराना भी आवश्यक है। इस प्रकरणको रूढ़के रूपमें तो आपमेंसे अनेकों जानते व प्रयोगमें लाते हैं परन्तु उसी बातको यहां मैं सूक्ष्म-जन्तुविज्ञान (Microbiology) के आधारपर समझानेका प्रयत्न करूंगा।

भोजन-शुद्धिका प्रयोजन उन सूक्ष्मजीवोंसे भोजनकी रक्षा करना है जिन्हें आजका विज्ञान बैक्टेरिया नामसे पुकारता है। बैक्टेरियासे भोजनकी रक्षा करना तीन दृष्टियोंसे उपयोगी है—१. अहिंसा की दृष्टिसे, २. स्वास्थ्यकी दृष्टिसे और ३. साधनाकी दृष्टिसे अर्थात् अपने परिणामोंकी रक्षाकी दृष्टिसे। यद्यपि डाक्टर लोग स्वास्थ्यकी दृष्टिसे ही बैक्टेरिया व उनसे बचनेके उपाय बताते हैं, पर हम उसी सिद्धान्तको साधनाकी दृष्टिसे ग्रहण करते हैं, जिसमें स्वास्थ्यकी रक्षा स्वतः हो जाती है। यही कारण है कि एक सच्चे त्यागी अर्थात् शुद्ध-भोजीको रोग या तो होते नहीं और होते हैं तो बहुत कम।

बैक्टेरिया उस सूक्ष्म प्राणीको कहते हैं जो प्रायः सूक्ष्म-दर्शी-यंत्रसे ही देखा जाना सम्भव है नंगी आंखोंसे नहीं। ये कई जातिके होते हैं। इनकी जातियों का निर्णय इनके भिन्न-भिन्न कार्योंपरसे किया जाता है, क्योंकि जो कार्य एक जातिका बैक्टेरिया कर सकता है वह दूसरी जातिका नहीं कर सकता। ये यद्यपि त्रस व स्थावर दोनों जातिके हो सकते हैं, परन्तु जिन भक्ष्य पदार्थों-का ग्रहण यहां किया गया है इनमें केवल स्थावर जातिके बैक्टेरिया ही होते हैं। त्रस जातिवाले बैक्टेरिया शराब जैसी मादक वस्तुओंमें मिलते हैं, जिनका निषेध पहिले ही कर दिया गया है।

कुछ बैक्टेरिया तो ऐसे हैं जो यदि दूधमें उत्पन्न हो जायें तो दूधकी दही बन जाती है। उनको अपनी भाषामें दहीके बैक्टेरिया कह लीजिये। इसी प्रकार दही, पनीर, क्रीम, मक्खन, खमीर, मद्य (शराब) आदि पदार्थ-विशेषोंके भिन्न-भिन्न जातिके बैक्टेरिया समझना। वैज्ञानिक लोगोंने इनके भिन्न-भिन्न नाम भी रखे हैं पर यहां उन नामोंसे प्रयोजन नहीं है। ये मुख्यतः स्थावर होते हैं।

कुछ बैक्टेरिया, पदार्थमें उत्पन्न होकर उसे खट्टा बना देते हैं, कुछ दुर्गन्धित बना देते हैं, कुछ उसे नीला, हरा या भूरे रंगका बना देते हैं, कुछ उस पर फूई पैदा कर देते हैं और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों बातें जो नित्य ही भोज्य पदार्थोंमें देखनेको मिलती हैं। इस परसे यह बात समझ लेनी चाहिये कि भोज्य पदार्थोंमें जो कुछ भी रूप, गन्ध व रस आदि से चलितपना होता हुआ दिखाई देता है वह सब सूक्ष्मजीवों अर्थात् बैक्टेरियाकी उपजका ही प्रताप है। अतः प्रत्येक ऐसा चलित पदार्थ अहिंसा, स्वास्थ्य व साधना तीनों दृष्टियोंसे अभक्ष्य हो जाता है।

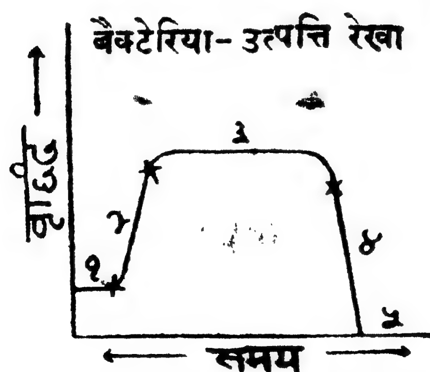
उपरोक्त जातियोंमें-से कुछ बैक्टेरिया तो मानवीय स्वार्थवश (अर्थात् स्वाद या प्रयोजन-विशेषवश) इष्ट हैं और कुछ अनिष्ट। स्वास्थ्यको हानिप्रद सर्व बैक्टेरिया अनिष्टकी गिनतीमें आते हैं, और दही व पनीर आदिके बैक्टेरिया इष्ट माने जाते हैं, क्योंकि ये पदार्थमें कुछ इष्ट स्वाद व गन्ध-विशेष उत्पन्न कर देते हैं और स्वास्थ्यको हानि नहीं पहुँचाते। डाक्टरी दृष्टिमे भले ऐसा मानलें पर साधनाकी दृष्टिसे तो बैक्टेरिया मात्र ही जीव-हिंसाके भयसे अनिष्ट हैं। फिर भी दो चार जातिके बैक्टेरिया इस मार्गमें भी इष्ट माने जाते हैं, जैसेकि मक्खन व दहीके बैक्टेरिया। इन अनिष्ट जातियोंके बैक्टेरियाको इष्ट माननेका एक प्रयोजन है, और वह है साधनामें कुछ सहायता।

किसी भी पदार्थमें बैक्टेरिया उस समय तक उत्पन्न नहीं हो सकते जब तककि उसमें कोई एक या दो तीन बैक्टेरिया बीजरूपमें प्रवेश न कर जायें

या करा दिये जायें। दही जमानेके-लिये दूधमें जामन (Adjunct) मिलाना वास्तवमें उसमें दहीके बैक्टेरिया का बीजरूपसे प्रवेश कराना ही है। बस एक बार बीजारोपण हुआ नहीं कि इनकी सन्तानवृद्धि हुई नहीं। बैक्टेरिया सन्तान की उपज पदार्थमें एकसे दो और दो से चार के क्रमसे अर्थात् Fitcion Method से होती है। प्रत्येक कुछ-कुछ मिनटके पश्चात् वे बराबर दुगुने-दुगुने होते चले जाते हैं।

वस्तुमें प्रवेश पानेके पश्चात् कुछ देर तक अर्थात् लगभग आधा या पौन घंटे तक तो उनकी उपज आरम्भ नहीं होती, जितने प्रवेश पा गये हैं उतने ही रहते हैं, परन्तु इस कालके पश्चात् बड़े वेगके साथ इनकी उपज बराबर उत्तरोत्तर मिनटोंमें वृद्धिको पाती हुई लगभग ५ या ६ घंटोंमें वृद्धिकी चरम सीमाको स्पर्श करने लगती है। यहां पहुँचकर उपजमें आगे वृद्धि होनी तो रुक जाती है, परन्तु जितनी उपज उत्तरोत्तर मिनटोंमें यहां अब हो रही है उतनी ही रफ्तारसे बराबर आगेके ८ या दस घण्टों तक या एक दो दिन तक चलती रहती है।

इतनेकाल पश्चात् उपजकी रफ्तार घटने लगती है, और पांच या छः घण्टोंतक उपज शून्यपर पहुँच जाती है, अर्थात् आगे उपज होनी अब बिल्कुल बन्द हो जाती है। परन्तु जितने बैक्टेरिया उत्पन्न हो चुके हैं वे अब भी इसमें उस समय तक जीवित रहते हैं जबतक कि या तो इनकी आयु समाप्त न हो जाय और या किन्हीं बाह्य प्राकृतिक अथवा मनुष्यकृत-प्रयोगोंसे ये दूर न कर दिये जायें।



इस कर्वमें नं० १ उस समयको दर्शाता है जिस समयमें कि उपज प्रारम्भ ही नहीं हुई है। नं० २ उपजकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धिको, नं० ३ उत्कृष्ट उपजके प्रवाहको, नं ४ उपजकी हानिको और नं० ५ नवीन उपजके अभावको प्रदर्शित करता है।

४. मर्यादाकाल—भोजन शुद्धिके सम्बन्धमें बैक्टेरियाकी उत्पत्ति-क्रमका यह नं० १ वाला अर्थात् प्रथम आध या पौन घण्टा प्रयोजनीय है। उत्पत्ति क्रमका यह भाग नवीन उत्पत्तिसे रहित होनेके कारण वस्तुत: शुद्धिका मर्यादा-काल (Time Limit) कहा जाता है। आगममें भोज्य पदार्थोंकी मर्यादाका कथन आता है। उससे तात्पर्य यही पहला कुछ समय है जिसे अन्तर्मुहूर्त या अधिकसे अधिक ४८ मिनट स्वीकार किया गया है। हम भी आगेके प्रकरणों में इसे मर्यादा नामसे पुकारेंगे। मर्यादाको उलंघन कर जानेपर बैक्टेरिया-राशि अधिक उत्पन्न हो जानेके कारण पदार्थ अभक्ष्यकी कोटिमें चला जाता है।

भोजन-शुद्धिमें मर्यादापर बहुत ज़ोर दिया जाता है, क्योंकि इससे साधना व स्वास्थ्यकी रक्षा होती है। इसोलिए जल व दूधको छान लेनेके तथा थनोंसे निकलनेके पश्चात् यथाशक्ति तुरन्त ही अर्थात् अधिकसे अधिक पौन घण्टेके अन्दर अन्दर गरम करना या उबाल लेना बतलाया है, क्योंकि इतने समयतक तो केवल संख्यात (Countable) ही जीवोंकी हिंसा होती है, परन्तु इससे आगे जीव-राशि बढ़ जानेके कारण उनको गरम करने या उबालनेसे असंख्यात (Countless) जीवोंके नाशका प्रसंग आता है।

कुछ बैक्टेरिया तो ऐसे हैं जो अल्प मात्र ही गरमीको सहन कर सकते हैं, कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक भी गरमीका सहन करनेमें समर्थ हैं और कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक गरमीमें उत्पन्न होते हैं। इसलिये एक समस्या है कि यदि पदार्थको थोड़ा गरम करते हैं तो सर्व बैक्टेरिया दूर नहीं होते और यदि अधिक गरम करते हैं तो नं० २ जातिके बैक्टेरीया उत्पन्न हो जाते हैं। इस समस्याको हल करनेके-लिये दो उपाय विज्ञान बताता है, एक तो यह कि पदार्थोंको कुछ सेकेण्डोंके-लिए बहुत अधिक गरम कर दिया जावे और एक यह कि अधिक देरतक थोड़ा गरम रखा जाये। मुख्यत: जल व दूध आदि तरल पदार्थोंको यदि आध घण्टेतक ६३ डिग्री तापमानपर, या ३ मिनट तक ८० डिग्री तापमानपर गर्म कर दिया जाय तो उसमें रहे बैक्टेरिया प्राय: दूर हो जाते हैं। इस प्रक्रियाका नाम पास्चुराइजेशन (Pasturisation) है। बड़ी-बड़ी डेयरी फ़ार्मोंमें तथा अन्य कारखानोंमें तो मशीनोंके द्वारा ठीक-ठीक तापमान देनेके साधन विद्यमान होनेके कारण उनके-लिए तो यह सम्भव है, पर एक भारतीय साधारण गृहस्थके-लिये यह सम्भव नहीं कि ठीक-ठीक समय व तापमान दिया जा सके। शक्य कार्य ही किया जाना सम्भव है, इसलिए प्राय: दूध व जलको उबाल लिया जाना चाहिए, पर बराबर घण्टोंतक उबलते रहने न दिया जाये, बल्कि दो या तीन उबाल आ चुकनेपर अग्निपर-से हटाकर

उन्हें ठण्डा करनेको रख दिया जाना चाहिए, ताकि गरमवाले बैक्टेरिया उसमें उत्पन्न होने न पावें ।

कम तापमानपर उत्पन्न होनेवाले नं० १ जातिके बैक्टेरियासे इसकी रक्षा करनेके-लिये आवश्यक है कि उस उबलते हुए पदार्थको शीघ्रातिशीघ्र ठण्डा कर दिया जाये । यदि रैफ्रीजिरेटर (Refrigerator) उपलब्ध हो तो उसमें रखकर, नहीं तो ठण्डे जलमें रखकर । ऐसा करनेसे गर्मीके दिनोंमें भी २४ घण्टे दूध खट्टा नहीं हो सकता । दही जमानेके-लिये भी यदि इस प्रक्रियाको अपनाया जाय तो गर्मीके दिनोंमें भी दही बहुत मीठो व कड़ो जमती है, वह पानी नहीं छोड़ती तथा फटती नहीं । परन्तु यह आवश्यक है कि उबालनेकी क्रिया दूध व जलकी प्राप्तिके पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र (अधिकसे अधिक पौन घण्टेके पूर्वोक्त मर्यादा-कालके अन्दर २) करनी चाहिये । क्योंकि मर्यादाकाल बीत जानेपर उन पदार्थोंमें बैक्टेरियाकी सन्तानमें वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है, अत: तब उबालनेका कार्य करनेमें अधिक हिंसाका प्रसंग आता है ।

बैक्टेरियाकी उत्पत्तिके-लिये चार बातोंकी आश्यकता है—वायु, जल, आहार (Nutrient), व तापमान । खाद्य पदार्थोंमें भी गीले खाद्य पदार्थोंमें जैसे वनस्पति व पके हुए भोजनमें तो चारों चीजोंकी उपस्थिति होनेके कारण उनकी उत्पत्ति सर्वथा रोकी नहीं जा सकती, परन्तु सूखे अन्न, खाण्ड, नमक, घी व तेल आदिमें यदि नमीका प्रवेश न होने दिया जाय तो वहां उनकी उत्पत्ति रोकी जा सकती है । अन्नादिकको धूपमें सुखाकर तथा घी, तेल आदिको उबालकर यद्यपि नमी दूरकी जा सकती है, परन्तु क्योंकि वायुमण्डलमें-से मुख्यतः वर्षा ऋतुमें ये पदार्थ स्वतः नमी खींच लेते हैं, इसलिये सुखानेके पश्चात् इन्हें लोहे, धातु या कांच आदिके बन्द बर्तनोंमें ही रखा जाना योग्य है, बोरीमें या मिट्टीके बर्तनोंमें रखनेसे इनमें नमीका प्रवेश रोका नहीं जा सकता । डब्बोंके ढकने भी बहुत टाइट होने चाहिये क्योंकि ढीले ढकनोंमें-से नमी प्रवेश कर जाती है । ढकनोंको उघड़ा छोड़ना भी इस दिशामें अत्यन्त अनिष्ट है ।

पके हुए पदार्थोंको यद्यपि बैक्टेरियाकी उत्पत्तिसे सर्वथा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता, पर यदि बाहरसे बैक्टेरिया इसमें प्रवेश न होने दिया जाय तो बीजारोपणके अभावके कारण इनको कुछ कालतक अवश्य बैक्टेरियाकी उपजसे रोका जा सकता है । वस्तुत: अन्न खाण्ड आदि उपर्युक्त सर्व पदार्थोंमें भी सर्वथाके-लिए उनकी उपजको रोक दिया जावे, यह हमारे-लिये शक्य नहीं है, क्योंकि वायु व नमीका सर्वथा अभाव करनेके या डब्बोंमें बन्द कर लेनेके साधन हमारे पास नहीं हैं । इसीलिए भोजन-शुद्धिको बनाए रखनेके लिए गुरुओंका

अनुमानसे काम लेना पड़ता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें प्रायः कितने काल पश्चात् बैक्टेरिया-उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है, यह अनुमान करके गुरुओंने पदार्थोंका मर्यादाकाल हमारे लिये निश्चित कर दिया है। उस कालके पश्चात् बैक्टेरियाकी उपज हो जानेके कारण वे भक्ष्य-पदार्थ ही अभक्ष्यको कोटिमें चले जाते हैं। इसको मर्यादाकाल कहते हैं। जैसे आटेको मर्यादा सर्दीमें ७ दिन, गरमीमें ५ दिन और वर्षा ऋतुमें ३ दिन बताई है। इसीप्रकार खाण्डकी मर्यादा सर्दीमें एक महीना, गरमीमें १५ दिन, वर्षाऋतुमें एक सप्ताह है। रोटी व पकी हुई दालकी मर्यादा ६ घण्टे, पकी हुई भाजीकी मर्यादा १२ घण्टे, तले हुए पदार्थोंकी मर्यादा २४ घण्टे और इसीप्रकार अन्य सर्व पदार्थोंकी मर्यादा आगममें बताई हैं, वहांसे जान लेना। इतने कालके अन्दर ही ये पदार्थ साव-धानीपूर्वक प्रयोगमें लाये जाने चाहिये, इतने काल पश्चात् नहीं।

उपर्युक्त मर्यादायें वास्तवमें उस समयमें स्थापित की गई थीं जबकि आजके जैसे साधन नहीं थे, आटा आदि पदार्थ मिट्टीके घड़ोंमें रखे जाते थे, जिनमें-से नमी प्रवेश कर जाती थी, पर आज उनकी अपेक्षा कुछ अच्छे साधन उपलब्ध हैं। इसलिये वस्तुतः वायु-शून्य (airtight) डब्बों व कांचके बर्तनोंमें सूखे पदार्थोंको रखकर और रेफ्रीजिरेटरमें पके हुए गीले भोजनको रखकर यद्यपि वस्तुओंकी मर्यादा बढ़ाई जा सकती है, तदपि प्रमाद-विषयक दोषसे अपनी रक्षा करनेके-लिये तथा आगमाज्ञाका उलंघन न हो जाय इस भयसे आगमोक्त मर्यादाओंको स्वीकार करनेमें ही साधकका हित है।

५. छूआछूत—बैक्टेरिया-प्रवेशके प्रमुख द्वार पाँच हैं। १. वायुमण्डल, २. वह कमरा या घर जहां कि खाद्य-पदार्थ रखा है, ३. बर्तन, ४. वस्त्र, ५. शरीर। वायुमण्डलमें सर्वत्र प्रायः बैक्टेरियाका निवास है और गन्दे वायु-मण्डलमें वे बहुत अधिक रहते हैं। वायुमण्डलके बैक्टेरियासे पदार्थकी रक्षा करनेके-लिए यथासम्भव वस्तु को ढककर ही रखना चाहिए, उघड़ा हुआ नहीं। संवारनेसे पहले छिलकेवाली वनस्पति तथा बीननेसे पहले सूखा अन्न भले खुला पड़ा रहे पर इसके पश्चात् नहीं, क्योंकि छिलकेवाली वनस्पति या अन्न आदिक प्राकृतिक रूपसे छिलकेके अन्दर बन्द हैं।

धूल, धूम, गोबर, मल, मूत्र अथवा अन्य भी किसी दुर्गन्धित पदार्थको सन्निकटतासे वायुमण्डल अपवित्र हो जाता है, क्योंकि ये तथा ऐसे सर्व पदार्थ बैक्टेरियाके पुञ्ज हैं। उनमेंसे निकल-निकलकर वे बड़े वेगसे वायुमण्डलमें तथा दीवारों आदिके छिद्रोंमें या मसामों (Pores) में प्रवेश पाने तथा पनपने लगते हैं। बर्तनोंमें भी यदि कहीं मैल लगा रह जाय या ठीकसे न मंजनेके कारण

उनमें चिकनाहट रह जाय तो वहां बैक्टेरियाकी सन्तान वृद्धिको प्राप्त हो जाती है। जिस बर्तनमें खड्डे पड़ गये हैं उस बर्तनमें प्रायः बहुत अधिक बैक्टेरिया-राशि पाई जाती है, क्योंकि उन खड्डोंमें मैल एकत्रित हुए बिना नहीं रह सकता। चिकने, चमकदार, साफ़ व बिना खड्डोंवाले बर्तनोंमें बैक्टेरिया उत्पन्न नहीं होते परन्तु उनको यदि साफ़ करके गीले ही रख दिया जाय तो उत्पन्न हो जाते हैं, सूखोंमें बिल्कुक उत्पन्न नहीं होते। बर्तनोंकी भांति वस्त्रोंमें तथा शरीरमें भी समझना। मैले वस्त्रोंमें या मैले शरीरमें वे बहुत वेगसे पनप उठते हैं, साफ़ व सूखे वस्त्रोंमें उनकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये किसी भी पदार्थको बिना अच्छी तरह हाथ धोये छूना योग्य नहीं।

इन पांचों पदार्थोंके निकट-सम्पर्कमें आनेपर खाद्य-पदार्थमें बैक्टेरिया प्रवेश पा जाते हैं और वहाँ उनकी सन्तानोत्पत्ति बड़े वेगसे वृद्धि पाने लगती है, इसलिये ऐसे पदार्थोंसे छूआ हुआ खाद्य-पदार्थ अपवित्र माना जाता है। इसी कारण वस्त्र व शरीर-शुद्धिमें छूआछूतका बहुत विचार रखा जाना योग्य है। वस्त्र व शरीरको धो लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि धुलनेके पश्चात् उनकी, अपवित्र व गन्दी वस्तुओंके तथा अन्य व्यक्तियोंके वस्त्रों व शरीरोंके स्पर्शसे, रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्त्र आदि धोनेका अर्थ यहाँ पानीमें-से निकालकर सुखा देना मात्र नहीं है, वह तो केवल रूढ़ि है, अच्छी तरहसे साबुन या सोडे आदिके प्रयोग द्वारा या सोडे साबुनके पानीमें पकाकर या भाप (Steam) में पकाकर उसका मैल निकालकर उसे बिल्कुल सफ़ेद कर लेना योग्य है। इसे रूढ़ि न समझना, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। डाक्टर लोग भी आप्रेशनरूममें तभी प्रवेश करते हैं जबकि भापमें पका (Sterilized) एक लम्बा कोट पहन लें, ताकि सर्व अपवित्र वस्त्र उसके नीचे छिप जायें और वहांसे बैक्टेरिया निकलकर रोगीके घावमें प्रवेश न कर पायें। यहाँ तककि मुंह व नाकके आगे भी एक स्वच्छ वस्त्र बांध लेते हैं तथा साबुनसे अच्छी तरह हाथ धोकर ही औज़ारों को छूते हैं।

६. मन वचन काय शुद्धि—अन्दरमें पवित्र शान्तिका भोग करनेके-लिए बाह्यमें शुद्ध ही भोजनका ग्रहण आवश्यक है। भोजन-शुद्धिके सम्बन्धमें अनेकों बातें सिद्धान्त-रूपसे पहले प्रकरणोंमें समझा दी गई हैं, आओ अब उनका प्रयोग अपनी चर्यामें करके देखें कि किस रूपमें वे हमारी चर्यामें हमको सहायता दे सकती हैं।

भोजन-शुद्धिके सम्बन्धमें चार बातें मुख्यतः विचारनीय हैं—१. मन-शुद्धि, २. वचन-शुद्धि, ३. काय-शुद्धि, ४. आहार-शुद्धि। इन चार शुद्धियोंको

मुखसे उच्चारण करना तो हम सब जानते हैं, किसी भी त्यागी या सन्यासीको भोजन कराते समय 'मन-शुद्ध, वचन-शुद्ध, काय-शुद्ध, आहार-जल शुद्ध है, ग्रहण कीजिए', इस प्रकारके मन्त्रोच्चारण करनेकी रूढ़िको पूरा करना तो हम कभी भूलते नहीं हैं और वह अतिथि भी आपके ये शब्द सुनकर सन्तुष्ट हो जाता है; पर न तो आप और न वह यह जाननेका प्रयत्न करते हैं कि यह मन्त्र वचनों तक ही समाप्त हो गया है या चर्यामें भी कुछ आया है।

(१) **मन-शुद्धि** कहना तभी सार्थक है जबकि आपके मनमें उस अतिथिके प्रति भक्ति हो, आप दण्ड समझकर भोजन न दे रहे हों, बल्कि अपना सौभाग्य समझकर, अपनेको धन्य मानकर दे रहे हों। यदि कदाचित् मनमें ऐसा विचार आ जाय कि 'मैं इसको भोजन देकर इसपर कोई एहसान कर रहा हूँ, या ऐसा विचार आ जाय कि किसीप्रकार यह बला थोड़ा-घना खाकर जल्दो टल जाय तो अच्छा' तो आपका मन शुद्ध नहीं है अशुद्ध है। आपके मनकी यह अशुद्धता वास्तवमें भोजनमें विष घोल देती है। उससे प्रभावित आपका भोजन शुद्ध नहीं अशुद्ध है, जैसेकि यह लोकोक्ति है कि 'थाली परोसी पर उसमें थूककर'।

(२) **वचन-शुद्धि** कहना तभी सार्थक है जबकि उस अतिथिके प्रति आपके मुखसे अत्यन्त मिष्ट तथा भक्तिपूर्ण ही शब्द निकलें, आपकी भाषासे प्रेम टपकता हो, दण्ड या क्रोध नहीं। केवल अतिथिके प्रति ही नहीं बल्कि किसी भी अन्य घरवालेके प्रति या चौकेमें रहनेवाले किसी अन्य व्यक्तिके प्रति भी। झुंझलाहटके या उतावलके शब्द 'जल्दी कर, जल्दी परोस, पानी ला' इत्यादि मुखसे नहीं निकलने चाहियें, क्योंकि ऐसा करनेसे सम्भवतः घबराकर उस व्यक्तिसे कोई ऐसा कार्य जल्दीमें बन बैठे जिससे कि अतिथिको भोजन छोड़ देना पड़े। धैर्य, सन्तोष व शान्तिकी अत्यन्त मन्द भाषा ही योग्य है अन्यथा भोजन अशुद्ध हो जायेगा।

(३) **काय शुद्धि** कहना तभी सार्थक है जबकि आपने शरीरको भली भांति रगड़, धो व पोंछकर इसपर-से मैल उतारकर इसे स्वच्छ व पवित्र कर लिया हो। इसमें कहीं भी किसी प्रकारकी ग्लानिका भाव जैसे कोई घाव, फोड़ा, फुन्सी, मैल, मल, मूत्रादिका स्रवन विद्यमान न हो। इसके अतिरिक्त आपके शरीरपर नीचेके वस्त्र (Under-wear) या ऊपरके वस्त्र सब ही स्वच्छ व पवित्र हों। नीचेके वस्त्र (कच्छा बुनियान आदि) तो मैले हों और ऊपरके (धोती आदि) स्वच्छ, ऐसा नहीं करना चाहिये। वस्त्र साबुनसे धुले हुए बिल्कुल सफेद होने चाहियें। इसके अतिरिक्त चौकेमें घुसनेसे पहले पाँवको बहुत अच्छी तरह ऐड़ीसे पञ्जेतक रगड़कर काफी पानीमें धो लेना चाहिए,

ताकि पाँवके तलवेपर कुछ भी लगा न रह जाये। पांवका तलवा अत्यन्त निकृष्ट अंग है, यह ध्यान रखना चाहिए। एक आध चुल्लु मात्र पानी पाँवके ऊपर डालकर पाँव धोनेकी रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं। चौकेमें प्रवेश करते ही पहले हाथोंको अच्छी तरह रगड़कर तीन बार धोना चाहिये। स्नान करने व स्वच्छ वस्त्र पहननेके पश्चात् यह सावधानी रखनी चाहिए कि आपका शरीर या आपका वस्त्र घरके किसी भी अन्य पदार्थ, वस्त्र, पर्दा, चिक, चादर, मेज़पोश, दीवार व किवाड़ आदिसे छूने न पायें। छूआछूतके इस विवेकका प्रयोजन वास्तवमें व्यक्तिगत घृणा नहीं बल्कि बैक्टरियाके प्रति सुरक्षाका भाव है। यदि व्यक्तिगत घृणाको अवकाश दिया तो मन-शुद्धि बाधित हो जाएगी, यह ध्यान रहे। इसप्रकार सारी बातें चर्यामें आनेपर ही काय-शुद्धि कही जा सकती है अन्यथा नहीं।

७. आहार-शुद्धि—आहार-शुद्धिके अन्तर्गत चार बातें आती हैं। आहार-शुद्धि कहना तभी सार्थक है जब कि ये चारों बातें पूर्ण रीतिसे चर्यामें आ चुकी हों। वे चार बातें हैं—१. द्रव्य-शुद्धि, २. क्षेत्र-शुद्धि, ३. काल-शुद्धि, ४. भाव-शुद्धि। इन चारोंकी व्याख्या अब क्रमसे की जाती है।

(१) द्रव्य शुद्धि के अन्तर्गत दस अधिकार हैं—१. अन्न-शुद्धि, २. जल-शुद्धि, ३. दुग्ध शुद्धि, ४. दही शुद्धि, ५. घृत शुद्धि, ६. तेल शुद्धि, ७. खाण्ड शुद्धि, ८. सकरा-विधि, ९. वनस्पति शुद्धि और १०. ईंधन-शुद्धि। अब इन दसोंका कथन क्रमसे करता हूँ।

१. अन्न-शुद्धि में आते हैं गेहूँ, चावल-दाल-मसाले व सूखे मेवा आदि। इन सर्व पदार्थोंको भली भांति सूर्य प्रकाशमें बीनकर इनमेंसे निकली जीव-राशि को सुरक्षित रूपसे किसी कोनेमें क्षेपण करें, मार्गमें नहीं। मार्गमें ही उन्हें छोड़ देना महान अनर्थ है क्योंकि वहां वे बेचारे पांवके नीचे आकर रौंदे जाते हैं। फिर इनको स्वच्छ जलमें धोलें, ताकि इनपर लगा गोबर मल मूत्रादिका अंश अथवा इनके ऊपर विद्यमान बैक्टेरिया साफ़ हो जायें। धोकर इन्हें धूप में सुखालें। बिना धुले अन्न, मसाले आदिका प्रयोग योग्य नहीं है। चावल व दालको हाथकी हाथ धोकर रांधा जाता है इसलिये इनको पहलेसे धोकर सुखाने की आवश्यकता नहीं। गेहूँ आदिको सूख जानेके पश्चात् हाथकी चक्कीमें पीस लें। पीसनेसे पहले चक्कीको अच्छी तरह झाड़लें ताकि उसमें कोई क्षुद्र जीव रहने न पावे। चक्की पोंछनेके-लिये तथा चक्कीमें-से आटा निकालनेके-लिए जो कपड़ा प्रयोगमें लाया जावे वह धुला हुआ स्वच्छ होना चाहिए, मैला नहीं। आटा सूर्यके प्रकाशमें स्वच्छ वस्त्र पहनकर व हाथोंको धो पोंछकर ही पीसना चाहिए।

पिसे हुए आटे, मसाले आदि को बन्द डब्बोंमें और यदि हो सके तो शीशेके जारमें रखना चाहिये ताकि बाहरकी नमीको वे खेंचने न पावें। नमकको भोजन बनाते समय हाथकी हाथ ही पीसना योग्य है, क्योंकि उसकी मर्यादा बहुत ही अल्प है। मेवामें मुनक्का आदि प्रयोगमें लानी हो तो सावधानी पूर्वक उसके बीज निकाल देने चाहियें, क्योंकि बीजको ग्रहण करनेमें कुछ दोष आता है। पदार्थ रखनेके डब्बे ऐसे होने चाहियें जिनमें चींटी आदिका प्रवेश न हो सके। बिना धुले अन्नको भी शोधकर उसमें कोई ऐसा पदार्थ डालकर रखना चाहिये जिससे कि आगे उसमें जीवराशि उत्पन्न न होने पावे। मिट्टीमें पारा मिलाकर उसकी टिकिया बना लें, और प्रत्येक छोटे-बड़े डब्बेमें यथायोग्य रूपसे उन्हें डाल दें तो इस प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है।

२. अब लीजिये जल-शुद्धि। जल-शुद्धिमें दो बातें आती हैं—एक जल को छानना तथा दूसरी जलमें-से निकले जीवोंकी रक्षार्थ जिवानी करना। जल छाननेमें छलने सम्बन्धी विवेक अत्यन्त आवश्यक है। छलना दस गिरह चौड़ा और सवा गज़ लम्बा होना चाहिए ताकि दूहरा होकर वह दस गिरह चौकोर बन जाये। छोटासा कपड़ेका कोई टुकड़ा छलना नहीं कहलाता रूमाल या पहना हुआ कपड़ा, धोती आदि भी छलनेके रूपमें प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। छलना केवल जल छाननेके कामके-लिये अलग ही रखना चाहिये। यह मीलके सूतका नहीं होना चाहिये, बल्कि हाथके कते सूतका ही होना चाहिये, क्योंकि हाथका कता सूत रूएवाला होता है, मीलका नहीं होता। छलना मोटे खद्दरका होना चाहिये, पतले कपड़ेका नहीं। खादी भण्डारमें इस प्रकारका हाथका बुना मोटा खद्दर उपलब्ध हो सकता है। छलना अत्यन्त स्वच्छ होना चाहिये, मैला नहीं और इसीलिये प्रत्येक तीसरे चौथे दिन उसको साबुन सोड़ेसे धोना आवश्यक है। छलनेको जल छाननेके पश्चात् तुरन्त ही सुखाना चाहिये, क्योंकि अधिक देर गीला रहनेसे उसमें बैक्टेरियाकी उत्पत्ति हो जाती है। जिवानी करनेमें भी इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि जिवानी का पानी भूमि या कुएंकी दीवार आदि पर न पड़े, बल्कि सीधा कुएके भीतर पानीमें पड़े।

३. दुग्ध-शुद्धि के सम्बन्धमें आवश्यक तो यह है कि पशुको भली प्रकार स्नान कराके दुहा जाय ताकि उसके शरीरपर लगी धूल व गोबर आदिसे निकलकर बैक्टेरिया दूधमें प्रवेश न कर सकें। इसीप्रकार दुहने वालेको भी स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहन लेने चाहियें, बर्तन भी चमकदार व स्वच्छ मंजा हुआ होना चाहिये, दुहनेसे पहले हाथ व थन अच्छी तरह धो लेने चाहियें ताकि बर्तन, कपड़े व हाथोंसे भी बैक्टेरियाका प्रवेश दूधमें न हो सके। दूध निकालते

ही बर्तनोंको अच्छी प्रकार ढक देना चाहिये, ताकि वायुमण्डलसे बैक्टेरियाका प्रवेश दूधमें न हो सके। ये सब बातें वास्तवमें वही निभा सकता है जिसके अपने घरपर पशु हो, पर आजकी विकट परिस्थितिमें ये सब बातें पूर्णत: निभाई जानी असम्भव हैं। इसलिये जितनी अधिकसे अधिक निभनी शक्य हों उतनी निभानी चाहिये। कमसे कम बर्तन अवश्य अपना ही होना चाहिये क्योंकि बाज़ार वालोंके बर्तन स्वच्छ मंजे हुए नहीं होते। मापनेका बर्तन भी अपना ही होना चाहिये। दुहने वालेके हाथ व पशुके थन कमसे कम अवश्य अपने छने हुए स्वच्छ पानीसे धुलवा दिये जाने चाहियें। घर लाकर उसे अवश्य दूसरे बर्तनमें छान लेना चाहिये।

दूधको जल्दीसे जल्दी आगपर रख देना चाहिये, ताकि उसमें रहे थोड़े बहुत बैक्टेरिया दूर हो जायें, और उसमें उनकी सन्तान-वृद्धि न हो पावे। जलके सम्बन्धमें तीन विकल्प हैं—यदि छ: घण्टेके अन्दर-अन्दर प्रयोगमें लाकर समाप्त कर देना हो तो उसमें छाननेके पश्चात् तुरत ही पिसी हुई लौंग हरड़े ज़ीरा आदि या अन्य कोई ऐसी औषधि थोड़ीसी डाल देनी चाहिये जिससे कि जलका रंग व गन्ध बदल जायें। मात्र २ या ४ साबुत लौंग डालकर रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं, जलका रंग व गन्ध न बदले तो डालनेका कोई लाभ नहीं। यदि१२ घण्टेके अन्दर-अन्दर प्रयोगमें ले आना हो तो जलको इतना गरम कर लेना चाहिये जिसमे कि हाथ दिया जा सके, बहुत कम गरम करके सन्तोष नहीं करना चाहिये। यदि २४ घण्टेतक काममें लाना हो तो उसे भात-उबाल गरम करना चाहिये। जलको कुएंसे लाते ही तुरत उपरोक्त तीनों विकल्पोंमें-से कोई न कोई अवश्य पूरा करना चाहिये, उसे खाली छोड़ना योग्य नहीं।

४. दही जमानेके-लिये जामनका व दूधके तापमानका बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिये। आगके निकट रखकर दही जमानेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे दही फट जाती है तथा खट्टी हो जाती है। गरमीके दिनोंमें दहीवाला बर्तन बराबर ठण्डे पानीमें रखना चाहिये और सर्दीके दिनों में उसे किसी स्वच्छ कपड़ेमें लपेटकर रखना चाहिये।

जामनके सम्बन्धमें बहुत विवेककी आवश्यकता है। जामन मीठी दहीका ही होना चाहिये खट्टीका नहीं, क्योंकि खट्टे जामनसे दही भी खट्टी हो जाएगी। वह फटा हुआ भी नहीं होना चाहिए। जामनमें-से दहीका पानी (Whey) निचोड़कर निकाल देना चाहिए क्योंकि वह खट्टा होता है। जामनको दो तीन बार स्वच्छ पानीमें धो लें तो और भी अच्छा है, क्योंकि ऐसा करनेसे उसमें-से रहा सहा सब खटास निकल जाता है। जामनको धोनेके-लिये जामनवाले

बर्तनमें थोड़ा जल डालकर हिला दें, फिर जलको नितारकर निकाल दें। जामनके प्रयोगका सरल उपाय तो यह है कि कच्चे गोलेके ऊपरी छिलकेकी कटोरीको दूधमें डालकर दही जमा दें, अगले दिन दहीमें-से वह कटोरी निकाल-कर सुखा दें। अब जब भी जामन देना हो दूधमें इस कटोरीको डुबा दें और दही प्रयोग करते समय इसे निकालकर फिर सुखा दें। परन्तु ऐसा करनेके लिए यह अवश्य जानना चाहिए कि इस प्रकार एक कटोरी आधा सेर दूधको जमानेके-लिए ही पर्याप्त है, अधिक दूध जमानेके-लिए इसी हिसाबसे अधिक कटो-रियाँ डाली जानी चाहियें। नया जामन बनानेके-लिए आधी छटांक दूधमें थोड़ा जीरा डाल दें, तीन या चार घन्टेके पश्चात् वह जम जायेगा, इसको जामनके रूपमें प्रयोग कर सकते हैं। टाटरी या अमचूर आदिसे जमाना ठीक नहीं क्योंकि उससे दही फट जाती है। गरमीमें जामन थोड़ा दिया जाता है और सर्दीमें अधिक, अनुमानसे काम लेना होता है। थोड़ी देरमें जमानी इष्ट हो तो जामन अधिक दिया जाता है, और अधिक देरमें जमानी इष्ट हो तो कम।

५. घृत-शुद्धि के लिए यह विवेक रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त शुद्ध दहीको बिलोकर उसमें-से निकला मक्खन तुरत ही आगपर रख देना चाहिए। दो तीन दिनतक रखनेका तो प्रश्न ही नहीं, दस मिनटकी प्रतीक्षा करनी भी योग्य नहीं, क्योंकि इसमें बैक्टेरियाकी उत्पत्ति बड़े वेगसे होती है। फिर भी अधिकसे अधिक पौन घन्टेकी मर्यादाके अन्दर-अन्दर अवश्य गरम कर लेना योग्य है क्योंकि इससे अधिक काल बीत जानेपर वह अभक्ष्यकी कोटिमें चला जाता है। इस प्रकारसे बने हुए घीको अष्ट-पहरा घी कहते हैं, क्योंकि दूधसे घी बनने तक केवल ८ पहर या २४ घण्टे ही लगे हैं। ऐसा अष्ट-पहरा घी ही शुद्ध है। इसको भी बराबर प्रति-मास उबालकर पुनः पुनः नितारते रहना चाहिए, ताकि बैक्टेरियाका बीज वहां उत्पन्न न होने पावे। आप देखेंगे कि प्रत्येक बार कुछ न कुछ छाछ अवश्य निकल जाती है।

६. तेल-शुद्धि के लिये सरसों या तिल आदिको अपने घरपर स्वच्छ जलसे धोकर सुखा लें, फिर कोल्हूको अपने स्वच्छ जलसे अच्छी प्रकार धुलवा-कर उसमें पीड़ दें। इस प्रकार प्राप्त किया गया तेल ही शुद्ध है।

७. खाण्ड-शुद्धि के लिए चाहिए तो यह कि गन्नेका रस निकालनेसे पहले कोल्हूको धोकर साफ़ कर लें। रस पड़नेवाला व रस पकनेवाला दोनों बर्तन बाल्टी या कड़ाहा आदि धुले हुए साफ़ हों, गन्नेको अच्छी तरह झाड़ शोधकर कोल्हूमें डालें, हाथ अच्छी तरह धोकर काम करें और खांड खांचीके द्वारा न निकालकर मशीनके द्वारा निकालें। परन्तु इस प्रकारकी खाण्ड

बनाना सबके लिए सम्भव नहीं। सम्भव ही बात अपनाई जा सकती है। इसलिए आजकी परिस्थितिमें बाज़ारकी खाण्ड (Sugar) भी ग्रहण कर ली जा सकती है, परन्तु यह विवेक अवश्य रहना चाहिए कि वह खाण्ड, गुड़ या शक्कर हाइड्रोवाली नहीं होनी चाहिए। बाज़ारसे आयी हुई खाण्डको घरपर पुन: स्वच्छ जलमें पकाकर उसकी बूरा कूट लेनी चाहिए। ऐसा करनेसे उसकी पहली सब अशुद्धियां दूर हो जाती हैं। इस शुद्ध खाण्डको ऐसे डब्बेमें रखना चाहिए जिसमें चींटीका प्रवेश न हो सके, शीशेके जारमें रखना श्रेयस्कर है।

८. द्रव्य-शुद्धिके अन्तर्गत 'सकरा विधि भी जाननीय है। शुद्ध तथा अशुद्ध द्रव्यको साथ-साथ रखना या पकाना योग्य नहीं। घी, मसाले व आटा आदि उतने ही लेने चाहियें जितने कि प्रयोगमें आकर बाकी न बचें। घी मसाले आदिके पूरेके पूरे बर्तन या डब्बे भोजन बनाते समय पासमें नहीं रखने चाहियें, क्योंकि ऐसा करनेसे सम्भवतः उनमें अन्न व नमीका अंश चला जाये जिससे कि उनमें बैक्टेरियाकी शीघ्र उत्पत्ति होने लगे। भोजन बनाकर बचा हुआ घी आटा आदि पुनः मूल पदार्थमें नहीं मिलाना चाहिए क्योंकि याद रहे कि इस बचे हुए पदार्थमें अन्नका अंश आ चुका है जो पदार्थमें पड़कर सारे पदार्थको बिगाड़ देगा। पृथक-पृथक वस्तुओंको देग़चीसे निकालनेके-लिए पृथक-पृथक चमचे रखने चाहियें, एकका चमचा दूसरेमें नहीं देना चाहिए।

९. वनस्पति शुद्धि में यह विवेक अवश्य रखना चाहिये कि किसी भी वनस्पतिको बिनारने-से पहले या चौकेमें प्रवेश करानेसे पहले स्वच्छ जलसे एक बार अच्छी तरह रगड़-रगड़कर अवश्य धो लें, ताकि उसके बाहर लगे अशुद्ध-जल सम्बधी अन्य छूआछूत व बैक्टेरिया सम्बन्धी सर्व दोष दूर हो जायें।

१०. ईंधन-शुद्धि के अन्तर्गत लकड़ी आदि को अच्छी तरह झाड़कर प्रयोगमें लायें बीझी लकड़ीका तथा अरणे व गोयेका प्रयोग चौकेमें न करें। इस प्रकार आहार-शुद्धिके अन्तर्गत प्रथम जो द्रव्य-शुद्धि उसके दस अधिकार समाप्त हुए।

(२) अब क्षेत्र-शुद्धि सम्बन्धी बात चलनी है। क्षेत्र-शुद्धिके अन्तर्गत आपकी पाकशाला अत्यन्त स्वच्छ व साफ़ धुली-धुलाई होनी चाहिए, वह स्थान अन्धयारा नहीं होना चाहिए, दीवारें धुएंसे काली हो जायें तो चूना करा लेना चाहिए, फ़र्श चिकनी सीमेन्टकी हो तो अच्छा, नहीं तो गारा गोबरसे लिपी हुई होनी चाहिए। पाकशालामें जाले आदि लगे नहीं होने चाहियें और छतपर धुला हुआ स्वच्छ चन्दोवा बन्धा रहना चाहिए। चन्दोवा इतना बड़ा हो कि चूल्हा, बर्तन तथा पकाने, खाने व परोसनेवाले सब उसकी सीमाके भीतर ही रहें, बाहर नहीं। चन्दोवा मैला नहीं होना चाहिये।

बर्तन सूखे मंजे होने चाहियें, खड़केवाले बर्तनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए, वे खूब चमकदार होने चाहियें, उनपर चिकनाई नहीं लगी रहनी चाहिए। बर्तन पोंछनेका या हाथ पोंछनेका या रोटियां रखनेका छलना-कपड़ा आदि साबुनसे धुले हुए अत्यन्त स्वच्छ रहने चाहियें, तनिक भी मैले कपड़ेका प्रवेश चौकेमें नहीं होना चाहिए। बर्तनका प्रयोग करनेसे पहले उसे स्वच्छ जलसे एकबार धो व पोंछ लेना चाहिए। पटड़े व पंखे आदि जो भी चौकेमें लाये जायें धोकर ही लाये जायें। इनको चौकेसे बाहर ही धो लेना योग्य है, बिना धुला पंखा प्रयोगमें लाना योग्य नहीं। पंखेको धोकर सुखा लेना चाहिए, गीलेका गीला प्रयोग करनेसे भोजनमें उससे उड़नेवाले पानीके छींटे पड़नेका भय है।

बने हुए सब पदार्थोंके बर्तन किसी चौकीपर या पाटेपर या किसी ऊंचे स्थानपर सजाकर रखने चाहियें ताकि इधर-उधरसे आया हुआ पानी उनके नीचे न जा सके। जिस स्थानपर आपका पांव आता हो वहां पके हुए पदार्थका बर्तन नहीं रखना चाहिए। यदि नीचे ही बर्तन रखने पड़ें तो राख बिछाकर रखने चाहियें ताकि उतने स्थानमें पांवके आनेका भय न रहे। बेलन कभी पांवपर नहीं रखना चाहिए, रोटी बेलकर उसे परातमें ही रखना चाहिए। अपना हाथ भूमिसे स्पर्श नहीं होने देना चाहिए, यदि हो जाय तो धोना चाहिए इत्यादि। अन्य भी अनेकों प्रकारसे छूआछूतका विवेक बनाये रखना योग्य है। मक्खियोंके प्रवेशके प्रति जितनी भी सावधानी सम्भव हो करनी चाहिए। चिड़िया-चूहा आदिके प्रवेशके प्रति भी यथासम्भव रोक थाम करनी चाहिये।

(३) **काल-शुद्धि** के अन्तर्गत चौके सम्बन्धी कोई कार्य रातको या अन्धेरेमें नहीं करना चाहिए। कमसे कम इतना प्राकृतिक प्रकाश अवश्य होना चाहिए कि पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे जाय। बिजली व दीपकके प्रकाशमें काम करना योग्य नहीं, क्योंकि दीपकपर आनेवाले या स्वाभाविक रूपसे अन्धयारे वायुमण्डलमें घूमनेवाले छोटे-छोटे उड़नेवाले प्राणियोंके भोजनमें पड़ जानेकी सम्भावना रहती है। (४) **भाव-शुद्धि** का अर्थ मनःशुद्धिमें गर्भित है।

इन चार बातोंके अतिरिक्त **भोजन परोसनेमें** भी अत्यधिक सावधानीकी आवश्यकता है। रोटी, दाल, भात, जल, दूध अथवा नमक, मिर्च, मसाला जो कुछ भी परोसना हो अच्छी तरह देख-शोधकर परोसना चाहिये ताकि इसमें बाल, चींटी आदि कोई ऐसा पदार्थ न रह जाय जिसके थालीमें चले जानेपर अतिथिको अन्तराय होनेकी सम्भावना हो। इस प्रयोजनकी सिद्धिके

लिए दाल व भाजी आदिको कटोरीमें डालनेके पश्चात्, चमचेके द्वारा ऊपर उठा-उठाकर कटोरीमें पुनः पुनः धीरे-धीरे गिराया जाता है, ताकि उसकी पड़नेवाली धारमें बाल आदि दिखाई दे जाय। खाण्ड या नमक-मिर्च आदिको भी किसी थाली आदि चौड़े बर्तनमें फैलाकर बीन लेना चाहिये। रोटीको परोसनेसे पहले उसके चार टुकड़े करके प्रत्येक टुकड़ेका पुड़त उठाकर भीतर भली भांति गौरसे देखना चाहिए। रोटी तोड़ना रूढि मात्र नहीं है, कभी-कभी बाल रोटीमें वेला आता है और वह उस समय पता चलता है जबकि टुकड़ा मूंहमें आ जाय। इसलिए रोटीको धीरे-धीरे सावधानी-पूर्वक देखते हुए ही तोड़ना चाहिए ताकि यदि अन्दर बाल हो तो तोड़ते समय अटक जाय। जल्दीसे व झटकेसे तोड़नेसे बाल भी टूट जाता है और उसका पता लगने नहीं पाता। इसीप्रकार पुड़त उठाना भी रूढ़ि नहीं है भीतर गौरसे देखना चाहिए कि वहां कोई बाल या सुरसी आदि तो लगी नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र सावधानी रखनी योग्य है।

प्रयोजन—यहाँ यह शंका होनी सम्भव है कि इसप्रकारकी सर्व क्रियायें करना तथा बैक्टेरियासे सर्वथा बचा जाना क्या एक साधारण गृहस्थके लिये शक्य है ? ठीक है भाई ! कथनपर-से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि मानो एक साधकको जकड़जन्द कर दिया गया हो तथा विकल्प-जालमें उलझाकर उसे मूल तत्त्वसे वञ्चित किया जा रहा हो, क्योंकि यह सब कुछ बिल्कुल उसी रूपमें होना शक्य नहीं है जिस प्रकार कि यहाँ बताया गया है। परन्तु यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि सर्व ही प्रकरणोंमें इस बातपर जोर दिया गया है कि 'सारा जाता देखिये तो आधा लीजिए बांट' वाली लोकोक्तिको ध्यानमें रखकर चलना है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार यत्न करना है, प्रमादी बनना योग्य नहीं।

आगम-कथित इस आहार-शुद्धि-सम्बन्धी सर्व ही विकल्पोंकी आधुनिक रीतिसे सार्थकता दर्शाना इस अधिकारका प्रयोजन है, जिससे कि यह सर्व आचरण कोरा रूढ़ि मात्रसा प्रतीत न हो। अथवा उन व्यक्तियोंको जोकि भोजन-शुद्धि विषयक आरम्भ वर्तमानमें कर रहे हैं, उनकी क्रियाओंमें कुछ त्रुटियें दर्शाकर उन्हें सावधान करना प्रयोजन है, जिससे कि इस ओर थोड़ासा ध्यान देकर वे भोजन-शुद्धि-सम्बन्धी बड़े-बड़े दोषोंसे अपनी रक्षा कर सकें। पथके सर्व ही अंगोपांगोंका जीवनमें योग्य स्थान रहना चाहिए, अन्यथा प्रमादका दोष आता है। और हम सब अप्रमत्त तो हैं नहीं, अतः यथाशक्ति प्रमाद दूर करना कर्त्तव्य है।

८. <u>मांस-निषेध</u>—जिह्वाके लोलपी कुछ भारतीय युवक अपने स्वच्छन्दकी कमर थपथपानेके-लिये आज मांस-मछली और अण्डेको दूध-दहीके समकक्ष सिद्ध

करनेका निष्फल प्रयास कर रहे हैं। दो अंगुलकी इस इन्द्रियके-लिये इस प्रकार की बात मुखसे निकालते हुए उनका कलेजा नहीं कांपता। कौन नहीं जानता कि मांसके इन लाल-लाल टुकड़ोंमें किसी निरपराध बेज़ुबानकी आहें छिपी पड़ी हैं। यदि स्वार्थने तुझे इतना अन्धा बना दिया है तो आ मेरे साथ, मैं दिखाता हूँ तुझे उसका रूप।

देख सामने उस व्यक्तिको जो उस बकरीका कान पकड़कर खेंचता हुआ उसे ज़ुबरदस्ती किसी ओर ले जा रहा है और वह बकरी बराबर पीछेकी ओर हटनेको ज़ोर लगा रही है, मानो वह किसी मूल्यपर भी उसके साथ जानेको तैयार नहीं। कल भी यही बकरी देखी थी जबकि यह इसी व्यक्तिके साथ प्रेमपूर्वक खेल रही थी और स्वयं इसके पीछे २ भागी चली जा रही थी। आज क्या विशेषता है? चलो इसीसे पूछें। अरे पूछें किससे, उसका करुण-क्रन्दन स्वयं बता रहा है कि वह तुझसे रक्षाकी भिक्षा मांग रही है। अरे! एकबार उसकी आंखोंमें आखें डालकर देख तो सही कि क्या कह रही है वह तुझसे? अश्रुपूर्ण उन आंखोंमें छिपा हुआ है भय व न्यायकी दुहाई तथा करुणाकी पुकार, "भो पथिक! तू बाल-बच्चोंवाला है और मैं भी बाल-बच्चोंवाली हूँ। तेरे बच्चेको एक सूई चुभे तो बेकल हो जाता है, पर आश्चर्य है कि तू मेरी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता। अरे देख, आगे-आगे वे मेरे दोनों बच्चे खिंचे जा रहे हैं, मां-मां पुकार रहे हैं। ओ क्रूर मानव! दया कर, दया कर, ईश्वरसे डर। अरे पथिक तेरी आंखोंके सामने तेरे बच्चोंको क़तल कर दिया जाय तो क्या गुज़रेगी तेरे हृदयपर? मैं बेज़ुबान हूँ, कौन सुने मेरी पुकार? अरे मानव! इससे पहिले कि मैं अपने जिगरके टुकड़ोंको लहूमें नहाता देखूं, तू मेरी आंखें फाड़ दे।"

"अरे विधाता! क्या कोई नहीं है यहां मेरी सुननेवाला? क्या तू भी सो गया है? लोग कहते हैं कि तू सर्वज्ञ है, लोग कहते हैं कि तू सबका प्रतिपालक है, पर कहां है तू, कहां गई तेरी प्रतिपालकता? अरे मानव! तेरे बच्चेसे कितना भी बड़ा अपराध हो जाय, तब तो तू बड़े-बड़े न्यायालयोंमें जाकर उसे छुड़वा लेता है, पर मेरी ओर नहीं देखता। बता तो सही कि क्या अपराध किया है मैंने जिसका दण्ड कि मुझे यह मिल रहा है? आज मेरे बच्चोंका मेरी आंखोंके सामने वध किया जायेगा और फिर ···? निरअपराधीपर इतना बड़ा ज़ुल्म होता हुआ तू किन आंखोंसे देख रहा है? मैं तो मानती हूँ कि तू अन्धा है।"

"अरे मानव! मैं गिड़गिड़ाती हूँ, मिन्नत करती हूँ, तू मेरे बच्चोंको छोड़ दे। उनके मुखसे निकली हुई 'मां' की पुकार मैं कैसे सुनूं? अरे बेटा!

जिस 'माँ' को तू पुकार रहा है वह स्वयं दुष्टोंके हाथमें पड़ी है। जहाँ रक्षक ही भक्षक है वहाँ पुकार किसको सुनायें, बाड़ ही खेतको खाने लगे तो खेतकी रक्षा कौन करे ? राजा तो ईश्वरका प्रतिनिधि समझा जाता है पर स्वार्थके गहन अन्धकारमें आज वह भी अपना कर्त्तव्य भूल गया। किससे करें रक्षाकी प्रार्थना, किसके द्वारपर करें न्यायकी दुहाई ?"

"हिरनीका रुदन देखकर राजा सुगुप्तगीनने जीवन पर्यन्त शिकार खेलना छोड़ दिया। उसके पास तो हृदय था और इसीलिये उसे सारे जीवन उस हिरनीकी छलछलाई आँखें चारों ओर दिखाई देती रहीं, मानो उससे पुकार-पुकारकर कह रही हों कि तू मनुष्योंका ही नहीं हमारा भी राजा है, तू ही अन्याय करेगा तो न्याय किससे करायेंगे ? परन्तु बेटा ! आजके मानवके पास हृदय है ही कहाँ ? अतः तेरा चीखना-पुकारना बेकार है। मनुष्य तो मनुष्य, ईश्वर भी गहरी निद्रामें सो गया है आज। चुप रह बेटा चुप रह, मानवकी इस चार अंगुलकी जिह्वाके-लिए तू चुपचाप अपना बलिदान करदे, और ले मैं भी आ रही हूँ पीछे-पीछे।"

जंगलमें विचरण करनेवाले, तृणभोजी इन बेज़बान पशु-पक्षियोंको जिन अपने निर्दय हाथोंसे तू गोलीका निशाना बनाता है तथा अपने दूधसे तेरी सन्तानको पालनेवाली गो-माताका कलेजा चीरता है, काशकि एक बार उन्हीं हाथोंको अपने तथा अपनी सन्तानके कलेजेपर रखकर उसकी धड़कन सुन लेता, जो तुझे इस दुष्कृतसे बाज़ रहनेके-लिए बराबर उपदेश दिये जा रहा है।



प्रभुका नाम लेनेकी पवित्र प्रभात-वेलामें कोई तो अपने जीवनको पवित्र बना रहा है और कोई लहूमें हाथ रंगकर उसे धरातलको पहुँचा रहा है, कोई तो अपने बच्चोंको गोदमें खिला रहा है और कोई बेज़बान बच्चोंको माताकी गोदसे छीने जा रहा है, कोई तो अपने बच्चोंको चूम-चूमकर अपने हृदयको ठण्डा कर रहा है और कोई तलवारकी तीखी धारको इन बच्चोंके रक्तसे रंगकर माताओंके हृदयमें संताप उपजा रहा है, कोई तो अपने बच्चोंके मस्तकपर काला तिलक लगा रहा है कि कहीं नज़र न लग जाय और कोई इन बच्चोंको तलवारके घाट उतार रहा है।

यदि अन्यसे नहीं तो प्रकृतिसे तो डर। प्रकृतिने तुझे शाकाहारी बनाकर भेजा है मांसाहारी नहीं। इसके नियमको भंग मत कर। देख प्रकृतिकी गोदमें पलनेवाले चित्र विचित्र प्राणियोंकी ओर। दो जातिके पशु दिखाई देते हैं यहां, मांसाहारी और शाकाहारी। सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि मांसाहारी पशु हैं और गाय, घोड़ा, बन्दर आदि शाकाहारी। तू कौनसी जातिका बनना चाहता है ? क्या-कहा, मांसाहारी जातिका ? अरे ! ऐसा कहनेसे पहले प्रकृतिसे तो पूछ लिया होता। देख वह स्वयं कह रही है कि भोले मानव ! तुझे मैंने शाकाहारी बनाकर भेजा है, मांसाहारी नहीं। मांसाहारी पशुओंके शरीरको अन्य ढंगका बनाया है और शाकाहारीके शरीरको अन्य ढंगका, मांसाहारी पशुओंके नाखून तीखे बनाये हैं और शाकाहारीके चपटे, मांसाहारीके दांत नुकीले बनाये हैं और शाकाहारीके चपटे, मांसाहारीके पंजे गुदगुदे बनाये हैं और शाकाहारीके कठोर, क्योंकि उस ही प्रकारके पंजेसे शिकारपर झपटना, उसी प्रकारके नखसे उसे फाड़ना तथा उसी प्रकारके दांतोंसे उसे खाना सम्भव है। शाकाहारीके कठोर व चपटे अवयव इस कामके-लिये उपयुक्त नहीं हैं. यही कारण है कि शाकाहारी पशु कभी भूलकर भी मांस नहीं खाते। देखले अब अपने शरीरके अवयवोंकी ओर निर्णय कर कि तू कौनसी जातिका पशु है।

सर्व ही वस्तुएं तेरी भोज्य नहीं हैं। प्रकृतिने तुझे अन्न, वनस्पति तथा दूध प्रदान किया है। उसके नियमका उल्लंघन मत कर। मछली व अण्डा भी मांसकी जातिसे पृथक नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे भी बेज़बान प्राणी हैं। वे बोल नहीं सकते, इसका यह अर्थ नहीं कि उनके हृदयमें तेरी भांति अरमान न हों, वे जीना और जीवनका आनन्द लेना न चाहते हों। तेरे पास बुद्धि-बल है, जिसका सार्थक्य तभी है जबकि तू अपने साथ इन बेज़बानोंकी भी रक्षा करे।

क्या कहा, बीमारीमें खा लेनेमें तो कोई हर्ज नहीं है ? सो भाई ! यदि शाकाहारी पशु ऐसा कर लेते हों तो तू भी ऐसा करले, अन्यथा ऐसा करना प्रकृतिसे विरोध करना होगा। मांस-मछली व अण्डा आदि ही जीवनके रक्षक नहीं हैं, अपना पुण्य व आयु जीवनके रक्षक हैं। महात्मा गान्धीका पुत्र बीमार पड़ गया, डाक्टरने मांस खानेको बताया, पर गान्धीके दृढ़ संकल्पमें-से एक ही उत्तर निकला—"यद्यपि शरीरकी रक्षाके-लिए बहुत कुछ किया जाता है तथा करना चाहिए, पर सब कुछ नहीं। मानव-विवेक भी कुछ महत्व रखता है। पुत्रके प्राणोंके-लिए मैं विवेक बेचनेको तैयार नहीं"।

अतः भाई कुछ विवेक जागृत कर, मानवीय कर्त्तव्यको पहिचान, प्राकृतिक नियमको भंग न कर, दया धार, शरीर ही सर्वस्व नहीं है। दूसरोंकी आहों व चीत्कारोंको अपनी हंसीका आधार मत बना, दूसरोंकी चिताओं पर अपने जीवनका प्रासाद मत खड़ाकर, अपने पेटको दूसरोंके मृत शरीरोंकी क़बर मत बना। प्रेम कर सबसे, छोटे व बड़ेसे, मानव व पशुसे, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकारकि अपनी सन्तानसे करता है तू।

९. मछली अण्डा निषेध—मछली और अण्डेको मांससे भिन्न जातिका बतानेवाले मानव ! कुछ विवेक उत्पन्न कर, मछली मांससे पृथक नहीं की जा सकती। पहले मेरी आंखोंसे देख उस ओर उस मछलीको जोकि उस काण्टेमें फँसी तड़प रही है। देख उसकी आंखोंकी ओर और पढ़नेका प्रयत्न कर कि मूक भाषामें वह तुझसे दयाकी भीख मांग रही है। आ मानव ! अपनी इस जिह्वा-पोषणके स्वार्थमें अन्धा हो जानेके कारण तुझे कैसे दिखाई दे उसके हृदयकी तड़पन और कैसे सुनाई दे उसकी यह मूक भाषा ?

अण्डेको मुर्गीके नीचेसे हटाकर एक बार उसकी आंखोंमें झांककर देखले प्रभु ! कि वह क्या कह रही है तुझसे। "जगतका रक्षक बनकर आनेवाले ओ निर्दयी मानव ! जिसे तू सफ़ेद-सफ़ेद पत्थरका टुकड़ा समझकर उठाये लिए जा रहा है, वह मेरे जिगरका टुकड़ा है। प्रसूति-गृहमें-से ही तुरत जन्मे बालकको उसकी मातासे दूर कर देनेपर वह माता कितनी तड़पेगी, इस बातका अनुमान लगाले। इस सफ़ेद पत्थरमें मेरी आशायें पड़ी हैं, इसमें वह छोटासा कोमल हृदय पड़ा है जिसे १५ दिन तक मैंने गर्भमें रखकर पाला है। दया कर, दया कर।"

एक प्रश्न और है कि "भले ही मांसको त्रसजीव (Animal Life) की हिंसाके कारण अभक्ष्य कह लें पर अण्डा ऐसा नहीं है। अण्डे दो प्रकारके होते हैं—एक प्राण सहित और एक प्राण रहित, अर्थात् एक वह जिसमेंसे बच्चा

निकल सकता है और एक वह जिसमें-से बच्चा नहीं निकलता। प्राण-रहित अण्डा तो भक्ष्य मानना ही चाहिये, पर प्राण-सहित भी भक्ष्य ही है क्योंकि उसमें भी प्राण बहुत पीछेसे आते हैं, पहलेसे विद्यमान नहीं होते। पहले तो केवल कुछ पीला-पीला पानीसा ही होता है"।

भाई! तनिक विवेकसे काम ले, जिह्वाके वशमें होकर ऐसी अयोग्य बात मत कर। आज इस विज्ञानके युगमें भी तू ऐसा कह रहा है, आश्चर्य है। सूक्ष्मदर्शी यन्त्र (Microscope) में दोनों ही जातिके अण्डोंका वह पीलासा पानी क्या देखा है कभी? यदि नहीं तो एकबार देखनेका प्रयत्न कर, या मुझपर विश्वास कर। वह पीला-पीला दीखनेवाला पानी वास्तवमें त्रस जीवों (Animal Life) के पुञ्जके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भले ही इन चक्षुओंसे दिखाई न दे पर यन्त्रमें वे भागते-दौड़ते तथा कृमि-कृमि करते स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक दो नहीं होते असंख्यात (Countless) होते हैं वे। अण्डेमें प्राणी पीछेसे आता हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो अण्डा कभी बड़ा न हो पाता। तात्पर्य यह है कि हिंसाकी दृष्टिसे मांस मछली तथा अण्डेमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

मांस, मछली व अण्डा खाना तो दूर, इन्हें छूना भी योग्य नहीं, इनकी ओर देखना भी योग्य नहीं। शारीरिक स्वास्थ्यके-लिये पूर्वोक्त भक्ष्य पदार्थोंमें अर्थात् वनस्पति व दूधमें तेरेलिये प्रकृतिने सर्व ही प्रधान तत्त्व अर्थात् विटैमिन प्रदान किये हैं। 'मांस अधिक बलवर्धक है' इस कल्पनाको छोड़ दे क्योंकि दोनों ही जातिके पशुओंमें उत्कृष्ट बलधारी देखे जाते हैं। मांसाहारी पशुओंमें सिंह और शाकाहारी पशुओंमें हाथी, ये दोनों समान बलधारी हैं। अन्तर है तो इतना ही कि सिंहके बलका प्रयोग होता है केवल हिंसाकी दिशामें और हाथीके बलका प्रयोग होता है देश व देश-वासियोंके उपयोगी कार्यों में, सिंह क्रूर है और हाथी सौम्य, सिंह भयका कारण है और हाथी प्यारका। बता इनमेंसे किसकी प्रकृति भाती है तुझे, सिंहकी या हाथीकी? यदि हाथीवत् सौम्य बनना चाहता है तो शाकाहारी बन मांसाहारी नहीं। मांसमें मछली और अण्डा सम्मिलित हैं, यह नहीं भूलना चाहिये क्योंकि शाकाहार पशु मांसके साथ मछली व अण्डा भी नहीं खाते हैं। मनुष्यके-लिए शाकाहार ही बलवर्धक और सौम्यतावर्धक है।

अतः भो मानव! प्रतिज्ञा कर, मेरेलिये नहीं अपने हितके-लिए, अपनी संतान के हितके-लिये, अपने देशके हितके-लिये, कि आजसे मांस, मछली व अण्डा तथा अन्य भी इसी प्रकारके पदार्थोंकी ओर आंख उठाकर नहीं देखेगा, भले ही प्राण क्यों न जायें। बल-वृद्धिके-लिये तथा रोग-शमनके-लिए भी कभी इनका

ग्रहण न करेगा क्योंकि शरीर ही सर्वस्व नहीं है, विवेकका भी कुछ मूल्य है, दयाका भी जीवनमें कोई स्थान है।

मनुज प्रकृतिसे शाकाहारी, मांस उसे अनुकूल नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल फूल नहीं हैं॥

वे जीते हैं अपने श्रमपर, होती उनके नहीं दुकानें।
मोती देते उन्हें न सागर, हीरे देती उन्हें न खानें॥

नहीं उन्हें है आय कहींसे, और न उनके कोष कहीं है।
नहीं कहींके 'बैंकर' बकरे, नहीं 'क्लर्क' खरगोश कहीं है॥

स्वर्णाभरण न मिलते उनको, मिलते उन्हें दुकूल नहीं हैं।
अतः दुखीको और सताना, मानवके अनुकूल नहीं है॥१॥

१०. चर्म निषेध—इतना ही नहीं, इधर आ और भी कुछ दिखाता हूँ। देख सामने खड़ी इस गायको। किस बेदर्दीसे, भीगी हुई छड़ियोंद्वारा पीटा जा रहा है इसे ? जानता है क्यों ? इसके चमड़ेको नरम बनानेके-लिये ताकि सुन्दर क्रोमके रूपमें तेरे पांवकी शोभा बढ़ाए। देख इस ओर, उस गायका पेट चीरकर उसके गर्भमें-से उसके जीवित बालकको निकाला जा रहा है। जानता है क्यों ? इस बालकके नरम-नरम चमड़ेसे तेरेलिये मनी-बैग बनाई जायेगी। देख इस ओर, कितना राक्षसीय व्यवहार हो रहा है इस बेज़बान गायके साथ। जीवित ही इसके शरीरको जलते हुए भापके फ़व्वारोंसे उबाला जा रहा है। जानता है किस लिए ? ताकि फूलें हुए इसके नरम नरम चमड़ेसे तेरे लिये हैंड-बैग तय्यार की जाय। देख वह बेचारी किस प्रकार तड़फ रही है। अरे अरे ! यह क्या ? बस प्रभो बस और न दिखा। वह देख ऊपरसे लोहेके तीखे काण्टों-का यह फंदा नीचे उतरा और उबले हुए उस जीवित चमड़ेको उसके शरीरपर-से उधेड़कर अपने साथ ले ऊपर चढ़ गया और जीवित गायका लोथड़ा तड़फता रह गया। इधर देख 'फ़र' से बना यह मुलायम कोट, तथा कम्बल। क्या कुछ सुनाई देता है तुझे इसमें ? क्यों सुनाई दे, तेरे कानोंमें तो स्वार्थके डट्टे लगे हैं। सुन इसमें छिपा हुआ सैंकड़ों बेज़बान हृदयोंका करुण-क्रन्दन। छोटी-छोटी सैंकड़ों लोमड़ियोंने बलिदान दिया है अपने जीवनोंका, तेरे इस एक कोट या एक कम्बलको बनानेके-लिये। कहांतक कहूँ, कलेजा दहल रहा है। जिस एक-एक वस्तुमें मुझे चीख़ पुकारें सुनाई दे रही हैं, आश्चर्य है कि तू उनका सुख-पूर्वक उपभोग करता हुआ आनन्द मना रहा है।

११. दूध दही समर्थन—आज दूध व दहीके सम्बन्धमें भी एक संशयकी ध्वनि चारों ओरसे आती सुनाई दे रही है, जो इन्हें अण्डेके समान बता रही है

और उसीप्रकार सर्वथा अभक्ष्य। अतः यह विषय भी कुछ विचारनीय है। निःसन्देह दूध मांस-पेशियोंमें-से रिस-रिसकर नसोंके मार्गसे बाहर आता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह मांस या मांसके समकक्ष है। विष्टामें-से उत्पन्न होने मात्रसे अन्नको विष्टा या विष्टाके समकक्ष नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि दूधमें पाए जानेवाले बैक्टेरिया त्रस-जातीय नहीं वनस्पतीय-जातीय (Plant Life) हैं। यह मैं अपनी तरफ़से कह रहा हूँ ऐसा नहीं है, सूक्ष्मप्राणी-विज्ञान (Biology Science) ऐसा कहता है। वे भी संख्यात मात्र ही होते हैं, असंख्यात नहीं। इसलिए अण्डा तामसिक है और दूध सात्विक। दही जमानेके-लिए यद्यपि जान बूझकर दूधमें जामनके द्वारा कुछ बैक्टेरिया-विशेष प्रवेश कराकर उसमें उनकी सन्तान-वृद्धि कराई जाती है पर फिर भी वह भक्ष्य है, क्योंकि उनकी संख्या वहां संख्यात मात्रको उलंघन कर नहीं पाती। फिर भी 'दूधकी अपेक्षा दहीमें बैक्टेरिया अधिक होते हैं' यह सत्य है और इसलिए दूधकी अपेक्षा दही त्याज्य है, पर घी बनानेके लिए दही जमाना आवश्यक है इसलिए उसका ग्रहण किया गया है। आजकल मशीनके द्वारा दही जमाये बिना ही क्रीम बनाकर घी निकाला जाय तो दही-वाले घीकी अपेक्षा अधिक शुद्ध है, परन्तु उसकी मर्यादा कम होती है क्योंकि दो महीनेके पीछे ही उसमें विशेष प्रकारकी गन्ध आने लगती है, अतः उस घीको अधिक समयतक रखना योग्य नहीं है।

दूध बछड़ेका भाग होनेके कारण अग्राह्य हो ऐसा भी नहीं है, या उसमें चोरीका दूषण आता हो सो भी नहीं है, क्योंकि पहली बात तो यह है कि साराका सारा दूध बछड़ा पी नहीं सकता, यदि पीवे तो पेट अफर जावे। दूसरी बात यह है कि जबतक दाँत नहीं निकलते तबतक तो अवश्य दूध उसका भाग है पर दाँत निकलनेके पश्चात् नहीं क्योंकि तब उसे भूसा भी साथ-साथ दिया जाता है। दाँत प्राकृतिक चिन्ह है इस बातका कि उसे अब भूसे आदिकी आवश्यकता पड़ गई है। इसलिए जितना अन्न या भूसा उसे दे रहे हैं उतना दूध आप ले लें तो चोरीका दोष नहीं लग सकेगा। आप मुफ्तमें दूध लेते हों सो भी बात नहीं है क्योंकि आप गाय व उसकी सन्तानको सुरक्षा देते हैं, उसकी आवश्यकताओंका भार अपने सरपर लेते हैं, इसके बदलेमें गाय अपना सर्वस्व आपको अर्पण कर रही है, अपना दूध प्रसन्नतापूर्वक आपको देना स्वीकार कर रही है। इसप्रकार गायका दूध लेनेमें चोरी नहीं है, पर इतना विवेक अवश्य रखना चाहिए कि बछड़ेको पेटभर भोजन दिया जाय तथा जितनी उसे आवश्यकता है उतना दूध भी। दाँत निकलनेसे पहले आधा और पीछे चौथाई दूध बछड़ेको दिया जाना पर्याप्त है।

१२. समन्वय—जीव-हिंसाके सम्बन्धमें विचारनेसे तो वास्तवमें सर्व ही पदार्थ अभक्ष्य हैं, क्योंकि कोई भी पदार्थ सर्वथा बैक्टेरिया-रहित नहीं होता। सैद्धान्तिक-रूपसे देखनेपर यद्यपि वनस्पति या दूध आदि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिनमें पहिलेसे बैक्टेरिया नहीं होते, पर क्योंकि वातावरणकी शत-प्रतिशत शुद्धि असम्भव होनेके कारण वहांसे वे तुरत प्रवेश पा जाते हैं इसीलिये सर्व ही पदार्थोंको व्यवहारमें बैक्टेरिया-सहित कहा गया है। इसलिये किसीकी शक्ति आज्ञा दे और वह भोजन मात्रका ही त्याग करके जीवन चला सके और साधना कर सके तो उत्तम है, पर ऐसा सम्भव नहीं है, भोजन तो करना ही होगा। अब रही ग्राह्य और अग्राह्यकी बात, सो व्यक्ति-विशेषकी शक्तिपर निर्भर है। यह ध्यान रहे कि यहाँ एक मध्यम मार्गका विचार हो रहा है जिससे कि जीवन भी बना रहे, साधनामें विघ्न भी न हो और जीव-हिंसा भी कमसे कम हो।

यदि कोई व्यक्ति केवल सूखे अन्नपर निर्वाह कर सके और उसकी साधना बाधित न हो तो अत्यन्त उत्तम है, उसको हरित व दुग्धका त्याग कर देना चाहिये। यदि अन्न व वनस्पतिसे काम चला सके तो कभी भी दूध ग्रहण नहीं करना चाहिए, पर अनुभव करनेपर यह प्रतीतिमें आता है कि इन दो पदार्थोंके अतिरिक्त शरीरको कुछ चिकनाई व अन्य आवश्यक विटामिनोंकी भी आवश्यकता है जो दूधमें ही मिलते हैं वनस्पतिमें नहीं। इसलिए यदि अधिक कालतक दूधका प्रयोग न किया जावे तो शरीर शिथिल हो जाता है, विचारणायें बाधित हो जाती हैं, बुद्धि सोने लगती है, साधना भंग हो जाती है। यह यद्यपि अपनी ही कमज़ोरी है पर इसी कमज़ोर हालतमें साधना करना इष्ट है। इसलिए तीनोंमें सबसे निकृष्ट होते हुए भी दूध-दही आदिके ग्रहणकी आज्ञा गुरुओंने दी है। यहाँ इतना विवेक अवश्य रखना चाहिये कि यह प्रयोजन-वश रिश्वत देकर काम निकालनेके समान है, वास्तवमें दूध अग्राह्य ही है। यदि किसीकी शक्ति बढ़ जाय तो सबसे पहले उसे दूधका ही त्याग करना चाहिये, वनस्पतिके त्यागका नम्बर उसके पीछे आता है। समाधि-मरणके प्रकरणमें जो अन्नका त्याग पहले और दूधका पीछे बताया है वह दूसरी अपेक्षासे है। शारीरिक शक्ति बढ़नेकी वहां अपेक्षा नहीं है, बल्कि आहार घटानेकी अपेक्षा है। अन्नकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होनेके कारण दूधका त्याग वहाँ पीछे होता है।



२६

तप



१. सामान्य परिचय—बात चलती थी यहांसे कि मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नहीं। उसे कैसे प्राप्त किया जाय यह प्रश्न था। उत्तरमें पिछले कई दिनोंसे अनेकों प्रकरणों द्वारा यह बताया गया कि वास्तवमें शान्ति मुझसे कोई भिन्न पदार्थ नहीं जो कि उसे बाहर कहींसे खोजकर लाना पड़े, प्रत्युत स्वयं मेरा स्वभाव है, मेरा धर्म है; जो यद्यपि मेरे ही किन्हीं अपराधोंके कारण बाधित अवश्य हो रही है, परन्तु मुझसे विलग नहीं हुई है। यदि सत्यका लक्ष्य लेकर साधना करूं तो अवश्य उसे हस्तगत करनेमें सफल हो जाऊं। व्यक्तिकी प्रकृति, शक्ति व स्थितिके अनुसार वह साधना तीन भागोंमें विभाजित की गई—गृहस्थ-धर्म, श्रावक-धर्म और साधु-धर्म। गृहस्थ-धर्मके अन्तर्गत देव-पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय तथा संयम इन चार अंगोंका कथन हो चुका। अब चलना है उसके पांचवें अंग 'तप' का कथन। देवपूजा आदिके द्वारा यद्यपि नित्य-नूतन अपराधोंका आंशिक संवरण कर दिया गया अर्थात् उनका आस्रवन या आगमन कुछ-कुछ रोक दिया गया, तदपि वे परिपुष्ट संस्कार जो कि पीछे बैठे अनेकविध विकल्पों द्वारा मेरी इन अपराधी प्रवृत्तियोंको प्रेरणा देते रहते हैं, अभी पूरी शक्तिके साथ गरज रहे हैं। जबतक इनकी शक्ति कुछ क्षीण नहीं हो जायेगी तबतक शान्ति-पथपर मेरी निर्बाध प्रगति सम्भव नहीं है। संस्कारोंकी क्षति ही निर्जरा तत्त्व है और तप उसका साधन है। यहां गृहस्थोचित धर्मके अन्तर्गत इस तपका सामान्य परिचय देना इष्ट है, क्योंकि इसका विशेष विस्तार आगे 'उत्तम-तप' नामक ३७ वें अधिकारमें किया जानेवाला है, जोकि प्रायः साधुओं तथा सन्यासियोंके द्वारा सिद्ध किया जाने योग्य है।

तपका अर्थ है आत्म-प्रतपन अर्थात् आत्मतेज या आत्म-शक्तिको जागृति, जिसके जागृत हो जानेपर कि साधक इन संस्कारोंको ललकारनेका तथा उनके

साथ युद्ध ठानकर उनकी शक्तिको किञ्चित क्षति पहुँचानेका साहस कर सके। संस्कारोंको ललकारनेका तात्पर्य है प्रतिकूल वातावरणमें जाकर साधना करना, अबतक की गई साधनाकी परीक्षा करना, और यदि कहीं कमी प्रतीत होती है तो उसे दूर करना। जैसाकि पहले बताया जा चुका है (देखो २०। ६.१०), हीन शक्तिवाले प्राथमिक साधकको मार्गका प्रारम्भ अर्थात् अपनी साधना अनुकूल वातावरणमें रहकर करनी चाहिये, परन्तु उस वातावरणमें रहते हुए विकल्पों का या तीव्र कषायोंका किंचित् दमन हो जानेपर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि इनका वास्तविक दमन तभी माना जा सकता है जबकि प्रतिकूल वातावरणमें भी ये उभरने न पावें। यद्यपि साधनाका प्रारम्भ प्रतिकूल वातावरणमें नहीं किया जा सकता, तदपि अनुकूल वातावरणमें साधनाका कुछ फल प्राप्त कर लेनेपर शक्तिमें कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है। बस इस शक्तिके आधारपर अब प्रतिकूल वातावरणमें जाकर उस साधनाकी परीक्षा करना ही गृहस्थोचित् 'तप' है। किसी व्यक्तिको क्रोध उसी समय आता है जबकि सामने कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो। यदि विरोधीकी अनुपस्थितिमें क्रोध न आनेका नाम ही शान्त रहना है, तब तो लोकमें सभी शान्तचित्त कहलायेंगे, क्योंकि कौन ऐसा है जो घरमें बैठा दीवारोंसे लड़ता हो या निष्कारण किसी राहगीरसे छेड़-छाड़ करता हो ?

एकबार वर्णीजीने अपनी मातासे कहा कि अब मैं बहुत शान्त हो गया हूँ। माताने परीक्षाके-लिये एक दिन खीरके स्थानपर मलहड़ी (छाछकी नमकीन खीर) परोस दी। खाते ही वर्णीजीका पारा चढ़ गया और थाली फेंककर मारी। पता चल गया वर्णीजीको कि वे अभी शान्तिसे कितनी दूर हैं। बस इसीप्रकार अपनी साधनाकी सफलता तब समझो जबकि प्रतिकूल साधनोंके उपस्थित हो जानेपर भी शान्तिमें भंग न पड़े। इस प्रयोजनके-लिये किया जाता है तप, जिसमें जान-बूझकर प्रतिकूल परिस्थितियोंका आव्हाहन किया जाता है, प्रतिकूल वातावरणमें प्रवेश किया जाता है, और वहाँ जाकर भी इस बातकी सावधानी रखी जाती है कि शान्तिसे विचलित न होने पाऊँ। कदाचित् अन्तरंगमें क्षोभ प्रकट होने भी लगे तो उसे अन्दरमें ही दबानेका प्रयत्न किया जाता है और इसप्रकार अभ्यास करते हुए एक समय वह आ जाता है कि स्वतः कभी ऐसे प्रतिकूल अवसर आ पड़ें तो शान्ति निर्बाध रहे, मस्तक पर बल न पड़े, मुस्कराहट भंग न हो। बस तब जानो कि प्रतिकूल संस्कार टूट चुका है। इसीप्रकार सर्व जातिके संस्कारोंके साथ युद्ध करके बलपूर्वक उनको प्रलय करनेका नाम 'तप' है।

२. भय-निवृत्ति—तप शब्द सुनकर कुछ भयसा लगता है, 'मुझे तप करना पड़ेगा' यह बात सुनना भी मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है कि तप करनेमें बड़ी भारी पीड़ा होती होगी, बड़ी वेदना होती होगी। महीनों-महीनोंके उपवासों द्वारा शरीरको कृश करनेवाले योगियोंकी दशाको देखकर मेरा हृदय कांप उठता है और पुकार उठता है कि बड़ा कठिन है यह मार्ग, असिधाराके समान, मुझसे न चलेगा। इसप्रकार घबराकर इस दिशाकी ओर लखानेका भी साहस नहीं होता।

परन्तु भूलता है प्रभु ! वास्तवमें ऐसी बात है ही नहीं। तपमें पीड़ा होती ही नहीं, इसमें है शान्ति, आल्हाद और उल्लास। पहले कहे अनुसार, (देखो साधना अधिकार) तपमें भी दो क्रियायें बराबर चलती हैं— एक अन्तरंगक्रिया और दूसरी बाह्यक्रिया। अन्तरंगक्रिया है अपने उपयोगका शान्तिके प्रति झुकाव, शान्तिमें प्रतपन, इच्छाओं व विकल्पोंका दमन, चिन्ताओंसे मुक्ति; और बाह्य-क्रिया है शारीरिक पीड़ाका सहना। तेरे उपरोक्त भयका कारण यही है कि तूने केवल बाह्यक्रिया देखी है, अन्तरंग नहीं। वास्तवमें उपयोगात्मक अन्तरंग-क्रिया के बिना बाह्य-क्रिया निरर्थक हुआ करती है। पीड़ाको अनुभव करनेवाला उपयोग ही तो है, और उपयोग एक समयमें दो दिशाओंमें काम कर नहीं सकता। इसलिये यदि उपयोग अन्तरंग-शान्तिमें केन्द्रित कर दिया जाय तो बताओ पीड़ाका अनुभव कौन करेगा और पीड़ा किसे होगी? जिस प्रकार बुखार हो जानेपर यदि रेडियो सुननेमें उपयोग लगा दें तो बुखारका पता नहीं चलता, जिसप्रकार अपने शत्रु-दलको पीछे धकेलनेमें तत्पर बराबर उसकी क्षति करनेवाला योद्धा रणक्षेत्रमें कदाचित् अपने शरीरमें लगे घावकी पीड़ाका वेदन नहीं करता, उसीप्रकार शान्तिके अल्हादमें केन्द्रित कर दिया है उपयोग जिसने तथा बराबर संस्कारोंको क्षति करनेवाले योगीको बाहरकी शारीरिक बाधाओंका पता नहीं चलता, मानो कुछ हो ही नहीं रहा है।

तपका प्रयोजन है संस्कारोंके साथ युद्ध ठानकर उनका मूलोच्छेद करना। वह दो प्रकारका होता है, बाह्य और अभ्यन्तर। बाह्य तपसे उन संस्कारोंका उच्छेद होता है जोकि शारीरिक पीड़ायें आ पड़नेपर मुझे शान्ति तथा समतासे च्युत कर देते हैं, और अभ्यन्तर तपसे उन संस्कारोंका उच्छेद होता है जोकि मेरे अन्तरंगमें बराबर इच्छाओं तथा कषायोंके रूपमें जागृत होकर मुझे विविध प्रकारके अपराध करनेके प्रति नियोजित करते रहते हैं। इसलिये बाह्य-तपमें कुछ ऐसी क्रियायें की जाती हैं जिनसे शरीरको पीड़ा हो और अन्तरंग-तपमें कुछ ऐसी भावनायें की जाती हैं जिनसे मेरी *इच्छाओं तथा* कषायोंका शमन हो।

इनका विस्तार तो आगे 'उत्तम तप' वाले ३७ वें अधिकारमें किया जायेगा, परन्तु यहां इतना बताना इष्ट है कि ये दोनों ही प्रकारके तप साधक अपनी शक्तिके अनुसार करता है। भले तुझमें आज इतनी शक्ति न हो कि देह-पीड़ाकारी बाह्य-तपको तू कर सके, परन्तु अभ्यन्तर-तप करनेकी शक्ति तो अब भी तुझमें है ही। क्या हृदयमें भावनायें उत्पन्न करनेसे कुछ पीड़ा होती है तुझे? बाह्य-तप भी तू सर्वथा न कर सके, ऐसा नहीं है कभी-कभी अनशन या उपवास तो अब भी करता ही है तू।

इतना ही क्यों, अपने दैनिक जीवनमें नित्य तप किये जा रहा है तू, और विकटसे विकट किये जा रहा है तू। दर्शन-खण्डके 'चारित्र' वाले प्रकरणमें तेरे वर्तमान व्याकुल जीवनका चित्रण किया गया है (देखो ५.४)। क्या वह कुछ कम तप है? उसके अतिरिक्त भी देख, विद्यार्थी जीवनमें विद्योपार्जनकी गृद्धतावश और गृहस्थ जीवनमें धनोपार्जनकी गृद्धतावश अथवा स्त्री पुत्रादि कौटुम्बिक व्यक्तियोंको अधिकाधिक सुखी देखनेकी गृद्धतावश, क्या-क्या नहीं सह रहा है तू? परीक्षाके अवसरपर विद्यार्थीको और त्योहारके अवसर पर व्यापारीको न रहती है खानेकी सुध न पीनेकी। खाया खाया, न खाया न खाया, कभी एक चायका कप पीकर ही रह गये। ये 'अनशन' तथा 'ऊनोदरी' नामक तप नहीं तो और क्या हैं? प्रवासके दिनोंमें जो खाना आप घरसे बन्धवाकर ले जाते हैं वह यद्यपि रूखा-सूखा होता है तदपि जिस किस प्रकार खड्डा भर ही लेते हैं आप। यह 'रस-परित्याग' नामक तप नहीं तो और क्या है? दुकानपर बैठकर नित्य ही तथा प्रवासके दिनोंमें विशेषत: क्या-क्या कष्ट नहीं सहते हैं आप? न गर्मीको गिनते हैं न सर्दीको, न बरसातकी कुछ परवाह करते हैं और न गाड़ीकी भीड़की। कहीं हो गई गाड़ी लेट तो बिता दिये घण्टों उसकी प्रतीक्षामें। यह सब 'कायक्लेश' नामक तप नहीं तो और क्या है? पढ़नेकी चिन्ता मनमें लिये विद्यार्थी बैठा रहता है सारा-सारा दिन घरसे दूर किसी उद्यानमें अथवा नदी किनारे। यह 'विविक्तशय्यासन' या एकान्त सेवन नामक तप नहीं तो और क्या है? किसी प्रेमी बन्धुके प्रति कदाचित कोई दोष हो जानेपर, अथवा अपने रोगी पुत्र आदिको कदाचित भूलसे गलत औषधि दी जानेपर आपका हृदय रो उठता है, पश्चातापसे भर जाता है; अथवा किसी सज्जनके प्रति कदाचित भूलसे कोई असभ्यता हो जानेपर Sorry कहकर उससे क्षमा मांगते हैं। यह सब 'प्रायश्चित्' नामक तप नहीं तो और क्या है? स्कूल-कालेजमें गुरुजनों तथा पुस्तकोंके प्रति, घरमें वृद्धजनोंके प्रति, समाजमें प्रतिष्ठित व्यक्तियोंके प्रति, दफ़्तरोंमें अफ़सरोंके प्रति

और दुकानपर ग्राहकोंके प्रति विनम्र बन जाते हैं आप । यह आपका 'विनय' नामक तप नहीं तो और क्या है ? परीक्षामें फेल होनेकी चिन्ता, व्यापारमें हानि होनेकी चिन्ता, धनहीनताके कारण पुत्रीका विवाह न कर पानेकी चिन्ता इत्यादि-इत्यादि अनेकविध चिन्ताओंमें चित्तका बराबर अटके रहना 'ध्यान' नामक तप नहीं तो और क्या है ?

इस प्रकार आप नित्य ही किये जा रहे हैं तप, केवल अभ्यन्तर नहीं बाह्य भी, एक दो नहीं मारेके मारे । परन्तु वहां न लगता है आपको इनसे भय और न है चित्तमें इनकी अवश्यम्भावी आवश्यकता पर सन्देह, फिर शान्ति या समता-प्राप्तिके इस पारमार्थिक-क्षेत्रमें ऐसा क्यों ? इसका तो अर्थ यह हुआ कि आपको इन पारमार्थिक उद्देश्योंके प्रति या तो सर्वथा गृद्धता नहीं है, या इतनी नहीं है जितनी कि विद्या अथवा धन आदिके प्रति । आप इनकी बात अवश्य करते हैं परन्तु आपका लक्ष्य इस ओर नहीं है ।

अतः हे साधक ! तू डर मत, यह मत भूल कि तू शान्ति तथा समता-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर निकला है । बिना कष्ट सहे जब छोटी-मोटी व्यवहारिक वस्तुकी भी प्राप्ति नहीं होती तो इस महान वस्तुकी प्राप्ति कैसे होगी ? और फिर तुझे शक्तिसे अधिक तो करनेके-लिये कुछ कहा नहीं जा रहा है, जितनी कुछ भी हीन या अधिक शक्ति तुझमें है उसके अनुसार ही करनेको कहा जा रहा है । तू अपनी शक्तिको मत छिपा, यह महान अपराध है । जितनी शक्ति लौकिक प्रयोजनोंकी सिद्धिके अर्थ लगाता है उतनी ही इधर भी लगा । तपकी वृद्धिको प्राप्त योगी-जनोंको भी अपने महान बलकी स्वामित्व एक दिनमें प्राप्त नहीं हो गया था, तेरे जैसी ही निम्न अवस्थामें यथोपलब्ध शक्तिका प्रयोग करते हुए उन्होंने अपने बलको बढ़ाया था और उत्कृष्ट तप धारण करने के योग्य होकर आज 'योगी' कहलाने लगे हैं । तू भी अपने योग्य तप धारण करनेके प्रति मनमें कुछ उल्लास जागृत कर, इससे तुझे महान लाभ होगा, जिसका तू स्वयं अनुभव करेगा, और कुछ ही महीनोंमें तुझे यह देखकर आश्चर्य होगा कि अन्तर आ रहा है तेरे जीवनमें, एक महान अन्तर, आकाश-पाताल का अन्तर; परिवर्तन होता जा रहा है तेरे मनमें जिसने तुझे किसी अन्धकूपसे निकालकर ला खड़ा किया है सूर्यके प्रकाशमें ।

३. शक्ति-वर्द्धन—"भले थोड़ा सही परन्तु जब संवरसे ही निर्जराका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तो तपके द्वारा निर्जरा करनेकी क्या आवश्यता ?" ठीक है भाई ! परन्तु तूने इतना न सोचा कि संस्कार हैं अनादि कालके पुष्ट किये हुए बड़े प्रबल और उनकी क्षतिके-लिये तेरे पास समय है थोड़ा, केवल मनुष्य आयु

मात्र । इसलिये जबतक इनकी क्षति वेगके साथ नहीं होगी तबतक इतने कम समय में उनसे मुक्ति मिलना असम्भव है, और अगले भवमें कौन जाने यह ज्ञान और यह उत्साह मिले कि न मिले। परन्तु इसी भवमें यदि इनकी शक्तिको तप-द्वारा अत्यन्त क्षीण कर दिया जाय और अपनी शक्तिमें वृद्धि कर ली जाय तो अगले भवमें भी ये तेरे मार्गमें बाधा डालनेको समर्थ नहीं हो सकेंगे। यही कारण है कि इस मार्गमें तप अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि प्रतिकूल वातावरणमें जाकर जिस व्याकुलताका वेदन तुझे करना पड़ता है, उससे तू किसी अंशमें बच जायेगा और वर्तमानका तेरा सम्पूर्ण जीवन शान्तिमय बन जाएगा। क्या इस बातकी सिद्धि उस समयतक सम्भव है जबतक कि तू प्रतिकूल वातावरणमें रहकर कुछ उद्यम न करे, उस अशान्तिसे बचनेका ? नहीं ऐसा सम्भव नहीं। बस इस उद्यमका नाम ही तप है जिसके द्वारा कि अशान्तिसे बचा जा सकता है।

संस्कारोंकी क्षतिका क्रम बताया जा चुका। तपद्वारा उनकी क्रमिक क्षति करता हुआ जीव किस गतिसे और कैसे भावोंसे आगे बढ़ता है, आज यह बात बतानी है। हम यह देखते हैं कि प्रारम्भिक दशामें किसी भी कार्यको प्रारम्भ करते हुए प्राणीको कुछ झिझकसी या कुछ भयसा हुआ करता है। लौकिक कार्यों में एवं अलौकिक कार्योंमें, सबमें यह बात देखनेमें आती है। आस्रव व बन्ध प्रकरणमें चोरीके कार्य-सम्बन्धी दृष्टान्त दिया था। वहां भी प्रारम्भमें चोरी करनेवाले उस बालकके हृदयका चित्रण करते हुए यह दिखाया था कि उस समय कितना भय था उसमें। ज्यों-ज्यों वह इस कार्यमें अभ्यस्त होता गया, भयमें हानि होती गई, चोरीके प्रति उसका साहस बढ़ता गया और एकदिन वह पूरा चोर बन गया (देखो १२.२)।

यहां भी एक व्यापारीका दृष्टान्त ले लीजिये। पहले दिन ही जब किसी व्यापारीके पुत्रको दिसावर जानेके-लिये कहा जाता है तो कैसी होती है उसके हृदयकी स्थिति, सब जानते हैं। कुछ झिझकसी, कुछ भयसा, 'कैसे करूंगा सौदा, कहां भोजन करूंगा, प्रबन्ध बने कि न बने, और भावमें लुट गया तो ? खैर जाना तो पड़ेगा ही, व्यापार प्रारम्भ जो करना है। पहले सौदेमें नुकसान भी रहा तो कोई बात नहीं, इससे कुछ सीख तो जाऊंगा ही। धन-हानि भले हो जाय पर अभ्यासका लाभ तो हो ही जाएगा' इत्यादि विकल्पोंके जालमें उलझा वह चल देता है माल खरीदने। अपनी ओरसे पूरी-पूरी चतुराई दिखाता है कि नया होनेके कारण किसी सौदेमें लुट न जाय और माल ले आता है। यदि दूसरोंकी अपेक्षा कुछ ज्यादा दाम दे भी आया तो भी कोई चिन्ता नहीं उसे,

क्योंकि पहला अवसर ही तो था, दूसरी बार जायेगा तो यह गलती नहीं करेगा और इसलिए दूसरी बार झिझक व भय नहीं होता, यदि होता है तो कम। अबकी बार होता है उसके साथ कुछ उत्साह, कुछ पहली बारके अनुभवका साहस, अतः इस बार धोखा नहीं खाता, यदि खाता है तो पहलेसे कम। इसी-प्रकार उत्तरोत्तर तीसरी व चौथी बार अधिक-अधिक उत्साहके साथ जाता है, और एकदिन कुशल व्यापारी बन जाता है।

अलौकिक कार्य-सम्बन्धी दृष्टांतमें भी यही क्रम है। उपवास करनेमें डर लगता है किसीको। अनन्त चतुर्दशी आई, उसके साथियोंने उपवास किया, उसे भी प्रेरणा की गई कि उपवास करे परन्तु डरता है। "कैसे करूं, आजतक उपवास करके देखा नहीं, कैसा लगता होगा? भूख तो सतावेगी ही, उसे कैसे सहन करूंगा? नहीं-नहीं! मुझसे नहीं होगा।" अगले ही क्षण कुछ उत्साहके साथ "अरे! इतना क्यों डरता है, ये छोटे-छोटे बच्चे भी तो करते ही हैं, क्या तू इनसे भी गया-बीता है, और फिर थोड़ी बाधा हुई भी तो क्या हो जाएगा, एक ही दिन की तो बात है, सहनकर लीजियो, मरेगा तो नहीं" इत्यादि अनेकों भयपूर्ण विकल्पोंमें उलझा साहस करके कर ही लेता है-उपवास। कुछ थोड़ी बाधा हुई तो अवश्य परन्तु इतनी नहीं जितनी कि वह सोचता था। फलतः, "अरे! कोई अधिक कठिन तो नहीं है, दिन बीत गया शास्त्र सुननेमें व पूजाके कार्यक्रममें, खाना खानेका ध्यान ही नहीं आया, आया भी तो अत्यन्त अल्प। यों ही घबराना था, अब मत घबराना, प्रतिवर्ष उपवास करना"। इन विचारोंके साथ अब एक उत्साह उत्पन्न हो गया उसमें, प्रतिवर्ष क्रमशः अधिक-अधिक रुचिके साथ उपवास करता है और एक रोज़ अभ्यस्त हो जाता है वह उपवास करनेमें।

दृष्टान्तपर-से यह स्पष्ट है कि १. किसी भी कार्यके प्रारम्भमें होती है एक झिझक, भय व कायरता; २ एकबार अन्यसे प्रेरित होकर, ज़बरदस्ती कुछ कष्ट सहन करके भी यदि प्रवृत्ति कर ली जाय उस ओर तो झिझक हो जाती है कम और उसके स्थानपर आजाता है कुछ साहस, कुछ उत्साह ३. ज्यों-ज्यों दोहराता है उस कार्यको साहस व उत्साहमें उत्तरोत्तर होती है वृद्धि और भय होता है उत्तरोत्तर कम; ४. इस क्रमसे एकदिन हो जाता है वह पूर्ण अभ्यस्त और निर्भय।

बस तपमें भी इसीप्रकार समझना—१. प्रतिकूल वातावरणमें रहनेके कारण 'शान्तिका उद्यम मैं कर नहीं सकता' इस प्रकारका भय है आज। २. गुरुके उपदेश तथा जीवनसे प्रेरित होकर यदि कुछ उद्यम करूं, तो भले अधिक सफलता न मिले पर झिझक हो जायेगी कुछ कम और साहसमें हो

जायेगी कुछ वृद्धि। ३. पुनःपुनः उस नवीन उपार्जित साहसको लेकर उत्तरोत्तर अधिक उत्साहके साथ यदि इस दिशामें उद्यम करूं तो साहस व अन्तर्बल में होगी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा झिझकमें हानि। ४. इसप्रकार एकदिन होऊंगा मैं भी उस योगीकी दशामें जिसका बल अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हो चुका है, जिसके कारण कि अनेकों शारीरिक बाधायें क्षुधा, तृषा, गरमी, सर्दी, मच्छर, मक्खी आदि कृत, तिर्यञ्चकृत, प्रकृतिकृत अथवा मनुष्यकृत, आ पड़नेपर भी, उसकी शान्तिमें बाधा नहीं पड़ती, उसके मुखपर विकसित मुस्कान भंग नहीं होती, उसके अन्तरमें पीड़ा-वेदन-सम्बन्धी अनिष्ट आर्तध्यान उत्पन्न नहीं होता और वह बराबर रहता है अपनी शान्तिमें मग्न। परन्तु ऐसी अवस्था क्रमपूर्वक चलनेसे ही आयेगी, यदि एकदम वैसा बननेका प्रयत्न करूंगा तो फल उल्टा होगा, पीड़ा होगी, उससे आर्तध्यान और उससे कुगति। हर एक कार्य ज्ञानके आधारपर करना चाहिए, नक़ल नहीं। उपवास आदि क्रियाओंकी महिमा नहीं गाई जा रही है यहां, बताया जा रहा है तप द्वारा शक्ति-वर्द्धनका सिद्धान्त।

४. शरीरका सार्थक्य—मत भूल, भो चेतन! मत भूल कि तू शक्तिका अर्जन करने निकला है, धनका नहीं। क्यों करता है शरीरकी चिन्ता? यह है ही किसलिये? तपश्चरणके द्वारा क्षीण हो तो हो। आप कारख़ाना लगाते हैं और उसमें मशीनें फ़िट करते हैं तो किसलिये? 'यदि मशीनको चलाया तो घिस जायेगी', क्या ऐसा अभिप्राय रखकर माल बनाना बन्द करते हैं आप? घिसे तो घिसे, टूटे तो टूटे, माल तो बनाना ही है, नहीं तो मशीनें हैं ही किसलिये? टूट जायेंगी तो मरम्मत कर लेंगे, अधिक घिस जानेपर मरम्मतके योग्य नहीं रहेंगी तो बदलकर और नई लगा लेंगे', यही तो अभिप्राय रहता है आपका या कुछ और? बस तो शरीरके प्रति योगीका भी यही अभिप्राय है। आप मशीन न समझकर 'मैं' रूप मान बैठे हैं इसे, इसीलिये इसके घिसने या टूटनेसे अर्थात् रोग व मृत्युसे डरते हैं, पर योगी इसे मशीन समझते हैं जिसे उन्होंने शान्तिरूपी माल तैयार करनेके-लिये लगाया है। अतः वे इसके घिसने व टूटनेसे अर्थात् रोग व मृत्युसे नहीं डरते। यह घिसे अर्थात् क्षीण हो तो हो, टूटे अर्थात् मरे तो मरो. यह है ही किसलिये? जबतक मरम्मतके योग्य है अर्थात् शान्तिके काममें कुछ सहायताके योग्य है तबतक इसकी मरम्मत कर-करके इसे भोजनादि आवश्यक पदार्थ दे-देकर इससे अधिकसे अधिक काम लेना। जिस दिन मरम्मतके योग्य नहीं रहेगा अर्थात् बुढ़ापेसे अत्यन्त जर्जरित हो जायेगा, उसदिन इसे छोड़ देना अर्थात् समाधि-मरण कर लेना (देखो अधिकार ४४); और नया शरीर मिल जायेगा, फिर उससे पुनः वही शान्तिका माल तैयार करनेका

बन्धा करना, कारखाना बन्द न होने देना। यह है योगीका तपसे प्रयोजन, शरीर होनेका यथार्थ फल।

५. मानस-तप—तपका प्रकरण चलता है अर्थात् उन संस्कारोंके विनाशकी या निर्जराकी बात चलती है जो कि मन्दिरसे निकलकर गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश करते ही मेरे अन्दर मेरी बिना इच्छाके कुछ ऐसे विकल्प उत्पन्न कर देते हैं जिनमें ग्रस्त होकर मैं व्याकुल हो उठता हूँ। इस रागात्मक वातावरणरूपी पवनको प्राप्त होकर संस्कार भड़क उठते हैं और मेरे अन्दर चिन्ताओंकी अतीव दाह उत्पन्न करके मुझे भस्म करने लगते हैं। धन्य है आजका अवसर कि मुझे यह तो खबर चली कि गृहस्थीमें उठनेवाले विकल्प भी कुछ हैं, जिन्हें मैं नहीं चाहता और कोई उपाय हो तो हर मूल्यपर इनसे बचनेको तैयार हूँ। इससे पहले अज्ञानवश या बुद्धिके किसी विकारवश मुझे इस दाहमें भी कुछ मिठाससी ही प्रतीत होती थी और किसी मूल्यपर भी मैं इसको छोड़ना नहीं चाहता था। एक महान अन्तर पड़ गया है आज मेरे अभिप्रायमें, चूमले इस अभिप्रायको, बहुमान प्रगट कर इसके प्रति, हरप्रकार रक्षा कर इसकी। यहां अनेकों चोर हैं इस अभिप्रायके, इस जिज्ञासाके, देख कहीं निकल न जाय तेरी तिजोरीसे यह, तीनलोककी सम्पत्तिसे भी अधिक मूल्यवान 'जिज्ञासा'।

यह सब किसका प्रसाद है? कहांसे आई यह शान्ति मेरे अन्दर? यह सब है उन गुरुओंका प्रसाद, उस वीतराग वाणीका प्रसाद, जिनकी उपासना कि मैं पहले कर चुका हूँ। कितना महान फल मिला है मुझे उस उपासनाका, बिल्कुल प्रत्यक्ष तथा आज ही, कलकी प्रतीक्षा करनेकी भी आवश्यकता नहीं। यह है उस निर्जराका प्रताप जो संवरके साथ-साथ धीमे-धीमे हुई है। गुरुओंका प्रसाद प्राप्त करके आज मुझसे अधिक सौभाग्यशाली कौन होगा। अत्यन्त मूल्यवान इस शान्तिकी जिज्ञासाको प्राप्त करके मुझसे अधिक धनवान कौन होगा?

यद्यपि मन्दिरके अनुकूल वातावरणमें रहते हुये मैं उस शान्तिका तनिक वेदन कर आया हूँ, परन्तु गृहस्थीके वातावरणमें आनेपर जबकि मैं घरमें होता हूँ, बीवी-बच्चोंसे बातें करता या भोजन करता होता हूँ, दुकानपर ग्राहकोंसे बातें करता या माल बेचता-खरीदता होता हूँ, दफ्तरमें अपने स्वामीसे सलाह करता या अपने आधीनको कुछ आज्ञा देता होता हूँ, मोटर या रेलमें यात्रा करता या मार्गमें गमन करता होता हूँ, तब 'वह शान्ति कहां चली जाती है' मैं नहीं जानता। वहां रहते हुये भी उसको कैसे स्थायी रखा जा सके, विशेषतया ऐसी स्थितिमें जबकि मैं उस उपरोक्त वातावरणको अनिष्ट जानते हुये भी तथा उसको छोड़ना चाहते हुये भी छोड़नेको समर्थ नहीं हूँ; अथवा जबकि मैं

उस प्रकारको कठिन तपस्या करनेको समर्थ नहीं हूं जैसीकि योगीजन करते हैं। वह कौनसा तप है जो मैं ऐसी स्थितिमें रहते हुये कर सकूं और किञ्चित् मात्र अपने जीवनमें सफल हो सकूं।

निराश मत हो प्रभु! भय मत कर। तुझे योगियोंवाला, क्षुधादि बाधाओं को जीतनेवाला शारीरिक तप करनेको नहीं कहा जायेगा। कुछ ऐसा तप बताया जायेगा जो तू सुविधापूर्वक कर सकेगा, अर्थात् मानस-तप; केवल शक्ति को न छिपाकर वैसा प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, इससे तेरी गृहस्थीको अथवा तेरी सम्पत्ति या तेरे शरीरको कोई बाधा नहीं होगी।

गृहस्थीके उस वातावरणका विश्लेषण करके मुझे यह बता कि क्या उसमें बीतनेवाला तेरा साराका सारा समय किसी आवश्यक कार्य करनेमें ही व्यतीत होता है या बीच-बीचमें कभी ऐसे अन्तराल भी आ जाते हैं जबकि तू न बीवी बच्चोंसे बातें करता हो और न ग्राहकोंसे, अर्थात् जबकि तू कोई भी आवश्यक कार्य न करता हो, या तो बिल्कुल खाली बैठा हो, या अकेला कहीं चला जा रहा हो, या लेटा हुआ हो? 'ओह! ऐसे अवसर तो एक दो नहीं अनेकों आते हैं, सारे दिनमें। कोई छोटा होता है और कोई बड़ा, अर्थात् कभी अन्तराल पांच मिनटका होता है और कभी घण्टोंका भी'।

भला यह तो बता कि तू क्या काम किया करता है इन अन्तरालोंमें? "कुछ विशेष कार्य नहीं, केवल कुछ कल्पनायें, कुछ चिन्तायें, इस जातिकी जो कि मुझे व्याकुलताके वेगमें बहा ले जाती हैं। भाव घट गया है मालका, पचास हजारका माल पड़ा है घरमें, क्या होगा? कोई आशंकासी, यदि यह सत्य हो गई 'तो'? ब्लड-प्रेशरका रोग बता दिया है डाक्टरने, बड़ा भयानक है यह, हार्ट फेल होने का कारण। एक आशंका भी, यदि सत्य हो गई 'तो'? और इसी प्रकार अनेकों निराधार कल्पनायें, जिनका आधार है केवल अनुमान व संशय। और यदि कोई सौभाग्यवश आकर बीचमें टोक दे मुझे, अर्थात् मेरे उपयोगको इधरसे हटाकर खींच ले अपनी ओर तो मैं बड़ा ही प्रसन्नसा हो जाता हूँ। 'अच्छा हो हुआ यह ग्राहक आ गया, क्या ही अच्छा होता कि हर समय ही ग्राहक खड़े रहते मेरे पास, और मुझे ऐसी कल्पनायें करनेका अवसर ही न मिल पाता'। अर्थात् करता हूँ इस आशंका जनित 'तो' सम्बन्धी चिन्तायें, जिनके न आनेको ही मानता हूँ अपना सौभाग्य।"

तबतो बहुत सरल हो गया तेरेलिये, किसी आवश्यक कार्यको छोड़नेकी या उसमें बाधा डालनेकी आवश्यकता नहीं, केवल उन फालतूवाले अन्तरालोंका दुरुपयोग न करके सदुपयोग कर। किसप्रकार सो सुन, यह पहले बताया जा

चुका है कि अभिप्राय या लक्ष्य पूर्णताका होता है, परन्तु अभिप्रायके साथ-साथ कार्य भी पूर्ण हो जाय यह नियम नहीं। हां यह नियम अवश्य है कि कार्य करनेके प्रति पुरुषार्थ अवश्य प्रारम्भ किया जाता है, यदि उपाय सम्बन्धी कुछ जानकारी हो तो। तुझमे भी इस वातावरणमें रहते-रहते शान्त रहनेका सच्चा व दृढ़ अभिप्राय तो बन चुका है, और जीवनमें उस अभिप्रायकी किञ्चित् मात्र पूर्तिके पुरुषार्थ करनेको भी उद्यत हुआ है परन्तु उपायका भान न होनेके कारण तेरा यह अभिप्राय कुछ बेकारसा पड़ा है। ले वह उपाय बताता हूँ।

६. नव-संस्कार—किसी शत्रुका विनाश करनेके-लिये नीतिज्ञ व्यक्ति उसके मुकाबलेमें उसके किसी अन्य शत्रुको भड़काकर खड़ा कर दिया करते हैं, और इस प्रकार बिना स्वयं आफतमें पड़े अपने प्रयोजनकी सिद्धि कर लिया करते हैं। बस तू भी यदि बिना उपसर्गादि सहे इन संस्कारोंका विनाश करना चाहता है तो इनके सामने इनके विरोधी किसी अन्य संस्कारको लाकर खड़ा कर दे, अर्थात् प्रयत्न कर कि तेरे अन्दर एक नवीन जातिका कोई विशेष शुभ संस्कार उत्पन्न हो जाय, जिसका झुकाव हर समय शान्तिके अभिप्रायको प्रेरित करना हो, जिस-प्रकार कि वर्तमान संस्कारोंका झुकाव भोग आदिके अभिप्रायको प्रेरित करना है।

संस्कार उत्पन्न करनेका उपाय बन्ध-तत्त्ववाले प्रकरणमें स्पष्ट कर दिया गया है (देखो १०.२)। बस वही प्रयोग इस अभीष्ट संस्कारको उत्पन्न करनेके लिये भी लागू करना है। वैज्ञानिक ढंग यही है किसी कार्यको करनेका कि अनुभूत कार्यका विश्लेषण करके 'वह किस प्रकार तथा किस क्रमसे करनेमें आया है' यह जाना जाय और उस क्रमको एक सैद्धान्तिकरूप दे दिया जाय, हर कार्यपर लागू करनेके-लिये। पूर्व-संस्कारको उत्पन्न करनेके क्रममें बताया गया था, बुद्धि-पूर्वककी कोटिसे प्रारम्भ करके उसका अबुद्धि पूर्वककी कोटिमें चले जाना। यहां भी यह नवीन संस्कार पहले-पहले बुद्धि-पूर्वक बल लगाकर प्रारम्भ करना होगा, और इस बुद्धिक प्रयोगको तबतक चालू रखते रहना होगा जबतक कि दृढ़ व पुष्ट होकर वह अबुद्धिकी कोटिमें न चला जाय।

क्या है यह बुद्धिका प्रयोग, यही अब बताता हूँ। मैं जीवनमें कुछ ऐसा प्रयत्न करूं कि भले ही कामके अवसरोंमें न सही परन्तु उन फालतू अवसरोंमें वह बात मेरे उपयोगमें आ जाय जो प्रात: मन्दिरमें देखी थी, सुनी थी, विचारी थी तथा धारी थी। अर्थात् उन अवसरोंमें यदि कल्पनाएं ही करनी हैं तो बजाय उपरोक्त कल्पनाओंके कुछ अन्य जातिकी कल्पना क्यों न करूं? उस जातिकी कल्पनाएं जिनसे कि वे अवसर उतने कालके-लिये स्वयं सुन्दर बन

जायें, शान्त बन जायें, तथा अगले अवसरोंको भी वैसा बननेकी प्रेरणा दें, और इसप्रकार उन फालतू अवसरोंको मैं उपयोगी बना लूं ? यह ठीक है कि पहले-पहले उन सर्व ही फालतू अवसरोंको उपयोगी बनानेमें मैं सम्भवतः सफल न हो पाऊं, परन्तु यदि प्रयत्न करूं तो क्या यह भी सम्भव नहीं कि उन सर्व अवसरोंमें-से कोई एक या दो अवसर कदाचित् मैं उपयोगी बना सकूं ? ऐसा हो जाना अवश्य सम्भव है । उपयोगी बने हुए उन अवसरोंमें स्वभावतः अनुभव में आई कोई अलौकिक शान्ति मेरे पूर्वके अभिप्रायको और पुष्ट कर देगी, परसों वाले प्रवचनमें बताये अनुसार विरोधी संस्कारको कुछ क्षति पहुँचायेगी, सफलता के प्रति मेरे अन्दरमें पड़े संशयको दूर करेगी और साहसमें कुछ वृद्धि करेगी, मैं अधिक उद्यमी बनकर शेष रहे अन्य अवसरोंमें भी उन बातोंको उपयोगमें लानेका प्रयत्न करूंगा, तथा एकदिन सफल हो जाऊंगा उन सर्व फालतू अवसरोंको उपयोगी बनानेके-लिये ।

इतनेपर ही बस न होगा, इस बातका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं कि उत्पन्न हुई उस शान्तिसे प्रेरित होकर यह मेरा पुरुषार्थ बराबर इस दिशामें आगे बढ़ता चला जायेगा, और धीरे-धीरे उन उपयुक्त अवसरोंकी गिनतीमें वृद्धि होने लगेगी । अब कदाचित् ग्राहकसे बातें करते या अन्य कोई आवश्यक कार्य करते हुए भी थोड़ी देरके-लिये मेरे उपयोगमें वह बात आने लगेगी । केवल बुद्धि-पूर्वकका पुरुषार्थ ही नहीं, पूर्वका अभ्यास भी अबुद्धि-पूर्वक इस कार्यमें मेरी सहायता करता रहेगा । आगे-आगे उपयोगी अवसरोंकी गिनती में ही वृद्धि नहीं होगी बल्कि उनके कालमें भी बराबर वृद्धि होती चली जायेगी, और इसप्रकार बराबर दो दिशाओंमें वृद्धि होते-होते एकदिन ऐसा आ जायेगा जबकि ये सर्व अवसर मिलकर एक विचार-धारा बन जायेंगे अर्थात् उस प्रकार का उपयोग बराबर अन्दरमें बना रहेगा । चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-जागते हर समय ही वह उपयोग अन्दरमें छिपा हुआ कुछ हल्की-हल्की चुटकियां भरा करेगा । मैं बाहरमें तो सौदा तोलता हूँगा ग्राहकको और अन्दरमें वेदन करता हूँगा उन हल्की-हल्की शान्ति-रसके आनन्द वाली चुटकियोंका, और अब वह बात किसी भी वातावरणमें भूल नहीं पाऊंगा, जैसाकि पहले हो जाया करता था । यही तो था प्रयोजन जिसकी सिद्धि क्रम पूर्वक चलनेसे हो गई ।

अभ्यास हो जानेके पश्चात् कोई बुद्धिपूर्वकका विशेष पुरुषार्थ उस दिशामें करना नहीं पड़ता, वह कार्य थोड़ेसे इशारे मात्रसे ही स्वयं चलता रहता है । जिसप्रकार बड़े परिश्रमसे बुद्धिपूर्वक पग बढ़ानेका अभ्यास करनेवाला बालक,

अभ्यस्त हो जानेपर मात्र थोड़ेसे इशारेसे दौड़ने तक लगता है, उसे अपनी बुद्धि को विशेषतया उस दिशामें लगानेकी आवश्यकता नहीं होती, पाँवसे चलते हुए भी वह बुद्धिसे कुछ और बातें विचारनेका काम लिया करता है. उसीप्रकार उपरोक्त अभ्यस्त दशा हो जानेपर उस साधक गृहस्थकी बुद्धि भले ही बाहरमें किसी और दिशाका कार्य करती रहे पर अन्तरंगका वह प्रयोजनभूत कार्य बुद्धि-पूर्वककी कोटिमें आकर एक संस्कारका रूप धारण कर चुका है, वह संस्कार जो कि पूर्वके अनेकों संस्कारोंको परास्त करनेमें समर्थ है, और जिसका विश्वास हो जाता है अन्तरकी उस महान प्रतीतिसे जो हमारे पूर्वकी अशान्ति व वर्तमानकी किञ्चित् शान्तिके बीच साक्षात् अनुभवमें आ रही है।

अबुद्धि-पूर्वकका तात्पर्य यहां यह न समझ बैठना कि बिना किसी भी पुरुषार्थके ही वह अवस्था बराबर बनी रहेगी, इस अवस्थामें भी कुछ पुरुषार्थ अवश्य लगाना होगा, उस नवीन संस्कारकी धाराको बराबर प्रवाहित रखनेके लिये। यह बात अवश्य है कि उस पुरुषार्थमें लगाये जानेवाला बल प्रारम्भमें लगाये जानेवाले बलसे बहुत कम होगा। जिसप्रकार कि लोटेमें पानी भरकर उसमें डोरी बांधकर घुमावें तो पहले चक्करमें झटका देते समय कुछ अधिक बल लगाना पड़ता है और सावधानीपूर्वक लगाना पड़ता है कि कहीं पानी बिखर न जाये, परन्तु एक चक्कर खा लेनेके पश्चात् आगे भी उसे घूमता रखनेके-लिये भले ही उतना बल व उतनी सावधानी न रखनी पड़े, परन्तु प्रत्येक चक्करके साथ अंगुलीका एक संकेत तो देना ही पड़ेगा। कार्य प्रारम्भ हो जानेके पश्चात् उसे चालू रखनेके-लिये जो यह थोड़ासा बल लगाना पड़ता है, इसे आजके वैज्ञानिक एञ्जीनियर एक्सीलिरेशन कहते हैं तथा गणितके द्वारा वे लोग इस प्रक्रिया-विशेषमें प्रयुक्त बलको अर्थात् एक्सीलिरेशन पावरको प्रारम्भमें प्रयुक्त बलकी अर्थात् स्टार्टिंग पावरकी अपेक्षा कई गुणी हीन सिद्ध कर रहे हैं। मोटर स्टार्ट करते समय पहले सैकिण्ड गियर पर चलायी जाती है और एक बार चलने के पश्चात् अन्तिम गियरपर डाल दी जाती है। फस्ट या सैकिण्ड गियरपर उसकी गति धीमी होती है और पैट्रोल अधिक खाती है, परन्तु अन्तिम गियरपर उसकी गति भी तीव्र हो जाती है और पैट्रोल भी बहुत कम खाती है। अर्थात् प्रारम्भमें अधिक बल लगाकर भी कम काम कर पाती है और चालू हो जानेके पश्चात् कम बल लगानेसे भी अधिक काम कर लेती है। यही वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र सभी कार्योंमें लागू होता है। इसी सिद्धान्तको शान्ति तथा समताकी प्राप्ति के अर्थ प्रारम्भकी गई अपनी साधनापर लागू कर, और वही होगा तेरा वर्तमान

दशामें होनेवाला तप, 'मानस तप' जो २४ घण्टे चलता रहेगा तेरे दैनिक जीवनमें ।

दृष्टि-पथमें आनेकेकारण यद्यपि लोकमें बाह्य तपकी ही महिमा आंकी जाती है, परन्तु विविध प्रकारकी एषणाओंसे मनका शोधन किये बिना वह सब बाल-तप है, अधोलोक-गामिनी आसुरी-वृत्ति है। इस बातका प्रत्यक्ष अध्ययन किये बिना कि किस प्रकार अनेकानेक मायावी समाधानोंके द्वारा यह मन भीतर ही भीतर व्यक्तिकी समस्त वृतियोंको अपने आधीन करके उसे धराशायी करता रहता है, और किस प्रकार इस पारमार्थिक पथमें भी वह स्वार्थ पुष्टिके साधनोंका संग्रह करता रहता है, व्यक्ति कभी उसके राज्यका उल्लंघन करके उसके सुदृढ़ पाशोंसे मुक्त नहीं हो सकता। मनको सर्वथा निष्काम तथा समता-स्थित किये बिना व्यक्ति जो कुछ भी बाहरमें करता है, उस सबके पीछे कोई न कोई एषणा, कोई न कोई कामना, कोई न कोई स्वार्थ अवश्य बैठा रहता है, वह हो इस लोक विषयक या उस लोक विषयक, धन-कुटुम्बादि विषयक या ख्याति-प्रसिद्धि विषयक। सकल बाह्य तपश्चरणके द्वारा उसे व्यर्थ देह-पीड़नके अतिरिक्त अन्य कुछ भी हाथ नहीं लगता। उसमें तप करनेके प्रति उत्साह अवश्य होता है परन्तु केवल किसी एषणाकी प्रेरणासे, न कि शान्ति के रसास्वादनसे। इसलिये साधकका कर्तब्य है कि वह उतावल न करे, साधु-जनोंके तपश्चरणकी नकल न करे, प्रत्युत उनकी भूमिमें प्रवेश करनेसे पहले यहां इस गृहस्थ-दशामें हो मानस तपके द्वारा घोड़ेकी भांति इस मनको सिधावे इसे कामनाओं व इच्छाओंका विरेचन करावे, और इस प्रकार उस साक्षात्चित समता-भूमिमें प्रवेश करनेके योग्य बनावे ।

२७

दान



१. सहज दान—शान्तिपथ-गामीको बाधक संस्कारोंसे मुक्ति पानेका क्रमिक सहल उपाय बताया जा रहा है। गृहस्थ-धर्मकी छः क्रियाओंके अन्तर्गत पांचवों क्रिया (तप) का प्रकरण पूरा हुआ और अब चलता है छटी क्रिया (दान) का प्रकरण। वास्तवमें दानका अन्तर्भाव भी व्युत्सर्ग या त्याग नामके तपमें हो जाता है (दे० १७.३) और इसलिये दान भी एक तप है, परन्तु सत्य-साधक गृहस्थोंके-लिये इसकी प्रधानता होनेके कारण इसका यहां पृथक निर्देश किया गया है।

दानका तात्पर्य है दूसरेको कुछ देना। हमें विचार इस बातका करना है कि हम आज किसीको कुछ दे रहे हैं या नहीं तथा इस दानको हमारा कर्त्तव्य क्यों बताया जा रहा है? ये दो प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्नपर विचार करते हुए यह बात प्रतीत होती है कि धनादि बाह्य सामग्री देनेके अतिरिक्त मैं प्रतिक्षण कुछ और भी दे रहा हूँ इस लोकको। मैं ही क्या इस लोकके जड़ व चेतन सब ही पदार्थ एक दूसरेको दे रहे हैं कुछ न कुछ। पदार्थोंका यह पारस्परिक आदान-प्रदान बराबर चल रहा है। देखिये इस घड़ीकी सूई अभी साढ़े सातपर आई और हमारे चित्तको कुछ उतावलापनसा देने लगी, 'उपदेशका समय आ गया' यह सूचना देने लगी। देखो भगवानकी जड़ प्रतिमा हमको शान्ति दे रही है, सुभाषका चित्र हमें साहस दे रहा है, यह विष्टा हमें घृणा दे रही है, ये शब्द जो मैं बोल रहा हूँ कुछ विवेक दे रहे हैं, मानसिंह डाकू हमें दूर बैठा भी भय दे रहा है, वनमें विराजे वीतरागी गुरु हमको ही नहीं बल्कि समस्त विश्वको शान्ति व समता दे रहे हैं। उन गुरुओंका अभाव हो जानेके कारण ही उनके द्वारा दिया जानेवाला दान बन्द हो गया है, अतः सारा विश्व असन्तुष्ट है और एटमबम जैसे अस्त्रोंका जन्म हुआ है। संशय और भ्रमके

झूलेमें झूलते जगतको आज शान्तिका दान देनेवाले वीतरागी गुरुओंकी बहुत आवश्यकता है। किस-किसका नाम लेकर बतायें, प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ दे रहा है, शान्ति या अशान्ति, भय या अभय।

मैं भी इसीप्रकार दे रहा हूं कुछ, किसी एक दो व्यक्तियोंको नहीं बल्कि सर्व विश्वको। वास्तविक दान तो वीतरागी गुरु ही दे सकते हैं जो कुछ न देते हुए भी सब कुछ दे रहे हैं, जिसका मूल्य तीन लोककी सम्पदा भी चुका नहीं सकती। एक हाथसे नहीं बल्कि रोम-रोमसे दे रहे हैं, एक व्यक्तिको नहीं बल्कि सर्व विश्वको दे रहे हैं, तिर्यञ्चों व वनस्पति तकको दे रहे हैं, शान्तिका दान अपने जीवनसे। मैं भी तो उन्हींकी सन्तान हूं, उन्हींके पथपर चल रहा हूं, मुझे भी वही कुछ देना चाहिये जो वे दे रहे हैं; अर्थात् मेरा जीवन भी ऐसे सांचेमें ढल जाना चाहिए जिससे कि सर्व विश्वको नहीं तो अपने सम्पर्कमें आनेवाले छोटे-बड़े प्राणियोंको तो दे ही सकूं मैं शान्ति, हीन या अधिक। यही है वह अन्तरंग तथा आदर्श-दान जो स्वतः प्रतिक्षण दिया जाना सम्भव है, यदि पूर्वकथित-रूपसे अपने जीवनका निर्माण करूं तो।

२. दान-धर्म—अब लीजिये बाह्यदान, लोक-विख्यात दान, अर्थात् धनादि वस्तुओंका स्व-पर-कल्याणार्थ व्युत्सर्ग या त्याग। इसमें यद्यपि धनका त्याग एक आवश्यक अंग है परन्तु 'स्व-पर-कल्याणार्थ' इस विशेषणके बिना वह निरर्थक है। हम सब धनका दान तो नित्य कर रहे हैं, उसमें कोई कमी नहीं है और सम्भवतः इस समाजमें होनेवाली दानकी प्रवृत्ति सबसे अधिक है, परन्तु क्या स्व-पर-कल्याणवाला विशेषण उसमें घटित किया जा सकता है, यह देखना है। यदि वह घटित नहीं होता तो वह दिया-दिलाया बेकार है।

दातारका सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि उस महादोषके प्रति सावधान रहे जो कि दिये-दिलाये सबको खड्डेमें डाल देता है, किये-कराये सबपर पानी फेर देता है, और वह महादोष है एषणा—पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा। 'यदि मेरे व्यापारमें लाभ हो जाय, अथवा मेरी नौकरी लग जाय, अथवा परीक्षामें या मुकद्दमेमें सफल हो जाऊं, अथवा यदि मेरे पुत्र उत्पन्न हो जाय तो हे प्रभु! मैं तेरे चरणोंमें अमुक वस्तुकी भेंट दे दूं, अथवा इतना रुपया दे दूं, अथवा छत्र चढ़ा दूं अथवा मन्दिरमें वेदी बनवा दूं या घीकी ज्योत जला दूं।' इस प्रकारके प्रयोजनसे भगवानको दी गई घूस वित्तेषणा और पुत्रेषणा युक्त होनेसे दान नहीं है। इसी प्रकार 'इस दानसे समाजमें मेरा नाम हो जाय, मेरे पिता, पितामहका नाम हो जाय, मेरी कीर्ति फैल जाय कि मैं बड़ा धनाढ्य धर्मात्मा तथा दानवीर हूं' इस प्रकारके अभिप्रायोंसे दिया गया सर्व दान लोकेषणा युक्त

होनेसे निरर्थक है। पहला दिया जाता है प्राय: मन्दिरोंमें और दूसरा मन्दिरों, धर्मशालाओं, स्कूल-कालेजों, औषधालयों तथा हस्पतालों आदि सभी प्रकारकी सामाजिक संस्थाओंमें, और इसके अतिरिक्त साहित्य-प्रकाशनमें भी।

क्या विचारा है कभी कि एषणा युक्त दिये गये इस सकाम दानसे कितना कुछ हित हो रहा है तेरा अथवा किसी अन्य व्यक्तिका अथवा समाजका ? इस भावनासे प्रेरित होकर जिन मन्दिरों या प्रतिमाओंका तू निर्माण किये जा रहा है नित्य, उनकी वहां कोई आवश्यकता भी है या नहीं, अथवा उनकी देखभाल पूजा-प्रक्षाल आदि करनेवाला भी वहां कोई है या नहीं ? इस भावनासे प्रेरित होकर जो पुस्तकें छपाये जा रहा है तू, बड़ी या छोटी, अथवा नये-नये साप्ताहिक या मासिक पत्र-पत्रिकायें निकलवाये जा रहा है तू, उन्हें कोई पढ़नेवाला भी है या नहीं, अथवा उनके पढ़नेसे किसीका कुछ हित होना सम्भव है या नहीं ? इस साहित्य द्वारा क्या कुछ देना चाहता है तू जगतको—समता व प्रेम या साम्प्रदायिक विद्वेष, आक्षेपोंके, समीक्षाओंके तथा खण्डन-मण्डनके रूपमें ? नित्य छोटी-छोटी भजनोंकी जो पुस्तकें छपवा-छपवाकर बांट रहा है तू, उनका सदुपयोग हो रहा है कुछ या जा रही हैं सब यों ही रद्दीकी टोकरीमें ?

भो पुरुषार्थी ! विचार तो कर कि क्या करेगा इस नामको लेकर, खायेगा, बिछायेगा या ओढ़ेगा इसे ? मात्र तेरी एषणाओंका, कामनाओंका, इच्छाओंका पोषण ही तो हो रहा है इससे, और क्या ? और इसलिए परमार्थतः लाभ की बजाय हानि ही हानि, अहित ही अहित, स्वका भी अहित और परका भी अहित। राग अथवा इच्छाको कम करनेके-लिये दिया था दान और कर बैठा उसका पोषण। उधर लेने वालेके हृदयमें जागृत करके इसी प्रकारकी एषाणायें, कर दिया उसका भी सब कुछ चौपट। सौदेबाज़ीके अतिरिक्त और क्या कहें इसे ? जिस प्रकार बाज़ारमें पैसा देकर चीज़ ख़रीदली, उसी प्रकार यहां भी पैसा देकर कीर्ति ख़रीद ली। घूसख़ोरीका व्यापार है यह। जिस प्रकार अफ़सरोंको घूस देकर अपना उल्लू सीधा कर लिया, उसी प्रकार भगवान्को घूस देकर अपना उल्लू सीधा कर लिया। बता और क्या फल चाहता है तू इस दानका, इस भवमें या अगले भवमें ? इसका नाम दान नहीं है प्रभो ! सम्भल इन दुष्ट संस्कारोंसे और रक्षा कर इनसे अपनी।

भो शान्तिके उपासक ! यदि शान्ति प्राप्तिकी सच्ची जिज्ञासा तथा श्रद्धा है तेरे हृदयमें, तो दातार बन, असाधारण दातार, निष्काम दातार। साधारणजन देते हैं शारीरिक सुखके-लिये और तू दे आत्मिक सुखके-लिये। साधारणजन देते हैं विषय भोगोंकी प्राप्तिके-लिये और तू दे शान्तिकी प्राप्तिके-लिये। साधा-

रणजन देते हैं केवल पर-कल्याणके-लिये और तू दे स्व-पर-कल्याणके लिये। साधारणजन देते हैं अपनेको दूसरेका उपकारी समझकर और तू दे केवल कर्त्तव्य समझकर। साधारणजन देते हैं रागवर्द्धनके-लिये और तू दे राग-वर्जनके-लिये। साधारणजन देते हैं धन-मानकी प्राप्तिके-लिये और तू दे धन-मानके त्यागके-लिये। तभी तो बन पायेगा तेरा यह दान 'त्याग' नामक धर्म, जिसका कि कथन आगे आने वाला है (देखो अधिकार ३९)। योगीजन करते हैं पूर्ण त्याग घर-बारका, धन-कुटुम्बका, वस्त्र-भाजनका यहां तक कि बाह्य और अभ्यन्तर शरीरका भी, और तू कर आंशिक त्याग धनदानके रूपमें, अन्नदानके रूपमें, औषधदानके रूपमें, ज्ञानदानके रूपमें और अभयदानके रूपमें।

इसप्रकार एक ही दान-धर्म विभक्त हो जाता है चार प्रधान कोटियोंमें अन्नदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान। भूखेकी क्षुधा-निवृत्तिके अर्थ दिया गया धन, अन्न या भोजन, अथवा साधु-जनोंको दिया गया आहार 'अन्न-दान' है। रोगियों तथा पीड़ितोंके रोगादिकी निवृत्तिके अर्थ दिये गये धन, औषधि आदि 'औषधदान' है। ज्ञानार्थीकी अज्ञान-निवृत्तिके अर्थ दिये गये धन, पुस्तक आदि अथवा अध्यापन, भाषण, प्रवचन आदि 'ज्ञानदान' है। दारिद्रय-पीड़ितोंको दी गई आर्थिक सहायता, असमर्थोंको दी गई श्रम-सहायता, चिन्तितोंको दी गई सान्तवना, निराश्रयोंको दिया गया आश्रय, शरणार्थियोंको दी गई शरण, रोग, मरी, बाढ़, दुर्भिक्ष अथवा राजविप्लव द्वारा सताये गयोंको दी गई यथोचित सहायता, सेवा आदि यह सब कहलाता है 'अभयदान'।

ये चारों ही प्रकारके दान दिये जा सकते हैं—अपने घर दुकानपर दान पानेकी कामनासे आनेवाले किसी व्यक्ति-विशेषको, तथा सामूहिक रूपसे सबको जिन-किनको भी दान पानेकी इच्छा है। पहले प्रकारका दान तो आप प्रतिदिन अपने घर दुकानपर करते ही हैं, दूसरे प्रकारका दान किया जाता है सार्वजनिक संस्थान खुलवा कर, या उनकी धन, अन्न, श्रम आदि द्वारा सहायता करके; अन्नदानके-लिये भण्डारे खुलवाकर या उनमें यथाशक्ति योग देकर, औषधदानके लिये औषधालय हस्पताल आदि खुलवाकर अथवा उनमें यथाशक्ति योग देकर, ज्ञानदानके-लिये पाठशाला, स्कूल, कालेज खुलवाकर या उनमें यथाशक्ति योग देकर, अभय-दानके-लिये आश्रम, धर्मशाला आदि बनवाकर, सेवा समितियें खुलवाकर अथवा उनमें यथाशक्ति योग देकर।

३. पात्रापात्र विचार—दान किसको दिया जाय इस विषयकी जानकारी भी आवश्यक है। दानके पात्रोंको तीन कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है—सत्पात्र, कुपात्र तथा अपात्र। 'सत्पात्र' हैं वे ज्ञानीजन जिन्हें अपने भीतर शान्ति

के तथा उसके आधारभूत चेतन-तत्त्वके साक्षात्कारका सौभाग्य प्राप्त हो गया है और जो यथाशक्ति उसकी प्राप्तिका उद्यम भी कर रहे हैं। 'कुपात्र' हैं वे अज्ञानी-जन जिन्हें अपने भीतर तत्त्वका तो साक्षात् दर्शन अभी नहीं हुआ परन्तु शास्त्रोक्तिपर श्रद्धान करते हुए शान्ति-प्राप्तिकी जिज्ञासा अवश्य इनके हृदयमें जागृत हो गई है, और उसके-लिये यथाशक्ति उद्यम भी कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति, भले ही वे धर्मार्थी हों, दीन, दुखी, दरिद्री हों, प्राकृतिक-विप्लव अथवा राजविप्लवके सताये हुए हों, अथवा पशु-पक्षी आदि हों, सब 'अपात्र' की कोटिमें आते हैं। सत्पात्र तथा कुपात्र ये दोनों भी साधना-गत निम्नोन्नत सोपानोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके हो सकते हैं, परन्तु वे सब उत्तम, मध्य, जघन्य इन तीन भेदोंमें समा जाते हैं।

ये पुनः दो कोटियोंमें विभाजित हो जाते हैं—परिचित तथा अपरिचित। परिचित तो हैं वे जो समाजके मध्य रहते हैं, जो नित्य किसी न किसी प्रकार आपको टकराते रहते हैं, अथवा जिनके उल्लेख व चित्र आदि पत्र-पत्रिकाओंमें, पुस्तकोंमें या कैलेण्डरों आदि पर प्रकाशित होते रहते हैं। अपरिचित हैं वे जो इन सकल संयोगोंसे दूर रहते हैं। भले आज किन्हीं ऐसे पात्रोंको आप न जानते हों परन्तु शास्त्रोंमें उनका उल्लेख आप सबने पढ़ा है। जन-संसर्गसे दूर श्मशानोंमें अथवा वनोंमें अथवा वृक्षोंकी कोटरोंमें अथवा पर्वतोंकी गुफाओंमें अथवा नदीके पुलोंके नीचे अथवा किन्हीं टूटे-फूटे खण्डहरोंमें रहते हैं वे। नगरोंसे दूर छोटे-छोटे गांवके निकटवर्ती उद्यानोंमें रहते हैं वे। केवल भिक्षाके-लिये गांवमें आते हैं, और झलकमात्र दिखाकर लौट जाते हैं वे।

४. पात्र दान—भले ही शान्तिका उपासक होनेके नाते दानके इस क्षेत्रमें मेरा जितना व जैसा झुकाव सत्पात्रके प्रति है उतना कुपात्र तथा अपात्रके प्रति न हो; और अल्पज्ञ होनेके नाते जितना व जैसा झुकाव परिचितोंके प्रति है उतना तथा वैसा अपरिचितोंके प्रति न हो, क्योंकि अपनी अल्पज्ञताके कारण मैं यह जान ही नहीं सकता कि यह व्यक्ति सत्पात्र है या कुपात्र या अपात्र। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दानके इस क्षेत्रमें कुपात्रों तथा अपात्रोंकी उपेक्षा कर दी जाय। जिसप्रकार सम्प्रदाय-प्रसिद्ध व्यक्तियोंमें यह पता लगाना कठिन होता है कि बाहरसे सच्चे साधु अथवा श्रावक सरीखे दीखनेवाले ये व्यक्ति वास्तवमें वही हैं जो कि ऊपरसे दीखते हैं या कुछ अन्य हैं, इसी प्रकार अपरिचित व्यक्तियोंमें भी यह पता लगाना कठिन है कि ये व्यक्ति अन्तरंगमें सुपात्र है या कुपात्र या अपात्र। बहुत सम्भव है कि ऊपरसे दीन, दुःखी तथा दरिद्रीसा दीखनेवाला भी कोई व्यक्ति तत्त्वज्ञ हो और तत्त्वज्ञसा दीखनेवाला भी कोई व्यक्ति कोरा दम्भाचारी हो।

मैं परिचितोंको अर्थात् सम्प्रदाय-मान्य व्यक्तियोंको ही दान दूं, अन्य किसीको नहीं। शान्ति-मार्गके पथिकको ऐसा साम्प्रदायिक पक्ष उचित नहीं है। वह दान देता है स्व-पर-हितकी रक्षा तथा उसकी अभिवृद्धिके-लिये न कि सम्प्रदाय पोषणके लिये और इसलिए यथाशक्ति सबको देता है। आगममें भी कहीं कुपात्रों या अपात्रोंको दान देनेका निषेध नहीं है। भले ही भावोंमें अन्तर हो—जिसे तू सत्पात्र समझता है उसके प्रति हार्दिक भक्ति, जिसे कुपात्र समझता है उसके प्रति बनावटी भक्ति और जिसे अपात्र समझता है उसके प्रति दया। 'अ + पात्र' शब्दका यह अर्थ नहीं कि इस कोटिमें गिने गये व्यक्ति दानके पात्र नहीं, अर्थात् उनको दान नहीं देना चाहिये, प्रत्युत यह है कि वे व्यक्ति भी दानके पात्रोंमें अपना कोई स्थान रखते हैं, और इसलिये इस क्षेत्रमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उन्हें भी देना अवश्य चाहिये, भले दया भावसे हो।

हृदय-राज्यकी अपेक्षा भक्ति तथा दयामें कोई अन्तर नहीं। दया भी उसी प्रकार हृदयका भाव है जिसप्रकार कि भक्ति। इसलिये जिसप्रकार सत्पात्रको देखकर बिना किसी बाह्य प्रेरणाके मेरे हृदयमें सहज भक्ति उमड़ पड़ती है उसी प्रकार दीन, दुःखी, दरिद्रोंको देखकर प्रगट होनेवाले दयाके सहज वेगको मैं कैसे रोक सकता हूं? यदि उन्हें देखकर वहां दया उत्पन्न नहीं होती तो इसका यह अर्थ है कि मेरे सीनेमें हृदय नहीं पाषाण है और यदि ऐसा है तो सत्पात्रों को देखकर भी वहां भक्तिका उठना सम्भव नहीं है। एक ही हृदयमें इस प्रकारकी विषमता कैसे सम्भव है कि किसीको देखकर तो उसमें भाव उमड़ें और किसीको देखकर नहीं? यदि वास्तवमें मैं हृदय-शून्य हूं तो मेरा सुपात्र-दान भी यथार्थताको कैसे प्राप्त हो सकता है? क्योंकि हृदय-हीनताके कारण भक्तिभावसे तो वह दिया नहीं जा रहा है; या तो दिया जा रहा है दूसरोंकी देखमदेखी, या उसकी ख्याति प्रसिद्धिसे प्रभावित होकर, या साम्प्रदायिक आज्ञाके भयसे, या उसके पक्षसे इत्यादि अनेक अभिप्राय हो सकते हैं परन्तु सहज भक्तिके अभावमें वे सब स्व-पर-हितके लक्षणको प्राप्त करनेके-लिये समर्थ नहीं। उससे होगी केवल मेरी सामाजिक प्रसिद्धि और तत्फल-स्वरूप 'मैं बड़ा दानी तथा भक्त हूं' इस प्रकारके मिथ्या अभिमानकी पुष्टि। हृदय-सम्पन्नतामें इस प्रकारकी विषमता सम्भव नहीं। जिस प्रकार अपनी शान्तिकी अभिवृद्धि तथा संरक्षण इष्ट है उसे, उसीप्रकार दूसरोंकी भी शान्तिकी अथवा सुखका अभिवर्द्धन तथा संरक्षण इष्ट है उसे। जिसप्रकार अपनी शान्तिकी बाधा असह्य है उसे उसी प्रकार दूसरोंकी भी शान्तिकी अथवा सुखकी बाधा

असह्य है उसे। जिसप्रकार अपनी तथा अपने कुटुम्बकी शान्तिके अर्थ हर प्रकारसे सहायता करता है वह उनकी, उसीप्रकार दूसरोंकी शान्तिके अर्थ हर प्रकारसे सहायता करता है वह उनकी।

'मुझसे पैसा लेकर यह दरिद्री अनर्थमें प्रवृत्त होगा, मांस खायेगा अथवा वेश्या-गमन करेगा' इत्यादि बातें अपनी हृदयहीनताको छिपानेके बहाने हैं, बात तो वास्तवमें यह है कि या तो ये बहाने करने वाला वह व्यक्ति अति-लोभी है और या कट्टर साम्प्रदायिक। जिसे उसने अपना गुरु मान लिया है उसे तथा उसकी संस्थाको तो दान देता है और अन्य सबके प्रति इस प्रकारके बहाने करके हाथ खेंच लेता है। प्रभो! सोच तो सही कि इस विशाल विश्व की गोदमें केवल उस एक व्यक्ति-विशेषको छोड़कर जिसे कि उसने गुरु माना है, कौन ऐसा व्यक्ति रह जाता है जिसे कि वह पात्र कह सके? उसके-लिये एक व्यक्तिको छोड़कर सारा जगत अपात्र ही नहीं अगात्र है अर्थात् देहहीन जड़ पाषाण है अथवा असत् या शून्य है। डर प्रभु! डर इस कण्टकपन्थी तथा कट्टरपन्थी से डर। देना सीख मुक्तहस्तसे, जो कोई भी तेरे द्वार पर आए—सत्पात्र, कुपात्र या अपात्र, साधु या दुःखी दरिद्री। सत्पात्रको दे भक्ति भावसे और अपात्रको दे दया भावसे, पर दे सबको।

५. दानका प्रयोजन—दानके प्रयोजनको ठीक-ठीक न जानना ही वास्तवमें इन सब संकीर्ण आशंकाओंकी उपजका हेतु है। यदि दानका प्रयोजन ठीक-ठीक अवगत हो जाय तो फिर इनमेंसे किसीको भी अवकाश नहीं रहता। प्रायः दातारके हृदयमें ऐसा भाव रहता है कि 'मैं इस दानार्थी व्यक्तिका अथवा संस्थाको कुछ देकर उसका उपकार कर रहा हूं, उसपर बड़ा भारी अहसान कर रहा हूं। यदि मैं इसको कुछ न दूं तो यह मर जाय और इस संस्थाका काम न चले'। इस प्रकारके भावसे दिया गया दान वास्तवमें दान नहीं अहंकार है, क्योंकि जिस परमार्थ-भूमिकी यहां बात चल रही है उसमें धन है ही किसका और कौन किसीको क्या दे सकता है? सब यहां ही था, यहां ही रहेगा। न कोई कुछ साथ लाता है न ले जाता है। यहां आनेपर व्यक्तिको उसके कर्मानुसार स्वतः प्राप्त हो जाता है और जानेपर यहां ही रह जाता है। सब पुण्य-पापका खेल है, और क्या? यह दरिद्री व्यक्ति भी वास्तवमें तुम जैसा ही है। अन्तर केवल इतना है कि पूर्व-भवोंमें कहीं इसने कोई ऐसा दुष्कृत किया है जिसके फलस्वरूप आज इसकी यह गति हुई है। उसी पापके फलस्वरूप इसे धर्म व अधर्मका कुछ विवेक नहीं है। इसलिए दयाका पात्र है, न कि घृणाका।

दान दूसरेपर नहीं प्रत्युत स्वयं अपनेपर अहसान करनेके-लिए दिया जाता है, क्योंकि दानका प्रयोजन है लोभ तथा रागका वर्जन न कि इनका वर्द्धन, अहंकारकी क्षति न कि उसका पोषण, स्वामित्व-भावका त्याग न कि उसका ग्रहण, आकिञ्चन्य-भाव अर्थात् 'यहां कुछ भी मेरा नहीं है' ऐसा भाव। इस प्रकारके भावोंकी प्राप्ति तथा अभिवृद्धिमें ही व्यक्तिका पारमार्थिक हित निहित है, और क्योंकि दान इस दिशामें बहुत सहायक है, इसलिये इसे गृहस्थ-धर्मका अत्यावश्यक अंग माना गया है। इसलिए जिस प्रकार देवपूजा आदि अन्य पांच बातें तू अपने दैनिक जीवनमें आवश्यक समझता है उसी प्रकार दानको भी समझ। जिस प्रकार देवपूजा किये बिना भोजन ग्रहण करना तू पाप समझता है उसी प्रकार दूसरेको खिलाये बिना स्वयं खाना भी पाप समझ।

दानका दूसरा प्रयोजन है हृदयकी उदारता। तेरा हृदय इतना विशाल होना चाहिए कि सकल विश्व तुझे अपना कुटुम्ब दिखाई दे, सबका सुख-दुःख तुझे अपना सुख-दुःख दिखाई दे, और क्योंकि इस भावकी अभिवृद्धिमें दान सहायक है इसलिये यह गृहस्थ-धर्मका एक आवश्यक अंग है। अतः भो कल्याणार्थी! तू लेनेकी बजाये देना सीख, मुक्त हस्तसे दे, उदारता पूर्वक दे और दे-देकर प्रसन्न हो। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे तुझे वह दिन प्राप्त हो जायेगा जब कि तू दूसरोंके-लिए अपने सर्वस्वका त्याग करके साधु की भूमिमें प्रवेश कर जायेगा जहां आकिञ्चन्य भाव ही तेरा धन होगा और वही तेरा जीवन। 'त्याग' तथा 'आकिञ्चिन्य' का कथन आगे यथास्थान किया जानेवाला है (दे० अधिकार ३६ तथा ४०)

६. <u>सामाजिक दान</u>—यहां यह विचारना आवश्यक है कि प्रतिवर्ष सामाजिक रूपसे कितना दान आप करते हैं और किस-किस दिशामें करते हैं? वास्तवमें दानको देखें तो बहुत होता है। परन्तु उससे कार्य कितना सिद्ध होता है, यह देखने जायें तो लज्जासे सर झुक जाता है। प्रतिवर्ष करोड़ोंके दानका फल पर्याप्त नहीं होता। इस राशिका कुछ भाग तो जाता है शिक्षण संस्थाओंको, कुछ हस्पतालों तथा औषधालयोंको, कुछ धर्मशालाओंको, कुछ अनाथ-आश्रमोंको, कुछ साहित्य-प्रकाशनको, कुछ पत्र-पत्रिकाओंको, कुछ मन्दिरों तथा प्रतिमाओंके निर्माण-कार्यको, कुछ पूजा-प्रतिष्ठा आदि विधानोंको, कुछ धर्म-प्रचारको और कुछ तीर्थ-क्षेत्रोंकी रक्षाको। इनके अतिरिक्त कुछ जाता है उन सेवा समितियोंको जो गर्मीके दिनोंमें सड़कोंपर प्याऊ खोलती हैं प्यासोंको पानी पिलानेके-लिये, मेले ठेलोंके अवसरों पर भण्डारे लगाती हैं भूखोंका पेट भरनेके लिये, रोग-मरी, दुर्भिक्ष आदिके दिनोंमें घर-घर जाकर अन्न तथा औषधियें

बांटती हैं पीड़ितोंका दुःख बंटानेके लिये, स्वयं खतरा मोल लेकर जल तथा अग्निमें कूद पड़ती हैं बाढ़-पीड़ितोंकी अथवा अग्निकाण्ड-पीड़ितों की रक्षाके लिए, राज्य विप्लवके दिनोंमें तम्बू लगाती हैं शरणार्थियोंको आश्रय देनेके-लिये, और न जाने क्या-क्या। यद्यपि अपने-अपने स्थान पर सभीका महत्व है, परन्तु देखना तो यह है कि इस विशाल धन-राशिका कितना भाग तो समाजके काम आ रहा है और कितना व्यर्थ जा रहा है। यदि इस राशिके व्ययकी कोई केन्द्रीय व्यवस्था हो जाय तो एक बड़ा काम हो जाय और व्यर्थका अपव्यय रुक जाय। इतना अवश्य है कि ऐसी व्यवस्था हो जाने पर दातारको स्वयं अपनी इच्छाका बलिदान करना होगा, सर्वजन-कल्याणको ही प्रमुख रखना होगा, केन्द्रकी अनुमतिको स्वीकार करनेमें ही हित देखना होगा और लोकेषणाको पीछे हटाना होगा। वास्तवमें इन स्वार्थपूर्ण भावनाओंका त्याग हो तो दान है, जो शान्तिपथके इस छठे अंगका प्रयोजन है। अतः भो भव्य ! स्व-परकल्याणार्थ अपनी भावनाओंको निर्मल बनाकर सारे विश्वमें तन, मन, धन से इस निर्मल मार्ग-का प्रसार कर।



२८

श्रावक धर्म

१. शान्ति का संस्कार—शान्तिका उपासक गृहस्थ उपरोक्त प्रकरणोंमें बताये विस्तारके अनुसार अपने जीवनको इस नवीन दिशाकी ओर घुमाकर नये सांचेमें ढालनेका अभ्यास करते हुए कुछ ही वर्षोंमें एक नई उमङ्ग व उल्लासका अनुभव करने लगता है। एक जागृतिसी तथा एक प्रकाशसा अन्तरंगमें प्रगट भासने लगता है जिसके उजालेमें आज वह इस योग्य हो जाता है कि अपने वातावरणमें छिपी हुई अशान्तिको स्पष्ट देख पाये। यद्यपि पहलेसे भी किसी विश्वासके आधारपर उसमें उसे किञ्चित् अशान्तिका भान हुआ करता था परन्तु इस दिशामें अभ्यस्त हो जाने तथा उसके फलस्वरूप शान्तिमें वृद्धि हो जानेपर अथवा अन्तरंगमें कुछ दृढ़ता व शक्तिके संचारका अनुभव हो जानेपर, आज जिस जञ्जाल-रूपमें इसे देखने लगता है उसप्रकार पहले कभी देख नहीं पाया था। विचार करते समय कुछ-कुछ हटावसा अवश्य वर्ता करता था पर उस भोग-विषयक सामग्रीका साक्षात्कार हो जानेपर उस हटावको भूलकर वह जाया करता था उसीकी रौमें। इतने वर्षोंके अभ्यासके कारण आज इतनी विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि अब उनके साक्षात्कारके अवसरोंमें भी उसका वही भाव बना रहता है जोकि विचारणाके अवसरोंमें उसने बुद्धिपूर्वक बनाया था। अर्थात् संस्कार-निर्माणके पूर्वकथित क्रमानुसार इस हटावका बुद्धिपूर्वक प्रारम्भ किया गया संस्कार आज अबुद्धिकी कोटिमें प्रवेश कर जाता है और पूर्वमें पड़े हुए शान्तिके घातक संस्कारोंके साथ युद्ध करनेके-लिए उन्हें ललकारने लगता है। यह ललकार ही उस बलकी परीक्षा है जिसके सम्बन्धमें कहा जा रहा है।

२. स्वाभाविक वैराग्य—कितने ही तीर्थङ्कर, वीतरागी-सन्त अथवा गीजन समस्त राजपाट व देवों जैसी विभूतिको छोड़कर वनको चले गये। ा आकर्षण था उस वनमें ? क्यों छोड़ा उस आकर्षक तथा मधुर सामग्रीको नको छोड़नेकी बात तो रही दूर, जिसके त्याग सम्बन्धी बात भी आज कको सुहाती नहीं। भले ही गुरुजनोंके कहनेपर मैं यह कहने लग गया हूं : इस सम्पत्तिमें सुख नहीं दुःख है, पर क्या अन्तरंगमें इसके प्रति इस कारका भाव उठता प्रतीत होता है कभी ? नहीं अन्तरंगमें तो उसके प्रति ठास ही पड़ी है। अन्तरंगमें तो यह बात सुन रहा हूं कि "इनके भोगनेमें नन्द है, बड़ी आकर्षक हैं यह, बड़ी मधुर तथा सुन्दर। यह देखिये मेरा इङ्ग-रूम कितना सुन्दर सजा हुआ है, दीवारोंपर ईरानी कालीन टंगे हैं, त्र-तत्र काशमीरकी कारीगरीका व काष्ठका आर्ट टंगा है, मानो कृतिको समेट लाया है इस कमरेमें, और यह सुन्दर सोफासैट मानो राज्य-हासनकी भी खिल्ली उड़ा रहा है, इधर रखा है चाइना आर्ट, और न ने क्या-क्या ? कितना आकर्षक है यह ? मुझे गर्व होता है अपने किसी त्रको इसमें बिठाकर। कैसे कह सकते हैं कि इसमें दुःख है ? नहीं-नहीं, ह तो योगियोंकी बातें हैं, मेरेलिये तो यही सुखदायक है। कृत्रिम-रूपसे नमें दुःख व अशान्ति देखनेका प्रयत्न करते हुए भी स्वाभाविक-रूपसे । इसमें सुख व शान्तिसी ही भासती है, कैसे त्यागूं इसे ?

"इनके क्या कहने, ये तो महान आत्माएं हैं, तीर्थङ्कर देव हैं, छोड़कर ल दिये घर-बारको तथा सम्पत्तिको, कष्ट सह-सहकर ही तो कर्मोंको पाएंगे। तपश्चरणके बिना मुक्ति किसे मिली है ? उस मुक्तिकी साधनाके ये इतनी आकर्षक व सुखप्रद सामग्रीको भी छोड़कर चल दिये। धन्य वे।" कुछ ऐसी आवाजें उठा करती हैं भावुकतावश। बस यह आवाजें । इस बातकी साक्षी है कि मैं भले शब्दोंमें योगी जनोंको महान कहं या खी, पर उन्हें अन्तरंगसे दुःखी ही समझता हूं क्योंकि कोई भी तो सुखका ाधन नहीं है उनके पास, कैसे हो सकते हैं वे सुखी ? हां, भविष्यमें मोक्ष ाकर हो जायें तो हो जायें, परन्तु अब तो दुःखी ही हैं बेचारे।

नहीं प्रभु! भूलता है, वास्तव में यह जो उपरोक्त आवाजें अपने अन्दरसे ठती सुनाई दे रही हैं तुझे, उनका कारण केवल यही है कि उस अलौकिक ीथी कोटिकी शांतिका साक्षात्कार अभी कर नहीं पाया है तू। इसीलिये ाममात्रकी उस शान्तिके प्रति अन्तरंगसे बहुमान व उल्लास जागृत नहीं आ है और उसके अभावमें वह पहला विषय-सुख ही सुख भासा करता

है तथा उस ही की महिमा गाया करता है। उन योगियोंकी दशा तुझसे कुछ भिन्न प्रकारकी है, उन्होंने केवल भावुकतावश अथवा किसी मोक्षकी या किसी भावि-काल्पनिक-सुखकी अभिलाषावश यह महान त्याग किया हो, ऐसा नहीं है। किसी बाहरके दबाव या भयवश या किसी लोकेषणा-वश त्याग किया हो, ऐसा भी नहीं है। एक शक्ति है जो अन्तरंगसे उन्हें प्रेरणा दे रही है, उनके अन्दर एक उल्लासमा, एक उत्साहसा उत्पन्न कर रही है यह बात करनेके लिए, और वह शक्ति है शान्तिका उत्तरोत्तर अधिकाधिक वेदन, उसमें तृप्ति व उसके प्रति बहुमान। भला एक भिखारीको जिसके पल्ले एक सूखी जवारकी रोटी बंधी है, यदि आप पेट-भर खीर परोस दें तो क्या वह जवारकी रोटी खायेगा ? क्या उसे फेंक न देगा ? बस तो अलौकिक शान्तिके अत्यन्त मधुर व सुगन्धित व्यञ्जनके अनुभवमें क्या उसके हृदयमें इस धूलका मूल्य रह जायेगा ? क्या इसे भोगेगा ? क्या इसे त्याग न देगा ? क्या इसके त्यागनेमें दुःख होगा उसे ?

किसी भावी सुखके या मोक्षके या सर्वज्ञताके लालचसे छोड़ देता हो उसे, यह भी असम्भव है, क्योंकि भविष्यके सुखकी आशाके आधारपर वर्तमानका सुख छोड़ना मूर्खता है। मूर्खता क्या, छोड़ा ही नहीं जा सकता। 'कलको दिवाली है, बड़े बड़े स्वादिष्ट व्यञ्जन खानेको मिलेंगे', इस इच्छाके कारण क्या कोई भी ऐसा है जो आजका भोजन छोड़ दे ? "तुम्हारी सेवासे मैं बहुत प्रसन्न हुआ, यह महल मेरी मृत्युके पश्चात् तुम्हीं ले लेना, लो वसीयत किये देता हूं।" किसी सेठके ऐसा कहनेपर, क्या उसका कोई सेवक अपनी कुटियामें तुरत आग लगा देनेको तैयार है ? 'चलो तुम्हें बी० ए० की डिग्री दिला देता हूं परन्तु आज सोना न होगा', ऐसा सुनकर क्या सोना त्याग देगा कोई ? वे महात्मा कोई दूसरे देशके वासी या कोई अलौकिकजन हों और त्याग करना उनके गले मढ़ दिया गया हो, क्योंकि मुक्त होनेका सर्टीफिकेट प्राप्त कर चुके हैं इसलिये त्याग करना पड़ता हो उन्हें, ऐसा भी नहीं है। बाह्यमें तो ऐसी कोई शक्ति दिखाई नहीं देती जो छोड़नेको बाध्य करे और अन्तरंगसे इसप्रकार छूटना सम्भव नहीं, जिसप्रकार किसी राजाकी आज्ञा मात्रसे कोई अपना घर छोड़नेको तैयार नहीं। हाथका एक छोड़कर वृक्षके दोकी इच्छा करना बुद्धिमानोंका काम नहीं और फिर तीर्थङ्कर प्रभु तो ठहरे ज्ञानी, वे क्यों ऐसा करने लगे ?

गृहस्थमें रहते हुए भी उन्हें किसी अनोखी शान्तिका वेदन होने लगता है पूर्व-भवके अभ्यासवश. जिस शान्तिके अलौकिक आकर्षणके सामने इस

द्य राज्य आदि सम्पदाका तेज मन्द ही नहीं पड़ जाता बल्कि कटु लगने
ाता है। वह सब वातावरण अन्दरसे कोई जञ्जालसा दीखने लगता है।
: साक्षात् कुछ ऐसा भासने लगता है कि मानो काटनेको दौड़ रहा हो।
। इसी शक्तिकी प्रेरणापर आधारित है उनका त्याग।

३. अभ्यासकी महत्ता—तीर्थङ्कर व महात्मा होनेके कारण वे किसी
ारे देशके वासी हों या किसी दूसरी जातिके हों, ऐसा भी नहीं है। मेरे
देशके वासी तथा मेरी ही चैतन्य जातिके हैं। जो काम ये कर सकते हैं
भी कर सकता हूं। परन्तु उनके त्यागको देखकर मुझे जो घबराहट होती
उसका कारण यह है कि मैं यह समझ बैठता हूं कि उन्होंने अकस्मात् ही
तना बड़ा साहस कर लिया है, क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञानके द्वारा उनका केवल
र्तमान भव ही देख पाता हूं। इस वर्तमानके साहसके साथ भूतकालमें
र्थात् पूर्व-भवोंमें किया गया कितना अभ्यास है, वह मैं नहीं देख पाता।
ह बिल्कुल मुझ जैसे गृहस्थ थे कभी, और सम्भवतः मुझसे भी हीन अवस्था
ये अपने पूर्व भवोंमें। वहांसे ही धीरे-धीरे अन्तरङ्गमें विरक्तता उत्पन्न
रके अभ्यास प्रारम्भ किया था इन्होंने, आज जो अकस्मात् त्याग करता
दिखाई दे रहा है, वह वही सिद्धहस्त जीव है। अतः भाई! तू भी
त डर, साहस करके यदि ऊपर बताये प्रकरणोंके अनुसार धैर्य-पूर्वक
भ्यास करना प्रारम्भ करे तो अपने आगे आनेवाले भवोंमें
वश्य ही अकस्मात् त्याग करनेकी शक्तिको उत्पन्न करले। कटड़ी
भैंसके बच्चे) को उठाते-उठाते भैंस उठाई जा सकती है, इसीसे
भ्यासकी इस मार्गमें बड़ी महत्ता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि
भविष्यमें कर लूंगा, आजके निकृष्ट-कालमें तथा हीन-संहननमें करना
म्भव नहीं', ऐसे विचारों द्वारा शक्तिको छिपाया जाय। यदि आज कुछ
। करेगा तो भविष्यमें भी कुछ न कर सकेगा। विवेक ही न होगा तो करेगा
कैसे? और यदि कदाचित् उत्तम-संहननकी प्राप्ति हो जानेपर किसीकी देखम-
देखी कर भी लिया तो विवेकहीन होनेके कारण उसका फल वह नहीं हो
सकेगा जिसका कि यहां प्रकरण चल रहा है (देखो ११.८)।

इसप्रकार अन्तरंगसे विषयभोगों सम्बन्धी सामग्रीके प्रति यदि विरक्त
भाव करता हुआ साहसपूर्वक धीरे-धीरे उनका त्याग करनेका अभ्यास करता
रहे तथा संयम अधिकारमें कथित पूर्वोक्त सकल हिंसाके विकल्पोंका (दे०
२३.८) भी त्याग करनेका अभ्यास करता रहे तो एक दिन ऐसा आयेगा कि तेरे
मनकी वह घुण्डी खुल जायेगी जो दृढ़ता-पूर्वक त्याग करनेका साहस तुझमें

उत्पन्न होने नहीं देती, अर्थात् उन्हीं क्रियाओंको व्रत-रूपसे तुझे अंगीकार करने नहीं देती। व्रत अर्थात् उन बातोंसे अन्तरंगमें विरक्तता, उदासीनता व हटाव तथा बाह्यमें उनके प्रतिकी प्रवृत्तिमें ब्रेक लगानेका प्रयत्न। जब तक अन्तरंगमें वह घुण्डी या ग्रन्थि नहीं खुलती तबतक भले ही अभ्यास-रूपसे सब कुछ त्याग करदे, तू व्रती नहीं कहला सकता और व्रतके बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता, सो ही आगे दर्शाते हैं।

४. शल्य—व्रत धारण करनेमें बाधक घुण्डी या शल्य क्या है, उसको स्पष्ट करता हूं। देखिये आजतक आपने मांस खाकर नहीं देखा, आगे भी खानेकी सम्भावना नहीं, परन्तु उसको त्यागनेके-लिए कहा जाय तो अनेकों विकल्प सामने आकर खड़े हो जाते हैं। यदि कलको बीमार हो जाऊं और डाक्टर बतादे मांस खाना, तो? व्रत आजतक धारण किया नहीं, अतः यदि भङ्ग हो गया, तो? इसीप्रकार अन्य विषयों सम्बन्धी त्यागकी बात आ पड़नेपर यह 'तो' का भाव बिना किसीके बताये अन्तरङ्गमें उत्पन्न हो जाता है, और मेरा मार्ग रोक लेता है, मुझे प्रतिज्ञा लेने या व्रत धारण करनेकी आज्ञा नहीं देता। यह 'तो' ही वह ग्रन्थि है जिसका नाम आगम-भाषामें 'शल्य' है।

यद्यपि छोटीसी बात दीखती है परन्तु देखिये कितनी घातक है यह कि व्रत लेकर आगे बढ़ने नहीं देती, त्याग होते हुए भी त्याग करने नहीं देती। यही तो अन्तर है एक व्रती-गृहस्थ और अव्रती-गृहस्थमें। परन्तु अभ्यास करते-करते जब यह विश्वास हो जाता है कि इतने दिनोंतक इस विषयका प्रयोग इस जीवनमें नहीं किया तथापि कोई विशेष बाधा नहीं आई, और यदि थोड़ी बहुत आई भी तो उसको जीतनेमें सफल रहा, तब यदि इस त्यागको व्रत-रूपसे ग्रहण करूं तो कोई कठिनाई नहीं आवेगी। विपरीत इसके एक साहस उत्पन्न होगा, और अन्तरंगकी 'तो' को उल्लङ्घकर तू उसी अभ्यासरूप त्यागको व्रतकी कोटिमें ले आयेगा। व्रतीको भी अव्रती बनाये रखनेवाली इस ग्रन्थिको तोड़नेमें बड़े बलकी आवश्यकता है, उस बल की जिसके प्रगट हो जानेपर कि चित्तमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि प्राण जायें तो जायें, लोककी सारी बाधायें व पीड़ायें एकत्रित होकर आयें तो आयें, इस दिशामें कदापि प्रवृत्ति न करूंगा। देखिए कितना महान अन्तर पड़ गया इस एक छोटीसी घुण्डीके खुलनेसे। इसीलिए थोड़ा भी त्याग करनेवाला 'निःशल्य' व्रती है और बहुत अधिक त्याग करनेवाला भी शल्यवान अव्रती है।

५. अणुव्रती—अव्रतीसे इसप्रकार अभ्यासवश व्रतीकी कोटिमें आकर वह गृहस्थ अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा धनसञ्चय-त्याग इन पांच व्रतोंको आंशिक रूपसे ग्रहण कर लेता है, अर्थात् अहिंसाके सर्व भेदोंमें-से चलने-फिरनेवाले त्रस जीवोंकी पीड़ा सम्बन्धी यथायोग्य हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार व धनसञ्चय का क्रमसे त्याग करने लगता है। पहले संकल्पपूर्वक की जानेवाली संकल्पी-हिंसाके विकल्पोंके त्यागका व्रत लेता है, फिर विरोधी हिंसाके त्यागका और फिर क्रमसे उद्योगी व आरम्भी हिंसाके त्यागका भी। रुपये-पैसेका, घर-दुकान व जमीनका, सोने-चांदीका, कपड़े-जेवरका, बर्तन फर्नीचरका, और भी सर्व परिग्रहका परिमाण कर लेता है। अमुक-अमुक वस्तु इससे अधिक न रखूंगा, प्रतिदिन इतने समयसे अधिक व्यापार न करूंगा, इतने क्षेत्रसे बाहर व्यापार न करूंगा न कराऊंगा, चिट्ठी पत्री भी न लिखूंगा, प्रतिदिन इतनेसे अधिक न कमाऊंगा, प्रतिरुपया इतनेसे अधिक नफा न लूंगा इत्यादि। इसप्रकार विषय-भोगोंकी लालसा व दैनिक आवश्यकतायें कम हो जानेके कारण बड़ा सन्तोषी जीवन बिताने लगता है वह। इस प्रकारसे व्रतोंको ग्रहण करनेके कारण अणुव्रती या श्रावक संज्ञाको प्राप्त हो जाता है वह गृहस्थ।

इतना करनेपर भी वह रुकता नहीं, बराबर क्रमसे बढ़ा चला जाता है, पूर्णतापर लक्ष्य रखकर। अधिक-अधिक उपवास करनेका अभ्यास करके क्षुधादि बाधाओंको किञ्चित् जीत लेता है। अधिक-अधिक समयतक सामायिकमें लगा हुआ अन्य प्राकृतिक बाधाओंको किञ्चित् जीत लेता है। भोगों सम्बन्धी नित्य प्रयोगमें आनेवाली खाद्य व अन्य सामग्रीके ग्रहणकी सीमाको कम करता हुआ इन्द्रियोंको किञ्चित् जीत लेता है। सचित्त पदार्थोंके भक्षण का व रात्रि-भोजनका पूर्ण-त्याग कर देता है। पर स्त्रीका त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्व-स्त्रीका भी त्याग करके मैथुनकी बाधाको जीत लेता है। अधिक विरक्त हो जानेपर उद्योगको पूर्णतया छोड़ देता है और परिग्रहको तथा घर-बारको छोड़कर मन्दिरमें रहने लगता है। अन्य लोगोंसे बात करना भी बहुत कम कर देता है। और भी अनेकों व्रत धारण कर लेता है, यहांतक कि अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते ऐसी अवस्थामें पहुंच जाता है जबकि पहननेके-लिए एक लंगोटी और ओढ़नेके-लिए एक चादरसे अधिक कुछ भी पास नहीं रखता, पैसेको छूना भी पाप समझता है, माता-पिता आदिसे कोई नाता नहीं रखता अर्थात् मुनिवत् हो जाता है। इस दिशामें वह श्रावककी क्षुल्लक संज्ञावाली उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। (दे० चित्र)



पूज्य १०५ श्री गणेश प्रसादजी वर्णी

यहां भी नहीं रुकता, और आगे बढ़ता है क्योंकि लक्ष्य पूर्णतापर है, उससे कमपर सन्तोष आनेवाला नहीं। बल बहुत बढ़ चुका है, शरीरको भी दृष्टिसे हट जानेके-लिये ललकारता है, परन्तु जब यह देखता है कि यह पीछा छोड़नेको तैयार नहीं तो अन्तरंगसे स्वयं इसे त्याग देता है, अर्थात् इसे कह देता है कि देख मै शान्ति-पथपर बहुत आगे बढ़ा जा रहा हूं, गरमी-सर्दी, मक्खी-मच्छर व भूख-प्यास आदिकी अनेकों बाधायें आयेंगी, ऐसे अवसरोंपर अब पहलेके समान मैं तेरी सेवा न करूंगा। अब मैं तेरा सेवक नहीं तुझे मेरा सेवक बनकर रहना होगा। इसप्रकार श्रावक दशाका अतिक्रम करके साधु हो जाता है वह, संन्यासी हो जाता है वह।

६. सामायिक—अणुव्रती श्रावकके व्रतोंमें अभी-अभी 'सामायिक' नाम की साधनाका उल्लेख किया गया है। बाह्य जगतसे हटकर अन्तरङ्गमें जानेके लिए इसका महत्त्व सर्वोपरि है, इसलिए यहां इसका कुछ विशेष स्वरूप दर्शा देना उचित है। दर्शन-खण्डमें चारित्रका लक्षण समता किया गया है। वह समता ही वास्तवमें सामायिक शब्दका वाच्य है। परन्तु इसका अभ्यास करनेके-लिए साधक जो घर-बारका काम-धन्धा छोड़कर सारे-सारे दिन मन्दिर या उपाश्रयमें बैठा रहता है अथवा वहां बैठकर यथाशक्ति मन्त्रजाप्य या ध्यान आदि करता है, वह भी उपचारसे सामायिक संज्ञाको प्राप्त हो जाता है। मन्त्रजाप्य आदि वास्तवमें सामायिक नहीं ध्यान है, जिसका उल्लेख आगे यथा-स्थान आनेवाला है। (देखो अधिकार ३८)

ध्यानका अर्थ है चित्तकी एकाग्रता अर्थात् चित्तका इधर-उधर विषयोंमें न भटककर अपने शान्त-समता-स्वभावमें स्थित रहना, आत्मशक्तिकी बाधक चिन्ताओंका अथवा इष्टानिष्टरूप द्वन्द्वात्मक विकल्पोंका पूरी तरह निरोध करना। इसे पूर्णतया करनेकी सामर्थ्य योगी-जनोंमें ही होती है परन्तु निम्न भूमिकामें भी इसका बड़ा महत्त्व है, विशेषता यह कि यहां यह प्रक्रिया ध्यान न कहलाकर 'सामायिक' कहलाती है। सामायिक और ध्यान वस्तुतः एक ही बात है, अन्तर केवल इतना है कि सामायिकमें चित्तकी स्थिरता ध्यानकी अपेक्षा कम होती है। सामायिकगत द्वन्द्व स्थूल होनेके कारण बुद्धि-गम्य होते हैं और ध्यानगत वे ही सूक्ष्म होनेके कारण बुद्धिकी पहुंचसे दूर होते हैं, अर्थात् वहां चित्तकी एकाग्रता अधिक होती है।

आगे 'चारित्र' नामके पृथक अधिकारमें (देखो अधिकार ४२) 'सामायिक' नामक जिस चारित्रका उल्लेख किया जानेवाला है, वह भी वास्तवमें यही है। विशेषता यह कि श्रावककी निम्न भूमिकामें जो बात व्रतरूप थी वही बात

साधुकी उन्नत भूमिकामें चारित्ररूप हो जाती है। व्रतका तात्पर्य है इच्छा पूर्वक अपनेको नियन्त्रित रखनेका प्रयत्न करना और चारित्रका अर्थ है धर्म या स्वभाव जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है (देखः ५.४)। श्रावक जिस बातको प्रतिज्ञाबद्ध होकर निश्चित समयके-लिए प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है वह साधुको बिना प्रयत्नके सहज-सिद्ध है। श्रावक भी चाहता तो यही है कि यह समता मेरा स्वभाव बन जाय और मुझे इसकी प्राप्ति या रक्षाके-लिए प्रयत्न करना न पड़े परन्तु संस्कारवश वह ऐसा करनेके-लिए समर्थ नहीं है। इसलिए कुछ कालके-लिये ऐसा संकल्प करके मन्दिर आदिमें जा बैठता है कि इतने काल पर्यन्त मैं इन इन्द्रियोंको न तो कोई उपभोग्य विषय दूंगा, न इन्हें किसीसे बात करने दूंगा और न किन्हीं विघ्न-बाधाओंका प्रतिकार करनेकी आज्ञा दूंगा, प्रत्युत सब कुछ सहन करता हुआ समतामें स्थित रहूंगा। धन लुटे परवाह नहीं, पुत्र मरे परवाह नहीं, बिजली पड़े परवाह नहीं। यह है बाह्य-सामायिक और इतने काल पर्यन्त चित्तको यथाशक्ति मन्त्रजाप्य या ध्यान द्वारा एकाग्र करनेका प्रयत्न करते रहना है अन्तरङ्ग-सामायिक, क्योंकि ऐसा करनेसे उसको विषयोंके प्रति होनेवाली द्वन्द्वात्मक मार-धाड़ मभास हो जाती है और हीनाधिक-रूपसे वह समतामें स्थित हो जाता है। इतना विवेक रखना आवश्यक है यहां कि अन्तरङ्ग समताके अभावमें उसका केवल बाह्यमें प्रतिज्ञाबद्ध होकर रहना, घर दुकानका सब काम-धन्धा छोड़कर मन्दिर या उपाश्रयमें मौन बैठे रहना, पीड़ायें सहते रहना और हाथमें माला लेकर उसके मनके सरकाते रहना सामायिक नहीं दम्भ है, केवल लोक-दिखावा है, अज्ञान-जन्य रूढ़ि है। और अभ्यन्तर-समता सहित दुकानपर बैठकर ग्राहकोंसे व्यवहार करते रहना भी सामायिक है, क्योंकि जिस प्रयोजनकी सिद्धिके अर्थ प्रतिज्ञाबद्ध होकर बैठता था, वह अब सिद्ध हो चुका है और उसके-लिए बाह्य-क्रियाकी अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है उसे।

७. दोषोंकी सम्भावना—देखो इन संस्कारोंकी विडम्बना कि इतना पुरुषार्थ करते हुए भी तथा आचार-विचारमें ऊंचा चढ़ जानेपर भी पीछा नहीं छोड़ते। प्रभो! इनसे मेरी रक्षा कीजिये। अब तकके विस्तृत कथनमें ऊपर-ऊपर ही चढ़नेकी बात बताई गई है, गिरनेकी बात कहीं पर भी नहीं आई। इसलिये ऐसा भ्रम हो सकता है कि 'जो चढ़ा वह चढ़ता ही चला गया, साधक कभी भी गिर नहीं सकता। परन्तु ऐसा नहीं है, परिणामोंकी बड़ी विचित्रता है। दबे पड़े पुराने संस्कारवश यह नीचे भी गिरता है

और फिर चढ़ जाता है, परन्तु बाहरमें वैसाका वैसा ही दिखाई देता रहता है। यह तो रही अन्तरङ्ग परिणामोंकी बात, कदाचित् बाहरमें भी विकारको प्राप्त हो जाता है वह। ऐसा होनेपर यदि लक्ष्य वही शुद्धताका बना रहे तो बाहरका विकार भी शीघ्र ही दूर हो जाता है। ऐसी अवस्थाको कहते हैं नियमों व व्रतों में अतिचार या दोष लगना।

साधक कोई लोहेकी मशीन तो है नहीं कि एक बार चलादी और चलती रही। मशीन भी तो कोई ऐसी दिखाई नहीं देती जो कभी न बिगड़े। शरीर भी कोई ऐसा दिखाई नहीं देता जिसे रोग न आये। फिर यदि मुझमें अर्थात् मेरे मनमें ही कदाचित् कोई बिगाड़ उत्पन्न हो जाय, कोई रोग आ जाय तो कौन आश्चर्य ? वह भी तो अन्य पदार्थोंकी भांति एक पदार्थ ही है। पूर्ण हो जानेपर भले इसे रोग न हों पर प्रारम्भिक भूमिकामें तो अल्प-शक्तिवश हो ही सकते हैं। अतः किसी साधकके जीवनमें कदाचित् दोष लग जाय तो उसे धुतकारना या उससे घृणा करना योग्य नहीं। जिस किस प्रकार भी उसका स्थितिकरण करके पुनः उसे मार्गमें स्थापित करना कर्त्तव्य है।

बड़े-बड़ोंको दोष लगते देखे जाते हैं, बड़े-बड़ोंसे भूलें हो जाती हैं, बड़े-बड़े मार्गसे च्युत हो जाते हैं। अरे रे ! कितने दुष्ट हैं ये संस्कार ? यह सब इन्हींका तो प्राबल्य है कि ग्यारवें गुण-स्थानपर चढ़कर भी, जहां पूर्णताका स्पर्श करनेमें रह जाता है केवल एक बाल मात्रका अन्तर, वह गिर जाता है ऐसे गर्तमें जहांसे न जाने कितने कालतक वह निकलकर शान्तिके दर्शन भी करने न पायेगा। गहन अन्धकारमें बिल्कुल उसीप्रकार विलीन हो जायेगा जिसप्रकार कि साधना प्रारम्भ करनेसे पहले पड़ा था। इन संस्कारोंसे प्रेरित होकर किस समय कोई बड़ेसे बड़ा साधक, क्या दोष कर बैठे कुछ पता नहीं।

यदि बड़ा दोष करता है तो वह स्वयं साधककी कोटिसे निकल जायेगा, अथवा पुनः स्वयं सचेत होनेपर या गुरुके द्वारा सचेत किए जानेपर अपने उस दोषकी निन्दा करता हुआ प्रायश्चित ग्रहण करके फिरसे साधक बन जायेगा, पहलेसे निम्न श्रेणीका। यदि हलकामा दोष कर बैठता है तो तुरन्त ही सावधान होकर तथा प्रायश्चित लेकर निर्दोष बन जाता है। इन दोनों ही अवस्थाओंमें दूसरोंका कर्त्तव्य यह है कि उस दोषीको समझा-बुझाकर सही रास्ते पर लगावें। परस्पर उपकार करनेकी भावना रहनी चाहिए, क्योंकि सभीको दोष लगनेपर प्रमादवश शिथिलाचार होनेकी सम्भावना रहती है। कुछ दृष्टान्तोंके द्वारा इस विषयको समझिये।

१. आजके लौकिक न्यायालयोंमें भी अपराध का निर्णय अभिप्रायपर-से किया जाता है। बड़ेसे बड़ा अपराधी भी क्षमा कर दिया जाता है यदि न्यायाधीश यह समझले कि उसके हृदयमें अपने उस अपराधके प्रति ग्लानि उत्पन्न हो चुकी है और अब वह भविष्यमें उस अपराधको पुनः नहीं करेगा।

२. देखिए किसी बच्चेको दो व्यक्ति पीटते हैं, एक उसकी माता और दूसरा मैं। माता भी किसी कारणवश क्रोधके आवेशमें पीटती है और मैं भी किसी कारणवश क्रोधके आवेशमें पीटता हूं। सम्भवतः माता तो उसे अधिक पीटे और मैं केवल एकही थप्पड़ मारूं, परन्तु बच्चा फिर भी माता की गोदकी ओर जाता है, मेरी ओर नहीं आता। क्या कारण है? यही कि बच्चा पहिचानता है माताके अभिप्रायको, वह जानता है कि माताने अन्तरङ्गसे उसे द्वेष करके नहीं मारा है, मारनेके पश्चात् वह पछता रही है, 'हाय-हाय! कितनी क्रूर हूं मैं, धिक्कार है मुझे, अपने जिगरके टुकड़ेको इसप्रकार मारते हुए कहां चला गया था मेरा मातृत्व?' इसीप्रकार न जाने क्या-क्या भाव आ रहे हैं और जा रहे हैं उसके हृदयमें। भाव कृत्रिम नहीं स्वाभाविक हैं। इसका नाम है पश्चाताप व आत्म-ग्लानि जिसके कारण वह मारती हुई भी नहीं मारती। दूसरी ओर मेरे अन्दर पड़ा है द्वेष, 'किसी प्रकार फिर मेरे कमरेमें न आये, बड़ा दंगई है, यह उठा वह धर, यह तोड़ वह फोड़, मुझे नहीं भाता ऐसा दंगई बालक' 'ये हैं मेरे भाव। भले एक ही थप्पड़ मारा हो परन्तु अन्तरङ्गके अभिप्राय-पूर्वक मारा है, और इसलिये उसपर मुझे कोई पश्चाताप नहीं हो रहा है बल्कि उस क्रियाको अच्छा ही समझ रहा हूं, 'चलो बला टली, बिना मारे यह मानने वाला नहीं था, लातोंके भूत बातोंसे नहीं मानते', ये हैं मेरे भाव। कितना महान अन्तर है दोनोंके भावोंमें? इसी कारण माताने मारते हुए भी नहीं मारा और मैंने थोड़ा मारकर भी बहुत मारा।

३. एक तीसरा दृष्टान्त भी सुनिये। एक व्यापारीकी दुकानपर रहता है एक मुनीम। बड़ा ईमानदार है, सेठ साहबको पूर्ण विश्वास है उसपर, सब रुपया पैसा तथा लेन-देन उसके हाथमें है। किसी समय एक विचार उठा मुनीमके हृदयमें, 'यदि थोड़ा-थोड़ा करके रुपया उड़ाने लगूं तो सेठसाहब को क्या पता चल सकता है?' बस करदी चोरी प्रारम्भ। पहले महीनेमें सौ, और दूसरेमें तीनसौ। एक सालमें २० हजार रुपया उड़ा लिया, सेठको कुछ खबर नहीं, हिसाब-किताब बिल्कुल ठीक। किसी प्रकार भी चोरी नहीं

पकड़ी जा सकती थी, परन्तु मुनीमके हृदयकी गति किसी और ही दिशामें चली जा रही थी। बाहरमें बराबर चोरी कर रहा था और अन्तरङ्गमें, 'अरे ! क्या कर रहा है तू ? किसके-लिए कर रहा है यह इतना बड़ा अनर्थ ? कितने दिन चलेगा यह कुछ ? विश्वासघात करना क्या शोभा देता है तुझे ? क्या मुंह लेकर जाता है सेठके सामने ? क्या इसीका नाम है मनुष्यता ?' और इसी प्रकार अनेकों धिक्कारें निकला करती थीं बराबर उसके अन्तस्तलसे। चोरी अवश्य करता था पर उसके हृदयने कभी उस धनको स्वीकार न किया, बराबर उसकी रक्षा करता रहा, पृथक हिसाब खोलकर बैंकमें डलवा दिया, एक कौड़ीको भी उसने हाथ न लगाया, मानो धरोहर थी उसके पास। कुछ दिन और बीत गये अपराधी प्रवृत्ति तथा हृदयके इस संघर्षमे और आखिर जीत हुई हृदयकी। डेड़ वर्ष पश्चात् लाकर रख दिया बीसका बीस हजार रुपया सेठजीके चरणोंमें, और हाथ जोड़कर खड़ा रह गया किंकर्त्तव्य-विमूढ़सा। 'सेठजी, अपराधी हूं। मुझ जैसा दुष्ट सम्भवतः लोकमें कोई दूसरा न हो। विश्वासघात किया है मैंने। यह आपकी दुकानसे चुराया हुआ धन है। आश्चर्य न करें, मैं ही हूं वह चोर जिसने यह कुकर्म किया है। दण्ड दीजिये इस पापीको।'

इसीके समान एक दूसरे चोरको भी देखिये जो उसी दुकानपरसे चुरा रहा है और खा रहा है, मस्त मानो उसके बापकी ही है यह सम्पत्ति। भले साल भरमें केवल २०० रुपये ही चुरा सका हो पर उस चोरीमें रस ले रहा है वह। आप ही बताओ दोनोंमें चोर कौन ? २०,००० चुरानेवाला या २०० चुरानेवाला ? सोचमें पड़ गये ? हृदयकी आवाजको छिपानेका प्रयत्न न कीजिये। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है कि आप समझ गये हैं इस रहस्यको।

८. अतिचार और अनाचार—लीजिये अब इसको सिद्धान्तका रूप दे दीजिये ताकि भविष्यमें शंकायें उत्पन्न होनेका अवकाश न रह जाय। व्रतीके अपराध दो प्रकारके होते हैं—एक अभिप्रायपूर्वक किया जानेवाला और दूसरा अभिप्राय-रहित प्रमादवश केवल किसी संस्कारके क्षणिक उदयवश किया जानेवाला; एक अच्छा समझ कर किया जानेवाला और एक आत्म-ग्लानि-सहित स्वयं हो जानेवाला। इन दोनोंमें-से पहले अपराधका नाम है 'अनाचार' और दूसरेका नाम है 'अतिचार'। अनाचारमें निरर्गलता होती है, 'किया तो किया सही, क्या बुरा किया ? ठीक ही किया' ऐसा भाव रहता है और अतिचारमें उस प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न रहता है आत्म-

निन्दन व ग्लानि रहती है, 'यह तूने बहुत बुरा किया, तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था, अब किया तो किया, भविष्यमें तेरे द्वारा ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये' ऐसा भाव रहता है। और इसलिए अनाचार तुच्छ मात्र होते हुए भी बड़ा अपराध है और अतिचार पर्वत सरीखा होते हुए भी हल्का अपराध है।

अभिप्रायकी महिमा अपार है। बाहरमें अपराध न करनेपर भी अभिप्रायमें करनेकी बुद्धि होते ही अपराधी है और अभिप्रायमें न होते हुए स्पष्ट अपराध करता हुआ भी निरपराधी है, शीघ्र ही सुधरनेके योग्य है। धर्मी-जीवके जीवनमें लगनेवाले अपराध अतिचाररूप होते हैं अनाचाररूप नहीं। परन्तु बराबर बाहरसे आप लोगोंकी धुत्कारें पड़ती रहें, उसे सान्त्वना देनेका प्रयत्न न किया जाय तो हो सकता है कि वह अतिचार अनाचारमें परिवर्तित हो जाय। वह सोचने लगे कि 'लोकमें तो निन्दा हो ही चुकी, कोई तेरे साथ सहानुभूति करनेवाला दिखाई देता नहीं, अतः अपराध करनेसे क्यों घबराता है? जब अपराधी ही बन गया तो दिल खोलकर कर' इत्यादि। इसप्रकार कल्याणके पात्रको आप ढकेल देंगे अकल्याणके गर्तमें। कितना बड़ा अनर्थ होगा? अतः भाई! गांठ बांधले इस बातको कि कभी किसीका दोष देखकर घृणा न करेगा। प्रेमपूर्वक समझा-बुझाकर उसका दोष टलवानेका प्रयत्न करेगा, और यदि वह न भी माने तो भी उससे द्वेष नहीं करेगा, माध्यस्थता ही धारेगा।

बाह्यके अपराधोंको न देखकर अभिप्रायको पढ़ना सीखो, अभिप्रायकी रक्षा करो। प्रवृत्तिमें-से दोष धीरे-धीरे स्वतः टल जायेंगे। अभिप्राय न बदलकर प्रवृत्तिमेंसे दोष टालना चाहोगे तो भले कुछ दिन रुके रहें, आयु पर्यन्त रुके रहें, पर अगले भवमें सही, एक रोज तो अवश्य जागृत होकर ही रहेंगे। अभिप्राय मूल है और प्रवृत्ति उसकी शाखा। मूलपर आघात करना ही बुद्धिमानी है, केवल शाखाको काटनेसे कुछ न होगा। इस गृहस्थ अवस्थामें भी भले अपराध प्रवृत्तिमें-से न टलें, पर अभिप्रायमें-से निरर्गलता व स्वच्छन्दता टल सकती है। यह महान कार्य है, इसे अवश्य कर डालो। अवसर मिला है इसे मत चूको।

<u>९. आगे बढ़</u>—यदि धीरे-धीरे अभ्यास करता चले और शक्तिको न छिपाये, तो क्रमशः अणुव्रती श्रावक बनकर उसकी जघन्य स्थितिसे उत्कृष्ट महिमापूर्ण श्रेणीमें पदार्पण करेगा, ऐसा निश्चय है। भय छोड़, यदि शान्ति का उपासक बना है तो शरीरसे ममत्व हटा, इस पर्यायमें आनेवाली बाधाओं से न घबरा।

तेरे समक्ष जो कदाचित् साधुओंके व्रतों आदिकी चर्चा की जाती है उस का प्रयोजन यह नहीं कि तुझे भी इस प्रकार करनेके लिये कहा जा रहा है, प्रत्युत यह बताना है कि शान्तिका मार्ग उतने मात्रपर समाप्त नहीं हो जाता जितना कि गृहस्थ-धर्ममें करनेके लिए कहा गया है। यदि उतने ही मात्रमें सन्तोष धार लेगा तो शान्तिकी पूर्णता न हो सकेगी। पूर्णताकी प्राप्ति के अभावमें कदाचित् तुझे मार्गपर अविश्वास न हो जाय इसलिए पूर्ण मार्ग जानना आवश्यक है। भले ही शक्तिकी हीनतावश उसका अंशमात्र ही जीवनमें उतारा जाय, परन्तु यह जानना आवश्यक है कि तेरेवाली उस प्रथम श्रेणीके अतिरिक्त जिसका अबतक कथन चला आ रहा है, दो और श्रेणियां भी हैं जो तेरे वालीसे उत्तरोत्तर ऊंची हैं। वे तुझमें बलकी वृद्धि हो जाने के पश्चात् ही धारी जानी सम्भव हैं। उनमेंसे प्रथमकी नं० २ वाली श्रेणी तो श्रावककी है जिसे वानप्रस्थ भी कहते हैं और अणुव्रतीके रूपसे जिसका उल्लेख अभी-अभी किया जा चुका है। दूसरी नं० ३ वाली श्रेणी साधुकी है जिसे तपस्वी, योगी, मुनि, ऋषि, साधु, सन्यासी आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है।

इसका यह अर्थ भी न समझ लेना कि साधुओंकी क्रियायें सर्वथा आपके करनेकी नहीं है, और गृहस्थकी क्रियायें सर्वथा साधुको करनेकी नहीं है, बल्कि यह समझना कि ये क्रियायें मुख्यतया साधुओंके और आंशिक रूपमें गृहस्थके करने योग्य है। आगे सुनकर आप स्वयं जान जाओगे कि अबतक जो क्रियायें आपको करनेके लिये कहा गया है, वे साधुकी क्रियाओंके ही अल्परूप है और इन क्रियाओंके अतिरिक्त भी साधु-धर्ममें बताई जानेवाली कुछ क्रियायें हैं जो गृहस्थके द्वारा आंशिक रूपमें की जानी शक्य हैं। वे सब जीवनके प्रयोजन सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थियां सुलझाने वाली हैं, अतः ध्यानसे सुनना।



२९

साधु-धर्म

१. सामान्य परिचय—शान्तिपथपर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुए जब मैं इस तृतीय श्रेणीमें पदार्पण कर जाऊगा, अर्थात् साधु बन जाऊंगा, तब मेरा जीवन किमात्मक होगा, यह बात चलनी है, अर्थात् साधु-धर्मकी बात। गृहस्थ, श्रावक तथा साधु तीनोंके धर्मोंमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल निम्नोन्नत श्रेणियोंका, जघन्यता व उत्कृष्टताका। जो क्रियायें आपको अब तक जघन्य रूपसे करनेके-लिए कहा गया है प्रायः वही क्रियायें कुछ अन्यान्य विशेषताओंके साथ साधु उत्कृष्ट रूपसे करता है। दूसरी विशेषता यह है कि श्रावक-धर्ममें बाह्याचारकी प्रधानता है और साधु-धर्ममें अन्तरङ्ग आचारकी। उसका सकल बाह्याचर सूक्ष्म होकर अन्तरङ्गमें उतरता चला जाता है, जैसे कि उसे न अब देवदर्शन करना आवश्यक है और न प्रतिज्ञा-बद्ध सामायिक करे करे, न करे न करे। तत्त्वदर्शन ही अब उसका देवदर्शन है और समता ही उसकी सामायिक। अतः बाह्यमें देवदर्शन आदि करे या न करे, दोनों उसके-लिये समान है।

यद्यपि साधु-धर्मको किसी निश्चित् वेष या लिङ्गकी सीमाओंमें बांधा नहीं जा सकता, तदपि लोक-व्यवहारके अर्थ किसी न किसी वेषमें तो उसे रहना होता ही है। विभिन्न सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार साधुओंके विभिन्न वेष उपलब्ध हैं परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो साधुका अपना कोई वेष नहीं। निर्वेष ही उसका वेष है। अथवा यों कह लीजिए कि प्रकृति ने जिस वेषमें उसे उत्पन्न किया है वही उसका वेष है, अर्थात् शिशु अथवा पशु-पक्षीकी भांति यथाजात नग्नता ही उसका स्वाभाविक वेष है। इसमें कुछ भी कृत्रिमता करना अहंकारका कार्य है जिसके राज्यका वह उल्लंघन

कर चुका है। भले ही कोई अन्य उसे वस्त्र ओढ़ा दे परन्तु अब वह उसकी सार सम्भाल ही नहीं करेगा, जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी स्वयं उसे बदलेगा नहीं, तो कैसा हो जायेगा उसका वेष, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

वेषकी ही बात नहीं उसका सारा जीवन ही शिशुकी भांति प्रकृति मांके आश्रित है। न कोई घर न द्वार, जहां कहीं भी जैसा-कैसा भी स्थान मिल गया, पड़ गए वहीं, कोई छत नहीं मिली तो न सही, आकाश तो है। भले अन्य किसी स्थानमें कोई घुसनेकी आज्ञा न दे इस नङ्ग-धडङ्गको, परन्तु निर्जन-वन, उपवन, श्मशान, पर्वतकी गुहा, वृक्षकी कोटर, नदीका पुल, घाटकी पैड़ी आदि स्थानोंमें कौन रोकता है उसे? अतः पड़ जाते हैं वहीं, न गरमीकी परवाह और न सर्दी बरसातकी चिन्ता, न डांस, मच्छर, मक्खी आदिका गम और न वनचरोंका भय। निर्भय अकेले रहते हैं वे प्रकृति मांकी गोदमें। उनमेंसे भी किसी स्थानको अपना निकेत या घर नहीं बनाते वे, घूमते रहते हैं सदा अनिकेत, बेघर, आज यहां और कल वहां, जिधर नाक उठी चल दिये। न स्नान करनेका भाव, न दांत धोनेकी चिन्ता। भले चढ़ा रहे मैल देहपर, भले नाक सुकेड़ते रहें लोग इसे देखकर, उन्हें क्या? सर व मूंछ दाढ़ीके बाल बढ़ गए तो फेंक दिये नोचकर अपने हाथोंसे, घास फूसकी भांति। निराश्रय जो ठहरे, किससे कहें, कहांसे लायें पैसा नाईको देनेके-लिए?

साथमें लगे इस छकड़ेको खेंचनेके-लिए यदि कभी कुछ आवश्यकता पड़ी तो जा अलख जगाई किसीके द्वारपर। ऊंच हो या नीच, धनवान हो या निर्धन, उन्हें क्या? किसीने दिया-दिया नहीं तो चल दिये आगे। दूसरा द्वार और फिर तीसरा। ५-७ द्वारोंपर जानेसे कुछ न कुछ तो कहीं मिल ही जायेगा, प्रभु कृपासे। न शरीरसे अपनेलिए कुछ करना, न वचनसे किसीको अपनेलिये कुछ कहना, और न किसीके द्वारा प्रेमवश कुछ किए गएकी मन से अनुमोदन करना। जिसप्रकार भ्रमर एक-एक फूलसे रस चूस-चूसकर अपना पेट भर लेता है और किसी फूलकी एक पंखुड़ीको भी क्षति पहुंचने नहीं देता, उसी प्रकार साधु भी ५-७ द्वारोंपर जाकर कहीं किसी प्रकार भी अपना पेट भर लेते हैं और किसी गृहस्थको तनिक भी बाधा पहुंचने नहीं देते। जैसा किसीने दे दिया, खा लिया हाथपर रखवाकर खड़े-खड़े ही, बच्चोंकी तरह, वह भी दिनमें केवल एक बार। सरस हो या नीरस, रूखा हो या चिकना, ठण्डा हो या गरम उन्हें क्या? गायके समान जैसा किसीने डाल दिया वैसा ही खा लिया, खड्डा भरनेसे मतलब। जिसप्रकार घरमें लगी

आगको बुझानेके-लिए उसका स्वामी रेत, मिट्टी, पानी जो भी मिले फेंक देता है उसपर उसीप्रकार जठराग्निको बुझानेके-लिए साधु रूखा-सूखा, ठंडा-गर्म, ऐसा-वैसा जो भी मिले फेंक देते हैं उसपर।

भय लगता है उनको जन-संसर्गसे, इसलिये नहीं कि वे कुछ कहते हैं उनको प्रत्युत इसलिये कि कहीं अपनी ही किसी कमजोरीके कारण कदाचित् रागमें न उलझ जायें वे उनके, और इसप्रकार खो बैठे सब कुछ, जो कमाया है अबतक। इसीलिये अपनी ओरसे सदा प्रयत्न करते हैं वे बचे रहनेका अथवा उनकी बसतियोंसे दूर रहनेका। यद्यपि सुननेपर या बाहरसे देखनेपर कुछ ऐसा लगता है कि या तो उनके दिमागकी कोई डिबरी ढीली हो गई है और या वे पशुकी भांति केवल स्वच्छन्दाचारी हैं, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं हैं। अत्यन्त तेजःपुञ्ज हैं वे, अत्यन्त विवेकवन्त हैं वे, अत्यन्त आचारवन्त हैं वे।

साधु-असाधुकी पहचान न होती है उसके वेशपरसे और न उसके बाह्याचारपर-से प्रत्युत होती है उन महान गुणोंपर-से जो भरे पड़े हैं उसके हृदय की गहराइयोंमें वीतरागता, शान्त-चित्तता, निर्भीकता, निरीहता, शोक, खेद, चिन्ता, लज्जा तथा ग्लानि-हीनता, अक्रोधता, निरभिमानता। 'मै इतना ज्ञानी तथा तपस्वी हूं, लोगों को मेरी विनय करनी चाहिए', ऐसा भाव कभी उदित नहीं होता उनके हृदयमें, न ही अपनी प्रसिद्धिके-लिए शिष्य-मंडली का संग्रह करते हैं वे। ख्याति-प्रसिद्धि आदिकी एषणाओंसे अति दूर, चारों कषायोंको परास्त कर दिया है जिन्होंने, ऐसे होते हैं सच्चे साधु। सदा दयासे आर्द्र रहता है चित्त उनका, 'छोटे-बड़े किसी भी प्राणीको मेरे द्वारा किसी भी प्रकारका कष्ट न पहुंचे, मेरे द्वारा सबका हित हो, किसीके प्रति भी मेरे मनमें कभी कोई अनिष्ट विकल्प उदित न हो, मेरे मुखसे कभी भी पर-पीड़ाकारी वचन न निकले, मेरे शरीरसे किसीको किञ्चित् भी बाधा न हो', इस प्रकारके भाव रहते हैं सदा उनके हृदयमें। भिक्षा आदिके अर्थ जब किसी ग्राममें प्रवेश करते हैं वे, अथवा किसीके द्वारपर जा खड़े होते हैं वे, तो अज्ञानीजन तिरस्कार करते हैं उनका, असह्य आक्रोश-वचन कहते हैं उनके प्रति, अपने द्वारपरसे धुत्कारकर बाहर निकाल देते हैं वे उस अग्निकी कणिकाको। "नङ्गा-धड़ङ्गा, शरम नहीं आती, चला आया मांगने, तेरे बापने बनाकर रखा है यहां भोजन तेरेलिये? जा अब फुरसत नहीं फिर आइयो", और न जाने क्या-क्या सुनना पड़ता है उनको। छोटे-छोटे बच्चे गलियों में खिल्ली उड़ाते हैं उनकी, कङ्कड़ें फेंकते हैं उनके ऊपर।

इनकी भिक्षावृत्ति भी इस प्रकारकी नहीं होती जैसी कि जैन व जैनेतर सम्प्रदायोंमें उनके साधुओंके लिए प्रसिद्ध है, प्रत्युत स्वतन्त्र होती है। यों ही किसीके द्वारपर जाकर खड़े हो गए बिना किसीसे कुछ कहे। किसीने कुछ दिया दिया नहीं तो चल दिये आगे, इस प्रकारकी सहज भ्रमरवृत्ति होती है उनकी। अथवा कहीं जाते आते नहीं, अपने स्थानपर ही पड़े रहते हैं, वहां ही कोई राह-चलता व्यक्ति या कोई हृदयसम्पन्न कुछ डाल गया तो ठीक, नहीं तो न सही। जो डाल दिया वही खा लिया घासकी भांति, ऐसी सहज अजगर या गोचरी वृत्ति होती है उनकी। खड्डा ही तो भरना है, जैसे भी भर जाय वह ही ठीक, ऐसी सहज गर्तपूर्ण-वृत्ति होती है उनकी। उदराग्निका प्रशमन करना है जिस किस प्रकार तथा जैसे-कैसे पदार्थसे भी हो जाय सो ही ठीक, ऐसी सहज अग्नि-प्रशमन-वृत्ति होती है उनको।

पानीपत जैन धर्मशालाकी एक अलमारीके खानेमें पड़े देखा करता था ऐसे ही एक व्यक्तिको मैं जब कुछ बच्चासा था। यों ही पड़े रहते थे, पांव सुकेड़े, नंगे धड़ंगे, अधो भागपर एक चिथड़ा लपेटे, गुमसुम, न किसी से कुछ बोलना न कहना। न थे किवाड़ हालमें और न अलमारीमें। गर्मी हो कि सर्दी वहीं पड़े रहते थे। माताजीके मुखसे सुना करता था कि वे गोहानेके रहने वाले एक वकील हैं, दिमाग खराब हो गया है बेचारेका। पांच दस जैनेतर व्यक्ति आया करते थे उनके पास। उनका कहना था कि बड़े महात्मा हैं ये, तुम पहचानते नहीं इनको। चलो होंगे, मुझे क्या। सर्दीके दिनोंमें कुछ दया अवश्य आती थी। एक बार रूईकी एक वास्कट माताजीसे सिलवाकर पहना आया उनको। अगले दिन जाकर देखा तो वास्कट नदारद, न जाने कहां फेंक आये उसे। एक कमरा खुलवाया उनकेलिये और उसमें बिछवा दी थोड़ीसी घास। बाबाजीसे प्रार्थनाकी कि कमसे कम रात्रि बिता लिया कीजिये इस कोठरीमें, सर्दी बहुत है। अगले दिन जाकर देखा तो टट्टी पेशाब करके सब घास गन्दा कर रखा है, और स्वयं पड़े हैं वहां ही, उसी अलमारीमें। वही पान्च दस उनके भक्त दे जाते थे उन्हें—कोई रोटी, कोई दाल भात, कोई बेड़मी और कभी-कभी थोड़ी मिठाई। किसी दिन यदि कोई नहीं आया तो चले जाते थे किसीके द्वारपर। ड्योढ़ीमें खड़े होकर ही एक आवाज़ लगाते थे बालकवत्, 'रोटी बन गई ?'। जो कुछ किसीने दे दिया रूखा-सूखा, ताज़ा-बासी, वहीं खड़े-खड़े खा लेते थे हाथपर रखवाकर। कोइ १० वर्षतक देखता रहा मैं उन्हें इसी प्रकार। एक दिन पता चला कि देवी-तालाबमें डूबकर लीला समेटली है उन्होंने अपनी। न जाने कैसे डूबे ?

इसी प्रकारके एक व्यक्तिको अब भी देखा करता हूं मैं बनारसमें, गङ्गा जीके किनारेपर घूमते हुए। प्रायः वहीं पड़े रहते हैं वे, घाटकी किसी पैड़ी पर खुले आकाशके नीचे, भले हो आग बरसानेवाली गर्मी या हो हिम बरसाने वाली सर्दी। बिल्कुल नग्न रहते हैं वे, लंगोटी भी धारण नहीं करते। सर्दी में कभी ठिठुरता भी नहीं देखा गया उनको। बिल्कुल मौन रहते हैं, न किसीसे कुछ कहते हैं न किसीकी कुछ सुनते हैं। स्नानार्थ घाटपर आनेवाले यात्री ही कुछ दे देते हैं उनको कभी-कभी। कभी गलीमें बैठ जाते हैं यों ही पागलोंकी भांति। किसी राहगीरने एक चायकी कुल्हिया पकड़ा दी उनके हाथमें और किसीने सामनेवाले हलवाईसे लेकर एक बेड़मी। मेरे एक मित्रको लड्डू खानेका शौक है। एक बार एक पाव लड्डू हलवाईसे लेकर उनको दे दिये, उन्होंने ज़रासा टुकड़ा एक लड्डूमें-से तोड़कर खाया और शेष सारा का सारा पुतकड़ा लौटा दिया उसे ज्योंका त्यों। एक बार सर्दी की कड़कड़ाती रातमें किसी हृदयवन्तने एक कम्बल ओढ़ा दिया उनको। चल दिये वे उठकर। कम्बल पड़ा रह गया वहीं। किनारे पर किन्हीं मकानोंमें रहने-वाले साधु प्रायः पुकारते हैं उन्हें, "मर जायेगा सर्दीमें ठिठुरकर, यहां आ जा, धूनीके पास बैठ जा", परन्तु न जाने उन्हें सुनता है कुछ या नहीं। एकबार मणिकर्णिका घाटके श्मशान पर जा बैठे। पण्डा आया और दे मारी उठाकर एक जलती हुई लकड़ी उनके शरीरपर। उसी प्रकार सौम्य मुद्रामें मुस्कुराते हुए उठकर चल दिये वहां से। न परवाह चोटकी और न शरीरके जलनेकी।

साधु मानों इन्हें या असाधु इतना तो निश्चित रूपसे कहा ही जा सकता है कि इन्सान हैं ये पाषाण नहीं। भगवान् महावीर स्वयं रहा करते थे इसी प्रकार अपनी साधनाके दिनोंमें। पूज्य अपूज्यपना तो व्यक्तिकी अपनी श्रद्धापर निर्भर है, जिसे चाहें मानें जिसे चाहें न मानें। व्यवहारिक क्षेत्रमें सम्प्रदाय ही एक मात्र प्रमाण है इस विषयमें। अपने-अपने सम्प्रदायमें जो प्रसिद्ध हैं तथा परिचित हैं, वे ही देखे जाते हैं सम्मानकी दृष्टिसे। अप-रिचित तथा जान-बूझकर पागलोंकी भांति अन्धे-गूंगे बहरे बनकर रहनेवाले इन व्यक्तियोंको आपके इस सम्मानकी आवश्यकता ही कब है? उसीसे डरकर तो इन्होंने इस प्रकारकी निराश्राय वृत्तिका आश्रय लिया है। धुत्कारोंके द्वारा तथा मर्मच्छेदी आक्रोश वचनोंके द्वारा सर्वत्र स्वागत किया जाता है इनका, परन्तु सभी स्थितियोंमें निर्बाध सौम्यता साथ रहती है इनके। भले ही अज्ञानीजन धुत्कारते रहें या मारते रहें उनको पागल समझकर,

परन्तु वे मुस्कराते रहते हैं सदा भीतर ही भीतर इनकी बाल-बुद्धिपर और कल्याणकी कामना करते रहते हैं इनके-लिये। क्या मजाल कि माथेपर बल पड़ जाय।

साधारणजन समझें न समझें परन्तु ज्ञानीजन समझते हैं यह कि आगममें साधुके आचार-विचार सम्बन्धी जो विभिन्न शीर्षक प्राप्त होते हैं, वे सब पण्डितोंकी भाषामें कथित इनके उपर्युक्त स्वाभाविक महान गुणोंका विस्तार है, अन्य कुछ नहीं। यथा—'नग्नता, अस्नान, अदन्तधोवन, केशलुञ्चन, पाणिपात्रता, एकभुक्ति, स्थितिभुक्ति अर्थात् खड़े रहकर खाना' ये सात बाह्य क्रियायें जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है साधुके आगमोक्त महान गुण हैं। इनके साथ 'पंचेन्द्रिय-जय, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, और षड्आवश्यक' ये २१ क्रियायें जोड़ देनेपर उनके कुल २८ मूलगुण कहे गए हैं। इनके अतिरिक तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय, चारित्र और तपका भी उल्लेख है। लीजिये क्रमपूर्वक इन सबका संक्षिप्तसा दर्शन कर लीजिये।

२. इन्द्रिय-जय—इन्द्रियोंको दास बना लिया है इन्होंने। पाँचों इन्द्रियोंके विषय अविषय हो गए हैं अब इनके-लिए। शान्तिका उपभोग तथा समता-रसमें स्नान, यही एक मात्र विषय रह गया है अब इनका। इसका विस्तार आगे 'उत्तम संयम' नामक ३६वें अधिकारमें किया जानेवाला है।

३. महाव्रत – पञ्च-अणुव्रतोंका कथन श्रावक-धर्मके अन्तर्गत किया जा चुका है। उन्हींकी पूर्णताका नाम 'महाव्रत' है। 'केवल शरीर द्वारा ही नहीं वचन तथा मनके द्वारा भी किसी छोटे या बड़े प्राणीके किसी भी प्राणको किञ्चित् भी पीड़ा न पहुँचे' इस प्रकारकी सावधानी ही है इन व्रतोंकी पूर्णता। अहिंसाकी पूर्णताका उल्लेख आगे 'उत्तम-संयम' नामक ३६वें अधिकारमें, सत्यका 'उत्तम-सत्य' नामक ३५ वें अधिकारमें, अचौर्यका 'उत्तम-त्याग' नामक ३९ वें अधिकारमें, ब्रह्मचर्यका 'उत्तम-ब्रह्मचर्य' नामक ४१वें अधिकारमें और अपरिग्रहका 'उत्तम-आकिंचन्य' नामक ४० वें अधिकारमें किया जानेवाला है। इस व्रतकी साधु-धर्ममें प्रधानता होनेके कारण आगे 'अपरिग्रहता' नामक एक पृथक् अधिकार भी दिया गया है। यहां केवल इतना मात्र उल्लेख कर देना पर्याप्त है कि इन पाञ्चों महाव्रतोंकी रक्षाके-लिये साधु अपनी शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओंका किसप्रकार सूक्ष्मतासे निरीक्षण करते हैं।

अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके-लिये वे अपने मनमें किसीके प्रति भी कोई अनिष्ट विचार आने नहीं देते, जिह्वाको किसीके प्रति अहितकारी, अनिष्ट अथवा कटुक-शब्द, मर्मच्छेदी अथवा व्यङ्गका शब्द बोलने नहीं देते और शरीर

को समितिरूप यत्नाचारमें कभी प्रमाद करने नहीं देते अर्थात् गमनागमन आदि सभी क्रियायोंमें बड़ी सावधानी तथा यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं।

सत्य व्रतकी रक्षाके लिये न तो मनमें किसीके प्रति क्रोध जागृत होने देते हैं, न लोभ, न राजा आदिका भय और न किसीका उपहास करनेका भाव, क्योंकि ये चार ही हेतु हैं जिनके कारण व्यक्तिको न चाहते हुए भी असत्य बोलनेके-लिये प्रवृत्त होना पड़ता है। बराबर यह सावधानी रखते हैं कि किसीके प्रति भी अप्रिय अथवा कटुक-शब्द उनके मुखसे निकलने न पावे।

तृण-मात्रका ग्रहण भी पाप है इसलिये उनको अचौर्य-व्रत सहज है। अदत्त-ग्रहणका वनवासीके-लिये प्रश्न क्या? तदपि शरीरका भाड़ा चुकानेके लिये भोजन अवश्य ग्रहण करते हैं। वह भी केवल उसी दातारसे लेते हैं जो कि हृदयसे देना चाहे. अनमने-भावसे देनेवालेका अन्न वे ग्रहण नहीं करते, क्योंकि हृदयसे न दिया गया होनेके कारण वह वास्तवमें अदत्त है। अदत्त होनेके कारण वृक्षोंपर-से स्वयं फल-फूल तोड़कर भी नहीं खाते वे। हाथ धोने को मिट्टी तक भी स्वयं नहीं लेते वे। इसी व्रतकी रक्षाके-लिये सदा वन, श्मशान अथवा गुफा आदि किसी ऐसे स्थानमें रहते हैं वे जिसके स्वामी सब हैं अथवा जहाँ रोकनेवाला कोई नहीं। वहां भी यदि कोई अन्य ठहरना चाहे तो उसे रोकते नहीं वे। किसीसे वाद-विवाद भी करते नहीं वे क्योंकि वह भी वास्तव में दूसरेकी श्रद्धाको लूटनेका प्रयत्न है, अन्य कुछ नहीं। कितनी सूक्ष्म है व्रत-सम्बन्धी इनकी दृष्टि?

ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षाके-लिये स्त्रीके सायेसे भी दूर रहते हैं वे। स्त्रीके राग-विषयक कोई चर्चा न करते हैं और न सुनते हैं। स्त्रीके मनोहर अङ्गोंपाङ्गोंकी ओर कभी आंख उठाकर भी नहीं देखते। गृहस्थ-अवस्थामें भोगे गए भोगोंका मनसे स्मरण नहीं करते। कभी अपने शरीरको स्नान आदिके द्वारा साफ-सुथरा अथवा सुन्दर बनानेका प्रयत्न नहीं करते।

परिग्रह-त्याग व्रतकी रक्षाके-लिये धागेका ताना मात्र भी पास नहीं रखते वे, नग्न रहते हैं। पाञ्चों इन्द्रियोंके इष्टानिष्ट विषयोंके संयोग-वियोगकी चिन्ता नहीं करते वे। जितना तथा जो कुछ भी सहज प्राप्त है, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं वे और इसी लिये कहलाते हैं महाव्रती।

४. समिति—समिति अर्थात् (सम + इति) का अर्थ है अन्तरंगमें निज शान्तिकी प्राप्तिके प्रति और बाहरमें अन्य जीवोंकी शान्तिकी रक्षाके प्रति प्रयत्न करते हुए सम्यक् प्रकार गमन करना। यद्यपि वास्तविक समिति उतनी ही देर रह सकनी सम्भव है जितनी देर कि निज शान्तिमें स्नान करते ध्याना-

वस्थामें स्थित रहते हैं वे क्योंकि पूर्णतया शान्तिकी प्राप्ति तथा अन्य जीवोंकी रक्षा तभी सम्भव है, अन्य शारीरिक क्रियायें करते हुए नहीं। तदपि अधिक समय उस अवस्थामें स्थिति पानेकी सामर्थ्य न होनेके कारण जब इस दशासे च्युत हो जाते हैं और कुछ शारीरिक व वाचिक क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगते हैं तो 'मेरी इन क्रियाओंसे किसी भी छोटे या बड़े प्राणी को किसी भी प्रकारका कष्ट न होने पावे' इस उद्देश्यसे अत्यन्त सावधानी पूर्वक वर्तते हैं वे। उनकी यह यत्नाचारी प्रवृत्ति ही अन्य जीवोंकी रक्षाके निमित्त होनेके कारण समिति कहलाती है, जो पांच प्रकारकी है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन। इन्हींका क्रमसे कथन करता हूँ।

१—उपरोक्त सकल शारीरिक क्रियायें करते हुए सदा अपने भीतर ही देखते रहते हैं वे और अपनी दृष्टिको इधर-उधर भटकने नहीं देते। यदि संस्कारवश वहांसे भटककर बाहर आ भी जावे तो सदा पृथ्वीकी ओर ही लखाते हैं दिशाओंमें नहीं। चार हाथ आगे देखकर चलते हैं ताकि कोई चींटी आदि छोटा जन्तु पांवके नीचे आकर या शरीरके किसी भी अगसे आघात पाकर मर न जाय, पीड़ित न हो जाय। यहां तककि मार्गमें कुछ प्राणी ऐसे बैठे हों जो उनके अकस्मात् निकट पहुंचनेपर डरकर भागने लगें, तो उस मार्गको ही छोड़ देते हैं वे। २—किसी भी वस्तुको उठाते-धरते हुए उस वस्तुको तथा स्थानको कोमल पिच्छीसे अच्छी तरह शोध या झाड़कर ही रखते-उठाते हैं वे कि कहीं ऐसा न हो कि इस वस्तुके नीचे आकर या उसका आघात पाकर कोई छोटा जन्तु, जिसका उस स्थानपर या वस्तुपर उस समय बैठा हुआ होना सम्भव है, मर न जाय या पीड़ित न हो जाय। ३—मल-मूत्र क्षेपण करते समय भी यह यत्न बराबर बना रहता है उन्हें और इस लिए किसी गुप्त तथा साफ स्थानमें ही अच्छी तरह देखकर या शोध-झाड़कर मल क्षेपण करते हैं, नाली आदिमें नहीं, क्योंकि ऐसे गन्दे स्थानोंमें बड़ी जीव-राशि पड़ी हुई होती है, जोकि उस मलसे मर जानी या बाधित हो जानी सम्भव है।

४—गमनागमनकी, उठाने-धरनेकी तथा मल-क्षेपणकी क्रियाओंके अतिरिक्त, उपदेश देते समय या अपने किसी शिष्यसे या अन्य साधुसे बात करते समय भी यह यत्नाचार बराबर बना रहता है उन्हें कि उनके मुखसे कोई भी शब्द ऐसा न निकलने पाए जोकि श्रोताके-लिए अहितकारी हो अथवा उसे कुछ बुरा लगे। ५—भोजन ग्रहण करते समय भी बराबर यह यत्नाचार वर्तता है कि भोजन किसी ऐसी वस्तुसे अथवा किसी ऐसी रीतिसे न

बनाया गया हो जिसके कारण किसी छोटे या बड़े जीवको पीड़ा पहुंची हो अथवा पहुँचनेकी सम्भावना हो, या भोजन लेनेसे किसी अन्यकी उदर-पूरणामें बाधा आनेकी सम्भावना हो, अथवा उनके लिए भोजन बनानेमें दातारपर कोई अनावश्यक भार न पड़ा हो। इस प्रकार उत्कृष्ट यत्नाचारमें प्रवृत्त रहते हुए उनका जीवन है पूर्ण-व्रती, पूर्ण-संयमी।

५. षट्-आवश्यक—यह तो हुई शरीर व इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात परन्तु मनके प्रति भी असावधान नहीं हैं वे। इसे जीतनेके-लिये अर्थात् इसे जहांतक हो सके अधिकाधिक समय तक अक्षुब्ध रखनेके-लिये नित्य प्रयास करते रहते हैं वे। १—निश्चित-रूपसे दिनमें तीन बार सामायिक करते हैं वे, रातको बीच-बीचमें जागकर समताभाव जागृत रखनेका विचार करते हैं वे। दिनमें तीन अवसरोंके अतिरिक्त भी अनेकों बार उसी प्रकारके विचार करते रहते हैं, यहांतक कि चलते-चलते तथा भोजन करते हुए भी अनेकों बार शान्ति में तन्मय हो जाते हैं वे। जीवनकी अन्य प्रवृत्तियोंमें भी दुःख-सुख, वन्दक-निन्दक आदि इष्टानिष्ट द्वन्द्वोंमें राग-द्वेष न करके साम्यताको ही धारण किये रहते हैं वे, शान्तिको भङ्ग नहीं होने देते वे। २,३—इस शान्तिमें लगने वाले दोषोंके-लिये अर्थात् राग आ जाय तो उसके-लिये सदा आत्मग्लानि पूर्वक अपनी निन्दा करते हैं। शान्तिके आदर्श प्रभुकी दिनमें तीन बार नियमसे तथा अन्य भी अनेकों बार शान्त-रसमें तल्लीन रहनेके-लिये स्तुति व वन्दना करते रहते हैं। ४—बाहरमें दीखनेवाले स्थूल दोष तो उन्हें प्रायः लगते नहीं, हां कदाचित् अन्तरंगमें रागादिके कारण कोई सूक्ष्म-दोष लग जावे तो उसपर मनमें खेद करते हैं तथा आगेको उनके प्रति सावधानी रखनेकी प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करते हैं। ५—शेष समय जो बचे उसमें अपने अन्तष्करणका अध्ययन करते रहते हैं अर्थात् बराबर मनके प्रति जागृत रहते हुए यह देखते रहते हैं कि कहां-कहां घूम रहा है तथा क्या-क्या विचार रहा है यह। यही उनकी स्वाध्याय है। ६—सामायिक आदि उपर्युक्त क्रियायें करते हुए दिनमें या रात्रिको शरीरके प्रति अत्यन्त उपेक्षित होकर, इसकी बाधाओं तथा पीड़ाओंको न गिनते हुए यथाशक्ति कुछ समयके लिये इसे काष्ठवत् त्याग देनेका अभ्यास करते हैं वे। घण्टों खड़े रहते हैं या बैठे रहते हैं निश्चेष्ट, अन्तरङ्गमें अपने वास्तविक देहके दर्शन करते हुए। यह कहलाता है कायोत्सर्ग। इन क्रियाओंमें सदा तत्पर रहते हैं वे। ये छः क्रियायें क्योंकि उन्हें परवश होनेसे बचाती हैं अर्थात् उनमें राग-प्रवेशके-लिये अवकाश आने नहीं देतीं, इसलिये अत्यन्त आवश्यक समझी जाती हैं और 'षड् आवश्यक' संज्ञाको प्राप्त होती है।

पंचेन्द्रिय-जय, पंचमहाव्रत, पंचसमिति, छः आवश्यक और सामान्य परिचयमें कथित नग्नता आदि सात बाहरी क्रियायें, इस प्रकार २८ मूल-गुणों के धारी वे बराबर बढ़ते जाते हैं आगे ही आगे, उस समयतक जबतक कि संस्कारोंका मूलोच्छेद करके इनके बन्धनसे मुक्त नहीं हो जाते वे। इनके अतिरिक्त जो तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाइस परीषहजय, पंच चारित्र और बारह तपोंका निर्देश किया गया है, अब उनका कथन किया जाता है।

६. गुप्ति—मन, वचन व कायको पूर्ण नियन्त्रित रखनेका नाम 'गुप्ति' है। वास्तवमें इसकी पूर्णता भी ध्यानस्थ अवस्थामें ही सम्भव है, जहां शरीर निश्चल, वचनसे मौन, मनमें अन्तर्जल्परूप क्षोभका अभाव और शान्तिमें एकाग्रता पाई जाती है। परन्तु वहांसे हट जानेपर वह योगी बराबर यह प्रयत्न रखता है कि १—"शरीरको हिलाने-डुलानेका काम न करूंगा, यदि करूंगा तो थोड़ा करूंगा और वह भी समितिमें बताये अनुसार यत्नाचार पूर्वक करूंगा। २—मौनसे रहूंगा और यदि बोलना भी पड़ा तो थोड़ा बोलूंगा और उसमें भी शान्ति व स्व-पर-हित सम्बन्धी बात ही बोलूंगा, वह भी निष्प्रयोजन न बोलूंगा, प्रयोजनवश भी अत्यन्त मिष्ट-भाषामें बोलूंगा। ३—मन के द्वारा केवल निज शान्तिके अतिरिक्त कुछ न सोचूंगा, यदि सोचना भी पड़ा तो अधिक देरतक नहीं सोचूंगा, बीच-बीचमें लौटकर पुनः पुनः शान्तिको स्पर्श करता रहूंगा। कुछ देर भी सोचनेमें लौकिक विकल्प न आने दूंगा, शान्तिकी प्रेरणा-सम्बन्धी विकल्प ही आने दूंगा" इत्यादि। इसप्रकार हमारी भांति मन वचन व कायके आधीन न रहकर उनको अपने आधीन बना लेते हैं वे। जो काम वे चाहेंगे वही उन तीनोंको करना पड़ेगा, जो वे नहीं चाहेंगे उसे वे न कर सकेंगे और जो वे तीनों कहेंगे उसे वे (साधु) न करेंगे। हमारी भांति वे योगी उनके दास नहीं होंगे बल्कि वे तीनों ही होंगे उनके दास और इसलिये वे योगी कहलाते हैं त्रिगुप्ति-गुप्त। कितना महान है उनका पराक्रम व बल?

७. धर्म—यद्यपि समताके अभ्यास द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रधान कषायोंको अत्यन्त क्षीण कर दिया है उन्होंने और इसी प्रकार पञ्च महाव्रतोंकी साधनाद्वारा असत्य आदिकी प्रवृत्तियें भी प्रायः समाप्त हो गई है उनकी। यदि कदाचित् संस्कारवश ये दोष थोड़ा-बहुत सर उभारनेका प्रयत्न भी करें, तो वह इतना धुन्धला तथा शक्तिहीन होता है कि किसीको यह पता चलने नहीं पाता कि इनमें झलकमात्र भी शेष है उनकी। अर्थात् उनकी शारीरिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी भी क्रियामें उनका स्पष्ट आभास नहीं होता। शान्ति-स्वरूप समता हस्तगत हो गई है उन्हें। आत्मा

का स्वभाव होनेके कारण यही कहलाता है धर्म, जिसके दस अंग हैं जोकि सहज प्रगट हो जाते है उनमें। इनके नाम हैं—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। इनमें-से पहले चार धर्म उपर्युक्त चार कषायोंके विरोधी हैं; संयम, सत्य, त्याग, ब्रह्मचर्य और आकिञ्चन्य क्रमशः हिंसा आदि पाञ्च पापोंके विरोधी हैं; और तप है निर्जराके अर्थ की जानेवाली कठोर-साधना।

ये दसों धर्म पृथक-पृथक कुछ हों, ऐसा न समझना। एक ही धर्मात्माके दस लक्षण हैं ये अथवा उसके समतामयी भावका विश्लेषण मात्र है यह। इसी कारण इनको दस-धर्म न कहकर 'दस-लक्षण-धर्म' कहा जाता है, अर्थात् दस-लक्षणों या अङ्गोंवाला एक अखण्ड-धर्म, भगवान् आत्माका एक अखण्ड-स्वभाव। यद्यपि उत्कृष्ट रूपसे ये परिणाम अन्तर्मुखी साधु-जनोंको ही वर्तते हैं, तदपि गृहस्थ जीवनमें इनका सर्वथा अभाव हो ऐसा नहीं है। अतः भले ही गृहस्थ अथवा श्रावक-धर्ममें इनका उल्लेख न किया हो, तदपि यथोचित रूपमें वहां भी इन्हें अपनी ओरसे लागू कर लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त क्रियाओंके अतिरिक्त आप भी इन्हें यथाशक्ति अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करें। अशान्तिसे आपकी रक्षा करनेके-लिये ये विशेष रूपसे आपके सहायक होंगे। इन दसों भावोंके साथ 'उत्तम' विशेषण लगनेसे इनका महत्व बहुत अधिक हो जाता है क्योंकि यह शब्द इन धर्मोंके वाच्यार्थको बाह्य लोक से उठाकर अन्तरङ्ग लोकमें ले जाता है। इन दसों धर्मोंका विस्तृत विवेचन आगे स्वतन्त्र अधिकारोंमें किया जानेवाला है।

८. अनुप्रेक्षा—वैराग्यके संरक्षण अथवा उसकी परिवृद्धिके अर्थ संसार, देह, भोगोंमें निस्सारता देखते हुए, तद्विषयक कुछ तात्त्विक चिन्तवन करनेका नाम अनुप्रेक्षा है। १. ये सभी वस्तुयें अनित्य हैं, २. अशरण हैं, ३. जन्म-मरणमें अथवा संकल्प-विकल्पोंमें नित्य संसरण करानेवाली हैं। ४. धन, स्त्री, कुटुम्ब आदि कोई तथा कुछ भी यहाँ मेरा नहीं. ५. अकेला ही आया हूं और अकेला ही जाना पड़ेगा, ६. शरीरसे अधिक अशुचि इस जगतमें अन्य क्या है, फिर भी इसके प्रति राग क्यों, ७. इस तुच्छमात्र वस्तुके कारण क्यों नित्य-निरन्तर पुण्य-पापरूप अपराधोंके चक्करमें पड़ा हुआ है, ८. इस अपराध या आश्रवसे अब बस हो, ९. जिस-किसी भी प्रकार इस अपराधको प्रेरणा देनेवाले संस्कारोंका विच्छेद हो, १०. बाह्य जगतरूप अथवा अभ्यन्तर जगतरूप ये तीनों लोक परमार्थतः असत्य हैं, अभूतार्थ हैं, ११. कोई भी वस्तु यहां ऐसी नहीं जो अनन्तों बार तूने ग्रहण कर-करके न छोड़ दी हो।

अतः सभी कुछ सुलभ है। दुर्लभ यदि है तो केवल एक बात और वह है तात्त्विक विवेक। उसीकी प्राप्तिमें सकल पुरुषार्थ उण्डेल दे, इसीमें कल्याण है, १२. यही है तेरा परम-कर्त्तव्य और यही है तेरा स्वभाव या धर्म। इस प्रकार बारह भावनाओंका पुनः पुनः चिन्तन करते रहना अनुप्रेक्षा कहलाता है, जिसका विस्तार आगे ४२वें अधिकारमें किया जानेवाला है।

९. परीषह-जय—परिषहका अर्थ है 'परि+सह' अर्थात् हर प्रकारसे सहन करना। कष्ट-सहिष्णुता अथवा तितिक्षा-भावका नाम ही है परीषह-जय। जीवनमें और विशेषतः निराश्रय वृत्तिवाले साधुके जीवनमें पद-पदपर अनेकविध पीड़ाओंका मिलना स्वाभाविक है। कभी भूख-प्यासकी पीड़ा तो कभी सर्दी-गरमीकी अथवा डांस, मच्छर, मक्खी आदिकी पीड़ा; कभी नग्नताकी लाज तो कभी रागद्वेष जनित अन्तर्दाह; कभी स्त्री आदि विषयक भोगाभिलाषकी जागृति तो कभी अविवेकी जनोंके द्वारा प्राप्त अपमान तथा तिरस्कार; कभी बैठने, उठने व सोनेकी बाधा तो कभी भिक्षा-वृत्तिमें प्राप्त लाभालाभ और धुत्कारें; कभी कांटा आदि चुभनेका कष्ट तो कभी देहके मैलेपनेका अथवा पसीने आदिका दुःख; कभी बुद्धिहीनताकी अथवा अल्पज्ञता की चिन्ता तो कभी ऋद्धि-सिद्धियोंका लोभ अथवा इन बाधाओंके कारण धर्म-कर्म छोड़ बैठनेकी भावना। कहांतक कहा जाय, अनन्तों हो सकती हैं पीड़ायें, कुछ दैहिक और कुछ मानसिक। सबको समता-भावसे सहन करते हैं वे, उनका प्रतिकार करनेकी भी भावना उदित नहीं होने देते वे अपने अन्दर। इस विषयका विस्तार भी आगे ४२वें अधिकारमें किया जानेवाला है।

१० चारित्र—जैसाकि दर्शन-खण्डमें बताया जा चुका है, चारित्रका अर्थ है समता। हर परिस्थितिमें समता-पूर्वक विचरण करते रहना ही अब इनका स्वभाव बन गया है, जिसके लिये अब इनको विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिये कहलाता है यह 'सामायिक चारित्र'। श्रावक अवस्थामें जिसका प्रतिज्ञाबद्ध होकर अभ्यास करते थे, वही यहाँ आकर बन जाता है उनका स्वभाव और यही धीरे-धीरे परिवृद्ध होता हुआ बन जाता है यथाख्यात अर्थात् अपने तात्त्विक स्वभावके बिल्कुल अनुरूप। यहाँ आकर समाप्त हो जाती है साधना, पूर्ण हो जाता है योगी, जीवन्मुक्त हो जाता है वह। इसका कथन भी आगे ४३वें अधिकारमें किया जानेवाला है।

११. तप—तपका कथन पहले किया जा चुका है परन्तु वह था गृहस्थके योग्य केवल उसका सामान्य विवेचन। यहाँ आकर विशेषताको प्राप्त हो जाता है वह, बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भागोंमें विभक्त हो जाता है वह। बाह्यमें

अनशन, ऊनोदरी, रस-परित्याग, एकान्तवास तथा आतापन-योग आदि विविध प्रकारके कायक्लेश; और भीतरमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य अर्थात् गुरुजनोंकी सेवा, स्वाध्याय, देहोत्सर्ग और ध्यान। संस्कार-विच्छेदके-लिये इन सभीका यथावसर सेवन करते हैं वे, और अत्युग्र रूपमें सेवन करते हैं वे। इसका विस्तृत विवेचन आगे 'उत्तम-तप' नामक ३७वें अधिकारमें आने वाला है।

१२. महिमा—कौन कर सकता है वर्णन साधुकी महिमाका। भले ही अज्ञानीजन समझते रहें उन्हें नङ्ग-धड़ङ्ग निर्लज्ज और करते रहें चर्चा परस्पर में उनके पागलपनकी; भले उत्पन्न होते रहें उनके मनमें ग्लानि, घृणा, लज्जा अथवा दया के भाव उनकी नग्नताके प्रति, उनके मैले-कुचैले शरीर के प्रति, उनकी अस्नान, अदन्त-धोवन आदि अव्यवहारिक वृत्तियोंके प्रति; परन्तु ज्ञानी-जन जानते हैं उनकी महिमा। भर्तृहरि जैसे विरागी ऋषि भी भावना भाते हैं उनकी—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रदिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

"हे शम्भो! वह कौनसा शुभ दिन होगा जबकि मैं भी इसीप्रकार एकाकी, निस्पृह, शान्त तथा हाथमें रखवाकर आहार करनेवाला दिगम्बर साधु होकर वन-वन विचरूँगा, और सकल कर्मोंको अथवा संस्कारोंको निर्मूल करनेके-लिये समर्थ हूंगा", उन संस्कारोंको जो कि स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं उन्हें अपनी शान्तिके बाधक, अपने शत्रु।

परन्तु पागलसे दीखनेवाले इस योगीको क्या परवाह है इनकी? काबू जो पा लिया है उस वीरने इनपर। पद-पदपर उनसे सावधान होकर चला जा रहा वह? और यदि कदाचित् कुछ आगे बढ़नेका प्रयत्न भी करें वे, कुछ बन्दर-भभकी भी दिखावें वे, तो टूट पड़ता है वह पागल उनपर लेकर बारह अनुप्रेक्षाओंका कोड़ा। सब कुछ सहन कर सकता है वह परन्तु शान्तिमें बाधा नहीं, उस शान्तिमें जिसकी उपासनाके पीछे पागल हुआ भटक रहा है वह, जिसकी प्रगतिके-लिये इतना उग्र-पुरुषार्थ साधा है उसने। किसी मूल्यपर भी अपनी आदर्शभूत मधुर मुस्कानका विरह सहन नहीं कर सकता वह। उसका सकल पुरुषार्थ, उसका सकल वीरत्व, उसका सकल पराक्रम चलता है उस संस्कारपर, जिसके पाले पड़ा हुआ है सारा जगत। भला कौन योद्धा है जो जीत सके उसे? अपनेको बड़ा बली और वीर योद्धा माननेवाला भी किसीका मात्र कटु-शब्द सुन लेनेपर अपने अन्दरमें उठे क्रोधको दबा सकेगा क्या? किसी

सुन्दर स्त्रीके द्वारा फैंके हुए एक तीखे कटाक्षके प्रहार को सहन कर सकेगा क्या ? विह्वल हो उठेगा उसी समय वह। क्रोधके आधीन हो भूल जायेगा अपनेको, या मैथुन-सस्कारका मारा लगेगा तड़पने, पानीमे बाहर निकाल कर डाली गई मछलीवत् और पता चल जायेगा उसे कितना बड़ा वीर है वह, कितना बड़ा योद्धा है वह। हवा खाने चला जायेगा उसका सर्व पराक्रम, उसका सर्व वीरत्व, जिसपर था उसे इतना घमण्ड। खिल्ली उड़ा रही होगी उस समय सामने खड़ी उसके अन्तर-संस्कारकी शक्ति कि "बस ! हो लिये दम-खम इतनेमें ही, जा चूडियां पहनकर घरमें बैठ जा, यह तो बहुत छोटासा आक्रमण था तेरे ऊपर, इसीसे रो पड़ा ? नपुंसक कहींका।"

वीरत्व देखना है तो देखो उस सामने बैठे नंगे-घड़ंगे योगीकी ओर, जिसके शरीरकी हड्डी-हड्डी दीख रही है, एक थप्पडको भी सहन करनेकी शक्ति सम्भवतः जिसमें नहीं है। उपरोक्त छोटी-छोटी बातोंसे तो क्या यदि लोककी सर्व विकारी शक्तियां भी एकत्रित होकर आ जायें, तो उसके मुख-मण्डलपर फैली आभा, तेज, मुस्कान तथा शान्तिको बाधित करनेमें समर्थ न हों, उसके अन्दरमें क्रोध या मैथुन-भावकी विह्वलता उत्पन्न करनेमें समर्थ न हों।

गृहस्थ तथा श्रावकके विविध सोपानोंका धीरे-धीरे अतिक्रम करते हुए अभ्यासवश परिवृद्ध हो गई है उनकी शक्ति, प्रकट हो गया है उनका वीरत्व। शरीरको भी अपना दास बना लिया है आज उन्होंने, उस शरीरको जिसका दास बना हुआ है सारा जगत। सिंह-वृत्ति धारकर ग्राम-ग्राम विचरण करते हैं वे, बिल्कुल अपरिचित वातावरणमें जाकर रहते हैं वे, क्षुधादि बाधाओं तथा पीड़ाओंको भी कुछ गिनते नहीं हैं वे, सकल लोक-लाजको छोड़कर द्वार द्वारसे भिक्षा मांगते हैं वे, अनेकों द्वारोंपर धुत्कारोंसे स्वागत किया जाता है उनका पर माथेपर बल नहीं पड़ने देते वे।

अति महान है उनकी करुणा। भले महीने भरके भूखे हों, परन्तु दातारके द्वारपर यदि कदाचित् खड़ा दिखाई दे जाय कोई कुत्ता या कोई अन्नार्थी तो तुरत लौट आते हैं उसके द्वारपर-से, इसलिये कि कहीं मेरे प्रति उपयुक्त हो जानेके कारण वह दातार इन बेचारोंको सूखा ही न टाल दे। इनका पेट काटकर खाना उन्हें कदापि स्वीकार नहीं। इसके अतिरिक्त कदाचित् यह सन्देह हो जाय कि इस दातारने भक्तिवश मेरे निमित्त अपनी बिसात से अधिक कुछ किया है, तो भी चुपकेसे बना बनाया छोड़कर लौट आते हैं वे वहांसे, इसलिये कि मेरे निमित्त अनावश्यक भार पड़ा है उसपर।

कोटि जिह्वा भी समर्थ नहीं इन महर्षियोंके पराक्रमका बखान करनेके लिये। कभी ध्यानस्थ होकर निश्चल बैठ जाते हैं वे सर्दीकी कड़कड़ाती रातोंमें नदी किनारे, कभी ज्येष्ठकी चिलचिलाती दोपहरियोंमें जा बैठते हैं वे पर्वतके शिखरपर, और कभी बरसातकी मूसलाधार वर्षामें वृक्षके नीचे, केवल इसलिये कि शरीर सुख-प्रिय न हो जाय कहीं उनका। शारीरिक ही नहीं मानसिक बाधाओंको भी तुच्छ समझते हैं वे। भले ही कोई गाली दे उन्हें, या करे उनका तिरस्कार, या उपसर्ग करे उनके शरीरपर, तो भी शाप नहीं देते वे उन्हें, विपरीत इसके कल्याणकी भावना भाते हैं उनके प्रति। अनेक ऋद्धियों-सिद्धियोंके स्वामी होते हुए भी प्रतिकार करनेका प्रयत्न नहीं करते वे उनका। भले ही कठिन तपश्चरण करनेके उपरान्त ज्ञानकी वृद्धि न हो पावे उन्हें, परन्तु यह विकल्प उदित नहीं होने देते वे अपने मनमें कि 'देखो अमुक व्यक्ति तो बिना तपश्चरण किये ही अथवा अल्पमात्र तपश्चरण करके ही, इतना अधिक विद्वान तथा मर्मज्ञ हो गया, इतना चमत्कारी हो गया और इतना उग्र-तपस्वी या धैर्यवान होते हुए भी मैं अबतक वहांका वहां ही हूं।' सबके प्रति सदा कल्याणमय आशीर्वचन निकलते हैं उनके मुखसे। तथा इसीप्रकार अन्य भी अगणित गुण, जिन्हें कहनेके लिये मैं समर्थ नहीं। ऐसे परम पवित्र त्यागी हैं पागलसे दीखनेवाले वे नङ्ग-धड़ङ्ग बाबा।

क्यों? घबरा गया सुनते-सुनते? सम्भवतः विचारता हो कि इतने कष्ट का जीवन कैसे बिताते होंगे और यदि मुझे भी कदाचित् करना पड़ा तो कैसे कर सकूंगा? परन्तु घबरा नहीं, तू भी उसी सिंहकी सन्तान है, जबतक क्रम-पूर्वक बढ़ता हुआ स्वयं वहां नहीं पहुँच जाता तब तक ही घबराहट है, वहां पहुँचनेके पश्चात् आनन्द ही आनन्द, शान्ति ही शान्ति। भला विचार तो सही कि वे भी तो मनुष्य ही हैं तेरे जैसे, उनका भी शरीर है तो चाम-हाड़का ही, न कि लोहेका। कष्ट हुआ होता तो कैसे टिक पाते वहां? रणक्षेत्रमें अपने शत्रुको पीछे धकेलते क्षत्री-योद्धाके शरीरमें अनेकों बाण लगे हों, लहू बह रहा हो परन्तु उस समय उसको पीड़ा होती है क्या? यह योगी तो है अलौकिक वीर, उपरोक्त सर्व उपसर्ग व परीषह सहनेमें उसे कष्ट क्यों होने लगा, वह उनसे क्यों डरने लगा? शान्ति-रसपानमें मग्न चला जा रहा है वह।



३०
अपरिग्रह



१. दिगम्बरत्त्व — भवार्णवके संतापसे विह्वल हुआ मैं, आज परम सौभाग्यसे शान्तिके प्रतीक वीतरागी गुरुओंकी शीतल शरणको प्राप्त करके, अपनेको धन्य मानता हूं, सन्तुष्ट व कृतकृत्य अनुभव करता हूं, मानो आज मुझको गुरुओं का वह प्रसाद प्राप्त हुआ है जिसकी खोजमें कि मैं कहां-कहां नहीं भटका? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा हरितकायके शरीरोंमें रह-रहकर मैंने जिसकी खोज की; लट, चींटी, मक्खी, गाय, कबूतर, मछली आदिके शरीरोंमें रह-रह कर मैंने जिसकी खोज की; अनन्त बार मनुष्योंके शरीरोंमें रह-रहकर जिसकी मैंने खोज की और देवोंके शरीरोंमें रह-रहकर जिसकी मैंने खोज की; परन्तु इतना करनेपर भी जिसे मैं न पा सका, आज उसे पानेकी पूर्ण आशा है। यह आज अकस्मात् ही मैं कहां आ गया हूं, किनको देख रहा हूं अपने सामने? शान्त-छवि धारण किये, रोम-रोमसे शान्तिका प्रसार करते ये कौन हैं? एक मधुर व शान्त मुस्कानके द्वारा मेरा हृदय मुझसे छीननेका प्रयत्न करने वाले ये महर्षि कौन हैं? धागेका एक ताना मात्र अपने शरीरपर न रखते हुए भी अत्यन्त प्रसन्नचित्त ये महात्मा कौन हैं? किस देशके वासी हैं ये? कैसा विचित्र है जीवन इनका, कैसी आकर्षक है आभा इनकी? यह सब स्वप्न तो नहीं है? नहीं, पुनः पुनः आंखें मल-मलकर देखनेपर भी ये वही तो हैं। धोखा नहीं सत्य है यह, परम सत्य।

ये हैं वे योगी, जो राज्य-घरानोंमें पले, जिन्होंने कभी मखमलके गद्दोंसे पांव नीचे नहीं उतारा, जिनको धानका एक तुषमात्र भी विस्तरपर पड़ा न सुहाया, जो रत्नोंके प्रकाशमें पले, परन्तु आज! कुछ दुःखीसे लगते हैं तुझे, कुछ निर्लज्जसे प्रतीत होते हैं तुझे, कुछ असभ्यसे प्रतीत होते हैं तुझे? इस नग्न शरीरपर अग्नि बरसाती तथा वनोंमें दावाग्नि उत्पन्न करती ज्येष्ठकी लू व धूप, पोष माधकी सर्दीका बड़े-बड़े वृक्षोंको फूंक डालनेवाला तुषार, बरसातका मूसला-

धार पनी, सैंकड़ों मच्छरोंके तीखे डंकों द्वारा एकदम किया गया आक्रमण, मक्खियोंकी अठखेलियोंके कारण होनेवाला उत्पात आदि सब प्राकृतिक प्रकोपों को सहनेके कारण, अरे रे ! इनका-सा दुःखी आज कौन है ? शरीरपर जमी मैल बता रही है कि वर्षोंसे स्नान भी सम्भवतः इन्होंने किया नहीं । इस मैलके कारण उत्पन्न हुई खाजसे अवश्य ही व्याकुल हो रहे होंगे ये ? घरबारके बिना खुले आकशके नीचे, बीहड़ वनोंमें भयानक जन्तुओंकी चीत्कारोंसे इनको अवश्य भय लगता होगा ? पेटभर खाने-पीनेके-लिए भी तो इनके पास कोई साधन नहीं। अरे रे ! कितने दुःखी हैं बेचारे। चलूं इनसे पूछुं तो सही कि क्या चाहिए इन्हें ? आज मैं सर्व-समर्थ हूं, जो चाहिये दूंगा। मैं इन्हें इस दशामें देख नहीं सकता । दयासे मानो हृदय पिघलकर बह निकला है मेरा ।

"और फिर नंगे-घड़ंगे, स्त्रियोंके बीच इसप्रकार बैठे रहना, नगरमें विहार करते हुए नग्न-रूपमें इस प्रकार स्त्रियोंके सामनेसे निकलना, बिना स्नानके मेला कुचैला रहना, कुछ अच्छा भी तो नहीं लगता । कोई क्या विचारेगा ? नहीं, नहीं यह पुरुषोंका अपमान है, यह मनुष्य-मात्रके नामपर कलंक है, मैं यह सहन न कर सकूंगा, इन्हें मेरी बात माननी ही होगी । यदि इनके पास कुछ नहीं है तो मैं इनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करूंगा । अरे! परन्तु इनसे यह तो पूछूं कि ये कौन हैं, और यहां खाली बैठे क्या करते हैं ? पुरुषका महत्व पुरुषार्थसे है । इसप्रकार ठाली बैठे रहना ही यदि इनका लक्ष्य है, तो अवश्य यह जीवनमें आवश्यक तथा योग्य व्यापार-धन्धेके कर्त्तव्यसे पराङ्मुख होकर, पुरुषार्थसे घबराकर भागे हुए कोई नपुंसक हैं। इतनी कायरता ? पुरुषका रूप धारे क्या इन्हे इस कायरपनेसे लज्जा नहीं आती ? तू कहांतक सहायता करता फिरेगा ऐसोंकी जो अपने कर्त्तव्यको भूले हैं । ये मनुष्य तो हैं ही नहीं पर तिर्यञ्च भी नहीं हैं । पृथ्वीके उपर भार हैं, देशके कलंक हैं । इनको अवश्य कुछ न कुछ करना चाहिये । स्वयं न करें तो भी इन्हें बलात् करना पड़ेगा । अपाहिज भी तो नहीं हैं, हृष्ट-पुष्ट शरीर और फिर यह हालत ? आज जबकि विश्व आगे बढ़ा जा रहा है, भारतमें ऐसे फ़कीरोंके-लिए कोइ स्थान नहीं होना चाहिये । ये घृणाके पात्र हैं । भारत सरकारको अवश्य इनको कामपर लगानेका प्रबन्ध करना चाहिये । और इस प्रकार भक्ति, दया व घृणाके हण्डोलेमें झूलता हुआ तू क्या नहीं सोच रहा है इनके सम्बन्धमें, पूर्ण अहिंसाधारी वीरके सम्बन्धमें ?

परन्तु डर मत ! जिस नग्नतामें तुझे कष्ट व दुःख दिखाई दे रहा है, वहाँ दुःख है ही नहीं, वहां तो है शान्ति, विकल्पोंका अभाव, इच्छाओंका निरोध,

चिन्ताओंसे मुक्ति। शान्तिके उस मधुर आस्वादमें, बाहरकी इन तुच्छ बाधाओं की क्या गिनती? गरमी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी, शरीरपर मैल आदि की बाधायें उसी समयतक बाधायें हैं जबतक कि शान्ति-रसका आस्वाद आता नहीं। तेरे हृदयमें उत्पन्न हुआ यह करुणाका भाव तेरेलिए ठीक ही है क्योंकि उस मधुर स्वादकी अनुपस्थितिमें लौकिक जीवनकी ये बाधायें स्वभावतः बडी दिखाई दिया ही करती हैं, परन्तु उनमें यदि शान्तिका स्वाद आने लगे तो ऐसा नहीं हुआ करता। सुगन्धिपर मस्त हुआ भंवरा क्या फूलके बन्द होनेकी बाधाको गिनता है उस समय? प्रकाशपर लुभायमान पतंग क्या अग्निकी दाह से घबराता है उस समय? मार खाते हुए भी क्या बिल्ली अपने पंजेमें आये हुये चूहेको छोड़ देती है? मैथुन-सेवनके समय पर-स्त्रीगामी मनुष्य उसके स्वामीकी आवाज़ सुन लेनेपर भी क्या उससे आनेवाले भयको गिनता है? किसी सौदेमें बहुत बड़े लाभका समाचार आनेपर क्या तू टांगकी पीड़ासे भय खाता है उधर जानेके लिए? कन्याके विवाहके अवसरपर क्या तुझे सर्दी या गरमी लगती है उधर-उधर दौड़ते हुए? तो भला इस अलौकिक स्वादके वेदनमें साक्षात् मग्न, उन्हें सर्दी-गरमी आदि बाधायें क्यों लगें? उनका भान भी होने नहीं पाता यहां। अतः उनपर तेरा करुणा-भाव निरर्थक है। तू भी इन बाधाओंसे भय खाकर अपरिग्रहतासे मत डर। इसमें-से तुझे सुख व शान्ति मिलेगी, दुःख नहीं।

नग्नताको देखकर तेरे अन्दर जो लज्जा-भाव प्रकट हुआ है, वह भी इस आस्वादनमें निःस्सार है। नग्नतामें लज्जाको अवकाश उसी जगह है जहां मनके अन्दर विकार हो। मन विकृत होनेपर नग्न रहनेवालेको स्वयं लज्जा प्रतीत होगी और उसे देखने वालेको भी। परन्तु जहां लज्जाका स्थान शान्ति व साम्यताने लिया, जहां पुरुष व स्त्रीपनेका भेद दीखना बन्द हो गया, जहां मनुष्य, तिर्यञ्च, देव व नारकीमें कोई भेद न रहा, जहां सर्वत्र निज जाति-स्वरूप चैतन्यका ऐश्वर्य दृष्टिगत होने लगा, जहां द्वैतभावका विनाश हुआ, स्त्री व माताका भेद मिट गया, पिता व पुत्र एक दीखने लगे, एक ब्रह्म ही मानो सर्वत्र व्यापक रूपसे दीखने लगा, वहां कहां अवकाश है चित्त-विकारको तथा नग्नता-सम्बन्धी लज्जाको? साम्य-भावके मन्दिर, रोम-रोमसे शान्ति प्रवाहित करते, अपरिग्रहताके आदर्श-स्वरूप, उस नग्न शरीरको देखकर देखने वालेकी दृष्टि उसकी नग्नतापर जाएगी ही क्यों? वह तो दर्शन करेगा उसमें अपनी इष्ट शान्तिके।

एक दृष्टान्त है, श्रमद्भागवत पुराणका। महर्षि वेदव्यासजीके पुत्र श्री शुक-देवजी आगर्भ-दिगम्बर थे, परम वीतरागी तत्त्वज्ञ थे। चले जाते थे शून्य-चित्त।

हृदयमें था केवल एक ही भाव, शान्ति तथा समता। नदीके किनारेसे गुजरे। कुछ स्त्रियें स्नानकर रही थीं वहां। पर उन्हें क्या? और वे स्त्रियें भी स्नान करती रहीं उसीप्रकार। न भय, न लज्जा। कुछ ही देर पश्चात आये उनके पिता श्री वेदव्यासजी, सौ वर्षके वृद्ध। स्त्रियें शर्मा गईं और प्रयत्न करने लगीं अपने शरीरोंको ढांपनेका। ऋषि ने पूछा, हे माताओं! अभी-अभी मेरा २५ वर्षीय युवक पुत्र गुजरा, तब तो तन ढांपनेकी चिन्ता नहीं की तुमने और अब मैं इतना वृद्ध व्यक्ति गुजरा तो इस प्रकार सकुचा गई हो तुम? स्त्रियोंने उत्तर दिया, "क्षमा कीजिये भगवान्! आपसे लज्जित होनेका कारण स्वयं आपके चित्तमें छिपा वह विकृत भाव है जिसके आश्रयपर आपने हमारी ओर लक्ष्य करके हमारी लज्जाको ताड़ लिया और आपके पुत्रसे लज्जा न करनेका कारण उसके चित्तकी वह शून्यता है जिसके कारण वह सम्भवतः यह भी न जान पाया कि उसके अतिरिक्त यहां और भी कोई है।

दूसरे ढङ्गसे भी, क्या आपने स्वयं आज से ३० वर्ष पूर्व १० वर्ष तकके नग्न बालकोंको उस ही अवस्थाकी नग्न बालिकाओंके साथ खेलते नहीं देखा? उससमय उन बालक-बालिकाओंको तथा आपको भी नग्नता देखकर लज्जा नहीं आती थी, परन्तु आज क्या ऐसा देख सकना आप गवारा कर सकते हैं? नहीं। कारण कि १० वर्ष तकके बालकोंमें भी अब विकार उत्पन्न हो चुका है, आपके हृदय भी आज उतने पवित्र नहीं हैं। तभी तो आज नवजात शिशुको लंगोट लगानेकी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु जिनका हृदय इन विकृत भावोंसे सर्वथा पवित्र हो चुका है तथा साम्यताका जिनके हृदयमें वास हो चुका है, उन्हें लज्जासे क्या प्रयोजन?

तनके मैल को देखकर ग्लानि उत्पन्न होना भी तेरे मनका विकार है। जिनकी दृष्टिमें शरीरकी अपवित्रता प्रत्यक्ष भासी है, उन्हें स्नान करनेसे क्या प्रयोजन? विष्टाके घड़ेको ऊपरसे धोनेसे क्या लाभ? बाहरसे इसका पवित्र होना असम्भव है। इस शरीररूप मन्दिरकी पवित्रता तो इसके अन्दर बैठे देवकी पवित्रतासे है। यह सुगन्धित है उसकी सुगन्धिसे अर्थात् आत्म-शान्ति, सरलता व साम्यता ही इसकी वास्तविक पवित्रता है। जो नित्य ही इस सद्-गुणरूपी अनुपम गंगामें स्नान करते हैं उन्हें इस बाह्य स्नानसे क्या प्रयोजन? यह शरीर जिनके-लिए परिग्रह बन चुका है, इसमें जिनको पृथकत्व भासने लगा है, यह जिनको अपने लिए कुछ भार दीखने लगा है, वे उसकी सेवामें अपना समय व्यर्थ क्यों खोयें, स्नानके लिए जल आदि विषयक विकल्प द्वारा चित्तमें अशान्ति क्यों उत्पन्न करें? उनको तो भोजन करना भी बेगार

लगता है। वे बराबर उस समयकी प्रतीक्षामें हैं जबकि वे निराहार रह सकें और इसीलिए महीनों-महीनोंके उपवास करके भी अपनी शान्तिसे विचलित नहीं होते। इसीप्रकार अन्य अनेकों विकल्प भी खड़े नहीं रह सकते यदि शान्ति व वीतरागतामें रंगी नग्नताका मूल्य समझ लिया जाय तो। इस नग्नताका मूल्य समझा था ऋषि भर्तृहरि ने, जो अभी तक यद्यपि दिगम्बर साधु नहीं हुए थे पर शीघ्रातिशीघ्र वैसा होने की भावना करते थे।

२. लंगोटी भी भार—"लंगोटी रख लें तो क्या हर्ज है? छोटीसी बात है, कोई विशेष हानि भी नहीं है?" ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। भाई! तेरी दृष्टि शरीरको ही देख पा रही है, शान्तिपर वह अबतक नहीं पहुंच सकी है। यदि पहुंच पाती तो यह प्रश्न ही न होता, तू लंगोटी मात्र को न देखकर, देखता उस लंगोटीकी रक्षा-सम्बन्धी विकल्पोंको जो उसके होनेपर चित्तमें उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते। इस सम्बन्धी वह कथा आप सबको याद है जिसमें एक लंगोटीकी रक्षाके-लिये साधु महाराज को पहले बिल्ली, फिर कुत्ता, फिर बकरी और फिर गाय बांधनेकी नौबत आई, और गायके एक खेतमें घुस जानेपर महराजको जेलके दर्शन करने पड़े। अन्य भी एक दृष्टान्त है उस साधुका जो घर-घरसे एक-एक रोटी मांग कर खा लेते थे तथा इसीप्रकार अपना पेट भर लिया करते थे। हाथमें ही किसीसे पानी मांगकर पी लेते थे परन्तु जिन्हें एक कटोरी रखना भी गवारा न था। एक भक्तके कहनेपर उन्होंने बहुत सस्तीसी एल्युमीनियमकी एक कटोरी पानी पीनेके-लिए स्वीकार करली। एक दिन संध्याके समय जंगलमें जाते समय कटोरी शिवालयके बाहर पड़ी रह गई, जिसकी याद उनको आई उस समय जबकि शिवालयसे एक मील दूर बैठ वे संध्या कर रहे थे। बस फिर क्या था, संध्या सम्बन्धी शान्ति भंग हो गई, उसका स्थान ले लिया कटोरी सम्बन्धी विकल्पोंने। 'कोई उसे उठा ले गया तो'? हाय-हाय! उसका चित्त रो उठा, संध्या छोड़ दी और दौड़ा हुआ मन्दिरके द्वारपर आया, कटोरी वहीं पड़ी थी। बड़ा क्रोध आया अपनी भूलपर यदि कटोरी न होती तो शान्ति काहेको भंग होती। अपनी भूलपर पछताया और कटोरीको तोड़ कर फेंक दिया जिसके कारण कि उसकी शान्ति भंग हुई थी। भाई! शान्ति का मूल्यांकन हो जानेपर यह सब वस्तुएं यहांतक कि लंगोटीमात्र भी व्याकुलताका घर दिखाई देने लगता है, शान्तिकी रक्षा करनेके-लिए वह सर्वस्व न्योछावर करनेको तैयार है।

३. लक्ष्य पूर्ति—परन्तु यह क्या? विचार-धारामें बहते हुए स्वयं अपनेको,

मधुर मुस्कानके अलौकिक आकर्षणको तथा उसी महात्माके मस्तकपर प्रगटे तेजको भूलकर क्या सोच रहा है तू ? भो चेतन ! कहां जा रहा है तू ? देख एक बार पुनः उसी दृष्टिसे उस शान्त रसकी ओर, और मिलान कर अपने अन्तरंग में प्रगटे इस तूफानके साथ उनके अन्तरंगमें बहते हुए शान्ति-सुधासागरका। भावनाओंके आवेशमें तूने क्या-क्या विचारा और व्याकुल-चित हो अविवेक पूर्वक क्या-क्या कह डाला, परन्तु उधर वही शान्ति, वही मुस्कान, वही आकर्षण। तनिक भी तो बाधा नहीं पड़ी उधर, किञ्चित् भी तो क्षोभ या भय दिखाई नहीं देता उधर। निर्भीक, निःशंक, निराकांक्ष, ग्लानि-रहित, निज-शान्तिमें मग्न, वे अब भी मानो तेरी व्यथापर करुणा करके अपने जीवनसे प्रेरणा दे रहे हैं तुझे, शान्तिका रसास्वादन करनेकी।

"भो चेतन ! अन्तर-उद्वेगको एक क्षणके-लिये शान्त करके सुन तो सही कि मैं क्या कहता हूं। यह तेरे कल्याणकी बात है, शान्त-चित्त होकर सुनेगा तो अवश्य तुझे कुछ अच्छी लगेगी। अपने कल्याणकी बात, अपने हितकी बात, अपने सुखकी बात सुनकर कौन ऐसा है जो उसकी अवहेलना करे ? अपनी शान्तिसे भटककर अनेक-विध विकल्प जालका निर्माण करता हुआ तू स्वयं उसमें उलझा जा रहा है। परन्तु इस दशामें भी मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि उस शान्तिके प्रति तेरे चित्तमें प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ वह आकर्षण अबतक विलीन नहीं हो पाया है। उस आकर्षणको, उस जिज्ञासाको अपने हृदयमें टटोलकर, उसके बहुमान-पूर्वक एक बार तो मेरी बात सुन।"

"भो चेतन ! कभी भक्ति, कभी दया और कभी घृणाके जो अनेक विकल्प इस थोड़ी देरमें तेरे चित्तमें उत्पन्न होकर स्वयं तुझे व्याकुल बना तेरी शान्ति तुझसे छीनकर ले गए, तेरे घरमें डाका डालकर तेरा सर्वस्व हरण करके ले गए, तुझको भिखारी व दुःखी बना गए, उनका कारण तेरी अपनी ही कोई भूल है, कोई दूसरा नहीं। वह भूल, जिसके कारण कि तू अनादिसे इसी विकल्प-सागरके थपेड़े सहता चला आ रहा है। परन्तु आज सौभाग्यवश तुझे जो यह सम्बल दिखाई पड़ा है, अब इसको मत छोड़। उस अपनी भूलके कारण आज तुझे यह भी याद नहीं रहा कि जिसको अपने सामने देखकर तू भक्तिवश नत-मस्तक हो गया था, वह कोई और नहीं है, वही तेरा पुराना साथी है, जिसके साथ अपने पूर्व-भवोंमें प्रेम सहित तू खेला करता था तथा द्वेषवश जिसे तू चिड़ा-चिड़ाकर तङ्ग किया करता था। स्पर्शन इन्द्रियसे सतप्त हो अनेकों बार जिसके शरीरको तूने खड्डीपर बुना और भट्टीमें पकाया। जिह्वा इन्द्रियकी मारको न सह सकनेके कारण, जिसके शरीरको अनेकों बार तूने कोल्हूमें पेला,

छुरीसे काटा, बन्दूककी गोलीसे छेदा और कढ़ाईमें तला। नासिका-इन्द्रियका दास हो जिसके शरीरको तूने अनेकों बार भभकेमें डालकर उबाला। नेत्र इन्द्रियके द्वारा मूर्छित हो जिसके शरीरको तूने अनेकों बार भूसा भर-भरकर अपने कमरोंको सजाया। कर्ण-इन्द्रियसे जीते गए तूने जिसके शरीरको अनेकों बार जन्त्रीमें-से खींचा, छेदा व भेदा तथा और भी बहुत कुछ किया। वही मैं आज तेरे सामने इस रूपमें विद्यमान हूं। परन्तु घबरा नहीं, भय न कर, आज मैं तुझसे बदला लेनेको नहीं आया हूं, मेरे हृदयमें अब किसीके प्रति भी द्वेष नहीं है,वे पहलेकी बातें अब मैं बिल्कुल भूल चुका हूं, मुझपर विश्वास कर। यदि पहलेकी भांति द्वेषादि भाव बनाए रखे होता तो तुझे आज मुझमें इस शान्तिके दर्शन न हो पाते। यह शान्ति ही तुझे मेरी सच्चाईकी गवाही देकर विश्वास दिलानेको पर्याप्त है। मैं किसी और देशका निवासी नहीं हूं, उसी लोकका निवासी हूं तथा था जिसका कि तू है। तू स्वप्न नहीं देख रहा है, जो देख रहा है वह सत्य है, परम सत्य।

'परन्तु यह महान अन्तर कैसा? आप इतने शान्त और मैं वैसाका वैसा?' तेरे अन्तरमें उत्पन्न होनेवाला यह प्रश्न स्वाभाविक ही है क्योंकि अन्तर स्पष्ट है। इस अन्तरको देखकर यदि मेरी इस शान्तिमें तुझे कुछ सार दिखाई देता हो तो तू यह पूछ कि क्या किसी प्रकार तुझे भी यह प्राप्त हो सकती है? हां-हां, अवश्य हो सकती है। ध्यान-पूर्वक विचार, तेरे द्वारा बराबर बाधित किये जानेवाले निःशक्त तथा बलहीन तेरे साथीने अर्थात् मैंने, जब उसे प्राप्त कर लिया, तो इस ऊंची, सर्वसमर्थ तथा बुद्धिशाली मनुष्य-अवस्थामें स्थित क्या तेरे लिए इसका प्राप्त करना कठिन है? नहीं, तेरे लिये तो बड़ा सहल है। मुझको तो उपाय बतानेवाला भी कोई नहीं था और तुझको तो मैं उपाय बता रहा हूं, वही उपाय जिसको मैंने अपने जीवनमें अपनाया था। उसी उपायका अनुसरण करके अपने जीवनमें मेरे कहे अनुसार कुछ फेर-फार कर, भूल व भ्रमको छोड़, धैर्य रख, साहस कर तथा आज ही से उसे जीवनमें उतारनेका प्रयत्न कर। प्रत्येक जीव बराबरकी सामर्थ्य नहीं रखता, किसीमें शक्ति अधिक होती है और किसीमें कम। यदि तुझमें शक्तिकी हीनता है तो भी मत घबरा, बड़ा सहज उपाय बताऊंगा जिसको अल्प शक्तिका धारी भी कर सकता है, परन्तु एक बार ऐसा होनेका लक्ष्य अवश्य बनाना होगा, जैसा कि मैं हूं।

लक्ष्य पूर्णताका होता है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्रम-पूर्वक। लक्ष्य एक क्षणमें कर लिया जा सकता है परन्तु प्राप्ति शनैःशनैः हीनाधिक समयमें

होती है। लक्ष्य बनानेसे जीवनमें बाधा नहीं आती किन्तु उसकी सिद्धिके-लिये जीवनमें कुछ परिवर्तन लाना होता है। उपाय प्रारम्भ करने अर्थात् मार्गपर प्रथम पग रखनेसे पहले लक्ष्य बना पूर्णताका, जीवनके उस आदर्शका जिसे कि तू मुझमें देख रहा है अर्थात् सर्व-सङ्ग-विमुक्तता, निरीहता, अपरिग्रहता।

४. अपरिग्रहता साम्यवाद—वह अपरिग्रहता जो संयमियों अथवा संन्यासियोंकी ही नहीं, राष्ट्र तथा समाजकी भी सर्व-प्रधान आवश्यकता है। यह दृष्टि है वह जिसमें सर्व लोक अपना कुटुम्ब भासने लगता है, जिसकी विश्व आज मांग कर रहा है, जिसने रूसमें जन्म पाया और बड़ी तीव्र-गतिसे विश्वमें फैल गई, जिसको इतने बड़े राष्ट्र चीनने अपनाया और जिसकी ओर धीरे-धीरे हमारा भारत देश भी अब बढ़ रहा है। इतना ही नहीं बल्कि समस्त विश्वका अन्तष्करण आज जिसको स्वीकार कर रहा है तथा शीघ्रातिशीघ्र जिसके प्रचारकी प्रतीक्षा की जा रही है। वह दृष्टि है साम्यवाद (कॉम्यूनिज़म) अर्थात् सभीको समान अधिकार दिलाना। शान्तिके उस पुजारीके हृदयमें, जिसे आज तू अपने आदर्श-रूपमें अपने सामने देख रहा है तथा भ्रमवश जिसे तूने अकर्मण्य तथा पृथ्वीका भार मान लिया था, स्वयं एक क्रान्ति उत्पन्न हुई। जिस प्रकार चार व्यक्तियोंवाले अपने कुटुम्बकी आवश्यकताओंको पूरी करनेके पश्चात् ही आप अपनी आवश्यकताका विचार करते हैं, जिस प्रकार अपने कुटुम्बकी प्रसन्नतामें ही आप अपनी प्रसन्नता मानते हैं, उसके सुखमें ही अपना सुख समझते हैं तथा उसके-लिए अपना सर्वस्व त्यागकर भी आपको सन्तोष होता है; उसी प्रकार वह योगी जिसकी दृष्टिमें साम्यताने वास किया है, सर्व ओरसे निराश हुई शान्तिने जिसका आश्रय लिया है, जिसको सर्वत्र अपना ही रूप दिखाई देता है, जिसके-लिये सर्व सृष्टि एक ब्रह्मस्वरूप हो गई है, जिसको सर्व प्राणी ईश्वरके आवास भासते हैं, जिसके-लिये समस्त विश्व उसका कुटुम्ब है, (दे० २३.१०), जिसके-लिये उस कुटुम्बमें-से किसी एककी भी पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा है और किसी एकका भी सुख उसका अपना सुख है यदि वह इस विश्वके-लिये अपना सर्वस्व त्याग दे तो कौन आश्चर्यकी बात है? तेरी दृष्टि संकुचित है, इसीसे उसके अन्तर-परिणामों का परिचय पानेमें असमर्थ है। वह विश्वका पिता है, अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको विश्वकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके-लिये बलिदान कर देनेमें उसे प्रसन्नता ही होती है, क्योंकि उसने यह कार्य किसीके दबावसे नहीं किया है, स्वयं विश्वके प्रति अपने कर्त्तव्यको पहिचानकर किया है। इसी भावका स्पष्ट चित्रण आगे 'उत्तम त्याग' वाले ३९वें अधिकारमें किया गया है। भला ऐसा विश्व-

पिता क्या पृथ्वीका भार हो सकता है ? यह शब्द कहना तो दूर, सुनते हुए भी कलेजा काँप उठता है। जिसने विश्वके-लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया, वह पृथ्वीका भार नहीं बल्कि पृथ्वीका गौरव है, पृथ्वीके पापोंका, इसके अपराधों का व शापोंका भार दूर करनेवाला है।

आज विश्व भौतिक दृष्टिसे उन्नतिके पथपर प्रगति करते हुए भी शान्ति की दृष्टिसे अवनतिकी ओर जा रहा है। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है, नित्यकी बढ़ती हुई आवश्कताओंकी पूर्तिके योग्य पर्याप्त सामग्रीके अभावमें असन्तोष बढ़ता जा रहा है। एक दूसरेकी ओर संशयकी दृष्टिसे, भयकी दृष्टि से देख रहा है। एक व्यक्ति दूसरेकी सम्पत्तिकी ओर लालचकी दृष्टिसे देख रहा है। आकाशपर छाये हुए युद्धके बादलोंने सब ओर अन्धकार कर दिया है, विश्व जीवन व मृत्युके झूलेमें झूल रहा है, जीवन निराश-सा खड़ा अपने दिन गिन रहा है, दूसरी ओर अट्टहास करती मृत्यु अपनी अनेकों शक्तियोंको साथ लिये भयका प्रसार कर रही है, जीवन भार बन चुका है, विश्व स्वयं अपने लिये भार बन चुका है। कैसी दयनीय अवस्था है इसकी आज ? अपरिग्रहता ही इसका प्रतिकार है अन्य कुछ नहीं।

वीतरागी व शान्त-मुद्रा इन योगी-जनोंको पृथ्वीका भार बतानेवाले ओ कृतघ्नी मानव ! अब भी सम्भल, यदि जीवन चाहता है तो अपनी भूलपर पश्चाताप कर, जगतके भारको हरनेवाले उन योगियोंके अभावके कारण ही वास्तवमें आज जगतका भार बढ़ गया है और यदि अपने वचनोंको वापिस लेकर तूने पश्चाताप न किया तो अवश्य ही डूबे बिना न रहेगा। 'यह जगतको क्या दे रहा है?' यह प्रश्न भी बड़ा असंगत है क्योंकि वास्तवमें 'वह' वह कुछ दे रहा है जो कोई नहीं दे सकता, सुखका उपाय, एक जीवन-आदर्श, जिसपर चलकर आजका मानव तथा समस्त विश्व इस भावी-मृत्युसे अपनी रक्षा कर सकता है, वह सन्देश जिसका मूल्य त्रिलोककी सम्पत्तिसे भी चुकाया नहीं जा सकता। यदि कोई उस सन्देशको ग्रहण न करे तो उनका क्या दोष ? 'किसी अच्छी बातको यदि दूसरा कोई ग्रहण न करे तो वह भी उसको छोड़ दे' यह कोई न्याय नहीं।

डरानेके-लिए यह बात कही जा रही हो, ऐसा नहीं है बल्कि सैद्धान्तिक सत्य बताया जा रहा है। अपरिग्रही जीवनके साक्षात् अभावके कारण तथा उस आदर्शके प्रति बहुमानके स्थानपर घृणाका प्रवेश हो जानेके कारण ही आजका मानव, दूसरेके प्रति अपने कर्त्तव्यसे विमुख हुआ, अत्यन्त स्वार्थी बना, दूसरोंकी आवश्कताओंकी परवाह न करता, दूसरोंकी शान्तिको पद-दलित

करता, भूला हुआ, अपनी शान्तिकी खोज करनेका जो प्रयास कर रहा है, क्या उसमें फल लगना सम्भव है ? कदापि नहीं, दूसरोंकी शान्तिको बाधित करके न कोई शान्त रहा है और न रह सकेगा। लालचकी बढ़ती ज्वाला तथा अधिकाधिक सञ्चयकी भावना स्वयं उसको भस्म कर देगी। इस अग्निको सन्तोष-जलके द्वारा ही बुझाया जा सकता है, एटमबमके द्वारा नहीं। अपरिग्रहके आदर्श-भूत योगियोंके प्रति बहुमानके न रहनेके कारण ही मैं अपनी दैवी संस्कृतिको भूलकर आसुरी संस्कृति अपनाने दौड़ रहा हूं। केवल शत्रुता असन्तोष, चिन्तायें व भय ही मानो आज मेरा गौरव बन गया है।

भो प्राणी ! तनिक विचार तो सही कि कबतक चलेगी यह अवस्था ? तू नहीं तो तेरी सन्तान इसके दुष्परिणामसे बची न रह सकेगी। आज हमारी भारत सरकार भी देशमें इस असन्तोषके बढ़ते हुए वेगकी रोक-थाम करनेके लिये अनेकों नियम लागू करती जा रही है जो तुझे आज अच्छे प्रतीत नहीं होते। क्यों हों, संग्रह किया हुआ है न तूने ? पूञ्जीपति जो ठहरा तू, तुझे क्या परवाह दूसरेकी आवश्यकताओंकी? तेरा हृदय उन नियमोंके विरुद्ध उपद्रव करनेके-लिये प्रेरित कर रहा है तुझे, पर क्या करे साहस नहीं। तेरे विचार वाले देशमें हैं ही कितने ? धिक्कार है उस स्वार्थको जिसने तेरे ही भाइयोंके प्रति तुझे इतना हृदय-शून्य बना दिया। अब भी सम्भल, भले कोई और न समझे तू तो समझ, तुझको तो अपरिग्रही गुरुओंकी शरण प्राप्त हुई है, तेरे हृदयमें तो इस आदर्शके प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ है, तू तो इन्हें पृथ्वीका भार कहनेके-लिये तैयार नहीं, तूने तो उनको भव-समुद्रमें पड़ी नौकाका खेवनहार स्वीकार किया है। इस आदर्शसे तू कुछ ग्रहण कर। आदर्शका सच्चा बहुमान वही है जो जीवनको उस ओर झुका दे, केवल शब्दोंमे कहनेका या पाठ पढ़नेका नाम भक्ति व बहुमान नहीं है।

यह आदर्श मूक-भाषामें तुझे अपरिग्रहताका पाठ पढ़ा रहा है। परिग्रह अर्थात् परि + ग्रहण। 'परि' अर्थात् 'समन्तात्' सर्व ओरसे ग्रहण। दसों दिशाओंसे, हर प्रकारसे, न्याय-अन्याय तथा योग्यायोग्यके विवेक बिना, निज चैतन्यके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके ग्रहणकी भावना व इच्छाका नाम परिग्रह है। इस इच्छाका त्याग सो अपरिग्रह। केवल पदार्थका नाम परिग्रह नहीं बल्कि उसके ग्रहणकी इच्छाका नाम परिग्रह है। यदि ऐसा न हो तो अत्यन्त असन्तोषी जीवन बितानेवाले निर्धन-जन भी अपरिग्रही कहलायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि यह परिग्रह-निषेध वास्तवमें पदार्थोंके-लिए या आदर्शकी नक़लके लिए नहीं किया जा रहा है बल्कि उनके ग्रहणकी इच्छाके निषेधके-लिये किया

जा रहा है। वह भी इसलिये कि ये इच्छायें ही अशान्ति व असन्तोषकी जननी हैं और इनके अभावमें ही सन्तोष व शान्ति है। जिसे शान्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये, उसके हृदयमें कैसे अवकाश पा सकती हैं ये इच्छायें और इच्छाओंके अभावमें कैसे हो सकता है सम्पत्तिका ग्रहण तथा सञ्चय?

सरकारी नियमके दबावसे नहीं बल्कि अपने हितके-लिए, स्वयं अत्यन्त हर्ष व उल्लास-पूर्वक, इन इच्छाओंके त्यागकी बात है। किसीके दबावसे किया गया त्याग वास्तवमें त्याग नहीं। इस परिग्रह अर्थात् सञ्चयकी इच्छाके कारण, कितने प्राणियोंको तुझसे अनेकों प्रकारकी पीड़ायें पहुँच रही हैं? इसके आधार पर उपजे संकल्प-विकल्पोंके जालमें फंसकर तू क्या कुछ अनर्थ नहीं कर रहा है? हिंसाका एक बड़ा भाग इसी इच्छाकी महान उपज है और इसलिये परिग्रह हिंसाकी जननी है, महान हिंसा है। जीवनको संयमी बनाने तथा हिंसासे बचाने के-लिए परिग्रहका त्याग अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना सर्व संयम निर्मूल है।

५. आंशिक अपरिग्रहता—अहो! कैसी उल्टी बात चलती है? लोग आते हैं प्रभुकी पूजाको इसलिये कि धर्म होगा जिसके कारण अधिक धन मिलेगा, प्रभुपर छत्र चढ़ाते हैं इसलिए कि धन मिलेगा, परन्तु यहां बतलाया जा रहा है यह कि प्रभुका दर्शन करो इसलिए कि उसका आदर्श जीवनमें उतर जाय, जैसा अपरिग्रही वह है वैसा ही स्वयं बन जाय। विचित्र बात है परन्तु आश्चार्य न कर क्योंकि वही वस्तु दी जा सकती है जोकि किसीके पास हो। इस अपरिग्रही आदर्शके पास धन है ही कहां जो तुझे दे देगा? इससे धनकी याचना करना भूल है। इसके पास हैं अपरिग्रहता, वीतरागता और उसे ही यह दे भी सकता है, दे भी रहा है, रोम-रोमसे वीतरागताकी किरणें फूटी पड़ती हैं, कोई लेनेवाला चाहिये। तू इस परम सौभाग्यसे वञ्चित न रह। इस वर्तमान गृहस्थ-दशामें भले ही एकदम इस आदर्शवत् पूर्ण अपरिग्रही बननेमें समर्थ न हो, पर धीरे-धीरे त्यागका अभ्यास करते रहनेसे क्या तेरे अन्दर वैसी ही शक्ति उत्पन्न न हो जायेगी? अवश्य हो जायेगी। आवश्यक वस्तुओंका न सही पर अनावश्यक वस्तुओंका त्याग तो सहज कर ही सकता है और इससे तेरे गृहस्थमें कोई बाधा भी नहीं आती। गृहस्थको चलानेके-लिये आवश्यकतानुसार धनोपार्जनका न सही, पर आवश्यकतासे अधिक धनोपार्जनका त्याग तो कर ही सकता है और धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताओंमें भी क्रमशः कमी कर ही सकता है।

६. परिग्रह स्वयं दुःख—परिग्रह-सञ्चयकी भावनाओंमें अन्धा हुआ तू दूसरोंके प्रति अपने कर्त्तव्यको भला तो भूला, परन्तु यह भी भूल गया कि

जिसके पीछे तू सुखके-लिये दौड़ रहा है वही तेरेलिये दुःखका कारण बन बैठा है। जिसका सञ्चय तू अपनी रक्षाके-लिये करता है वह स्वयं तेरा हनन कर रहा है, तेरी शान्तिका घात कर रहा है। तू साक्षात् इसमें दुःख देखता हुआ भी नहीं देखता, यह महान आश्चर्य है। देख भाई? मैं दर्शाता हूं तुझे इस परिग्रहका स्पष्ट दुःख। तनिक ध्यान दे इन सुन्दर वस्त्रोंकी ओर जिनको तूने शरीरकी रक्षाके-लिये ग्रहण किया, परन्तु जिनकी रक्षा तुझे स्वयं करनी पड़ रही है। थकावट अनूभव करते हुए भी तथा बैठनेकी इच्छा होते हुए भी तू बैठ नहीं सकता, पैन्टकी क्रीज़ जो बिगड़ जाएगी, हज़ार रुपयेकी साड़ीपर हुआ ज़रीका काम जो खुसट जायेगा। आज वस्त्र तेरेलिए नहीं बल्कि तू वस्त्रके-लिये है क्योंकि वस्त्र शरीरकी रक्षाके-लिये न होकर आज शरीरको सजानेके-लिये हैं। खेद है फिर भी इस वस्त्रको तू सुखका कारण मान रहा है।

क्या कभी ध्यान दिया है घरमें पड़े उस अड़ंगेकी ओर, जिसकी रक्षा तू वर्षोंसे करता चला आ रहा है परन्तु जो कभी तेरे उपयोगमें नहीं आता? दिवालीके समय घरकी सफ़ाई करते हुए जब उसका ढेर तेरी दृष्टिके सामने आता है तो तू स्वयं उसको देखकर घबरा जाता है, उसे फेंक देनेकी इच्छा करता है,परन्तु सफाई करलेनेके पश्चात् सामानको यथास्थान रखते समय पुनः वह अड़ङ्गा पूर्ववत् अपने स्थानपर पहुँच जाता है, और उस क्षणिक घबराहटको जो तुझे उसे देखकर हुई थी, तू फिर भूल जाता है। तनिक विचार तो कर कि घरमें पड़ा यह सब वस्तुओंका ढेर यदि एक स्थानपर लगाकर देखे, तो कितनी वस्तुएं ऐसी होंगी जो तेरे नित्य प्रयोगमें आनेवाली हैं? यदि सर्व वस्तुएं एक हज़ार हों तो सम्भवतः ५० वस्तुएं ही ऐसी मिलेंगी जो नित्य प्रयोगमें आ रही हैं, और कुछ १५० वस्तुएं ऐसी मिलेंगी जो कदाचित् प्रयोगमें आ जाती हैं परन्तु शेष ८०० वस्तुएं तो ऐसी ही दिखाई देंगी उस ढेरमें जो कई वर्षोंसे काम में नहीं आई हैं और न ही जिनकी भविष्यमें कोई आवश्यकता प्रतीत होती है, या ऐसी हैं जिनका तेरी दैनिक आवश्यकताओंसे तो सम्बन्ध नहीं परन्तु नेत्र-इन्द्रियकी तृप्तिके-लिये अथवा केवल अपनी दृष्टिमें अपने कमरोंको सुसज्जित बनाने मात्रके-लिए रख छोड़ी हैं। कभी विचारा है यह कि इस अनावश्यक अड़ंगेको उठाने-धरनेके-लिए, इसकी सफ़ाईके-लिए, इसकी व्यवस्थाके-लिए तथा इसकी रक्षाके-लिए अनेकों विकल्पोंमें-से गुज़रते हुए तुझे कितनी व्याकुलता होती है? पर खेद है फिर भी तू उसे सुखका कारण मान रहा है।

सुख तो है इच्छाकी पूर्तिमें परन्तु क्या धन-सञ्चय करनेकी इच्छा कभी पूरी होनी सम्भव है? तीन लोककी सम्पत्ति भी जिस इच्छामें परमाणुवत् भासती है, उसकी पूर्ति अनन्तानन्त जीवोंमें विभाजित इस सीमित सम्पत्तिसे कैसे हो सकेगी? सम्पत्ति सीमित है और इच्छा असीम। इच्छाकी पूर्तिके अभावमें तू कैसे इस धन-सञ्चयसे सुख प्राप्त कर सकेगा? यह सञ्चय तो तेरी इच्छाको और भी भड़कानेवाला है और इस कारण अधिक अशान्ति व व्याकुलताका कारण है, परन्तु आश्चर्य है कि इसको ही तू सुखका कारण मान रहा है।

<u>७. अपरिग्रहता स्वयं सुख</u>—भो चेतन! अधिक धनवान बननेसे लाभ भी क्या है? 'अधिक धनवान कौन' क्या इस बातपर विचारा है कभी? क्या वह, जिसका करोड़ों रुपया फ़ालतू बैंकोंमें पड़ा है अथवा किसी फ़र्ममें लगा है; या कि वह जिसने सर्वस्व त्याग दिया है? विचार तो सही कि क्या बैंक आदिमें पड़े अथवा तिजोरीमें पड़े उस रुपयेका या स्वर्ण आदि सम्पत्तिका उसे साक्षात् कोई भोग हो रहा है? क्या वह उसके प्रयोगमें आ रही है? उसका भोग तो कोई और ही कर रहा है और सन्तोष हो रहा है उसे। क्यों? केवल इस कारण कि उसकी बुद्धिमें, उसके ज्ञानमें, एक धारणा पड़ी है कि अमुक स्थानपर पड़ा रुपया मेरा है। बस वह भोग तो रहा है केवल अपने ज्ञानमें पड़ी उस धारणाको और आनन्द आ रहा है उसे ऐसा मानो वह स्वयं भोग रहा हो धनको। इसी प्रकार यदि तू भी सर्व विश्वको अपना कुटुम्ब समझकर (दे० [illegible]३.१०), विश्वरूपी बैंकमें पड़ी त्रिलोककी सम्पत्तिमें यह धारणा बनाले कि यह सब मेरी है, मेरा कुटुम्ब ही इसे भोग रहा है, तो क्या तुझे वैसा ही आनन्द न आयेगा जैसा कि उसे स्वयं भोगनेसे? इस प्रकार देखनेसे तू ही बता कि दोनोंमें कौन अधिक धनवान प्रतीत होता है? हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा ही चोखा। धन कमानेके विकल्पोंमें फंसे बिना तथा अशान्तिमें पड़े बिना तीन लोकका अधिपति बननेकी बात है और इस प्रकार वास्तवमें सर्वस्व त्यागी ही यथार्थ धनिक है, भौतिक-धनका भी तथा सन्तोष-धनका भी।

वैसा बननेका लक्ष्य बना है तो क्यों इन दो चार ठीकरोंकी चमकमें अन्धा हो अपनी शान्तिका गला घोंट रहा है, क्यों अपना कर्त्तव्य भूल बैठा है, क्यों स्व व पर-प्राणोंका हनन कर रहा है? समझ, इधर आ, सन्तोष धर, जीवनकी आवश्यकताओंको सीमित कर तथा उस सीमासे अधिक सञ्चयका प्रयास छोड़ दे। आगरेके पं० बनारसीदास जीका व पं० सदासुखदास

जीका जीवन याद कर। वे भी गृहस्थ थे, जिनके सन्तुष्ट हृदयने अपने ऊपर प्रसन्न हुए डिप्टीसे, बजाय यह मांगनेके कि उनका वेतन बढ़ा दिया जाय, यह मांगा था कि उनका वेतन ८ रुपयेकी बजाय ६ रुपये कर दिया जाय और कार्य बजाय आठ घण्टेके छः घन्टे कर दिया जाय, जिससे कि वे शेष दो घण्टोंमें अपनी शान्तिकी उपासना कर सकें। यह उसी समय सम्भव हुआ जबकि उनकी दैनिक आवश्यकताएं बहुत कम थीं, उनका जीवन सीमित था। भौतिक धनसे कहीं अधिक उनकी दृष्टिमें सन्तोष-धनका मूल्य था। वैसा ही तू भी बननेका प्रयत्न कर और तू अनुभव करेगा साक्षात्-रूपमें, जीवनमें धीरे धीरे प्रवेश करती उस शान्तिका। यदि अपरिग्रही आदर्शकी शरणमें आया है, यदि वीरप्रभुका व दिगम्बर-गुरुओंका उपासक कहलानेमें अपना गौरव समझता है, तो अवश्य अपने जीवनमें उपरोक्त रीतिसे कुछ न कुछ सन्तोष उत्पन्न कर। सन्तोष-धन ही वास्तविक धन है क्योंकि यह प्रत्येक जीवके स्वामित्वमें पृथक पृथक अपना-अपना ही उत्पन्न होता है, किसी अन्यके द्वारा बटवाया नहीं जा सकता। सीमित इच्छाकी पूर्तिमें सन्तोष हो जानेके कारण यहां ही सुख सम्भव है। अतः सोना-चांदी, रुपया-पैसा, घर-जायदाद, कपड़ा-बर्तन तथा तांगा-मोटर, पशु आदि वस्तुओंका व सजावटकी वस्तुओंका परिमाण तथा सीमा बांधकर अपने जीवनको कुछ हल्का बना। आदर्शकी शरणका फल यही है।

३१

उत्तम-क्षमा

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो ।

१. सामान्य परिचय — माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ।।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।

मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।।

"क्रोध प्रीतिको नष्ट करता है और मान विनयको, माया मैत्रीको नष्ट करती है और लोभ सर्व-विनाशक है । अतः कषायोंको जीतना साधुका सर्व-प्रधान तथा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है । उन्हें चाहिये कि क्षमासे क्रोधका हनन करें और मार्दवसे मानको जीतें, आर्जवसे मायाको और सन्तोषसे लोभको जीतें ।" साधु-धर्मकी प्रक्रियामें उत्तम-क्षमा आदि दस धर्मोंका उल्लेख किया गया है । अब उनका क्रमसे विस्तार करना है । पहला धर्म है 'उत्तम-क्षमा' ।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे ।

मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि ।।

"मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूं, सर्व जीव भी मुझे क्षमा करें । मेरा उनके प्रति मैत्रीका भाव है और किसीके साथ भी मुझे वैर नहीं है ।" इस प्रकारके आत्म-परिणामका नाम है उत्तम-क्षमा । क्रोधाग्निको बुझानेके-लिये इसके अतिरिक्त और कोई शीतलधारा नहीं । क्षमाका अर्थ है शान्ति और परिणामोंमें क्रोध न आना है क्षमा । वास्तवमें क्रोध है वह मूल जिसके कारण अपनी महिमा अन्तरंगमें जागृत होती नहीं । भोगादि सामग्रीमें अपने सुखका आभास करके अविनाशी शान्तिकी अवहेलना करना अनन्ता क्रोध है । 'पर-पदार्थोंका मैं कुछ कर सकता हूं और परकी सहायताके बिना मैं कुछ नहीं कर सकता' ऐसी धारणाके द्वारा अपनी शक्तिका तिरस्कार करना, उसके प्रति

अनन्ता क्रोध है। प्रभो ! अपनी शक्तिको पहिचान, दूसरेकी ओर देखना छोड़, अपने-लिये प्रयास कर, अपनी शक्तिसे प्रयास कर, दूसरेसे सहायता मांगकर भिखारी मत बन।

गृहस्थ व साधुके जीवनमें महान अन्तर है, इसलिये इनकी क्षमामें भी महान अन्तर है। गृहस्थ अवस्थामें रहते हुए व्यक्तिको अनेकों अवसर क्रोधके आ जाते हैं, साधुको इतने नहीं आते। अल्प-दशाके कारण गृहस्थको तीव्र क्रोध भी आ जाता है परन्तु साधुको तीव्र क्रोधका तो प्रश्न नहीं, मन्द भी प्रायः नहीं आता है। यदि कदाचित् आ भी जाय तो वह उसे बाहर प्रकट होने नहीं देता, अन्दर ही अन्दर उसे शान्त कर देनेका प्रयत्न करता है। क्रोध बाहरमें प्रगट हुआ तो साधु काहेका ?

२. गृहस्थकी क्षमा—अब पहले सुनिये गृहस्थकी उत्तम-क्षमा। क्षमा कई प्रकारकी हो सकती है। एक वह क्षमा जो किसी प्रतिद्वन्दीके द्वारा किसी भी प्रकार अपनी क्षति हो जानेपर, उससे बदला लेनेकी शक्तिका अभाव होनेके कारण चुप साधकर करली जाती है, परन्तु अन्तरंगमें अभिप्राय यह पड़ा रहता है कि 'यदि शक्ति होती तो मज़ा चखा देता इसको। अच्छा, अब न सही, फिर देख लूंगा।' इसप्रकार अन्तरंगमें कटु द्वेषकी ज्वालामें भुनते हुए भी बाहरसे कह देना कि 'जा तुझे क्षमा किया'। इसीके अन्तरर्गत वह क्रोध भी आ जाता है जो अंतरंगमें न जाने कबसे चले आये द्वेषके रूपमें पड़ा रहता है और बाहरमें उस व्यक्तिसे खूब मित्रता सरीखी दिखाता है, सहानुभूति दर्शाता है इत्यादि। इसको कहते हैं मात्सर्य। इसप्रकारके दिखावटी भावको तो लोकमें भी क्षमा नहीं कहते, तब इस प्रकरणमें कैसे कह सकते हैं। वह क्रोधसे भी अधिक घातक है, क्योंकि बहुत लम्बे समयतक बराबर अन्तरमें द्वेष बना रहता है।

दूसरे प्रकारकी भी क्षमा है, जो प्रतिद्वन्दीको खूब मार-पीटकर अपने अरमान निकाल लेनेके पश्चात 'जा माफ़ किया, फिर ऐसा न करना' ऐसे करनेमें आती है। वह भी सच्ची क्षमा नहीं है कहने मात्रकी है, क्योंकि शक्तिके अनुसार जो कुछ करना था कर लिया, क्रोध निकाल लिया, फिर क्षमा क्या किया ? यह भी द्वेषकी कोटिमें आ जाती है, परन्तु पहलेके द्वेष और इस द्वेषमें महान अन्तर है। पहले द्वेषकी अपेक्षा इस द्वेषकी शक्ति कम है, क्योंकि यह उतने ही समय मात्रके-लिये रहकर समाप्त हो जाता है, पीछे मिलनेपर उस व्यक्तिसे कोई विशेष घृणा नहीं होती।

असली क्षमा वह है जिसमें द्वेषका नाम न हो। गृहस्थको वह कैसे होती है ? देखिये कर्त्तव्य-परायण गृहस्थके-लिये अपना कर्त्तव्य निभाते हुए भी द्वेष

करनेकी आवश्यकता नहीं। अहिंसावाले प्रकरणके अन्तर्गत विरोधी-हिंसाकी बात आई है जो कि संयमी-गृहस्थ भी अवसर आनेपर कर गुज़रता है, परन्तु गौर करके देखनेपर वहां आपको द्वेष दिखाई नहीं देगा। शत्रुसे युद्ध द्वेषवश नहीं किया जाता, बल्कि आत्म-रक्षा या निज सम्मानकी रक्षाके-लिये किया जाता है और इसलिये यदि कदाचित् शत्रुको जीत लिया जाय तो उसे तंग नहीं किया जाता बल्कि शान्ति-पूर्वक समझा बुझाकर तथा कुछ उपयोगी शिक्षायें देकर तुरन्त छोड़ दिया जाता है। उसकी दृष्टि केवल आत्मरक्षाकी थी सो वह हो गई, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये था, इसलिये अवसर बीत जानेके पश्चात् वह व्यक्ति पहलेकी भांति ही दीखने लगता है। यदि पहले मित्र था तो अब भी मित्र दीखता है और यदि पहले सामान्य मनुष्य था अर्थात् न शत्रु था न मित्र तो अब भी वैसा ही दीखता है। यह है गृहस्थकी सच्ची क्षमा।

भारतके वीरोंका यही आदर्श रहा है। भगवान् रामने रावणपर चढ़ाई की, परन्तु अन्तिम समयतक यही प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार युद्ध न करना पड़े तो ठीक। शक्तिकी कमी हो इसलिये नहीं बल्कि इसलिये कि अन्तरंगमें रावणके प्रति कोई द्वेष नहीं था। उन्हें अपने सम्मानकी रक्षाके-लिये सीता दरकार थी और कुछ नहीं। उन्हें रावणकी स्वर्णमयी लंकाकी बिल्कुल इच्छा नहीं थी और इसलिये अंतिम समयतक यही सन्देश भेजते रहे रावणके पास कि सीता लौटा दो तो हम युद्ध नहीं करेंगे,हमें तुमसे कोई शत्रुता नहीं है। पर रावण न माना तो क्या करें? सम्मानकी रक्षा तो उस समय कर्त्तव्य थी ही यदि उस समय उस कर्त्तव्यको पूरा न करते तो कायर थे। परन्तु ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जानेपर साधुका इस प्रकारका कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि ऐसी दशामें साधुको सब समान हैं। आत्म-सम्मान शान्तिमात्र है, शान्तिमें बाधक उनके अपने परिणाम ही उनके शत्रु हैं, इसलिये यदि युद्ध करते हैं तो अन्तर-परिणामोंसे, बाहरके किसी व्यक्तिसे नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें कोई शत्रु है ही नहीं। वे यदि बाहरमें किसी व्यक्तिसे युद्ध करें तो कायर हैं। दशा-भेद हो जानेसे कार्यमें भेद पड़ जाता है। अपना कर्त्तव्य पूर्ण करनेको वे (राम) यद्यपि रावणसे लड़े परन्तु जीत होनेके पश्चात् उससे अनुचित व्यवहार न किया, उसका सम्मान किया तथा लक्ष्मणको उसे गुरु स्वीकार करनेकी आज्ञा दी। सीता मात्रको लेकर वापिस आ गये, लंकाकी एक वस्तु भी न छूई। उन्हें आवश्यकता ही न थी किसी पदार्थकी। बताइये क्या रामको क्रोध था रावण पर? यह है एक गृहस्थकी उत्तम-क्षमा।

पृथ्वीराजने सात बार मुहम्मद गौरीको युद्धमें बन्दी बनाया परन्तु हर बार उसे समझाकर छोड़ दिया, उसका कुछ भी नहीं छीना। आत्मरक्षा करनी इष्ट थी, हो गई, आगे कुछ नहीं किया, क्योंकि मुहम्मद गौरीसे कोई द्वेष नहीं था उसे। पृथ्वीराज वीर था, क्षमा उसका भूषण था, उसे अपने बलपर विश्वास था, अपनी क्षमाके कर्त्तव्यको भूलकर वह कायर बनना नहीं चाहता था। यह थी भारतके वीरोंकी आदर्श-क्षमा। कायरोंको शोभा नहीं देती यह, वीरोंका भूषण है यह। भले ही आजका युग उसे भ्रमवश पृथ्वीराजकी भूल बताता हो और उसके इस महान कृत्यको भारतकी पराधीनताका कारण बताता हो, परन्तु जगतकी यह बात स्वार्थमें-से निकल रही है कर्त्तव्यमें-से नहीं, पामरतामें-से निकल रही है वीरतामें-से नहीं। जिस क्षमाको कायरता कहा जाता है वही सच्ची वीरता थी। भारतका ह्रास पृथ्वीराजकी इस क्षमाके कारण नहीं हुआ, बल्कि हुआ जयचन्दके उस द्वेषके कारण जिसके वशीभूत होकर कि उसने पृथ्वीराजसे बदला लेनेके-लिये शत्रुसे साज-गाण्ठ की। दोषीकी दृष्टिमें दोष तो दीखता नहीं, गुणमें-से दोष निकालनेका प्रयत्न करता है। आजके स्वार्थी व कायर लोगोंकी दृष्टि भी दोष खोजनेके-लिये पृथ्वीराजकी ओर जाती है, जयचन्दकी ओर नहीं जो कि वास्तवमें दोषी था।

३. साधु की क्षमा—यह हुई गृहस्थकी उत्तम-क्षमा। अब सुनिये साधुकी क्षमा। उपरोक्त प्रकार किसीके साथ युद्ध ठाननेकी स्थितिसे वह निकल चुका है। यद्यपि उसके पास कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसका अपहरण करनेके-लिये कोई उसे तंग करे, इसलिये किसीके प्रति उसे क्रोध आनेका प्रश्न नहीं। संज्वलन कषायोदयके आधारपर क्रोधकी कमर थपथपाना साधुके-लिये आत्म-हनन करना है। संज्वलन कषाय बहुत मन्द होती है और कभी बाहरमें प्रगट होने नहीं पाती, क्योंकि गृहस्थ-दशामें ही कषायोंके संस्कारोंका बहुत अंशोंमें वह विनाश कर चुका है। एक साधक गृहस्थको भी, बात-बातपर क्रोध या अन्य कषाय उत्पन्न नहीं होती तो साधुको कैसे हो सकती है?

तदपि आहार आदिके अर्थ चर्या करते हुए कदाचित् नगरमें जाना पड़े और कोई अज्ञानीजन-कृत या पशुकृत उपसर्ग या बाधा आ पड़े तो हो सकता है कि क्रोध आ जाय। और उस महान योगेश्वरमें तो आत्म-शक्ति भी अतुल है, भले ही शरीरसे निर्बल दीखता हो, पर बड़ी-बड़ी ऋद्धियों का स्वामी है। वह चाहे तो एक दृष्टिमें भस्म करदे उसे, या शाप देकर कष्ट-सागरमें डूबो दे उसे। परन्तु सच्चे योगियोंका यह कर्त्तव्य नहीं। यदि अपनी ऋद्धियोंका प्रयोग बाहरमें किसी प्राणीपर करता है तो वह योगी नहीं कायर है। योगी किसीको

शाप नहीं दिया करते, ऋद्धियां होते हुए भी उनका प्रयोग नहीं किया करते। पर-कल्याणके लिए यदि करना पड़े तो कदाचित् कर भी लें परन्तु किसी प्राणीको, वह दोषी हो या निर्दोष, किसी भी उचित व अनुचित कारणवश वे पीड़ा नहीं पहुँचाते, भले प्राण चले जायें। वे सिंह बनकर निकले हैं, शरीर को ललकारकर निकले हैं, इन प्राणोंका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं। वे लौकिक नहीं अलौकिक युद्ध लड़ते हैं जो बड़ेसे बड़ा योद्धा भी लड़नेमें समर्थ नहीं। वे अलौकिक शत्रुओंको जीतते हैं जिन्हें कोई जीतनेमें समर्थ नहीं। उन कायरोंपर क्या वार करें जिनको कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका तथा हित-अहितका भी विवेक नहीं। उनके शत्रु बाहर दीखानेवाले मनुष्य व पशु नहीं हैं, चाहे साक्षात् शरीरका भक्षण क्यों न करते हों, इसको अग्निमें क्यों न डालते हों, उबलते हुए तेलके कढ़ायेमें क्यों न फैंकते हों, कुत्तोंसे क्यों न नुचवाते हों, क्योंकि जिसे वे क्षति पहुँचा रहे हैं उस शरीरको अपना मानते ही नहीं वे और जो चैतन्य उनका शरीर है उसे कोई क्षति पहुँचा नहीं सकता।

उनके वास्तविक शत्रु हैं अन्तरङ्गके उनके कषायानुरंजित परिणाम जो उन्हें वास्तवमें क्षति पहुँचा सकते हैं अर्थात् उनकी शान्ति भंग कर सकते हैं। योगियोंका बल कायर व्यक्तियोंपर नहीं इन अत्यन्त सुभट शत्रुओंपर चलता है। क्या किसी क्षत्रियकी खड्ग किसी स्त्रीपर या नपुंसकपर उठती है? भले उसके प्राण चले जायें पर क्या वह इनके प्रति युद्ध ठानता है, इनको अपना पराक्रम दिखलाता है? धन्य हैं वे, उनकी दृष्टि विलक्षण है, वे प्राणियों या वस्तुओंको उस दृष्टिसे नहीं देखते जिससे कि हम देखते हैं और इसीलिये आश्चर्य होता है उनके साहसपर। वे सर्वको तात्त्विक दृष्टिसे देखते हैं, उनकी दृष्टिमें वे चैतन्य हैं और शरीर जड़, जिससे उनका कोई नाता नहीं। उनकी दृष्टिमें लोककी कोई शक्ति उन्हें बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं, क्योंकि वे अच्छेद्य हैं, अविनश्वर हैं, अदाह्य हैं अर्थात् वे जल नहीं सकते। जब वे छिद भिद सकते ही नहीं, जल सकते ही नहीं, तो कोई कैसे उन्हें छेदे-भेदे या जलाये। छेदना-भेदना तो रहा दूर, उन्हें कषाय उत्पन्न करानेकी शक्ति भी किसी अन्यमें नहीं है। वे स्वयं क्रोधादि करें तो करें, कोई अन्य नहीं करा सकता। यही तो है वस्तुकी स्वतन्त्रता, जो विवेक-ज्ञानवाले प्रकरणमें दर्शायी जा चुकी है (देखो ६.४)। विचारिये तो सही कि यदि आप मुझे गाली दें या मारें, और मैं क्रोध न करूँ, तो क्या आप ज़बरदस्ती मुझे क्रोध करा सकते हैं? आप मेरी इच्छाके विरुद्ध मुझे क्रोध नहीं करा सकते।

देश-भक्तोंको अंग्रेजोंने जेलमें ठोंका, अनेकों कष्ट दिये, परन्तु क्या उनमें इतनी सामर्थ्य थी कि उनसे ज़बरदस्ती उनकी अन्तरङ्ग-देशभक्तिके भावको

छुड़ा देते ? मानतुंग आचार्यको अड़तालीस तालोंके अन्दर बन्द किया, परन्तु क्या कोई उनके अन्दर जागृत हुई प्रभु-भक्तिपर प्रतिबन्ध लगा सका ? आज यदि मैं आपको कहूँ कि आपको क्रोध करना पड़ेगा तो क्या आप कर सकेंगे ? महात्मा बुद्धको एक व्यक्तिने खूब गालियाँ सुनाईं पर वे सुनते रहे शान्त भाव से। जब वह व्यक्ति चुप हो गया तो बोले कि "भाई ! यदि कोई वस्तु मैं तुम्हें दूं और तुम न लो तो वह वस्तु किसकी ?" "जिसने दी उसकी।" "तो बस आपने मुझे जो शब्द दिये, मैंने तो उन्हें लिया नहीं क्योंकि मुझे क्रोध आया नहीं, यदि क्रोध आ जाता तो सम्भवतः कह दिया जाता कि मैंने उन्हें स्वीकार किया है। तो अब बताओ यह शब्द किसके, आपके या मेरे ?" लज्जित हो गया वह बेचारा। शब्दोंमें यदि शक्ति होती तो उन्हें क्रोध आ जाता। ऐसी दृष्टिमें कोई अन्य उन्हें बाधा पहुंचा सके यह शक्ति किसीमें नहीं। अपनी ही किसी कमजोरीके कारण कदाचित् क्रोधादि आते हैं, अतः वह कमज़ोरी ही शत्रु है, उसके प्रति ही उनका युद्ध है और उसको ही अपना पराक्रम दिखाता है साधु।

४. अध्यात्म-सम्बोधन—(१) उत्तम-क्षमाकी बात चलती है। वे महा-भाग्य-दिव्यचक्षु योगीजन अपने अन्दरके शत्रुओंको कैसे जीतते हैं ? अलौकिक जीवोंके अलौकिक विचार। यदि कदाचित् उनका नग्न-वेश देखकर कोई अज्ञानी कटु-वचनोंके वाण चलाने लगे, "देखो बैल सरीखा निर्लज्ज पशु कैसे चला जा रहा है, असभ्य कहींका, नाम मात्रको मनुष्य है, मूढ़ बुद्धि, ढोंग रचे फिरता है, देखो तो कितना भोला दीखता है ऊपरसे, लुच्चा कहींका" इत्यादि अनेकों वचनों द्वारा तीखे वाण ही फैंक रहा हो मानो कलेजे को छलनी करते निकले जा रहे हों जो। तो वे परम-योगेश्वर उस समय इसप्रकार विचार करते हैं कि "अरे चेतन ! क्यों कलकलाहटसी हो गई है तेरे अन्दर इन शब्दोंको सुनने मात्रसे ? बस इसी बिरतेपर निकला है संस्कारोंसे युद्ध करने ? अभी तो तुझे कुछ पीड़ा भी होने पाई नहीं, शरीरपर भी कोई आघात हुआ नहीं, फिर यह व्याकुलतासी क्यों ? बता तो सही कि कहां लगे हैं ये वचन तुझको ? दायें-बायें, ऊपर-नीचे किधर भी तो चिपके दिखाई नहीं देते ? कैसे मानता है अपनेको घायल ? तू चैतन्य, ब्रह्म, अच्छेद्य व अभेद्य, इसका घायल होना तो असम्भव है ही अपितु यहाँ तो यह शरीर भी घायल नहीं हुआ, तुझे पीड़ा क्यों होने लगी ? क्या शब्दोंमें इतनी शक्ति है कि बिना आघात पहुंचाये तुझे पीड़ित करदें ? परन्तु ऐसा होना असम्भव है। ऐसा माने तो तेरेमें और लोकके अन्य जीवोंमें अन्तर ही क्या रहा ? तू किसप्रकार अपनेको शान्ति-पथका पथिक कह सकता है ?"

"केवल इन दो-चार शब्दों मात्रसे तू क्यों अपनी शान्तिको अपने हाथसे लुटा रहा है, इतनी दुर्लभतासे प्राप्त करके इसे मुफ्तमें ही दिये जा रहा है? कहां गई तेरी बुद्धि, कहां गया तेरा विवेक, अपने हितको क्यों नहीं देखता? इससमय विश्वमें सर्वत्र ही तो किसी न किसीके द्वारा कोई न कोई शब्द बोला जा रहा है, उनके द्वारा क्यों विह्वल नहीं हो रहा है तू? यह भी तो विश्वमें रहकर ही बोल रहा है, उन असंख्यात शब्दोंमें एक यह भी सही। जब उनके द्वारा तुझे बाधा नहीं हो रही है तो इसीके द्वारा क्यों हो? जहां कटु-शब्द बोले जा रहे हैं, वहां इस विश्वमें कहीं न कहीं मिष्ट व प्रशंसाके शब्द भी तो बोले ही जा रहे हैं। यदि इनको सुनता है तो उनको क्यों नहीं सुनता?"

"और फिर वह भी तो झूठ नहीं कह रहा है, दोष तुझमें होंगे तभी तो कहता है। वह तो बड़ा उपकार कर रहा है, तुझे तेरे दोष दिखाकर सावधान कर रहा है। कितना दयालु है वह? निष्कारण तेरा रोग दूर करनेकी भावना करता है। और यदि अनहुए दोष कह रहा है तो भी अच्छा ही है कि 'भविष्य में दोष उत्पन्न न हो जायें, ऐसी भावना द्वारा पानी आनेसे पहले ही पुल बान्धनेको कह रहा है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है?" और भी अनेकों इसी जातिके शीतल विचारोंद्वारा उस अवसरमें अपनेको शान्त रखता है वह, क्रोधाग्निको उठनेसे पहले ही शान्त कर देता है वह। यह है योगीकी उत्तम-क्षमा।

(२) यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ पड़े कि कोई उसके शरीरको पीटने लगे, थप्पड़ मुक्के मारने लगे, तो भी वह वीर शान्तिको हाथसे जाने नहीं देता। विचारता है कि "अरे चेतन! क्या हुआ, क्यों पीड़ा होती है, क्या कोई बाधा पहुंची है तुझे? तू तो अब भी अपनी सर्व शक्तियोंको समेटे पूर्ण गुप्त अपने ज्ञान-दुर्गमें बैठा है। क्या तुझे भी कहीं थप्पड़ लगा है? लगा है तो बता, कहां पीड़ा हो रही है तुझे? क्या ज्ञानमें? परन्तु ज्ञानमें पीड़ा होने का क्या काम, वह तो जानता मात्र है। कहां चोट लगी है तुझे? क्या शरीर की चोटको अपनी चोट समझ बैठा है? अरे! कहां चला गया तेरा विवेक? यदि शरीरकी चोटको चोट माने तो इस खम्बेपर पड़ी चोटको भी अपनी चोट मानना चाहिये। क्या अन्तर है शरीरमें तथा इस खम्बेमें? वह भी जड़ और यह भी जड़। यदि क्रोध आ जाता तो अवश्य माना जा सकता था कि तुझे चोट लगी है। पर क्रोध उत्पन्न करनेवाला तो तू स्वयं ही है, ये बेचारे प्राणी तुझको क्रोध कैसे उत्पन्न करायें, कौनसा ऐसा हथियार है उनके पास? और फिर यदि शरीरको कुछ बाधा पहुँची भी तो क्या हुआ, इसका विनाश तो हुआ नहीं, तेरे

संयममें तो बाधा पड़ी नहीं, तेरा मार्ग तो रुका नहीं ? जितने दिन भी यह है उतने दिनतक तो तू पुरुषार्थ कर ही सकता है। क्यों इतने मात्रसे निराशसा हुआ जाता है ?" इत्यादि अनेक प्रकारके विचारों द्वारा क्रोधपर प्रतिबन्ध लगा देता है वह, उठनेसे पहले ही उसे दबा देता है वह। यह है योगी की उत्तम-क्षमा।

(३) और यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ जाय कि कोई प्राण ही लेनेको उद्यत हुआ हो, करोंतसे चीरनेको तैयार हो, बन्दूक ताने सामने खड़ा हो, अन्ध-कूपमें धकेलनेको तैयार हो, आधा ज़मीनमें गाड़ कर दही छिड़क रहा हो शरीरपर उसे कुत्तोंसे नुचवानेके-लिए, पकते हुए तेलके कढ़ायेमें धकेलने को तैयार हो, कोल्हूमें डाल दिया हो इस शरीरको, तो भी वह निर्भीक सिंहवत् विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ है, क्या सोच रहा है, क्यों भयभीत-सा दिखाई देता है ? क्या इसलिये कि मृत्यु आनेवाली है ? अरे तो आने दे, कौन बड़ी बात है, मृत्यु आना तो स्वभाव ही है ? और फिर इस जर्जरित शरीरको छीनकर एक नया शरीर प्रदान करनेवाली इस महा-मातासे भय काहेका, इसमें अनिष्टता काहेकी ? यह तो तेरी उपकारिनी है जो नवीन शरीर प्रदान करके तुझे तेरी साधनामें सहायता देनेको उद्यत हुई है। कितना बड़ा उपकार कर रही है यह तेरा ? यदि मृत्युसे ही डर लगता है तो अपनी वास्तविक मृत्युसे क्यों नहीं डरता, जो क्षण-क्षण-प्रति तुझे आ रही है ? एक विकल्प हटकर दूसरा, दूसरा हटकर तीसरा और तीसरा हट कर चौथा, क्षण-प्रतिक्षण जो तेरी शान्तिका घात कर रहे हैं। तेरा शरीर तो शान्ति है, यह चमड़ा नहीं। इसकी मृत्यु तेरी मृत्यु कैसे हो सकती है ? शान्ति की मृत्यु तो यह करनेको समर्थ नहीं, वह तो तू स्वयं ही है। यदि तू क्रोध करे तो तेरी मृत्यु अवश्य हो जाय, पर वे बेचारे रंक तो क्रोध करानेको समर्थ नहीं, वह तो तू स्वयं ही है। तब ये तेरे घातक कैसे हो सकते हैं ? जो तुझे जानते ही नहीं वे बचारे तेरा घात क्या करेंगे और तुझे जो अविनश्वर ज्ञानपुञ्ज जानते हैं वे तेरा घात क्या करेंगे ? वे बेचारे अज्ञानी स्वयं नहीं जानते कि क्या करने जा रहे हैं वे। इनपर द्वेष कैसा ? क्या बालकोंकी अज्ञान-क्रियापर भी कभी किसीको द्वेष हुआ करता है ? ये भी तो बालक ही हैं जिन्होंने अभी आँख खोलकर देखा ही नहीं। कैसे जान सकते हैं कि वे स्वयं कौन हैं ?"

"और फिर यदि इन्हें यह कार्य करनेसे प्रसन्नता ही मिलती है तो इसमें तेरा क्या हर्ज है? लोग तो बड़ा-बड़ा दान देकर, बड़ी-बड़ी सेवाएं करके, बड़े-बड़े

कष्ट झेलकर किसीको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया करते हैं और ये बिना कुछ किये सहज ही इस शरीरके साथ खेल-खेलकर प्रसन्न हो रहे हैं, तो इससे अच्छी बात क्या है ? तेरा सर्वस्व तो शान्ति है, उसे हरण करनेको ये समर्थ नहीं और फिर भी प्रसन्न हुए जा रहा हैं, इससे अच्छी बात और क्या है ?"

"क्या विचारता है, कि यह तेरा शत्रु है ? परन्तु भो चेतन ! कहां गई तेरी बुद्धि ? क्या हो गया है आज तुझे ? क्या नींद आ रही है ? अरे तुझे कोई बड़ा रोग हो जाय, तू सड़कके किनारे पड़ा हो और कोई अपरिचित पथिक तुझे अपनी मोटरमें बैठाकर हस्पताल ले जाये, डाक्टरसे कहे कि डाक्टर साहब ! मेरा सर्वस्व ले लीजिये पर इसे अच्छा कर दीजिये । तो बता कि उस व्यक्तिसे तुझे द्वेष होगा या प्रेम ? बस कषायोंसे पीड़ित तू एक रोगी, यह दयालु-जीव निःस्वार्थसेवी, अपना सर्व पुण्य लुटाकर तुझे इस रोगसे मुक्ति दिलाने आया है, तेरा सर्व भार अपने सर लेने आया है । भला द्वेषका पात्र है या करुणाका ?"

(४) और भी, "यदि घरमें तेरे पुत्रको बौरान हो जाय और पागलपनेमें तेरे कान काटने लगे तो उसपर तुझे दया आयेगी या क्रोध ? बस ये बेचारे बौरानसे ग्रसित जीव स्वयं इस रोगसे पीड़ित हैं, स्वयं अपने द्वेष व क्रोधमें जले जा रहे हैं । यदि रोगकी तीव्रतासे पागल होकर वे इस शरीरको काटते हैं तो करुणाके पात्र हैं या द्वेषके ? ज़रा तो विवेक कर और फिर ये बेचारे तुझे कुछ कह भी तो नहीं रहे हैं, इस खिलौनेसे खेलते हैं, बालक जो ठहरे, खिलौने ले-लेकर तोड़ना तो बालकोंका स्वभाव ही है । यदि ये इस शरीररूपी खिलौनेको तोड़नेका खेल खेल रहे हैं तो इनका दोष भी क्या है ? खेलने दे इन्हें, तुझे क्या ? तेरी शान्ति तो तेरे पास है, उसे तो छीनते नहीं बेचारे ।" और इस प्रकारके अनेकों विचारों द्वारा क्रोधको जीत लेते हैं वे, प्रगट होनेसे पहले ही छिपा देते हैं वे । यह है योगीकी उत्तम-क्षमा ।

कदाचित् ऐसा अवसर आ जाय कि शिष्य मण्डलीमें-से या अन्य सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियोंमें-से कोई एक शिष्य या व्यक्ति अनुकूल न चले, या आज्ञा का उलंघन करे, या अभिप्रायसे विपरीत कार्य करने लगे, अथवा कोई जड़-पदार्थ अपने अनुकूल न बन सके तो कुछ-कुछ हृदयमें सन्ताप-सा उत्पन्न होने लगता है । 'अरे ! मेरी आज्ञासे बाहर क्यों जा रहा है, जिस प्रकार मैं कहता हूं उसप्रकार क्यों नहीं करता, अपनी मर्ज़ीसे क्यों करता है, इत्यादि ।' ऐसे अवसरोंपर वह योगी इसप्रकार विचारने लगता है कि "भो चेतने ! कहां खो आया है आज बुद्धि ? किसको अपने अनुकूल चलाना चाहता है,

अपनेको या इसको ? इसको अपने आधीन करना तो तेरी सामर्थ्यसे बाहर है। क्या पहले निर्णय नहीं कर चुका है (देखो ६.४) ? विवेक-ज्ञानी कहलाता है और फिर भी दूसरेको अपने अनुकूल करना चाहता है ? लोकमें सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, तू उनको परतन्त्र बनाना चाहता है, अपने आधीन करना चाहता है ? तू भी स्वतन्त्र है, ये भी स्वतन्त्र हैं, जिसप्रकार चाहें करें, तू इन्हे रोकनेवाला कौन, इनपर तेरा क्या अधिकार ? यदि अनुकूल ही परिणमाना है तो अपनेको क्यों नहीं परिणमाता ? अपने ऊपर तो तेरा पूरा अधिकार है, क्यों अपनी शान्तिके प्रतिकूल इस क्रोधके आवेशमें बहा जा रहा है ? रोक, रोक, बस अब इन परिणामोंको रोक। इसके प्रति तो इतना ही कर्त्तव्य था कि इसके कल्याणार्थ कोई हितकी बात इसे बता दे, सो तेरा कर्त्तव्य पूरा हुआ, अब यह चाहे जैसा करे इसकी मर्जी। लोकमें अनन्तानन्त जीवराशि भरी पड़ी है, किस-किसको अपनी आज्ञामें चलायेगा।"

५. गृहस्थको प्रेरणा—परम धैर्यके धारी अत्यन्त पराक्रमी उन योगियोंको तो ऐसे विचार कभी कभी कठिन अवसरोंपर आते ही हैं, अतः उन्हें तो उत्कृष्ट क्षमा है ही, परन्तु यह क्षमा धारना उनका ही काम हो और आपका न हो ऐसा नहीं है। यथायोग्य अवसरोंपर भले कुछ हीन रूपमें सही, आपको भी इस अल्प गृहस्थ-अवस्थामें, इसी प्रकारके विचारोंद्वारा अपने क्रोधको दबानेका प्रयत्न करना चाहिये। किसीसे भी द्वेष करना शान्तिके उपासकका काम नहीं और यदि आज भी किसी बड़े या छोटेसे द्वेष है, तो इस उत्तम-क्षमाकी बातको सुनकर उसके उगलनेका प्रयत्न करना चाहिये, उसके साथ युद्ध करना चाहिये। आपको अपना कर्त्तव्य देखना है, दूसरोंका नहीं। अतः 'वह तो बराबर मेरे साथ बुराई किये जा रहा है, मैं कैसे उसके प्रति माध्यस्थ हो जाऊं, कैसे द्वेष त्याग दूं ?' इस प्रकारके विचारोंको त्यागकर, अपने हितके-लिये उपरोक्त क्षमा-वर्द्धक परिणामोंके आश्रयपर, अपने शत्रुको भी आज तुम्हें क्षमा कर देना योग्य है। मत विचारिये कि वह आपको क्षति पहुंचायेगा, बल्कि यह विचारिये कि अपना आपका द्वेष या मात्सर्य ही आपको क्षति पहुँचा रहा है। प्रतिवर्ष क्षमावणीका दिन मनाते हैं, 'क्षमा-क्षमा सब गहो रे भाई' का राग अलापते हैं, मानो दूसरोंको सुनाते हैं। प्रभो ! स्वयं सुननेका प्रयत्न कीजिये, दूसरेको सुनानेका नहीं। दूसरा कुछ भी करे उधर मत देखिये किन्तु देखिये यह कि आप क्या करते हैं। शान्तिका मार्ग लौकिक दृष्टिसे विपरीत है, उस दृष्टिमें इसका रहस्य आ नहीं सकता। साधारण जन क्या जानें इसकी महिमा ?

३२
उत्तम-मार्दव

शान्ति-सरोवर भगवान् आत्मा ! आज अत्यन्त सौभाग्यवश शान्ति-सागर-वीतरागी गुरुओंकी शरणको प्राप्त होकर भी यदि कषायोद्रेकमें जलता रहा, तो कोई लाभ न होगा इस महान व दुर्लभ अवसरसे, अतः अब जिसकिस प्रकार भी अन्तर-दाहोत्पादक इन कषायोंसे युद्ध कर, उत्तम-मार्दवसे आक्रमण कर। घबरा नहीं, इस हथियारका सामना करनेकी शक्ति इन कषायोंमें नहीं है। इसकी एक झलक मात्रसे यह गीदड़-टोली दुम दबाकर भागती दिखाई देगी। यह हथियार तेरे पास न हो, ऐसा भी नहीं है। तेरी आयुधशालामें ऐसे हथियारोंकी कमी नहीं।

१. अभिमान—मार्दव अर्थात् मृदु-परिणाम, कोमल-परिणाम, अभिमानके विरोधी परिणाम। आजतक पर-पदार्थोंको अपना मानता हुआ कुल, जाति, रूप, धन, बल, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान आदिकी महिमाको गिनता हुआ, इनमें-से रस लेता हुआ, इनके कारण ही अपनी महानता मानकर गर्व करता हुआ चला आ रहा है। झूठा है यह गर्व, जिसका कोई मूल्य नहीं, कोई आधार नहीं। इन पर-पदार्थोंसे अपनी महिमा व बड़प्पनकी भिक्षा मांगनेमें ही गर्व करता आ रहा है। "इनका मैं स्वामी हूँ, इनको मैं करता हूँ, मेरे द्वारा ही इनका काम चल रहा है, ये सब मेरेलिए ही काम कर रहे हैं, ये सब मुझमें-से ही अपना बल प्राप्त कर रहे हैं, यदि मैं न हूँ तो ये किसी कामके नहीं, मेरे आधारपर ही टिके हैं, इनको मैं भोगता हूं, ये मेरा बड़ा काम साधते हैं, इनके-द्वारा ही मेरी महिमा हो रही है, इनके-लिये ही मैं इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इनमें-से ही मुझे आनन्द मिलता है, इनके आधारपर ही मेरी सर्व महत्ता है, लोग मेरी इस विभूतिको देखकर नत-मस्तक हो जाते हैं, मेरी महिमाका बखान करते हैं।"

इसप्रकार की झूठी कल्पनाओंके अन्धकारमें आज तू अपनी वास्तविक महिमाको भूल बैठा है, अपनी विभूतिको न गिनकर भिखारी बन बैठा है। अपने कुलको, अपनी जातिको, अपने रूपको, अपने धनको, अपने बलको, अपने ऐश्वर्यको, अपने तपको, अपने ज्ञानको तथा अन्य अनेकों बातोंको बिल्कुल भुला बैठा है। अपनी इस महिमाकी अवहेलना करके दूसरोंकी महिमामें अपनी महिमा मानना अनन्ता अभिमान है, अपनी महिमाके प्रति अत्यन्त कठोरता है। एक दृष्टि भी अन्तरकी ओर जाय तो अपनी विभूतिके दर्शन हो जायें, अपनी महिमाका भान हो जाय, उसके प्रति बहुमान प्रगट हो जाय, परद्रव्योंका अभिमान हट जाय, निजका अभिमान हो जाय, अपनी पूर्ण महिमाका साम्राज्य प्राप्त हो जाय, और भिखारीपना जाता रहे।

लोकमें भी दो प्रकारके अभिमान कहनेमें आते हैं—एक स्वाभिमान और दूसरा सामान्य अभिमान अर्थात् पराभिमान। 'मैं उत्तम कुलका हूँ क्योंकि मेरा पिता बड़ा आदमी है इत्यदि' तो पराभिमान है, क्योंकि पिता आदि परकी महिमामें झूठा अपनत्व किया जा रहा है। परन्तु 'मेरा यह कर्त्तव्य नहीं, क्योंकि मेरा कुल ऊंचा है' यह है स्वाभिमान क्योंकि अपने कर्त्तव्यकी महिमाका मूल्याङ्कन करनेमें आ रहा है। पर-अभिमान निन्दनीय और स्व-अभिमान प्रशंसनीय गिननेमें आता है। इसलिए वास्तविक अभिमान करना है तो स्वाभिमान उत्पन्न कर अर्थात् निज चैतन्य विलासके प्रति महिमा उत्पन्न कर, जितनी चाहे कर।

२. आत्म-सम्बोधन—(१) "मेरा कुल बहुत ऊंचा है, मैं सूर्यवंशी हूँ, वह महानवंश जिसमें भगवान् आदि-ब्रह्मा ऋषभदेवने अवतार लिया, जिसमें षट्खण्ड-स्वामी भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए, जिसमें यम-विजेता महान तपस्वी बाहुबलि उत्पन्न हुए। आप सबको मेरा सम्मान करना उचित है क्योंकि मैं भगवान्की सन्तान हूं और आप सबसे ऊंचा हूं।" अरे रे! क्यों अपने कुलके प्रति इतना कठोर हो गय है तू? तनिक तो दया कर, बिल्कुल रंक बन गया है, भगवान्की सन्तान होनेका गर्व करता है पर भगवान् होनेका नहीं? चिदानन्द-ब्रह्म, पूर्ण परमेश्वर, स्वयं भगवान् होकर किसकी महिमा, किसकी उच्चता स्वीकार कराने चला है। साक्षात् भिखारी बनकर भगवान्के कुलको लाञ्छन लगानेवाले भो चेतन! तू उच्च-कुलीन है कि नीच-कुलीन? स्वयं तू ऋषभ है, षट्खण्डका ही नहीं त्रिलोकका अधिपति है, सर्व विभावोंका विनाश करनेकी शक्ति रखनेवाला तू स्वयं यम है, इन अल्पमात्र मनुष्योंसे ही नहीं त्रिलोक द्वारा वन्द्य है। अपनी महिमाके प्रति गर्व कर, कठोरता छोड़, उसका और

अधिक अपमान मत कर, स्वयं अपना सम्मान करना सीख, तब बनेगा वास्तव में उच्च-कुलीन ।

(२) "मेरी जाति बहुत ऊंची है, मेरे मामा की आज्ञा अनेकों देश स्वीकार कर रहे है, मेरे नाना इतने दानी थे, मेरी माता बड़ी विदुषी है"। अरे ! क्या हुआ यदि तेरी माता, तेरे मामा और नाना बड़े थे ? तुझे इनसे क्या ? तू तो यह देख कि तू कौन है ? उन्होंने बड़े कार्य किये तो वे बड़े कहलाये, तू बड़ा कार्य करेगा तो तू बड़ा कहलायेगा । नीच काम करनेसे कौन ऊंचा बनता है ? अपने प्रभुत्वको ठुकराकर नाना मामासे अपने प्रभुत्वकी भिक्षा मांगनेवाले भो चेतन ! तनिक विचार तो कर, कि तू महान है कि भिखारी ? भगवती सरस्वती जिसकी माता हो, वह तुच्छ बुद्धिवाले प्राणियोंको अपनी माता बनाये, आश्चर्य है । सहज आनन्द जिसका मामा हो वह चिन्ताकी चिताओंमें जलनेवाले इन मनुष्योंको मामा समझे, खेद है । भगवन् ! आंख खोल, अपनी ज्ञान-चेतनावाली जातिको पहिचान, उसके प्रति बहुमान उत्पन्न कर, कठोरता छोड़ । चेतन-जातिपर गर्व कर, जितना चाहे कर ।

(३) "मैं बड़ा रूपवान हूँ । गलीमें मुझे जाता देखकर स्त्रियां अपना सर्व काम छोड़ बरामदोंमें आकर खड़ी हो जाती हैं, राह चलनेवाले पथिक रुक जाते हैं ।" अरे रे ! कौनसे रूपकी बात करता है ? इस चमड़ेके रूपकी बात ? तब तो अवश्य ही तू बड़ा रूपवान है । ले एक बार इस दर्पणमें मुंह देखले, इसमें १० साल आगेका रूप दिखाई दे जायगा तुझे । देख कितना सुन्दर है यह ? क्यों डर क्यों गया ? तेरा ही तो रूप है जिसपर गर्व करता था तू ? ज़रा मक्खी के पंख समान पतलीसी इस झिल्लीको उतारकर देख इसका रूप । क्यों कैसा लगता है ? ज़रा शौच-गृहमें जाकर देख इसका रूप । कैसा मनभाता है ? भोले प्राणी ! अपने सच्चिदानन्द-रूपको भूलकर इस चमड़ेपर लुभाते क्या लज्जा नहीं आती ? आ यदि अपना सौन्दर्य देखना है तो देख यहां, जहां विश्व-मोहिनी यह शान्ति-सुन्दरी तेरे गलेमें वरमाला डालनेको तैयार खड़ी है । इसका अपमान करके तू कैसे अपनेको रूपवान कह सकेगा ? प्रभु ! अन्य ओरसे दृष्टि हटा, कठोरता तज, इस सुन्दरीको मृदुतासे स्पर्श कर । यह है तेरा असली रूप । इसपर अभिमान कर, जितना चाहे कर ।

(४) "मैं बड़ा धनवान हूँ, बड़े-बड़े व्यापारी मेरे द्वारपर मस्तक रगड़ते हैं, सारी मण्डीका भाव मेरे हाथमें है । मेरे पास ५०० गाँव हैं, यह देखो करोड़ोंके हीरे जवाहरात, ख़ज़ाना भरा पड़ा है, कुबेर भी शर्माता है मुझसे ।" अरे रे ! किसपर गर्व करता है ? इस धूलपर जो कल ही न जाने कहां विलय हो जाने

वाली है ? अपने वास्तविक चैतन्य धनको भूलकर इस घूलसे अपने बड़प्पनकी भिक्षा मांगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? जाग चेतन ! जाग, इधर देख इस चैतन्य-कोषको जिसके एक कोनेमें सम्पूर्ण लोक समाया हुआ है। तीन लोककी सम्पूर्ण विभूतिको एक समयमें भोग लेनेकी शक्ति रखनेवाले भो ज्ञानपुञ्ज ! इस अपने ज्ञानकी महिमाको स्वीकार कर और घूलकी महिमाकी पकड़को छोड़। इसीका नाम है मृदुता या मार्दव-परिणाम। उस आन्तरिक स्वानुभव-ज्ञानके प्रति बहुमान उत्पन्न कर, चाहे जितना कर।

(५) "मैं बड़ा बलवान हूँ, बड़े बड़े पराक्रमी वीर मेरा लोहा मानते हैं, मेरे एक इशारेपर आज विश्व कांप उठता है, किसकी शक्ति है कि मुझको जीत सके ?" अरे ! हंसी आती है तेरी बातपर, पामर कहींका। 'मेरी माता वन्ध्या थी' ऐसा सुनकर कौन न हंस पड़ेगा ? आश्चर्य है कि इस तनिकसे अभिमानके द्वारा जीता हुआ तू विश्व-विजयी होनेका दावा करता है। अपने भीतर तो झांककर देख कि कालकी विकराल दाढ़में बैठा हुआ तू भले हंस रहा हो, पर कितनी देरके-लिये ? अभी जबाड़ा बन्द हो जायेगा और तेरा यह अभिमान सर्व जगतपर स्वतः प्रगट होकर यह घोषणा करेगा कि कितना बली है तू। शर्म कर, कालकी पहुँचसे दूर अपने यथार्थ बलको भूलकर इस शरीरसे मांगे हुए बलपर फूला फिरता है ? कहाँ गइ तेरी बुद्धि ? इधर देख अपने अनन्त-बलकी ओर, जिस ओर आन्तरिक-शान्तिमें तन्मयता पड़ी है, निज आनन्दका आधिपत्य पड़ा है और जहां लोककी सर्व विपदायें व चिन्तायें खड़ी रो रही हैं, एक बार प्रगट हो जानेपर जिसमें कमी कमी नहीं आती। उसकी महिमा जागृत कर, जिससे कि यथार्थ बली बन जाय तू। उसपर अभिमान कर, जितना चाहे कर।

(६) "मेरा बड़ा ऐश्वर्य है। २००० हाथी, ४००० घोड़े, १००० रथ, इतनी तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज, टैंक, लाखों सेवक, मोटरें, कारखाने, और न जाने क्या क्या अला बला। मेरी आज्ञा सारे देशपर चलती है, मेरी आज्ञाके बिरुद्ध कार्य करनेका किसीमें साहस नहीं। चारों ओर सेवक और सेविकाओंसे सेवित इस राज्य-वैभवको भोगते हुए आज मेरेसे इन्द्र भी शर्मा रहा है।" किस ऐश्वर्यको कहा जा रहा है प्रभो ! उसीको, जो एक बम पड़ जानेपर न जाने कहां चला जायेगा ? उसको जिसके-लिये कि सम्भवतः रातको तुझे नींद भी नहीं आती ? किसने भ्रमा दिया है तुझे ? इतना भोला तो न बन कि चाहे जो ठगकर ले जाय, आंखोंमें डाले एक मुट्ठी मिर्च और सर्वस्व हरकर ले जाय ? अपने चित्प्रकाशको भूलनेके कारण आज तेरी आँखें चुँधिया गई हैं

इसकी झूठी आभामें। इधर देख आनन्द-नगरके अपने आधिपत्यको, जहाँ शान्ति तेरी दासी है, ज्ञान तेरा मन्त्री है, अनन्तबल तेरी सेना है, और सुख तेरा पुरोहित है। अभिमान करना है तो इसके प्रति कर, जितना चाहे कर।

(७) "मैं बड़ा तपस्वी हूँ। ज्येष्ठकी दोपहरमें धूपके अन्दर पत्थरकी तपती शिलापर घण्टों बैठा रहता हूँ, पोष-माघकी कड़कड़ाती ठण्डी रातोंमें श्मशान-भूमिमें योग-साधता हूँ, महीनों-महीनोंका उपवास, नीरस भोजन तथा अनेकों कठिनसे कठिन तप करता हूँ, अनेकों परीषह सहता हूँ।" कैसा तप? शरीरको तपानेका? अरे रे! प्रतीत होता है कि लोकके संतापसे संतप्त तेरा अन्तष्करण ही मानों भाप बनकर उड़ गया है। अपनेको न तपाकर दूसरेको तपानेमें कौन महिमा है? भट्टीके सामने बैठा लुहार सारे दिन तपा करता है। क्या अन्तर है उसके तपनेमें तथा तेरे तपनेमें? क्या भूल गया पूर्वोक्त सकल विवेक? निज स्वरूपमें प्रतपन करनेका नाम तप है। उसमें ताप उत्पन्न कर, उसमें स्थिरता धार, शान्तिके संभोगमें दृष्टि लगा, उसके प्रति महिमा जगा, उसके गुणगान गा, तब हो सकेगा तेरा माहात्म्य। अब काहेका महात्म्य?

"मैं बड़ा ऋद्धिधारी हूं, मुझमें बड़ी-बड़ी शक्तियां हैं, चाहूं तो एक दृष्टिसे तुझको भस्म कर दूं, शाप देकर रावसे रंक कर दूं, अशीर्वाद देकर कृतकृत्य कर दूं, आकाशमें उड़ जाऊं, मकड़ीके जालेपर-से पांव रखकर गुज़र जाऊं, बैठे-बैठे सुमेरुको स्पर्श कर दूं, मक्खी जैसा शरीर बना लूं। कहांतक बखान करूं अपनी महिमाका, अपने चमत्कारोंका?" अपने मुंहसे अपनी प्रशंसा करते क्या लाज नहीं आ रही है तुझे? महिमा-गान करनेसे पहले इतना तो समझ लेता कि किसकी महिमाका गान है यह, तेरी या इस चमड़ेकी? चमड़ेकी महिमासे महिमावन्त कैसे कहला सकेगा तू? इससे तो कुछ शिक्षा ले। यह आज लज्जित करने आया है तुझे अपने चमत्कार दिखाकर, कि देख योगी तेरे योगको मैं फीका किये देता हूं। देख मेरी महिमा। क्या है तेरे पास जो इसके सामने रखे? बता तो सही क्या उत्तर देगा कि क्या है तेरे पास? बस पड़ गया सोचमें? अरे विश्वके अधिपति! अपनी महिमाको भूलकर इसकी महिमाके चमत्कार दिखाने लगा? फिर कैसे जानें कि तेरे पास क्या है? इधर देख, तेरे पास वह कुछ है जिसके सामने इन वेचारी तुच्छ शक्तियों व ऋद्धियोंकी तो बात नहीं, तीर्थकरपद भी तुच्छ है। देख उस शान्तिकी ओर जिसमें पड़ी है अतीव तृप्ति, सन्तोप व साम्यता, जिसके वेदनके सामने अन्य सब कुछ तुच्छ है। इस शान्तिका अधिपति होकर अब इन तुच्छ शक्तियोंकी महिमाका बखान छोड़। इस शान्तिपर गर्व कर, जितना चाहे कर।

(८) "मैं बड़ा ज्ञानी हूं, बड़े-बड़े तार्किकोंको शास्त्रार्थमें परास्त कर दूं। मेरे तर्कोंका उत्तर देनेमे कौन समर्थ है ? बड़े-बड़े शास्त्र मेरे हृदयमें रखे हैं, जो बात कहो निकाल दूं। अमुक आचार्यने अमुक शास्त्रमें अमुक बात अमुक पृष्ठपर लिखी है, देखलो खोलकर। बड़े-बड़े पण्डित मेरा लोहा मानते हैं। दो दो घन्टे धारावाही बोल सकता हूं। तर्क, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धान्त, अध्यात्म और सर्वोपरि करणानुयोगकी सूक्ष्म-कथनी मेरेलिए बच्चोंका खेल है।" किस ज्ञानपर अभिमान करता है चेतन ! अपने अतुलज्ञान-प्रकाशको देख जिसमें तीन-लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासते हैं। इन मात्र दो चार शब्दोंके तुच्छ ज्ञानका क्या मूल्य है तेरे अतुल प्रकाशके सामने ? यदि शान्तिके प्रति बहुमान जागृत न हुआ तो यह शास्त्र-ज्ञान काम भी क्या आयेगा ? केवल गधेपर पुस्तकोंके भार जैसा है। यह तो देख कि इन शब्दोंको याद करनेके-लिये तुझे कितना परिश्रम करना पड़ रहा है ? हर समयकी चिन्ता, कहीं भूल गया तो सर्व विद्वत्ता मिट्टीमें मिल जायेगी। उस शाश्वत् चैतन्य-विलासको क्यों नहीं देखता, जिसमें सहज ही सर्व विश्व समाया हुआ है, जिसे याद रखने को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, शान्तिमें रमणताके अतिरिक्त जहां कुछ नहीं। उस अपने स्वाभाविक ज्ञानकी महिमा करे तो त्रिलोकाधिपति बन जाय। इसलिये प्रभो ! अब विवेक धारकर इस शाब्दिक ज्ञानकी महिमाको छोड़।

३. लोकेषणा-दमन— मेरे मुखसे निकले हुए इन दो चार शब्दोंको सुन कर, मेरे गुरुदेवका साक्षात्कार न होनेके कारण कुछ भ्रमवश, यह जो 'वाह वाह, कितना सुन्दर उपदेश दिया है। आजतक ऐसा नहीं सुना था' इस प्रकारके वाक्य आप अपने उद्‌गारों व भक्ति आदिके आवेशमें कह रहे हैं, उनको सुनकर आज मेरे हृदयमें क्या तूफान उठ रहा है ? मानो मुझे उड़ा ले जानेका प्रयत्न कर रहा है, कहीं मेरी शान्तिसे दूर। नहीं नहीं भगवन् ! मैं एक क्षणको भी इसका विरह सहन नहीं कर सकता। रक्षा कीजिये प्रभु ! रक्षा कीजिये, इस महा भयानक लोकेषणा राक्षसीसे मेरी रक्षा कीजिये, इस ख्यातिकी चाहसे मुझे बचाइये। मुझ पामर तुच्छ बुद्धिमें क्या शक्ति है कि एक शब्द भी कह सकूं। तुतलाकर बोलना भी जिसने अभी सीखा नहीं है, वह अभिमान करे प्रवचन करनेका ? धिक्कार है मुझे जो आपके प्रवचनको, आपकी मिष्ट वाणीको अपनी बताऊं। यह चोरी मुझसे न हो सकेगी भगवन् ! मैं श्रोता हूं वक्ता नहीं।

इन दो-चार पच्चीस-पचास व्यक्तियोंके मुखसे निकले इन दो-चार शब्दोंसे ही गद्‌गद् हुआ जा रहा है तू। क्या विचारा है कभी तूने कि क्या रस

आया इनमें-से ? इन शब्दोंमें है क्या ? यदि सत्य होते तो भी भले कुछ मान लेता, पर इनमें तो सत्यता भी भासती नहीं। फिर भी झूठा अहंकार क्यों ? कभी विचारा है तूने, कि इस लोकका तू कितनेवां भाग है ? जहां अनन्तानन्त जीव बसते हों, वहां तेरी कौन गिनती ? जगतका एक छोटासा कीट, और इसके अतिरिक्त मूल्य ही क्या है तेरा ? बीस-पच्चीस व्यक्ति जान गये और मान बैठा कि सर्व लोकमें ख्याति फैल गई है मेरी। तुच्छबुद्धि जो ठहरा, कूपमण्डक जो ठहरा। जरा विश्वमें दृष्टि पसारकर तो देख कि कौन जानता है तुझे ? दूरकी तो बात नहीं, ये तेरे प्रदेशोंमें स्थित जो अनेकों कीटाणु भरे पड़े हैं, इन्हींसे जाकर पूछ कि क्या वे जानते हैं तुझे ? उन बेचारोंको भी छोड़, स्वय अपनेसे तो पूछकर देख कि क्या तू भी जातना है स्वयंको ? जानता होता तो यह अभिमान न होता, इन शब्दोंकी महिमा न गिनता, अपने अन्तरङ्ग चैतन्य-विलासपर ही गर्व करता। यदि बाह्यकी ही कुछ बातोंके कारण अपने-को ऊंचा और दूसरेको नीचा समझना है तो एक बार अपने और दूसरेके जीवनको जिस प्रकार मैं कहता हूं उस प्रकार देख। जीवनमें बीत गई भूत-कालीन अनेक भवोंकी अवस्थायें, वर्तमानकी एक अवस्था तथा भविष्यत्‌में होनेवाली अनेक भवोंकी अवस्थायें। आपका पूर्ण जीवन इन अवस्थाओंसे भरा पड़ा है और उस दूसरेका जीवन भी। दोनोंके जीवनोंकी पूर्ण अवस्थाओं को डोरमें पिरोकर पृथक-पृथक दो मालायें तैयार कर, इन दोनों मालाओंको अपने सामने खूंटीपर टांगकर देख कि कौनसी बड़ी है और कौनसी छोटी, कौन सी अच्छी है और कौनसी बुरी ? बड़ी-छोटी तो नहीं क्योंकि दोनोंकी अवस्थायें बराबर हैं। अच्छी बुरी भी नहीं, क्योंकि दोनों ही हारोंमें सुन्दर-असुन्दर अच्छी-बुरी, पापात्मक-पुण्यात्मक अवस्थायें भरी पड़ी हैं, भले आगे-पीछे पड़ी हों। आगे-पीछे हो जाने मात्रसे तो हार अच्छे और बुरे कहे नहीं जा सकते। फिर किसप्रकार अपनेको ऊंचा और दूसरेको नीचा मानता है ?

और इसप्रकार वह योगी अनेक विचारोंके प्रवाहमें बहा देता है इस दुष्ट अभीमानको। उतने उत्कृष्ट रूपमें न सही, परन्तु क्या थोड़े बहुत रूपमें भी तू अपने जीवनमें यह बात नहीं उतार सकता ? इस राक्षससे अपनी रक्षाके-लिए, मेरेलिए नहीं।

३३
उत्तम-आर्जव

१. सामान्य परिचय—हे सरल-स्वभावी भगवान् आत्मा ! धन, शरीर व भोगादिमें इष्टानिष्ट बुद्धिके कारण अनेकों खोटे अभिप्राय घर-घरके मैं सदा तेरा अनिष्ट करता चला आया हूं। मुझे क्षमा कर दीजिये भगवन् ! अबतक मैं अज्ञानी था, हिताहितसे बिल्कुल अनभिज्ञ। आज उत्तम-आर्जव-धर्मयुक्त परमवीतरागी गुरुवरसे आर्जव-धर्मका उपदेश सुनकर मेरी आंखें खुल गई हैं। आर्जव-धर्म का प्रकरण है। 'ऋजुभावं आर्जवं' ऋजु अर्थात् सीधा, सरल। आर्जव कहिये सरल भाव, वक्रता रहित, मायाचार रहित परणति। जैसा अन्तरंग अर्थात् मनमें करनेका अभिप्राय हो वैसा ही बाहरमें भी करना अर्थात् वचन व कायसे भी वैसा ही कहना या करना। अन्तरंग व बाह्य क्रियामें अन्तर न होनेका नाम ही है सरलता तथा अन्तरंग अभिप्रायमें कुछ और रखते हुए बाहरमें कुछ और ढंगसे बोलना या करना है वक्रता। व्यक्तिका व्यक्तित्व वास्तवमें वह नहीं है जो कि वह दूसरोंको दिखानेका प्रयत्न करता है प्रत्युत वह है जो कि वह स्वयं जानता है। अनेकविध लोक-दिखावी प्रवृत्तियोंके द्वारा अपनेको उससे अधिक दिखानेका प्रयत्न दम्भाचरण कहलाता है, जो शान्ति-मार्गका सबसे बड़ा शत्रु है, इसलिये कि ऐसा करनेवालेकी दृष्टिमें सदा दूसरोंको प्रभावित करनेकी प्रधानता रहती है, जिसके कारण उसे अपने भीतर झांककर देखनेका अवसर ही नहीं मिलता। वह बड़ेसे बड़ा तप करता है, सभी धार्मिक क्रियायें करता है और सम्भवतः सत्य साधककी अपेक्षा अधिक करता है, परन्तु लोकदिखावा मात्र होनेके कारण उनका न अपने लिये कुछ मूल्य है और न किसी अन्यके-लिये।

'सत्यं ऋतं वृहत्'। सत्य तथा ऋत इन दो गुणोंसे युक्त व्यक्तित्व वृहत् होता है महान होता है। दोनों शब्द यद्यपि एकार्थवाची हैं परन्तु महान अन्तर

है इन दोनोंके रहस्यार्थमें। जैसी देखी-सुनी हो वैसी कह देना सत्य है और बालकवत् स्वार्थरहित सहज रूपसे कहना ऋत है। ऋतमें सत्य गर्भित है परन्तु सत्यमें ऋत नहीं। सरल चित्त बालकके द्वारा सहज रूपसे कहा गया वचन कभी असत्य नहीं हो सकता परन्तु आपके द्वारा बोले गए सत्य वचनके-लिये यह आवश्यक नहीं कि वह ऋत अर्थात् सरल भी हो। इसीप्रकार क्रिया भी। ऋजुभावसे की गई बालककी सब क्रियायें सत्य होती हैं परन्तु आपके द्वारा की गई सत्य क्रियाके-लिये यह आवश्यक नहीं कि वह ऋत अर्थात् सरल भी हो। स्वार्थ-पूर्तिके अर्थ भी अनेकों बार सत्य बोलनेमें आता है। गृहस्थ हो अथवा साधु दोनोंके ही वचनोंमें तथा क्रियाओंमें इस प्रकारकी विषमता होना सम्भव है। ऐसा प्रबल है इस कुटिल माया-रानीका प्रभाव।

२. गृहस्थकी कुटिलता—हर वचन या क्रियाकी परीक्षा अभिप्रायपर-से होती है। वचन, क्रिया व अभिप्रायमें अन्तर है तो वे संवररूप नहीं हो सकते, केवल आस्रवरूप होंगे, क्योंकि विकल्प-दमनका प्रयोजन उनपर-से सिद्ध नहीं होगा। अपने गृहस्थ-जीवनमें तो मैं रात-दिन इस प्रकारकी मायापूर्ण क्रियाओं का अनुभव करता ही हूं, परन्तु धार्मिक क्षेत्रमें भी मैं बहुत कुछ क्रियायें ऐसी करता हूं जो मायाके रङ्गमें रङ्गी होती हैं, केवल लोक-दिखावेके लिये होनेके कारण दम्भमात्र होती हैं।

१. किसी अपने साथीको कदाचित् मैं बड़े प्रेमपूर्वक सिनेमा दिखानेका निमन्त्रण देता हूं इस अभिप्रायसे कि यदि वह अधिक पढ़ता रहा तो कहीं ऐसा न हो कि परीक्षामें मुझसे अधिक नम्बर ले जाये। २. अपनी माताके साथ मेरे घरपर आये हुए किसी बालकको मैं सुन्दर-सुन्दर खिलौने व मिठाई लाकर देता हूं इस अभिप्रायसे कि इसकी माता यह विश्वास करले कि मुझे उसके व उसके बालकके साथ बड़ी सहानुभूति तथा प्रेम है। ३. अपने मालिककी दुकानपर मैं बड़े परिश्रमसे दिन-रात एक करके काम करता हूं इसलिये कि धीरे-धीरे इसकी दुकानसे नित्य प्रति जो चोरी करता हूं, वह प्रगट न हो जाये। ४. किसी व्यक्तिको बड़ी सहानुभूति-पूर्वक 'यह वस्तु तुम्हारे योग्य है इसलिये ले आया हूं' ऐसा कहता हुआ सुना जाता हूं, केवल इस अभिप्रायसे कि जिस-किस प्रकार यह इसे खरीद ले, पीछे इसके काम आये या न आये।

यह तो है लौकिक क्षेत्रमें मेरा दम्भाचार। लीजिये अब धार्मिक क्षेत्रमें भी देखिये। १. अन्तरंगमें शरीरको ही पोषण करनेका या भोगोंमें-से ही रस लेनेका अभिप्राय रखते हुए बराबर बाहरमें यह कहता रहता हूं कि 'शरीर मेरा नहीं है, मुझसे पृथक अन्य द्रव्य है, भोगोंमें सुख नहीं है, मुझे तो शान्ति

चाहिए'। २. खूब सुरतालसे तन्मयताके साथ भगवानकी पूजा करता हूं, इस अभिप्रायसे कि लोग मुझे धर्मात्मा समझें, मेरे पुत्रका नाता किसी बड़े घरमें हो जाय। ३. भगवानकी प्रतिमा स्थापन कराता हूं, मन्दिर बनवाता हूँ, इस अभिप्रायसे कि अधिक धन-लाभ हो। ४. खूब दान देता हूं, इस अभिप्रायसे कि लोकमें प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे धनिक समझें, कोई आशीर्वाद दे दे या भोग-भूमि में चला जाऊं। ५. सच बोलता हूँ इस लिये कि लोग मुझे सत्यवादी मानकर मेरा सम्मान करें। ६. अति नम्र भावसे किसीका सच्चा-सच्चा दोष कह देता हूँ, इसलिये कि उसके प्रति अपना द्वेष निकालनेका अवसर मिल जाय। इत्यादि अनेक प्रकारसे अभिप्रायकी कुटिलताके कारण अमृतमें विष घोलकर, अपने हाथों अपने पांवमें कुल्हाड़ी मारा करता हूं मैं, अपने हाथों अपने घरमें आग लगाया करता हूं मैं, अपने हाथों व्याकुलताके साधन जुटाया करता हूं मैं और मजेकी बात यह कि शान्त होना चाहता हूं, धर्म करना चाहता हूं।

३. साधुकी कुटिलता—गृहस्थ दशातक ही इस कुटिल-भावका बल चलता हो, सो नहीं। यथायोग्य रूपमें भूमिकानुसार उत्कृष्ट साधुकी वीतराग दशामें भी यह कुटिलता अपना ज़ोर चलाकर उसे डिगानेका प्रयत्न किया करती है। परन्तु वास्तवमें पद-पदपर सावधानी वर्तनेवाले, कुशल सारथीके रथमें बैठे, कुशल वैद्यके निरीक्षणमें रहनेवाले, उनपर भले वह क्षणिक प्रभाव डालनेमें समर्थ हो जाती हो, पर उन्हें उनके पदसे नहीं डिगा सकती। इस कुटिलतासे अपनी रक्षा करनेके-लिए ही किसी योग्य आचार्यकी अध्यक्षतामें रहकर साधु-जन सन्तुष्ट होते है, और वे आचार्य भी मातावत् उनकी रक्षा करते हैं, पद-पदपर उन्हें दोषोंके प्रति सावधान करते हुए उनके मार्गको निष्कण्टक बनाते है। तथापि प्रमादवश यदि कदाचित् कोई दोष बन जावे तो अत्यन्त करुणा पूर्वक एक कुशल वैद्यकी भांति यथोचित्त प्रायश्चित्तरूप औषधि देकर तुरत उसका शमन करते हैं (देखो आगे ३७.३.१)। फिर भी देखो इस अनृत मायाकी कुटिलता कि :—

१. ऐसे कल्याणकारी प्रायश्चित्तसे डरकर कदाचित् आचार्यसे अपनी दुर्बलता बताते हुए, अर्थात् 'कमज़ोर हूं, खाना नहीं पचता है, पीछे कई दिन तक ज्वर रह चुका है, इत्यादि' अनेक प्रकारकी बातें बनाकर, साधु अपना दोष गुरुके सामने प्रगट करता है,इस अभिप्रायसे कि किसी प्रकार प्रायश्चित्त न मिले और मिल तो कम मिले। २. 'मेरे दोष कोई जानने न पावे', इस अभि-प्रायसे गुरुसे प्रश्न करता है कि यदि ऐसा दोष किसीसे बन जावे तो उसका क्या प्रायश्चित्त है? ३. जो दोष दूसरोंपर प्रगट हो चुके हैं, उन्हें तो गुरुसे कह

देता है परन्तु अन्तरङ्गके अन्य दोषोंको नहीं, इस अभिप्रायसे कि ये दोष तो सब जान ही गये हैं, कहकर अपनी बड़ाई ही करले। ४. और कभी-कभी सकल दोषोंको ज्योंका त्यों कह देता है, उनके-द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त भी हर्षसे स्वीकार कर लेता है, उसका पालन भी ठीक रीतिसे करता है, परन्तु इस अभिप्रायसे कि संघपर मेरी सरलताकी छाप पड़ जाये। ५. नमकका त्याग कर देता है, इस अभिप्रायसे कि खूब खीर, मिठाई व हलवापूड़ी खानेको मिले। ६. अन्नका त्याग कर देता है, इस अभिप्रायसे कि खूब मेवा व फल खानेको मिले।

४. आत्म-सम्बोधन—इसप्रकार अनेक कुटिल अभिप्रायोंको रखकर ऊंची भूमिकामें भी कदाचित् कुछ क्रियायें हो जाती हैं। उससमय वे परम योगेश्वर विचार करते हैं कि "भो चेतन! तेरा स्वरूप तो शान्ति है। दूसरेके-लिए इसका विनाश क्यों करता है? शरीरकी रक्षाके-लिये शान्तिको क्यों कुएँमें धकेलता है? गुरुदेव तो करुणा-बुद्धिसे तेरा दोष निवारण करनेके-लिये तुझे यह प्रायश्चित्त दे रहे हैं, द्वेषवश नहीं। इसमें तो तुझे इष्टता होनी चाहिये न कि अनिष्टता, इसके ग्रहणमें तो उल्लास होना चाहिये न कि भय। प्रायश्चित्त-दाता गुरुवरके प्रति तो तुझे बहुमान होना चाहिये कि निःस्वार्थ ही केवल करुणा-बुद्धिसे प्रायश्चित्तरूप औषधि प्रदान करके वे तेरे ऊपर महान अनुग्रह कर रहे हैं। क्यों दोषोंको छिपानेका प्रयत्न करता है? इससे तो तेरी ही हानि है। ये दोष एकदिन संस्कार बन बठेंगे, जिन संस्कारोंका कि विच्छेद तू बराबर करता चला आ रहा है। सब किया कराया चौपट हो जायेगा।"

और "यदि कोई तेरे दोष जान ही गया तो कौन बुरा हुआ? वह तुझे क्या बाधा पहुँचा सकेगा? थोड़ी निन्दा ही तो करेगा? तब तो अच्छा ही होगा, संस्कारोंकी शक्ति और क्षीण हो जायेगी। और तुझे चाहिये ही क्या? तेरा मनचाहा तुझे देता है, उससे भय खानेकी क्या बात? वह तो तेरा हितैषी ही है। फिर अनहुए दोष तो नहीं कहता, झूट तो नहीं बोलता, तूने जो दोष बताये हैं, वही तो कहता है। इसमें कौन बुराई है? वह तो उन दोषोंको पुनः पुनः दोहराकर तुझे सावधान करनेका प्रयत्न कर रहा है कि तुझसे ऐसा दोष बना था, अब न बनने पावे। बता क्या बुराई हुई? महान उपकार किया। इस उपकारसे भय खाना ठीक नहीं, जो कहना है स्पष्ट कह डाल, निर्भय होकर कह, छिपा मत"। इस प्रकार विचार करता हुआ वह अपने मनको सम्बोधता है।

"अरे ! आत्मख्याति-स्वरूप-भगवन् ! इस बाहरकी ख्यातिपर क्या जाता है ? दो दिनमें विनश जायेगी । छोड़ जायेगा यह शरीर तो कौन सुनेगा इसे ? दो दिनके-लिये क्या रीझता है इसपर ? और फिर तेरी ख्याति तो शान्तिमें रस लेनेसे है न कि इन शब्दोंमें ? भव-भवमें ख्याति देनेवाली, तीन-लोकमें ख्याति फैलानेवाली, अपनी सहज ख्यातिकी अवहेलना मत कर । इस बाह्य ख्यातिके कारण एक दोषपर दूसरा दोष मत लगा, सदासे दोषोंका पुञ्ज बना आ रहा है, अब इनमें और वृद्धि मत कर । निज-शान्तिकी ओर देख, उसकी महिमाका गान कर । तनिकसी इस ख्यातिकी भावनाके-लिये प्रायश्चित्तसे मत घबरा, यह तेरी शान्तिकी रक्षा करेगा ।"

"अरे अलौकिक स्वादके रसिक भगवन् ! भगवान् होकर भी इन रङ्क जीवोंसे मिठाई, फल, मेवा, खीर आदिकी भिक्षा मांगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? जिह्वा इन्द्रियको काबूमें करनेके प्रयोजनसे त्याग किया जाता है न कि उसे पुष्ट करनेके-लिये ? अपने इस कुटिल अभिप्रायसे डर । चार आनेका अन्न छोड़कर दस रुपयेका भोजन करे और साधु बनना चाहे, शान्तिका उपासक बनना चाहे, यह कैसे सम्भव है ? यदि अन्तरङ्ग स्वादका बहुमान है तो क्यों इस धूलमें स्वाद खोजता हुआ अपनेको ठग रहा है? यह देख उस ओर, परदेकी ओटमें कौन खड़ी मुस्करा रही है, मानो तेरी खिल्ली उड़ा रही है, "चला है साधु बनने, मुझे जीतने, पता नहीं मेरा नाम माया है, जिसने सब जग खाया है ? अरे ! तुझ बेचारेमें कहां सामर्थ्य कि मेरी ओर आंख उठाकर भी देख सके ? रङ्क कहींका ।" प्रशंसाके शब्द सुनाई देते हैं, पर इन शब्दोंको नहीं सुनता । भूल गया अपने पराक्रमको ? उठ, जाग, गरजना कर, 'मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नहीं' फिर देख कहां जाती है यह कुटिला माया, और कहां जाती है इसकी हंसी ।

इस प्रकारके अनेकों विचारों-द्वारा अन्तरङ्गके उस सूक्ष्म अभिप्रायको काट फेंकता है वह योगी; तथा परमधाम, शान्ति-धामको प्राप्त कर, बन जाता है वही जिस लक्ष्यको लेकर कि चला था वह । उत्कृष्ट रूपसे न सही पर क्या आँशिक रूपसे भी मैं अपने लौकिक व धार्मिक जीवनमें आनेवाली इस माया को, इन विचारोंके द्वारा क्षति नहीं पहुँचा सकता ? इसमें मेरा ही तो हित है, गुरुदेवका तो नहीं ? यह है कुछ पुरुपार्थ, कुछ भावनाएं जिनसे कि आर्जव-धर्म की रक्षा की जा सकती है, माया परणतिसे बचा जा सकता है । इसी विषयका कुछ विस्तार आगे 'उत्तम-सत्य' के अन्तर्गत भी किया जानेवाला है ।

३४
उत्तम-शौच



१. सच्चा शौच— साम्यरस-पूर्ण पावन गङ्गामें स्नान करके परम पावनता को प्राप्त हे परम पावन गुरुदेव ! मुझे भी पावनता प्रदान कीजिये। आजतक पावन अपावनके विवेकसे हीन मैं अज्ञानवश भोग-सामग्रीरूप मलमें हाथ डाल डालकर बालकवत् इसको चाटता रहा, इसमें-से स्वाद लेता रहा, इस ही में अपना हित व कल्याण खोजता रहा। आज आपकी शरणमें आ जानेपर भी, अपने वास्तविक स्वा.का भान हो जानेपर भी, अपने अशुचि हाथ व मुंह धोकर यदि शुचिता उत्पन्न न करूं, आपके जीवनमें प्रवाहित इस साम्यरस-गङ्गामें स्नान करके पवित्र न बनूं, तो कब बनूंगा ? सदा ही विष्टाका कीड़ा बना रहूँगा। उत्तम-शौच धर्मका प्रकरण है।

'शरीर व इन्द्रियभोग सम्बन्धी धनादि जड़पदार्थ, पुत्र मित्रादि चेतनपदार्थ तथा अन्य सर्व पदार्थोंको, यहांतक कि परमाणु मात्रको भी मैं अपने काममें ले आऊं, उसमें-से स्वाद ले लूं, उसे बुलालूं, उसे भेज दूं, उसे मिलालूं, सम्बन्ध-विच्छेद कर दूं, बनादूं या बिगाड़ दूं' इस प्रकारकी अहङ्कार-बुद्धि अशुचि है, अपवित्र है। 'सर्व पदार्थ मेरे इष्ट हैं कि अनिष्ट हैं, मेरेलिए उपयोगी हैं कि अनुपयोगी हैं, मेरेलिए हितरूप हैं कि अहितरूप हैं' इस प्रकारके रागद्वेषात्मक द्वन्द्व ही वह अशुचि है जिसको धोनेकी सुध आजतक प्राप्त नहीं हुई। निज महिमाकी अवहेलना करता हुआ सदा उनकी महिमा गाता आया। महा-अशुचि बना हुआ चलते-चलते, भटकते-भटकते न जाने किस सौभाग्यसे आज इस साम्यरस-गङ्गाका पवित्र तीर मिला ? भगवन् ! एक डुबकी लगानेकी आज्ञा दीजिये।

ऐसी डुबकी कि फिर बाहर निकलनेकी आवश्यकता न पड़े, उस नमककी डलीकी भांति कि जिसे सागरकी थाह लानेके-लिये डोरेसे बांधकर

लटकाया गया हो; और कुछ देर पश्चात् डोरा खींचकर उससे पूछे कि कितना गहरा हे यह सागर, तो वहां कौन होगा जो इस बातका उत्तर देगा ? डोरा तो खाली पड़ा है, नमककी डली घुल चुकी है उसी समुद्रकी थाहमें । लेने गई थी उस सागरकी थाह और घुल गई उसके साथ । उसीप्रकार निज महिमाके प्रति बहुमान पूर्वक अन्तरंगमें उछलते उस शान्त-महासागरमें एक बार डुबकी लगाकर लेने जाये उसकी थाह, तो कौन होगा वह जो बाहर आकर तुझे बताये कि यह शान्ति इतनी महिमावन्त है ? स्वयं ही लय हो जायेगा उसमें । साम्यता, सरलता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, शान्ति, सौन्दर्य व आन्तरिक महिमा, सब उसी गङ्गाके, उसी महा सागरके विभिन्न नाम हैं । इसमें स्नान करनेसे वास्तविक पवित्रता आती है, वह पवित्रता जो अक्षय है, ध्रुव है ।

आन्तरिक मैलको धोना वास्तविक पवित्रता है, तेरी निजकी पवित्रता है । शरीरकी पवित्रता तेरी पवित्रता नहीं, वह झूठी है । इसको धोनेसे, मल-मलकर स्नान करनेसे, तेरा शौच नहीं । स्वयं उसका भी शौच नहीं, तेरा तो कहांसे हो । अथाह सागरके जलसे धोकर भी क्या पवित्र किया जाना सम्भव है इसे ? हरिद्वारमें बहनेवाली पवित्र गङ्गाकी धारमें इसे महीनोंतक डुबाये रखनेसे भी क्या इसका पवित्र होना सम्भव है ? विष्टासे भरा घड़ा क्या ऊपरसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ? बढ़िया साबुन मलिये, पर क्या इसमें शुचिता आनी असम्भव है ? यदि गङ्गा-जलमें स्नान करने अथवा साबुन रगड़ने मात्रसे इसकी पवित्रता स्वीकार करते हो तो जरा इतना तो बताओ कि जब स्नान करनेके पश्चात् यह पवित्र हो चुके, तब यदि मैं एक लोटा गंगा-जलका डाल दूं इसपर और उस जलको थालमें रोक लूं, तो क्या उस जलको आप पीनेके-लिये तैयार हो जायेंगे, और इसीप्रकार उस पवित्र शरीरपर दुबारा लगाये गये साबुनके झाग क्या अपने शरीर पर पोतनेको तैयार हो जायेंगे ? नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हो कि गंगामें स्नान करनेसे मैं पवित्र हो गया, मेरा शरीर पवित्र हो गया ?

<u>२. गंगा-तीर्थ</u>—गङ्गा-स्नानसे शुचिता-प्राप्ति होती है तब जबकि हृदयमें धारण किया जाय उसके तटपर तपस्या करनेवाले ऋषियों तथा परम ऋषियों की उस चरण-रजको, जोकि सदासे घुलती चली आ रही है इसके जलमें । इसके स्नानका फल प्राप्त होता है तब जबकि ध्यान किया जाय उनके हृदयमें स्थित उस महा समता-सागरका, जिसमेंसे उद्भव हुआ है इसका । इसके जलमें स्नान करनेका महत्व है तब जबकि स्मरण किया जाय उन महर्षि भगीरथके पावन हृदयका जिन्होंने लोक कल्याणार्थ आव्हानन किया है इसका । इससे

मल-शोधन होता है तब जबकि चिन्तवन किया जाय श्मशानवासी उस परम वीतराग भगवान् शिवका (ऋषभदेवका) जिसने अपने शीशपर धारण किया था इसे। ऐसा करे तो पवित्रता प्राप्त हो जाय तुझे, वह पवित्रता जो अन्तरंग मलको, रागद्वेषात्मक कषायोंको तथा लोभको धो डाले और जिसके कारण बाहरका यह शरीर भी पवित्र हो जाय, इतना पवित्र कि तब इसपर डाला हुआ जल पी जाना आप अपना सौभाग्य समझने लगें, उसे मस्तकपर चढ़ाकर अपने को आप धन्य मानने लगें। इससे पवित्रता मिलती है तब जबकि ध्यान किया जाय उस महातीर्थका जहाँसे कि निकलकर चली आ रही है यह, जिसके कारण कि माना जा रहा है इसे पवित्र महातीर्थ।

इसका जल सड़ता नहीं इसलिये पवित्र नहीं है यह बल्कि इसलिये पवित्र है यह कि उस स्थानसे चली आ रही है जहां कि इस युगके आदिब्रह्मा ऋषभदेवने स्वयं यथार्थ शौच या आन्तरिक स्नान किया था अर्थात् जहां बैठकर तपश्चरण-द्वारा उस महायोगीने अन्तरके रागद्वेष-प्रवर्धक लोभका संहार किया था। हिमालयकी ऊंची-ऊंची चोटियोंसे गिरती, पत्थरोंसे टकराती, कल-कल नाद करती, अनेकों छोटे-बड़े नालोमें-से प्रवाहित होती, हरिद्वारमें यह एक धार बन जाती है। यह मुझे उस परम पावन योगेश्वरके शुचि जीवनकी याद दिलाती है, जिसने कैलाशपर सारा आन्तरिक मल धोकर इसी गंगामें बहा दिया था और इसप्रकार अपने जीवनमें पूर्ण शान्ति उत्पन्न करके आदर्शभूत शान्ति-गंगाका जीवनमें अवतरण किया था। यदि उस पवित्र जीवनकी याद करके मैं भी अन्तर्मल-शोधनके प्रति प्रवृत्ति करूं और अन्तरंग अशुचिको उस महान योगीवत् धो डालूं, तभी कहलाया जा सकता है गंगा-तीर्थका यथार्थ स्नान। शरीर-मात्रको धोनेसे पापोंका शमन होना सम्भव नहीं, अन्तरंग उपयोगको शान्ति-स्रोतमें डुबा देनेसे पापके बाप लोभका शमन होता है।

इस प्रकारका उत्तम स्नान करते हैं वे परम दिगम्बर वीतराग योगेश्वर जिनकी कि यह बात चलती है। इस उत्तम-शौचसे उनका अन्तर्मल धुल जानेके कारण उनका शरीर पवित्र हो गया है, इतना पवित्र कि उसके स्नानका जल मेरेलिये चरणामृत है जिसका पीना या मस्तकपर चढ़ाना मैं अपना सौभाग्य समझता हूं। बाहरमें अत्यन्त मलिन, वर्षोंसे स्नान रहित तथा दन्तमज्जन रहित इस शरीरमें भी इतनी शुचिता आ जाती है इस उत्तम-स्नानसे अर्थात् लोभ-शोधनसे।

३. लोभ पापका बाप—यहां सर्व कषायोंमें लोभ ही प्रधान बताया जा रहा है, लोकमें भी लोभको पापका बाप बताया जाता है और यह कहना सत्य भी है; क्योंकि देखिये तो इस लोभका प्राबल्य जिसके कारण कि ब्राह्मण-पुत्रने सब विवेकको तिलाञ्जली दे दी, कुल मर्यादा छोड़ दी, वेश्याके हाथसे रोटीका टुकड़ा मुंहमें लेकर खा गया और साथमें कुछ तमाचे भी। इसप्रकार समझ गया वह उपरोक्त लोकोक्तिकी सत्यता। तुझको वैसा भी करनेकी आवश्यकता नहीं, अपने जीवनको पढ़ना मात्र ही पर्याप्त है। बता तो सही चेतन! कि इस सुबहसे शाम तककी भागदौड़, कलकलाहट, बेचैनी व चिन्ता का मूल क्या है? यदि धनके प्रति लोभ न होता, यदि आवश्यकतायें अधिक न होतीं, यदि सन्तोष पाया होता, धन-सञ्चयका परिमाण कर लिया होता तो क्या आवश्यकता थी इतनी कलकलाहटकी व भाग-दौड़की और क्या आवश्यकता थी चिन्तित होनेकी? यह लोभके आश्रित रहनेवाली कोई लालसा या कामना ही तो है जोकि इस निस्सार धनकी ओर तुझको इस बुरी तरह खींचे लिये जा रही है कि तुझे स्वयंको पता नहीं कि कितना कमा चुका है, कितना कमाना है, कब तक कमाना है और कितना साथ ले जाना है? इस लालसाके आधीन होकर जितना कुछ आजतक सञ्चय किया है, क्या कभी उस सर्वपर एक दृष्टि डालकर देखने तकका भी अवकाश मिला है तुझे? अरे! इतनी कलकलमें रहते हुए, अपने परिश्रमका फल, वह जो कि तुझको अत्यन्त प्रिय है, देखने तककी सुध नहीं, भोगनेकी तो बात क्या?

मुहम्मद गज़नवीकी बात तो याद होगी। सात बार सोमनाथपर आक्रमण किया, सारा जीवन लूटमारमें खोया, हाय सम्पदा हाय धनके अतिरिक्त कुछ न सूझा, खूब धन इकट्ठा किया, परन्तु क्या उस दिनको टाल सका जो हम सबको ढिंढोरा पीट-पीटकर सावधान किया करता है कि भाई! मैं आ रहा हूं, कुछ तैयारी कर लेना चलनेकी, कुछ बान्ध लेना मार्गके-लिये, सम्भवतः आगे चलकर भूख लग जाय। परन्तु इस लालसाकी हाय-हायमें कौन सुने उसकी पुकार? उसके आनेपर रोना और झींकना, अनुनय-विनय करना, 'भाई! दो दिनकी मोहलत दे दो किसीप्रकार, कुछ थोड़ा बहुत बना लूं, अबतक तो बिल्कुल खाली-हाथ बैठा था, खा मरना पड़ेगा आगे जाकर, दया करो'। उस समय आती है बुद्धि कि क्या किया है आजतक और क्या करना चाहिये था। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियां चुग गई खेत, वह दिन तो मोहलत देना जानता ही नहीं। अन्तिम समय गज़नवी बिस्तरपर अन्तिम श्वास ले रहा है, सारा जीवन मानो बड़ी तेजीसे घूम रहा है उसके

हृदय-पटपर, बेहाल व बेचैन। कौन है इस सारे विश्वमें जिसको सहायताके लिए पुकारे अब वह ?

धनके अतिरिक्त और है ही क्या यहां ? लाओ सारा धन मेरी आँखोंके सामने ढेर लगा दो, आज मैं रोना चाहता हूं, जी भरकर, अपनेलिये नहीं दूसरोंके-लिये कि अरी भूली दुनिया ! देखले मेरी हालत और कुछ पाठ ग्रहण कर इससे, मुट्ठी बांधकर आया था, खाली हाथ जा रहा हूं। इस दिन पर विश्वास नहीं आता था, सुना करता था पर हंस देता था। मैंने तो भूल की पर आप अपनी भूलको सुधारलें, इस दुष्ट लोभसे अपना पीछा छुड़ायें और जीवनमें ही कुछ पवित्र व्यञ्जन बनाकर तैयार करलें ताकि रोना न पड़े तुम्हें भी आगे जाकर, मेरी भांति।

देखिये इस लोभकी सामर्थ्य कि जिसके आधीन हो मैं न्याय-अन्यायसे नहीं डरता, बड़ेसे बड़ा अनर्थ करता भी नहीं हिचकिचाता, इतना ही नहीं अन्याय करके उसे न्याय सिद्ध करनेका प्रयत्न करता हूँ, 'अजी मैं तो गृहस्थ हूं, झूठ बोले बिना या सरकारी टैक्स मारे बिना, या ब्लैक किये बिना, या अधिकारसे अधिक काम किये बिना कैसे चल सकता है मेरा काम, मैं कोई साधु थोड़े ही हूँ ? आप तो बहुत ऊंची बातें करते हैं, भला इस कालमें ऐसी बातें कैसे चल सकती हैं ? न्यायपर बैठे रहें तो भूखे मरें' इत्यादि अनेकों बातें। परन्तु प्रभो ! करता रह अन्याय, कोई रोकता नहीं तुझे, तेरी मर्जी जो चाहे कर, गुरुवर तो केवल तुझे उस दिनकी याद दिला रहे हैं। इस जीवनके-लिए इतना किये बिना नहीं सरता, उस जीवनकी ओर भी तो देख, वह भी तो तेरा ही जीवन है किसी औरका नहीं, उसके-लिए बिना किये कैसे चलेगा ? 'न्यायपर बैठे रहनेसे भूखा मरना पड़ेगा' यह तो केवल उस लालसाकी कमर थपथपाना है। क्या सन्तोषी जीवित नहीं रहते ? इतनी बात अवश्य है कि सन्तोष आनेपर लालसाके प्राण समाप्त हो जाते हैं और तू लालसाको जीवित देखना चाहता है। तेरे भूखा मरनेका प्रश्न नहीं है, हां लालसाके भूखा मरनेका प्रश्न अवश्य है। परम वीतरागियों जैसी शुचिता न सही कुछ शुचिता तो धारण कर ही सकता है, कुछ तो इस लोभको या लालसाको दबानेका प्रयत्न कर ही सकता है, ब्लैक मार्केटसे तथा घूसखोरीसे हाथ खेंच, आवश्यकतासे अधिक पदार्थ-सञ्चय मत कर।

देखिये इस लोभका पराक्रम कि जिसकी पूर्तिके-लिये अनेकों प्रकारके छल-कपट आदिकी प्रवृत्तिरूप मायाको पोषण मिलता है, जिसकी किंचित् पूर्ति हो जानेपर मानको पोषण मिलता है तथा जिसकी पूर्तिमें किंचित् बाधा

आ जानेपर क्रोधको पोषण मिलता है। शेष तीनों कषायोंको बल देनेवाला यही तो है। यदि यह दुष्ट न हो तो न है आवश्यकता मायाचारीकी, न रहता है अवकाश मान व क्रोधको। क्रोध कषाय तो स्थूल है, बाहरमें प्रत्यक्ष हो जाती है, परन्तु लोभ छिपा-छिपा अन्तरंगमें काम करता रहता है और शेष तीनोंकी डोर हिलाता रहता है। इसके जीवनपर ही सर्व कषायोंका जीवन है और इसकी मृत्युपर सर्व कषायोंकी मृत्यु। यद्यपि सर्व कषायोंका तथा सर्व दोषोंका ही शोधन करना शौच है परन्तु सबका स्वामी होनेके कारण एक इसके शोधनको ही शौच कहा जा रहा है। हाथीके पांवमें सबका पाँव।

यह तो हुई गृहस्थ दशामें धन सम्बन्धी स्थूल लोभ-शोधनकी प्रेरणा। अब चलती है धार्मिक क्षेत्रमें प्रगट होनेवाली, पहले भी अनेकों बार दृष्टिमें लाई गई लोकेषणा सम्बन्धी अर्थात् ख्याति सम्बन्धी सूक्ष्म-लोभ-शोधनकी बात, जो सम्भवतः धन सम्बन्धी लोभसे भी अधिक भयानक है। जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त सर्व भूमिकाओंमें स्थित शान्तिके उपासक धर्मी जीवोंको पद-पदपर इसके प्रति सावधानी वर्तनेकी अधिकाधिक आवश्यकता है, क्योंकि जबतक इसका किंचित् भी संस्कार बीजरूपसे अन्तरंगमें पड़ा है, यह दुष्ट अंकुरित हुए बिना नहीं रहता। सन्यासीकी ऊंचीसे ऊंची दशामें भी इसमें अंकुर फूट ही पड़ता है। तनिकसी असावधानी वर्तनेपर, दीवारपर लगे हुए पीपलके अंकुरवत् यह कुछ ही समयमें एक मोटा वृक्ष बन जाता है जो सारे मकानको खिला देता है और बिना सम्पूर्ण मकान गिराये उसका निर्मूलन असम्भव हो जाता है। अर्थात् संवर-प्रकरणमें बताये गये तथा जीवनमें उतारे गये सारे किये करायेपर पानी फेर देता है?

आन्तरिक ख्यातिकी महिमा जागृत करके, धन सम्बन्धी व ख्याति सम्बन्धी लोभका दमन करनेवाला वह महापराक्रमी योगी ही उत्तम-शौच करता है, उत्तम-स्नान करता है, शान्ति-गङ्गामें स्नान करता है, उसके साथ तन्मय हो जाता है, ऐसाकि फिर वह शान्ति भंग न होने पावे, पवित्र हो जाता है इतना कि फिर उसमें अपवित्रता आने न पावे। उसके जीवनको अपना आदर्श बनाकर चलनेवाले भो पथिक ! तू भी इस पारमार्थिक गंगामें यथाशक्ति स्नान करके किञ्चित शुचिता, निर्लोभता, निःस्वार्थता या निष्कामता उत्पन्न कर।

●

३५

उत्तम-सत्य



१· सत्यासत्य विवेक—पर-पदार्थोंके प्रति अहङ्कार-बुद्धिरूप असत्य संस्कारों के विजेता हे सत्य-स्वरूप प्रभु ! मुझको भी सत्य-जीवन प्रदान करें। आज उत्तम-सत्य-धर्मकी बात चलती है। सत्य किसे कहते हैं और असत्य किसे, इस बातका निर्णय किये बिना 'जैसा देखा-सुना गया हो, वैसाका वैसा कह देना' लोकमें सत्य कहा जाता है। परन्तु यहां उत्तम-सत्यकी बात है साधारण सत्यकी नहीं। जैसा कि उत्तम आर्जव-धर्ममें बताया गया है, वचनका सत्य होना ही पर्याप्त नहीं है, सत्य होनेके साथ-साथ उसका ऋत अर्थात् ऋजु या सरल होना भी अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वोक्त सभी अधिकारोंकी भांति यहां भी अभिप्रायकी मुख्यता है। सत्य असत्यका निर्णय अभिप्रायपर-से किया जा सकता है। स्व-पर-हितका अभिप्राय रखकर की जानेवाली मन, वचन, कायकी क्रिया सत्य है और स्व-पर-अहितकारी अभिप्राय रखकर या हिताहितका विवेक किये बिना की जानेवाली क्रिया असत्य है।

वचनमें ही सत्य या असत्य लागू होता हो, ऐसा नहीं है। मानसिक विकल्पोंमें, वचनोंमें तथा शारीरिक क्रियाओंमें इन तीनोमें ही सत्य व असत्यका विवेक ज्ञानीजन रखते हैं। लोकमें तो केवल वचन-सम्बन्धी सत्यकी ही बात चलती है और यहां तीनों सम्बन्धी सत्यकी बात है। मानसिक विकल्पोंमें किसी के प्रति हितकी भावना प्रगट होना सत्य-मानसिक-क्रिया है और अहितकी भावना अथवा हिताहितके विवेक-शून्य भावना प्रगट होना असत्य--मानसिक क्रिया है। अपने या अन्यके हितके अभिप्रायसे अथवा सत्य-विकल्प-पूर्वक बोला जानेवाला वचन लौकिक रूपसे असत्य होते हुए भी सत्य है और अपने या अन्यके अहितके अभिप्रायसे अथवा असत्य-विकल्प-पूर्वक बोला जानेवाला वचन लौकिक रूपसे सत्य होते हुए भी असत्य है। इसके अतिरिक्त स्व-पर-हितकारी

वचन भी यदि कटु है तो दुखदायक होनेके कारण असत्य है। अतः हितरूप तथा मिष्टवचन बोलना ही सत्य-वाचिकक्रिया है। स्व-पर-हितके अभिप्राय अथवा मनोविकल्प सहित की जानेवाली शारीरिक क्रिया सत्य है और स्वपर अहितके अभिप्राय अथवा मनोविकल्प सहित की जानेवाली शारीरिक क्रिया असत्य है। अब इन तीनों क्रियाओंके कुछ उदाहरण सुनिये, जिनपरसे कि उपरोक्त सर्व कथनका तात्पर्य समझमें आ जाय।

सर्वप्रथम अभिप्रायकी सत्यताको विचारिये। तीनोंका स्वामी यह अभिप्राय ही है। अभिप्रायमें पारमार्थिक-सत्य आ जानेपर तीनों क्रियायें स्वतः सत्य हो जायेंगी। अभिप्रायकी असत्यताके कारण ही मेरे जीवनमें क्रोधादि कषायोंका, रागद्वेषका व चिन्ताओंका प्रवेश होता है। किसी प्रकारकी भी कामनामें रंगी प्रत्येक स्वार्थपूर्ण क्रिया कषाय-जनक होनेके कारण असत्य है। स्वपर-भेदविज्ञान हुए बिना वास्तवमें अभिप्रायमें पारमार्थिक सत्य आना असम्भव है। 'शरीर, धन व कुटुम्बादिका उपकार या अपकार मैं कर सकता हूँ अथवा इनके द्वारा मेरा उपकार या अपकार हो सकता है' ऐसा निश्चय बने रहना पारमार्थिक असत्य है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप ऐसा है ही नहीं। वस्तु तो स्वतन्त्र है, स्वयं अपना कार्य करनेमें समर्थ है। वस्तुकी स्वतन्त्रताका निर्णय न होनेके कारण ही मेरे मनमें ये विकल्प उठा करते हैं कि कुटुम्बका पोषण मैं न करूं तो कैसे हो, इस द्वेषी व शत्रुका विरोध न करूं तो कैसे हो? इस विकल्पमें-से अंकुरित हो उठता है दूसरा विकल्प, यह कि धन न कमाऊँ तो कुटुम्बादिका पोषण कैसे हो? इन विकल्पोंके आधारपर हो रही हैं आजकी मेरी सर्व वाचिक व शारीरिक क्रियायें, जिनके कारण मेरा जीवन चिन्ताओंमें जला जा रहा है।

वास्तवमें सत्य-पुरुषार्थका यह स्वरूप है ही नहीं। इस असत्य अभिप्रायके कारण परमें कुछ करनेका पुरुषार्थ करते हुए, परमें तो कुछ कर नहीं पाता, हाँ अपनेमें ही कुछ विकल्प या चिन्तायें अवश्य उत्पन्न कर लेता हूं। इस पुरुषार्थ-हीनताको छोड़कर सत्य-अभिप्राय प्रगट करूं तो पुरुषार्थका ढलाओ 'पर' से हटकर 'स्व' पर आ जाय, सब विकल्प मिट जायें, शान्ति मिल जाय, जीवन सत्य बन जाय, उत्तम-सत्यका पालन होने लगे। वस्तु-स्वतंत्रताका तथा उसकी कार्य-व्यवस्थाका विस्तृत विवेचन दर्शन-खण्डमें किया जा चुका है। (देखो ६.४)

वस्तुकी इस स्वतन्त्रताको देखते हुए भी भो भव्य! क्यों तेरा अभिप्राय नहीं फिरता? पैदा होते ही एक झाड़ीमें फेंक दी गई कन्या पीछे भारत-सम्राट जहांगीरकी पत्नी नूरजहां हो गई। किसने किया उसका पोषण? बिमानसे

गिरे हनुमानकी किसने की रक्षा ? 'यह संस्था मेरे बिना न चलेगी' यह कहते-कहते अनेकों चले गये, पर वह संस्था ज्योंकी त्यों चल रही है । कौन करता है उसकी रक्षा ? पिताके अनेकों उपाय करनेपर भी सौभाग्यवती मैनासुन्दरीका भाग्य किसने बनाया ? अरे भाई ! 'मेरे द्वारा कुटुम्बका पोषण होता है' इस मिथ्या अभिमानको छोड़ । 'सब स्वतन्त्र रूपसे अपना पोषण आप कर रहे हैं, अपना भाग्य स्वयं साथ लेकर आते व जाते हैं, मैं उनमें कुछ नहीं कर सकता', ऐसा सत्य-अभिप्राय बना । स्वार्थ-नाशक होनेके कारण यही है वास्तविक सत्य, पारमार्थिक सत्य, उत्तम-सत्य ।

मन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाओंके उदाहरण अभिप्रायमें ही अन्तर्भूत हो चुके हैं, अर्थात् उपरोक्त अभिप्रायके कारण मनमें उठनेवाले, 'पर' में करने-धरने आदिके स्वार्थपूर्ण विकल्प असत्य-मनोविकल्प हैं और स्वतन्त्रताका अभिप्राय बन जानेपर निजमें शान्ति वेदनका कार्य सत्य-मनोविकल्प है ।

अब वचन-सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाके उदाहरण सुनिये । जैसा देखा-सुना या अनुभवमें आया है केवल वैसा ही कह देना वास्तवमें सत्यकी पहिचान नहीं है । स्वपर-हितकारी, परिमित तथा मिष्टवचन ही सत्य है और इसके विपरीत असत्य । कोई व्यक्ति मुझसे कदाचित् आपकी चुगली करता हो और आप पीछे मुझसे पूछें कि यह व्यक्ति आपसे क्या कह रहा था, तो उस समय जो कुछ चुगलीके शब्द उसने मुझसे कहे थे वे ज्योंके त्यों आपसे कह देना यहाँ शान्तिके मार्गमें सत्य नहीं है, असत्य है । और 'आपके सम्बन्धमें कुछ बात नहीं थी, कुछ और ही बात कहता था', अथवा 'आपकी प्रशंसामें इस प्रकार कहता था' ऐसा बोल देना भी यहाँ सत्य है । क्योंकि पहली बातसे आपके हृदयमें क्षोभ आ जानेकी सम्भावना है और आपके तथा उस व्यक्तिके बीच द्वेष बढ़ जानेकी सम्भावना है, अतः पहला वचन अहितकारी होनेसे असत्य है । दूसरे वचनके-द्वारा आपको सन्तोष आयेगा और आपके तथा उस व्यक्तिके बीच पड़ा वैमनस्य भी कुछ कम हो जायेगा, अतः हितकारी होनेके कारण यह दूसरा वचन सत्य है । यह है वचनकी सत्यता व असत्यता की परीक्षा । साथ-साथ इतना आवश्यक है कि वह वचन मधुर व हितकारी होना चाहिये और संक्षिप्त भी, ताकि तीसरा व्यक्ति सुनकर यह संशय न करने लगे कि ये परस्परमें बात कर रहे हैं या अनर्गल प्रलाप ।

वचनकी भाँति शरीर द्वारा किये गए स्वपर-अहितकारी संकेत आदि और इन्द्रिय-संयमवाले प्रकरणमें कथित विषयासक्ति-युक्त तथा प्राण-संयममें कथित

हिंसा आदि युक्त क्रियायें असत्य-शारीरिक व्यापार हैं। इनके विपरीत स्वपर-हितकारी अथवा संयमित क्रियायें सत्य-शारिरिक व्यापार हैं।

२. दशविध सत्य—लौकिक व्यवहार चलानेके अर्थ भी अनेकों अभिप्रायों के आधारपर वचन बोले जाते हैं, जो कि अभिप्रायकी सत्यताके कारण सत्य और अभिप्रायकी असत्यताके कारण असत्य समझे जाने चाहियें। जैसे—१. अनेक व्यक्तियों या वस्तुओंमें-से किसी एक व्यक्ति या वस्तुकी ओर लक्ष्य दिलानेके अभिप्रायसे बोला जानेवाला वचन 'नाम-सत्य' है, भले ही उस नाम द्वारा प्रदर्शित होनेवाले गुण उसमें हों या न हों, जैसे इन्द्रियोंको न जीतनेवाला भी मैं आपके द्वारा 'जिनेन्द्र' नामसे पुकारा जाता हूं। परन्तु यदि यही नाम इन्द्रियोंको जीतनेवाले ऐसे जिनेन्द्र-भगवान्के अभिप्रायसे मेरे सम्बन्धमें कोई प्रयुक्त करने लगे, तो वही वचन असत्य होगा। २. चित्र या प्रतिमामें किसी की आकृति या रूपको देखकर, 'यह चित्र उस व्यक्तिका है' ऐसा न कहकर, 'यह अमुक व्यक्ति है' ऐसा कह देना 'रूप-सत्य' है। परन्तु इस प्रतिमा या चित्रको कोई वास्तवमें व्यक्ति समझकर ही यह वचन कहे तो वही वचन असत्य होगा।

३. किसी भी पदार्थमें किसी अन्य पदार्थको कल्पना करके, उसे वह पदार्थ बता देना 'स्थापना-सत्य' है, जैसे कि शतरंजके पासोंमें आकारादि न दीखनेपर भी, 'यह हाथी है' इत्यादि कह देना सत्य है। परन्तु कोई इस पासेको वास्तविक हाथी समझकर इसे हाथी कहे तो वही वचन असत्य होगा। ४. आगम-कथित तथ्योंपर-से 'यह ऐसे ही है' ऐसा विश्वास रखना 'आज्ञा-सत्य'है, जैसेकि छिन्न-भिन्न करने मात्रसे किसी वनस्पतिको अचित् कह देना सत्य है, क्योंकि आगमकी ऐसी ही आज्ञा है, यद्यपि सम्भव है कि छिन्न-भिन्न कर लेनेपर भी इसमें अनेकों जीव विद्यमान हों। परन्तु इसको वास्तवमें वैसा ही समझ लेना अर्थात् सर्वथा अचित् समझ लेना या वैसा समझकर उसे अचित् कहना असत्य है। इसी प्रकार प्रमाणिक व्यक्तियों या आगमके विश्वासके आधारपर अनेक सूक्ष्म, दूरस्थ व अन्तरित पदार्थोंके सम्बन्धमें यह कहना 'कि ये ऐसे ही हैं', सत्य है, जैसेकि धर्मास्तिकाय आदिका साक्षात्कार न होनेपर भी 'द्रव्य छः ही हैं' यह कहना सत्य है। परन्तु बिना किसी आधारके युक्ति आदि द्वारा कञ्चित् भी निर्णय किये बिना, केवल पक्षपातवश ऐसा कह देना असत्य है।

५. अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुए कार्यको किसी एक कारणसे उत्पन्न हुआ कह देना सत्य है, जैसेकि 'किसानके द्वारा खेती बोई गई' यह कहना सत्य है। परन्तु अन्य सब कारणोंको भूलकर, 'केवल किसानने ही खेती बोई'

ऐसा कहना असत्य है। ६. अनेक पदार्थोंसे मिलकर बने किसी पदार्थको एक नामसे कह देना सत्य है, जैसेकि चन्दन, कुंकुमादिसे बने पदार्थको धूप कहना सत्य है। परन्तु धूप नामका कोई पृथक सत्ताधारी पदार्थ समझकर धूप कहना असत्य है। ७. अनेक देशोंमें अपनी-अपनी भाषाके आधारपर एक ही पदार्थको अनेक नामोंसे कहा जाना 'व्यवहार-सत्य' है, जैसेकि भारतमें कहे जाने वाले 'ईश्वर' को इङ्गलैण्डमें 'गॉड़' शब्द द्वारा कहा जाना सत्य है। परन्तु 'ईश्वर पृथक है और गॉड़ पृथक है' ऐसा अभिप्राय रखकर कहे जानेवाले वही शब्द असत्य हैं। ८. किसी बातकी सम्भावनाको देखते हुए, 'ऐसा हो सकता है' ऐसा कह देना 'सम्भावना-सत्य' है, जैसेकि 'आज विश्वमें युद्ध हो जाना सम्भव है' यह कह देना सत्य है। परन्तु 'युद्ध अवश्य होगा ही' ऐसा अभिप्राय रखकर वही वचन कहना असत्य है।

९. किसीकी उपमा देकर, 'यह पदार्थ तो बिल्कुल वही है' ऐसा कह देना 'उपमा-सत्य' है, जैसेकि जवाहरलाल नेहरू जैसी कुछ आकृति व कुछ संस्कार देखकर,'यह बालक तो जवाहर लाल है' ऐसा कह देना सत्य है। परन्तु बिल्कुल जवाहरलाल मानकर ऐसा कहना असत्य है। १०. किसी कार्यको करने का संकल्प मात्र कर लेनेपर, 'मैं यह काम कर रहा हूं' ऐसा कहना 'अभिप्राय-सत्य' है, जैसे कि देहली जानेकी तैयारी करते हुए, 'मैं देहली जा रहा हूं', यह कहना 'अभिप्राय सत्य' है। परन्तु वास्तवमें 'इस समय रेलमें बैठे हुए मैं देहली जा रहा हूं' ऐसा अभिप्राय रखकर बोला हुआ वही वचन असत्य है। इस प्रकार अनेक जातिके वचन अभिप्रायके हेर-फेरसे अपने लौकिक व्यवहारमें सत्य व असत्य होते हुए देखे जाते हैं।

३. परम-सत्य—मन, वचन व कायगत इन व्यवहारिक सत्योंके ऊपर है वह पारमार्थिक सत्य जिसे मैं हार्दिक सत्य कहता हूं, उस हृदय राज्यका सत्य जहांतक देह व इन्द्रियोंकी तो बात नहीं मन व बुद्धि भी पहुंच नहीं सकते। तत्त्वमें अथवा उसके परम तेजमें लय हो जानेके कारण सबकी सत्ता सत्ताहीन हो चुकी है यहां और सबका तेज तेजहीन। सबके प्रयोजन निःशेष हो जानेसे शून्यमात्र बनकर रह जाते हैं यहां। न रहते हैं संकल्प और न विकल्प, इसलिये न कुछ करनेका प्रयोजन रहता है और न कुछ कहने-सुनने तथा विचारनेका। सब कुछ महासत्यमें लय हो जाता है, रह जाता है केवल एक ज्ञाता-दृष्टा भाव और उसमें-से उत्पन्न होनेवाला सहज आनन्द-स्रोत। सकल विधि-निषेधात्मक द्वन्द्वोंसे अतीत हो जाता है वह, तमाशा देखनेके तथा देखते रहनेके अतिरिक्त कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अब उसका। कर्त्तव्य कहना भी उपचार है, क्योंकि यह तो

उसका स्वभाव है, न कि कर्त्तव्य। संकल्प-विकल्परूप मानसिक क्षोभके नीचे दबा पड़ा था वह, उसके शान्त हो जानेके कारण अभिव्यक्त हो गया है। कुछ भी प्रयोजन नहीं है अब उसको, न सत्यसे और न असत्यसे। सत्य भी असत्य है उसके-लिये और असत्य भी सत्य है उसके लिये। बालकवत् प्रयोजनहीन हो जानेके कारण उसे क्या पता कि सत्य क्या और असत्य क्या? सभी कुछ खेल है उसके-लिये। सत्य-निष्ठ हो जानेके कारण जिसका व्यक्तित्व स्वयं सत्य बन गया है, उस सत्य-मूर्त्तिके सत्यका लक्षण शब्दों द्वारा कोई कैसे करे? बने सो जाने, खाये सो चखे।

न है उसे कुछ करनेका प्रयोजन और न न-करनेकी हठ। जिस प्रकार बालकको खेलनेके अतिरिक्त अपनी ओरसे अन्य कुछ भी करनेका प्रयोजन नहीं, माता-पिताने कह दिया तो कर दिया, नहीं तो न सही; इसी प्रकार इस महा-योगीको भी जानने,देखने तथा आनन्द-मग्न रहनेके अतिरिक्त अपनी ओरसे अन्य कुछ भी करनेका प्रयोजन नहीं, लोक संग्रहार्थ कुछ करना पड़ा तो कर दिया, नहीं तो न सही। जिस प्रकार माता-पिताके अर्थ करनेवाले बालकको इस कृत्यके अच्छे या बुरे परिणामसे कोई प्रयोजन नहीं, और इसलिये कार्य करके भी उससे अलिप्त रहना है वह; इसी प्रकार लोक-संग्रहार्थ करनेवाले उस महायोगीको भी उस कृत्यके अच्छे या बुरे परिणामसे कोई प्रयोजन नहीं, और इसलिये कर्म करके भी उससे अलिप्त रहता है वह। सब कुछ ईर्यापथ है उसके लिये, किया और समाप्त। इसलिये जिस प्रकार बालकको व्यवहार्य या अव्यवहार्य कुछ भी करके न तो किसीसे भय होता है और न छिपने-छिपाने की आवश्यकता; इसी प्रकार उस महायोगीको भी व्यवहार्य या अव्यवहार्य कुछ भी करके न तो किसीसे भय होता है और न छिपने-छिपानेकी आवश्यकता। इसीलिये अन्तिम सत्य है यह, सत्य व असत्य दोनोंसे अतीत पारमार्थिक सत्य है यह।

परन्तु अव्यवहारिक है यह स्थिति, केवल समता-मूर्ति महा-योगियोंके सत्य-जीवनका संक्षिप्त सा परिचयमात्र है यह, न कि व्यवहारिक जनोंके लिये अनुकरणीय। सत्यके पूर्वोक्त सोपानोंके यथाक्रम अवलम्बन-पूर्वक मनोगत तथा बुद्धिगत वासनाओंको क्षीण करके मन व बुद्धिको निश्चेष्ट किये बिना ऐसा होना सम्भवन नहीं और इनके निश्चेष्ट हो जानेपर व्यक्ति जगत-व्यवहारके योग्य रहता नहीं।

३६
उत्तम-संयम

१. यम व नियम—भव-भवके दुष्ट संस्कारोंका यमन करनेवाले हे अन्वर्थ-संज्ञक वीतराग प्रभु ! मुझे यम प्रदान कीजिये । प्रतिक्षण होनेवाली विकल्पात्मक अन्तर्मृत्युको जीतकर मृत्युकी सर्वदाके-लिए मृत्यु कर देनेवाले मृत्युञ्जय-पदको प्राप्त हे यमराज ! मुझको भी अपनी शरणमें लीजिये । ओह ! कैसी अनोखी बात है कि जिस यमराजसे जगत कांपता है, आज उसकी शरणमें जानेकी प्रार्थना की जा रही है । विस्मय मत कर प्रभु ! यमराजसे डरनेवाला मोहसे ग्रसित जगत वास्तवमें जानता ही नहीं कि यमराज कौन है ? लोकमें तो यमराजका अत्यन्त भयानक काल्पनिक चित्रण खेंचा गया है, पर ऐसा वास्तवमें नहीं है । यमराजका स्वरूप सुन्दर है, अत्यन्त शान्त है, लोकमें अमृत वर्षानेवाला है । दुष्ट संस्कारोंका यमन करके जिन्होंने मृत्युकी भी मृत्यु कर दी है, ऐसे वे मृत्युञ्जय सिद्ध प्रभु ही वास्तविक यमराज हैं, उनकी शरणमें जानेकी बात है अर्थात् स्वयं यमराज बननेकी बात है । भयको अवकाश नहीं, उत्साह उत्पन्न कर । आज संयमका प्रकरण चलता है ।

संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार यमन करना, नियन्त्रित करना, संस्कारोंको । वैसे तो संयमके सम्बन्धमें अबतक बहुत कुछ कहा जा चुका है परन्तु अभी भी पर्याप्त नहीं है । संयम दो प्रकारका है—एक संस्कारोंकी पूर्ण-मृत्युरूप और दूसरा किञ्चित्-मृत्युरूप । पूर्ण-संयमको यम और किञ्चित-संयमको नियम कहा जाता है । अर्थात् अत्यन्त पराक्रमी जीवोंद्वारा संस्कारोंका जीवन पर्यन्तके लिए धुतकारा जाना यम है और अल्प-शक्तिवाले जीवोंके द्वारा उनका सीमित समयके-लिये, पन्द्रह मिनटके-लिये, या आध घण्टेके-लिये, या एक घन्टेके-लिये, या पांच सात दिनों या महीनों या वर्षोंके-लिये किञ्चित् अंश-रूपमें धुतकारा जाना नियम कहलाता है । अबतक जितना भी कथन चला था वह सब नियम

था, क्योंकि मन्दिरके अनुकूल वातावरणमें आध-पौन घण्टे-मात्र तककी सीमाके लिये करनेमें आता था, अथवा व्रत लिये बिना अर्थात् व्रतवाले प्रकरणमें बताए गए 'तो' रूप शल्यके निकाले बिना केवल अभ्यास रूपमें किया जा रहा था । उसी अभ्यासके कारण शक्तिकी वृद्धि हो जानेपर वह नियमी बन जाता है यमी, संयमी अर्थात् संन्यासी । तब उसके बल व पराक्रमके क्या कहने ? मनकी कुछ भी तीन-पाँच नहीं चलती है अब उसके सामने ।

इस दशाको प्राप्त होकर वह यमी बाह्यमें प्रगट होनेवाले सम्पूर्ण स्थूल संस्कारोंकी शक्तिका विच्छेद कर देता है, और पुनः वे अंकुरित न होने पावें इस प्रयोजनवश अनेकों कड़ी-कड़ी प्रतिज्ञायें धारण कर लेता है । 'जीवन जाय तो जाय पर यह प्रतिज्ञा अब भङ्ग न होने पाय' ऐसी दृढ़ता है आज उसकी अन्तर्गर्जनामें, वह यमराज बननेको निकला है । वीरोंका वीर वह यद्यपि पहले ही से इन्द्रियोंको वशमें कर चुका था और प्राणियोंको भी पीड़ा देनेका उसे अवसर प्राप्त नहीं होता था पर आज उसका वह इन्द्रिय व प्राण-संयम पूर्णता की कोटिको स्पर्श कर चुका है ।

२. इन्द्रिय-संयम—घरबार को तथा राज्यपाट आदिको लात मारकर पूर्ण संन्यासी हो गए हैं वे आज । वनमें अकेले वास करनेवाले वे बाह्यके तो सम्पूर्ण विषयोंका त्याग कर ही चुके है, अन्तरङ्गमें भी इन्द्रियोंको पूर्णतया जीत चुके हैं । विषयोंमें आवश्यक अनावश्यकका कोई भेद नहीं रह गया है अब उनके-लिये । सकल विषय ही अनावश्यक बन चुके हैं आज उनके-लिये । स्पर्शनेन्द्रियको ललकारते हुए यथाजात नग्न-वेष धारण किया है उन्होंने । गरमी, सर्दी, बरसात मच्छर-मक्खी आदि की बाधाओंसे बचनेका अब किञ्चित् मात्र भी विकल्प शेष नहीं रहा है उनमें, जिसकी घोषणा कि उनके शरीरकी नग्नता कर रही है । इस नग्न-अवस्थामें भी बिना किसी आश्रयके केवल आकाशकी छतके नीचे, बीहड़ वनोंमें अथवा भयानक श्मशानोंमें, सर्दीकी तुषार बरसाती रातोंके बीच, उनकी निश्चल व निर्भीक ध्यानस्थ अवस्था उनके पूर्ण स्पर्शन-इन्द्रिय-विजेता-पनेका विश्वास दिला रही है । गर्मीकी आग बरसती दापहरियोंमें तप्त बालूपर खुले जाज्वल्यमान अकाशके नीचे धारा हुआ उनका आतापन योग, शरीरके प्रति उनकी अतीव निर्ममताका द्योतक है । आज दिशायें ही उनके वस्त्र हैं, इसके अतिरिक्त और कृत्रिम वस्त्रोंकी उन्हें आवश्यकता नहीं । मैथुन भावपर उनकी जयघोषणा करनेवाली निर्विकार शान्त-आभा मुझे स्पर्शन-इन्द्रियके विषयपर उनकी पूर्ण विजयका दृढ़ विश्वास दिला रही है । शरीर मैला-कुचैला साफ़-सुथरा कैसा भी रहे, सब समान है आज उनके-लिये ।

महीनों-महीनोंके उपवासके पश्चात् भी, आकुल व असक्त-चित्तसे गृद्धता-सहित आहारकी ओर दृष्टि नहीं उठना तथा अन्तराय या कोई भी बाधा आ जानेपर शान्ति-पूर्वक आहार-जलका त्याग करके पुनः उनका वनको लौट जाना, उनकी जिह्वा-इन्द्रियपर पूर्ण विजयका प्रदर्शन कर रहा है। आहार लेते समय भी स्वादिष्ट या अस्वादिष्टमें, नमक सहित या नमक रहितमें, मीठे या खट्टे में, चिकने या रूखेमें, गरम या ठण्डेमें, उनकी मुखाकृतिका एकीभाव उनकी अन्तर्साम्यता व रस-निरपेक्षताकी घोषणा करता हुआ उन्हें जिह्वा-इन्द्रिय-विजयी सिद्ध कर रहा है। रोम-रोमको पुलकित कर देनेवाला सर्वसत्व-कल्याणकी करुणापूर्ण भावनाओंसे निकला, उनका हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचनपर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वा-इन्द्रिय-विजयी होनेका विश्वास दिला रहा है।

विष्टाके पाससे गुजरते हुए भी उनकी मुखाकृतिकी सरलता व शान्तताका निर्भङ्ग रहना, किसी कुष्टी आदिके ग्लानिमयी शरीरको देखकर भी उनकी आंख का दूसरी ओर न घूमना तथा किसी उद्यानके निकटसे जाते हुए या वहां बैठे हुए आनेवाली धीमी-धीमी सुगन्धिकी ओर उनके चित्तका आकर्षित न होना, मुखाकृतिपर किसी सन्तोष-विशेषके चिन्ह न दीखना उनके पूर्ण नासिका-इन्द्रिय-विजयीपनेको सिद्ध करता है। दुर्गन्धि व सुगन्धिमें साम्यभाव उनकी पूर्ण-वीतरागताका तथा शान्तिके रसास्वादनका प्रतीक है, जिसके कारण कि उन दोनोंमें उन्हें भेद भासता नहीं।

तीखे कटाक्ष करती, शृङ्गारित रम्भा व उर्वशीसी सुन्दर युवतियोंके सामने आ जानेपर भी विकृत दृष्टिसे उधर न लखाना अथवा महा-भयानक कोई विकराल रूप दीख पड़नेपर भी उनकी आभामें कोई अन्तर न पड़ना, आहारार्थ चक्रवर्तीके महलमें या साधारण-जनकी कुटियामें प्रवेश करते उनका गौवत् समान भावमें स्थित रहना, उनके पूर्ण नेत्र-इन्द्रिय-विजयी होनेकी घोषणा कर रहा है। सुन्दर-असुन्दर, मनोज्ञ-अमनोज्ञ सब समान है आज उनके-लिये। निन्दा व स्तुति दोनोंमें समान रहनेवाली उनकी समबुद्धि, निन्दक व वन्दक दोनोंके-लिये समान रूपसे प्रकट होनेवाली कल्याणकी भावना तथा दोनोंके-लिये मुखसे एक शान्त मुस्कानके साथ निकला हुआ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वचन उनके पूर्ण कर्णेन्द्रिय-विजयी होनेका द्योतक है।

इन सबके अतिरिक्त स्वर्ण व कांचमें, हानि व लाभमें रहनेवाली उनकी साम्यता, निर्लोभता व निष्कपटता उनके पूर्ण-निष्परिग्रहीपनेका, पूर्ण-त्यागीपने का आदर्श उपस्थित करती है। शत्रु व मित्रमें समानता उनकी क्षमाको, तथा

अनेकों गुणों व चमत्कारिक ऋद्धियोंके या शक्ति-विशेषोंके होते हुए भी उन्हें प्रयोगमें न लाना उनकी निरभिमानता व क्षमताका द्योतक है। कहांतक कहूं, ये वीतरागी साधु जिनको कि मैंने आदर्श स्वीकार किया है, पूर्ण-संयमी हैं, पूर्ण-इन्द्रिय-विजयी हैं, पूर्ण-कषाय-विजयी हैं।

३. प्राण-संयम— इन्द्रिय-संयमके अतिरिक्त प्राण-संयम भी पूर्ण हो जाता है यहां। संयम-अधिकारके अन्तर्गत कथित जीव-हिंसाके १२९६० विकल्पोंका (देखो २३·७) पूर्ण-त्याग कर देते हैं वे, अर्थात् जो कुछ भी कमी रह गई थी उसे भी दूर करके पूर्णरूपेण प्राण-संयमी बन जाते हैं वे। मनुष्यसे लेकर चींटी पर्यन्त चलने-फिरनेवाले त्रस-जीवोंकी तो बात क्या, स्थावर-जीवोंकी हिंसा भी पाप है आज उनके-लिये। वायुकायिक जीवोंको बाधा न हो इस अभिप्रायसे पंखा नहीं झलते हैं वे, वनस्पतिकायिक जीवोंको पीड़ा न हो इस अभिप्रायसे घासका एक तिनका भी तोड़ना स्वीकार नहीं करते हैं वे। क्या बतायें उनकी दयालुता, पृथ्वी तथा जलको बाधा पहुंचाना तक सहन नहीं है आज उन्हें। इसीलिये न कभी जलमें गमन करते हैं और न मिट्टी आदि लेनेके-लिये पृथ्वी कुरेदते हैं वे। धन्य है उनकी आदर्श करुणा।

गृहस्थ दशामें उन्हें केवल संकल्पी-हिंसाका त्याग था, उद्योगी तथा आरम्भी हिंसा कमसे कम हो ऐसा यत्न मात्र करते थे, परन्तु उसका सर्वथा त्याग नहीं था। अपनी, अपने कुटुम्बकी तथा अपने देशकी रक्षाके-लिये चोर-डाकुओं तथा आततायियोंके साथ युद्ध करते समय विरोधी हिंसा अनिवार्य करनी पड़ती थी उन्हें। परन्तु यहां इन तीनोंका भी पूर्ण त्याग हो जाता है। साधुके पास न है कुछ उद्योग व आरम्भ, न व्यापार-धन्धा और न घरबारका कामकाज। धन, गृह-कुटुम्बादिको छोड़ देनेके कारण अन्य कोई वस्तु या देश उनके पास है ही नहीं, जिसेकि चोर-डाकू लूट सकें या जिसके-लिये आततायी आक्रमण कर सकें। अब लोककी बड़ेसे बड़ी बाधा भी उनकी शान्तिमें विघ्न डालनेको समर्थ नहीं। क्योंकि उनका कर्त्तव्य बदल चुका है अब, उनका शरीर बदल चुका है अब, उनकी सम्पत्ति बदल चुकी है अब, उनका कुटुम्ब बदल चुका है अब, उनका देश बदल चुका है अब। आज ज्ञान उनका शरीर है; शान्ति उनकी सम्पत्ति है; वैराग्य, समता, मैत्री, उत्साह, उल्लास उनका कुटुम्ब है; विवेक उनका देश है। इनमेंसे किसी भी वस्तुको न तो चोर-डाकू चुरानेके-लिये समर्थ हैं और न कोई आततायी इनपर आक्रमण करनेको समर्थ है। तब किसे समझें वे अपना शत्रु? उनके ज्ञान शरीर पर चलनेके-लिए कोई हथियार ही नहीं। गरमी, सरदी, बरसात आदिरूप प्राकृतिक बाधायें

हों या हों मक्खी-मच्छर आदिकृत उपद्रव, पशु-पक्षी आदिकृत संकट हों या हों अज्ञानी-जनोंकृत उपसर्ग, उनके मुख-मण्डलपर फैली मधुर मुस्कानका भेदन करनेको कोई समर्थ नहीं।

और तो कुछ उनके पास है नहीं जिसेकि उनसे छीना जा सके, एक शरीर है परन्तु वह है अलौकिक। तिल-तिल करनेके-लिये तैयार हो कोई इसके, कोल्हूमें पेलनेके-लिये उद्यत हुआ हो कोई इसको, अथवा जीवित भस्म कर देनेका भाव लेकर आया हो कोई इसे, कुत्तोंके द्वारा नुचवानेके लिये दही छिड़कता हो कोई इसपर, दीवारमें चिनने लगा हो कोई इसे, परन्तु उन्हें क्या चिन्ता, उन्हें क्या भय? अपने द्वषकी आग जिस वस्तुपर, जिस शरीरपर बुझाई जा रही है, वह उनका है ही नहीं अब. उससे ममत्व है ही नहीं अब, फिर उस विद्वेषीके प्रति उन्हें द्वेष क्यों हों, घृणा क्यों हो, क्रोध क्यों हो, इससे मुकाबला करनेकी भावना क्यों हो? वह बेचारा रंक स्वयं नहीं जानता कि क्या है इस योगीके पास जिसको छीननेसे कष्ट हो सकेगा इन्हें। उसको तो दिखाई देता है यह चमड़ेका शरीर, जिसे बाधा पहुंचनेपर स्वयं उसे प्रतीत होती है बाधा। उसी तुलापर तोलता है आज वह इन परम योगेश्वरकी सम्पत्तिको, शान्तिको, और यदि पता भी हो उसे तो इसके छीननेमें बिल्कुल असमर्थ है वह। इसलिये क्यों समझें वे योगी उसे शत्रु? वह तो बेचारा है रंक, द्वेषकी अन्तर्दाहमें नित्य जलते रहनेके कारण स्वयं बहुत दुःखी। वह तो है उस योगीकी करुणाका पात्र, विरोधका नहीं। उसके लिये भी उस योगीके मुखसे निकलता है कल्याणात्मक आशीर्वाद जैसेकि एक भक्तके-लिये। यह है साधुकी पूर्ण अहिंसा, उनका पूर्ण प्राण-संयम।

४. परम-संयम—इससे भी ऊपर है संयम तथा असंयमसे अतीत उनका वह परम संयम जिसे साक्षात् अमृत-कुम्भ कहा गया है। जिनके मन तथा बुद्धि मर चुके हैं, जिनके समस्त संकल्प-विकल्प परम सत्यमें बिलीन हो चुके हैं, उनके लिये क्या संयम और क्या असंयम? सब कुछ बच्चोंका-सा खेल है अब उनके लिये। जिस प्रकार एक बालकके-लिये स्वयं राजा बनकर चोरको दण्ड देना भी वैसा ही है जैसाकि स्वयं चोर बनकर राजासे दण्ड पाना, उसी प्रकार सत्य-स्वरूप उस महायोगीके-लिये संयम-युक्त होकर रहना भी वैसा ही है जैसाकि संयम विहीन होकर रहना। त्याग भी उनके लिये वैसा ही है जैसाकि ग्रहण। जिस प्रकार कोई रोगी रोग-वर्धक कारणोंसे बचनेके-लिये अपने ऊपर अनेक प्रकारके प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु रोग शान्त हो जानेपर उन सब प्रतिबन्धोंका त्याग करके हलका हो जाता है; उसी प्रकार शान्ति-पथका साधक अध्यात्म-

रोगी विकल्प-वर्धक कारणोंसे बचनेके-लिये अपने ऊपर अनेक प्रकारके प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु विकल्प-रोग शान्त हो जानेपर उन सर्व प्रतिबन्धोंका त्याग करके हलका हो जाता है। जिस प्रकार रोग मुक्त हो जानेपर वे त्यक्त पदार्थ अब उस व्यक्तिको बाधाकारक नहीं होते हैं, उसी प्रकार विकल्प-मुक्त हो जानेपर सकल त्यक्त पदार्थ अब उस महा-योगीको बन्धनकारक नहीं होते हैं। रोग-मुक्त हो जानेपर भी वह व्यक्ति यदि उन पदार्थोंके त्यागकी हठ न छोड़े तो उसका वह त्याग ही उसके-लिये महा-रोग बन जाता है, उसी प्रकार विकल्प-मुक्त हो जानेपर भी वे महा-योगी यदि उन पदार्थोंके त्यागकी हठ न छोड़ें तो उनका वह त्याग ही उनके-लिये महा-विकल्प बन जाता है। दोनों ओरसे सन्तुलित रहना ही स्वास्थ्य है।

इसलिये समतारूप सत्य-भूमिमें प्रविष्ट महा-योगी सकल प्रतिबन्धोंसे मुक्त हो जाते हैं और यही है पारमार्थिक असंयमरूप उनका संयम, संयम असंयमसे अतीत तृतीय भूमि। परन्तु अव्यवहारिक है यह, मन बुद्धिसे अतीत समता-भोगीके-लिये अमृतकुम्भ होते हुए भी मन बुद्धिके जगतमें रहनेवाले व्यवहारिक जनोंके-लिये विषकुम्भ है यह। संयमके पूर्वोक्त विविध सोपानोंके यथाक्रम अवलम्बन-पूर्वक मनोगत तथा बुद्धिगत वासनाओंको क्षीण करके मन व बुद्धि को निश्चेष्ट किये बिना ऐसा होना सम्भव नहीं, और इनके निश्चेष्ट हो जानेपर व्यक्ति जगत-व्यवहारके योग्य रहता नहीं।

३७
उत्तम-तप



१. परिचय—गृहस्थोचित सामान्य-तपका तथा शक्ति व परिस्थितिके अनुसार मानस-तपका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वहां यह संकेत किया गया था कि अभ्यासके द्वारा शक्तिमें वृद्धि हो जानेपर कुछ अन्य प्रकारके भी बाह्य तथा अभ्यन्तर तप योगी जन किया करते हैं। उन तप-विशेषों का उल्लेख करना ही यहां प्रयोजनीय है। वहां विस्तार सहित यह बात बताई जा चुकी है कि 'तप' शब्दका अर्थ है वह प्रबल पुरुषार्थ जो कि साधक संस्कारोंका मूलोच्छेद करनेके-लिये किया करता है अर्थात् प्रतिकूल वातावरणमें जाकर सुप्त संस्कारों को जगाना, उन्हें ललकारना तथा पूरी शक्तिसे उनके साथ युद्ध ठानना। बहुत बलकी आवश्यकता है इसके-लिये जो प्रायः योगी जनोंमें ही होना सम्भव है, तथापि अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थ भी हीनाधिक रूपमें उन्हें करे तो उसे किसी अचिन्त्य लाभकी प्राप्ति होती है।

संस्कार दो प्रकारके हैं—एक तो वे जिनका कि क्षेत्र है बाहरका यह स्थूल-शरीर और दूसरे वे जिनका क्षेत्र है अभ्यन्तरका सूक्ष्म-शरीर अर्थात् मन बुद्धि आदि। पहले संस्कारोंका कार्य है शारीरिक पीड़ाओंमें मुझे शान्ति तथा समतासे बलपूर्वक विचलित करके उन पीड़ाओंके चिन्तवनमें अटका देना। दूसरे संस्कारों-का कार्य है मेरे भीतर विविध प्रकारकी इच्छायें, कामनायें, अथवा वासनायें जागृत करके मुझे विविध प्रकारके विषय-चिन्तवनमें नियोजित कर देना। अतः तप भी दो प्रकारका होना स्वाभाविक है—एक बाह्य-तप जिसका प्रयोजन है बाह्य-क्षेत्रवर्ती संस्कारोंका मूलोच्छेद करना और दूसरा अभ्यन्तर-तप जिसका प्रयोजन है अभ्यन्तर-क्षेत्रवर्ती संस्कारोंको नष्ट करना। दोनों ही प्राय. छः छः प्रकारके हैं। बाह्य-तपमें सम्मिलित हैं—अनशन, उवमौदर्य या ऊनोदरी, वृत्ति-परिसंख्या, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश। अभ्यन्तर-तपमें सम्मिलित

हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इन सबका उल्लेख क्रमसे किया जानेवाला है। अधिक विस्तार न करके संक्षेपसे ही परिचय देनेका प्रयत्न करूँगा।

२. षड्विध बाह्यतप—तपके सामान्य स्वरूपका विवेचन करते हुए यह बताया चुका है कि शान्ति तथा समताकी प्राप्तिका साधक शारीरिक पीड़ाओंकी चिन्ता नहीं करता। शरीरको शान्ति तथा ममताके उत्पादनार्थ लगाई गई मशीनसे अधिक कुछ नहीं समझता। अपनी शक्तिको न छिपाता हुआ पूरे उत्साहके साथ बराबर आगे बढ़ता जाता है निर्भय, एक महासुभटकी भाँति, संस्कारोंके साथ युद्ध करता। ज्यों-ज्यों विजय प्राप्त करता है उनपर, त्यों-त्यों वृद्धि होती चली जाती है उसकी शक्तिमें, उत्साह तथा उल्लासमें। बस स्थिरताका चारजामा कस, तपके हथियार सजा, कूद पड़ता है वह युद्धस्थलमें और ललकारता है एक-एक शारीरिक पीड़ाको। जानबूझकर उत्पन्न करता है उन्हें, जानबूझकर प्रवेश करता है उनमें। और तो सर्व आवश्यकतायें व इच्छायें पहले ही त्याग चुका है वह, केवल एक आवश्यकता शेष रह गई है उसकी, और वह है भोजन सम्बन्धी। इसलिये उसके सर्व ही संस्कार आज एकत्रित होकर इस ही दिशामें अपना बल दिखा सकते हैं, और वह योगी भी इसीके आधारपर सर्व अभिलाषाओंके संस्कार-विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ कर सकता है। अतः भोजनकी मुख्यतासे इन तपोंका वर्णन किया जायेगा यहां, पर इसका यह अर्थ नहीं कि ये भोजन-सम्बन्धी अभिलाषाओंपर ही लागू होनेवाले हैं। नहीं, प्रत्येक अभिलाषापर यथायोग्य रूपसे लागू करके हम उस-उस जातिके संस्कारोंका विच्छेद कर सकते हैं। जैसेकि 'योगीका आहार छोड़कर उपवास करना' और इसीप्रकार आप यदि कर सकें तो 'एकदिन या कुछ महीनोंके-लिये अपना धनोपार्जन छोड़कर लोभ या वित्तेषणाके त्यागरूप उपवास करना' एक ही बात है। पहलेसे छूटती है भोजनकी अभिलाषा और दूसरेसे छूटती है धनकी अभिलाषा। इसप्रकार किसी भी दिशामें लागू किये जा सकते हैं ये तपके भेद।

(१) भोजन-ग्रहणकी अभिलाषा-सम्बन्धी संस्कारको तोड़ डालते हैं वे योगीजन, एकदिन, दोदिन, दसदिन अथवा महीनों-महीनों तकके उपवास धारण कर-करके (वज्रवृषभनाराच-संहननवाले शरीरधारी योगी वर्षभरका भी उपवास कर सकते हैं)। उपवासके दिनोंमें जलकी एक बूँद भी ग्रहण नहीं करते और बराबर शान्तिमें स्थिर बने रहते हैं वे। उपवास नाम भोजन मात्रके त्यागका नहीं, बल्कि है, 'उप' अर्थात् निकटमें 'वास' करनेका नाम अर्थात् अपनी आत्मा अथवा शान्तिके निकटमें वास करनेका नाम उपवास है। भोजन छोड़कर व्याकुल

हो जाये और दिन बीतनेकी प्रतीक्षा करने लगे कि कब दूसरा दिन आये और मुझे भोजन मिले, तो उसे उपवास नहीं कहते । अतः योगीजन उपवासके समय भोजनपान न मिलनेपर शान्तिसे च्युत नहीं होते और इसप्रकार तोड़ डालते हैं क्षुधासे पीड़ित कर देनेवाले संस्कारको । क्षुधा हो तो हो पर वे अपने बलके आधार पर उसे गिनते ही नहीं अर्थात् उपयोगके शान्तिमें स्थिर रहनेके कारण उस ओर लक्ष्य देते ही नहीं । यह है बाह्य-तपका पहला भेद **'अनशन'** ।

(२) दूसरा संस्कार है वह जोकि प्राप्त वस्तुका किसी कारणवश कदाचित् उपयोग न कर पानेपर चित्तमें एक विशेष प्रकारकी गृद्धताका वेदन जागृत कर देता है । जैसेकि दुकान बिल्कुल न खोलना तो आप कदाचित् स्वीकार कर लें, परन्तु किसी ग्राहकको आधा सौदा देकर, दुकानमें होते हुए भी शेष आधा सौदा जिसमें साक्षात् लाभ होनेवाला है, किसी कारणवश देनेसे इन्कार कर दें । बिल्कुल न बेचनेसे आधा बेचना अखरता है । इसीप्रकार बिल्कुल न खानेसे अल्प-मात्र ही खाकर छोड़ देना कठिन है । योगीजन इस संस्कारका मूलोच्छेद करते हैं, पहले आधापेट भोजन ग्रहण करके, फिर क्रमसे एक-एक ग्रास कम करते हुए केवल एक ग्रास मात्रमें सन्तोष धारण करके और आगे भी उस ग्रासको कम करते-करते केवल एक चावल मात्रका ग्रहण करके । अत्यन्त अल्प यह भोजन या एक चावल वे इसलिए नहीं लेते कि क्षुधामें कोई अन्तर डाल देगा, बल्कि इसलिए लेते हैं कि क्षुधाके साथ-साथ अल्प-ग्रहणमें पीड़ाकी प्रतीति करानेवाला संस्कार टूट जाय । इस तपके द्वारा युगपत् दो संस्कार जीते जा रहे हैं—एक क्षुधामें पीड़ाकी प्रतीति करानेवाला और दूसरा अल्प-ग्रहणमें गृद्धताकी प्रतीति करानेवाला । इसका नाम है **'अवमौदर्य या ऊनोदरी'** तप ।

(३) किसी वस्तुकी प्राप्ति या अप्राप्तिके सम्बन्धमें भले उस समयतक साम्यता बनी रहे जबतक कि उसकी प्राप्तिकी आशा नहीं हो जाती परन्तु प्राप्तिकी आशा हो जानेपर भी ग्रहण न करे और साम्यता बनी रहे यह बहुत कठिन है । इस संस्कारको वे योगी तोड़ते हैं कुछ अटपटी आखड़ियां लेकर । निज स्थानसे भोजनके-लिये चलते समय अपने मनमें ही कुछ अटपटीसी बात विचार लेते हैं वे, ऐसी कि जिसका पूरा होना बहुत कठिन है, और उसे अपने मनमें ही रख लेते हैं वे । स्पष्ट रूपसे या किसी अन्य बहानेसे, वचनके-द्वारा या किसी शारीरिक संकेतके द्वारा या किसी भी अन्य क्रियाके-द्वारा अपने उस अभिप्रायको किसीपर भी, यहाँतक कि अपने शिष्यपर भी प्रगट नहीं करते वे । वह अभिप्राय अकस्मात ही काकतालीय न्यायवत् पूरा हो जाय तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं, जैसेकि 'आज सर्प मिलेगा तो आहार ग्रहण करेंगे, नहीं

तो नहीं।' अब किसीको क्या पता कि इनके मनमें क्या है? श्रावक लोगोंको अपने-अपने द्वारपर प्रतिग्रह (स्वागत) के लिये खड़ा देखते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते न देखकर मौन पूर्वक लौट आते हैं बिना आहार लिये, जबकि सबकी भावना यह थी कि किसीप्रकार ये मेरे घर आहार करलें तो मेरा जीवन सफल हो जाय। वे बेचारे कुछ नहीं जान पाते कि योगी क्यों लौट गये हैं। इसप्रकार बराबर महीनों तक नगरमें आहारार्थ आते हैं और लौट जाते हैं, न प्रतिज्ञा पूरी होती है और न आहार लेते हैं। किसीको क्या पता कि क्या प्रतिज्ञा की है इस योगीने, पता हो तो एक सपेरेको ही ला बिठायें अपने घरके सामने? योगी अपनी साम्यताकी परीक्षा करते रहते हैं कि प्रतिज्ञा पूरी न होनेपर उन्हें कुछ विकल्प तो नहीं आ रहे हैं? यदि आते हैं तो कड़ी आलोचना-द्वारा उन्हें दबाते हैं। 'मिले तो अच्छा न मिले तो अच्छा, दोनों ही बराबर हैं' ऐसे अभिप्रायपर बराबर दृढ़ बने रहते हैं और इसप्रकार क्षुधाके साथ-साथ इस तीसरे संस्कारको भी तोड़ डालते हैं वे। यह है तृतीय तप 'वृत्ति परि-संख्यान'।

(४) भोजनके विकल्प-सम्बन्धी एक चौथा संस्कार भी है, और वह है स्वादकी दिशाका झुकाव। भोजन करते समय क्षुधा-निवृत्तिका प्रयोजन तो प्रायः याद भी नहीं रहता, केवल स्वाद लेने मात्रकी ओर लक्ष्य चला जाता है और खाने लगता है उसे खूब स्वाद ले-लेकर। स्वाद लगे तो हर्ष, न स्वाद लगे तो विषाद। इस दुष्ट संस्कारके प्रति बड़े सावधान रहते हैं वे ज्ञानी। आजसे नहीं गृहस्थ दशामें पहले पगसे ही वे इस प्रबल संस्कारके साथ लड़ते चले आ रहे हैं। अनेकों बार पहले भी इसके सम्बन्धमें संकेत किया जा चुका है, परन्तु इस योगीने इसे निर्मूल करनेका दृढ़ संकल्प किया है। स्वादकी मुख्यता मनुष्यके भोजनमें प्रायः छः पदार्थोंसे बनती है जिन्हें 'षट्-रस' कहते हैं—नमक, मीठा या शक्कर, घी, तेल, दूध, दही। ये छः रस ही भोजनको स्वादिष्ट बनाया करते हैं। इनमें-से कोई एक न हो तो स्वाद ठीक नहीं बैठता, और दो तीन आदि यहाँ तककि छहोंसे रहित भोजन तो घासके समान लगने लगता है। बस योगी महीनों व वर्षोंके-लिए इनमें-से किसी एक या दो या छहोंका त्याग कर देते हैं। जब कभी आहार लेनेकी आवश्यकता पड़े तब घासवत् भोजन करके इस खड्डेको भर लेते हैं, और इस प्रकार रस-गृद्धिके संस्कारको जीत लेते हैं।

इस 'रसपरित्याग' का ऐसा विकृत रूप नहीं है जैसा कि आज देखनेमें आता है। एक रसको छोड़कर अन्य रसमें गृद्ध हो जानेसे वह रस जीता नहीं जा

सकता; जैसे नमकके त्यागमें तो मीठे पदार्थोंका भोजन कर लेना, और मीठेके त्यागमें नमकीन पदार्थोंका, अथवा शक्करके मीठेके त्यागमें मुनक्काका मीठा बनाकर प्रयोजन सिद्ध कर लेना और दूधके त्यागमें बदामोंका दूध बनाकर। इसप्रकार एक पदार्थकी बजाय दूसरे पदार्थका ग्रहण रसत्याग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीरसमें जो अरुचि है उसका परित्याग नहीं किया जा सका है, भोजनको जिसकिस प्रकार भी रसीला बनानेका ही प्रयोजन रहा है। अतः रस-परित्याग उसे कहते हैं कि नमकके त्यागमें अलोना ही खाये और मीठेके त्यागमें मुनक्का आदिका प्रयोग न करे, दूध भी फीका ही पीले, इत्यादि। सच्चे योगी कृत्रिमता नहीं किया करते, उनका त्याग या तप दूसरोंको दिखानेके-लिये नहीं अपने हितके अर्थ तथा अपने संस्कारोंको तोड़नेके अर्थ होता है। यह है भोजन-सम्बन्धी चौथा तप, 'रस-परित्याग'।

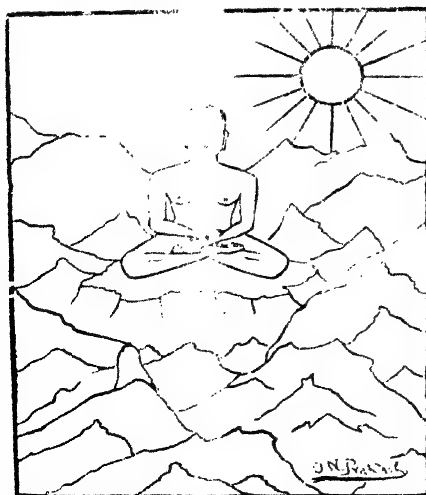
यद्यपि उपरोक्त तपोंका वर्णन योगीयोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट रूपसे दर्शाया गया है, परन्तु इससे यह अर्थ न लेना कि योगी लोग इतने उत्कृष्ट प्रकारके ही तप धारण करते हैं। जैसे गृहस्थ दशामें शक्तिकी अपेक्षा रखते हुए धीरे-धीरे बढ़ना होता है परन्तु अभिप्रायमें उत्कृष्टता रहती है, वैसे ही यहाँ भी शक्तिकी अपेक्षा रखते हुए ही धी॰-धीरे बढ़ना होता है परन्तु अभिप्रायमें उत्कृष्टता रहती है। योगी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें इन तपोंको जघन्य रूपसे ही पालता है और गृहस्थ भी यदि चाहे तो अपनी शक्तिके अनुसार इनको पालनेका अभ्यास कर सकता है।

(५) जन-सम्पर्कमें आनेपर, अनेकों इधर-उधरकी व्यर्थ बातें, देश-विदेशोंके पारस्परिक युद्ध, नवीन-नवीन वैज्ञानिक खोजोंके समाचार, चोरों व अपराधियों-की कथायें, स्त्रियोंकी सुन्दरता आदिकी चर्चायें, किसीकी निन्दा और किसीकी प्रशंसा, इत्यादिक अनेक कथा-कलापकी ओर क्यों मेरा चित्त आकर्षित होता है? अधिक देरतक अकेला बैठा रहनेमें क्यों दमसा घुटने लगता है? यह कुछ ऐसा संस्कार है जिसको तोड़े बिना अबाधित शान्तिको बनाये रखना असम्भव है। योगीजन इस संस्कारको तोड़नेके-लिए जन-सम्पर्कसे बचते हैं और एकान्तमें वास करते हैं। किन्हीं गहन वनोंमें, पहाड़की कन्दराओंमें, वृक्षकी कोटरोंमें, किसी सूने-घरमें या खण्डहरोंमें वास करते हैं ताकि कोई उनके पास आने न पाये। उन्हें यह पता है कि शान्ति-मार्गसे अपरिचित बेचारे लौकिक जनोंके पास उपरोक्त बातें करनेके सिवाय और है ही क्या? व्यर्थ समय गँवाना है उनके साथ बातें करके तथा अनेकों विकल्प खड़े हो जाते हैं उनकी बातें सुनकर। विकल्पोंसे बचनेके-लिये तो घर छोड़ा और फिर वही विकल्प यहाँ इस दूसरे

मार्गसे प्रवेश करने लगे । योगीजन कैसे सहन कर सकते हैं इस अपनी महान हानिको ? यही है **'विविक्त-शय्यासन'** नामका पाँचवा तप ।

(६) इनके अतिरिक्त और भी एक संस्कार है । क्षुधा-तृषा सम्बन्धी अन्तरंग बाधाके अतिरिक्त शरीरपर बाहरसे आघात पहुँचानेवाली भी अनेकों बाधायें हैं—गरमीकी बाधा, सर्दीकी बाधा, बरसातकी बाधा, डांस, मच्छर, मक्खी, भिर्र, ततैयेकी बाधा तथा सिंहादि क्रूर पशुओं अथवा दुष्ट मनुष्योंकृत अनेकों प्रकारकी असह्य बाधायें । इनके अतिरिक्त भयानक शब्दों तथा भयानक दृश्योंसे भय खानेकी बाधा, एक आसनपर अधिक देरतक बैठे रहनेकी बाधा इत्यादि और भी अनेकों बाधायें है । कहाँतक गिनायें ? कदाचित् दुर्भाग्यवश इन बाधाओंके आ पड़नेपर, इतनी शक्ति मुझमें कहाँ कि शान्तिको स्थिर रख सकूँ ! यद्यपि यह जानता हूँ कि इन बाधाओंसे शरीरको हानि पहुँचे तो पहुँचे मुझे कोई हानि नहीं पहुँच सकती क्योंकि मैं तो चैतन्य व शान्तिमूर्ति, अविनाशी व अविकार, अमूर्तिक पदार्थ हूँ, इनमें-से किसी बाधामें भी मुझे स्पर्श करनेकी सामर्थ्य नहीं; तदपि इस विश्वासको जीवनमें उतारनेके-लिये अपनेको असमर्थ पा रहा हूँ । कोई भी एक संस्कार ऐसे अवसरोंपर जबरदस्ती मेरे उपयोगको शान्तिसे हटाकर इन बाधाओंमें उलझा देता है । मैं बजाये शान्तिके पीड़ाका वेदन करने लगता हूँ और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको भूल बैठता हूँ ।

योगीजन इस दुष्ट संस्कारका निर्मूलन करनेके-लिये आज अपना पराक्रम दिखाने निकले हैं । स्वतः ही वे बाधायें आयें, इसकी प्रतीक्षा किये बिना स्वयं जान-बूझकर इन बाधाओंमें प्रवेश कर जाते हैं वे, या नवीन बाधायें उत्पन्न कर लेते हैं वे, और वहाँ उस अत्यन्त प्रतिकूल वातावरणमें रहकर अभ्यास करते हैं शान्तिमें स्थिरता रखने का । अनुकूल वातावरणमें तो स्थिर रह सकते थे पर प्रतिकूलमें स्थिर रहें तब मजा है, और इस-लिये बैठ जाते हैं ज्येष्ठकी अग्नि बरसाती धूपमें पर्वतके शिखरपर जहाँ शिलायें मानो अंगारे ही बनी पड़ी हों, और बैठे रहते हैं



या खड़े हो जाते हैं घण्टों-घण्टोंके-लिए उस अग्निमें अडिग। इस प्रकारके आतापन योगद्वारा खण्ड-खण्ड कर देते हैं वे गरमीमें बाँधा पहुँचानेवाले संस्कारको।

इसी प्रकार पोषकी तुषार बरसाती रातोंमें सारी-सारी रात नदीके तीर खड़े हुए ध्यानमुद्रा धारण करके सर्दीमें बाधा पहुँचाने-सम्बन्धी संस्कारको तोड़ डालते हैं वे, तथा मूसलाधार बरसातमें वृक्षके नीचे, पत्तोंपर गिरनेके कारण और भी अधिक बिखरी हुई बौछाड़ोंमें, घण्टों शान्तिमें स्थिर बैठे रहकर बरसातमें बाधा पहूँचाने-सम्बन्धी संस्कारको भी तोड़ डालते हैं वे। बरसातकी रातोंमें वृक्षके नीचे योग धारण करके मच्छरोंकी बाधा-सम्बन्धी संस्कारको उखाड़ फेंकते हैं वे। एक ही आसनपर कई-कई घण्टे या कई-कई पहर खड़े रहकर या बैठकर ध्यान करनेवाले उस योगीको देखकर काँप उठता है स्थिरासनमें अस्थिरता उत्पन्न करनेवाला संस्कार या उसमें पीड़ाका वेदन करानेवाला संस्कार और मापता ही दिखाई देता है अपना मार्ग।



सिंहकी गर्जनाओं, हाथीकी चीत्कारों, गीदड़ोंकी चीख-पुकारों, अजगरोंकी फुंकारों, प्रलयकालकी आँधीवत् तीव्र पवनके झोंकोंसे टूट-टूटकर गिरानेवाले वृक्षोंकी गड़गड़ाहटों, पत्तोंकी सरसराहटों, दिशाओंसे आनेवाली सायें-सायेंकी दिल दहला देनेवाली आवाजों, आँधीसे ताड़ित नदियोंमें क्रुद्ध नागोंवत् उछलते हुए जलकी कल्लोलोंके कारण वातावरणने मानो अत्यन्त रौद्ररूप धारण किया है, ऐसे महा भयानक व विकट-वनोंमें दिन-रात ध्यानस्थ रहनेवाले उन पराक्रमी योगियोंके सामने भयके संस्कारका क्या बस चले? इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्रकार लोककी बड़ीसे बड़ी बाधाको जानबूझकर निमन्त्रित करते हैं वे और भिड़ जाते हैं उनके साथ। यही है बाह्य-तपोंमें सबसे अधिक विकट 'कायक्लेश' नामवाला छटा तप।

३. षड्विध अभ्यन्तर तप—अन्तरंगमें नित्य नये-नये रूप धारण करके उठनेवाले विकल्पोंके प्रति भी ग़ाफ़िल नहीं हैं वे। उनका मूलोच्छेद करनेके-लिए जागृत स्वामीकी तरह सदा सावधान रहते हैं वे :—

(१) तनिक सी भी राग या द्वेष सूचक कोई आहट अन्दरमें मिली कि ललकारा तुरत उन्होंने उसे। दौड़ पड़े लेकर हाथमें निन्दन तथा गर्हणकी तलवार, इस आशंकासे कि घुस गया घरमें कोई चोर। बेचारे इन चोरोंके प्राण तो वैसे ही सूखते हैं इनके घरमें प्रवेश करते हुए, यदि कोई भूला-भटका घुस भी जाय तो फिर क्या था, धर दबाया उसे और लगे प्रायश्चित्त तथा दण्डके कोड़े बरसाने उसकी कमरपर। उधेड़ दी उसकी चमड़ी, निकाल दिये उस बेचारेके प्राण, न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। अर्थात् अन्तरंगमें कोई भी खोटा परिणाम उत्पन्न हो जानेपर स्वयं तो आत्मग्लानि पूर्वक अपनेको धिक्कारते ही हैं, इसका अभ्यास तो गृहस्थ दशासे ही करते आरहे हैं, परन्तु अब तो गुरुके समक्ष जाकर भी इसका भाण्डा फोड़ देते हैं वे, और किसी रोगी-को कुशल वैद्य द्वारा दी गयी औषधिकी भाँति बड़े उत्साहसे सहर्ष तथा अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं उनके द्वारा दिये गये दण्ड या प्रायश्चित्तको—कभी महीनों-महीनोंके उपवास, कभी सारी-सारी रात निश्चल ध्यान, कभी गर्मीकी धूपमें अथवा सर्दीकी रातोंमें खुले आकाशके नीचे आतापन व शीत योग, कभी दीक्षा-छेद और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों शारीरिक तथा मानसिक पीड़ाओंका सहर्ष आलिङ्गन। कभी-कभी तो अपने संघको छोड़कर वर्षोंतक रहना स्वीकार कर लेते हैं वे किसी दूसरे आचार्यके संघमें जहाँ उनकी बात भी पूछनेवाला कोई नहीं। कौन जाने वहाँ यह कि कोई बड़े भारी विद्वान् हैं ये अथवा विशेष तपस्वी हैं ये, बड़ा भारी सम्मान है इनका अपने संघमें ? अभिमानका खण्ड-खण्ड हो जाता है इस मारसे। इस-प्रकार दोषोंके अनुसार यथोचित प्रायश्चित्त लेकर अन्तरंगके दोषोंका शोधन करना है 'प्रायश्चित्त' नामका प्रथम अभ्यन्तर-तप। इसका अभ्यास करनेके लिए आवश्यकता होती है चार बातोंकी—१. अपने परिणामोंको ठीक-ठीक पढ़नेका अभ्यास, २. दिनभर या रात्रिको स्वप्नादिमें उत्पन्न हुए विभिन्न परिणामोंका हिसाब-पेटा, ३. गुरु-साक्षी पूर्वक उनके प्रति निन्दन और, ४. पुनः न करनेकी प्रतिज्ञा। इनका भी थोड़ा सा परिचय यहाँ दे देना आवश्यक है।

अनेकविध ऐषणाओंका तथा कषायोंका वास है अन्तरंगके इस चिदाभासी अथवा मानसिक जगतमें—पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, मैथुन सेवनका भाव, राग, द्वेष और न जाने क्या-क्या, कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म, इतने सूक्ष्म कि बहुत अधिक

बुद्धि लगानेपर भी जाननेमें न आवें। अन्दरमें उत्पन्न होनेवाला कोई विवक्षित परिणाम इनमें-से किस जातिका है, यह जान लेना ही है '**परिणामोंको पढ़नेका अभ्यास**'।

अब लो दूसरी बात, 'परिणामोंका हिसाब-पेटा'। जिस प्रकार एक व्यापारी साँझको बैठकर दिनमें हुए लेन-देनका अथवा लाभ-हानिका हिसाब-खाता मिलाता है, उसी प्रकार प्रातः उठनेके पश्चात्से लेकर अबतक 'मैं कहाँ-कहाँ गया, किस-किससे मिला, किस-किस प्रकार किस-किस भावसे अथवा किस-किस कषायसे, क्या-क्या बातें मैंने उनसे कीं' इत्यादि सब बातोंका हिसाब-पेटा साँझको बैठकर मिलाना। भले ही सब बातें अथवा सूक्ष्म भाव स्मृतिके विषय न बन पावें, परन्तु जितने भी अधिकसे अधिक बन पावें उन सबको अपने समक्ष रख-कर चिन्तवन करना कि 'मैंने यह कार्य किया क्यों', 'मैं बड़ा कृतघ्नी हूँ', 'कैसे होगा अब इस दोषका शोधन', 'कब कर पाऊँगा इसे दूर', 'हे प्रभु! रक्षा करो मेरी इन अपराधोंसे', 'शक्ति दो मुझे कि पुनः न हो पावें मुझसे ऐसे कार्य फिर कभी', इत्यादि। यही है—'**परिणामोंका हिसाब-पेटा**', '**आत्म-निन्दन**' तथा '**पुनः न करनेकी प्रतिज्ञा**'।

तीसरी बात है '**गुरुकी साक्षी**'। यद्यपि यह सब कार्य आप अपनी दुकान या मकानपर अकेले बैठे भी कर सकते हो, परन्तु किसी अन्यके समक्ष अपने दोषोंको कहनेमें तथा उनके प्रति आत्मग्लानि प्रगट करनेमें क्योंकि अधिक बल लगाना पड़ता है इसलिये ऐसा करनेसे दोषोंका शोधन जल्दी हो जाता है, और यदि वह अन्य व्यक्ति सौभाग्यवश गुरुदेव ही हों तब तो कहने ही क्या, सोनेपर सुहागा। जिस-किसी साधारण व्यक्तिके समक्ष तो यह कार्य किया भी नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करनेसे व्यर्थकी लोक-निन्दाके अतिरिक्त और मिलना ही क्या है? दुर्भाग्यवश गुरुसम्पर्क प्राप्त न हो तो मन्दिरमें भगवान् तो हैं ही, उनके समक्ष सही, अकेलेमें करनेकी अपेक्षा तो यह अच्छा है ही। गुरुकी या भगवान्की साक्षीमें ली गयी प्रतिज्ञायें प्रायः भंग नहीं होतीं, जबकि अकेलेमें ली हुई प्रतिज्ञाओंमें इतना बल नहीं होता। यह क्रिया साँझ, सवेरे दोनों समय करें तो बहुत अच्छा है, अन्यथा साँझको तो अवश्य करनी ही चाहिये क्योंकि रातकी अपेक्षा दिनमें दोष अधिक होते हैं तथा उन्हें स्मृतिका विषय भी बनाया जा सकता है।

अन्तरंगके इन दोषोंसे अपनी रक्षा करनेके लिए ही साधुजन प्रायः गुरु या आचार्यकी शरणमें निर्भय रहते हैं। जैसे शारीरिक रोगोंका निदान करनेमें वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार आत्मिक रोगोंका अर्थात् जीवनमें लगे अनेक दोषोंकी सूक्ष्म

दृष्टिसे खोज करनेमें आचार्य-प्रभु समर्थ हैं । जिसप्रकार शारीरिक रोगके प्रशमनार्थ खूब सोच-समझकर उस रोगके अनुसार वैद्य औषधि देता है, उसीप्रकार खूब विचारकर उस-उस आत्मिक दोषके प्रशमनार्थ उसीके अनुसार आचार्य-प्रभु शिष्यों-को प्रायश्चित्त देते हैं । जिसप्रकार एक ही रोग होते हुए भी रोगीकी शक्तिकी हीनाधिकताके कारण वैद्य हीनाधिक मात्रामें औषधि देता है, अर्थात् बालकको कम बड़ेको अधिक, दुर्बलको कम हृष्ट-पुष्टको अधिक, उसीप्रकार एक ही दोष होते हुए भी दोषी-शिष्यकी शक्तिकी हीनाधिकताके कारण आचार्य हीनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं । जिसप्रकार हीनाधिक औषधि देनेमें वैद्यको किसीसे प्रेम और किसीसे द्वेष कारण नहीं है, उसीप्रकार हीनाधिक प्रायश्चित्त देनेमें आचार्यको किसीसे राग और किसीसे द्वेष कारण नहीं है । जिसप्रकार कड़वी भी औषधि रोगीके हितार्थ होनेके कारण अमृत है, उसीप्रकार कड़ा भी प्रायश्चित्त शिष्यके अन्तर्शोधनका कारण होनेसे अमृत है । जिसप्रकार कड़वी भी औषधिको रोगी स्वयं वैद्यके पास जाकर ज़िद करके लाता है, उसीप्रकार कड़ेसे कड़ा प्रायश्चित्त भी साधुजन स्वयं आचार्यके पास जाकर ज़िद करके लेते हैं । जिसप्रकार रोगी औषधि में अपना हित समझता है, उसीप्रकार साधु भी प्रायश्चित्तमें अपना कल्याण देखते हैं, उसे दण्ड नहीं समझते, बड़े उत्साहसे अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं तथा अपने जीवनको उस प्रायश्चित्तके द्वारा स्वयं दण्डित करते हैं ।

(२) दूसरा अभ्यन्तर तप है 'विनय', शान्ति-नगरकी यात्राका प्रथम सोपान जिसका देवपूजा गुरु-उपासना और स्वाध्यायके प्रकरणोंमें कथन किया जा चुका है, जिसके बिना इस दिशामें एक पग भी आगे रखा जाना सम्भव नहीं । इसके बिना न उपलब्धि हो सकती है देवकी, न गुरुकी और न उनके दिव्योपदेशकी । अभिमानी बनकर कौन उपलब्ध कर सकता है कुछ ? भले समझता रहे वह अपने घरमें बैठा अपनेको महान्, पर जानते हैं जाननेवाले कि तुच्छ है बेचारा । चाहे हो वित्ताभिमानी, चाहे रूपाभिमानी, चाहे बलाभिमानी, चाहे ज्ञानाभिमानी, और चाहे तपाभिमानी; सब हैं तुच्छ, तृणसे भी अधिक तुच्छ, पतनके पात्र । नयी कुछ उपलब्धि तो दूर, जो लेकर आये हैं पूर्व भवसे वे अपने साथ, उसे भी गँवा देते हैं वे । न हो सकता है उनका कोई देव, न गुरु और न अपने अतिरिक्त कोई आदर्श । अपनेसे अधिक दीखता ही नहीं उन्हें कुछ, हो तो कैसे हो ? मैं किसीसे कुछ प्राप्त करना चाहूँ और खड़ा हो जाऊँ उसके सामने उद्दण्डकी भाँति; न नमन, न नम्रता, न प्रार्थना, न सेवा, तो क्या कुछ ले सकता हूँ उससे ?

स्कूलके गुरुकी विनय न करे तो क्या सीखे ? इसीलिए आजके विद्यार्थी स्कूलसे उतना कुछ सीखकर नहीं निकलते जितना कि पहलेके विद्यार्थी सीखकर

निकला करते थे, क्योंकि आज गुरुकी विनय युवकोंमें उतनी नहीं रही है। रावण मृत्यु शैयापर पड़ा था कि भगवान् रामने लक्ष्मणसे कहा "भाई! जाओ इस अन्तिम समयमें रावणसे कुछ सीख लो, जीवनमें तुम्हारे काम आयेगा, वह बड़ा अनुभवी पण्डित है। यदि नहीं सीखोगे तो समस्त विद्यायें उसके साथ ही चली जायेंगी।" लक्ष्मण गया और रावणके सिराहने खड़ा होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया। उसे मौन देखकर निराश वापिस लौट आया और रामसे बोला कि "भगवन्! वह बड़ा अभिमानी है, बोलता नहीं।" राम बोले "भूलता है, लक्ष्मण! मानी वह नहीं तू है, स्वभावसे ही तू उद्दण्ड है, तूने अवश्य उद्दण्डता दिखाई होगी, वह कैसे बोले? तुझे अगर कुछ सीखना है तो विजेता बनकर नहीं दास बनकर सीखना होगा। जाओ! उसके चरणोंमें बैठकर विनयपूर्वक विनती करो, उसे गुरु स्वीकार करो।" लक्ष्मणकी आँखें खुल गईं, गया और अबकी बार निराश नहीं लौटना पड़ा उसे।

इसी प्रकार चोरसे कहा राजाने कि तुझे सूलीपर पर चढ़ाया जानेवाला है, परन्तु सूलीपर चढ़नेसे पहले तू अपनी विद्या मुझे देदे। राजा हूँ न मैं, सभी महान् वस्तुओंका अधिकारी? बता दी चोरने सारी विद्या पर राजा न सीख पाया ककका भी। चोरने कहा कि राजा है आप इसमें सन्देह नहीं, सभी भौतिक धनके स्वामी हैं आप इसमें सन्देह नहीं, परन्तु राजा या अधिकारी बनकर विद्या नहीं सीखी जाती भगवन्! यह है आध्यात्मिक-धन जिसका अधिकारी राजा नहीं शिष्य होता है, विनम्र शिष्य। खुल गई राजाकी आँखें, छोड़कर मुकुट व सिंहासन उतर आया नीचे, अति विनयसे बैठाया चोरको अपने स्थान पर। अब वह चोर नहीं था उसके लिये, था उसका विद्या-गुरु, उसका उपास्य। अत्यन्त भक्ति तथा बहुमानसे प्रक्षालन किया उसके चरणोंका और मस्तकपर चढ़ा लिया वह चरणोदक। देर नहीं लगी अब उस राजाको विद्या सीखते हुए, राजाको नही शिष्यको, चोरके विनम्र शिष्यको। भीलने भी सीखी थी धनुर्विद्या गुरु-द्रोणकी प्रतिमासे, प्रतिमासे नहीं साक्षात् गुरुसे, शिष्य बनकर, सच्चा शिष्य बनकर, अर्जुनसे भी अधिक विनम्र, और इसीलिए मात कर दिया अर्जुनको भी उसने, शर्मा दिया अर्जुनकी भी विद्याको उसने। यह सब है 'विनय' का माहातम्य।

सौभाग्य है मेरा कि मुझे प्राप्त हुआ है यह महारत्न-चिन्तामणि, गुरुकृपासे गुरुकृपा प्राप्त करनेकी कुञ्जी। गुरु ही प्राप्त हो गए तो फिर रह क्या गया? वे ही हैं सब कुछ, भगवान्से भी महान्। परन्तु क्या यह महारत्न अकस्मात् उपलब्ध हो गया था मुझे? नहीं दूरसे देखी थी इसकी कुछ आभा मैंने उस

समय जब कि बच्चासा था मैं। नित्य प्राय: नमस्कार करता था झुककर, पहले माताके चरणोंमें और फिर पिताके चरणोंमें। वे ही तो थे मेरे भगवान् उस समय, मेरे जीवन, मेरे सर्वस्व। उनके इशारे पर चलता था मैं, उनकी एक-एक आज्ञाका पालन करता था मैं, उनके खड़े होनेपर खड़ा हो जाता था मैं, उनके चलनेपर उनके पीछे-पीछे चलता था मैं, उनके पधारनेपर उन्हें आसन देता था मैं। इसीप्रकार विद्यार्जनके क्षेत्रमें अपने गुरुजनोंके प्रति, और सामाजिक क्षेत्रमें वृद्धजनोंके, गुणीजनोंके तथा सुप्रतिष्ठित-जनोंके प्रति भी। उस अभ्यासका ही तो प्रताप है यह कि कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ आज मैं गुरुचरण-शरणको प्राप्त करके। अब मुझे क्या चिन्ता? कोई संस्कार पर नहीं मार सकता यहाँ। किसका साहस कि गुरुदेवके समक्ष आए?

इनकी ही कृपासे प्राप्त है मुझे यह शान्ति तथा समता, महानतम उपलब्धि, जगतकी बड़ेसे बड़ी विभूति भी रखी नहीं जा सकती जिसके पासंगमें। कैसे गाऊँ मैं इसकी महिमा, कैसे करूँ मैं इसका स्तवन इस महानतम उपलब्धिका, शब्द हैं ही कहाँ मेरे पास, और हों भी तो उनमें शक्ति ही कहाँ है ऐसा करनेकी? जड़ शब्दोंमें हार्दिकता कहाँ? मैं स्वयं जानता हूँ इसकी महिमा, स्वयं ही रसपान करता हूँ उसका और स्वयं ही लेट जाता हूँ इसके चरणोंमें। इसप्रकार अपनी महान आध्यात्मिक उपलब्धियोंके प्रतिका बहुमान है **पारमार्थिक विनय**, निश्चय विनय; और उनके निमित्तभूत देवके प्रतिका, सद्गुरुके प्रतिका, सरस्वती माँ या शास्त्रके प्रतिका, माताके प्रतिका, पिताके प्रतिका, विद्यागुरुके प्रतिका, वृद्धजनोंके प्रतिका, गुणीजनोंके प्रतिका तथा सुप्रतिष्ठितजनोंके प्रतिका बहुमान है **व्यवहारिक विनय**, कारणमें कार्यरूप औपचारिक विनय, कुछ साधुके योग्य और कुछ गृहस्थके योग्य। नमन, वन्दन, स्तवन, पाद प्रक्षालन, अर्घावतारण आदिरूप सभी क्रियायें इसमें सम्मिलित हैं। परन्तु व्यक्तिकी भूमिकानुसार इन सब क्रियायोंमें अन्तर होना स्वाभाविक है।

शान्तिके इस सरल मार्गपर बराबर कुछ पथिक चले जा रहे हैं, कुछ तेज़ीसे और कुछ धीमे, कुछ आगे और कुछ पीछे। बहुत-कुछ आगे निकल चुके हैं, मानो क्षितिजको भी पारकर गये हैं, जिनपर आज मेरी दृष्टि भी नहीं पड़ती और कुछ मेरे निकटमें ही थोड़ा आगे बढ़े चले जा रहे हैं। अपरिचित मार्गमें चलनेवाले इन पथिकोंको स्वाभाविक रूपमें ही अपनेसे आगे-वालेके प्रति कुछ बहुमानसा जागृत हो जाता है जो कृत्रिम नहीं होता। किसीकी प्रेरणासे नहीं बल्कि स्वयं आगे बढ़नेकी जिज्ञासामें-से अंकुरित हुए इस बहुमानवश, वह अपनेसे आगेवाले उस पथिकको डरते-डरते पुकार उठता है कि प्रभो! तनिक ठहर जाओ, मेरा

भी हाथ पकड़कर तनिक सहारा देदो, पर उस बेचारेको यह क्या पता कि उस आगेवालेकी भी ठीक यही दशा है। वह अपने आगे-वालेको अपना हाथ पकड़ने के-लिए प्रार्थना कर रहा है और वह तीसरा अगले चौथेको। प्रत्येककी पुकारमें उसका अपना स्वार्थ छिपा है जिसके कारण कि उसको यह भी विचारनेका अवकाश नहीं कि यदि उसकी प्रार्थनाको सुनकर यह आगेवाला रुक जाय, या उसका हाथ पकड़नेके-लिये पीछे मुड़कर देखने लगे तो कितना बड़ा अनिष्ट हो जायेगा उसका। इससे आगेवाला सम्भवतः इतनी ही देरमें इतना आगे निकल जाये कि फिर वह दृष्टिमें भी न आये, अथवा पीछेको देखते हुए और आगे चलते हुए उसको कोई ऐसी ठोकर लग जाय कि नीचे गिरकर उसका सर ही फट जाय।

पीछे व आगेवाले दोनों पथिकोंको अपनी-अपनी क्रियाका फल मिलता है, पीछेवालेकी क्रिया या पुकारका फल आगे-वालेको नहीं मिल सकता। अतः इसकी पुकार स्वयं इसके-लिये तो अत्यन्त हितकर है, पर आगेवालेके-लिये वह अहितरूप बननी सम्भव है। वह आगेवाला अपनी अल्प शक्तिको देखते हुए यदि अपनी रक्षाके-लिए स्वयं पीछे मुड़कर न देखे तो उसे कोई बाधा नहीं पड़ सकती, परन्तु यदि कदाचित् किसी भी आवेशमें पीछे मुड़कर देखले तो प्रभु ही जानें कि क्या हो? उसका सब किया कराया मिट्टीमें मिल जाय। ठीक है कि आगे जाकर शक्ति बढ़ जानेपर उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि बड़ेसे बड़े प्रलोभनकी ओर भी वह दृष्टि उठाकर नहीं देखता। परन्तु अल्प अवस्थामें उसे अवश्य सावधानी रखकर चलना होता है। पीछे-वालेका कर्त्तव्य है कि अपने-लिये न सही, पर आगे-वालेके हितके-लिये वह आवश्यकतासे अधिक पुकार-पुकारकर उसे पीछे मुड़नेके-लिये बाध्य करनेका प्रयत्न न करे।

यह तो केवल दृष्टान्त हुआ। इसका तात्पर्य है ख्यातिकी भावनाओंका प्रशमन करना। उत्कृष्ट बलको प्राप्त साक्षात् गुरुओंके अभावके कारण आज स्वभावतः शान्तिके जिज्ञासु भव्य जनोंका बहुमान, दृष्टिमें आनेवाले उन तुच्छ जीवोंकी ओर बह निकलता है, जिनके जीवनमें गुरुप्रसादसे किंचित्मात्र चिन्ह उस शान्ति या पवित्रता या शुचिताके उत्पन्न हो गये हैं। उस बहुमानवश उस तुच्छ जीवके प्रति उसके द्वारा नमस्कार आदि कुछ ऐसी क्रियायें प्रकट हो जाती है जो अधिक शक्तिशाली व ऊँची भूमिकामें स्थित जीवोंके ही योग्य थीं। यद्यपि उनका यह बहुमान कृत्रिम नहीं और न ही किसीकी प्रेरणासे उत्पन्न हुआ है, स्वयं उसके-लिये यह हितकारी भी है, परन्तु उसे क्या पता कि इन क्रियाओंसे उस छोटेसे जीवका कितना बड़ा अहित हो रहा है, लोकेषणाके अंकुरका सिञ्चन

हो रहा है ? यद्यपि किसीके ऊपर यह नियम लादा नहीं जा सकता, कि देखो जी अमुक व्यक्तिके प्रति बहुमान उत्पन्न न करना या नमस्कारादि न करना, परन्तु स्वपरके उपकारार्थ उनसे यथायोग्य करनेकी प्रार्थना अवश्य की जा सकती है, और यह बात उसे समझाई भी जा सकती है कि भले ही तेरा बहुमान व विनय सच्चा है, तेरे-लिये हितकारी है, पर इस आगे वालेके-लिये कथञ्चित् अहितकारी है। इसकी शक्ति अभी इतनी नहीं है कि इन क्रियाओंको देखकर उसमें लोकेषणा उत्पन्न न हो, अतः अपने लिये न सही पर इस आगेवालेके-लिये तू इन क्रियाओंमें कुछ कमी कर दे, इतनी कि तेरा भी काम चल जाय और इसके काममें भी बाधा न पड़े। इसलिये गुरुदेवोंने नमस्कारादिक क्रियाओं-सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये हैं कि साधुको साष्टांग नमस्कारके-द्वारा, उत्कृष्ट श्रावकको चरणस्पर्शके-द्वारा, तथा जघन्य व मध्यम श्रावकको यथायोग्य अंजुलिकरणके द्वारा ही अपने-अपने बहुमानका प्रदर्शन करना योग्य है। ऊँचेके योग्य नमस्कार नीचेके प्रति करना योग्य नहीं।

(३) इन महान उपलब्धियोंके प्रति इस प्रकारका हार्दिक बहुमान अथवा विनय जागृत हो जानेपर आप ही सोचिये कि क्या होगी मेरी दशा उस समय, जबकि कदाचित् दुर्भाग्यवश संस्कारके द्वारा प्रेरित हुआ मैं च्युत हो जाऊँगा अपनी उस स्थितिमें अर्थात् शान्ति तथा समतासे, और ढकेल दिया जाऊँगा विकल्प सागरमें ? बिल्कुल उस चकोर सरीखी होगी उस समय मेरी दशा जो बड़े-बड़े अरमान हृदयमें लिए, बड़े उत्साहके साथ उड़ानें भरता उड़ा जा रहा है आकाशमें, ऊपर ही ऊपर चन्द्रमाकी ओर; और कदाचित् दुर्भाग्यवश घायल होकर किसी व्याधके निर्दय बाणसे, आ पड़े पृथ्वीपर तड़फता हुआ, फड़फड़ाता हुआ। क्या उस समय मैं भीतर ही भीतर यह प्रयत्न न करूँगा कि जिस-किस प्रकार हाथ पाँव मारकर मैं आ सकूं इस विकल्प-सागरके तटपर जहाँ खड़ी है शान्ति तथा समतारानी मेरी प्रतीक्षामें, और क्या मेरा यह प्रयत्न कृत्रिम होगा ? सहज रूपसे ही प्रगट हो जायेगा वह महापुरुषार्थ मुझमें। इसप्रकार शान्ति और अशान्तिके, समता और विषमताके झूलेमें झूलते हुए मेरा प्रयत्न बराबर रहेगा यह कि किसी प्रकार मैं वहाँसे च्युत न होने पाऊँ, और कदाचित् दुर्भाग्यवश हो जाऊँ तो पूरा बल लगाकर प्रयत्न करूँ पुनः उसी स्थितिको प्राप्त करनेका। यह है अपनी पारमार्थिक सेवा, और यही है 'वैयावृत्त्य' नामवाला तृतीय अभ्यन्तर तप।

यह तो है पारमार्थिक या निश्चय वैयावृत्य, परन्तु इसके साथ-साथ क्या मैं शान्ति-नगरके प्रति यात्रा करनेवाले अपने अन्यान्य साथियोंकी भी सेवा या

वैयावृत्यमें नहीं जुट जाऊँगा उस समय, जबकि वे भी मेरी ही भाँति च्युत कर दिये जायेंगे अपनी स्थितिसे, संस्कारोंके द्वारा ? अपने तन, मन, धन तथा जीवन किसीकी भी चिन्ता नहीं होगी मुझे उससमय, बस होगी एक चिन्ता यह कि किसी प्रकार भी ये पुनः प्राप्त कर सकें अपनी पूर्व-स्थितिको, उस सोपानको जिस परसे कि ढकेलकर नीचे फेंक दिया गया है इन्हें विकल्प-सागरमें । सद्गुरुदेवकी तो बात नहीं, उनके प्रति तो कर ही दूँगा मैं दिनरात एक, उनके अतिरिक्त अपने सहयात्रियोंके प्रति भी कोई कसर उठा नहीं रखूँगा मै, उसीप्रकार जिस-प्रकार कि स्त्री-पुत्र आदिमें-से किसीके कदाचित् रोगग्रस्त हो जानेपर आप सब कुछ व्यापार धन्धा छोड़कर जुट जाते हैं उनकी सेवामें । इतना ही क्यों, क्या अन्य साधारण व्यक्तियोंके प्रति भी मैं अपने इस महाकर्त्तव्यको भूल जाऊँगा ? कोई भी क्यों न हों वे व्यक्ति—मनुष्य हों या हों पशु पक्षी, कौटुम्बिकजन अथवा प्रेमीजन हों या हों राजमार्गपर चले जानेवाले अपरिचित व्यक्ति, सधन हों या निर्धन, सबल हों या निर्बल, ज्ञानी हों या अज्ञानी, गृहस्थ हों या संन्यासी, खाते-कमाते हों या हों भिखारी अथवा दुःखित भुःखित, सबकी सेवा करूँगा मैं समान रूपसे, उनके दुःख अथवा संकटके अवसरपर । न केवल तनसे प्रत्युत धनसे, वचनसे तथा मनसे भी । शरीरद्वारा उसकी टहल सेवा करके अथवा उसके स्थानपर स्वयं उसके गृहस्थोचित कर्त्तव्योंकी पूर्ति करके, उसके खेतमें काम करके; धनद्वारा उसकी आर्थिक सहायता करके, वचनद्वारा उसे सान्त्वना देकर, उसकी धीर बँधाकर और मनद्वारा उसके सुख व शान्तिकी कामना करके, प्रभुसे उसके-लिए प्रार्थना करके । और क्या कृत्रिम होगा मेरा यह प्रयत्न, कुछ भार-सा समझ-कर ? नहीं सहज होगा, स्वाभाविक होगा, हृदय-युक्त होगा । क्यों न हो, मैं उसे अपनेसे भिन्न देखता ही कब हूँ, मुझे तो दीखता है चेतन, बिलकुल वैसा ही जैसा कि मैं स्वयं हूँ, शान्ति तथा समताका आवास । यह है बाहरका व्यवहार-वैयावृत्य अर्थात् निष्काम सेवा । यदि मैं ऐसा न करूँ अथवा भार समझकर कृत्रिमतासे करूँ तो इसका अर्थ क्या होगा ? यही न कि मैं चेतनकी बात ही करना सीखा हूँ, उसके दर्शन अभी मुझे नहीं हुए हैं । मैं वास्तवमें जानता ही नहीं कि क्या-क्या अरमान छिपाये बैठा है वह अपने हृदयमें । 'विनय' की भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि बाह्यके इस व्यवहार वैयावृत्य तपका उल्लेख यहाँ साधु तथा गृहस्थ दोनोंको लक्ष्यमें रखकर किया जा रहा है ।

(४) प्रातः मन्दिरमें बैठकर शास्त्रमें जो पढ़ा था अथवा प्रवचनमें जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें जो विषद रीतिसे समझमें नहीं आ पाई थीं, आपको खाली समयोंमें विचारनी चाहियें कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है और उस वाक्य व शब्दका आपकी शान्तिकी सिद्धिके साथ क्या सम्बन्ध है ?

यदि कुछ नहीं तो वास्तवमें अर्थ ही ठीक नहीं हुआ। शास्त्रमें लिखा एक-एक शब्द शान्तिका द्योतक है, उसको ठीक रीतिसे समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्गमें अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वयं बोलकर बता नहीं सकता, उसमें लिखे शब्द अवश्य संकेत कर रहे हैं किसी ऐसी दिशाका जिधर आपकी शान्ति-का निवास है। उस दिशाका अनुमान लगाना तथा उस अनुमानकी परीक्षा अनुभवके आधारपर करना आपका काम है। साथ-साथ उन बातोंको विचारना भी जो कि विशद रूपसे आपके समझमें आ गई थीं, और बहुमान-पूर्वक व हृदयसे लगन-पूर्वक इनके अतिरिक्त किसी जिज्ञासुको उस समझे हुए सिद्धान्तके अर्थका ठीक रीतिसे कल्याण-भावना पूर्वक उपदेश देना भी। यह प्रक्रिया प्रतिकूल वातावरणमें रहकर आश्रय रहित की जा रही है, और इसीलिये कहलाता है यह स्वाध्याय नामका चौथा अभ्यन्तर-तप। यथार्थमें स्वाध्यायतप तो योगियोंको ही होता है जो कि जीवनमें प्रतिक्षण निज-शान्तिके वेदनरूप स्व-अध्ययन किया करते हैं, परन्तु उतनेमात्र अवसरके-लिए आपको भी उसी भावका आंशिक वेदन हो जानेके कारण, इस अल्प भमिकामें भी यह 'स्वाध्याय' नामका तप कहलायेगा।

(५) पांचवां अभ्यन्तर तप है 'व्युत्सर्ग' या त्याग। यथार्थ व्युत्सर्ग तो योगियोंको ही होता है जिन्होंने इस गृहस्थके सर्व जंजालोंसे मुंह मोड़ लिया है, यहाँ-तककि साथ-साथ रहनेवाले इस शरीरसे भी अन्तरङ्गसे नाता तोड़ दिया है। इसपर अनेकों बाधायें, क्षुधादिकी अथवा मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत, देवकृत व प्रकृतिकृत उपसर्गोंकी, आ पड़नेपर भी वे कुछ परवाह नहीं करते इसकी। धीर वीर बने अपने आन्तरिक सुखमें बराबर मग्न रहते हैं। परन्तु इस अल्प भूमिकामें एक गृहस्थको भी हो सकता है यह। इन्द्रिय-संयमके प्रकरणमें बताये अनुसार यथायोग्य विषयोंका त्याग करनेके अतिरिक्त (देखो २३ ५) वह त्याग करता है दानके रूपमें, जिसका कथन पहले किया जा चुका है और योगियोंको दृष्टिमें रखकर पुनः आगे किया जानेवाला है 'उत्तम त्यागके' प्रकरणमें।

(६) छटे अभ्यन्तर तपका नाम है 'ध्यान' सर्व तपोंमें प्रधान, सब तपोंका राजा, जिसका कथन आगे पृथक अधिकारमें किया जानेवाला है।

●

३८

ध्यान

•

१. ध्यान-सामान्य—अन्तिम तपका नाम है 'ध्यान' और यही है शान्ति-पथका प्राण, जिसकी सिद्धिके अर्थ देवपूजा आदिका सर्व अभ्यास अबतक करता आ रहा है तू। ध्यानका अर्थ है चित्तकी एकाग्रता, उसकी वृत्तियोंका निरोध, अर्थात् विविध विषयोंमें नित्य यत्र-तत्र भटकते रहनेकी उसकी जो अनादिगत टेव है उसको तिलाञ्जली देकर वह हो जाय स्थिर, शान्ति-प्रवर्धक किसी भी एक विषयके चिन्तवनमें अथवा निर्विषय तूष्णी अवस्थामें और विश्राम करे विकल्पोंकी ज्वालामुखीसे दूर शान्तिके शीतल-सरमें। शान्ति-पथकी यह सबसे कठिन साधना है क्योंकि बिना लगामवाले उच्छृङ्खल घोड़ेकी भाँति अनादि कालसे आजतक जिसका सर्व जीवन भाग दौड़में ही बीता हो, विविध विषयोंमें भटकते रहना ही जिसका स्वभाव हो, ऐसे चित्त या मनको वश करना कोई हँसी-खेल नहीं, बड़े-बड़े योगी हार मानते हैं इससे। इसलिए कुछ विस्तार माँगता है यह विषय।

जिसप्रकार लाठीकी शक्तिसे भ्रमण करनेवाला कुम्हारका चक्र लाठीको हटा लेने मात्रसे तुरत रुक नहीं जाता प्रत्युत लाठीकी शक्तिसे उत्पन्न अपने वेगाख्य-संस्कारवश कुछ समय पर्यन्त स्वतः पूर्ववत् घूमता रहता है, उसी प्रकार विषय-जन्य इच्छा कामना अथवा वासनाकी शक्तिसे भ्रमण करनेवाला मन विषयके हटा लेने मात्रसे तुरत रुक नहीं जाता प्रत्युत वासनाशक्ति-द्वारा उत्पन्न अपने वेगाख्य-संस्कारवश कुछ काल पर्यन्त स्वतः पूर्ववत् भ्रमण करता रहता है विविध विकल्पोंमें। इसका कारण है यह कि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियोंकी भाँति इस अभ्यन्तर-इन्द्रियका विषय बाहरमें नहीं स्वयं उसके भीतर स्थित है। अन्दर बैठा-बैठा वह स्वयं बुना करता है कल्पनाओंका जाल। क्षण भरमें कोटाकोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन कर देनेवाला यह मन ही है भगवान् ब्रह्मा, और अगले क्षणोंमें

सब कुछ अपनेमें लय करनेवाला भगवान् शिव, जगतका कर्ता धर्ता व संहर्ता, सृष्टा धाता व विधाता। विशाल है इसका राज्य जिसका ओर न छोर। स्वयं रचना और स्वयं निगल जाना। और यह विषयजन्य कामना या वासना ही है उसकी प्रधान शक्ति, सांख्यकी प्रकृति और वेदान्तकी अनिर्वचनीया माया।

जिसप्रकार लाठीको हटा लेनेसे कुम्हारका चक्र कुछ समय पर्यन्त घूमता रहकर संस्कार क्षीण हो जानेपर रुक जाता है स्वयं, उसीप्रकार विषयजन्य इच्छा कामना व वासनारूप इस अचिन्त्य शक्तिके हटा लेनेसे मन कुछ काल पर्यन्त भ्रमण करता रहकर संस्कार क्षीण हो जानेपर रुक जाता है स्वयं। २४ घण्टे घर तथा दुकान सम्बन्धी व्यवहार या व्यापारमें रत रहनेवाले मनसे कुछ समयके लिये निश्चल हो जानेकी आशा करना दुराशा है, और इसीलिये प्राय: सब यह कहते सुने जाते हैं कि ध्यान करते समय मनका निश्चल होना तो दूर उसकी गति इतनी बढ़ जाती है कि हृदय रो उठता है। कैसे-कैसे जगत बसाता है उस समय यह और बसा-बसाकर मिटाता है उस समय यह, कौन बता सकता है? इसलिये ध्यानके साधककी सर्वप्रथम आवश्यकता है यह कि वह जन-संसर्गसे दूर किसी ऐसे एकान्त व निर्जन स्थानमें रहनेका अभ्यास करे जहाँ न हो कोई बात करनेवाला और न हो कुछ उसके मनमें वासना जागृत करनेवाला, साथ-साथ मौन रहनेका भी। केवल वचनमौन नहीं मनोमौन भी, क्योंकि मन तथा वचनका परस्परमें इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एकको दूसरेसे विलग किया जाना सम्भव नहीं। मानसिक विकल्प सदा शब्दविद्ध होते हैं और शब्द सदा विकल्पविद्ध। शाब्दिक जल्पके बिना विकल्प और विकल्पके बिना शाब्दिक जल्प सम्भव नहीं। इस एकान्तवास तथा मौनका यह अर्थ नहीं कि घरबार छोड़कर वनमें जा बैठना तथा किसी आगन्तुकके साथ बात न करना, प्रत्युत यह है कि शारीरिक संसर्गों तथा वाचिक संसर्गोंसे दूर मानसिक लोकमें प्रवेश करे और २४ घण्टे अपने मनको प्रेमपूर्वक समझा-समझाकर उसे विकल्पोंसे हटानेका तथा निज स्वरूपमें लीन रखनेका प्रयत्न करे, अन्यथा उसका सकल वनवास तथा मौन दम्भाचारसे अधिक कुछ भी महत्त्व धारण नहीं कर सकेगा।

यही है ध्यानकी सबसे बड़ी कठिनाई जिसको जीत सकते हैं केवल मौनावलम्बी, वनविहारी सन्यासीजन या साधु। परन्तु भाई! तू निराश मत हो, भले ही मौन तथा वनवास करनेमें असमर्थ तू अपनी इस गृहस्थ-दशामें उन योगियों जैसा निर्विकल्प ध्यान न कर पाये परन्तु कुछ ऐसे कार्य अवश्य कर सकता है जो कि ध्यानमें अत्यन्त सहायक हैं। इतनी बात अवश्य है कि इसके लिये काफ़ी परिश्रम करना पड़ेगा तुझे, शारीरिक परिश्रम नहीं मानसिक परि-

श्रम। परन्तु क्या परवाह है, महान पदार्थकी प्राप्तिके-लिये सभी तो महान परिश्रम करते हैं। इच्छा-ज्वालामें घी डालनेवाले विषयोंसे जहाँतक सम्भव हो अपने २४ घण्टेके जीवनमें बचनेका प्रयास करता रह, और कुछ-कुछ समयके-लिये प्रतिदिन मौन-युक्त एकान्तवासका अभ्यास भी।

२. ध्यान-विधि—और यह है ध्यानकी विधि—चले जाइये कुछ देरके-लिए किसी निर्जन तथा शान्त-स्थानमें, वनमें, उद्यानमें, मन्दिरमें अथवा किसी उपाश्रयमें। बैठ जाइये किसी वृक्षके नीचे या प्रभुके समक्ष अथवा अपने ही घरके किसी एकान्त व शान्त कोनेमें, जहाँ न सुनाई दे बच्चोंकी कलकलाहट और न हो मच्छर, मक्खी आदिकी कोई बाधा। बैठ जाइये पृथ्वीपर या कुशासनपर, पद्मासन लगाकर अथवा अर्ध-पद्मासन लगाकर अथवा अन्य कोई भी आसन जिसका तुम्हें अभ्यास हो, जो तुम्हें सुखद प्रतीत होता हो, और कुछ देरतक जिसे आपको बदलनेकी आवश्यकता न पड़े। कमर और गर्दनको सीधी रखिये, और नेत्र तथा श्रोत्र इन दोनों इन्द्रियोंको बाहरसे हटाकर भीतरकी ओर उन्मुख कीजिये। कुछ ऐसी मुद्रा बनाइये कि मानो नेत्र देख रहे हैं आपके मनमें होनेवाला कोई अनोखा दृश्य और श्रोत्र सुन रहे हैं वहाँ ही होनेवाला कोई संगीत। न बाहरका कुछ दिखाई देता है और न बाहरका कुछ सुनाई देता है। इसीको कहते हैं नासाग्र दृष्टि। भले ही योगियोंकी भाँति ध्यान परिपक्व हो जानेपर इस प्रकारके किसी विधि-विधानका आपके-लिए कोई मूल्य न रह जाय, चित्तलय हो जानेके कारण भले ही तब आपके-लिए राजाका रनवास भी वनवास और संस्तरपर लेटना भी पद्मासन बन जाय, भले ही तब चलते फिरते अथवा किसीसे बातें करते भी सदा आपके हृदयमें ध्यानकी अविच्छिन्न धारा बहती रहे, परन्तु वर्तमानकी इस निम्न अवस्थामें बहुत सहायक पड़ेंगे ये सर्व विधान आपके-लिए। इतनी सावधानी रखनी आवश्यक है कि कहीं ऊँघ या निद्राने तो नहीं धर दबाया है आपको अथवा प्रमादवश गर्दन तथा कमर ढीली पड़कर नीचेको तो नहीं झुक गयी हैं आपकी? यह जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिपक्व भूमिको प्राप्त महान् योगियोंकी नक़ल करनेसे तीन काल आपके प्रयोजनकी सिद्धि होनेवाली नहीं है। शान्तिके पथिक होनेके कारण आपका कर्त्तव्य है कि जो कुछ भी करें अपनी भूमिकाको पहचानकर करें। अग्रिम विस्तारमें अनेकों प्रकारके जाप, भावनायें, चिन्तवन आदिका कथन किया जानेवाला है, जिनमें-से कुछ निम्न भूमिवालोंके-लिए हैं और कुछ उन्नत भूमिवालोंके-लिए।

३. आर्त्तरौद्र ध्यान—ध्यान नाम है चित्तका किसी विषयमें अटके रहना, अर्थात् किसी भी विषयको लेकर विचार-मग्न बने रहना, और यह स्वभाव है

इसका। हर समय कुछ-न-कुछ ध्यान किया ही करता है यह। भले विषय बदलते रहें परन्तु ध्यान एक क्षणको भी नहीं छूटता। कभी इष्ट विषयोंकी प्राप्ति अभिवृद्धि तथा संरक्षणका, कभी अनिष्ट विषयोंके परिहारका, कभी वेदनाका और कभी अग्रिम भव-भवान्तरोंमें प्राप्त होनेवाले इष्टानिष्ट संयोगोंका। इतना ही नहीं, इस स्वार्थ-चिन्ताकी रौमें बहता हुआ यह इस बातकी भी परवाह नहीं करता कि जो-जो भी उपाय वह अपने इन मनोरथोंकी पूर्तिके अर्थ विचार रहा है उनसे कितने प्राणियोंका निर्दय उत्पीड़न, शोषण अथवा घातन हो जाना अनिवार्य है। इसे क्या पड़ी किसीके दुःख सुखकी ? 'कोई रोये या हँसे, मेरे स्वार्थ पूरे हो जायें' केवल इतनी मात्र चिन्ता है इसे। बिना किसी बौद्धिक प्रयत्नके प्रतिक्षण संस्कारवश स्वतः चलनेवाली ये सर्व चिन्तनायें हैं अधोगामी ध्यान, आर्त्तध्यान अथवा रौद्रध्यान, जिनका शान्तिपथमें कोई स्थान नहीं। विपरीत इसके उसके विरोधी हैं ये, और इसलिए साधकका प्रयत्न रहता है सदा यह कि वह इनसे हटाकर चित्तको किन्हीं ऐसी चिन्तवनाओंमें अटकाये जो कि शान्ति तथा समताकी सिद्धिमें सहायक हों।

<u>४. धर्मध्यान</u>—उसको इष्ट है 'धर्म्मध्यान' जिसका विस्तार आगे किया जानेवाला है। यद्यपि देवपूजा, गुरु-उपासना और स्वाध्याय जिनका कथन पहले किया जा चुका है उक्त प्रयोजनमें सहायक होनेके कारण धर्म्मध्यानकी कोटिमें गिने जा सकते हैं, तदपि इस ध्यानका वह रूप दर्शाना इष्ट है यहाँ जिसका कि साधक केवल इसी प्रयोजनसे एकान्तमें बैठकर अभ्यास करता है। अनेक प्रकारसे किया जा सकना सम्भव है यह अभ्यास—मंत्रजाप्य द्वारा, स्तोत्रादिके पाठ द्वारा, भावना-भावन द्वारा, तत्त्व-चिन्तवन द्वारा अथवा निरीह वृत्तिसे ज्ञाताद्रष्टा-मात्र बनकर रहनेके द्वारा। जैसा कि पहले बताया गया है साधकका कर्तव्य है कि अपनी भूमिकानुसार उसे जो उपयुक्त जंचे उसीका अवलम्बन ले, अन्यका नहीं।

<u>५. मन्त्र-जाप्य</u>—धर्म्मध्यानका सर्वप्रथम तथा सर्वसरल रूप है मन्त्रजाप्य, जिसका इस क्षेत्रमें बड़ा महत्त्व है। अनेकों मन्त्र हैं जैसे 'पंचणमोकार मन्त्र', इस मन्त्रके आद्य अक्षर 'अ सि आ उ सा', केवल 'अर्हन्त' शब्द अथवा केवल 'सिद्ध' शब्द, अथवा 'ॐकार' अथवा 'ॐ नमो भगवते महावीराय' इत्यादि इत्यादि। अपनी रुचि तथा श्रद्धाके अनुसार साधक जिसका भी चाहे अवलम्बन ले सकता है।

'प्रणव अर्थात् 'ॐ' मन्त्रकी बड़ी महिमा है। 'अ उ म्' इन अढ़ाई अक्षरोंका यह शब्द सभी मन्त्रोंका राजा है, कारण कि ऊपरसे छोटासा दीखनेवाला इसका रूप अपनी विशाल कुक्षिमें सकल विश्व समेटकर बैठा हुआ है। कोई भी भाव

अथवा किसी भी मंत्रका अर्थ ऐसा नहीं जिसे इसमें समाविष्ट न किया जा सके। १. पंच परमेष्ठी-वाचक नामोंके आद्य अक्षरोंकी सन्धिसे व्युत्पन्न यह शब्द णमोकार मंत्रका प्रतीक तो है ही, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। 'अ' का अर्थ अधोलोक, 'उ' का अर्थ ऊर्ध्वलोक और 'म' का अर्थ मध्य लोक। इसप्रकार तीनों लोक बैठे हैं इसके गर्भमें। २. 'अ' का अर्थ अतीत, 'उ' का अर्थ उन्मेष और 'म' का अर्थ मति। उन्मेष अर्थात् जागृत दशा तथा उसमें दिखनेवाला यह बाह्य जगत, मतिका अर्थ मनोलोक अर्थात् स्वप्नदशामें दिखनेवाला अभ्यन्तर जगत, अतीतका अर्थ इन दोनों दशाओंसे अतीत घोर सुषुप्ति, निर्विषयता, अर्थात् इन दोनों जगतोंका प्रलयन अथवा तूष्णीं अवस्था अर्थात् केवल शान्ति या समतामें स्थिति। यह सारा अर्थ समाविष्ट है इस छोटेसे अक्षरके उच्चारणमें।

३. इतना ही क्यों ? ॐ कारका अर्थ है नाद, कण्ठ तालू जिह्वा ओष्ठ आदिमें किसी प्रकारकी भी क्रिया उत्पन्न किये बिना अन्दरसे उदित होनेवाली सामान्य-ध्वनि, जैसे कि 'अ..................'। कवर्ग आदि सर्व अक्षरसमूह हैं इसमें कण्ठ तालू आदिके द्वारा उत्पन्न किये गए विकार। कण्ठको सुकेड़ लेनेपर वह ध्वनि बन जाती है कवर्ग, जिह्वाके मध्य भागको तालूके साथ लगा देनेपर वह बन जाती है चवर्ग, जिह्वाके अग्रभागको तालूके साथ लगा देनेपर वह बन जाती है टवर्ग और उसे ही दन्तके साथ टकरा देनेपर वह बन जाती है तवर्ग। इसी प्रकार होंठोको परस्परमें मिला देनेपर वही ध्वनि हो जाती है पवर्ग। तात्पर्य यह कि सर्व अक्षर समूहमें अनुगत है वह, मालाके दानोंमें पिरोये गये डोरेकी भाँति। इसप्रकार सकल अक्षर, उनके संयोगसे उत्पन्न विविध भाषायें तथा उपभाषायें, उन विविध भाषाओंमें दिये गए सकल व्यवहारिक तथा पारमार्थिक उपदेश और सकल व्यवहारिक तथा पारमार्थिक-साहित्य, सब कुछ पड़ा है इस छोटेसे मन्त्रराजके पेटमें। इसीलिये सकल श्रुतज्ञानका, सकल द्वादशांग वाणीका प्रतीक है यह अकेला। ४. 'अ' का अर्थ अनुस्यूति, क्योंकि 'क' 'ख' आदि सभी अक्षरोंमें यह अनुक्त रूपसे अनुस्यूत रहता है। 'उ' का अर्थ उत्पाद, और 'म' का अर्थ विराम अर्थात् नाश या व्यय। इसप्रकार उत्पाद व्यय तथा इन दोनोंमें अनुस्यूत ध्रौव्य इन तीनोंका ही युगपत वाचक है यह। और यदि इन तीनोंको ही समेट लिया इसने तो फिर रह क्या गया ? भूत वर्तमान भविष्यत ये तीनों काल, ऊर्ध्व अधो मध्य ये तीनों लोक, जागृत स्वप्न सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें, सकल श्रुतज्ञान, उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों स्वभाव, सब कुछ बीज रूपसे स्थित है इसमें। कहाँ तक गाई जाय इसकी महिमा, कोई भी ऐसा विषय नहीं जो इसके गर्भमें न समा जाता हो। सत्य-असत्य, सम्भव-असम्भव, स्थूल-सूक्ष्म, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग,

सब कुछ पड़ा है इसकी कुक्षि में, और इसीलिये इतना ऊँचा स्थान है भारतीय संस्कृतिमें इसका । जैन तथा अजैन सभी क्षेत्रोंमें अपनी-अपनी श्रद्धा तथा सिद्धान्तके अनुसार समान रूपसे पूज्य है यह ।

शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है, कारण कि वह अकेला न रहकर रहता है सदा अपने वाच्यार्थके साथ । वाच्य-वाचक सम्बन्ध ध्रुव तथा अविच्छिन्न है । किसी भी शब्दका उच्चारण करनेपर उसका वाच्यार्थ बिना बुलाये सामने आकर खड़ा हो जाता है, जिसप्रकार कि 'बेटा' इतना मात्र कहनेसे आपके पुत्र जिनदासकी आकृति स्वतः आकर खड़ी हो जाती है आपके समक्ष । भले ही जिह्वा-प्रदेशपर अथवा श्रोत्र-प्रदेशपर समाप्त हो जानेवाले रटे-रटाये शब्दोंमें यह लक्षण दृष्ट न हो, जैसेकि नित्य भक्तामार स्तोत्रका पाठ करते हुए 'भक्तामर' शब्दका उच्चारण होनेपर भक्त देवगणोंकी कोई आकृति आप देख नहीं पाते; तदपि मानसिक जगतके साथ सम्बन्ध रखनेवाले शब्दोंमें यह लक्षण अवश्यम्भावी है । इसलिये मन्त्रजाप्यके इस प्रकरणमें केवल जिह्वाद्वारा शब्दोच्चारण करके सन्तुष्ट हो जानेकी बात नहीं है, प्रत्युत अपने वाच्यार्थकी आकृतिको साथ लेकर शब्दको मनमें प्रविष्ट करनेकी बात है, अर्थात् जिस मन्त्रका या जिस शब्दका जिह्वासे उच्चारण किया जाय उसके साथ उसके वाच्यार्थका रूप अथवा आकार भी मानस पटपर अंकित हुआ दिखाई देना चाहिये, जैसे कि 'अर्हन्त' शब्दका उच्चारण करनेपर, अर्हद्-प्रतिमाका सांगोपांग-रूप मनमें प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये । इस लक्षणके अभावमें वह मन्त्रोच्चारण ग्रामोफ़ोनका रिकार्ड मात्र बनकर रह जायेगा, जिसका ध्यानवाले इस क्षेत्रमें कुछ अधिक प्रयोजन नहीं है ।

६. स्तोत्र-पाठ—इसी प्रकार किन्हीं स्तोत्र आदि का पाठ करना भी यद्यपि यहां कुछ प्रयोजनीय हो सकता है, परन्तु तभी जबकि मन्त्र-जाप्यवत् उसके वाच्यार्थका ग्रहण करते हुए किया जाय, अर्थात् स्त्रोत्र-पाठके साथ-साथ उस भक्तिभाव का भी आपके हृदयमें उद्भव हो जाय जोकि कविने अपने भावोंके अनुसार उसमें ग्रथित करने का प्रयत्न किया है । क्योंकि शान्ति, समता अथवा ज्ञानादृष्टा-भावकी जागृतिके अभावमें देवपूजा आदि कोई भी धार्मिक क्रिया धर्म्यध्यान नहीं कही जा सकती । मन ही जब बाजारमें घूम रहा है अथवा अनेकविध विषयोंका भोग करनेमें रत है तो उसे धर्म्यध्यान कहोगे या आर्त्तध्यान ? यहां यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि ध्यानका सम्बन्ध मनके साथ है, जिव्हा आदि किसी अन्य इन्द्रियके साथ अथवा शरीरके साथ नहीं ।

इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रोच्चारण अथवा पाठोच्चारण का निषेध किया जा रहा है, प्रत्युत यह है कि इन सकल क्रियाओं द्वारा ध्यानके उक्त लक्षणकी

अर्थात् चित्तवृत्ति-निरोधकी यथार्थ सिद्धि होती रहे। निषेध है उस क्रियाका जोकि अन्तरङ्ग प्रयोजनसे निरपेक्ष वर्त रही है। अभ्यस्त बन जानेके कारण ये मन्त्र व पाठोच्चारण वास्तवमें आज संस्कारकी श्रेणीको प्राप्त हो चुके हैं, इनका उच्चारण करते समय बुद्धिका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। आज यह क्रिया मैकेनिकल (मशीनवत्) सी हो गई है अर्थात् मन कहीं भी घूमता रहे, कैसे भी विकल्पोंके जाल बुनता रहे, परन्तु ग्रामोफ़ोनके रिकार्डवत् मुंह अपना काम करता रहेगा, और हाथ अपना; मुझे स्वयंको इतना भी पता न चल पायेगा, कि किस प्रयोजनको लेकर मैं यहां बैठा हूँ। अन्तरंगमें घूमा करूँ रागद्वेषके संसारमें और बाह्यमें करता रहूँ ध्यान। यह क्रिया जब कभी पहले-पहल प्रारम्भ की थी तब तो बुद्धिकी कोटिमें रहकर ही की थी, परन्तु तब तो यथार्थ प्रयोग किया नहीं, और अब जबकि स्वयं यह अबुद्धिकी कोटिमें जा चुकी है बुद्धि लगाकर भी मेरे प्रयोजनकी सिद्धि कर नहीं सकती, अतः बेकार है।

अब प्रश्न होता यह है कि मन्त्रजाप्य या पाठ आदि द्वारा इस प्रयोजनकी सिद्धि कैसे हो? लीजिये, छोड़ दीजिये इस मैकेनिकल प्रक्रियाको या किसी भी रटे हुए पाठ आदिके आश्रय व उच्चारणको, और स्वतन्त्र रूपसे अपनी बुद्धिका प्रयोग करके उठाइये कुछ विचार अपने अन्तरङ्गमें, गद्यमें या पद्यमें या मात्र अपने अन्तर्जल्पमें। देखिए कितना पुरुषार्थ करना पड़ेगा आपको इस क्रियामें। बुद्धि या उपयोगका काय एक समयमें एक ही चल सकना सम्भव होनेके कारण इस प्रक्रियाके करते हुए आपको अपने मनको जबरदस्ती उन विचारोंमें केंद्रित करना पड़ेगा और वह अपनी इच्छासे इधर-उधर न भाग सकेगा। फलतः लौकिक रूपवाले तेरे-मेरेके विकल्प रुक जायेंगे और वीतरागता, निर्विकल्पता तथा शान्तिका वेदन प्रगट हो जायेगा। बस हो गई ध्यानके प्रयोजनकी सिद्धि।

मन्त्रजाप्य अथवा स्तोत्र-पाठके रूपमें किया जानेवाला यह ध्यान अल्प भूमिकावाले गृहस्थ या श्रावक-जनोंमें अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि शक्तिकी हीनता-वश उनका चित्त भावना-भावन आदिमें टिक नहीं पाता। विशेषता इतनी है कि वहां यह ध्यान नाम न पाकर 'सामयिक' कहा जाता है, जैसाकि श्रावकधर्मके अन्तर्गत पहले बताया जा चुका है।

ध्यान तथा सामयिक वास्तवमें एक ही बात है, विशेषता केवल इतनी है कि सामयिकमें चित्तकी स्थिरता ध्यानकी अपेक्षा कम होती है। वहां ज्ञानधारा तथा कर्मधारा दोनोंका मिश्रण रहता है। सामायिकगत् द्वन्द्व स्थूल होनेके कारण बुद्धिगम्य होते हैं और ध्यानगत वे ही सूक्ष्म होनेके कारण बुद्धिकी पहुँचसे बाहर होते हैं।

७. भावना-भावन—धर्म-ध्यानका दूसरा रूप है भावना-भावन। शास्त्रोक्त पाठ आदि का अवलम्बन लेकर अथवा स्वतः, शब्द-सापेक्ष अथवा शब्द-निरपेक्ष, जिह्वासे उच्चारण करते हुए अथवा केवल विचाररूप, हृदयमें कुछ ऐसी भावनायें जागृत कीजिये जिनके सद्भावमें चित्त लौकिक विषयोंसे विरक्त होकर अन्दरमें डूबने लगे। अनेकों हो सकती हैं ऐसी भावनायें, यथा-क्षेत्र तथा यथा-काल, परन्तु आगमगत १२ वैराग्य भावनाओंका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है यहां। यद्यपि इनका विस्तार आगे किसी प्रकरणमें किया जानेवाला है (देखो ४२.४), तथापि प्रयोजनवश यहाँ भी उनका उल्लेख करनेमें कुछ हानि नहीं, क्योंकि वहाँ इनको जिस रूपमें प्रस्तुत किया गया है, यहाँ उनका उससे कुछ भिन्न ही प्रकारका रूप होगा।

१—हे मन्! तू इस दृष्ट जगतकी ओर क्यों लखाता है? क्या रखा है यहां? सब कुछ 'अनित्य' है। अब है और अगले क्षण नहीं। क्या भरोसा है इसका? किसीकी भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किन्हीं सत्ताओंकी उत्पन्न-ध्वंसी अवस्थायें ही तो हैं, सागरकी तरंगोवत्। उनकी ये चंचल अवस्थायें भी तो विद्यमान नहीं हैं इस समय तेरे समक्ष। तेरे समक्ष तो विद्यमान है मात्र तेरे असत् विकल्प, जिनको तू स्वयं बना-बनाकर मिटाये जा रहा है और स्वयं ही उनमें रुले जा रहा है। सम्भल प्रभो! सम्भल, अपने घरमें स्वयं ही आग न लगा, अपनी शक्तिका दुरुपयोग न कर अथवा इसे व्यर्थ न गँवा। महान कार्यकी सिद्धि करनी है तुझे इससे, शांति-प्राप्तकी, समता-प्राप्तकी। २—अपनी शक्तिके द्वारा अपनेमें उत्पन्न की जानेयोग्य इस शान्तिके-लिए इन बाह्य पदार्थोंकी शरणमें जाते हुए, इनका द्वार खटखटाते हुए, इनसे भिक्षा माँगते हुए क्या लाज नहीं आती तुझे? समस्त विश्वका अधिपति होकर भी क्यों व्यर्थ भिखारी बना भटक रहा है तू? हट वहाँसे और इधर आ अपने भीतर, इस चेतन-महाप्रभुकी शरणमें, भरा पड़ा है जहां तेरा अपना अनन्त वैभव। स्थायी है वह और सत्य।

३—सब कुछ संसरणशील है यहाँ, इस निःसार जगतमें। अभी उत्पत्ति और अभी विनाश, अभी जन्म और अभी मरण। एक भगदड़ मची है सर्वत्र, इसके अतिरिक्त और क्या है यहां? और इसीलिए भगदढ़ मची है तेरे अन्दर भी, एक विकल्प आया और दूसरा गया। जो कुछ किसीके पास है वही तो देगा वह अपने शरणार्थीको। इसके पास है भगदड़ और वही दे रहा है यह तुझको। छोड़ प्रभु! छोड़, अब इसकी शरणको छोड़ और आ इधर, अपने भीतर, चेतन-महाप्रभुकी गोदमें, और स्नान कर शान्तिसरके नीरंग तथा निस्तरंग शीतल जलमें, भव-भवका संताप दूर हो जायेगा तेरा। ४—हे चित्त! किसको कह

रहा है तू अपना ? भवसागरमें गोते खाता, थपेड़े सहता, इस तरंगसे उसपर और उस तरंगसे इसपर फेंका जाता तू यहाँ किसे कहता है अपना ? सब तुझसे भिन्न हैं, अन्य हैं, पर हैं। रेलमें सफ़र करनेवाले यात्रीको मार्गमें न जाने कितने टकराये और कितने छूटे, घर लौटे तो एक भी साथ नहीं, सभी चले गये जहां जहाँ जिसे जाना था। माता-पिता, स्त्री-कुटुम्ब, प्रेमी-बान्धव सभी उतर जाने वाले हैं अपने-अपने स्टेशनपर। क्यों व्यर्थ देखता है इनकी ओर आशाभरी दृष्टिसे ? हट वहाँसे इधर आ, अपने हृदयकी उस गहराईमें जहाँ न कुछ आता है और न कुछ जाता है, जो है वही रहता है और वैसा ही रहता है। ५—अकेला ही आया है और अकेला ही चला जायगा। न कोई आया है तेरे साथ और न कोई जायेगा तेरे साथ। सब दुःख-सुख भोगेगा तू स्वयं, कोई बँटवानेवाला नहीं। क्यों व्यर्थ चिन्ता करता है इनकी, क्यों व्यर्थ सहाय खोजता है इनकी, इस अखिल जड़-चेतनवर्ग की ? न कुछ अनुकूल है यहाँ न प्रतिकूल, न इष्ट न अनिष्ट। हट यहांसे, आ अपने भीतर, देख इस चैतन्य महाप्रभुको। यही है तेरा पिता और माता, यही है तेरा पुत्र और पत्नी। सब कुछ यही है, इष्ट भी और अनिष्ट भी, शत्रु भी और मित्र भी, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसमेंसे ही उद्भव हुआ है तेरा और तेरे सर्व द्वन्द्वात्मक विकल्पोंका, तथा इसीमें समा जानेवाला है तू और तेरे ये सकल द्वन्द्व। यही है ईश्वर, सृष्टा, कर्ता, धर्ता और संहर्ता, सकल जगतका, बाह्य जगतका और अभ्यन्तर जगतका।

६—जिसके प्रति जा रहा है तू दौड़ा हुआ पागलोंकी भाँति, क्या देखा है हे मन ! तूने उसका वीभत्स रूप कभी, चिकने-चिकने चमड़ेसे मँढ़ा हुआ यह मांसास्थि पञ्जर, विष्टाका घड़ा, महा अशुचि, महा अपवित्र। कौन सुन्दरता है इसमें, कौन आकर्षण है इसमें, तेरे अपने शरीरमें और इस स्त्रीके शरीरमें जिसपर लुभाया जा रहा है तू ? पवित्र वस्तुओंको भी अपवित्र कर देनेवाले इससे अधिक अपवित्र क्या है इस जगतमें, घिनावना क्या है इस जगतमें ? भगवानने तो तेरा सेवक बनाकर भेजा था इसे, परन्तु तू स्वयं बन बैठा इसका सेवक। मूर्च्छा, महान मूर्च्छा। हट इधरसे और आ अपने भीतर, देख अपना सुन्दर शरीर, ज्ञान शरीर, अनन्त ज्योतिपुञ्ज, चित्पिण्ड। ७—बस हो अब नित्य-नूतन अपरोधोंसे, इस पुण्य-पापरूप आस्रवसे, जिसने खो दिया है तुझे घर-घाटसे। रक्षा कर अपनी इस सर्वभक्षी दुष्ट राक्षससे। आ इधर, स्वयं अपने भीतर, देख अपना सौम्य तथा साम्य स्वरूप, इस ज्ञान-दर्पणमें, जहाँ न है मैं न तू, न मित्र न शत्रु, न सज्जन न दुर्जन, न ऊंच न नीच, न इष्ट न अनिष्ट, न जन्म न मरण, न हानि न लाभ, न ग्राह्य न त्याज्य। है केवल चिज्ज्योति-अखण्ड व अगम्य। ८—दबाले प्रभु ! दबा ले, इन सर्व बाह्याश्रित द्वन्द्वोंको।

संवरण करदे इनका, उनका जिन्होंने कि नष्ट कर दिया है तुझे, रुला रखा है तुझे। चञ्चल जगतकी ओर देखनेमे ही तो भटक रहा है तू इन स्व-रचित द्वन्द्वोंमें, विविध विकल्पोंमें। यदि कदाचित् देखले एक बार, केवल एक बार, स्वयं अपनी ओर, अपने भीतर विराजमान महाप्रभुकी ओर, तो कृतकृत्य हो जाय तू, इस द्वन्द्व-सागरसे पार हो जाय तू। ९—और फिर यह दुष्ट संस्कार-राशि भी, जिसे पुष्ट किये जा रहा है तू, नित्य-नूतन अपराध कर-करके, भूखे मरते छोड़ जाय तेरा घर, क्षीण होकर झड़ जाय सब, पतझड़की भांति। निर्जरा हो जाय इनकी, तू हो जाय निश्चिन्त व अभय, इनसे तथा इनके आतंकसे। जब इनकी कोई बात ही नहीं पूछेगा तू, तो क्या बिगाड़ सकेंगे ये तेरा? और वास्तवमें ये हैं भी तो नहीं, तेरी कल्पनाओंके अतिरिक्त कुछ।

१०—देख चेतन! देख, अपनी महिमा। तीन लोकका अधिपति है तू, इसका ईश्वर तथा परमेश्वर है तू। तुझमें-से ही निकला आ रहा है सब कुछ और तुझमें ही लीन हुआ जा रहा है सब कुछ, सागरकी तरंगोंवत्, अन्तरंगका यह वैकल्पिक लोक, जिसका न ओर है न छोर। यह व्यवहारिक जगत है केवल इसका प्रतिभास, अभूतार्थ व असत्यार्थ, सम्भवतः इसलिये कि कदाचित् तृप्त हो सके तू इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष करके अपनी इस महान कलाका? परन्तु तू तो समझ बैठा है इसको ही सब कुछ और भूल गया अपनी कलाको। कदाचित् समझ पाता तू अपने इस कौशलको, अपने इस परिपूर्ण विज्ञानको—विकल्प करना, और अगले ही क्षण साकार कर देना उसे एक शरीरका आविष्कार, करके। बता तो सही कि इसके अतिरिक्त और क्या है यह जिसे कि तू कहता है लोक? तेरे विविध शरीरोंका संघात ही तो है, कुछ जीवित शरीरोंका और कुछ मृत शरीरोंका, अथवा उनके नाम-रूपोंका, इसके अतिरिक्त और क्या? ११—हे त्रिलोकाधीश! क्यों लुभाता है इसमें, क्यों लालसा करता है इसकी? सभी कुछ तो सुलभ है, इससे अधिक सुलभता क्या? कल्पना की और तुरत हो गई वह साकार। पद-पदपर बिखरे पड़े हैं, यों ही बेकारसे, तेरी कल्पनाओंके ये साकार रूप। अनेकों बार ग्रहण कर-करके छोड़ चुका है, बना-बनाकर तोड़ चुका है। त्यक्तको पुनः पुनः उठाते, वमनको पुनः-पुनः चाटते, क्या ग्लानि नहीं आती तुझे? कदाचित् जान पाता तू इस जगतकी दुर्लभतम वस्तुको तो कृतकृत्य हो जाता तू सदाके-लिये, सो जाता विश्राममें सदाके-लिये। तेरी अपनी निधि, 'बोधि', ज्ञान। लौकिक विषय-ज्ञान नहीं और न ही शाब्दिक शास्त्र-ज्ञान, प्रत्युत तात्त्विक आत्म-विज्ञान, भीतरी जगतका प्रत्यक्ष करानेवाला रहस्य-ज्ञान, गुरु कृपाके बिना सम्भव नहीं है जो। तज इस लोककी शरण और पकड़ उनकी शरण, उनके द्वारा प्रदत्त आलोककी शरण। १२—और इसीसे जान पायेगा तू

अपना स्वभाव, अपना धर्म, चिदानन्दका मर्म, समता-रस, शान्ति-सुधा, मुक्ति, निर्वाण, और खो जायेगा तू, लीन हो जायेगा तू उसमें सदा-सदाके लिये। न रहेगा तेरा यह मन और न रहेंगे उसके द्वन्द्व।

इसीप्रकार अन्यान्य भी अनेकों भावनाओंका हृदयमें उद्भावन करके देख तू स्वयं, कि किसप्रकार तेरा चित्त, तजकर अपना चञ्चल वृत्त, हुआ जा रहा है लीन, हृदय-सागरकी अथाह गहराईमें, जहाँ न है बाह्य जगतको स्थान और न अन्तरंग जगतकी सत्ता। है केवल एक शान्त-रस, द्वन्द्वातीत समता, और इसलिये भावनाओंके विकल्परूप होता हुआ भी यह कहा जाता है ध्यान, धर्म्म-ध्यानका तृतीय रूप, मन्त्रजाप्य तथा स्तोत्र-पाठवाले प्रथम दो रूपोंसे कुछ ऊंचा।

८. तत्त्व-चिन्तन—धर्म्मध्यानका चौथा रूप है तत्त्वचिन्तवन। अनेक प्रकार-का चिन्तवन किया जा सकता है इसके अन्तर्गत, जिनमेंसे कुछ मात्रका उल्लेख तो आगममें उपलब्ध है और कुछका अपनी बुद्धिसे निकालकर किया जाना सम्भव है। इनके अतिरिक्त भी अनेक चित्रण खेंचे जा सकते हैं अपने मनसे, स्वयं अपनी-अपनी बुद्धि तथा श्रद्धाके अनुसार। आगममें चार चिन्तवन प्रसिद्ध हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। लीजिये पहले क्रमसे इन चारोंका ही उल्लेख करता हूँ, तत्पश्चात् यथासम्भव अन्य भाव भी चित्रित करनेका प्रयत्न करूँगा।

(१) पहला चिन्तवन है 'आज्ञा-विचय'। आज्ञा अर्थात् गुरु-आज्ञा, गुरु-देशना। अपार है गुरुदेवकी कृपा, कैसे गाऊं उनकी महिमा और कैसे करूं उनकी स्तुति, शब्द ही नहीं मेरे पास। जीव आदिक तत्त्वोंके सम्बन्धमें देशना देकर उन्होंने मुझ अन्धेको आँखें प्रदान की, अन्यथा कैसे जान सकता मैं अन्तरंग-जगतके ये रहस्य जहाँतक इन्द्रियोंकी पहुँच नहीं। किसप्रकार प्यारसे पुचकार-पुचकार कर तथा प्रेरणा दे-देकर उन्होंने मुझे इस अथाह सागरसे ऊपर उभारा, शान्ति का मार्ग दर्शाया, जिसपर अपनी शक्ति-अनुसार बराबर आगे-आगे बढ़ता हुआ आज मैं संन्यासीके इस उन्नत सोपानपर पग रखनेके योग्य हुआ, जिसे पाकर कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ मैं। यह सब गुरु-देवकी देशनाका ही तो प्रताप है, और क्या? इस प्रकार हस्तालम्बन देकर मुझे ऊपर न उबारते वे तो पड़ा-सड़ा करता वहीं, जगतके इस अन्ध-कूपमें। धन्य हैं गुरुदेव और धन्य है उनकी देशना। भव-भवमें प्राप्त होती रहे मुझे यह, जबतक पूर्ण न हो जाऊँ मैं।

(२) दूसरा चिन्तवन है 'अपाय-विचय'। अपाय अर्थात् प्राप्तिका अभाव। इस देशनाकी प्राप्ति न होनेके कारण ही आजतक इस विकट-वनमें भटकता रहा, क्षणभरको भी अन्तर्शान्तिका परिचय प्राप्त न हुआ। मेरा अभाव तो

कभी हुआ नहीं था, चला तो अनादि कालसे ही आ रहा हूँ, परन्तु कितने आश्चर्यकी बात है कि आजतक इसके प्रति जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई मेरे हृदयमें। और इसी प्रकार कितने दुःखी हैं जगतके ये सर्व प्राणी भी, बेचारोंको ये भी पता नहीं कि दुखी हैं या सुखी, शान्तिकी प्राप्ति हो तो कैसे हो? हे गुरुवर! कृपा करो इनपर भी मेरी ही भाँति, देशना देकर उबार लो इनको भी मेरी ही भाँति। मेरे ही भाईबन्धु तो हैं सब, एक चेतन-तत्त्वकी सन्तान।

(३) तीसरा चिन्तवन है 'विपाक विचय'। विपाक अर्थात् कर्म-विपाक, संस्कारोंकी जागृति। कितने दुष्ट हैं ये प्रबल संस्कार? सदा इनके पाले पड़ा रहा। क्षण भरको भी हितबुद्धि न उपजी। उपजती भी कैसे? पहरेपर जो बैठे थे ये दुष्ट, सावधान कि कहीं गुरुवाणी प्रवेश न कर जाय हृदयमें। और ये जगतके सर्व प्राणी भी नाच रहे हैं, मेरी ही भाँति उनके आधीन हुए। बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है इनसे युद्ध ठाननेके-लिये, इनके प्रहारसे बचनेके लिये। गुरुचरण ही एक मात्र शरण है यहाँ। उन्होंने ही मेरी रक्षा की है इनसे और वही करेंगे इस अखिल जगतकी रक्षा। मुझे प्रकाश मिला है उनसे, मुझे बल मिला है उनसे। इन्हें अब जड़-मूलसे उखाड़कर फेंक देना ही है सर्व-प्रथम तथा सर्व-प्रधान कर्त्तव्य मेरा। अब इन्हें मेरा देश छोड़ना ही पड़ेगा, इनके एक बच्चेको भी आज्ञा नहीं मिलेगी अब यहाँ रहनेकी। आजतक इनके आधीन रहा, पर अब नहीं रहूँगा। गुरु-शरण जो प्राप्त हो गई है मुझे।

(४) चौथा चिन्तवन है 'संस्थान-विचय'। संस्थान अर्थात् देहाकृति। कितना सुन्दर लगता है अर्हन्त-प्रभुका शरीर, शान्तिमें नित्य स्नान किये जा रहा है मानो, अनेकं बाह्य अतिशयोंसे युक्त अन्तरंगके अनन्त वैभवका परिचय दे रहा है मानो। और यह गुरुदेवकी वीतराग आकृति, कितनी शान्त तथा सौम्य है यह? अथवा सिद्ध प्रभुका निराकार आकार, संस्थानहीन संस्थान, मूर्तिविहीन मूर्ति? ज्ञान ही है आज उनका शरीर, लोकालोक व्यापी ज्ञान, और इसलिये सर्वगत है वह, सर्व-व्यापक है वह, चिज्ज्योति मात्र। अथवा स्वयं मेरे भीतर हृदयगुहामें विराजमान वह परमदेव, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर, परम-तत्त्व, क्या कहूँ इसे, कैसा संस्थान बताऊँ इसका? ज्योति तथा तेजके अतिरिक्त कुछ दीखता ही नहीं मुझे।

और इसप्रकार अनेकों संस्थानोंका चिन्तवन किया जा सकता है इसके अन्तर्गत, अनेकविध **धारणायें** की जा सकती हैं इसके अन्तर्गत, कल्पनागत धारणायें, परन्तु तत्त्वोन्मुखी। यथाः—

१. देखो कितना महान है यह सागर, न ओर दिखता है न छोर। तूफ़ान उठ रहा है इसमें, ज्वार उठ रहा है इसमें, नक्र-चक्र आदि ने उत्पात मचा रखा

है इसमें, सब ओर उत्तंग तरंगोंने भयंकर बना रखा है इसे। और वह कमल तथा उसकी पतलीसी नाल ? कितने मजेमें खड़ा है इस क्षुब्ध-सागरके बीचो-बीच, बिल्कुल अस्पृष्ट, बिल्कुल निर्भय। इसकी मध्यवर्ती कर्णिकापर बैठा हूँ मैं, पद्मासन लगाये, ध्यान-मुद्रामें, जिसे न पता है सागरका और न उसके क्षोभका। २. देखो मेरी नाभिके मध्यमें यह प्रणव, यह ॐ कार, धीमा-धीमा धुआँसा निकलता प्रतीत हो रहा है जिसके बिन्दुमें-से। और लो यह धुआँ तो बन बैठा प्रचण्ड ज्वाला। किसप्रकार बढ़े जा रही है यह आकाशकी ओर, किस-प्रकार भस्मीभूत किये जा रही है यह सबको, मानो प्रलयाग्नि ही है ? भस्म हो गया है मेरा शरीर और यह कमल तथा उसकी नाल भी। केवल शेष रह गया मैं, चित्पिण्ड, जिसपर वश नहीं चलता इसका। अग्नि-ज्वालाओंके मध्य कुन्दनवत् शोभित हो रहा हूँ मैं, या है यह कुछ थोड़ी सी भस्म, मेरे शरीरकी तथा उस कमलकी। ३. देखो कितना बड़ा तूफ़ान उठा पश्चिमकी ओरसे, वेगवन्त वायु, अत्यन्त विकराल। उड़ गई सकल भस्म उसमें। फिर भी कुछ मात्र दिखाई दे रही है मुझे, मेरे इस चित्पिण्डपर लिपटी हुई सी। ४. और लो यह भी धुली जा रही है अब, तूफ़ानके काले-काले विशाल मेघोंसे गिरनेवाली अटूट जल-धाराओंके द्वारा। और अब ? केवल मैं, अत्यन्त निर्मल तथा उज्ज्वल, शुद्ध चैतन्य, और यह सागर, क्षोभ शान्त हो चुका है जिसका। दिशाओं विदि-शाओंमें फैला जा रहा है मेरा प्रकाश, असीम प्रकाश।

५. अब लीजिये कुछ अन्य चिन्तवन भी। "मैं हूँ यह चेतन तत्त्व" निर्मल ज्योति मात्र। भूलकर इसे आजतक शरीरको ही मानता रहा 'मैं', ज्वालाके गर्भमें समा जानेवाले इस शरीरको। इसीका आश्रय लेकर करता रहा सदा नवीन-नवीन विकल्पोंकी सृष्टि, संस्कारोंका निर्माण, तथा पोषण करता रहा सदा उनका, बेसुध। यह भी न जान सका कि किसप्रकार लूटे जा रहे हैं मेरी सम्पत्ति ये, मेरे घरके चोर, और इसलिये सदा बना रहा व्याकुल। आज बड़े सौभाग्य-से प्राप्त हुई है गुरुदेवकी देशना, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य जाना, हित-अहित पहचाना, देवपूजा, गुरु-उपासना आदिके द्वारा संवरण किया उन संस्कारोंका तथा विविध प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर तपोंद्वारा शोषण किया उनकी शक्तिका। मिली एक अपूर्व शान्ति, जिसे पाकर कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ, प्रभु बना जा रहा हूँ मैं। यह सब गुरु-शरणका ही तो प्रताप है, और क्या ?

६—हे चेतन महाप्रभु ! क्यों भूले जा रहा है अपनी महत्ता, क्यों रुले जा रहा है जगतके इस असत्य विलासमें, जिसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं (देखो ९.२) ? क्यों देख रहा है ललचाई-ललचाई दृष्टिसे इनको, किन्हीं सत्ता-

भूत मौलिक पदार्थोंकी पर्यायोंको, उनकी क्षणध्वंसी अवस्थाओंको ? क्या भूल गया कि तूने ही सृजन किया था अपनी कामना तथा वासना-शक्तिके द्वारा, अन्तरंगके वैकल्पिक जगतका और तत्फलस्वरूप अनेकविध-शारीरोंके संघातरूप इस बाह्य-जगतका तथा नोकर्म-जगतका (देखो ८.१) और तू ही स्वयं लीन कर लेनेवाला है अपने इस अखिल बाह्याभ्यन्तर विस्तारको अपने भीतर, और इसप्रकार त्रिमूर्ति तू ही है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य (देखो ९ ६)। सृजन करते-करते बहुत काल बीत चुका है तुझे, देख तेरा दिन अस्ताचलकी ओर चला जा रहा है और रात्रि आकाशपर छाई जा रही, ताकि इस उधेड़बुनसे विश्रान्त होकर आनन्दकी नीन्द सो सके तू, अपने इस अखिल विस्तारको अपने-में लय करके स्वयं अपनेमें खो सके तू।

७. हे भगवन् ! क्या तू भूल गया कि तू ही है सृष्टा इस अखिल विस्तारका ? कुछकी सृष्टि तूने की है आज और कुछ की कल, और किये जा रहा है बराबर बच्चोंकी भांति। कभी एक घरोंदा बनाता है और कभी दूसरा, कभी एक खिलोनेसे खेलता है और कभी दूसरेसे। नवीनता जो भाती है तुझे ? पहले घरोंदेको तोड़कर दूसरा नया घरोंदा बना लिया, पहले खिलोनेको तोड़कर या छोड़कर दूसरा नया खिलोना ले लिया। तेरी लीला या विलासके अतिरिक्त और क्या कहूं इसे ? अपनी ही सृष्टिको, अपनी ही लीलाको क्यों इतने विस्मयसे देख रहा है तू ? भले ही किसी दूसरेके-लिये कुछ आश्चर्यकी वस्तु हो यह, परन्तु तेरे लिये तो कुछ भी नया नहीं है यहाँ। अनेकों बार बना-बना कर तोड़े हैं तूने और तोड़-तोड़कर बनाये हैं तूने ये नाम तथा रूप। अब समेट अपनी इस बाह्य-दृष्टिको, इस अपनी लीलाको और डुबकी लगा स्वयं अपने अन्दर। देख सब कुछ पड़ा है वहाँ, युगपत् (देखो २३.१०)।

८. भो चेतन ! क्यों व्यर्थ रागद्वेष करता है जगतके इन चित्र-विचित्र पदार्थोंमें उलझकर, क्यों इष्टानिष्ट की कल्पनायें करता है ? तू ही तो बसता है इन सबमें, कुछमें प्रत्यक्ष और कुछमें परोक्ष, कुछमें आज और कुछमें कल। जड़-चेतन के भेदको भी अवकाश कहाँ है यहाँ ? जड़ कहलानेवाले ये सब पृथ्वी, पाषाण, धातु, लकड़ी, वस्त्र आदि भी तो रह चुके हैं पहले तेरे आवास, तेरे शरीर ? तू ही तो बसता है या बसता था इन सबमें, और इसप्रकार तेरा ही तो आवास है यह अखिल विस्तार ? विषमताको अवकाश कहाँ ? ज्ञातादृष्टा बनकर देख अपने ही इस अखिल विस्तारका विलास, अपना कला-कौशल। कितनी अद्भुत है इसकी महिमा और तेरी महिमा (देखो २३ १०) ?

९. जड़ दिखता हो या चेतन, सब तेरी ही तो सन्तान है, कोई बड़ी और कोई छोटी, किसीको जन्म दिया था कल और किसीको दिया है आज। सब

भाई-भाई, सब मित्र-मित्र, एक कुटुम्ब, अखण्ड तथा निर्द्वन्द्व। कहाँ है मैं-तूका, शत्रु-मित्रका, सज्जन-दुर्जनका, ऊँच-नीचका, स्त्री-पुरुषका, अथवा इष्टानिष्टका द्वन्द्व ? क्या माता भी करती है अपनी सन्तानमें कभी ऐसा भेद ? प्यार कर सबसे, हृदयसे लगा सबको, आत्म-सात कर सबको, अपनेसे चिपटाले सबको, अपनेमें समाले सबको (देखो २३.१०)।

१०. इनमें और मुझमें क्या अन्तर है ? सब मानो मेरे अन्तष्करणका ही तो प्रतिबिंब है, मैं ही तो प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ इसमें, इसके अतिरिक्त और दीखता भी क्या है यहां ? जिसे अपनी या अपनी भावनाओंकी खबर नहीं ऐसे विकारी दृष्टिवालेको ही सम्भवतः इन सबमें और अपनेमें कुछ अन्तर दिखाई दे, अतः वह भेदभाव, वह द्वैत-भाव भ्रम है। और यह जड़ पदार्थ ? यह भी तो मेरा ही शरीर होनेके कारण मैं ही हूँ। कौनसा पदार्थ ऐसा है जो मुझे इस समय 'मैं' रूप दिखाई नहीं देता ? मनुष्य भी 'मैं' रूप, पशु पक्षी भी 'मैं' रूप, पृथ्वी आदि भी 'मैं' रूप। मेरा ही नाम तो है 'ब्रह्म', मैं ही तो हूँ पूर्ण चैतन्यप्रभु, सर्वत्र मैं ही मैं, ब्रह्म ही ब्रह्म, और कुछ नहीं। अहा हा ! कितना सुन्दर है रूप मेरा, सब मैं ही मैं और कुछ नहीं, 'एकं ब्रह्म द्वितायो नास्ति, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमसि', एक ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं, वह ब्रह्म निश्चयसे एक ही है, और वह तू ही तो है। कितनी सुन्दर बात है, साम्यताका उच्चतम आदर्श।

नोट :—७–१० तकके इन चार चित्रणोंका तात्त्विक समन्वय पहले किया जा चुका है (देखो २३.११)।

११. कितना बड़ा कारखाना है तेरा यह अचित्य विस्तार। कोई पुर्जा छोटा और कोई बड़ा, परन्तु सब एक दूसरेके साथ जुड़े हुए, इसप्रकार कि न हटाया जा सकता है कुछ और न बढ़ाया जा सकता है कुछ। फिर क्यों विकल्प करता है किसीको बनानेका और किसीको बिगाड़नेका, किसीको मिलानेका और किसीको हटानेका, किसीको तोड़नेका और किसीको जोड़नेका ? सदासे चलता रहा है यह इसी तरह और सदा चलता रहेगा यह इसी तरह, न कभी रुका है और न कभी रुकेगा। न तुझसे अतिरिक्त कोई चलानेवाला है इसे और न रोकने वाला, तात्त्विक स्वभावके अतिरिक्त। केवल तमाशा देखा कर इसका, अपने कला-कौशलका। केवल देख इसे और देखता ही रह, बिना कुछ करनेका विकल्प किये, साक्षीमात्र रहकर, ज्ञाता मात्र रह कर (देखो १०.१३)।

१२. ओ चित्त ! क्यों व्यर्थ व्यग्र हो रहा है करने-धरनेके विकल्पोंमें उलझ-कर, जाने-आनेके विकल्पोंमें उलझकर, कहने-सुननेके विकल्पोंमें उलझकर ? एक

अखण्ड तात्त्विक व्यवस्था है यह, बाहर भी और भीतर भी, कालकी, महाकाल की। सब कुछ स्वतः निकला आ रहा है उसमें-से और सब कुछ समाया जा रहा है उसमें। तेरी सत्ता ही कितनी है इस महा-शक्तिके सामने। याद रख पिस-कर रह जायेगा। क्या नहीं देख रहा है कि तेरे जैसे कितने मुर्ख नित्य आ रहे हैं इसकी झपेटमें और पिस-पिसकर नष्ट हुए जा रहे हैं यहां, दीप-शिखापर स्वयं आ-आकर भस्म होनेवाले पतंगोंकी भांति। सम्भल, सम्भल, बस आगे न बढ़, यहां खड़ा रहकर ही देख तमाशा तथा महिमा इस महा-तत्त्वकी।

१३. हे 'मैं' रूपमें प्रकाशित अन्तस्तत्त्व! देख-देख, तू है अकेला, सर्व अन्तरंग विकल्पोंसे तथा चार कोटिके परपदार्थोंसे रहित (देखो ९.३), ज्ञान-ज्योति भगवान् आत्मा। कितना शान्त है तेरा यह रूप और कितना सुन्दर, परन्तु हृदय-गुफ़ामें छिपा-छिपासा कुछ साँवला-साँवलासा। फिर भी हे श्याम-सुन्दर! क्यों भटकता है तू, कभी इस फूलपर और कभी उस फूलपर, रसलौलुप भँवरेकी भांति, छोड़कर अपनी पति-परायणा राधिकाको अर्थात् अपनी आरा-धनाको, शान्तिकी आराधनाको, इसकी साधनाको? क्या कुछ कम सुन्दर लगती हैं तुझे यह?

९. निरीह वृत्ति—यह है धर्म्म-ध्यानका चौथा रूप 'तत्त्व-चिन्तन', मन्त्रजाप्य, स्तोत्रपाठ तथा भावना-भावन, इन तीन रूपोंसे कुछ ऊँचा। और अब चलता है उसका पांचवां रूप 'निरीह वृत्ति'।

जिसप्रकार पानीसे भरे लोटेको एक बार प्रयत्न पूर्वक घुमा देनेके उपरान्त वह इशारे मात्रसे ही बराबर घूमता रहता है, अथवा जिसप्रकार किसी मोटर या ऐन्जिनको एकबार पूरी शक्तिके प्रयोगद्वारा चला देनेके उपरान्त वह अल्प-मात्र शक्तिके प्रयोगसे ही बराबर चलता रहता है, अथवा जिसप्रकार किसी उच्छृङ्खल घोड़ेको एकबार अनेकविध उपायोंद्वारा साध लेनेके उपरान्त वह बिना किसी प्रयोग-विशेषके, स्वामीके इशारेपर बराबर चलता रहता है; उसी प्रकार चित्तको बुद्धिके प्रयत्न पूर्वक चतुर्विध ध्यानोंद्वारा साध लेनेके उपरान्त वह बिना किसी प्रयत्न-विशेषके अथवा बिना किसी जाप्य या चिन्तन आदिका आश्रय लिये, बुद्धि या विवेकके इशारेपर चलता रहता है। किसी विषयकी ओर उन्मुख हो जानेपर जिस प्रकार पहले वह कर्मधारामें बह जाता था, उसप्रकार अब नहीं बहता, प्रत्युत ज्ञानधारामें ही स्थित रहता है, अर्थात् उस विषयको ज्ञातादृष्टारूप साक्षी भावसे जानता मात्र है, उसके साथ रागद्वेष-मिश्रित इष्टा-निष्ट आदि रूप व्यर्थके द्वन्द्वात्मक विकल्प नहीं करता (देखो ९।८, ९)।

धर्म्म-ध्यानके इस क्षेत्रमें किसी पदार्थ या विषयका जानना अनिष्ट नहीं है, अनिष्ट हैं उसके साथ-साथ विना बुलाये आनेवाले वे द्वन्द्वात्मक विकल्प जोकि साधकके अन्तस्तलको क्षुब्ध करके उसे अशान्तिके अथाह सागरमें धकेल देते हैं। ज्ञान तो दर्पण है, जो भी उसके समक्ष आये उसे ही जानले, उसे कुछ भी जानना अनिष्ट नहीं, भले ही हों धर्म्म-ध्यानके उपर्युक्त चार रूपोंमें चित्रित धार्मिक तथा आध्यात्मिक भाव अथवा हों धन, स्त्री, कुटुम्ब विषयक कोई लौकिक भाव। द्वन्द्वात्मक विकल्पोंका उत्पत्ति-क्षेत्र न तो है ज्ञान और न हैं उसके विषय, प्रत्युत है केवल चित्त तथा उसके अनादिगत संस्कार, जिनकी शक्ति ध्यानाभ्यास द्वारा अब इतनी क्षीण हो चुकी है कि बुद्धिकी उपस्थिति या जागृतिके कारण अब उन्हें उच्छृङ्खलता करनेका साहस नहीं होता। बुद्धि भी पहले उन संस्कारों के कारण बहक जाती थी अर्थात् चित्तकी उच्छृङ्खलताके प्रति जागृत रहते हुए बराबर उसपर दृष्टि रखनेके जिस कार्यमें ध्याता उसे नियोजित करता था, वह उन संस्कारों-वश अपने उस कर्त्तव्यको छोड़कर स्वयं चित्तका अनुसरण करने लगती थी। उससे पृथक् अपनी सत्ताका तथा अपनेसे पृथक् उसकी सत्ताका भान भी उसे नहीं रहता था। ध्यानाभ्यासके कारण उसने भी अब इसप्रकार बहकना छोड़ दिया है। अब वह बराबर अपने उक्त कर्त्तव्यके प्रति सतर्क रहती है।

इसलिये योगीको जाप्यादि करनेकी अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। उसे अब केवल इतना ही करना होता है कि किसी भी एकान्त स्थानमें पूर्वोक्त प्रकार निश्चल बैठकर चित्तको ढीला छोड़दे और जानेदे उसे जहां भी वह जाना चाहता है, लेने दे उसे जिस-किसी भी विषयका आलम्बन वह लेना चाहता है, जानने दे उसे जिस-किसी भी विषयको वह जानना चाहता है। परन्तु बुद्धिको बराबर सतर्क रखता है और देखता रहता है केवल इतना कि चित्त कहां-कहां जा रहा है, किस-किस विषयका आलम्बन ले रहा है अथवा किस-किस विषयको जान रहा है। स्वयं निरीह-वृत्तिसे बैठा हुआ वह इतनामात्र ही प्रयत्न रखता है, इससे अधिक कुछ नहीं, न मन्त्र-जाप्य करता है, न स्तोत्रपाठ, न भावना-भावन और न तत्त्व-चिन्तन। बस इतने मात्रसे उसके प्रयोजनकी सिद्धि हो जाती है। चित्तमें द्वन्द्वात्मक विकल्प प्रवेश नहीं पाते और ज्ञान दर्पणमें चल-चित्रकी भांति पदार्थ आते रहते हैं और जाते रहते हैं, कुछ अल्पकाल मात्र रहकर चले जाते हैं और कुछ अधिक काल रहकर। इसप्रकार ज्ञातादृष्टा भावरूप ज्ञानधारामें ही स्थित रहता है वह, कर्ता-भोक्ता बनकर कर्मधारामें नहीं बहता है वह, और इसप्रकार मोह-क्षोभ-विहीन नीरंग व निस्तरंग समता-माताकी प्यारभरी गोदमें विश्राम करता रहता है वह।

१०. पदस्थादि ध्यान—यह ही है धर्म्मध्यानकी सर्वोन्नत भूमि, जिससे आगे चलकर योगी प्रवेश करता है शुक्लध्यानकी अन्तिम भूमिमें। आगममें इन ध्यानोंके-लिए कुछ अन्य भी सैद्धान्तिक नामोंका प्रयोग किया गया है। 'मन्त्र-जाप्य' तथा 'स्तोत्रपाठ' वाले प्रथम दो ध्यान कहे जाते हैं 'पदस्थध्यान' क्योंकि इनमें पद अर्थात् शब्दका अथवा दृष्ट पदार्थके नामका अवलम्बन रहता है। 'भावना-भावन' वाली तृतीयभूमिको 'पिण्डस्थध्यान' कहा जाता है, क्योंकि वे सब भाव पिण्ड अर्थात् देहसापेक्ष होते हैं। 'तत्त्व-चिन्तवन' तथा 'निरीह-वृत्ति' वाली चतुर्थ व पंचम भूमियें 'रूपस्थध्यान' कहलाती हैं, क्योंकि इसमें न तो शब्द या नामका आलम्बन होता है और न देहसापेक्ष किसी भावका, होता है केवल तत्त्वके स्वरूपका। निरीह-वृत्तिवाली पञ्चभूमिमें यद्यपि देहसापेक्ष तथा देहनिरपेक्ष, लौकिक तथा अलौकिक सभी पदार्थ ज्ञानके विषय बन जाते हैं, परन्तु रागद्वेषात्मक द्वन्द्वोंका अभाव होनेके कारण उनका समावेश पिण्डस्थ ध्यान में न करके इस तात्त्विक रूपस्थध्यानमें ही करना अधिक उपयुक्त है। इसके पश्चात् आता है 'रूपातीतध्यान' और वही कहलाता है शुक्लध्यान—नामरूप के आलम्बनसे अतीत होनेके कारण रूपातीत और केवल चिज्ज्योति मात्रका दर्शन होनेके कारण शुक्ल।

११. शुक्लध्यान—चित्तलय हो जानेके कारण भले रागद्वेषात्मक द्वन्द्व शेष न रह गए हों परन्तु बुद्धि जागृत रहनेके कारण अन्तर्पटपर होनेवाली विषयोंकी भागदौड़ तो अभी जीवित है ही, भले रागद्वेषात्मक उत्ताल तरंगोंवाला क्षोभ शान्त हो गया हो इस महासागरका परन्तु ज्ञानात्मक क्षुद्र तरंगोंवाला क्षोभ तो शान्त नहीं हो पाया है अभी, भले ही दृष्टिमें बाह्य जगतका लोप हो जानेके कारण पूर्णतः नीरंग हो गया हो वह, मोहहीन हो गया हो वह परन्तु अन्तरंगमें यह ज्ञानात्मक सूक्ष्म-जगत लुप्त न होनेके कारण पूर्णतः निस्तरंग नहीं हो पाया है वह, क्षोभहीन नहीं हो पाया है वह। मोह-क्षोभ-विहीन साम्यरस बराबर बढ़ता जा रहा है, विशुद्धिमें प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धि होती जा रही है, चारित्र बराबर ऊपर उठता चला जा रहा है, ज्योतिर्लोककी सीमाओंमें प्रवेश पा गया है परन्तु पूर्ण नहीं हो पाया वह, साक्षात् रूपसे ज्योतिर्लोकका वासी नहीं हो पाया है वह।

तथापि इतने मात्रसे योगी निराश होनेवाला नहीं। तपके प्रभावसे उसकी शक्तिमें अनन्तगुणी वृद्धि हो चुकी है, उसके सायकोंकी गति वेगवती हो चुकी है और शत्रुसेना दुम दबाकर भागी जा रही है। पीछा करता है यह महा सुभट उनका, उनका बीजतक नाश करनेका संकल्प किया है इसने। चित्त तो पहले

ही शरण ग्रहण कर चुका था अपनी जननी बुद्धिकी और लो अब यह बुद्धि भी चली, भयके मारे काम्पती हुई, शरणमें अपनी जननी वासनाकी, जागृत वासना की नहीं प्रसुप्त वासनाकी, क्योंकि वह तो मूर्च्छित हो चुकी थी पहले ही, अपना कार्य करनेमें बिलकुल असमर्थ। अत्यन्त क्षीणकाय वह अब कैसे रोक सकती है अन्तर्प्रभुके दर्शनको ? एक ओर चेतन सूर्यका अतुल प्रकाश और दूसरी ओर इसका झीना सा आवरण, कैसे रुक सकता है वह ? खुल गए हृदयगुहाके द्वार और हो गया योगीको साक्षात् उस महाप्रभुका एक अनिर्वचनीय ज्योतिके रूपमें और इसीलिये कहलाता है यह शुक्लध्यान।

चुन्धिया गईं आँखें योगीकी, परन्तु दौड़ा वह बेतहाशा अपने प्रियकी ओर, उससे चिमट जानेके-लिये, उसमें लय हो जानेके-लिये। वासनाकी बची-खुची सेना भस्म हो गई इस महातेजमें और जगज्जननी वासना भी समा गई उसीकी कोखमें। लय हो गया सब कुछ—चित्त गया बुद्धिमें, बुद्धि गई वासनामें, वासना गई महाप्रभुकी कोखमें। न रहा मैं और न रहा तू, न रहा बाह्य जगत और न रहा भीतरी जगत। 'मैं' रूप अहंकार ही निःशेष हो गया, तब योगी भी कहां ? भले ही प्रतीति होती रहे उसे परंज्योतिकी, परन्तु 'मैं अमुक नामधारी योगी' ऐसी द्वैतप्रतीति कहां है अब उसे ? वह भी लीन होकर निःशेष हो गई उसीमें। रह गई एक अनिवर्चनीय शान्ति तथा समतायुक्त ज्योति, सच्चिदानन्द परमेश्वर, महातत्त्व, स्वतत्त्व, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। शून्यमें समा गया सब कुछ। बुझ गया दीपक चित्तका। यही है बौद्धका निर्वाण, माध्यमिकका शून्य और जैनका मोक्ष।



३९
उत्तम त्याग

•

१. त्याग व ग्रहण—अहो त्यागके प्रतीक वीतरागी गुरुदेव ! सर्व बाह्य परिग्रहके, अन्तरंग विकल्पोंके तथा अभिलाषाओंके पूर्ण त्याग-आदर्श ! मेरे जीवनको भी शान्ति-प्रदायक यह त्याग प्रदान करो। अचिन्त्य है महिमा इस त्यागकी, शान्तिकी खान है यह। धन-धान्यादिके ग्रहणमें आज हम कुछ सुखकी महिमा देखते हैं, पर एक वह जीवन भी है जो इसमें साक्षात् दुःख देखता है। अभिप्रायके फेरसे विष भी अमृत भासने लगता है, क्रोध कषाय जागृत होनेपर मृत्यु भी इष्ट हो जाती है। कितना बड़ा अन्तर है दोनोंके जीवनमें ? एक वह जीवन है जिसमें-से यह पुकार निकल रही है कि 'और ग्रहण कर, और ग्रहण कर', और एक वह जीवन है जो मूक भाषामें कह रहा है कि 'और त्याग कर, और त्याग कर।' एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'धनादि सम्पदामें सुख है, इसमें ही सुख है', और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'इसमें ही दुःख है, इसमें ही दुःख है'। एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा', और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'इसके रहते हुए मेरा काम नहीं चलेगा'। एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'धन चाहिये, धन चाहिये', और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'धर्म चाहिये, धर्म चाहिये।' अहो ! अभिप्रायका महात्म्य। नुकतेके हेर-फेरसे 'खुदा' से 'जुदा' हो जाता है। ऊपरका नुकता नीचे कर देने मात्रसे उर्दू में लिखा 'खुदा' शब्द 'जुदा' पढ़ा जाता है। इसीप्रकार शान्तिपर-से अभिप्रायको हटाकर सम्पदापर लगा देनेसे सच्चिदानन्द स्वरूप तू व्याकुलताकी विकराल दढ़का चबीना बन जाता है।

यह कैसे अनुभवमें आवे कि ग्रहणमें दुःख है ? जबतक एक क्षणको भी किंचित् मात्र निराकुलताका स्वाद न चखले तबतक कैसे पता चले कि इसमें दुःख है ? भले गुरुदेवके कहनेपर कहदूं कि हां हाँ यह दुःखोंका

मूल है, पर अन्तरङ्गमें तो ऐसा नहीं भासता । कैसे भासे ? निराकुलतासे व्याकुलतामें जाये तो पता चले कि व्याकुलतामें आया है, पर व्याकुलताको छोड़कर पुनः व्याकुलतामें ही जाये तो कैसे पता चले कि व्याकुलता है यह ? यदि धनोपार्जनकी व्याकुलताको छोड़कर उसकी रक्षाकी व्याकुलतामें घुस गया तो बात तो ज्योंकी त्यों ही रही । उल्लू सदा अन्धकारमें रहता है, क्या पता बेचारेको कि यह अन्धकार है ? उसके-लिये तो वही प्रकाश है । यही तो हालत है मेरी आज, कैसे पता चले कि ग्रहणमें दुःख है ? कुछ थोड़ासा त्याग करके देखूं तो पता चले कि इतनेसे त्यागसे जब कुछ शान्ति आई है तो पूर्णत्याग करके इस योगीको कितनी शान्ति आई होगी । आज मुझे त्यागमें कष्ट प्रतीत होता है और इसीलिये योगीके जीवनको कष्टका जीवन मानता हूँ । किंचित् त्याग करके देखूं तो पता चले कि त्याग-मूर्ति उन योगीश्वरोंका जीवन कितना सुखी है ।

'अपरिग्रह' नामक ३०वें अधिकारमें एक साधुका दृष्टान्त दिया है जिसमें एक साधारणासी ऐलुमिनयमकी कटोरी भी उसके-लिये भार भन गई । उसे त्यागकर उसने सन्तोषकी सांस ली । त्यागसे ग्रहणमें आकर ही पता चला साधुको कि कितना दुःख है ग्रहणमें, इसीप्रकार ग्रहणसे त्यागमें आकर ही पता चल सकता है कि कितना सुख है त्याग में । योगीका जीवन कष्टमें नहीं शान्तिके झूलेमें झूलता है, अभिप्राप बदल चुका है उसका । शान्तिके स्वादके सामने कौन पड़े इस जंजालमें, चुपड़ी खाने वालेको कैसे रुचे कच्चे चने चबाना ? कोई ढेर भी लगा दे उनके सामने स्वर्ण या हीरोंका तो आकर्षणकी तो बात नहीं, उसे उपसर्ग समझें । उन पर दया करके, 'हाय, बेचारे ठिठुर रहे हैं सर्दी के मारे, एक कम्बल ओढ़ा दो इन्हें', ऐसा विचारकर अपने शरीरपरसे कम्बल उतारकर उनके शरीरपर डाल दो, और समझ बैठो हृदयमें कि चैन पड़ गई होगी उन्हे । यह उनसे पूछो कि क्या बीत रही है उनके हृदयपर, एक बड़ा भारी उपसर्ग आ पड़ा है मानो । उनकी शान्ति घाती गई है, विकल्प उठ गये हैं ।

राजपुत्र थे दो । दोनों सहोदर भाई । वैरागी हो गये पर अभिप्रायोंमें महान अन्तर । दोनों ही ने स्वयं राज्य छोड़ा, सम्पदा छोड़ी, परन्तु अन्दरमें एक यह समझता रहा कि उसमें सुख है और एकने समझ लिया यह कि उसमें दुःख है । फलितार्थ एक करने लगा शान्ति-रसकी सिद्धि और दूसरा करने लगा स्वण-रसकी सिद्धि । दोनों ही सफल हो गये अपने-अपने प्रयोगमें । एकको शान्ति-रसके साथ-साथ मिल गई उसकी दासी भी अर्थात् स्वर्ण बनानेकी ऋद्धि भी, और दूसरेको मिला केवल दास, स्वर्ण-रस । ऋद्धि मिलनेपर भी पहलेने आंख न उठाई

उसकी ओर और दूसरेके हर्षका पारावार न रहा। भाईकी खोज कराई और यह जानकर कि नग्न बने बड़ी दरिद्रताकी दशामें जीवन बिता रहे हैं वे, दयापूर्वक आधी तुम्बी स्वर्ण-रसकी भेज दी उनके पास। वीतरागीको आवश्यकता ही कहाँ थी उसकी, ठोकर मार दी और तुम्बी लुढ़क गई। यह समाचार सुनकर दुःखसे रो उठा भाईका हृदय और चल पड़ा स्वयं शेष आधी तुम्बी लेकर। रख दी वह भाईके चरणोंमें। पुनः ठुकरा दी उसने। रो पड़ा भाई। १२ वर्षकी तपस्या यों ही बह गई। "भाई ! यह क्या किया ? दरिद्रताने तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल ही हरली है, यह मैं नहीं जानता था।" अब बरसने लगा अमृत शुभचन्द्रके मुखसे, "भाई ! जाग, स्वर्ण चाहिये तो राज क्यों छोड़ा था ? शान्ति लेने निकला था कि स्वर्ण ? स्वर्ण ही चाहिये तो ले भरले जितना चाहे", और एक चुटकी रजकी अपने तलवेके नीचेसे निकालकर फेंकदी पहाड़पर। पर्वत स्वर्णका बन गया। "ग्रहणमेंसे शान्ति निकालना चाहता है तू ? शान्ति ग्रहणमें नहीं त्यागमें है। शान्ति चाहिये तो मुझ जैसा बनना होगा, जिसके पास अटूट स्वर्ण-भण्डार होते हुए भी उसका ग्रहण नहीं करता", और रच गया यह ग्रन्थ जो आपके सामने है, 'ज्ञानार्णव'। आंखे खुल गई स्वर्ण-गृद्ध भाईकी। ग्रहणका अभिप्राय जाता रहा, त्यागका अभिप्राय जागृत हुआ और आज उसकी वैराग्यशतक आदि अनेकों वैराग्य-रसपूर्ण कृतियें भारतमें बहुत ऊंची दृष्टिसे देखी जाती हैं।

२. आदर्श-त्याग—दूसरी दृष्टिसे भी इस त्यागकी महिमा देखिये। गुरुदेवने कर दिया सर्वस्व त्याग इसलिये कि दूसरे इससे लाभ उठायें। उन्हें स्वयं आवश्यकता नहीं तो दूसरे भी क्यों वंचित रहें इससे, जिनको कि इसकी आवश्यकता है ? अर्थात् कर दिया सर्वस्वका दान उनको जो झोली फैलाये खड़े पुकार रहे थे उनके सामने 'हाय पैसा, हाय धन'। एक सेठ साहबने सड़क पर जाते एक साधुको दया करके एक पैसा दे दिया। साधु सोचने लगा कि क्या करूं इसका ? किसी मांगनेवालेके हाथमें जाता तो कुछ काम आता उस बेचारेके, मेरे किस कामका है, अच्छा देखो कोई भिखारी आयेगा तो दे दूंगा उसे। इतनेमें दिखाई दिया सिकन्दरका लश्कर, बड़े वेगसे चला जाता था घोड़े दौड़ाये। बस फेंक दिया साधुने पैसा उसी ओर। सिकन्दरके मस्तकमें जा लगा वह। चौंका सिकन्दर, किसने फेंका है यह तुच्छ पैसा ? पकड़ लो इस साधुको। साधु आया। "क्यों जी तुमने फैंका है यह पैसा ?" "हां"। "क्या समझ कर ?" साधु बोला, "विचारा था कि कोई भिखारी है बेचारा, भूखा है, अपना देश छोड़कर यहाँ आया है अपनी भूख मिटाने, चलो यह पैसा भी इसे ही दे दो, काम आयेगा इसके, मुझे क्या करना है इसका ?" सिकन्दरकी आखें खुल गईं, पर हमारी आंखें आज तक नहीं खुलीं।

अपनेको सखी दानी माननेवाले भो चेतन ! क्या सोचा है कभी यह कि तू दानी है कि भिखारी ? इतना मिलते हुए भी जिसकी भूख, जिसकी तृष्णा, जिसकी अभिलाषा शान्त नहीं हो रही है, वह क्या देगा किसीको ? जिसको तू भिखारी समझता है उसका पेट तो तुझसे बहुत छोटा है, फिर तू दानी कैसे बना ? तू तो उससे भी बड़ा भिखारी है, 'और ला, और ला' की ध्वनि से मानो तेरा सर चकराया जा रहा है, घुमेर आ रही है। उल्टा दीख रहा है तुझे, भिखारी-को दानी और दानीको भिखारी मानता है तू। दानी देखना है तो देख उस योगीको जिसने सर्वस्व डाल दिया है तेरी झोलीमें, सर्वस्व त्याग दिया है तेरेलिये। दानी बनना चाहता है तो त्याग कर ग्रहण नहीं, त्याग भी निःस्वार्थ त्याग, अपनी शान्तिके-लिए सर्व सम्पदाका त्याग या किंचित् मात्रका त्याग।

आज एक ही ध्वनि है चारों ओर। 'जीवन स्तरको ऊँचा उठाओ, स्टैण्डर्ड आफ़ लिविङ्गमें वृद्धि करो'। परन्तु गुरुओंके आदर्शको भुला बैठनेवाले बेचारे क्या जानें कि जीवनका स्तर किसे कहते हैं ? जिस ओर वे जा रहे हैं वह जीवनका स्तर है कि मृत्युका, शान्तिका स्तर है कि व्याकुलताका सन्तोषका स्तर है कि अभिलाषाओंका, निश्चिन्तताका स्तर है कि चिन्ताओंका ? खेद है कि मृत्युके स्तरको जीवन-स्तर समझ बैठनेवाला आजका भारत उन्नतिकी बजाय अवनतिकी ओर जा रहा है, और मजेकी बात यह कि दूसरोंको उपदेश देने चला है शान्तिका। 'शान्ति' विलासता या ग्रहणमें नहीं है भाई ! त्यागमें है। 'जितना ग्रहण उतनी अशान्ति ओर जितना त्याग उतना शान्ति', यह है यहाँकी महान आत्माओंका उपदेश। उसे सुनो, अपनाओ और देखो कि जीवन शान्त हो जायेगा।

अपने जीवनमें उतारे बिना दूसरोंको उपदेश देना अनधिकृत चेष्टा है। एक स्त्री किसी साधुके पास जाकर बोली कि 'मेरा लड़का मीठा बहुत खाता है, तंग आ गई हूँ, कोई उपाय बताइये'। साधु बोला कि तीन दिन पीछे आना। वह तीन दिन पीछे आई तो फिर बोला सात दिन पीछे आना। वह सात दिन पीछे आई तो फिर बोला कि दस दिन पीछे आना। और इसप्रकार दो महीने बीत गये, स्त्री निराश होती गई। पर दो महीने पश्चात् साधु बोले कि अपने लड़केको मीठा देना बन्द करदो, उसका सुधार हो जायेगा। स्त्रीको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, 'कौन नई बात बताई है महाराजने, दो महीने पहले ही क्यों नही कह दिया था आपने ? इतने दिन व्यर्थ ही पीछे-पीछे घुमाया'। 'ऐसा नहीं है देवी ! इतने दिनों तक मैं खाली नहीं बैठा, तेरे लिये उपाय ही सोचता रहा और अपने जीवनमें उतारकर जब यह देख लिया कि बिना मीठा खाये

भी काम चल सकता है तभी कहा है तुझे कि मीठा न देना।' अतः भो प्राणी! अपने जीवनमें त्यागका आदर्श उतारे बिना दूसरेको त्यागका उपदेश देना तुझे शोभा नहीं दे रहा है। भले थोड़ा ही जीवनमें उतार, पर जितना कुछ जीवनमें उतारा जाय उतना ही दूसरोंको उपदेश देना कार्यकारी है।

आदर्श-त्यागकी शरणमें जाकर मेरा ग्रहणकी रौमें बहते जाना क्या शोभनीक है, क्या इसे त्यागी गुरुका आश्रय कहा जा सकता है? कुछ तो ले ले गुरुदेवसे? भले धन न छोड़, पर घरके अड़ंगेको तो कम कर सकता है। उसमें लौकिक रीतिसे भी तेरा लाभ ही है। भले उसे भी किसीको मुफ्तमें मत दे, मोल बेचदे, उसका रुपया बनाकर अपने पास ही रख, पर उसे कम करके देख तो सही। बीस कुर्सियोंमें-से केवल दो रख, बाक़ीकी बेच डाल, और फिर देख यदि कुछ शान्ति मिलती है तो आगे और त्याग देना नहीं तो आठकी बजाये बारह और ख़रीद लेना।

गुरुदेवका त्याग इससे भी अधिक तथा अनुपम है, उसकी महिमा अचिन्त्य है। यह धन-वस्त्रादिका त्याग व दान तो तुच्छसी बात है, वे तो उस वस्तुका त्याग कर रहे हैं अर्थात् दान दे रहे हैं, जो कोई नहीं दे सकता। किसी एकको नहीं, समस्त विश्वको दे रहे हैं, शब्दोंसे नहीं जीवनसे दे रहे हैं, रोम-रोमसे दे रहे हैं, शान्तिका सन्देश, शान्तिका उपदेश, शान्तिका आदर्श, जिसके सामने तीन-लोककी सम्पत्ति धूल है, उच्छिष्ट है, वमन है।

खेद है अपनी दशापर कि अपना वमन जानते हुए भी मैं उसीको फिरसे ग्रहण करनेके पीछे दौड़ा चला जा रहा हूँ। जिस वस्तुको एक बार नहीं अनन्तों बार ग्रहण कर-करके छोड़ दिया वह वमन नहीं तो क्या है? कौनसी वस्तु यहाँ ऐसी दिखाई दे रही है जो तेरेलिये नई है? देव बन-बनकर, इन्द्र बन-बनकर, चक्रवर्ती व राजा बन-बनकर कौनसी वस्तु ऐसी रह गई है जो तूने न भोगी हो? भूल गया है आज तू अपना पुराना इतिहास, इसीसे नई लगती है यह। याद करे तो जान जाये कि हर भवमें तूने इसे ग्रहण किया और हर भवमें इसने तेरा त्याग किया। तू एक-एक करके इसे ग्रहण करता, इसका पोषण करता, और यह पुष्ट हो होकर एकदम तुझे आँखें दिखा देती। ऐसे कृतघ्नीको पुनः तू ग्रहण करने चला है, आश्चर्य है। अब तो आँखें खोल और इससे पहले कि यह तुझे त्यागे, तू इसे त्याग दे।

यह है उत्तमत्याग-धर्म, जो त्यागके-लिये नहीं बल्कि शान्तिके ग्रहणके-लिये है। शान्तिके अभिप्रायसे रहित किया गया त्याग दुःखका कारण है, उसकी यहाँ बात नहीं है। ●

४०

उत्तम आकिञ्चन्य

•

अहो ! सम्पूर्ण बाह्य व अन्तरङ्ग परिग्रहका त्याग करके, यथार्थ आकिञ्चन्य अवस्थाको प्राप्त गुरुदेव ! आपकी महिमा गानेको कौन समर्थ है ? आकिञ्चन्य-धर्मकी बात चलती है। आकिञ्चन्य अर्थात् 'किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है', ऐसा अभिप्राय महान धर्म है, मेरा स्वभाव है। अपनेसे अतिरिक्त कोई भी अन्य पदार्थ मेरा होना स्वभाव नहीं है, इसलिये शान्तिके उपासकका यह अभिप्राय उसका धर्म है। 'शान्ति मेरा स्वभाव है, मुझे वही चाहिये और कुछ नहीं। उस शान्तिको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहिये' यह है गर्जना उस योगीकी, शान्तिके उपासककी।

१. साध्यासाध्य विवेक—परन्तु योगी कौन ? सभी तो योगी हैं। योगीका अर्थ है जुट जानेवाला। किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कमर कसकर जुट जानेवाला 'योगी' होता है। हम सभी तो कमर कसकर किसी लक्ष्यके प्रति जुटे हुए हैं। तो क्या हम योगी हैं ? हाँ अवश्य। परन्तु उपरोक्त योगी जैसे नहीं। अन्तर है अभिप्रायमें। हमारा लक्ष्य है, 'मुझे तीन-लोककी सम्पत्ति चाहिये, इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी मुझे सहन नहीं है, इसके सामने धर्म कर्म भी मुझे चाहिये नहीं'। और उपरोक्त योगीका लक्ष्य है, 'मुझे शान्ति चाहिये इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी मुझे सहन नहीं, इसके सामने धन कुटुम्बादि भी मुझे चाहिये नहीं'। कितना महान अन्तर है योगी और योगीमें। एकका लक्ष्य है असाध्य तृष्णा और दूसरेका लक्ष्य है साध्य शान्ति। विचार तो सही कि क्या तीन-लोककी सम्पत्तिका लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? मृग-तृष्णामें ही दौड़ता-दौड़ता मर जायेगा, सब कुछ यहीं छोड़ जायेगा, पुनः जन्मेगा, फिर उसी लक्ष्यको रखकर दौड़ता हुआ मर जायेगा। फल निकला केवल जन्म-मरण और अशान्ति, मृगतृष्णाकी दाह। दूसरेका लक्ष्य है सच्चा साध्य

वर्तमानमें प्रयास करेगा, किञ्चित् शान्ति प्राप्त होगी, मर जायगा पर उसे साथ लेकर जायेगा, आगे जन्मेगा, फिर प्रयास करेगा, साथ लेकर गई हुई उस शान्तिमें वृद्धि करेगा और दो-चार बारमें पूरी शान्ति प्राप्त कर लेगा। इसलिये उपरोक्त दो योगियोंमेंसे एक योगी है झूठा और दूसरा है सच्चा। अभिप्राय पर से ही पहिचान की जा सकती है इनकी।

आजके युगमें भी एक योगी हुआ है महात्मा गांधी। वही उपरोक्त पुकार थी—'मुझे स्वतन्त्रता चाहिये, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तीन-लोकके प्रलोभन मेरे सामने आयें परन्तु मेरी पुकार बदलने न पाये। स्वतन्त्रता भी कम नहीं चाहिये पूरी चाहिये। किसीको भी किञ्चित् मात्र हस्तक्षेप करनेकी आज्ञा मैं नहीं दूँगा, किञ्चित् मात्र भी अंग्रेजोंकी सत्ताको मैं स्वीकार नहीं करूँगा, उनके बच्चे-बच्चेको मेरा देश छोड़ना होगा, मेरी स्वसन्त्रता छोड़नी होगी'। लक्ष्य साध्य था, क्योंकि स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और इसलिये इस गर्जनाका प्रभाव समस्त विश्वने देखा। यदि आवाज यह हुई होती कि 'मुझे सर्व विश्वपर सत्ता चाहिये, इससे किञ्चित् मात्र भी कम मुझे स्वीकार नहीं' तो आप ही बताइये कि क्या यह पुकार सच्ची होती? बस तो प्रभु! अपनी धनकी पुकारको बदलकर कोई सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। यदि वास्तवमें शान्तिका उपासक है, शान्तिको लक्ष्यमें लिया है तो सच्चे अभिप्रायसे इसकी साधना कर।

२. <u>दृढ़-संकल्प</u>—यही गर्जना सच्चे योगियोंमें उठ रही है, शान्तिके उपासकोंमें उठ रही है, "मुझे शान्ति चाहिये, इसके अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी नहीं: धन-धान्य, घर-जायदाद, पुत्र-मित्र, स्त्री, विषय-सामग्री, वस्त्र इत्यादिकोंकी तो बात नहीं, उन्हें तो पहले ही त्याग बैठा हूँ, मुझे तो शरीर भी नहीं चाहिए, इसके-लिए आहार भी नहीं चाहिए। इतना ही नहीं अपनी शान्तिमें किञ्चित्मात्र भी बाधा मुझे सहन नहीं, अतः यह नित्य उठनेवाले संकल्प-विकल्प भी नहीं चाहियें, संस्कार नही चाहियें, इनके बच्चे-बच्चेको मेरा देश छोड़कर निकलना होगा, मेरी शान्ति छोड़कर भागना होगा। तीन-लोकका बड़ेसे बड़ा प्रलोभन भी मेरी गर्जनाको बदल नहीं सकता।" आह! कितना बल है इस गर्जनामें और कितनी दृढ़ता, मानो आज सारा विश्व काँप उठा है इसे सुनकर। यह शान्ति प्राप्त करके ही हटेगा, एकदिन अवश्य देखनेमें आयेगा इसका प्रभाव। शान्ति चाहिये तो तू भी इतनी प्रबल गर्जना उत्पन्न कर, जिसमें बल हो तथा दृढ़ता।

देखिये दृढ़ताकी महिमा, एक सूखेसे पतले-दुबले निर्धन ब्राह्मण चाणक्यके पाँवमें चलते-चलते घुस गई कुशा। बस गर्जना निकल पड़ी, 'चाणक्यके पांवमें घुसनेका साहस कैसे हुआ तुझे? किञ्चित्मात्र भी तेरी सत्ता इस वनमें न रहने

पायेगी, तेरा बीज नाश कर दूंगा'। लगा सारे वनकी कुशाको खोद-खोदकर उसकी जड़ोंमें छाछ डालने और तबतक चैन नहीं ली जबतक कि सर्वनाश न कर दिया उसका। नन्द-राजाके मन्त्रीने भी देखा उसका यह दृढ़-संकल्प, मन ही मन विचारने लगा, 'इसकी सहायतासे अवश्यमेव मेरा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा, अर्थात् नन्द राजासे अपने अपमानका बदला ले सकूंगा।' चाणक्यके पास पहुँचा और बोला कि चलिए ब्राह्मण! आज नन्द-राजाके घर ब्रह्मभोज है, और ले जाकर बैठा दिया उसे राजाकी रसोईमें। विलासी राजा-नन्द आया, "अरे यह काला-कलूटा सूखासा नर-कंकाल कहाँसे आया यहां? निकाल दो इसे बाहर।" अपमान करके चाणक्यको बाहर निकाल दिया गया परन्तु एक गर्जना उत्पन्न हुई उस दृढ़-संकल्पी-ब्राह्मणमें, "नन्द! इस अपमानका दण्ड भुगतना होगा, किञ्चित् भी तेरा शेष नहीं छोड़ूंगा, यह शिखा तभी बंधेगी जबकि तेरा बीज नाश हो जायेगा।" ओह! कितना बल था उसकी गर्जनामें और कितनी दृढ़ता, समस्त विश्वने देख लिया उसका प्रभाव, नन्दका सर्वस्व नाश कर दिया गया। सत्ता आई सम्राट चन्द्रगुप्तके हाथमें, जिन्होंने पीछे दिगम्बर योग धारण करके वही उपरोक्त गर्जना उत्पन्न की अपने अन्दर, 'मुझे शान्ति चाहिये इसके अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी नहीं', और विश्वने देख लिया उसकी गर्जनाका प्रभाव।

३. आकिञ्चन्य—परन्तु इस गर्जनाका आधार क्या वह है जोकि कलके वक्तव्यमें आपने समझा अर्थात् 'सर्वस्वका त्याग, विश्वके-लिये सर्वस्वका दान'? नहीं! ऐसा नहीं है। वस्तुके त्यागनेका नाम त्याग नहीं, वस्तुके देनेका नाम दान नहीं। आकिञ्चन्य ही यथार्थ त्याग है, यथार्थ दान है, अर्थात् 'किञ्चित्मात्र भी मेरा नहीं है' यह धारणा ही त्याग है तथा दान भी। पहली गर्जना थी यह कि शान्तिके अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी मुझे नहीं चाहिए, और अब है यह कि शान्तिके अतिरिक्त किञ्चित्मात्र भी मेरा नहीं'। 'मुझे नहीं चाहिए' और 'मेरा नहीं' इन दोनोंमें कुछ अन्तर प्रतीत होता है। पहली पुकारमें ध्वनित होता है यह कि 'मैं ले सकता हूँ पर नहीं लूंगा' और दूसरी पुकारमें ध्वनित होता है यह कि 'मैं ले ही नहीं सकता, जबकि मेरा कुछ है ही नहीं'। परन्तु वस्तुतः दोनोंमें अभिप्राय एक है, वास्तवमें मेरा कुछ है ही नहीं।

ज़रा विचार करके देखो तो पता चल जाय कि यहां वास्तवमें मेरा है ही क्या? मेरी वस्तु वह हो सकती है जो सदा मेरी होकर रहे। जिन वस्तुओंको मैं 'मेरी हैं' ऐसा मानता हूँ, उन्हें मैं अपने साथ लाया नहीं, साथ लेकर जाता नहीं, यहां रहते हुए सदा वे मेरे साथ रहती नहीं, फिर कैसे उन्हें 'मेरी' कह सकता हूँ? वास्तवमें 'मेरी' कहना कल्पना है, जिसके अन्तर्गत छः भूलें पड़ी हैं। इन भूलोंका नाम है षट्कारक। व्याकरणमें आप सबने पढ़े हैं—कर्ता, कर्म,

करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण । इन छः कल्पनाओंके आधारपर ही मैं किसी वस्तुको 'मेरी' कहनेका साहस करता हूँ । जैसेकि—मैं पुत्रादिका पालन करता हूँ अतः मैं उनका कर्ता हूँ, उनका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है अतः वे मेरे कर्म हैं, मेरेद्वारा उनका पालन होता है अतः मैं उनका करण हूँ, उनके-लिये ही मैं सब न्याय-अन्याय कर रहा हूँ अतः वे मेरे सम्प्रदान हैं । उनका पालन करना मेरा स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं । मेरे आश्रयपर ही उनका जीवन टिक रहा है, अतः मैं उनका अधिकरण हूँ, और इसलियेवे मेरे हैं । इसीप्रकार वे मेरी सेवा करते हैं अतः वे मेरे कर्ता हैं, मेरी सेवा करना उनका कर्त्तव्य है अतः मैं उनका कर्म हूँ, उनके द्वारा ही मेरी सेवा हो रही है अतः वे मेरे करण हैं, मेरेलिये ही वे परिश्रम कर रहे हैं अतः मैं उनका सम्प्रदान हूँ, मेरी रक्षा करना उनका स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं, उनके आश्रयपर मेरा यह जीवन सुखसे बीत रहा है अतः वे मेरे अधिकरण हैं । अर्थात् मैं उनका कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ, इसलिये वे मेरे हैं; और इसी प्रकार वे मेरे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हैं, इसलिये मैं उनका हूँ । इसीप्रकार मैं धनका कर्ता (उपार्जन करनेवाला), कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ अतः धन मेरा है, और धन मेरा कर्ता (रक्षक), कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण है अतः मैं धनका हूँ । इस प्रकार मैं उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता हूँ ।

यदि शान्ति चाहता है तो भाई ! इस भ्रमको टाल । वास्तवमें कोई भी तेरा नहीं । देख इस दृष्टान्तपर-से विचार कर । एक अफ़ीमची पड़े थे नदी किनारे वृक्षके नीचे । 'अरे ! अब कहाँ जाऊँगा, चलो भूखे ही सही, रात तो बीत ही जायेगी यहाँ, प्रातःकी प्रातः देखी जायेगी ।' इतनेमें एक राजाका लश्कर आया, संध्या पड़ रही थी, नदीके किनारे डेरे लगा दिये, आनकी आनमें मंगल हो गया । 'अहा हा ! कितना सुन्दर नगर बस गया, कितने दयालु हैं प्रभु, अपने इस भक्तपर दया करके यहां ही नगर बसा दिया ? वाह-वाह ! कितना अच्छा हुआ, अब कहीं भी जाना न पड़ेगा, बस इस नगरमें अब मौजसे कटगी ।' प्रातः होनेपर जब देखा कि रंग ही बदल गया, तम्बू उखड़ने लगे, कूचका बिगुल बजा, चारों ओर चलने-चलनेकी उछल-कूद मची तो फिर क्या था, मानो प्राण ही निकल गये । एक व्यक्तिसे पूछा कि भाई ! किधर जा रहे हो ? उसने कहा "कौन हो तुम ?" अफ़ीमचीने कुछ निराशाभरी आवाज़में कहा, "मेरे ही लिये तो भेजा था न प्रभुने तुम्हें ?" "अरे चल-चल ! कौन तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्ज़ीसे आये थे और अपनी मर्ज़ीसे जाते हैं । न तुझसे पूछकर आये न

तुझसे पूछकर जाते हैं। तू कौन होता है हमसे बात करनेवाला ?" और निराशामें डूबा रह गया बेचारा रोताका रोता।

क्या ऐसी ही दशा हमारी नहीं है ? पुत्र उत्पन्न हुआ, 'अहा हा ! मेरी मुराद पूरी कर दी प्रभु ने, मेरे नामको जीवित रखेगा यह' और न जाने क्या क्या ? 'खूब दान दो, खूब बाजे बजाओ, आज मेरा भाग्य जागा है।' और जिस-दिन तम्बू उखड़ने लगे, पथिक जाने लगा ? 'अरे रे ! किधर जाते हो ?' 'कौन हो तुम ?' 'मेरे लिये भेजा था न प्रभु ने तुम्हें ?' 'हट हट, कौन तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्ज़ीसे आया था और अपनी मर्ज़ीसे जाता हूँ। न तुझसे पूछकर आया न तुझसे पूछकर जाता हूँ, कौन होता है तू मुझसे बातें करने-वाला ?' और निराशामें डूबे रोने लगे आप। इतने विषादका क्या कारण है, क्या सोचा है कभी ? क्या उस पुत्रका जाना कारण है ? ऐसा मानना तेरी भूल है। पुत्रका जाना विषादका कारण नहीं, और न ही उसका आना विषादका कारण था, अर्थात् 'जो यह न आता तो आज क्यों विषाद होता', ऐसा मानना भूल है। वास्तविकता तो यह है कि यदि तू उसके अन्दर उससमय, 'मेरेलिये भेजा गया है, मेरा नाम जीवित करेगा' इसप्रकारकी पटकारकी भूलें न करता, तो आज यह विषाद न होता। इसीप्रकार लक्ष्मीके आने-जानेके सम्बन्धमें भी समझ लेना। दृढ़नया यह निश्चय किये बिना, कल्पना मात्रसे नहीं बल्कि वास्तवमें कि कोई भी पदार्थ पट्कारकी रूपसे मेरा है ही नहीं, वह उपरोक्त गर्जना निकलनी असम्भव है।

४. सच्चा त्याग—ऐसा दृढ़ निश्चय होनेके पश्चात् समझमें आ जायेगा कलके त्यागका रहस्य। मेरा कुछ है ही नहीं तो किसका त्याग ? किसी वस्तु का तीनकालमें एक समयके-लिए ग्रहण ही नहीं हुआ तो किसका दान ? न कुछ त्याग न कुछ दान, केवल मिथ्याबुद्धिका त्याग, मिथ्याबुद्धिका दान, बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है त्यागका अभिप्राय। 'मैंने विश्वके-लिये दान करदी या त्याग दी' इस अभिप्रायमें तो पड़ा है अभिमान, उस वस्तुका स्वामित्व अर्थात् 'मेरी थी मैंने त्याग दी'। यह त्याग पारमार्थिक नहीं, अर्थात् मेरा धर्म या स्वभाव नहीं प्रत्युत उसका साधन है, उसे हस्तगत करनेका उपाय है।

देखो ! किसी समय मेरा एक लोटा आपके घर आया और पड़ा रहा वहाँ ही। मैं मांगना भूल गया और आप देना भूल गये। प्रयोगमें लाते रहे और यह विश्वास हो गया आपको कि वह आपका ही है। सालभर पश्चात् आपके घर मैं किसी कार्यवश आया, पीनेको पानी मांगा, संयोगवश वही लोटा सामने आया। 'भाई साहब ! क्षमा करना, क्षोभ न लाना, यह लोटा तो मेरा है, यह देखो

इसपर मेरा नाम खुदा है, माल भरसे भूला हुआ था' और आपने भी नाम देखकर निश्चय कर लिया कि हां मेरा ही है ।' 'क्षमा करना भाई साहब ! बड़ी भारी भूल हुई मेरी, कहें तो नया मँगा दूं, नहीं तो यही ले जाइये ।' यही तो कहेंगे आप उसके उत्तरमें या कुछ और ? अब इसीके सम्बन्धमें दूसरी कल्पना कीजिये। कोई भिखारी आता है आपके घर और आप दया करके वही लोटा दे देते हैं उसे । लोटेके त्यागकी दो कल्पनायें आपके सामने हैं एक मुझे देनेकी और एक दूसरी भिखारीको देनेकी । दोनों कल्पनाओंमें ही आप देनेवाले हैं और वही लोटा दिया गया है । विचारिये कुछ अन्तर है दोनों त्यागोंमें ? मुझे जो दिया उसमें तो दिया ही क्या, आपका था ही नहीं । भिखारीको दिया, सो अपना करके देनेके कारण हो गया अभिमान, 'मैंने उसपर एहसान किया' । यह काहेका त्याग ? पहला वस्तु-स्वरूपके आधारपर है और दूसरा भ्रम व भूलके आधार पर । पहलेमें निर्विकल्पता है और दूसरेमें अभिमानका विकल्प, पहलेमें शान्ति है और दूसरेमें अशान्ति, इसलिये पहला त्याग सच्चा है और दूसरा झूठा ।

यदि शान्तिकी इच्छा है तो सच्चा त्याग कर, सच्ची गर्जना उत्पन्न कर । "यहां किञ्चित् मात्र भी मेरा नहीं, किसको ग्रहण करूँ और किसको छोड़ ? शान्ति ही मेरा स्वभाव है, मेरा धन है, वही मुझे चाहिये, अन्य कुछ मेरा नही, वह मुझे चाहिये भी नहीं । अपनी स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है, वही मुझे चाहिये, अन्यको परतन्त्र बनाना मेरा अधिकार नहीं, अतः परमाणु मात्रको भी परतन्त्र बनानेकी मुझे इच्छा नहीं । अपनेमें षट्कारकी रूपसे मैं कुछ कर सकता हूँ अतः अपनेमें ही कुछ करना चाहता हूँ, परमें षट्कारकी रूपसे कुछ कर नही सकता अतः परमें कुछ करना भी नहीं चाहता ।" यह है सच्ची गर्जना या सच्चा अभिप्राय, सच्चा आकिञ्चन्य-धर्म ।

वास्तवमें तो योगी-जनोंने ही इसे जीवनमें ढाला है, पर आप भी अपने अभिप्रायको उपरोक्त रीतिसे बदलकर किञ्चित् उस धर्मके उपासक बन सकते हैं अर्थात् ऐसा अभिप्राय बन जानेके पश्चात् उन-उन वस्तुओंमें भले रमणता करो, पर 'यह मेरा अपराध है' ऐसी बात अन्तरंगमें स्वाभाविक रूपसे आती रहे । बस वही होगा आपका आकिञ्चन्य धर्म ।

●

४१
उत्तम ब्रह्मचर्य

•

सच्चिदानन्द ब्रह्ममें रमणता करके पूर्ण-परब्रह्म पदको प्राप्त, हे सिद्ध प्रभु ! मुझे ब्रह्मचर्य प्रदान कीजिये। गरम घीके छींटोंमें दाहको प्राप्त हुए व्यक्तिकी तरह अनादि कालसे इन विषय-भोगोंकी दाहको प्राप्त मैं, आज अत्यन्त सन्तप्त हो आपकी शरणमें आया हूँ। मेरा दाह शांत कीजिये नाथ ! निज शांतिके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें रमण करता मैं, आजतक व्यभिचारी बना रहा, अब ब्रह्मचारी बननेकी आशा लेकर, पूर्णब्रह्मकी शरणमें आया हूँ।

१. ब्रह्मचर्य—आज ब्रह्मचर्यकी बात चलती है, लोकमें जिसकी बहुत महिमा है। लोगोंकी दृष्टमें ब्रह्मचारीके-लिए इतना ऊँचा स्थान क्यों ? क्या केवल स्त्री मात्रका त्याग कर देनेपर इसका इतना ऊँचा स्थान है ? यह तो बात कुछ गले उतरती प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्त्रीका त्याग करके अन्य विषयोंमें खूब रमण करनेवाले, न्याय अन्यायका विवेक न रखनेवाले अत्यन्त कषायवान तथा विलासी जीवोंके प्रति बहुमान उत्पन्न होता नहीं देखा जाता है। क्यों ? क्या उन्हें स्त्रीका त्याग नहीं. और यदि है, तो क्या वे ब्रह्मचारी नहीं ? नहीं वास्तवमें ब्रह्मचारी नहीं हैं वे क्योंकि ऐसा होता तो स्वत: ही उनके प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना न रहता। अतः ब्रह्मचारीका लक्षण केवल स्त्री-त्यागी नहीं है, इसका लक्षण उतना ही व्यापक है जितनी की उसकी महिमा। ब्रह्मचर्यके प्रकरणमें जहां स्त्रीके त्यागकी बातको लक्ष्यमें रखकर कहा गया है वहां पुरुषको सम्बोधन किया गया है। उपलक्षणसे स्त्रियोंको पति अथवा पुरुषके त्यागकी बात समझनी चाहिये।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवान् आत्माको। उसमें चरण अर्थात् रमण करना, आचरण करना। अर्थात् निज-शांतिमें स्थिर होनेका नाम है ब्रह्मचर्य। शान्तिके घातक जो संकल्प-विकल्प या रागद्वेषादि हैं, उनमें चरण करने

का, रति-अरति रूप भाव करनेका नाम है अब्रह्म, व्यभिचार, कामभाव, वेद कषाय। या यों कहिये कि रागद्वेषादिकी कारण जो पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषय-वासना तथा भोग-सामग्री, उसमें चरण करना, रमण करना, सो है व्यभिचार। कल आकिंचन्य धर्मकी बातके अन्तर्गत यह बताया गया था कि शान्तिके अतिरिक्त इस लोकमें कोई भी पदार्थ मेरा नहीं, किसीको करने या भोगनेका मुझे अधिकार नहीं। अतः किसी पदार्थको इष्टानिष्ट समझकर करने या भोगनेका प्रयत्न करना अपराध है, व्यभिचार है। अतः अंतरंग विकल्पोंके अभावकी तथा निज-शान्तिकी अपेक्षा ब्रह्मकी उपासना कहो या ब्रह्मचर्य, एक ही अर्थ है; और परपदार्थोंमें रमण तथा बाह्यसामग्री, इनके त्यागकी अपेक्षा व्रत कहो, त्याग कहो, दम कहो, संयम कहो, इंद्रिय-जय कहो या ब्रह्मचर्य कहो एक ही अर्थ है। इसी लिये ब्रह्मचर्यके शब्दके प्रति लोकमें इतना बहुमान है।

२. ब्रह्मचारी—लोकमें यद्यपि ब्रह्मचर्यकी व्याख्या केवल स्त्री-त्यागपरसे की जाती है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। यहाँ स्त्री शब्दका अर्थ सम्पूर्ण भोगसामग्री से है, क्योंकि वह 'लक्ष्मी' नामसे पुकारी जाती है, अतः लक्ष्मीमें रमणताका नाम व्यभिचार है और लक्ष्मीके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य। इसमें दो दृष्टियोंसे विचार करना चाहिये, एक ग्रहणकी दृष्टिसे दूसरा त्यागकी दृष्टिसे। ग्रहणकी दृष्टिसे निज-स्वभावमें रमण अर्थात् पर-निरपेक्ष-ज्ञानमें तथा निजशान्ति-स्वभावमें आचरण। त्यागकी दृष्टिसे पर पदार्थका, परभावका, पर-परिणतिका, परके ज्ञानमें रमणका तथा आचरणका त्याग। इस धर्ममें यद्यपि सभी कषायोंके त्यागकी बात है परन्तु वेद-कषाय (काम-वासना) तथा पंचेन्द्रिय विषयक भोगसामग्रीके त्यागकी विशेषता है। ब्रह्मचर्यकी व्याख्या कर देनेके पश्चात् यह देखना है कि ब्रह्मचारी कौन है? क्या केवल मनुष्यणीका सम्पूर्ण त्याग कर देनेवाला या लक्ष्मीका संपूर्ण त्याग कर देनेवाला? ऐसा नहीं है, ब्रह्मचारीमें पड़ा यह 'चारी' शब्द मार्गका द्योतक है अर्थात् ब्रह्मचारी कहते हैं ब्रह्मके मार्गमें गमन करनेवालेको अर्थात् हीनाधिकरूपसे लक्ष्मीके त्यागीको। पूर्ण त्यागी वास्तवमें 'चारी' नहीं हो सकता वह तो 'ब्रह्म' ही हो जायेगा। पूर्णताके पश्चात् मार्गका अन्त हो जाता है फिर मार्गी या चारी नहीं कहा जा सकता। अतः पूर्ण ब्रह्मके लक्ष्यपर पहुँचनेके-लिये हीनाधिक रूपसे लक्ष्मीका त्याग करनेवाला अर्थात् त्यागके मार्गपर चलनेवाला ब्रह्मचारी है।

यदि प्रश्न करें कि कितने त्यागीको ब्रह्मचारी कहें? तो इसके-लिए कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। जिस प्रकार मद्य पीनेकी आदतको छोड़नेके-लिये जो प्रयास कर रहा है, उसे कब जाकर मद्यका त्यागी कहें? वास्तवमें पहले दिन

ही जबकि उसने केवल एक घूँट कम की थी वह त्यागीकी कोटिमें आ गया था, भले लोग उसके त्यागको न जान पावें। धीरे-धीरे जब मद्यशालामें भी जानेका त्याग कर देगा तब ही लोक जान पायेगा कि यह त्यागी है। परन्तु लोगोंकी दृष्टिमें आ जाना त्यागका मापदण्ड नहीं है, मार्गके ऊपर पहला पग रखते ही व्यक्ति पथिक बन जाता है। पथपर आगे-पीछे चलनेवाले व्यक्ति भले ही लक्ष्यकी निकटता व दूरताके कारण अगले व पिछले कहलायें परन्तु ऐसा कोई नहीं जिसे हम पथिक न कह सकें। पथिक सब हैं भले आगेवाला हो या पीछेवाला। बस इसीप्रकार यहाँ त्याग सम्बन्धी ब्रह्मचर्यके मार्गमें भी लागू कर लेना। जिस दिन त्यागका अभिप्राय किया उस दिन ही वह त्यागीकी कोटिमें आ गया। ज्यों-ज्यों अधिक त्याग करता जायेगा, त्यों-त्यों आगे बढ़ता जायेगा, अधिकाधिक उत्तम विशेषणको धारण करता जायेगा। जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त इस ब्रह्मचर्यके मार्गमें भी अन्य प्रकरणोंमें कथित मार्गवत् क्रम पड़ता है। क्रमानुसार केवल उत्तमताके विशेषणोंमें अन्तर पड़ता है, ब्रह्मचर्यपनेमें नहीं। प्रथम क्षणमें भी ब्रह्मचारी है और अन्तिम क्षणमें भी ब्रह्मचारी, अभिप्राय त्यागका होना चाहिये।

सर्वत्र अभिप्रायकी मुख्यता है। त्यागके अभिप्राय-रहित किसी कारणवश स्त्री व लक्ष्मीकी प्राप्ति न हो सके, उसे ब्रह्मचारी नहीं कह सकते, और थोड़े या अधिक त्यागके अभिप्राय-सहित स्त्री या लक्ष्मीमें रमण करता हुआ भी ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। स्त्री या लक्ष्मीका पूर्ण त्यागी ही ब्रह्मचारी हो ऐसा नहीं है, अल्प त्यागी भी यथायोग्य रूपसे ब्रह्मचारी है। अन्य प्रकरणोंकी तरह यहां भी ब्रह्मचारीकी परीक्षा विषयोंके त्यागपरसे करनी है, विषयोंके ग्रहणपरसे नहीं। यदि ग्रहणपरसे करने लगोगे तो बात गले न उतरेगी। वर्तमान क्रियाको न देखकर जितना त्याग किया है उसको देखना। त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है, अंशमात्र भी विषयोंमें रमणताका नाम ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता। ग्रहणकी ओरसे देखें तो मुनिको भी ब्रह्मचारी नहीं कह सकोगे क्योंकि आहार-ग्रहणका नाम ब्रह्मचर्य नहीं, जितना त्याग हुआ है उतना ही ब्रह्मचर्य है। स्त्री-त्यागके पश्चात् बाहरमें स्पष्ट त्याग दिखाई दे जानेपर लोकमें जो ब्रह्मचारी कहा जाता है उसमें भी त्यागकी ओर देखकर ही निर्णय किया गया है। देखो एक भीलने केवल कौवेका मांस खाना छोड़ दिया और अन्य जन्तुओंका मांस खाता रहा तो भी वह इस किञ्चित् त्यागकी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ समझा गया। परन्तु इसका निर्णय त्यागकी ओरसे हुआ अन्य-मांसके ग्रहणपरसे नहीं। एक चाण्डालने केवल चतुर्दशीको हत्या करनेका त्याग किया परन्तु अन्य दिन हत्या करता रहा। उसके व्रतका निर्णय भी त्यागकी ओरसे ही किया गया, अन्य दिनोंकी हत्यापरसे नहीं।

३. क्रमोन्नत विकास—उपरोक्त कथनका स्पष्टीकरण करनेके-लिये जिसका त्याग करना इष्ट है ऐसे सम्पूर्ण वस्तु-समूह या लक्ष्मीका विश्लेषण करना होगा। सम्पूर्ण सामग्री या लक्ष्मीको दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है—एक वह जिसपर कि राज्य व लोककी दृष्टिमें मेरा अधिकार है अर्थात् जो मेरे स्वामित्वमें है, और दूसरी वह जिसपर राज्य व लोककी दृष्टिमें मेरा कोई अधिकार नहीं अर्थात् जो दूसरोंके स्वामित्वमें है। यद्यपि आकिञ्चन्य धर्ममें बताए अनुसार सम्पूर्ण सामग्रीका षट्कारक रूपसे त्याग करना इष्ट है, पर प्रथम क्षणमें ऐसा होना सम्भव नही अतः त्याग-मार्गपर पग रखते हुए धीरे-धीरे सम्पूर्णमें-से कुछ-कुछका त्याग करना होगा। आप ही बताइये कि उपरोक्त दो भागोंमें-से पहले किस भागका त्याग करना उचित है, अपने स्वामित्वमें रखी लक्ष्मीका या अन्यके स्वामित्वमें रखीका? स्पष्ट है कि अन्यकी लक्ष्मीका त्याग पहले होगा। परन्तु अन्यकी लक्ष्मीका त्याग तो पहलेसे ही है? सो भी बात नहीं है भाई! यहां उस अभिप्रायका त्याग मुख्य है जिसके कारण कि मेरी लालायित दृष्टि उसकी ओर खिच जाती है। साक्षात् रूपसे तो उसका भोग मैं कर ही नहीं सकता, या तो चोरी कर सकता हूँ या केवल देखकर लालसा कर सकता हूँ, अतः ब्रह्मचारीके प्रथम पगमें अन्यकी वस्तुको चुरानेका या उसे देखकर लालसा करनेका त्याग हुआ। यह त्याग यद्यपि लोगोंकी दृष्टिमें कोई महत्व नही रखता परन्तु वास्तवमें यदि विचार करके देखा जाय तो अपनी लक्ष्मीके त्यागकी अपेक्षा इनका महत्व अधिक है, क्योंकि अन्यकी लक्ष्मी मेरी लक्ष्मीसे अनन्त गुणी है, उस सर्वका ही त्याग हो गया, रह ही कितनी गई, जिसे यदि सम्पूर्णके बराबर रखकर देखें तो रखी भी दिखाई न दे। इसलिये वह व्यक्ति जिसने कि अन्यकी सम्पत्तिपर, उनके द्वारा परिणाकर लाई गई उनके स्वामित्वमें रहनेवाली स्त्रियोंपर तथा उनकी कँवारी कन्याओंपर विकारभावसे दृष्टिपात करनेका त्याग कर दिया है, ब्रह्मचारी है, भले ही इनके अतिरिक्त अपनी सम्पत्ति व स्त्रीमें कितना भी रमण क्यों न करे। परीक्षा त्यागपर-से करनी है, रमणतापर-से नहीं।

आगे त्यागकी दूसरी श्रेणी चलती है। साधक यहां निज लक्ष्मीका भी त्याग करना प्रारम्भ करता है। एकदम सारी लक्ष्मीका हर प्रकारसे त्याग असम्भव है, अतः थोड़ा-थोड़ा करता है। अपनी धर्मपत्नीमें भी अति गृद्धतका त्याग करता है और ऐसा आचार-विचार तथा भोजनपान करता है जो कामभावका पोषक न हो, अपनी सम्पत्तिके कुछ भागका भी दानके रूपमें त्याग कर देता है और स्वपर-भेदज्ञानमें बाधक विकल्पोंका भी त्याग करता है। त्यागकी अपेक्षा ही पहलेसे श्रेष्ठ है यह, ग्रहणकी अपेक्षा नहीं।

तीसरी श्रेणीमें आकर वह भोगोंसे कुछ अंशोंमें विरक्त हो जाता है, कुछ संयम ग्रहण कर लेता है और दिनके समय काम-भोगका सर्वथा नियमसे त्याग कर देता है। नियमित त्याग करनेसे उस प्रकारके विकल्प शान्त हो जाते हैं, बुद्धिमें स्थिरता पैदा होती है, आत्म-ध्यानमें स्थिरता प्राप्त करनेके-लिये नियमित रूपसे तीनकाल सामायिक करता है। चौथी श्रेणीमें आकर धन-धान्य, रुपया-पैसा आदि सभी प्रकारके परिग्रहका परिमाण कर लेता है, जिससे उसकी आवश्यकतायें सीमित हो जाती हैं, बाह्य आरम्भके अथवा परिग्रहको अधिक एकत्र करनेके विकल्प नहीं रहते, संयमका स्तर पहलेसे ऊँचा हो जाता है, कामभोगको भी बहुत अंशोंमें छोड़ देता है। अष्टमी, चतुर्दशी आदि साधारण पर्व तथा अष्टाह्निका, सोलहकरण, दशलक्षण-धर्म, रत्नत्रयधर्म आदि विशेष पर्व, इन दिनोंमें तथा तीर्थयात्राके दिनोंमें विशेष संयममें रहता है। यहाँपर त्यागकी मात्रा पहलेसे अधिक बढ़ जाती है।

पांचवीं श्रेणीमें आकर त्यागकी मात्रा और अधिक बढ़ जाती है। धन सम्पत्तिका और अधिक त्याग कर देता है, अपनी धर्मपत्नीसे भी काम-भोगका पूर्णतया त्याग कर देता है, अधिक समय धर्म-ध्यानमें बिताता है, सभी प्रकारके विषय-भोगोंसे अधिक मात्रामें विरक्त हो जाता है। इस श्रेणीमें आनेपर वह ब्रह्मचारी पदसे विभूषित हो जाता है, यद्यपि असली अर्थोंमें पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं होता, क्योंकि पूर्णतया विकल्पोंका अभाव यहां नहीं हुआ है। छठी श्रेणीमें आकर यद्यपि लोगोंकी दृष्टिमें वह पूर्ण ब्रह्मचारी हो गया है, परन्तु क्योंकि स्त्रीके साथ लगी लक्ष्मी अभीतक चली आ रही है इसलिये उसका त्याग किये बिना वह अभी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता, उसे भी छोड़ना होगा। यद्यपि इस श्रेणीमें लक्ष्मीका संसर्ग बहुत कम है, पर है अवश्य। इसमें भी क्रमसे और कमी करता हुआ एक लंगोटी व एक चादरके अतिरिक्त अन्य सर्वका त्याग कर देता है। वह भी ब्रह्मचारी है, पांचवी श्रेणीसे ऊँचा। यहां भी रुकता नहीं, लंगोटी व चादर का भी त्याग कर देता है और बन जाता है नग्न-साधु। वह भी ब्रह्मचारी है, छठी श्रेणीसे ऊँचा।

आठवीं श्रेणीमें आनेपर यद्यपि स्थूल दृष्टिसे अब यह पूर्ण ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके पास स्त्री है न सम्पत्ति, सर्व त्याग हो चुका है, त्यागनेको और शेष नहीं रहा, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर इसके पास कुछ और भी है और वे हैं उसके अन्तरंग विकल्प। अब तकके क्रमपूर्वक किये गये सर्व त्यागके साथ-साथ अन्तरंग विकल्पोंका त्याग भी बराबर होता चला आ रहा था। जैसाकि पहले भी कईबार बताया जा चुका है और पुनः पुनः बताया

जा रहा है, संवरके इस प्रकरणमें अन्तर-विकल्पोंके प्रशमन करनेका पुरुषार्थ ही मुख्यतासे किया जा रहा है। उनके प्रशमन करनेके-लिये ही या उनके प्रशमनके फलस्वरूप ही यह सर्व बाह्यका त्याग है, वह न हो तो इस त्यागका कोई मूल्य नहीं। इसलिये बहुत अधिक विकल्प दब चुके हैं परन्तु अब भी कुछ शेष हैं जिन्हें त्यागना है। पहले कुछ देरके-लिये त्यागता है और हो जाता है ध्यानस्थ, शान्तिमें निमग्न, निर्विकल्प। यह भी ब्रह्मचारी है, सातवेंसे ऊँचा पर पूर्ण नहीं, क्योंकि अभी भी संस्कार शेष हैं जो थोड़ी देर पश्चात् इसमें फिर विकल्प उत्पन्न कर देंगे।

नवीं श्रेणीमें पदार्पण करनेपर अन्तरंगके इन सूक्ष्म सस्कारोंको भी काटकर पूर्णशुद्ध, पूर्ण-निर्विकल्प, सहज स्वभावस्वरूप परमात्मा अर्थात् अरहन्त-पदको प्राप्त हो जाता है। यहाँपर वह शीलमें बाधक १८००० दोषोंसे मुक्त हो जाता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाता है। यद्यपि शरीर बाक़ी रह जाता है तदपि मोह तथा रागद्वेषका पूर्णतया अभाव हो जानेसे इसके सम्बन्धमें कोई विकल्प नहीं रहता। मार्ग समाप्त हो जाता है। शरीरको भी त्याग देनेपर लक्ष्य तथा साध्यको पूर्णतया प्राप्त कर लेनेके कारण पूर्ण-ब्रह्म, सिद्धप्रभु बन जाता है वह।

यद्यपि आदर्श ब्रह्मचर्य-धर्मका पालन तो योगी जन ही करते हैं, तदपि हम भी अपनी योग्यतानुसार कर सकते हैं। हे शान्तिके उपासक! निज शान्तिकी रक्षाके-लिये अन्तर्दाहको उत्पन्न करनेवाले इस स्त्री-संसर्गका कुछ परिमाण कर। परस्त्री, वेश्या व दासीका तो त्याग होना ही चाहिये, स्वस्त्रीमें भी दिनके समय काम-भोगका त्याग अवश्य कर, तथा पर्वके दिनोंमें पूर्ण-ब्रह्मचर्य धारण करके आगे बढ़नेका अभ्यास कर।

जैसाकि व्रतोंके प्रकरणमें पहले बताया जा चुका है, पथिकके मार्गमें अनेकों रुकावटें आती हैं और व्रतोंमें भी अनेकों बार दोष लग जाते हैं। यहाँ भी उसे भूलना नहीं चाहिये। ब्रह्मचर्य या त्याग-धर्मका उपरोक्त रीतिसे पालन करते हुए साधकको दोष लग जानेकी सम्भावना है, यह कषायोंकी विचित्रता है। उन दोषोंका साधकको प्रायश्चित्त, आत्म-निन्दा तथा गर्हाद्वारा निर्मूलन करते रहना चाहिये और आगेके-लिये अत्यन्त सावधान रहना चाहिये।



४२

परीषहजय व अनुप्रेक्षा

१. परीषहजय—एक क्षणको भी शान्तिका विरह सहनेमें असमर्थ हे योगीराज ! आश्चर्य है कि इतने सामर्थ्य-हीनको भी पराक्रमी बताया जा रहा है, वीर बताया जा रहा है । ठीक ही तो है, यही तो है महिमा आपकी, शान्तिके व्यापारी जो ठहरे । धनका व्यापारी धनका विरह सहनेमें असमर्थ होते हुए भी उसके उपार्जनमें आई अनेकों बाधाओंको प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता है । एक रणकुशल क्षत्रिय क्षत्रित्वका अपमान सहनेमें असमर्थ होते हुए भी उसकी रक्षाके लिए बड़े-बड़े प्रहारोंको फूलोंकी चोटके समान भी नहीं मानता है । इसीप्रकार आप भी अपनी सम्पत्ति व गौरव जो कि शान्ति ही है, उसमें बाधा सहनेमें असमर्थ होते हुए भी उसकी रक्षाके अर्थ लौकिक बाधाओंके बड़े-बड़े प्रहारोंको तृणसम भी नहीं गिनते हैं । तीन-लोककी सम्पूर्ण बाधायें एकत्रित होकर चली आयें आपकी शान्तिको छीनने, तो भी आप उसका पल्ला नहीं छोड़ते । धन्य है आपका बल, धन्य है आपका पराक्रम । आप वास्तविक क्षत्रिय हैं, वास्तविक वीर हैं, वास्तविक व्यापारी हैं, वास्तविक रणकुशल योद्धा हैं ।

आज परिषह-जयकी बात चलती है । परिषहका अर्थ है 'परि' अर्थात् चारों ओरसे, सम्पूर्ण उत्साहके साथ 'षह' अर्थात् बाधाओं को सहना । तपमें भी बाधाओंको सहनेकी बात कही गई है और यहां भी कही जा रही है, पुनरुक्ति व पिष्टपेषणसा दिखाई देता है, परन्तु ऐसा नहीं है, तप व परिषहमें अन्तर है । तपमें जान बूझकर योगी बाधाओं व कष्टोंको निमन्त्रित करता था, और यहाँ है उन बाधाओंकी बात जो मनुष्योंके द्वारा, तिर्यञ्चोंके द्वारा अथवा प्रकृति आदि के द्वारा स्वतः नित्य बिना बुलाये आ पड़ती हैं ।

तपश्चरणके प्रभावसे शक्तिमें अतुल वृद्धि हो जानेपर आज वह इतना समर्थ है कि तीन लोककी बाधायें व पीड़ायें भी सिमटकर युगपत् उस योगीपर

आक्रमण करें तो उसे अपने स्वभावसे विचलित करनेमें समर्थ न हो सकें, इसका नाम है परिषहजय। बाधायें आनेपर शान्तिको खो बैठने तथा विषकी घूंट पीने-वत् जबरदस्ती उन पीड़ाओंको सहनेका नाम परिषहजय नहीं है, वह तो जयकी बजाय हार कही जाने योग्य है। अपनी सम्पत्तिको हारा तो हारा और उसकी रक्षामें जीता तो जीता। बाधाओंको जिसकिस प्रकार सह लेनेका नाम जीतना नहीं, शान्तिपूर्वक बिना खेदके सहनेका नाम ही परिषहजय है, और इसलिये परिषह जीतनेमें योगीको कष्ट होता नहीं। भले बाहरमें देखने वालोंको वह पीड़ित भासे परन्तु अन्तरङ्गमें वह शान्ति-रसका ही पान किया करता है, अतः बहुत बड़ी है महिमा उसके पराक्रमकी। शत्रुके आनेपर चुपकेसे अपनी सम्पत्ति उसे सौंप दे तो योद्धा काहेका, इसीप्रकार बाधाओंसे घबराकर शान्तिको चुपकेसे छोड़दे तो पराक्रमी काहेका ?

इस बातकी क्या गिनती कि कितनी प्रकारकी बाधायें उस योगीपर आ सकती हैं ? असंख्यात हो सकती हैं वे। जिसका कोई आश्रय नहीं, प्रकृति ही जिसका आश्रय है; पहननेको जिसके पास वस्त्र नहीं, दिशायें ही जिसके वस्त्र हैं; रहने को जिसके पास घर नहीं, आकाश ही जिसका घर है; रक्षा करनेको सेवक व सेना नही, शांति ही जिसका सेवक व सेना है, उस वनवासीपर कितनी बाधायें स्वयं कभी भी आ सकनी सम्भव हैं, इसका अनुमान कौन लगाये ? कुछ बाधायें तो एसी हैं जिनसे कि प्रतिदिन सामना करना पड़ता है उसे, और कुछ ऐसी हो सकती हैं कि जिनसे कभी-कभी भेंट हो जानी सम्भव है उसकी। कुछ शारीरिक भी हो सकती हैं और कुछ मानसिक भी। इन सबमें-से मुख्य बाईस बाधायें कथनीय हैं।

१. क्षुधा, २. तृषा, ३ गरमी, ४. सर्दी, ५. डांस, मच्छर, मक्खी व बिच्छु आदि, ६. उपवासोंसे शरीरके अत्यन्त कृश हो जानेपर भी कंकरीली व कंटक-पूर्ण धरतीपर बराबर विहार करते रहना, ७. एकासनपर बहुत देरतक बैठे रहना या एक करवटपर ही लेटे रहना, ८. किसी मनुष्य व पशु आदिके-द्वारा पीड़ित किये जाना, ९. रोग, १०. कांटा-कंकर आदि चुभना और ११. शरीरमें पसेव आदि झरनेपर इसका मलिन व दुर्गन्धित हो जाना। ये ग्यारह जातिकी बाधायें एसी हैं जिनका सम्बन्ध शरीरसे है। स्वयममेव कोई ऐसा बाधाका कारण उपस्थित होनेपर वह अपनी शान्तिसे विचलित नहीं होता, उनसे बचनेका प्रयत्न न करके किन्हीं विचार-विशेषोंके बलपर उन्हें दबा देता है, और इसप्रकार बड़े से बड़ी पीड़ाको न गिनते हुए बराबर निश्चल बना रहता है।

१. नग्नताके कारण लज्जा, २. पूर्वमें अनुभव किये गये भोगादिका स्मरण, ३. एकान्तमें किसी सुन्दर व कामुक स्त्रीके द्वारा की गई हावभाव व विलासकी

चेष्टा, ४. भयानक पशुओंकी गर्जनासे पूर्ण श्मशान आदि भयानक स्थानोंमें अकेले बैठे रहना, ५. किसीके मुखसे निकले गाली व निन्दाके शब्द, ६. लम्बे-लम्बे उपवासोंसे क्षुधाकी अग्निमें जलते हुए, अन्तरंगमें कदाचित् प्रगट हो जानेवाला याचना या दीनताका भाव, ७. अनन्तगुण-भण्डार होते हुए भी यथायोग्य रूपमें सत्कारका न मिलना, ८. भोजनकी इच्छा होते हुए भी भोजनके संयोगमें बाधा पड़ जाना, ९. बहुत ज्ञानी होते हुए भी अन्यके द्वारा ज्ञानी स्वीकार न किया जाना, १०. कठिन तपश्चरण करते हुए भी किसी चमत्कारी शक्तिका न मिलना और ११. इस प्रकारकी बाधाओंके कारण कदाचित् श्रद्धानमें हलचल पैदा हो जाना। ये ग्यारह प्रकारकी हैं वे बाधायें जिनका सम्बन्ध मानसिक विचारोंसे है। यद्यपि शरीरको इन बाधाओंसे कोई पीड़ा नहीं होती, परन्तु ऐसे अवसरोंपर अन्तरंगमें एक बड़ी तड़पन हो जाया करती है जो सम्भवतः शारीरिक पीड़ासे कई गुणी अधिक सन्तापकारिनी होती है। इन सभी बाधाओं व मानसिक पीड़ाओंको वह योगी अपनी शान्तिकी रक्षाके अर्थ किन्हीं विचार-विशेषोंके बलसे दबा देता है। इसे कहते हैं परिषयजय।

२. अनुप्रेक्षा—अब प्रश्न होता है यह कि ये विचार-विशेष क्या हैं, और उनमें कौन सामर्थ्य है जिसके कारण कि बाहरमें रक्षाका उपाय किये बिना भी वह इतनी बड़ी पीड़ाओंको, जिन्हें सुनकर भी कलेजा दहल उठता है, जिनके अनुमानसे भी जगत कांप उठता है, जीत लेता है? वास्तवमें ऐसी ही बात है भाई! इसमें आश्चर्यको अवकाश नहीं, क्योंकि विचारणाओंका बल प्रतिदिन हमारे अनुभवमें आ रहा है। पुत्र-वियोग हो जानेपर मित्रद्वारा सान्त्वना दिये जानेसे, कुछ विचार-विशेष ही तो होते हैं जो मेरे अन्तर्दाहको कुछ शीतलता पहुँचाते प्रतीत होते हैं? 'जल्दी ही अच्छे हो जाओगे, विश्वास करो', डाक्टर द्वारा ऐसा कहे जानेपर, कोई विचार-विशेष ही तो होते हैं जो कुछ सान्त्वनासी देते प्रतीत होते हैं? विचारणाओंमें अतुल बल है और फिर अलौकिक जनोंकी तो विचारणायें भी अलौकिक होती हैं। उनका आधार कल्पनायें नहीं वस्तु-स्वभाव है, इसलिये उन विचारोंके सद्भावमें बाधा दीखनी सम्भव नहीं। वे भावनाएँ स्वयं साकार होकर उसके सामने आ खड़ी होती हैं; और वह साधक उनके दर्शनमें खो जाता है। कौन जाने उन बाधाओंको तब और कौन वेदन करे उनसे उत्पन्न हुई पीड़ाओंको?

इस प्रकारकी विचारणायें अनेकों हो सकती हैं, फिर भी समझानेके-लिए उनको बारह कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि वस्तुमें और भी अनेकों बातें हैं जिनके सम्बन्धमें विचार उठाये जा सकते हैं, परन्तु उन सबका

समावेश यथायोग्य रीतिसे इन बारहमें ही कर लेना चाहिये। अब उन बारह विचारणाओंका कथन चलेगा। इनको बारह वैराग्य-भावनायें भी कहते हैं क्योंकि इनको विचारनेसे अन्तरङ्ग-विरागतामें एकदम कुछ ज्वारसा आ जाता है। इन विचारणाओंको आगममें 'अनुप्रेक्षा' नामसे भी कहा गया है क्योंकि इनका एक बार ही विचार करलेना पर्याप्त हो ऐसा नहीं है, एक ही भावना प्रयोजनवश पुनः पुनः न जाने कितनी बार बराबर भाई जाती रहे। अनुप्रेक्षाका अर्थ है पुनः पुनः चिन्तवन करना और इसलिये इन्हें अनुप्रेक्षा कहना युक्त है।

यहाँ इतनी बात अवश्य जानलेने योग्य है कि जिसप्रकार वैद्यके घरमें अनेक औषधियाँ हैं, पर सभी रोगियोंको सभी औषधियां दी जायें ऐसा नहीं होता, बल्कि जो जिस रोगीको योग्य व अनुकूल पड़नेवाली हो वही औषधि-विशेष उसको दी जाती है; उसीप्रकार प्रत्येक बाधाके आनेपर बारहकी बारह या कोई-सी भी एक भावना भानी आवश्यक हो, सो बात नहीं है, बल्कि जिस अवसरपर जो भानी योग्य हो उस अवसरपर वही भानी उपयुक्त है। हो सकता है कि किसी बाधामें बारहकी बारहकी भी आवश्यकता पड़ जाय, कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त कवियों द्वारा रचित इन भावनाओं सम्बन्धी पाठोंके पढ़नेका नाम भी अनुप्रेक्षा नहीं है, क्योंकि केवल पाठ पढ़नेसे ही वांछित लाभ नहीं होता है। लाभ होता है मनको केन्द्रित करके उसे अमुक चिन्तन में उलझानेसे। उसमें बुद्धि पूर्वक कुछ करना होता है। तत्सम्बन्धी दृष्टान्तोंको याद करना चाहिये, अपने जीवनमें या अन्यके जीवनमें पहले अनुभव की गई या देखी गई उसी जाति की घटनाओंको याद करना चाहिये, उन अवसरोंपर अपनेमें या अन्यमें प्रगटे साहसको ध्यानमें लानेसे स्वतः अन्तरंगमें जो विचार उठते हैं उनके चिन्तवनमें पुनः पुनः निमग्न हो जाना चाहिए। ऐसी विचारणाओंसे ही बाधायें जीती जा सकती हैं, केवल पाठ पढ़नेसे नहीं। हाँ! पाठ भी इस प्रकारकी विचारणाओंमें सहायक अवश्य हो सकते हैं।

इन सर्व विचारणाओंमें केवल शान्तिकी रक्षाका ही अभिप्राय रहना चाहिये। उन विचारणाओंको इष्ट समझें तो भूल होगी क्योंकि वे स्वयं विकल्प हैं और विकल्प अशान्तिके कारण होते हैं। उन्हें त्यागनेका प्रयोजन लेकर आगे बढ़ा हूँ, उनको इष्ट समझने लगूं तो कभी भी उनको त्याग न सकूंगा और उन्हें न त्यागने पर पूर्ण शान्ति कैसे प्राप्त करूंगा? उल्टा नीचे गिर जाऊंगा। जैसे रोगके प्रशमनार्थ भले वर्तमानमें औषधिका प्रयोग करना प्रारम्भ करदे, पर सदा उसे सेवन करते रहनेका अभिप्राय रखकर नहीं करता, रोग शमन हो जानेपर तुरन्त

छोड़ देता है और स्वास्थ्यका भोग करने लगता है। यदि फिर भी औषधिका बराबर सेवन करता चला जाय तो उल्टा अधिक बीमार हो जाय। रोगकी अवस्थामें जो औषधि उपकारी व अमृत है, स्वस्थ अवस्थामें वही हानिकारक तथा विष है। इसीप्रकार सरपर आ पड़ी पीड़ाके प्रशमनार्थ वर्तमानमें भावनाओं का चिन्तवन करना योगी भले प्रारम्भ करदे, पर सदा उसे भाते रहनेका अभिप्राय रखकर नहीं करता. बाधा व पीड़ा टल जानेपर तुरन्त उस विकल्पको छोड़ देता है और पुनः शान्तिका भोग करने लगता है। यदि फिर भी बराबर भाता ही रहे तो उन विकल्पोंके कारण और अधिक अशान्त हो जाय। बाधाओंकी तीव्र व असह्य पीड़ाके आ जानेपर मनको वैराग्यके विकल्पोंमें उलझाना श्रेष्ठ है परन्तु बाधा टल जानेपर भी विकल्पोंमें अटका रहे तो योगी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, शान्तिकी पूर्णता नहीं कर सकता।

मनमें उठनेवाली भावनाओंका यह विकल्प यहाँ इसलिए बताया जा रहा है कि उसमें अभीतक भी एक ऐसा संस्कार विद्यमान है जिसकेकारण कि उसे 'बाधा' बाधा दिखाई देती है, जिसका कारण है यह कि बाधा आनेपर उसे पीड़ाका वेदन होने लगता है, जिसके कारण कि उसे अपनी शान्तिके घातका भय है। यदि संस्कार टूट गया होता तो क्या आवश्यकता थी इस भयकी और क्या आवश्यकता थी उससे अपनी रक्षा करनेकी ? वह चैतन्य, निराकार परब्रह्म, शान्ति उसका सर्वस्व व स्वभाव, जिसका तीनकालमें उससे विच्छेद होना असम्भव, बाहरकी बाधायें बेचारी उसे किंचत् भी स्पर्श करनेमें असमर्थ, फिर क्यों भाये उन भावनाओंको ? शान्तिमें स्थित है, बस उसीके भोगमें स्थित रहा करे। परन्तु ऐसा नहीं होता, कहना आसान है पर करना बहुत कठिन।

यद्यपि बल बढ़ चुका है तथापि अभी भी शक्तिमें कुछ कमी है। छोटी-मोटी बाधाओंकी तो उसे खबर भी नहीं लगती परन्तु बड़ी भयानक बधाओंके आ जानेपर अवश्य उसे पीड़ाका वेदन होने लगता है और उसकी शान्ति व साम्यता उसके हाथसे निकलकर मानो भागती प्रतीत होती है। ऐसे अवसरोंपर जिसकिस प्रकार भी उस शान्तिकी रक्षा करनेमें तत्पर योगी, किन्हीं वैराग्य-प्रवर्धक विकल्पोंको, उतने समयके-लिये जानबूझकर उठाता है जितने समयके-लिये कि वह पीड़ा शान्त न हो जाय। आगे उन्हीं विकल्पों सम्बन्धी कुछ चित्रण खेंचकर बतानेका प्रयत्न करूँगा।

३. कल्पनाओंका माहात्म्य—अहो ! त्रिलोक-विजयी गुरुदेवकी महिमा व उनका पराक्रम। तीन-लोककी बड़ीसे बड़ी बाधा भी जिनकी निश्चलताको भंग करनेमें समर्थ नहीं, रत्नोंके प्रकाशमें तथा मखमलके कोमल गद्दोंपर पला वह

सुकुमार-शरीरी एकदिन तपस्वी होगा, क्या स्वप्नमें भी कोई विचार सकता था ? सूर्यके प्रकाशमें आनेपर जिसकी आँखोंसे पानी बह निकले, गद्देके अन्दर कहीं भूला-भटका पड़ा एक बिनौलेका दाना भी जिसे सहन न हो सके, राजाको परोसे गए उत्तम भोजनमें-से भी जो चुन-चुनकर अपने योग्य उत्तम चावल खाये; ओह ! आज वह चला जा रहा है कंकरीली भूमिपर, सूर्यके तापमें, नग्न-रूप धारे। कंकरोंके चुभ जानेके कारण पाँव लहू-लुहान हो चुके हैं, इसका भी जिसे भान नहीं। और अरे विधाता ! यह क्या दृश्य ? मेरा कलेजा दहल गया है जिसको देखकर, हृदय रो रहा है चीख-चीखकर, जिह्वा थक गई है रक्षा-रक्षा पुकारकर। आज एक गीदड़ी खा रही है धीरे-धीरे उस जीवित सुकुमालको। घण्टे दो घण्टेकी बात नहीं, बराबर तीन दिन हो गये हैं आज उसे खाते-खाते, पर सुकुमाल जीवित है, पूर्ववत् निश्चल शान्तिकी उपासनामें, पूर्ववत् ध्यानस्थ वैराग्य मुद्रामें। यह है एक योगीका पराक्रम। कौन दे रहा है उसे बल इतनी बड़ी पीड़ापर विजय पानेके-लिए ?

आश्चर्य मत कर जिज्ञासु ! उसे वह बल कोई दूसरा नहीं दे रहा है, स्वयं उसका अन्तष्करण दे रहा है। परन्तु क्या वह बल उसीके पास है, अन्यत्र नहीं ? नहीं तेरे पास भी वह है, इसी समय है, परन्तु खेद है कि तू उसे जानता नहीं। यदि जान जाय तो इसी अल्प गृहस्थ अवस्थामें अपने योग्य अनेकों बाधाओंको तृणवत् उल्लंघ जाय। क्यों, सोचमें पड़ गया ? परन्तु सोचकी क्या बात है भाई ! देख वह बल है तेरी अपनी कल्पनायें। कल्पनाओंके आधारपर ही तू दुःखी है और कल्पनाओंके आधारपर ही सुखी हो सकता है, कल्पनाओंके आधारपर ही वह योगी इतनी बड़ी पीड़ाको जीत गया और कल्पनाओंके आधापर ही तू इस समय गृहस्थ सम्बन्धी चिन्ताओंको जीत सकता है। परन्तु वे कल्पनायें साधारण नहीं हैं, उनके पीछे छिपा है तेरा वास्तविक स्वरूप, परम सत्य। दुःखोंकी आधार भी कल्पनायें हैं, परन्तु उनके पीछे है शून्य अर्थात् वे हैं केवल कल्पनायें बिल्कुल निराधार। वर्तमानकी रागद्वेष-जनक तथा बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्टता-जनक इन कल्पनाओंको बतानेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि वे तेरी चिर-परिचित हैं, नित्य अनुभवमें आ रही हैं। वे विशेष कल्पनायें ही जानने योग्य हैं जिनका आधार कि वस्तु-स्वरूप है। ले सुन।

४. बारह भावनायें—(१) क्या सोच रहा है चेतन ? क्यों हो रहा है व्याकुल ? क्या भूल गया अपना रूप ? सत्, चित् व आनन्द स्वरूप ? तू तो सत् है शाश्वत है। कौन शक्ति है जो तेरा विनाश कर सके ? क्या इन तुच्छ-सी पीड़ाओंसे घबरा गया तू ? याद कर कितनी-कितनी सही हैं इससे पहले ?

कितनी बार मारा गया, खण्ड-खण्ड किया गया तू' पर आज यह 'मैं' कहनेवाला तू कैसे जीता जागता स्वयं अपनेको देख रहा है, जान रहा है और वदन कर रहा है ? ओह ! अब समझा । तेरी दृष्टि क्यों पुनः पुनः इस माँसके पिण्डपर जा रही है ? क्या भूल गया है इसके स्वभावको, कितनी बार धोखा दे चुका है यह तुझे ? अब भी विश्वास नहीं आया इसकी कृतघ्नतापर ?

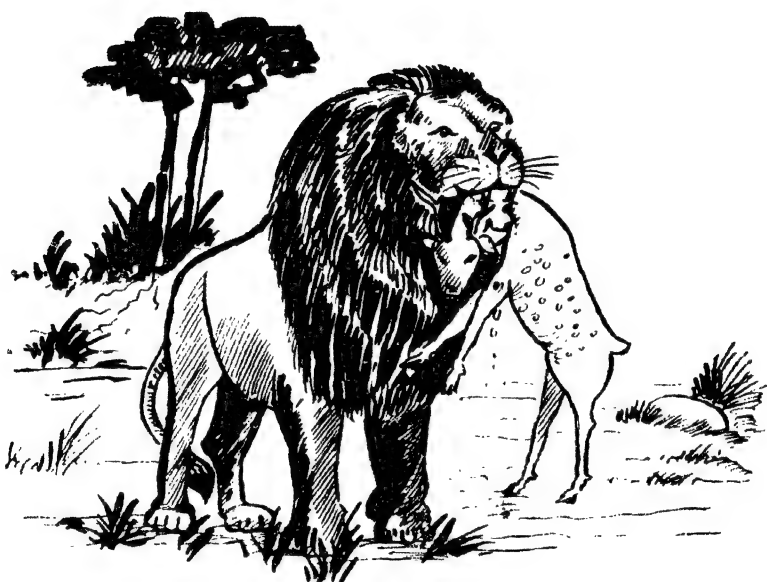
अरे भोले ! इसका तो स्वभाव ही है आकर जाना । क्या आजतक निभाया है कभी इसने तेरा साथ ? इसका तो स्वभाव ही है विनश जाना । क्यों व्याकुल होता है इसके पीछे ? भेदा जाता है तो भेदा जाओ, जाने दे इसे, तुझे क्या । जानेवाला तो जायेगा ही, तू तो नहीं जा रहा है कहीं ? बस उसे ही क्यों नहीं देखता ? यह खण्डित होता है तो होने दे, इसका स्वभाव ही खण्डित होनेका है, तू तो खण्डित नहीं होता । जिसका आश्रय ही चिता है उसके लिये तू क्यों रोता है ?



इस पुतलेकी बात तो जाने दे यह जो लोकमें इतना बड़ा पसारा दिखाई दे रहा है तुझे, उसमेंसे ही बता कि कौन-सी वस्तु है जो सदा ज्यों की त्यों रही है ? आज कुछ रूप है तो कल कुछ और । सारा जगत ही तो परिवर्तनशील है, परिवर्तन करना इसका स्वभाव है। करता रहने दे परिवर्तन इसे, बदलने दे अपने नाम तथा रूप इसे, जितने चाहे, तुझे तो कुछ नहीं कहते बेचारे । उनपर-से दृष्टि हटा, देख इधर देख, अपने शाश्वत व ध्रुव रूपकी ओर । यह सब कुछ तो अध्रुव है, **'अनित्य'** है, इससे काहेका प्रेम, इसकेलिए काहेकी चिन्ता ?

(२) अरे चेतन ! क्या मूर्ख हो गया है, पीड़ामें उझलकर बुद्धि खो बैठा है ? प्रभु होकर भीख माँगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? भीख भी किससे मांगता है इन रंकोंसे, जो स्वयं भिखारी हैं ? किनका आश्रय खोजता है, जो स्वयं निराश्रय हैं ? किनसे रक्षाकी पुकार करता है, जो स्वयं अरक्षित हैं ? क्या शरीर कर सकता है तेरी सहायता ? तू चेतन, यह बेचारा जड़, क्या देगा तुझे ? और फिर देख ज़रा, आँख तो मीच ? ले अब खोलकर देख ले, कहाँ गया वह, इतनीसी देरमें ? स्वयं अपनी रक्षा भी तो

नहीं कर सकता बेचारा ? क्या रुपया करेगा तेरी रक्षा या करेगी तेरी सेना या यह दुर्ग, या देव-दानव, या यह मन्त्र विद्या ? बता तो सही किसके प्रति है तेरा लक्ष्य ? इनमेंसे कौन ऐसा दीखता है जो अगले ही क्षण बदल न जाय, कालरूपी सिंहका ग्रास बन न जाय ? ये बेचारे रंक क्या करेंगे तेरी सहायता ? इधर आ देख अपने प्रभुत्वको जो त्रिकाली सत् है, शाश्वत है, ध्रुव है, सदासे है और सदा रहेगा । विनाश ही नहीं है जब इसका, तो फिर रक्षा किसके-लिये चाहिये ? स्वयं रक्षितको रक्षाकी क्या आवश्यकता ? यह ही स्वयं शरणभूत है, अन्य सब 'अशरण' हैं।



(कालरूपी सिंहसे बचानेवाला कोई नहीं)

(३) किधर भटक रहा है चेतन ! किसकी ओर खिचा जा रहा है तू ? रुपयेकी ओर या माता-पिताकी ओर या स्त्री-पुत्रकी ओर ? इनकी ओर नहीं तो फिर किसकी ओर ? अरे रे ! जाना, रुपये-पैसे व स्त्री-पुत्रादि इन दोनों की ओर, चक्रवर्तियोंकी ओर, स्वर्गके देवोंकी ओर। इनमें नवीनता व वैभव दिखाई देता है तुझे ? भोले प्राणी ! क्या लोक-हंसीका भी भय नहीं रहा तुझे ? वमनको चाटते ग्लानि नहीं आती ? पीछे मुड़कर तो देख जरा कि अनन्त बार बनाया है तूने इनको अपना और अनन्त बार भोगा है तूने इन्हें। क्या अब भी इनमें

नवीनता रह गई है कुछ? अनेकों बार ग्रहण कर-करके छोड़ा, वमन कर-करके चाटा, अब क्या आकर्षण रह गया है इनमें? क्या कहा तूने? यह स्थान रहने को अच्छा है। अरे! कैसी भोली बातें करता है, मानो कुछ जानता ही नहीं? बता तो सही कि आकाशका कौनसा प्रदेश छोड़ा है, जहाँ तू अनन्तोंबार जा-जाकर न रहा हो? चतुर्गतिमें कौनसी ऐसी पर्याय है जो तूने धारण न की हो? यह है संसार जिसमें नित भ्रमण करता आया है तू। इधर आ प्रभु! इधर आ। देख कितना सुन्दर है यह तेरा रूप, पूर्ण शान्त, ज्ञान व आनन्दका पिण्ड, एकबार भी जिसकी ओर नहीं देखा है आजतक। यह है तेरेलिए बिलकुल नवीन। भोगना ही है तो इसे भोग, नित्य नया-नया करके भोग, पुनः पुनः भोग, सर्वदा भोग, सवत्र भोग, सर्वतः भोग। इसमें बसा है तेरा 'नया संसार'। यह है 'संसार' के स्वरूपका दिग्दर्शन जिसको विचारनेसे परिणामोंमें विशुद्धता व दृढ़ता आती है।

(४) क्या विचार रहा है भोले चेतन? किनमें खोज रहा है अपनापन? किनको कहता है तू मेरा? क्या मिलेगा इसप्रकार तुझे? पड़ौसीके धनको भले अपना कहकर अपना चित्त प्रसन्न करले, पर इसप्रकार क्या वह तेरा बन जायगा? नाहक खिन्न होगा जबकि साफ़ इंकार कर देगा वह तुझे, जैसा कि आकिञ्चन्य-धर्मके अन्तर्गत पोसतीके दृष्टान्तमें बताया गया है (देखो ३९.३)। सभी पदार्थ अपनी मर्ज़ीसे आते हैं, अपनी मर्ज़ीसे जाते हैं. न तुझसे पूछकर आते हैं, न तुझसे पूछकर जाते हैं। तू कौन होता है उनका? वे कौन होते हैं तेरे? तनिक तो बुद्धि लगा। रेलमें बैठे अपने साथवाले यात्रियोंको भले मामा, चाचा, ताऊ कहकर पुकार, पर इससे क्या वह तेरे मामा आदि बन जाएंगे? मेरा-मेरा करके व्यर्थ चिन्ताओंको बुला रहा है। वह तुझे अपनायें या न अपनायें चिन्तायें अवश्य अपना लेंगी तुझे। चन्द्रमाको पकड़नेकी इच्छा करेगा तो बता रोनेके अतिरिक्त क्या लगेगा तेरे हाथ? अनहोनी बात हुई है कभी, असम्भव सम्भव बन सकता है कभी? क्या कहता है, "यह पुत्रादि तो मेरे हैं ही, मेरी सेवा करेंगे, यह शरीर तो मेरा है ही, मेरे साथ घुला पड़ा है, कहां जा सकते हैं वे मेरी बिना आज्ञाके?" अरे भूले राही! कहांसे आ रहा है तू, कहां जानेका विचार है तेरा, कितनी देरके-लिये आया है यहां जरा बता तो सही, कौन है तू विचार तो सही? कहांसे आ रहे हैं ये पुत्र-मित्र आदि, कहां जारहे हैं ये, कितनी देरके-लिये आये हैं यहां? ज़रा इनसे पूछ तो लेता इन्हें अपना बनानेसे पहले? ठग न हों कहीं? लूट न ले जायें तेरी शान्तिको तेरे अतिथि बनकर? क्या पहिचाना नहीं इनको? अरे भोले! ये वही तो हैं जो न जाने कितनी बार टकराये तुझे इस लम्बी यात्रामें? हरबार नया रूप धारण करके सदा तेरे बनकर

आये और अन्यके बनकर चले गये। तू रह गया रोताका रोता। अबतक भी नहीं समझा इन ठगोंकी ठगी ? ज्ञानी जीवोंकी शरणमें आया है, प्रकाश पा रहा है, अब तो देख ले आंखें खोलकर ? स्वप्न छोड़ दे भाई ! ये सब पराये हैं, पृथक-पृथक अपना स्वार्थ लिये फिरते हैं। ये तुझसे अन्य हैं, तू इनसे अन्य है। यह है 'अन्यत्व' भावना।

५. इधर आ, अपने एकत्वको देख। इनकी भांति तू भी तो इन सबसे पृथक् है। सत्ताधारी भगवान् आत्मन् ! क्यों संशय करता है ? अपनी स्वतन्त्र सत्ताको क्यों नहीं देखता ? इन बेचारे रंकोंसे क्यों माँगता है अपनी प्रभुताकी भीख ? अब छोड़ इनका आश्रय, देख इस ओर अपने स्वतन्त्र ऐश्वर्यको, देख अपने पुराने इतिहासको, सुन अपनी कहानी। अनादि कालसे तू अकेला ही तो चला आ रहा है। माना कि मार्गमें अनेकों मिले, पर सभी तो बिछुड़े, एकने भी तो साथ नहीं दिया ? अकेला ही था, अकेला ही रहा, अकेले ही ने सब सुख-दुःख भोगे। बता तो सही कि इस स्वार्थी टोलीने कभी बटाये हैं तेरे दुःख ? फिर अब क्यों अपना सुख बांटनेकी चिन्तामें है। सर्पको दूध पिलायेगा तो दुःख उठाएगा। अकेले ठोकरें खाई हैं, अब अकेले ही अपने वैभवको भोग। क्यों लुटाता है इसे इनके-लिये ? अपनी शान्तिका तू ही अकेला स्वामी है, तू ही अकेला उसे भोगेगा। कोई उसे तुझसे छीन नहीं सकता, बंटवा नहीं सकता। अब आकाश-पुष्पको तोड़नेकी व्यग्रता छोड़, जगतके अन्य पथिकोंको अपनानेकी बजाय अकेले अपनेको अपना, तेरी सब व्यथाएं शान्त हो जायेंगी। शरीरका ममत्व छोड़, जो इनमें भी अधिक एकमेक हुआ पड़ा है तेरे साथ, फिर तू जान पायेगा कि किसको हो रही है पीड़ा, किसको खा रही है गीदड़ी इस पड़ौसीको या तुझे ? पड़ोसीको खाने दे, तुझे क्या ? तू तो सुरक्षित है ना ? यह रहा तू तो अकेला यहां बैठा, सब कुछ इस खेलको देखनेवाला। खेल मात्रको देखकर दुःखी क्यों होता है ? अग्नि देखनेसे ही क्या जल जाती हैं किसीकी आंखें ? बस तो इस शरीरको खाया जाता देखकर क्या तू खाया जायेगा ? व्यथाको भूल, इधर देख अपने वैभवको जिसके साथ 'अकेला' तू एकमेक हुआ पड़ा है। जहाँ अन्य किसीका प्रवेश नहीं। यह हुई 'एकत्व' भावना।

६. अरे ! किसके पीछे व्याकुल बनता है ? यदि किसी दूसरेको ही अपनाना था तो कोई अच्छी चीज तो छांटता ? यहां तो अनेकों भरी पड़ी हैं। क्या यह दुर्गन्धियुक्त और घिनावनी वस्तु ही अच्छी लगी तुझे इन सबमें ? अरे प्रभु ! अपनी प्रभुताको इतना भूल गया, इतना गिर गया ? यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता था। तनिक तो लाज कर, कहां तो तू तीन-लोकका अधिपति, सुन्दर व स्वच्छ, और कहां यह विष्टाका घड़ा जिसके रोम-रोमसे बह रहा है

मल। दुर्गन्धिके सिवा और है ही क्या इसमें, नहीं विश्वास आता तो एक क्षण भरको इधर आ, ले इसपरसे एक मक्खीके पंखके समान पतलीसी झिल्ली पृथक करता हूँ। अब देख इसे कैसा सुन्दर लगता है यह तुझे ? ये छोटी-छोटी मक्खियां ही चूंट-चूंटकर खा जायेंगी इसे। इसकी सुन्दरता देखनी है तो शौच-गृहमें जाकर देख। क्यों लुभाता है अपनी इस रमणीकी इस क्षणिक सुन्दरतापर ? यदि कदाचित् दुर्भाग्यवश इसे चेचक निकल आये तो तू इसके पास जाता हुआ भी सम्भवतः डरने लगे। इसकी सुन्दरता देखनी है तो देख इसके वृद्ध शरीरको, कुष्ट हो जानेके कारण लाल-लाल दुर्गन्धित घावोंसे सर्वत्र अलंकरित हो गया है जो। इस अत्यन्त घिनावनी व 'अशुचि' देहके साथ यारी जोड़कर, इसकी रक्षा करनेकेलिए अपना सर्वस्व लुटा रहा है ? आश्चर्य है।







(७) नित्य नये-नये रूप धारण करके प्रगट होनेवाले इन विकल्पोंमें क्या देख रहा है भगवन् ! क्या भूल गया है 'आस्रव'के प्रकरणको ? अब पुनः देख ले उसे (अधिकार नं० ११,१२)। याद आ जायेगी इसकी दुष्टता। इससे अपनी रक्षा कर इसमें भूलकर आत्मसमर्पण न कर।

(८) अब गुरुदेवकी शरणमें आया है तो कुछ लाभ उठा। इन विकल्पोंमें ब्रेक लगा, अबतक आये तो आये देख आगे न आने पायें। भूला न समझ जो

साँझ पड़े घर लौट आये। निज वैभवका आश्रय करके इनका तिरस्कार करदे, इनको दबादे, संवरण करदे। 'संवर' पर इतने बड़े उपदेशको याद कर।

(९) एक बार तिरस्कार करके देख कहाँ जाते हैं ये? तिरस्कृत होकर कबतक पड़े रहेंगे तेरे द्वारपर भूखे नंगे ये बेचारे। आखिर चले जायेंगे एकदिन छोड़कर तेरा संग। जल्दी छूटना चाहता है इनसे? तब इससे अच्छी तो बात ही क्या? ले देख अपने पराक्रमको, कर एक बार गर्जना, पूरे जोरसे, "मैं चैतन्य हूँ, सत्-चित-आनन्द और पूर्ण-ब्रह्म-परमेश्वर, आओ कौन आता है सामने, आज साक्षात् अग्नि बनकर आया हूँ मैं, क्षण भरमें भस्म कर डालूँगा, जीर्ण कर डालूँगा संस्कारोंको।" युद्ध कर इनके साथ शान्तिके बलपर, प्रहार कर इनपर शान्तिके शस्त्रसे, वही शान्ति जो तेरा सर्वस्व है, तेरा स्वभाव है। एकबारकी धुड़धुड़ीमें झड़ जायेंगे सर्व, वस्त्रपर लगी धूलकी तरह, हो जायेगी 'निर्जरा' इनकी, और मिल जायेगी सदाको मुक्ति इनसे।

(१०) प्रभो! अपनी महिमाको भूलकर आज कुएंमें घुस बैठा है, मेंडक बनकर? क्यों इतना भयभीत हुआ जाता है, क्यों पामर बन जाता है? अब निकल इस कुएंसे बाहर। देख कितना बड़ा है यह विश्व? तुझ जैसे अनन्तोंका निवास, तथा अन्य भी अनेकोंका घर। सभी ही तो रह रहे हैं यहां, अपनी-अपनी मौजमें, सर्वत्रकी सैर करते, इसकी सुन्दरताओंमें लय होते। तू क्यों घबरा गया है इससे? यहां तो कुछ भी भयका कारण नहीं। जिसप्रकार अन्य रहते हैं उसीप्रकार तू भी रह, स्वतन्त्रताके साथ, स्वामी बनकर, ज्ञाता दृष्टा बनकर। देख इसमें सर्वत्र ईश्वरका निवास, देख इसमें एक अद्वैत ब्रह्म, देख इसमें अपनी सृजन शक्ति (देखो २३.१०) परन्तु देखना अजायब-घरकी तरह, अपने घरकी तरह नहीं (देखो १०.८)। पीछे ध्यानके प्रकरणमें जो सुना था उसे याद कर। बस प्रगट होजायेगी एक विशाल दृष्टि, जिसका आधार होगी माध्यस्थता व समता और तू बन बैठेगा सर्व 'लोक' का स्वामी, बाहरमें नहीं, ज्ञानमें।

(११) अरेरे चेतन! अनादि कालसे आजतक क्या मिला है तुझे ठोकरोंके अतिरिक्त? दूर-दूर भटकता फिरता रहा है आजतक। चांदी-सोनेकी धूल अनेकों बार मिली, चाम-मांसका पिण्ड अनेकों बार मिला, कुटुम्बादि अनेकों बार मिले, देवादिके रूप अनेकों बार मिले परन्तु उनमें-से क्या मिला तुझे? आज देख अपने अन्दर, क्या पड़ा है उनका कुछ बचा हुआ भी यहां? यदि कुछ मिला होता तो कुछ न कुछ तो होता तेरे पास? परन्तु यहां तो शून्य है, कोरा शून्य। क्या मिला और क्या न मिला, मिलता हुआ भी न मिला। जो मिलने योग्य था

उसे मिल पाया नहीं, जो नहीं मिलने योग्य था उसमें मिलनेकी कल्पना की, कैसे मिलता तुझे ? आज गुरुदेवकी शरणमें आकर भी मिला है कुछ नवीनसा, वह जो आजतक नहीं मिला था, वह जिसको लेकर कृतकृत्य हो गया है तू, वह जिसमें छिपा पड़ा है तेरा वैभव। मानो तेरा सर्वस्व ही मिल गया है आज तुझे, वह जिसके मिलनेकी आशा भी नहीं थी, जो किसी बिरलेको ही मिलता है बड़े सौभाग्यसे, जिसे लेकर और कुछ लेनेकी चाह नहीं रहती, जिसके मिल जानेपर अन्य कोई वस्तु नहीं जचती। क्यों न हो ? उसमें दिखाई जो दे रही है तेरी शान्ति, तेरा अभीष्ट। अत्यन्त दुर्लभतासे प्राप्त इस 'बोधि-दुर्लभ' रत्नके प्रति बहुमान उत्पन्न कर। अब तेरे कल्याणका समय निकट आ रहा है, 'होनहार बिरवानके चिकने-चिकने पात'। गुरुके द्वारा प्रदान किये गये, इस रहस्यात्मक ज्ञानसे तेरा सर्व अन्धकार विनश जायेगा, और तू बन जायेगा वह जो कि तू है, सत्-चित्-आनन्द, पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर।

(१२) बस यही तो है तेरा 'धर्म', तेरा स्वभाव, तेरी समता, तेरी शान्ति, तेरा ऐश्वर्य, तेरा सर्वस्व, आजतक जिसे जान न पाया, जिसकी खोजमें दर-दर मारा फिरा। वाह-वाह ! कितना सुन्दर है यह, कितना शीतल है यह, भव-भवका संताप क्षणभरमें विनष्ट हो गया। अब तकके बताये गये इतने लम्बे मार्गको भली भांति निर्णय करके इसपर दृढ़तासे विश्वास कर, इसके अनुरूप बननेका दृढ़ संकल्प कर और बननेका प्रयास कर। इस प्रकारका ज्ञान श्रद्धान व अनुचरण, बस यही तो है उपाय उस शान्तिकी प्राप्तिका, जिसका लक्ष्य लेकर तू भटकता फिरता है यहाँ। कितना सहल है तथा सुन्दर है यह ? ले अब धीरे-धीरे पी जा इसे। यह है 'धर्म भावना'।

इसप्रकार अनित्यता, अशरणता, संसार, पृथकत्व (अन्यत्व), एकत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ व धर्म इन बारह प्रकारके विकल्पोंका आश्रय लेता हुआ, बड़ीसे बड़ी बाधाओंको तृणवत् नहीं गिनता है वह योगी। यही है वह शक्ति जिसका स्वामित्व उसको प्राप्त हुआ है। तू भी अन्य कल्पनाओंके स्थानपर इन कल्पनाओंके स्वामित्वको प्राप्त कर। इन कल्पनाओंका आधार है वस्तु जबकि तेरी कल्पनाओं का आधार है कोरी कल्पनायें। यह सार-स्वरूप है, और वह सब निःस्सार। तभी तो यह शान्तिमें सहायक है। सारसे ही सार निकलना सम्भव है, निःसार से निःसारताके अतिरिक्त और निकलेगा ही क्या ?

●

४३
चारित्र

•

१ परिचय—नित्य ही शान्तिमें विचरण करते हुए, शान्ति-रानीके साथ क्रीड़ा करनेमें मग्न, हे गुरुवर ! मुझे भी शान्ति प्रदान करें । आज चारित्रकी बात चलती है । यद्यपि चारित्रका कथन दर्शन-खण्डमें शान्ति-मार्गकी त्रयात्मकताका प्रतिपादन करनेके-लिये पहले किया जा चुका है, तदपि यहाँ पुनः उसका कथन करना पुनरूक्तिको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयके अन्तर्गत चारित्रका केवल सामान्य स्वरूप दर्शाना इष्ट था और यहाँ साधनाका प्रकरण होनेके कारण चारित्रका विशेष स्वरूप दर्शाया जाना इष्ट है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह चारित्र उससे सर्वथा भिन्न कोई अन्य वस्तु है । सामान्य तथा विशेष ये दोनों ही एक अखण्ड वस्तुके दो अंग हैं, सामान्य अंग साध्य है और विशेष अंग उसकी प्राप्तिका साधन । साधन तथा साध्य दोनोंकी जातिमें कोई भेद नहीं हुआ करता, भेद होता है तो केवल इतना कि स्वभाव होनेके कारण साध्य या प्राप्तव्य पूर्ण होता है, परन्तु उसकी प्राप्तिका उपाय होनेके कारण साधनमें उसी स्वभावकी किसी एक निम्नतम अभिव्यक्तिको पुरुषार्थ-पूर्वक धीरे-धीरे बढ़ाकर पूर्णता तक पहुँचानेका प्रयत्न या अभ्यास किया जाता है । स्वभावभूत तथा पूर्ण-समतारूप न होते हुए भी कारणमें कार्यका उपचार करके इन सकल प्रयत्नों को चारित्र कह दिया जाता है । और इसप्रकार इस साधना खण्डमें कथित देवपूजासे लेकर ध्यान पर्यन्त जितने कुछ भी अंगोंका विवेचन किया गया है, वे सब अंग क्योंकि एकमात्र समता या शान्तिकी प्राप्ति, उसकी अभिवृद्धि तथा उसकी पूर्तिके अर्थ किये जानेवाले विविध अभ्यास हैं, इसलिए वे सभी उपचारसे चारित्र कहे जाते हैं ।

तथापि इस प्रकरणमें इस अभ्यासके उन अंगोंका कथन करना इष्ट है जो कि केवल योगीराजोंके जीवनमें उपलब्ध होते हैं, उनके जीवनमें जो कि अब्रतक

की लम्बी साधनाके फलस्वरूप समताकी उत्तरोत्तर उन्नत विविध श्रेणियोंका अतिक्रम करते हुए वर्तमानमें शान्तिमार्गकी श्रेणीमें अथवा सोपानपर पदार्पण कर चुके हैं, जहांकि समताके अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी साधना पूरी हो चुकी है और वे पूर्ण समता या स्वभावभूत चारित्रको प्राप्त कर चुके हैं, प्रत्युत यह है कि उनके जीवनमें समता यहां तक अभिवृद्ध हो चुकी है कि अन्तरंग जागृतिके अतिरिक्त अब उन्हें कोई भी बाह्य क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं रह गई है। अन्तरंग जागृतिके द्वारा वे अब भी निरन्तर उसे अभिवृद्ध करनेमें संलग्न हैं और पहलेकी अपेक्षा भी कहीं अधिक हैं। उनका सकल बाह्य चारित्र अर्थात् साधनाके अंगभूत बाह्य क्रियायें सिमटकर अन्तरंगमें उतर गई हैं। क्रमशः अभिवृद्ध उनके इस चारित्रको पांच श्रेणियोंमें विभाजित करके देखा जा सकता है। योगियोंके समतारूप चारित्रकी इन पांच श्रेणियोंका परिचय देना ही इस अधिकारका प्रयोजन है।

२. पंचविध चारित्र—अहो इस साधनाकी महिमा कि मुझे आज वह दिन देखनेको मिला जब मैं एक शिशुसे वीर बन गया, एक साहसी वीर तथा योद्धाकी भाँति मैंने योगी जीवनमें प्रवेश किया और अधिक दृढ़ताके साथ पहलेके अभ्यासको अत्यन्त पुष्ट किया; व्रत, समिति, गुप्तिके द्वारा उसे निश्चल व अकम्प बनाया। दस धर्मोंसे सिञ्चित तथा वैराग्य भावनाओंसे परिपुष्ट साधनाका वह कोमल पौधा आज एक विशाल वृक्ष बन गया है, जिसे देखकर स्वयं मुझे विश्वास नहीं होता कि मैंने कहांसे चलना प्रारम्भ किया था। अनेकों भव पीछेसे प्रारम्भ किये गये उस पुरुषार्थने आज मुझे लक्ष्यके अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। बराबर इस जीवनमें विकल्प शान्त होते चले गये, संस्कार नष्ट होते चले गये और तदनुसार शान्तिमें वृद्धि होती चली गई। मैंने पहले पगसे ही शान्तिका पल्ला आजतक नहीं छोड़ा, हर बाह्य क्रियाके साथ-साथ अन्तरंग क्रियाको नहीं भूला, यही कारण है कि आज बढ़ते-बढ़ते इस दशाको पहुँच गया कि बुद्धिपूर्वकका मेरा शान्तिमें स्थिति पानेका प्रयास आज अबुद्धि-पूर्वककी कोटिमें प्रवेश कर गया और विकल्पोत्पादक संस्कारोंके द्वारा खाली किया गया स्थान शान्तिके संस्कारने ले लिया। एक नवीन संस्कार जीवनमें उत्पन्न हुआ अथवा यों कहिये कि शान्तिके सांचेमें ढाला गया जीवन आज बाहर निकला। गुरुदेवका कृपा-प्रसाद न कहें इसे तो और क्या कहें?

(१) आहा हा! कितना सुन्दर है, अब इसका रूप बिल्कुल बदल गया है, मानो यह पहलेवाला मैं नहीं हूँ। इसे देखकर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है, कि अरे! क्या स्वप्नमें भी कभी ऐसा बन जानेकी आशा थी? परन्तु 'हाथ कंगनको आरसी क्या', सामने पड़ा यह जीवन स्वयं अभ्यासकी अचिन्त्य महिमाको

दर्शा रहा है। अब मेरा जीवन शान्त है, अत्यन्त शान्त, साम्यताके सांचेमें ढला हुआ। यह अब विकल्पोंकी ओर नही दौड़ता चाहे बाहरसे आहार करता हूँ या उपदेश देता हूँ। बुद्धिपूर्वक किया गया सीमित समयका ध्यान, सामायिक या समताका अभ्यास आज मेरे जीवनका अंग बन गया है। सीमित समयके लिये ही नहीं चौबीसों घण्टोंके-लिए यह अब समतामें विचरण करता है। इसे अब सीमित समयके-लिये ध्यान या सामायिक करनेकी आवश्यकता नहीं, यह स्वयं सामायिकरूप बन गया है। शान्तिकी वह तुच्छ कणिका बढ़ते-बढ़ते अब पूर्णताके इतने निकट पहुँच चुकी है कि मैं नित्य ही जीवनमें शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ। साधु-जीवनके इस अंगका नाम है 'सामायिक चारित्र'।

(२) परन्तु आश्चर्य है इन दुष्ट संस्कारोंके साहसपर, तपकी भट्टीमें झोंककर अच्छी तरह जला दिया गया है जिन्हें। जली रस्सीवत् पड़े वे आज भी कभी-कभी अपना सर उठा-उठाकर यह सिद्ध कर ही देते हैं कि अभी भी वे जीवित हैं, भले अन्तिम श्वास ले रहे हों। परन्तु कबतक जीवित रह सकोगे बच्चा ? अब छोड़ो इस दरको, जाओ किसी दूसरे द्वारे मांगो खाओ, यहाँ रहोगे तो भूखा मरना पड़ेगा। जब-जब भी इनसे प्रेरित होकर कदाचित् विकल्प मुझे सताते प्रतीत होते हैं, तब-तब ही मैं ध्यान या सामायिक द्वारा उनपर क़ाबू पानेके प्रयत्नमें जुट जाता हूँ। एक क्षणके-लिये भी उनसे ग़ाफ़िल नहीं हूँ, बराबर आहट लेता रहता हूँ, सचेत् गृह-स्वामीकी भाँति, जिसके घरमें चोर भले प्रवेश कर जाओ परन्तु बिना हानि पहुँचाए निकल जायेगा स्वयं। फलस्वरूप पुनः स्थापन कर देता हूँ मनको उसी शान्तिमें और सामायिकरूप अर्थात् समतारूप होकर फिर विचरण करने लगता हूँ शान्तिमें।

कभी सामायिक और कभी छेद, पुनः सामायिकमें स्थापना और फिर छेद, पुनः स्थापना और फिर छेद। इसीप्रकार सामायिक छेद व स्थापनाके झूलेमें झूलता हुआ आज भी बराबर आगे बढ़ा चला जा रहा हूँ, लक्ष्य पूर्ण किये बिना संतोष करनेवाला नहीं। घबराना मेरा काम नहीं, मेरे हाथमें है वह ध्वजा जिसपर लिखा है 'आगे बढ़ो'। अजीब है इस समय मेरे जीवनकी दशा; चलते, फिरते, आहार लेते, शास्त्र लिखते, उपदेश देते, साथियोंसे धर्म-चर्चा करते, यहाँ तककि सोते समय भी बराबर सामायिक, छेद व स्थापना इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। कोई निश्चित् समय ही सामायिकका हो, अब ऐसी बात नहीं रही। आध या पौन घण्टेसे अधिक मेरी साम्यताका छेद कभी भी होने नहीं पाता। आहार-विहार करते समय भी यदि कदाचित् विकल्प आया तो मैंने इसे पकड़ा, सचेत हुआ, और बस फिर क्या था, भाग खड़ा हुआ वह। मैं पुनः

करने लगा स्नान समतामें, करने लगा पान चैतन्य रसका। शरीर चलनेका काम कर रहा है बाहरमें, और मैं समतामें स्नान कर रहा हूँ अंतरंगमें। शरीर लिखनेका काम कर रहा है बाहरमें, और मैं समतामें स्नान कर रहा हूँ अन्तरंगमें। शरीर खानेका काम रहा है बाहरमें, और मैं समतामें स्नान कर रहा हूँ अन्तरंगमें। यहाँ तककि सोते-सोते बराबर आध-आध या पौन-पौन घण्टेके पश्चात् स्वतः आँख खुल जाती है, मुझे पुनः शान्तिमें स्थापित करनेके-लिये। और इसीप्रकार विकल्प व शान्तिके झूलेमें झूलते हुए बराबर आगे बढ़ा चला जा रहा हूँ। साधु-जीवनके इस अंगका नाम है 'छेदोपस्थापना चारित्र'।

(३) इस पुरुषार्थमें परिणामकी विशुद्धि बराबर बढ़ती गई और अशुद्धिका परिहार होता गया, अतः इस सर्व अन्तरंग पुरुषार्थका नाम है 'परिहारविशुद्धि चारित्र'।

(४) अरे! यह क्या? झूलेमें झूलते-झूलते घुमेर चढ़ गई, और भूल गया सब कुछ, हो गया बेसुध। चलना, फिरना, खाना, पीना, लिखना, बोलना व सोना सब कुछ छूट गया। बाह्य क्रियाकी तो बात नहीं, 'मैं हूँ या नहीं' यह भी भान नहीं रहा। मैं जाननेवाला और विश्व जिसे कि मैं जानूं यह भी भेद नहीं रहा। कौन जाने और किसे जाने, कौन ध्यावे और किसे ध्यावे, कौन विचारे और किसे विचारे, एक अद्वैत अवस्था है, शान्तिका रुद्ररूप है, जिसे देखकर संस्कारोंके अर्धमृत कलेवर, अब देखो खिसकने लगे। वह देखो निद्रा भागी; हास्य, रति, अरति शोक, भय, ग्लानि व मैथुन -भाव भी लगे भागने; जिस ओर जिसकी नाक उठी भाग निकले। कितने भयभीत हैं आज ये? मैंने आज रौद्ररूप धारण किया है, मैं साक्षात् रुद्र हूँ, भगवान् रुद्र। साधु-जीवनके इस अंगका नाम है 'शुक्लध्यान की प्रथम श्रेणी'।

क्रोध, मान, माया भी बेचारे क्या करें? आपसमें लगे सलाह मशवरा करने, सब साथी छोड़कर चले गये, अकेले क्या करें? कोई बात नहीं, अपनी बिखरी हुई सेनाको एक मोरचेपर संगठित करो और अन्तिम बार आक्रमण करके देखो। अब भी कुछ दम है इनमें, यद्यपि मुझे बाधा पहुँचाने। बिलकुल असमर्थ, परन्तु दूर खड़े-खड़े अब भी कुछ करनेकी ठान ही रहे हैं। देखें तो कि क्या करते हैं ये? वह देखो क्रोधकी टोली आ मिली मानमें और ये दोनों आ मिले मायामें। अभी भी पर्याप्त नहीं है, चलो लोभको भी साथ लें। तीनों आ मिले लोभके साथ। अब ठीक है, कुछ बल है, लगाओ जोर, देखो एक ही बार आक्रमण करना, और लोभकी अध्यक्षतामें लगे सब ओरसे वाण बरसाने। परन्तु इन बेचारोंको क्या पता कि अद्वैतताके इस कवचपर अब इनके वाण असर

नहीं करेंगे प्रत्युत उसके बढ़ते हुए तेजमें वे स्वयं भस्म हो जायेंगे। वह देखो लगे जलने। सब जल गये, परन्तु अब भी खड़ा रह गया एक लोभ, अत्यन्त क्षीण दशामें, अकेला।

असमंजसमें पड़ा बेचारा विचार रहा है कि अब क्या करे, बन्दी हाथसे निकला जाता है। आश्चर्य है इसके साहसपर, सब साथी भाग गये, शेष मारे गये, पर अब भी पीठ दिखानेको तैयार नहीं। सच्चा क्षत्रिय है, मरना स्वीकार पर रणसे भागना स्वीकार नहीं। इधरसे मेरा अद्वैत तेज भी बढ़ा, चहुँ ओर ताप फैल गया, अग्नि बरसने लगी। ओह ! आज मैं साक्षात् अग्नि देव हूँ, इस लोभके भग्नावशेषको दग्ध करनेके-लिये, अर्थात् उपरोक्त शुक्लध्यानमें एकाग्रता अधिकाधिक बढ़ती गई और अवशेष रहे इस सूक्ष्मसे लोभका संस्कार भी भस्म हो गया। पुरुषार्थके इस उत्कृष्ट भागका नाम है, 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र'।

(५) संस्कारोंकी अन्तिम कणिका का निर्मूलन हो जानेके पश्चात् अब मैं अत्यन्त निर्मल हो चुका हूँ। अब कोई शक्ति नहीं जो मुझे प्रेरित करके किञ्चित् भी विकल्प उत्पन्न करा सके। शान्तिमें स्थिरता दृढ़तम हो गई, पूर्णताके लक्ष्यकी साक्षात् प्राप्ति हो गई। आखिर जैसा बननेका संकल्प किया था वैसा बन ही गया। अब कभी भी इस अवस्थासे छेदको प्राप्त नहीं हूँगा। सर्वदाके लिये शान्त हो गया हूँ मैं। जिसको लक्ष्यमें रखकर चला था वह मिल गया, जो बनना चाहता था वह बन गया, यथाख्यात रूपको प्राप्त हो गया। जीवनके इस आत्यन्तिक शुद्ध भागका नाम है 'यथाख्यात चारित्र'।

३ समन्वय—साधना अधिकारमें यह बात भली भाँति समझा दी गई है कि साधककी प्रत्येक क्रियामें दो अंश विद्यमान रहते हैं, एक अभ्यन्तर अंश और एक बाह्यांश। इनमेंसे अभ्यन्तर अंश ही समता अथवा शान्तिरूप होनेके कारण चारित्र है, और विकल्पात्मक होनेके कारण बाह्यांश अचारित्र है। स्वतन्त्र होनेके कारण अभ्यन्तर अंश मुक्ति रूप है और परतन्त्र होनेके कारण बाह्यांश बन्धरूप है। इसलिये अभ्यन्तर अंश है अमृतकुम्भ और बाह्यांश है विषकुम्भ। ज्यों-ज्यों साधक आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके चारित्रका बाह्यांश कम होता जाता है और अभ्यन्तर अंश बढ़ता जाता है। एकदिन अन्तरंग अंश पूर्ण हो जानेपर बाह्यांश बिलकुल समाप्त हो जाता है।

अन्तरंग अंशकी कुछ पूर्णता हो जानेपर या पूर्णताके निकट पहुँच जानेपर ही जीवन सामायिकरूप दिखाई देने लगता है, क्योंकि यहाँ अशुद्धताका अंश

बहुत हीन हो गया है, उसका स्वाद अब विशेष नहीं आता। यह सामायिक-चारित्र वास्तवमें उन क्रियाओंमें पड़े हुए उस अन्तरंग अंगका ही वृद्धिगत रूप है, कोई नवीन वस्तु नहीं। यह अंश प्रथम पग अर्थात् देवदर्शनमें ही प्रगट हो चुका था, और अब वही पुष्ट होता-होता इतना बड़ा हो गया है। इसप्रकार साधक उन क्रियाओंके केवल अन्तरंग अंशमें अधिकाधिक स्थिरता धारनेका अभ्यास करता हुआ, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि और सूक्ष्म-साम्पराकी श्रेणियोंको पार करता हुआ एक दिन यथाख्यात-चारित्रमें प्रवेश करता है। आज इसका चारित्र पूर्ण-शुद्ध हो गया है



४४
सल्लेखना



१. उपासककी गर्जना—अहो शान्तिके उपासककी अलौकिक घोषणा, 'जीऊंगा तो शान्तिसे और मरूंगा तो भी शान्तिसे।' एक अंग्रेजीका उपासक कहता है, 'हंसना हो तो अंग्रेजीमें और रोना हो तो भी अंग्रेजीमें।' इसे कहते हैं आदर्श या लक्षय-बिन्दु, ध्रुव-संकल्प, आन्तरिक-वीर्य। ''लोककी बड़ीसे बड़ी बाधा भी मुझे मेरे आदर्शसे विचलित करनेमें समर्थ नहीं। अबतक स्वामी बनकर जीया हूँ, आगे भी स्वामी बनकर ही जीऊंगा, एक क्षणको भी दासत्व स्वीकार करना मेरेलिये असम्भव है। शरीर जायेगा तो और मिल जायेगा, पर शान्ति गई तो फिर नहीं मिलेगी। यदि शरीर सदाके-लिए बिदा लेकर जाता है तो इससे अच्छी बात ही क्या, न रहेगा बांस और न बजेगी बाँसुरी, न रहेगा शरीर और न रहेंगे इसके सम्बन्धी ये बचेखुचे विकल्प, जो मार्गमें आ-आकर मेरी शान्तिमें रोड़ा अटकाते हैं। और मुझे चाहिये ही क्या? मैं शान्तिका उपासक बनकर निकला हूँ शरीरका नहीं, शरीर गया तो कुछ नहीं गया और शान्ति गई तो सब कुछ लुट गया। मरनेसे क्या डरना? सबको ही मरना है, मूर्ख हो या पण्डित, भोगी हो या योगी। जब मरना ही है तो क्यों ऐसा मरण न मरा जाय कि मरण भी सुमरण बन जाय, मरणका भी मरण हो जाय।''

सल्लेखना कहते हैं सत् + लेखना अर्थात् अपने शान्ति-स्वभावको देखना या उसको ही अपना जीवन समझते हुए चलना। कषायोंको कृश करते हुए चलना। शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका शरीर हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उसके-लिये इस चमड़ेके शरीरका क्या मूल्य? पड़ा है तो पड़ा रहे, जावे तो जाये। पड़ा रहनेसे विशेष लाभ नहीं, और जानेसे कोई हानि नहीं। साधना पूरी हुई, अब मरनेका समय आया है। मरनेका नहीं मृत्यु महोत्सवका, साधनाकी परीक्षा करनेका, समतापूर्वक देहको विदा करनेका।

२. देह सन्बोधन—इसीलिये अपने जीवनकालमें वह शरीरको दास बनाकर रखता है, लौकिक जनोंकी भाँति उसका दास बनकर नहीं रहता। शरीरसे स्पष्ट कह देता है वह कि, "देख भाई ! तू आया है तो आ, मैं तेरे आनेमें कोई रोड़ा नहीं अटकाता, परन्तु शर्त है यह कि यदि तुझे मेरे साथ रहना है तो ज़रा सम्भलकर रहना होगा। तेरी वह पुरानी टेव जो लौकिक जनोंपर तू आजमाता है यहाँ नहीं चलेगी, तेरी शक्ति यहाँ काम नहीं कर सकेगी।" और इस अपनी घोषणाकी सत्यताका उसे विश्वास दिला देता है तपश्चरणादि अनुष्ठानोंके द्वारा। जब शरीरको यह विश्वास हो जाता है कि यह ठीक ही कहता है, तो कुत्तेकी भाँति दुम हिलाता हुआ उसका दासत्व स्वीकार कर लेता है, उसके कार्यमें उसकी सहायता करता हुआ उसके साथ रहने लगता है, जिसके बदलेमें वह शान्तिका उपासक उसको योग्य आहार आदिके रूपमें कुछ वेतन देना स्वीकार कर लेता है। परन्तु यह बात पहले ही बता देता है कि "देख भाई ! मैं स्पष्टतः तेरे हृदयंगम करा देना चाहता हूँ कि यह वेतन मैं तुझे उसी समय तक दूँगा जबतक कि तू मेरे काममें अर्थात् मेरी शान्तिकी साधनामें मेरी कुछ न कुछ थोड़ी या बहुत सहायता करता रहेगा। मैं तेरे स्वभावसे भली भाँति परिचित हूँ, मैं इस बातको भूला नहीं हूँ कि तू मृत्युका पुत्र है, तू सब लौकिक प्राणियोंको अपने बाहरी प्रपञ्चमें फँसाकर अन्तमें उन्हें धोखा दे जाया करता है, भले ही उसने तेरी कितनी भी सेवायेंकी हों पर उस समय तू तोतेकी भाँति आँखें फिराकर मानो सब कुछ भूल जाता है, तेरे सब वायदे वेश्याके वायदोंवत् बनकर रह जाते हैं, और उसको साफ़ जवाब दे, उसके सर्वस्व अर्थात् शान्तिका अपहरण कर, उसे रोता झींकता छोड़ तू अपना रास्ता नापता दिखाई देता है। बस तो समझले कि तेरा वह दाव मुझपर नहीं चलेगा, तुझे वेतन उसी समयतक दूँगा जबतक कि तू मेरा दास बना मेरी कुछ सहायता करता रहेगा। जिस दिन भी तूने जरा आँख दिखाई कि मैं तुझे वेतन देना बन्द कर दूँगा। फिर भले ही रोना कि चीख़ना या जगतके जीवोंकी गवाही लेकर मानवी न्यायशालाओंमें आत्महत्याकी दुहाई देना, मैं एक नहीं सुनूँगा। यदि तुझे यह शर्त स्वीकार है तो रह नहीं तो अभीसे जहाँ जाना है चला जा, मैं तुझे रोकूँगा नहीं।"

ऐसी निर्भीक गर्जना भला शरीरको सुननेका अभ्यास कहाँ ? वह तो जानता है केवल दूसरेको दास बनाना। स्वयं दास बनना उसने सीखा ही कब है ? पर क्या करे, इस योगीके सामने पेश पड़ती न देख दासत्व स्वीकार किये बिना और कोई चारा उसे दिखाई नहीं देता। इसीलिये जीवनकालमें वह उस योगीकी साधनामें सदा सहायक रहता है। स्वाध्याय करनेमें, तत्त्व-चिन्तनमें, आत्मध्यानमें, शान्तिके वेदनमें, गुरुओंके दर्शन करनेमें, उनका उपदेश सुननेमें, अन्य

जनोंकी सेवामें, तथा शान्तिकी साधना विषयक अन्य सभी कार्य-क्षेत्रोंमें वह सदा उसका स्वामीभक्त सेवककी भाँति साथ निभाता चलता है, ताकि उसे उसके प्रति कोई सन्देह न रह जाये। सम्भवतः वह सोच रहा हो कि योगीके हृदयपर अपनी सेवाओंकी छाप जमाकर उसके चित्तको अपनी स्वामी-भक्तिके सम्बन्धमें पूर्ण विश्वास दिला दे और कदाचित् ऐसा हो जाय तो एकदिन उससे उसके इस रूखे बर्तावका बदला चुका ले, अर्थात् मृत्युके अन्तिम समयमें उसके घरमें डाका डाल उसका शान्तिधन चुराकर सदाके-लिये उससे बिदाई ले जाय।

३. समता—परन्तु शरीरकी यह उपरोक्त धारणा वास्तवमें भ्रमपूर्ण है। योगी सदा जागृत रहते हैं, एक क्षणको भी इसके प्रति असावधान नहीं होते। जहाँ भी ज़रा बुढ़ापेके चिह्न इसपर प्रगट हुए, या किसी असाध्य रोगने इसे आ घेरा, या कुछ अन्य खराबियोंके कारण यह साधनामें कुछ बाधक बनने लगा, या इसमें शिथिलता आती दिखाई देने लगी, स्वाध्याय व ध्यान आदिमें पूर्ववत् साथ निभाता प्रतीत न हुआ, तब ही योगी उसे वह पहलेवाला वायदा याद दिलाकर सम्बोधने लगता है कि, "देख भाई! परस्परमें हुए उस वायदेके अनुसार हमारा और तेरा नाता अब टूटता है। बुरा न मानना, हमें तेरे प्रति कोई द्वेष नहीं है, बल्कि कुछ करुणा ही है। तूने इतने दिन हमारा साथ निभाया, उसके-लिये धन्यवाद। मैं जानता हूँ कि तेरा दिल अब मुझे छोड़कर जानेको सम्भवतः न भी हो, पर तू क्या करे, तू तो पराधीन ठहरा। तेरा स्वामी यमका हरकारा तेरे सरपर खड़ा है, तुझे तो उसके साथ जाना ही है, क्योंकि तू उसका भोज्य है। मैं यदि उससे तेरी रक्षा करनेको समर्थ होता तो अवश्य करता, पर क्या करूँ यह मेरी शक्तिसे बाहर है, और सम्भवतः अब भी मैं तुझे वेतन देता रहता यदि इसप्रकार करनेमे तेरी रक्षा हो सकी होती, परन्तु यह असम्भव है। इसलिये इस अवसरपर आहार आदि देना तुझे तो कोई लाभ नहीं पहुँचा सकेगा, पर मुझे हानि अवश्य पहुँचा देगा, क्योंकि आहारादिके विकल्प उत्पन्न करके यदि तेरी सेवामें मैं जुट जाऊँ तो मेरी ध्यानाध्ययन आदिरूप शान्तिकी साधना बाधित हुए बिना न रहे और तू तो जानता है कि शान्ति मुझे कितनी प्रिय है। अतः भाई! अब मुझे क्षमा करना, जीवन कालमें जो दोष तेरे प्रति मुझसे बने हैं उनके-लिए भी तुम मुझे क्षमा करना, और मैं भी इस अवसरपर तुम्हारे सब दोषोंको क्षमा करता हूँ। जाओ भाई जाओ, तुम अपने स्वामीका आश्रय लो, यही तुम्हारा कर्त्तव्य है, और मैं अपनी निधिकी सम्भाल करूँ। सबको अपना-अपना कर्त्तव्य निभाना ही योग्य है। अच्छा विदा।"

इसप्रकार सरलता, शान्ति व साम्यतापूर्वक शरीरपरसे अपना लक्ष्य हटाकर अन्तर्ध्यानमें लीन होनेका अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्तिमें खो जाता है

वह । उसे इस समय जगतके किसी प्राणीके प्रति या किसी भी पदार्थके प्रति, पीछी कमण्डलादिके प्रति या शास्त्रके प्रति या शरीरके प्रति न कोई रागभाव या प्रेमभाव होता है और न द्वेषभाव । शरीरसे या किसी साधुसे या शिष्यसे या गुरुसे या यदि गृहस्थी है तो कुटुम्बसे, कोई भी बदला लेनेकी या उन्हें दुःख देने या सतानेकी भावना हो, ऐसा भी नहीं है । जिसप्रकार शरीरको सम्बोधकर शान्तिपूर्वक उससे विदाई ली उसीप्रकार कुटुम्बादिको सम्बोधकर सबको शान्ति प्रदान कर देता है वह । उसके उस समयके मधुर सम्भाषणसे किसीको भी कोई कष्ट हो यह तो सम्भव ही नहीं है, हाँ सबको शान्ति ही मिलती है । जिसके अन्दरमें शान्ति पड़ी है वह दूसरोंको शान्तिके अतिरिक्त और दे ही क्या सकता है ।

सबको इस प्रकार सम्बोधता है, "भो मेरे साथियों ! मैं तुम सबका बहुत अभारी हूँ, इस जीवनमें आपने मेरी बहुत सेवायें की हैं, उनके बदलेमें आपको देनेको तो मेरे पास कुछ है नहीं, हाँ क्षमा चहता हूँ । भाईयो ! तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति कोई राग या प्रेम भाव पड़ा है तो उसे निकाल देना, क्योंकि मिलना और बिछुड़ना इस लोकका स्वरूप ही है । सदाके-लिए कौन मिलकर रह सकता है ? सरायके पथिकोंकी भाँति यह सकल सम्मेल था, अब इसे भुला देना, याद रखनेका प्रयत्न न करना । हम कहाँसे आये थे हमें स्वयं पता नहीं, अब कहाँ जा रहे हैं हमें स्वयं पता नहीं, किनका साथ छोड़कर यहाँ आये थे हमें स्वयं पता नहीं, आपका साथ छोड़कर अब किनका साथ पकड़ेंगे यह भी पता नहीं । और आप भी यह सब कुछ नहीं जानते । इसलिये सदा साथ बने रहनेकी भावनाका आप त्याग करो । हम शान्तिकी शरण जाते हैं, प्रभु तुम्हें भी शान्ति प्रदान करें । हमारी सबके प्रति क्षमा है, हमें भी सब क्षमा करना ।"

४. समाधि मरण—इस प्रकार सबके प्रति समता धारकर ज्ञानधारामें प्रवेश कर जाता है वह । न रह जाती है उसे जीनेकी भावना न मरनेकी इच्छा, न जीनेके प्रति आकर्षण न मरनेके प्रति भय । शरीरके प्रति न राग न द्वेष । वेतन देना बन्द कर देता है अब वह इसे, अर्थात् खाना-पीना छोड़कर अपनी ओरसे काष्ठ-वत् त्याग कर देता है वह इसका और देखता रहता है इसको भी उसीप्रकार जैसे कि जगतके अन्य पदार्थोंको । रहे तो छः महीने रह जाय, जावे तो भले आज चला जाय । न रहनेसे कोई लाभ, न जानेसे कोई हानि ।

परन्तु अलौकिक है यह पुरुषार्थ । मरणकाल आनेपर ही उसमें प्रगट हुआ हो यह ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि मरणकालमें लोगोंकी बुद्धि प्रायः भ्रष्ट होती देखी गई है । सारे जीवनकी साधना पड़ी है इसके गर्भमें । जीवनभर नित्य किया गया कार्योत्सर्गका अभ्यास पड़ा है इसके मूलमें, उस कार्योत्सर्गका जिसका

उल्लेख कि 'उत्तम तप' के अन्तर्गत अभ्यन्तर तपोंके प्रकरणमें किया गया है। तात्पर्य यह कि कोई यह समझे कि सारे जीवन तो स्वच्छन्द वर्ते और अन्त समयमें समाधिमरण धरके अपना कल्याण करले, यह सम्भव नहीं। जीवनपर्यन्त समाधिमरणकी भावनासे जीना होता है उसे। समाधिका अर्थ मनः समाधान अर्थात् समता और मरणका अर्थ देहका सहज त्याग।

५. यह आत्महत्या नहीं—लौकिक मानव बेचारा क्या समझे इस गर्जनाके मूल्यको, वह तो ठहरा शरीरका उपासक। उसकी दृष्टिमें शान्तिका कुछ मूल्य नहीं, शरीर ही उसका सर्वस्व है। शरीर गया तो उसका सब कुछ चला गया। बल्कि शरीर क्या उसके-लिये तो शरीरकी अपेक्षा भी धन अधिक प्रिय है। धन गया तो सब कुछ गया, उसके पीछे खाना नहाना आदि सब कुछ गया, मानो पागल हो गया, और अन्तमें वही मृत्युकी गोद जहाँ जाकर सबको विश्राम मिल जाता है। धनके पीछे खाना नहाना छोड़कर या अरुचि पूर्वक जबरदस्ती थोड़ा बहुत खाकर, पागलोंकी भाँति बराबर शरीरको कृश करता हुआ एकदिन मृत्युसे आलिंगन कर लेता है, तब तो मानव उसे आत्म-हत्या नहीं कहता; परन्तु जब एक शान्तिका उपासक अपनी शान्तिकी रक्षाके अर्थ प्रसन्नतापूर्वक शरीरसे उपेक्षा धारण करके मृत्युका सत्कार करने जाता है तो उसे वह आत्म-हत्या कह देता है। क्या कारण ? यही न, कि उसकी दृष्टिमें धूल-मिट्टी ही धन है, शान्ति नहीं। बस उसी प्रकार शान्तिके उपासकका शान्ति ही धन है, धूल-मिट्टी नहीं। जिसप्रकार तेरी धारणा तेरी ही दृष्टिमें सत्य है शान्तिके उपासककी दृष्टिमें नहीं, उसीप्रकार उसकी धारणा भी उसीकी दृष्टिमें सत्य है, भले तू उसे सत्य न समझता हो। अतः भाई ! उसकी इस घोषणाका मूल्य उस ही की दृष्टिसे मापनेका प्रयत्न कर, इसमें अपनी दृष्टिकी टांग न अड़ा।

देख एक वीर योद्धाका आदर्श, यदि शत्रु देशपर चढ़ आए तो अपना तन, मन, धन सर्वस्व होम दे अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेके-लिये। जीऊंगा तो स्वामी बनकर, दास बनकर जीना मुझे स्वीकार नहीं, प्राण जायें तो जायें और कूद पड़ता है जान बूझकर युद्धकी आगमें, इसलिये कि या तो तेजवन्त बनकर निकलूंगा या हो जाऊंगा भस्म। तब तो उसकी इस साहस-पूर्ण क्रियाको आत्म-हत्या न कहकर वीरता कहता है तू, परन्तु एक शान्तिका उपासक योद्धा अपने शान्ति-देशपर शरीरकी शिथिलिताके द्वारा किये गये आक्रमणका मुक़ाबला करनेके-लिए जब इससे युद्ध करने या अपना सर्वस्व अर्पण करने जाता है तब उसे आत्म-हत्याकी उपाधि प्रदान कर देता है तू। क्यों ? इसीलिये न कि बाहरका देश तो तुझे दीखता है, उसमें तो तेरा कुछ स्वार्थ है, पर अन्तरङ्गका शान्ति-देश तुझे इष्ट नहीं है ?

तनिक विचारकर देख तो सही कि क्या अन्तर है आत्महत्या और सल्लेखनामें ? ऊपरकी क्रियाओंपरसे अनुमान लगानेका प्रयत्न न कर, अन्दरकी भावनाओंको टटोल । ऊपरसे तो निःसन्देह कुछ आत्महत्या सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दरमें उतरकर देखते हैं तो आकाश पातालका अन्तर पाते हैं । सल्लेखनागत योगीमें है सबके प्रति साम्यता और आत्महत्यागत अपराधीमें है द्वेष या क्रोध-पूर्तिकी भावना । योगी सबको शान्ति प्रदान करके जाता है और अपराधी सबको दाह उपजाकर जाता है। योगीके अन्दर है शान्तिका सौम्य सम्वाद और अपराधीके अन्दर है द्वेषकी भड़कती ज्वाला, जिसमें स्वयं भड़ाभड़ जला रहा है वह । योगीके मुखमण्डपर है मुस्कान व आशा और अपराधीके मुखपर है क्रोध व निराशा । इसीलिए नियमसे योगीके आगे आनेवाला जीवन तो होता है शान्तिपूर्ण और अपराधीका क्रोध तथा द्वेषपूर्ण । योगी तो आगे भी पुनः शान्तिकी साधनाके प्रति ही झुकता है और अपराधी क्रोधके वश पड़ा अपराधोंके प्रति ही झुकता है । योगीके आगे-आगे आनेवाले जीवनोंमें बराबर शान्तिकी वृद्धि होती है और अपराधीके आगे-आगेवाले जीवनोंमें क्रोधकी । योगी तो अपने प्रत्येक जीवनमें शरीरको सेवक बनाकर अन्त समयमें सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाशकी ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवनमें उसका दास बनकर अन्धकारकी ओर चला जाता है । दो या चार जीवनोंके पश्चात् ही योगीकी साधना तो पूर्णताको स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह तो पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है, पर अपराधी कषाय व चिन्ताओंके सागररूप इस संसारमें सदा गोते खाता रहता है ।

सल्लेखना शान्तिके उपासककी आदर्शमृत्यु है, एक सच्चे वीरका महान पराक्रम है । इससे पहले कि शरीर उसे जवाब दे वह स्वयं उसे समता पूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्तिकी रक्षामें सावधान रहता हुआ उस ही में लय हो जाता है ।



४५
उपसंहार



१. निश्चय-व्यवहार-मैत्री—साधना-खण्डके इस लम्बे चौड़े विस्तारको पढ़कर या सुनकर किसीको ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है, कि मैं बाह्य क्रिया-काण्डपर अधिक जोर देता जा रहा हूँ, जबकि शान्ति प्राप्तिका सम्बन्ध इस सब क्रिया-काण्डसे दूर कुछ अन्तरंगकी प्रवृत्तिसे है। ऐसा विचारना योग्य नहीं क्योंकि इतने लम्बे प्रकरणमें सर्वत्र ही बाह्य व अन्तरंगकी यथायोग्य मैत्री बराबर दर्शाई गई है, अन्तरंगके झुकावसे शून्य केवल बाह्यकी प्रत्येक ही क्रियाकी निस्सारता बराबर बताई जाती रही है। अतः उसको ध्यानमें रखकर ही सर्वत्र इस मार्गके रहस्यको समझनेका प्रयत्न करें।

दूसरी बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि यह सब कुछ उनके प्रति कहा जा रहा है जो अभी तक लौकिक प्रवृत्तियोंमें अधिक उलझे रहनेके कारण अन्तरंगका स्पर्श करनेको समर्थ नहीं हो रहे हैं, अथवा उसमें अधिक देर स्थिति पानेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं।

तीसरी बात यह है कि इस ग्रन्थका नाम 'सिद्धान्त-दर्शन' नहीं बल्कि 'पथ-दर्शन' है। सिद्धान्त-दर्शन हुआ होता तो यही कहता कि सर्व अशुभ लौकिक प्रवृत्तियोंकी भाँति देवपूजा आदि छहों शुभ प्रवृत्तियाँ भी हेय हैं, उपादेय तो केवल एक अन्तरंग शुद्ध आत्म-स्वभाव ही है। ऐसी बात पहले 'शुभ-आस्रव-निषेध' के अधिकारमें कही भी जा चुकी है।

कहने और करनेमें या समझने व तद्रूप होनेमें बहुत अन्तर है। समझनेमें थोड़ी देर लगती है, पर करनेमें बहुत। समझनेके-लिये बुद्धि या ज्ञान मात्र ही पर्याप्त है, अन्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं, पर करनेके-लिये किन्हीं साधनों व उपाय-विशेषोंकी आवश्यकता पड़ती है। क्रमपूर्वक इन उपायोंमें प्रवृत्ति करनेका नाम ही पथ है। देवपूजा आदि सर्व अंग भी इस पथके साधन केवल इसलिए

स्वीकार किये गये हैं, कि प्रारम्भिक भूमिकामें इनको यथाशक्ति करते हुए क्षण भरको कदाचित् अन्तरंग प्रवृत्ति अर्थात् शान्तिके साथ तन्मयता बराबर होती रहती है जैसाकि उन-उन प्रकरणोंमें पहले ही विस्तारके साथ बताया जा चुका है। यदि उस अन्तरंग प्रवृत्तिका सर्वथा अभाव हो तो वास्तवमें साधन भी नहीं कहे जा सकते थे।

बन्धुवर! शब्दोंको पकड़कर दोष ढूँढ़नेका प्रयत्न न करें, अभिप्रायको पढ़नेका प्रयत्न करें। शब्दोंमें दोष ढूँढना पक्षपातकी उपज है जो अत्यन्त हेय है। प्रयोजनवश भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया जाना न्यायसंगत है। सिद्धान्त दर्शन करते हुए जिस बातको 'होना' शब्दसे कहा जाता है, पथ-दर्शन करते समय उसी बातको 'करना' शब्दसे कहा जाता है, क्योंकि पथ कुछ क्रियारूप हुआ करता है। क्रिया दो प्रकारकी होती है—अन्तरंग क्रिया व बाह्यक्रिया अर्थात् भावात्मक क्रिया व हलन-चलनरूप क्रिया। यद्यपि अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचकर केवल भावात्मक अन्तरंग क्रिया ही शेष रह जाती है, पर जबतक बाह्यक्रिया का जीवनमें-से अभाव नहीं हो जाता तबतक दोनों ही क्रियाओंके प्रति 'करने' शब्दका संकेत किया जाता है। इसलिए पथ-दर्शनके निरूपणमें अन्तरंग व बाह्य दोनों ओर कुछ करनेकी प्रेरणा छिपी रहती है। करनेका अर्थ दो रूप लिए हुए है, कहींसे हटना और अन्य कहींपर जाना, कुछका त्याग करना और कुछ का ग्रहण करना इत्यादि। दोनों ही बातोंकी सर्वत्र परस्पर मैत्री वर्ता करती है।

इसीलिए यहाँ सर्व ही प्रकरणोंमें लौकिक क्रियाओंसे या ग्रहणरूप प्रवृत्तियोंसे हटकर उन-उन क्रियाओंमें तथा त्यागोंमें बुद्धिपूर्वक कुछ प्रवृत्ति करनेको कहा गया है। परन्तु यदि सैद्धान्तिक रूपसे देखा जाय तो साधक वास्तवमें इन क्रियाओंको करता नहीं, बल्कि ये सर्व ही क्रियायें उससे स्वयं सहजरूपसे होती हैं। करने और होनेमें महान अन्तर है। अन्तरंग रुचिसे करना तो 'करना' कहलाता है जैसे किसानके द्वारा खेती बोना, और बिना रुचिके किसी कारण-वश करना पड़ना 'होना' कहलाता है जैसे कैदीके द्वारा खेती बोना। वास्तविक साधककी अन्तरंग रुचि तो यही रहती है कि किसीप्रकार इन सर्व प्रवृत्तियोंको तिलाञ्जली देकर एकमात्र ज्ञायक-भावमें स्थिति पाऊँ, ज्ञानधाराका आश्रय लूँ, परन्तु अन्दरमें उठनेवाले इस रागका क्या करे? इससे प्रेरित होनेपर न चाहते हुए भी अशुभसे बचनेके-लिए तथा किंचित्मात्र शान्तिकी झलक देखनेके-लिए, वह इन क्रियाओंको करता है।

यह बात पहले ज्ञानी व अज्ञानीकी क्रियाओंमें अन्तर बताते हुए (देखो ११.१०) स्पष्टकी जा चुकी है। अतः अपनी शंकाको दूर करनेके-लिए पाठकको यह

प्रकरण पुनः पढ़ लेना योग्य है। अभिप्रायवश ऊपरसे दीखनेवाली यह प्रवृत्ति वास्तवमें अन्तरंगमें निवृत्तरूप ही पड़ती है। अशुभसे निवृत्ति, शुभमें प्रवृत्ति तथा उद्यमपूर्वक क्षण भरके-लिए शुभ विकल्पसे निवृत्ति और शान्तिके वेदनरूप अतरंग में प्रवृत्ति। यह है अन्तरंग व बाह्यका समन्वय। प्रयोजन यह कि अंतरंगमें किया गया उन क्रियाओंका निवृत्तिरूप यह सूक्ष्म अंश ही शान्तिपथका बीज है, बाह्य प्रवृत्ति नहीं। वह तो शुभ आस्रव है जिसका निषेध आस्रव अधिकारमें पहले किया जा चुका है। अल्पदशामें उस प्रवृत्तिके-द्वारा निवृत्तिकी सिद्धि होनेके कारण ही उस प्रवृत्तिको धर्मका या शांतिपथका अंग कहा जा रहा है, ऐसा सर्वत्र समझना। प्राथमिक दशाके पथिकको अभ्यासके अभावके कारण, बिना प्रवृत्तिके अन्तरंग निवृत्ति होनी सम्भव नहीं, इसीलिए इन क्रियाओंका प्रतिपादन 'पथ-दर्शन'में किया गया है।

चौथा प्रयोजन है व्यवहारभासी उन लोगोंको इन क्रियाओंका रहस्य समझाना जो केवल रूढ़िवश ही इनको करते जा रहे हैं। पांचवा प्रयोजन है निश्चयभासी उन लोगोंको आगमकथित इन क्रियाओंमें सार दर्शाना, जोकि इनको कोरा क्रियाकांड समझकर इनसे उपेक्षित होते जा रहे हैं। छठा प्रयोजन है स्वच्छन्दाचारी उन साधारण जनोंको आगमकथित इन क्रियाओं व धार्मिक अनुष्ठानोंका मूल्यांकन कराना, जो कि धर्म-कर्मको पुराने जमानेकी कल्पना समझकर, अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्तिके द्वारा स्वयं अपना अनिष्ट कर रहे हैं।

इसप्रकार इन छहों प्रयोजनोंको दृष्टिमें रखकर यदि इस ग्रन्थको पढ़ें तो इसमें सर्वत्र ही अन्तरंग सापेक्ष बाह्य और बाह्य सापेक्ष अन्तरंगका अर्थात् निश्चय सापेक्ष व्यवहार और व्यवहार सापेक्ष निश्चयका दर्शन होने लगे। किसी एक ही बातपर, भले वह निश्चय या अन्तरंगकी हो अथवा व्यवहार या बाह्यकी, आवश्यकतासे अधिक जोर देना पक्षपात या एकांत कहलाता है, जिसका निषेध पहले किया जा चुका है। अतः स्व व पर दोनोंके हितको दृष्टिमें रखकर अब भाषाके इस पक्षको छोड़, और सरल वृत्तिद्वारा दोनों बातोंकी सापेक्षताको बराबर दृष्टिमें बनाये रखकर शान्तिपथकी कोई भी बात मुखसे निकाल या समझ।